
UNIVERSITY OF TORONTO
3 1761 00369726 5

THE

BHĀSANĀTAKACHAKRAM

(Thirteen Plays Ascribed To Bhāsa)

Edited With the

PRAKĀŚA SANSKRIT-HINDĪ COMMENTARIES

BY

Various Scholars.

With

A Critical & Comprehensive Introduction

BY

BALDEVA UPĀDHYĀYA

Professor, Varanaseya Sanskrit University, Varanasi.

VOL. I

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

Printed at
Vidya-Vilas Press
Varanasi-1

॥ श्रीः ॥

महाकविभासप्रणीतं

भासनाटकचक्रम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

विद्वन्मण्डल-सम्पादितम् ।

आचार्य बलदेव उपाध्याय

विरचित 'महाकवि भास' नामक समालोचना सहित

(प्रथमो भागः)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

भासनाटकचक्रम्

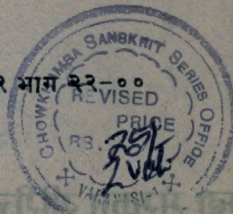
(प्रथमो भागः)

१. दूतवाक्यम्
२. कर्णभारम्
३. दूतघटोत्कचम्
४. मध्यमव्यायोगः
५. पञ्चरात्रम्
६. ऊरुभङ्गम्
७. अभिषेकनाटकम्
८ बालचरितम्

(द्वितीयो भागः)

९. अविमारकम्
१०. प्रतिमानाटकम्
११. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्
१२. स्वप्नवासवदत्तम्
१३. चारुदत्तम्

मूल्य : १–२ भाग २२–००



महाकवि भास

[A Comprehensive Criticism of the Dramas of Bhāsa]

आचार्य

बलदेव उपाध्याय

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष : पुराणेतिहासविभाग

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

वक्तव्य

महाकवि भास का स्थान संस्कृत-नाटक-साहित्य में नितान्त महनीय तथा उदात्त है। ईसा के ४ शतक पूर्व जब नाट्य-साहित्य तथा नाट्य-सिद्धान्त का पूर्ण विकास न हो पाया था, भास ने अपने नाटकों की रचना की। उस धूमिल अतीत में इस सफलता के साथ नाटकों की रचना करना महती सफलता है। भास के नाटक सभी दृष्टियों से अनूठे हैं। कथानकों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कदाचित् ही किसी दूसरे नाटककार ने इतने विषयों पर नाटक लिखे हों। रामायण, महाभारत, पुराण, लोककथा, सभी से भास ने विषय संगृहीत कर इन नाटकों की रचना की है तथा प्रसिद्ध कथाओं में उचित परिष्कार एवं परिमार्जन भी किया है। पात्रों की दृष्टि से भी भास के नाटकों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। जितने प्रकार के पात्र भास के नाटकों में मिलते हैं उतने संस्कृत के किसी अन्य नाटक में नहीं।

भास का कविरूप भी इन नाटकों में स्पष्टता के साथ निखरा है। नाना सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की पकड़ तथा उनकी सफल अभिव्यक्ति भास की अपनी विशेषता है। प्रकृति-चित्रण, चरित्राङ्कन इत्यादि सभी दृष्टियों से इन नाटकों का महत्त्व है। इन्हीं सब कारणों से भास का प्रभाव परवर्ती नाटककारों पर पड़ा और उन्होंने मुक्तकण्ठ से भास की प्रशंसा की।

प्रस्तुत संस्करण में भास के नाटकों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। भास के नाटकों की उत्कृष्टता तथा हिन्दी में भास के सम्बन्ध में किसी उपयुक्त पुस्तक के अभाव के कारण यह आवश्यक था कि भास के नाटकों का सर्वाङ्गीण समीक्षण तथा परिचय प्रस्तुत किया जाय। इस ग्रन्थ में भास के नाटकों का परिचय, समीक्षण, तत्कालीन देश-काल की स्थिति आदि का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भास के समय आदि का भी प्रामाणिक निर्णय किया गया है तथा इस सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न मत-मतान्तरों की तटस्थ एवं पूर्वाग्रह से मुक्त समीक्षा की गई है।

इसके प्रकाशन कार्य में मेरे स्नेह-भाजन शिष्य डा० गंगासागर राय, एम० ए०, पी-एच० डी० (सर्व भारतीय काशिराजन्यास, दुर्ग रामनगर) ने विशेष सहायता की है। इसके लिये उन्हें विपुल आशीर्वाद देता हूँ।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन (वाराणसी) के संचालक बन्धुओं—श्री मोहनदास गुप्त तथा श्री विट्ठलदास गुप्त—ने इसके प्रकाशन में जो तत्परता दिखाई है उसके लिये वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है इस रूप में यह संस्करण विद्यार्थियों तथा विद्वानों को समान रूप से ग्राह्य तथा उपादेय होगी।

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची



महाकवि भास

प्रथम परिच्छेद

विषय-प्रवेश

संस्कृत नाटकों के विकास के इतिहास में भास वह जाज्वल्यमान मणि हैं जिनकी कीर्ति-कौमुदी की प्रसृति काल के दुर्दम्य प्रभाव से अस्पष्ट रही अथच सुदूर दक्षिण से लेकर ध्रुव उत्तर तक एवं प्राची से लेकर प्रतीची तक सम्पूर्ण भरतखण्ड में चमकती रही। नाटक को पञ्चम वेद होने का जो गौरव भरत ने प्रदान किया तथा कालिदास ने जो उसे भिन्नरुचि-जनों का एकत्र समाराधन कहा, इसकी सम्यक् परिपुष्टि भास के नाटकों से होती है। नाटक कवित्व का चरम परिपाक है—'नाटकान्तं कवित्वम्'। उसमें तीनों लोकों के भावों का अनुवर्तन होता है। जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो भास की महत्ता और बढ़ जाती है। उस सुदूर अतीत में जब लौकिक संस्कृत अभी अपनी दिशा का निर्माण कर रही थी, भास ने तेरह नाटकों की रचना की और केवल रचना ही न की अपितु सफलता भी प्राप्त की। यह नाट्य-साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय बात है।

भास-नाटकचक्र की प्रशस्ति

बीसवीं सदी के आरम्भ तक भास-नाटकचक्र के बारे में केवल यत्र-तत्र प्रशस्ति-वाक्य ही सुनने को मिलते थे। भास के नाटकों का स्वरूप लोगों को अज्ञात था। केवल दक्षिणभारत की कुछ हस्तप्रतियों में ही भास-नाटकचक्र सीमित था जिनका किसी को पता न था। सर्वप्रथम महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री भास के नाटकों को प्रकाश में लाए। पर, इस प्रकाशन से पूर्व संस्कृत के आचार्यों तथा कवियों ने भास तथा भास के नाटकों की बहुशः प्रशंसा की थी। इन प्रशस्तियों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीन-काल से ही भास के नाटक अपना विशिष्ट स्थान रखते थे और मान्य कवियों

की दृष्टि में सम्मानित थे। इन प्रशस्तियों तथा उल्लेखों में से कुछ का निर्देश किया जाता है—

(१) सरस्वती के वरदपुत्र महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में सूत्रधार के मुख से प्रश्न कराया है कि प्रथित यशवाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों की निर्मितियों का अतिक्रमण कर कालिदास की कृति का इतना बहुमान क्यों है ?[1]

(२) हर्ष के सभापण्डित बाणभट्ट ने भास के नाटकों की प्रशंसा करते हुए कहा है कि ये नाटक सूत्रधार से आरम्भ किये जाते हैं, बहुत भूमिका वाले होते हैं, पताका से युक्त होते हैं तथा देवस्थानों की भाँति प्रसिद्ध होते हैं।[2] यहाँ यह स्मरणीय है कि संस्कृत के नाटक सामान्यतया नान्दी से प्रारम्भ होते हैं। पर, भास के नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव रहता है और ये सूत्रधार से प्रारम्भ होते हैं। यह विलक्षणता इन्हें संस्कृत के अन्य नाटकों से पृथक् करती है।

(३) वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' में भास को 'ज्वलणमित्ते'—ज्वलनमित्र (अग्नि का मित्र) कहा है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि वासवदत्ता के दाह की मिथ्या खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु-विकास का उपर्युक्त अवसर प्राप्त हुआ है। अतएव अग्निदाह का प्रयोग करने वाले भास को 'ज्वलनमित्र' संज्ञा प्राप्त हुई है।[3]

(४) जयदेव ने भास को कविताकामिनी का 'हास' बताया है। इस उल्लेख से भास की हास्य-रस के वर्णन में कुशलता व्यञ्जित होती है। भास के उपलब्ध नाटकों में हास्य के प्रसङ्ग बड़ी सफलता से प्रस्तुत किये गये हैं।

---

१. प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्त्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतो बहुमानः—मालविकाग्निमित्र पृ० २।

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।—बाण-हर्षचरित।

३. भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे तहावि रहुवारे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो॥—गउडवहो, ८००।

हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनों रूपों की संघटना बड़ी सफलता के साथ की गई है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के विदूषक की श्लिष्ट भाषा तथा सुकुमार हास्य के लिये वासवदत्ता के औदरिक विदूषक का वर्णन दर्शनीय है, कालिदास में जहाँ हास्य का केवल सुकुमार रूप है, वहाँ भास के नाटकों में दोनों रूपों का सजीव चित्रण है। अतः जयदेव का कथन पूर्णतः यथार्थ है—अर्थवाद-मात्र नहीं।[1]

(५) राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में भास-नाटकचक्र की अग्नि-परीक्षा तथा 'स्वप्नवासवदत्ता' के उस अग्निपरीक्षा में न जलने का उल्लेख किया है।[2]

(६) दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरी कथा' में भास के काव्य-गुणों का वर्णन किया है। उनके अनुसार भास के नाटकों में मुख एवं प्रतिमुख संधियाँ स्पष्ट होती हैं तथा अनेक वृत्तियों के द्वारा इन्होंने अपने काव्य में विभिन्न भावदशाओं की अभिव्यञ्जना की है।[3]

(७) नाट्यदर्पण (लेखक, रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र, १२ वीं सदी) में भास के स्वप्न नाटक का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है।[4]

(८) शारदातनय (१२ वीं सदी) ने 'भावप्रकाशन' में प्रशान्त नाटक के प्रसङ्ग में 'स्वप्नवासवदत्ता' के कथानक का निर्देश किया है।

---

१. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षःहृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा भवतु कविताकामिनी कौतुकाय ॥—जयदेव, प्रसन्नराघव ॥

२. भासनाटकचक्रेऽस्मिञ्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥—राजशेखरः काव्यमीमांसा।

३. सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः।—अवन्तिसुन्दरी।

४. यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराजः...
—नाट्यदर्पण ॥

(९) आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका में भास के स्वप्नवासवदत्ता का उल्लेख किया है।[1]

(१०) भोजदेव ने 'शृंगारप्रकाश' में स्वप्नवासवदत्ता का उल्लेख किया है।[2]

(११) 'अमरकोशटीकासर्वस्व' में सर्वानन्द ने उदयन तथा वासवदत्ता के विवाह का वर्णन किया है।

(१२) जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' की एक टीका में कहा गया है कि भास तथा व्यास में यह विवाद उठा कि कौन बड़ा है। दोनों ने अपनी एक-एक सर्वोत्तम पुस्तक अग्नि में डाल दी। व्यास की पुस्तक तो अग्नि में जल गयी, पर भास का विष्णुधर्म अग्नि से न जल सका। इस कथन का साम्य राजशेखर के वचन से स्पष्ट है यद्यपि राजशेखर ने व्यास के साथ विवाद का उल्लेख नहीं किया है। विष्णुधर्म अब तक अनुपलब्ध है।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भास के नाटकों का अत्यधिक प्रचार था। कवियों तथा आलोचकों में भास के नाटक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। पर, काल के करालचक्र से ये नाटक भी अछूते न रहे। अन्त में केवल सूक्तिवचन से इनका पता लगने लगा।

भास-नाटकचक्र का उद्धार

भास के नाटकों का प्रकाशन संस्कृत-साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट बात है। महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री के द्वारा इन नाटकों के प्रकाशन से पूर्व ये नाटक प्रेक्षकों के दृष्टिपथ से ओझल हो गये थे। यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि जब भास के नाटक प्राचीन युग में इतने प्रसिद्ध थे कि कालिदास जैसे सर्वोत्कृष्ट कवि से उनका उल्लेख किये बिना न रहा गया तो वे फिर लुप्त कैसे हो गये ? यह प्रश्न बड़ा पेचीदा है और इसका कोई मान्य

---

१. क्वचित्क्रीडा। यथा वासवदत्तायाम्।

—नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्त की टीका।

२. वासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः।—शृङ्गारप्रकाश।

समाधान नहीं। वैसे वैदिक ग्रंथ और शाखायें जिनका कि पठन-पाठन कुल-परम्परा में अनिवार्य था लुप्त हो गये तो फिर लोकानुरंजन के साधक इन नाटकों का प्रचार से परे होना कोई अतर्कित बात नहीं। सुमिल्ल आदि के नाटक आज भी कराल काल के गर्त में विलीन ही हैं। तथापि विद्वानों ने इसका उत्तर देने का प्रयास किया है। मुख्यतया वे कारण दो हैं—

(१) देश में मुसलिम शासन के प्रसार के साथ ही साथ प्राचीन ग्रंथों पर विपत्ति के बादल घिरने लगे। यह स्वाभाविक है कि देश की समृद्धि तथा शौर्य के गीत गानेवाले, राजसिंह को पृथ्वीपालन का आदेश देनेवाले तथा वैदिक धर्म की प्रशस्ति करनेवाले भास के नाटकों पर मुसलमानों की कुदृष्टि पड़ी हो। मुसलमानों का व्यापक प्रचार-प्रसार उत्तरी भारतवर्ष पर ही विशेष था। इसके अतिरिक्त देशी सरदारों तथा यहाँ रहनेवाले मुसलमानों के लिये देवनागरी लिपि का पाठ भी सरल था। फलतः उन्होंने देवनागरी लिपि में लिखित तथा उत्तरी भारत में प्रचलित भास के नाटकों को नष्ट करने का प्रयास किया। यह सम्भावना इस बात से भी पुष्ट होती है कि उत्तरी भारत तथा देवनागरी लिपि में लिखित भास-नाटकों की प्रतियाँ अनुपलब्ध हैं। प्रो० वी० राघवन् ने जो हस्तलेखों की खोज की उसमें भी देवनागरी में भास के नाटकों का अभाव है। इसके अतिरिक्त, दक्षिणी केरल देश में मुसलमानों का व्यापक प्रसार न था और ग्रांथा तथा मलयालम की लिपियाँ भी सम्भवतः उनके लिए सुगम न थीं। अतः वहाँ भास के नाटकों के हस्तलेख सुरक्षित रहे।

(२) विदेशियों से बारम्बार पदाक्रान्त होने पर अब यहाँ के लोगों का जीवन नैराश्य की ओर उन्मुख था। वीरतापूर्ण नाटकों को सुनने की अपेक्षा अब वे धर्म तथा दर्शन पर झुक गये थे। अतः भास के ये नाटक प्रचलन से उठ गये।[1]

किमप्यस्तु। ये केवल सम्भावना-मात्र हैं।

सन् १६०६ ई० में महामहोपाध्याय पं० गणपति शास्त्री को पद्मनाभपुरम् के समीपवर्ती मनल्लिकारमठम् में स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण,

---

१. द्रष्टव्य, ए. एस. पी. अय्यर कृत 'भास', पृ० १३–१५।

पञ्चरात्र, चारुदत्त, दूतघटोत्कच, अविमारक, बालचरित, मध्यमव्यायोग, कर्णभार तथा ऊरुभङ्ग के हस्तलेख मिले। इसके अतिरिक्त, दूतवाक्य की भी ताड़पत्र पर एक हस्तप्रति मिली जो खण्डित थी। ये हस्तलेख मलयालम लिपि में थे। गणपति शास्त्री ने इस विषय में आगे भी अनुसंधान जारी रखा और कैलासपुरम् के एक ज्योतिषी के पास से अभिषेक नाटक तथा प्रतिमा नाटक की हस्तप्रतियाँ प्राप्त कीं। ट्रिवेण्ड्रम राजप्रासाद पुस्तकागार में भी इन दोनों नाटकों की हस्तप्रतियाँ मिलीं जो इन प्रतियों के समान थीं। मैसूर के पण्डित अनन्ताचार्य ने केरल से प्राप्त स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण की दो प्रतियाँ भी पण्डित गणपति शास्त्री को दीं। कृष्णतन्त्री से भी गणपति शास्त्री ने हस्तलेख प्राप्त किये। अत्यधिक प्रयत्न के विपरीत भी गणपति शास्त्री को चारुदत्त की कोई पूर्ण हस्तप्रति नहीं मिली। चारुदत्त नाटक सहसा समाप्त हो जाता है और प्रतीत होता है कि यह कर्णभार का अग्रिम अंश है क्योंकि कर्णभार भी अपूर्ण ही प्रतीत होता है।

गणपति शास्त्री की उपलब्धि से तीन साल पूर्व ही गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास के लिये वहाँ के लेखक श्री सम्पतकुमार चक्रवर्ती ने ३ जनवरी १९०६ ई० को पुस्तकालय के लिये स्वप्नवासवदत्तम् की देवनागरी लिपि में एक प्रति नकल की थी। उसके एक महीने के बाद ६-२-१९०६ को श्री चक्रवर्ती ने देवनागरी लिपि में पुस्तकालय के लिए प्रतिज्ञायौगन्धरायण की भी एक प्रति नकल की।

पं० गणपति शास्त्री ने १९१२ ई० में भास के इन तेरह नाटकों को प्रकाशित किया।

भास-नाटकचक्र का एककर्तृत्व

यह प्रश्न प्रारम्भ से ही जोरों से उठाया गया था कि क्या ये ग्रन्थ भास के द्वारा ही लिखे गये और यदि भास इनके लेखक हैं भी तो क्या सभी नाटकों के हैं अथवा कुछेक के ही। पर, इन नाटकी के सूक्ष्म अन्वीक्षण से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि इन सभी नाटकों के रचयिता एक ही व्यक्ति थे। इस मत की पुष्टि में कुछ प्रमाणों को यहाँ उपन्यस्त किया जाता है—

(१) इन समस्त नाटकों में (केवल चारुदत्त को छोड़कर) नान्दी के अनन्तर सूत्रधार मंगलपाठ से इनका आरम्भ करता है।[1]

(२) अंकों के मध्य में लघुविस्तारी प्रवेशकों तथा विष्कम्भकों का प्रयोग किया गया है। इनका उपयोग दर्शकों को अंकों के मध्य में घटित घटनाओं की सूचना देने के लिए किया गया है।

(३) इन नाटकों में 'प्रस्तावना' के स्थान पर सर्वत्र 'स्थापना' का प्रयोग किया गया है।

(४) सभी नाटकों में, जिनमें कि भरतवाक्य है (चारुदत्त तथा दूत-घटोत्कच में भरतवाक्य नहीं है) यह कामना कि राजा जिसे कि राजसिंह कहा गया है तथा जो हिमालय से विन्ध्य तथा पूर्व सागर से पश्चिम सागर तक शासन करता है, सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय करे; सभी वर्णों के धर्म की रक्षा हो तथा गौ एवं भले मनुष्यों की रक्षा हो।[2]

(५) सामान्यतया भरत-प्रतिपादित नाट्य-नियमों का इन नाटकों में पालन नहीं हुआ है। मृत्यु तथा लड़ाई-झगड़े, रङ्गमञ्च पर ही प्रदर्शित किये गये हैं तथा अभिषेक, पूजा, शपथ या अश्रु-प्रक्षालन के लिये रङ्गमञ्च पर जल लाया गया है। जैसे—'प्रतिमा' में दशरथ की, 'अभिषेक' में बालि की तथा 'ऊरुभङ्ग' में दुर्योधन की मृत्यु रङ्गमञ्च पर ही दर्शायी गयी है। चाणूर, मुष्टिक और कंस का वध भी प्रेक्षकों को रङ्गमञ्च पर ही दिखायी पड़ता है। बालचरित में कृष्ण और अरिष्ट के भयंकर युद्ध का वर्णन है। स्वप्ननाटक में क्रीड़ा और शयन भी दिखाये गये हैं अथच दूर से उच्च स्वर में पुकारने का वर्णन मध्यमव्यायोग तथा पञ्चरात्र में है।

---

१. (अ) नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः । सूत्रधारः—उदयनवेन्दु-वर्णा...' स स्वप्ननाटक—

(ब) नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः । सूत्रधारः—पातु वासवदत्तायो... प्रतिज्ञायौ० । इत्यादि ।

२. इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्

महीमेकातपत्राङ्का राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥ स्वप्न० ६-१६; तथा अन्य नाटकों के भरतवाक्य ।

(६) विशिष्ट अर्थों में शब्दों का प्रयोग—भास के नाटकों में कुछ शब्दों का प्रयोग अपने प्रचलित अर्थों से भिन्नार्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ—आर्य-पुत्र शब्द का प्रयोग अनेकशः ऐसे अर्थों में हुआ है जो भरत के नाट्यशास्त्र में अविहित हैं।

(७) इन सभी नाटकों में 'आकाशभाषित' प्रायशः मिलता है। 'आकाशभाषित' के अन्तर्गत रङ्गमञ्च पर पात्र ऐसे व्यक्ति से बोलता अथवा उत्तर देता है जो रङ्गमञ्च पर नहीं है अथवा अप्रकृत ध्वनियों को सुनता है।

(८) कञ्चुकी और प्रतिहारी के नामों की कई नाटकों में पुनरावृत्ति हुई है। उदाहरणार्थ—कंचुकी का नाम 'प्रतिज्ञा' नाटक में भी बादरायण है और दूतवाक्य में भी। इसी प्रकार प्रतिहारी का नाम स्वप्न, प्रतिज्ञा, अभिषेक तथा प्रतिमा में विजया है।

(९) प्रायेण सभी नाटकों में 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'प्रस्तावना' शब्द का प्रयोग एकमात्र 'कर्णभार' में किया गया है।

(१०) नाट्य-निर्देश की न्यूनता सभी नाटकों में समानभावेन प्राप्य है। जो नाट्यनिर्देश हैं भी उनमें एकाधिक निर्देश एक साथ पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—'निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य' यहाँ निष्क्रमण तथा प्रवेश सहभावेन निर्दिष्ट हैं।

(११) इन सभी नाटकों के नामों का उल्लेख नाटक के अन्त में किया गया है अन्यत्र नहीं। इन रूपकों मे किसी में भी ग्रन्थ के प्रणेता का नाम नहीं मिलता।

(१२) इन नाटकों में यद्यपि विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है पर इन छन्दों के प्रयोग में साम्य है।

(१३) कई नाटकों में ऐसी प्रभावशाली पद्धति का प्रयोग हुआ है कि किसी नवागन्तुक के द्वारा अप्रत्याशित उत्तर की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ, जब महासेन और अङ्गारवती विमर्श कर रहे हैं कि कौन राजा वासवदत्ता के लिये उपयुक्त है उसी समय कञ्चुकी सहसा आकर कहता है—'वत्सराज'। अभिप्राय यह कि उनके प्रश्न का आकस्मिक उत्तर मिल गया यद्यपि कञ्चुकी

कहने यह आया था कि 'वत्सराज बन्दी बना लिया गया।' इसी प्रकार अभिषेक नाटक में जब रावण सीता से कहता है कि 'इन्द्रजित् ने राम और लक्ष्मण को मार डाला। अब तुम्हें कौन मुक्त करेगा?' उसी समय एक राक्षस आकर कहता है 'राम' यद्यपि वह कहना यह चाहता है कि 'राम ने इन्द्रजित् को मार डाला।'

(१४) इन नाटकों में समान शब्दों तथा दृश्यों की अवतारणा की गई है। किसी विशिष्ट व्यक्ति के आगमन की तुलना ताराओं के मध्य चन्द्रमा के उदय से की गई है। बालि, दुर्योधन तथा दशरथ सभी मृत्यु के बाद पवित्र नदी का दर्शन करते हैं तथा उनके लिये देव-विमान आता है।

(१५) कई नाटकों में समान वाक्यों की उपलब्धि होती है। उदाहरणार्थ—जन-सम्मर्द के बढ़ जाने पर मार्ग साफ करने के लिये—'उस्सरह उस्सरह अय्या! उस्सरह।' (हटिये, हटिये श्रीमानो!) का प्रयोग कई स्थानों पर है! कई विषयों का वर्णन भी समानरूप से अनेक नाटकों में मिलता है। जैसे, सूर्यास्त, रात्र्यागमन, युद्ध और युद्धक्षेत्र आदि का। इनकी वर्णन-पद्धति में समानता सुतरां दर्शनीय है।

(१६) एक ही पात्र के द्वारा या अन्य पात्रों के द्वारा पद्यों के खण्डित प्रयोग होते हैं।

(१७) तेरह नाटकों में से पाँच नाटकों में आद्य श्लोकों में मुद्रालंकार का प्रयोग है। इसमें देवता की स्तुति के साथ-साथ पात्रों का नाम निर्देश तथा कथानक की ओर संकेत किया गया है।

(१८) इन नाटकों में पाणिनीय व्याकरण का कठोरता से प्रयोग नहीं हुआ फलतः कई स्थानों पर अपाणिनीय प्रयोग दिखायी पड़ते हैं।

(१९) समान नाटकीय परिस्थितियों की अवतारणा इन नाटकों की विशेषता है। अभिषेक तथा प्रतिमा नाटकों में सीता रावण की प्रार्थना को अस्वीकार कर देती हैं तथा उसे शाप देती हैं। इसी प्रकार चारुदत्त में वसन्तसेना भी शकार के अनुनय को अस्वीकृत कर उसे शाप देती है। बालचरित तथा पञ्चरात्र में जब सैनिकों से उनके राजा को नमस्कार करने के लिये कहा जाता है तो वे उपेक्षापूर्वक पूछते हैं कि 'यह किसका राजा है?' प्रतिज्ञा

नाटक में महासेन तब तक वत्सराज के बन्दी होने को नहीं मानता जब तक बादरायण यह नहीं कहता कि 'क्या उसने कभी पहले महासेन से झूठ कहा है ?' इसी प्रकार चारुदत्त में कंस तब तक यह नहीं मानता कि देवकी को पुत्री हुई है जब तक कञ्चुकी इसी प्रकार का प्रश्न नहीं करता। अविमारक तथा प्रतिज्ञा में राजा तथा रानी के बीच उपयुक्त वर के लिये समान विमर्श है।

(२०) इन रूपकों की भाषा तथा शैली में व्यापक समानता है।

(२१) किसी घटना की सूचना देने के लिये 'निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजाय' इत्यादि वचन का प्रयोग पञ्चरात्र, कर्णभार, दूतघटोत्कच आदि में समानरूपेण किया गया है।

(२२) प्रायेण इन नाटकों में युद्ध की सूचना भटों, ब्राह्मणों आदि के द्वारा दिलायी गई है।

(२३) भावों की समानता इन नाटकों की एक महती विशेषता है। नारद को कलहप्रिय तथा स्वरतन्त्री का साधक बताया गया है[1]; अर्जुन की वीरता का वर्णन दूतघटोत्कच तथा ऊरुभंग में समानरूपेण किया गया है; राजाओं के मृत्यु के उपरान्त भी यशःशरीर से जीवित रहने का वर्णन समानरूप से किया गया है, लक्ष्मी के साहसियों के पास रहने का विधान भी समानरूपेण किया गया है।

(२४) इन सभी नाटकों में समान सामाजिक परिस्थितियों की अवतारणा की गई है।[2]

इन साम्यों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन नाटकों का रचयिता कोई एक ही व्यक्ति था। पर, इन नाटकों के प्रणेता भास ही थे अथवा नहीं इस विषय में प्रारम्भ से ही विवाद बना रहा है। डाक्टर ए० डी०

---

१. तन्त्रीषु च स्वरगणान् कलहांश्च लोके।—अविमारक ४।२
तन्त्रीश्च वैराणि च घट्टयामि।—बाल० १।४

२. इन नाटकों की समानता का डा० पुसालकर ने अपने ग्रन्थ 'भास : ए स्टडी' में बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादन किया है। इस सन्दर्भ में ए० एस० पी० अय्यर का भास ग्रन्थ भी उपादेय है।

पुसालकर तथा प्रो० ए० बी० कीथ इन्हें भासकृत बताते हैं। इसके ठीक विपरीत पिशरोती, कुन्हनराजा, देवधर तथा विन्टरनित्ज इन्हें भासकृत नहीं मानते। मध्यमार्ग डा० सुकथनकर आदि का है जो कुछ नाटकों को तो भासकृत मानते हैं पर कुछ को भास के नाम के साथ पीछे से जोड़ा गया मानते हैं।

केरलीय चाक्यारों की रचना ?—कुछ आलोचकों ने इन नाटकों को केरलीय रङ्गमञ्च के अभिनेता चाक्यारों की सृष्टि मानी है। उनका कहना है यदि यह नाटक-चक्र भास-प्रणीत होता तो इनकी प्रस्तावना या स्थापना में भास का नाम अवश्य होता। इसके अतिरिक्त यदि ये भास-कृत होते तो केरल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी इनकी हस्तप्रतियाँ अवश्य मिलतीं। रीति-ग्रंथों में जो 'स्वप्नवासवदत्ता' के उदाहरण आये हैं उनका भी वर्तमान नाटक में अभाव है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री का कहना है कि स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा नाटकों में 'विवाह' के लिये 'सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द आज भी इसी अर्थ में केरल के चाक्यारों में प्रयुक्त होता है। इस बात से चाक्यार-उद्भव की पुष्टि होती है।

पर ये बातें युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होतीं। इन नाटकों में भास का नाम न होने से इनकी नवीनता कथमपि सिद्ध नहीं होती। यह तो निर्विवाद है कि कालिदास आदि की अपेक्षा भास प्राचीन हैं। यह सम्भव हो सकता है कि उनके समय में नाटककार का नाम न देने की प्रथा रही हो। इसके विपरीत यदि ये अर्वाचीन चाक्यारों की सृष्टि होते तो इनकी प्रामाणिकता बताने के लिये सचेष्ट होकर कर्ता का नाम इनमें दिया होता। केरल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में अनुपलब्धि भी इनके भास-कृत होने में विप्रतिपत्ति को जन्म नहीं देती। यह बहुत सम्भव है कि किसी कवि की कृति किसी देशविशेष में प्रचलित हो और अन्य प्रांतों में उसका व्यापक प्रचार-प्रसार न हो। यह भी सम्भव है कि उत्तरी भारत की राजनीतिक अस्थिरता भी उत्तरी भारत में उनकी हस्त-प्रतियों के अभाव का कारण हो। प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त उद्धरणोंके अभावका जहाँ तक प्रश्न है, हो सकता है वे अंश लेखक के प्रमादवश छूट गये हों। इतना तो निश्चित ही है कि भास के नाटक जन-समुदाय से दूर हो गये थे

फिर कुछ अंशों का छूटना असम्भव नहीं ? इसके अतिरिक्त जिन नाटकों के ये अंश उद्धृत हैं उन-उन नाटकों में उन्हें पिरो देने का उचित अवकाश है। रही बात विवाह अर्थ में 'सम्बन्ध' शब्द के प्रचार की तो मिताक्षरा-पद्धति में यह शब्द इस अर्थ में अब भी दिखायी पड़ता है।

इसके अतिरिक्त चाक्यारों में इतनी काव्य-प्रतिभा इतना नाट्य-कौशल तथा इतनी समृद्ध भाषा नहीं कि वे ऐसे उच्चकोटि के नाटकों का प्रणयन कर सकें। यदि चाक्यारों में इस प्रकार की कर्तृत्व-शक्ति होती तो क्या वे दूसरे नाटक-चक्रों की रचना नहीं करते ? क्या उनकी कर्तृत्व-शक्ति इन्हीं तेरह नाटकों के बाद कुण्ठित हो गयी ? उन्होंने एक भी इस प्रकार की रचना क्यों नहीं की ? वस्तुस्थिति यह है कि इन नाटकों की सृष्टि चाक्यारों ने नहीं की। यह हो सकता है कि इनमें उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार कुछ काट-छाँट की हो।

इन नाटकों की रचना पल्लव-दरबार में नहीं हुई—यह भी कहा जाता है कि पल्लव द्वितीय नरसिंह वर्मन या तेनमारन के किसी सभापण्डित-ने इन नाटकों की रचना की। इसका आधार यह है कि इन दो नर-पतियों ने अपनी उपाधि राजसिंह रखी थी। इन नाटकों में 'राजसिंहः प्रशास्तु नः' की उपस्थिति ने इस कल्पना को जन्म दिया है। इसकी पुष्टि में यह भी तर्क दिया जाता है कि इन नाटकों में ऐसे संस्कृत शब्द हैं जो दक्षिण में उद्भूत हुए हैं अथवा दाक्षिणात्य अर्थ रखते हैं। यह तर्क इतिहास से सिद्ध नहीं होता क्योंकि इन राजाओं की सभा में एतादृश विदग्ध कवि का उल्लेख कहीं नहीं है। और यदि इनकी रचना मानी भी जाय तो इसका कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि यह तथाकथित सभापण्डित अपना नाम क्यों गुप्त रखता जब कि विक्रम प्रथम सदी के लगभग से ही नाटककार अपना नाम नाटक में रखते आये थे—कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि औदीच्य तथा शक्तिभद्र, महेन्द्रवर्मन आदि दाक्षिणात्य नाटककारों के नाम इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त किसी दाक्षिणात्य नगर वा व्यक्ति का अनुल्लेख तथा औदीच्य व्यक्तियों, जनपदों, नगरों आदि का वर्णन इसमें किंचित् भी सन्देह

के लिये अवकाश नहीं छोड़ता कि ये नाटक पल्लव या पाण्ड्य राजाओं के दरबार में निर्मित नहीं हुये।

इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चाक्यारों की रचना या पल्लव-दरबार में इनकी निर्मिति की सम्भावनायें आधार नहीं रखतीं। अब प्रश्न यह है कि क्या इन नाटकों के प्रणेता भास ही हैं? इस विषय में बड़ी विसंमितियाँ हैं। इन विसंवादी सिद्धान्तों को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं —

(१) वे विद्वान् जो इन नाटकों को भासकृत नहीं मानते। उनके अनुसार किसी परवर्ती लेखक (चाक्यार, पल्लवनरेश का सभापण्डित या किसी अन्य कवि) ने इन्हें गढ़ा है तथा इनका प्रामाण्य और प्राचीनता सिद्ध करने के लिये इन्हें भास के नाम के साथ संयुक्त कर दिया है। जैसा कि पहले दर्शाया गया है अपने मत के समर्थन में ये विद्वान् कहते हैं कि भास के जो उदाहरण लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं उनका वर्तमान भास-नाटकों में अभाव है। इसके अतिरिक्त इन नाटकों की प्रस्तावना में भास का नाम नहीं मिलता तथा केरल से अन्यत्र इनकी हस्तप्रतियाँ भी नहीं मिलती। पर, ये सारे तर्क लचर हैं तथा इनके आधार पर हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। जो उदाहरण वर्तमान भासीय नाटकों में नहीं मिलते उनके समावेश का इन नाटकों के परिवेश में पूरा स्थान है। इसके अतिरिक्त प्राचीन कवियों ने भास के नाटकों की जो विशेषतायें बतायी हैं वे इन नाटकों में पूर्णतः उपलब्ध हैं।

(२) इसके ठीक विपरीत सिद्धान्त उन लोगों का पड़ता है जो इन नाटकों को पूर्णरूपेण भास की कृति मानते हैं।[1]

(३) तृतीय सिद्धान्त उन विद्वानों का है जिनके अनुसार इन नाटकों के कतिपय अंश तो भास रचित अवश्य हैं पर अपने समग्ररूप में ये भास की कृति नहीं। महामहोपाध्याय पं॰ रामावतार शर्मा इसी मत के समर्थक हैं।[2] उनकी सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भासरचित तो अवश्य

१. इनके विवेचन के लिये द्रष्टव्य, Thomas—Plays of Bhāsa, J. R. A. S., 1922 P. 79.

२. द्र॰ 'शारदा' संस्कृत-पत्रिका वर्ष १, सं॰ १।

हैं पर समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की। किसी केरलीय कवि ने भास के प्राप्तांशों की पूर्ति कर दी। डाक्टर बार्नेट भी इन नाटकों के प्रणेता को प्रसिद्ध भास मानने के लिये तैयार नहीं।[1] इधर परवर्ती समीक्षणों-परीक्षणों से भी यही बात प्रकाश में आयी है कि ये समग्र अंश में भास की रचना नहीं। पं० रामावतार शर्मा जी का मत ही उपयुक्त प्रतीत होने लगा है कि भास के उपलब्धांशों को पूरा कर किसी केरलीय कवि ने इन नाटकों को प्रस्तुत किया।

परस्पर विसंवादी सिद्धान्तों और मान्यताओं के बीच यही बात अधिक उपयुक्त प्रतीत हो रही है कि ये नाटक अंशतः भास-रचित हैं। इसी मत में उन विद्वानों की रायों का भी समावेश हो जाता है जो कहते हैं कि ये नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं। इनके कथन की सार्थकता इतने तक ही है कि इन नाटकों के कुछ अंश भास प्रणीत हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति यह कहते हैं कि ये नाटक भास प्रणीत बिलकुल नहीं हैं उनकी बात प्रामाण्य-कोटि में नहीं ली जा सकती।



१. द्र० Bulletin cf school of oriental studies एवं J. R. A. S., 1919 P. 233 तथा 1921, P. 587.

द्वितीय परिच्छेद

भास के नाटक

'ट्रिवेण्ड्रम प्लेज' के आविष्कर्ता महामहोपाध्याय पं० टी० गणपति शास्त्री ने भास के तेरह नाटकों को प्रकाशित किया। बाद में १९४१ ई० में राजवैद्य कालिदास शास्त्री ने 'यज्ञफल' नाम का एक अन्य नाटक प्रकाशित किया और इसे भासकृत बताया। यह नाटक देवनागरी की दो हस्तप्रतियों पर आधृत था। यह रायायण के बालकाण्ड पर आधृत है तथा प्रतिमा एवं अभिषेक नाटकों से साम्य रखता है। इसमें तप तथा वैदिक-यज्ञ की प्रशस्ति है। दशरथ को यज्ञ से पुत्र उत्पन्न होते हैं; विश्वामित्र यज्ञ के द्वारा ब्रह्मर्षि बनते हैं और-राम का सीता से परिणय यज्ञ के द्वारा होता है जिसके आधार पर इस नाटक का नामकरण यज्ञफल हुआ। चूँकि प्रारम्भ से ही ट्रिवेण्ड्रम-नाटकों के भास प्रणीत होने के विषय में घोर विवाद उठ खड़ा हुआ था अतः उस विवाद में इस नाटक के प्रकाशन ने आहुति का काम दिया। लोगों ने इसे जाली बताया और इस कथन को बल इस नाटक की हस्तप्रति के देवनागरी में होने से मिला। परन्तु, डाक्टर पुसालकर ने इसे भास की रचना बताया और कहा कि यह उनकी प्रौढ़ावस्था की रचना है। डाक्टर पुसालकर ने इसकी प्रामाणिकता तेरह ट्रिवेण्ड्रम-नाटकों की भाषा, नाट्यशैली तथा भावों की समानता के आधार पर सिद्ध की। उन्होंने उत्तरी भारत में प्राप्त इस हस्तप्रति के आधार पर यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि अन्य तेरह नाटक भी भास-प्रणीत ही हैं।

किन्तु, १९४२ में ही जयपुर के पं० गोपालदत्त शास्त्री भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना में पधारे और डा० सुकथनकर तथा डा० पी. के. गोडे से कहा कि यज्ञफल की रचना उन्होंने स्वयं की है तथा प्रयत्न-पूर्वक उसमें भास की शैली का अनुकरण किया है। उन्होंने यह भी कहा कि यज्ञफल पर उन्होंने तीन टीकायें की हैं जिनसे उनके वास्तविक प्रणेता होने

का पता लग जाय। यह विषय राजवैद्य कालिदास शास्त्री को सौंपा गया और उन्होंने इसे भास-कृत बताया। उन्होंने कहा कि गोपालदत्त शास्त्री ने कपटपूर्वक इसे अपना सिद्ध किया और तीन टीकायें रख दी। डा० आर. एन. दाण्डेकर ने इस विषय की छानबीन की और प्रथम कुञ्जी को निस्सार बताया। उन्होंने कहा कि चूँकि गोपालदत्त शास्त्री को प्रकाशन का कार्य सौंपा गया था अतः उन्होंने आमुख में इसे अपना बता दिया। उन्होंने यह भी दर्शाया कि हस्तप्रति के मर्मज्ञ डा० गोडे ने १६७० वाली प्रति को सही बताया अतः वह प्रति प्रामाणिक है। यही अवस्था दूसरी कुञ्जी की भी है। पर, तीसरी कुञ्जी जिसमें कि 'भासानुकारी' लिखा है प्रामाणिक सिद्ध हुई। और यह १६७० की हस्तप्रति पर भी प्रामाणिक ही मिली। अतः दाण्डेकर ने कहा कि इस तथ्य को गोपालदत्त शास्त्री ने धोखा से अपने लिये प्रयुक्त किया अथवा १६७० से बहुत पहले किसी कवि ने भास के अनुकरण पर इस ग्रंथ को रचा था।

प्रोफेसर झाला ने इसकी पुनः विवेचना की (जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रान्च आफ एसियाटिक सोसाइटी १६५४)। इन्होंने कहा कि यद्यपि 'यज्ञफल' अन्य भासीय नाटकों की नाईं ही प्रारम्भ तथा समाप्त होता है पर इसमें बहुत सी नवीन बातें हैं जो भास के समय में न थीं। राम धनुष-भङ्ग से पूर्व उद्यान में सीता से प्रेम-दार्ढ्य के लिए मिलते हैं, राम को दुष्यन्त की ही भांति शंका है कि सीता कहीं ब्रह्मर्षि की पुत्री तो नहीं, विश्वामित्र नागर तथा ग्राम्य जीवन की तुलना करते हैं और ग्राम्य जीवन को श्रेष्ठ बताते हैं, आदि। इस प्रकार भास के आधार पर यह नवीन अनुकृति को सूचित करता है। अतः ज्यादा संभव यही प्रतीत होता है कि यज्ञफल भासीय नाटकों के अनुकरण पर किसी अन्य परवर्ती नाटककार द्वारा गढ़ा गया जो इसका कर्तृत्व न तो भास के मत्थे मढ़ता है और न स्वयं अपने को इसका प्रणेता बताता है।

इस नाटक में सात अंक हैं। प्रथम में दशरथ के चार पुत्रों का जन्मोत्सव मनाया जाता है। सुमन्त्र नाना उपहारों को बांटते हैं। दशरथ सभी बन्दियों की मुक्ति का आदेश देते हैं, पर उस समय कोई जेल में नहीं था। उन्हें विवाह के समय कैकयी को दिये गये वरदान का स्मरण हो आता है जिसमें

उन्होंने उसके पुत्र को राजा बनाने की प्रतिज्ञा की थी। द्वितीय अंक में दशरथ अन्तःपुर के उद्यान में सुमन्त्र तथा रानियों से एकान्त में यह विमर्श करते हैं कि किसे राजा बनाया जाय। कञ्चुकी से सभी को बाहर रोकने लिये कह दिया जाता है। दशरथ राम को राजा बनाने की अपनी इच्छा प्रकट करते हैं और सभी रानियाँ इसका अनुमोदन करती हैं। जब कैकेयी से उसके पुत्र को राजा बनाने की बात कही जाती है तो वह कहती है कि केवल राम ही राज्य-पद के उपयुक्त हैं। अन्त में सभी रानियाँ अपने-अपने अन्तःपुरों में सायंकाल अपने-अपने पुत्रों से यह बात बताने का निश्चय कर चली जाती हैं।

तृतीय अंक में रावण राम का जिनकी शक्ति को वह सुन चुका है, अनिष्ट करने के लिये अयोध्या जाता है। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर राम की रक्षा के लिये गन्धर्वों को भेजते हैं। विश्वामित्र भी अतिबल नामक शिष्य की खोज में आते हैं। वे भी अदृश्य हैं पर रावण उन्हें देख लेता है। विश्वामित्र जृम्भकास्त्र की शिक्षा के लिये राम को अधिक उपयुक्त समझते हैं। वसिष्ठ चारों शिष्यों के साथ आते हैं। बाण छोड़ते हुये शिष्यों को विश्वामित्र तथा रावण दोनों देखते हैं और वे राम का बाण पकड़ लेते हैं इस पर राम आग्नेय अस्त्र छोड़ने को कहते हैं जिसे सुनते ही रावण पलायन कर जाता है। अन्य भाई राम को आग्नेयास्त्र-संधान से विमुख करते हैं। मन्थरादि दासियाँ पुष्पावचय के लिये प्रवेश करती हैं पर वृक्षों पर बाण-सन्धान के चिह्न देख कर भाग जाती हैं। अनन्तर वसिष्ठ रावण तथा विश्वामित्र के आने की बात कहते हैं। वे राम से विश्वामित्र के प्रति श्रद्धा प्रकट करने को कहते हैं तथा बताते हैं कि कल विश्वामित्र दशरथ से राक्षसों के वध के लिये उन्हें भेजने की प्रार्थना करेंगे।

चतुर्थाङ्क में राजभवन के बन्दियों में उनके गायन के विषय में विवाद है। वे विश्वामित्र के ब्रह्मणत्व तथा क्षत्रियत्व के विषय में भी विवाद करते हैं। अनन्तर विश्वामित्र का प्रवेश होता है जिनका दशरथ सुमन्त्र के साथ स्वागत करते हैं। विश्वामित्र वसिष्ठ से राम के शिक्षणादि के विषय में प्रश्न करते हैं तथा रामके उत्तरों को सुनकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। विश्वामित्र दशरथ से राक्षसों द्वारा हो रहे उत्पातों से यज्ञ की रक्षा के लिये राम की

याचना करते हैं तथा राम को जृम्भकास्त्र सिखाने का वादा करते हैं। दशरथ उनकी बात मान लेते हैं।

पांचवें अङ्क के प्रवेशक में विश्वामित्र के शिष्यों में यह वितर्क चल रहा है कि क्यों उनके यज्ञ बाधित हो रहे हैं। यह कहा गया है कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हुये हैं अतः ब्राह्मणों ने रावण के नेतृत्व में राक्षसों को उत्तेजित किया है जो यज्ञ में बाधा दे रहे हैं। विश्वामित्र इस बात को जान गये हैं और इसी लिये क्षत्रिय-बालक राम को अपने समग्र अस्त्रों की शिक्षा देकर रक्षार्थ लाये हैं। राम मरीचि, सुबाहु आदि राक्षसों को मारते हैं। विश्वामित्र उनके बल तथा उत्साह की प्रशंसा करते हैं। प्रसंगतः वे यह बताते हैं कि आगे धर्म की रक्षा के लिये राम की रावण से लड़ाई होगी। वे ग्राम्य तथा अरण्य-जीवन की प्रशंसा करते हैं तथा नागर जीवन के दोषों को दर्शाकर उसकी निन्दा करते हैं। वे दोनों राजकुमारों को असाधारण फल की प्राप्ति की बात कहकर जनक-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये मिथिला ले जाते हैं।

षष्ठ अंक में जनक द्वारा विश्वामित्र की परिचर्या के लिये नियुक्त परिचारक सीता तथा राम के उद्यान में मिलने तथा प्रथम दर्शन में ही प्रेमासक्त होने की चर्चा करते हैं। राम तथा सीता पुनर्मिलन के लिये प्रयत्नशील होते हैं तथा जनक एवं विश्वामित्र इसमें सहायता करते हैं। राम सीता से पुनः मिलते हैं तथा सीता की परिचारिका से यह सुनते हैं कि जनक ने सीता को उस व्यक्ति को सौंपने की प्रतिज्ञा की है जो शिव-धनुष् को नमित कर दे। जनक का वहाँ सहसा प्रवेश होता है और राम हट जाते हैं। जनक विश्वामित्र की इस बात पर कि राम धनुष झुका देंगे धनुष-झुकाने के लिए दिन नियत करते हैं।

सप्तम अंक में राम तथा सीता का परिणय दर्शाया गया है। परिणय के अवसर पर जनक, दशरथ आदि उपस्थित रहते हैं। धनुष-भङ्ग-जन्य भयंकर-ध्वनि सुन कर परशुराम का सहसा प्रवेश होता है और राम पर वे रोष प्रकट करते हैं। जनक, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि उन्हें शान्त करते हैं। अन्त में, वे राम को महाविष्णु स्वीकार करते हैं तथा उन्हें अपना धनुष देते हैं एवं स्वयं वन में तप करने के लिए चले जाते हैं।

यज्ञफल नाटक भास-रचित है अथवा नहीं इस विषय पर वाद-प्रतिवादों का ऊपर निर्देश कर दिया गया है। मेरे विचार में यह भास-प्रणीत नहीं है। किसी परवर्ती कवि ने भास के अनुकरण पर इस नाटक की रचना की है और इस तथ्य की सूचना उसने 'भासानुकारी' कह कर दी है। नाटक की शैली वही है जो भास के अन्य नाटकों की। भाषा में भी पर्याप्त साम्य है। विषयों की एकता तथा नाट्य-पद्धति में भी अन्य भासीय नाटकों से साम्य सुतरां दर्शनीय है। अस्तु, अब इस नाटक का संक्षिप्त निर्देश करने के अनन्तर भास के नाटकों का विवेचन किया जायेगा।

भास के नाटकों के कालक्रम के विषय में किंचित् मतवैभिन्य दृग्गोचर होता है। डाक्टर ए० डी० पुसालकर ने नाटकों का क्रम इस प्रकार माना है।

दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच, उरुभङ्ग, मध्यमव्यायोग, पंचरात्र, अभिषेक नाटक, बालचरित, अविमारक, प्रतिमा, प्रतिज्ञा, स्वप्नवासवदत्तम् तथा चारुदत्त। इस सूची का अन्तिम नाटक अपूर्ण है और सम्भवतः भास की मृत्यु के कारण अधूरा छूट गया था।

डाक्टर पुसालकर ने यह क्रम नाटकों की शैली, पद्धति, संवाद, पद्य आदि के विवेचन के आधार पर स्थिर किया है।

विषय-शैली, मौलिकता आदि के आधार पर श्री ए० एस० पी० अय्यर ने नाटकों का क्रम यह स्वीकार किया है :—

दूतघटोत्कच, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, उरुभंग, दूतवाक्य, पंचरात्र, बालचरित, अभिषेक, प्रतिज्ञा, अविमारक, प्रतिमा स्वप्नवासवदत्तम् एवं चारुदत्त।

१—दूतवाक्य

प्रस्तुत नाटक का आधार एक महाभारतीय आख्यान है। इस आख्यान के अनुसार उत्तरा-अभिमन्यु के परिणय के अनन्तर पूरा प्रयास हुआ कि कौरव-पाण्डवों में समझौता हो जाय और पाण्डवों को अपना प्राप्य प्राप्त हो जाय। पर यह उद्योग कृतकार्य न हो सका। अन्ततः धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण के माथे ही यह भार सौंपा कि आप ही सन्धि-सम्पन्न करा दें और हम लोगों का हिस्सा दिला दें। युधिष्ठिर के आग्रह को शिरोधार्य कर भगवान् जनार्दन हस्तिनापुर में दौत्यकर्म के लिये जाते हैं।

नाटक का प्रारम्भ हस्तिनापुर के राजप्रासाद में होता है। कञ्चुकी घोषणा करता है कि आज महाराज सुयोधन समागत राजाओं के साथ मन्त्रणा करेंगे। इसी समय रङ्गमञ्च पर दुर्योधन का आगमन होता है। वह श्यामवर्ण का युवक, श्वेत चद्दर धारण किये हुये, छत्र-चामर से सुशोभित तथा अङ्गराग से युक्त है। नानामणिजटित आभरणों से वह अलंकृत है तथा उसकी शोभा नक्षत्रों के मध्य में अवस्थित पूर्ण चन्द्र जैसी है। वह पाण्डव-सेना के दमन की श्लाघा करता है। कञ्चुकीय आकर निवेदन करता है कि राजमण्डल उपस्थित हो गया। गुरुजनों एवं समागत राजाओं के साथ दुर्योधन मन्त्रणागृह में प्रवेश करता है। सभा में बैठते ही कञ्चुकी का प्रवेश होता है जो यह कहता है कि पाण्डव-सेना से दूत आया है। दूत बनकर स्वयं पुरुषोत्तम नारायण पधारे हैं। कृष्ण को पुरुषोत्तम सुनकर दुर्योधन खीझ जाता है और कञ्चुकीय को डाँटने लगता है। तदनन्तर कञ्चुकीय के अनुनय करने पर स्वस्थ होता है।

केशव का दूत-रूप में आगमन सुनकर दुर्योधन राजाओं से कहता है कि 'कोई भी व्यक्ति कृष्ण के प्रवेश-समय अपने आसन से खड़ा न हो। हमें कृष्ण की पूजा नहीं करनी है, अपितु उन्हें बन्दी बना लेने में ही भलाई है। कृष्ण के बन्धन में आते सारे पाण्डव स्वतः ही बद्ध और निःश्रीक हो जायेंगे। जो व्यक्ति कृष्ण के आने पर अपने आसन से खड़ा होगा उसे द्वादश सुवर्ण-भार का दण्ड होगा।' सभी से ऐसा कहकर दुर्योधन द्रौपदी के चीरहरण के समय का चित्र मँगाता है और उसी चित्र को देखने में तल्लीन हो जाता है। चित्र देखते हुये वह भीम, अर्जुनादि की तत्कालीन भाव-भङ्गियों पर व्यंग्य भी कसते जाता है।

इसी समय कञ्चुकीय कृष्ण को वहाँ उपस्थित करता है। कृष्ण सोचते हैं—'युधिष्ठिर की आज्ञा तथा अर्जुन की अकृत्रिम मित्रता से मैंने यह अनुचित दौत्यकर्म स्वीकार किया है। इस दुराग्रही तथा अल्पज्ञ दुर्योधन के पास दौत्यकर्म सर्वथा अनुचित है। अर्जुन के बाणरूपी वायु से प्रदीप्त भीम की क्रोधाग्नि से ये कौरव तो मरे हुये ही हैं।' साथ ही साथ वे दुर्योधन-कृत समागत राजाओं के स्वागत को देखकर प्रसन्न भी हो रहे हैं। वे सोचते हैं कि दुर्योधन कटुभाषी, गुणद्वेषी, शठ तथा स्वजनों के प्रति निर्दय है अतः वह किसी प्रकार सन्धि नहीं करेगा।

कृष्ण के सभा में प्रवेश करते ही सभी राजा विचलित होकर खड़े हो जाते हैं। दुर्योधन उन्हें दण्ड की स्मृति दिलाता है पर, स्वयं ही कृष्ण-प्रभाव से घर्सित होकर आसन से गिर जाता है। श्रीकृष्ण सभी राजाओं को बैठने की आज्ञा देकर स्वयं भी बैठ जाते हैं। उस समय उन्हें दुर्योधन के हाथ में द्रौपदी केश-कर्षण का चित्र दिखाई पड़ता है। उसे देखते ही वे बोल उठते हैं— 'अहा! आश्चर्य है। यह दुर्योधन स्वजनों की अवमानना कर मौर्ख्यवशात् उसमें ही अपना पराक्रम देखता है। संसार में एतादृश क्षुद्र अन्य कौन होगा जो अपना ही दोष परिषद् के सामने प्रस्तुत करे। अब भी तो इस चित्र-फलक को हटाओ।'

कृष्ण के कहने से दुर्योधन वह चित्रपट हटाता है। फिर दुर्योधन केशव से पूछता है—'दूत! धर्म-पुत्र युधिष्ठिर, वायु-पुत्र भीम, इन्द्र-पुत्र मेरा भाई अर्जुन तथा अश्विनीकुमार के पुत्र नकुल-सहदेव भृत्यों के साथ सकुशल तो हैं।

'गान्धारीपुत्र दुर्योधन के उपयुक्त ही यह प्रश्न है। सभी अच्छी तरह हैं। वे तुम्हारे राज्य के विषय में प्रश्न पूछते हुये निवेदन करते हैं कि उन्होंने तेरह वर्षों तक महान् दुःख झेलकर वनवास किया। प्रतिश्रुत समय अब समाप्त हो गया। अब धर्मानुमोदित उनके पिता का दाय उन्हें लौटा दो।' कृष्ण ने कहा।

दुर्योधन ने कहा—'क्या दायाद्य माँगते हैं? मेरे चाचा पाण्डु तो वन में आखेट के समय मुनि के शाप को प्राप्त हुये थे और तभी से स्त्री-प्रसङ्ग से विरत रहे। तो फिर दूसरे से उत्पन्न पुत्रों का दायाद्य कैसा।'

कृष्ण ने कहा—'तुम्हारे दादा विचित्रवीर्य अति विषयी होने के कारण क्षयग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त हुये। फिर व्यास ने अम्बिका में तुम्हारे पिता धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया। उनका 'पितृ-दाय' में भाग कहाँ से आया? अथवा इन विवादों से क्या लाभ? आप क्रोध का त्याग कर युधिष्ठिर के कहे अनुसार काम कीजिये।'

दुर्योधन ने कहा—'कृष्ण! राज्य का उपभोग तो बल से होता है। उसकी न तो याचना की जाती है और न दीनों को दिया ही जाता है। यदि उन्हें राज्याकांक्षा हो तो पौरुष दिखावें या शान्ति से मुनियों के आश्रम में प्रवेश करें।'

इसके बाद कृष्ण और दुर्योधन में उत्तर-प्रत्युत्तर बढ़ जाता है। जब कृष्ण बान्धवों के प्रति दुर्योधन से स्नेहालु होने के लिये कहते हैं तो दुर्योधन कहता है कि यह स्नेह आपने कंस के प्रति क्यों नहीं दिखाया। अन्त में दुर्योधन कहता है कि देवात्मजों और मनुष्यों में बन्धुत्व स्थापित नहीं हो सकता। दुर्योधन के उत्तर को सुन कर कृष्ण उसे परुषाक्षरों से भयभीत करने का प्रयास करते हैं। एक ओर तो वे कहते हैं अर्जुन अतुल पराक्रमी हैं। उन्होंने किरात-वेशधारी शंकर को युद्ध से तृप्त किया, निवातकवचों का वध किया और विराटनगर में भीष्मादि को परास्त किया; दूसरी ओर दुर्योधन के लिये कहते हैं कि तुझे चित्रसेन ने जब बाँध लिया था तो अर्जुन ने ही तुझे छुड़ाया। यदि पाण्डवों को उनका दाय नहीं दोगे तो वे जबर्दस्ती छीन लेंगे।

कृष्ण के परुषाक्षरों से विदग्ध दुर्योधन उन्हें नीच कहकर उनसे बोलना छोड़ देता है। इस पर श्रीकृष्ण वहाँ से चलने को उद्यत होते हैं। उनको जाता देख दुर्योधन वहाँ एकत्रित लोगों से कृष्ण को बाँधने के लिये कहता है। पर, कोई उद्यत नहीं होता। जब कोई तैयार नहीं होता तो वह स्वयं बाँधने के लिये उठ खड़ा होता है। इस पर भगवान् श्रीकृष्ण विश्वरूप प्रकट करते हैं। इस पर भी जब दुर्योधन शान्त नहीं होता तो भगवान् सभी को जृम्भित कर देते हैं। कृष्ण अब क्रुद्ध हो जाते हैं और सुदर्शन चक्र का आवाहन करते हैं। सुदर्शन आता है और भगवान् उससे दुर्योधन-वध की बात कहते हैं। इस पर सुदर्शन चक्र कहता है कि 'प्रभो! आप तो धराभार को उतारने के लिये आये हैं। यदि आज ही इसे मार दीजियेगा तो सभी क्षत्रिय युद्ध से विरत हो जायेंगे और आपका कार्य सिद्ध नहीं होगा।' उसकी बात सुनकर श्रीकृष्ण शान्त हो जाते हैं। इसी समय श्रीकृष्ण की गदा, शार्ङ्ग धनुष आदि अस्त्र भी आते हैं पर, सभी को सुदर्शन चक्र लौटा देता है।

इसके बाद श्रीकृष्ण भी पाण्डव-शिविर में जाने के लिये तैयार होते हैं। इसी समय धृतराष्ट्र वहाँ आते हैं और अनुनय-विनय कर भगवान् को मनाते हैं। फिर भगवान् की आज्ञा से वे लौट जाते हैं। इसके बाद भरतवाक्य है। और यह नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक की समीक्षा

नाटक का नामकरण बड़ा सटीक हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों का दूत बनकर कौरव-शिविर में गये हैं। और उन्हीं के वचनों की इसमें प्रधानता है। उनकी नययुक्त वाणी कभी तो साम-शब्दों से दुर्योधन को शान्त करती है और कभी परुषाक्षरों से उसे दग्ध करती है। सारा नाटक दूतवेषधारी श्रीकृष्ण के वचनों से अनुप्राणित है। अतः नाटक का 'दूतवाक्य' नाम सार्थक है। इस नाटक का प्रधान रस वीर है। सारा नाटक वीर-रस-भरे वचनों से व्याप्त है। श्रीकृष्ण के अस्त्रों की सहसा उद्भावना तथा विराट रूप प्रदर्शन में अद्भुत का चमत्कार है। प्रधानतः आरभटी वृत्ति की योजना है। विद्वानों का यह कथन तो सत्य है कि यह महाभारतीय कथा का ही एकांकी रूप है पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि यहाँ मूल कथा में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया गया है। इस नाटक में दुर्योधन बड़े तर्क-युक्त प्रश्नों से श्रीकृष्ण को परास्त करना चाहता है यद्यपि श्रीकृष्ण और भी अधिक तर्काश्रित वाणी से उसे परास्त करते हैं। नाटकीय दृष्टि से यह 'व्यायोग' की कोटि में समाविष्ट किया जा सकता है। व्यायोग की घटना ऐतिहासिक होती है, नायक गर्वीला होता है तथा स्त्री से असम्बद्ध एवं युद्ध आदि होते हैं। ये सभी लक्षण 'दूत वाक्यम्' में घटित होते हैं। प्रो॰ विन्तरनित्स का विचार है कि यह नाटक किसी बृहत्तर महाभारतीय नाटक का लघुरूप है। पर, इस तर्क के साधक किसी प्रमाण की अनुपलब्धि से इसे प्रामाण्य कोटि में नहीं लिया जा सकता।

राजनीतिक सिद्धान्तों का तो यह नाटक आकर है। 'दायाद्य' के विषय में दुर्योधन की यह उक्ति कितनी सटीक है—

वने पितृव्यो मृगया प्रसङ्गतः कृतापराधो मुनिशापमाप्तवान्।
तदा प्रभृत्येव स दारनिस्पृहः परात्मजानां पितृतां कथं व्रजेत्॥२१॥

अर्थात् वन में मृगया खेलते समय में मेरे चाचा पाण्डु को शाप मिल गया और तभी से वे स्त्री से विरक्त हो गये। फिर दूसरे के पुत्रों के साथ दायाद्य कैसे?

इसका ठीक उत्तर श्रीकृष्ण इस प्रकार देते हैं—

विचित्रवीर्यो विषयी विपत्ति क्षयेण प्राप्तः पुनरम्बिकायाम् ।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते ॥ २२ ॥

दुर्योधन का निम्न वचन महान् राजनीतिक सिद्धान्त की उद्घोषणा कर रहा है। यह 'वीरभोग्या वसुन्धरा' का प्रतिपादक है। राज्य-शासन अशक्तों का काम नहीं यह तो महान् बलशालियों से सिद्ध होता है।

राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते ।
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते ॥
कांक्षा चेन्नृपतित्वमाप्तमचिरात् कुर्वन्तु ते साहसं ।
स्वैरं वा प्रविशन्तु शान्तमतिभिर्जुष्टं शमायाश्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थात् राज्य तो राजपुत्रों के द्वारा शत्रुओं के जीत कर मिलता है, मांगने से नहीं मिलता और न तो मांगने वाले को दिया ही जाता है। यदि पाण्डवों को राज्य-प्राप्ति की इच्छा हो तो पराक्रम दिखावें अन्यथा शान्ति के लिये आश्रम में चले जायँ।

२—कर्णभार

कर्णभार नाटक में सूत्रधार सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर दिखाई पड़ता है। उसी समय उसे नेपथ्य से शब्द सुनाई पड़ता है कि 'कर्ण से निवेदन कीजिये।' इसके अनन्तर भट आता है जो कर्ण से यह निवेदन करना चाहता है कि अपराजेय पाण्डवों की सेना अर्जुन को आगे कर बढ़ रही है और उनके सैनिक सिंहनाद कर रहे हैं। उनके युद्ध-आह्वान को सुनकर नागकेतु दुर्योधन भी युद्ध के लिये प्रस्थान कर चुका है। उसी समय बलशाली कर्ण उसे दिखाई पड़ता है। वह अत्यन्त उद्दीप्त तेज से मण्डित है तथा पराक्रम-युक्त वचन कह रहा है। किन्तु, उसके मन में उद्विग्नता भी है।

कर्ण अपने सारथि शल्य से अर्जुन के सामने रथ ले चलने को कहता है। फिर वह मन में सोचता है कि 'युद्ध-समय में यह क्लीवता का भाव मेरे मन में कहाँ से आ गया। मेरा पराक्रम तो क्रुद्ध यमराज-जैसा है। भयङ्कर समराङ्गण में दोनों तरफ अस्त्र-शस्त्र का प्रहार कर सैनिकों को मैं काटता था। कष्ट की बात है कि पहले तो मैं कुन्ती से उत्पन्न हुआ पर मेरी बाद में

'राधेय' संज्ञा हो गयी। युधिष्ठिरादि तो मेरे कनीयस् बन्धु ही हैं। चिर-प्रतिक्षित युद्ध का दिन आ गया। पर, मेरे अस्त्र व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं।

इस प्रकार सोचते हुए कर्ण मद्रराज शल्य से अपनी अस्त्र-प्राप्ति का वृत्तान्त वर्णित करता है। वह शल्य से कहता है—'पहले मैं जामदग्न्य परशुराम के पास अस्त्र-लाभ की आकांक्षा से गया। क्षत्रियान्तक भगवान् परशुराम दिव्यवर्चस् से देदीप्यमान् थे। उन्हें प्रणाम कर मैं चुपचाप खड़ा हो गया। मुझे खड़ा देख परशुराम जी ने कहा—'तुम कौन हो और किस प्रयोजन से यहाँ आये हो।' मैंने कहा कि सम्पूर्ण अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने मैं आपके पास आया हूँ। इस पर उन्होंने कहा कि—'मैं केवल ब्राह्मणों को उपदेश करता हूँ क्षत्रियों को नहीं।' तब मैंने कह दिया कि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ और उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया। कुछ समय बीतने पर गुरुजी के समित्कुशाहरण के लिये जाने पर मैं भी उनके साथ चला गया। गुरुजी परिभ्रमण से श्रान्त हो गये थे और मेरी गोद में शिर रखकर सो गये। दैव दुर्विपाक से वज्रमुख[1] नामक कीड़ा मेरी दोनों जांघों को कुरेदने लगा। उस असह्य वेदना को मैंने धैर्यपूर्वक इसलिये सह लिया कि गुरुदेव की निद्रा भङ्ग न हो। जांघों में कीड़े के काटने से रुधिर निकलने लगा और उस रुधिर के स्पर्श से परशुराम जी जाग उठे। जागते ही वे क्रोध से लाल हो गये और मुझे क्षत्रिय समझ कर शाप दे दिये कि 'जा समय पड़ने पर तेरे शस्त्र काम न आवेंगे।' अब उनके अस्त्रों की मैं परीक्षा करूँगा।' कर्ण इस प्रकार सारथि शल्य से अस्त्र-प्राप्ति का वृत्तान्त बताकर अस्त्रों का परीक्षण करता है पर अस्त्र अपना प्रभाव नहीं दिखाते। इसके अतिरिक्त घोड़े भी पुनः-पुनः स्खलित होते दिखाई पड़े। हाथी भी दैन्य को सूचित करने लगे।

शल्य इस विपन्नावस्था को देखकर पश्चात्ताप करते हैं। उन्हें कर्ण यह कह कर समझता है कि 'जीतने पर तो यश मिलेगा और मरने पर स्वर्ग। ये दोनों ही संसार में प्रशंसित हैं।[2] इस प्रकार युद्ध का किसी भी प्रकार वैफल्य

१. महाभारत में इस कीड़े का नाम अलर्क है।

२. तुलना कीजिये—हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ गीता, २.३७

नहीं। कठिन युद्धस्थल में प्रविष्ट होकर यशस्वी युधिष्ठिर को मैं बाँध लूँगा और अर्जुन को शर-वर्षा से गिरा दूंगा।' ऐसा कह कर कर्ण शल्य के साथ रथारूढ़ होता है और शल्य युद्धभूमि में रथ को प्रेरित करते हैं।

इसी समय नेपथ्य से शब्द सुनायी पड़ता है—'ऐ कर्ण! मैं बहुत बड़ी भिक्षा माँग रहा हूँ।' इस शब्द को सुनकर कर्ण चौक कर कहता है कि 'यह कोई सामान्य ब्राह्मण नहीं। इसके शब्द को सुनकर मेरे चलते हुए घोड़े भी कान ऊँचा कर खड़े हो गये।' ऐसा कहकर वह ब्राह्मण को बुलाता है। उसके समीप आने पर वह प्रणाम कर कहता है कि 'आपके दर्शन से आज मैं कृतकृत्य हो गया।' उसके प्रणाम को सुनकर विप्रवेशधारी इन्द्र ठिठक जाते हैं कि इसे कौन-सा आशीर्वाद दिया जाय। यदि दीर्घायुष् का आशीर्वचन कहता हूँ दीर्घ आयुवाला हो जायेगा और यदि कुछ नहीं कहता हूँ तो मुझे मूर्ख समझेगा।' फिर सोचकर कहते हैं कि 'हिमालय और सागर के समान तेरा यश स्थिर हो।' यह सुनकर कर्ण कहता है कि 'भगवन् क्या आप दीर्घायुष् होने का वरदान नहीं देते अथवा यही उपयुक्त वरदान है क्योंकि धर्म तो साध्य है, लक्ष्मी सर्प-जिह्वा के समान चञ्चल हैं, अतः प्रजापालक नरेश मृत्यु के अनन्तर यश से ही जीवित रहता है।' अब आप अपना प्रयोजन बताइये।'

इन्द्र ने कहा—'मैं बड़ी भिक्षा माँग रहा हूँ।'

कर्ण ने उत्तर दिया—'आपको मैं बड़ी भिक्षा दे रहा हूँ। यदि आपको अभीष्ट हो तो स्वर्णमण्डित शृङ्गवाली एक सहस्र गायें आपको देता हूँ जो स्वस्थ और जवान हैं। दुग्धधार का वे क्षरण करती हैं तथा तृप्त बछड़ों से संयुक्त हैं।'

इन्द्र ने कहा—'कर्ण! सहस्र गायों से तो किञ्चित् काल तक दूध पिऊँगा। मैं इन्हें नहीं चाहता।'

कर्ण ने कहा—ब्राह्मणदेव! तो फिर मैं आपको काम्बोजजातीय सहस्रों अश्वों को देता हूँ। ये अश्व सूर्य के घोड़ों के समान, राजलक्ष्मी के साधन तथा समस्त राजाओं में मान्य है।'

ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र के इनकार करने पर कर्ण ने पुनः कहा—'यदि यह आपको पसन्द नहीं तो मैं यह हाथियों का झुण्ड आपको देता हूँ।'

किन्तु इन्द्र ने इसे भी इनकार कर दिया। तदनन्तर कर्ण ने अमित स्वर्ण, सम्पूर्ण पृथिवी, अग्निष्टोम यज्ञ का फल और अन्ततोगत्वा अपना शिर दे देने को कहा, पर इन्द्र ने सभी को इनकार कर दिया। उन्हें कुछ स्वीकार करता न देख कर्ण ने कहा—'ब्राह्मणदेव! यह कवच मेरे जन्म के साथ ही रक्षा के लिये उत्पन्न हुआ, यह सहस्रों देव-दानवों से भी अभेद्य है। यदि आपको अभीष्ट हो तो कुण्डलों के साथ इन्हें ही आपको दे दूँ।'

कर्ण की बात सुनकर इन्द्र प्रसन्न हो गये और चट कह दिया, 'दे दो।' जब कर्ण देने को उद्यत हुआ तो शल्य रोकने लगे। इस पर कर्ण ने कहा—'शल्य! समय के साथ सीखी हुई विद्यायें भूल जाती हैं, गहरी जड़वाले भी वृक्ष गिर जाते हैं तथा समयानुसार जलाशय का जल भी सूख जाता है किन्तु दान की हुई वस्तु तथा आहुति दिया हुआ कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये हे ब्राह्मण! इसे लो।' ऐसा कह कर वह शरीर से काट कर कवच-कुण्डल ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र को दे देता है। इन्द्र उसे लेकर चले जाते हैं।

इन्द्र के चले जाने पर शल्य कहते हैं कि 'हे कर्ण! इन्द्र ने तुम्हें ठग लिया।' इस पर कर्ण कहता है वस्तुतः वह नहीं अपितु इन्द्र ही ठगे गये। क्योंकि अनेक यज्ञों से तृप्त इन्द्र आज मेरे द्वारा उपकृत हुये। इसके बाद ब्राह्मणवेश-धारण कर एक देवदूत आता है। वह कहता है कि कवच-कुण्डल लेने पर इन्द्र को पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने यह विमला नामक अमोघ शक्ति दी है। इसके द्वारा आप पाण्डवों में से एक जिस किसी को चाहे मार सकते हैं। इस पर कर्ण कहता है कि वह दिये हुये दान का प्रतिग्रहण नहीं करता। देवदूत कहता है कि इसे आप ब्राह्मण का वचन समझकर ले लीजिये। ब्राह्मणाज्ञा समझकर कर्ण उसे ले लेता है और देवदूत कहता है कि जब इसे आप स्मरण कीजियेगा आपके पास चली आयेगी। फिर देवदूत चला जाता है।

कर्ण और शल्य रथारूढ़ होते हैं। उन्हें प्रलयकालीन ध्वनि के समान गम्भीर घोषकारी कृष्ण की शंखध्वनि सुनाई पड़ती है और दोनों अर्जुन के रथ की ओर प्रस्थान करते हैं। भरतवाक्यके साथ यह नाटक समाप्त होता है।

नाटक का आधार—इस नाटक का आधार महाभारत की कथा है।

महाभारत (आदिपर्व, ६७।१४४–४७) में इन्द्र को कवच-कुण्डल काट कर देने का वृत्तान्त है जिससे इसकी संज्ञा वैकर्तन हुई। इसीका उपबृंहित रूप आगे (वनपर्व ३००–३०२, १०) भी मिलता है। शान्तिपर्व (अध्याय ३) में परशुरामजी से शाप-प्राप्ति का वृत्तान्त वर्णित है। इन्हीं कथाओं के आधार पर इस नाटक की रूप-रेखा निर्मित हुई है।

महाभारत से अन्तर—महाभारत में विभिन्न स्थलों पर बिखरी कथाओं को इस नाटक में संकलित किया गया है। पर, इस संकलन में मूल आधार से पर्याप्त पार्थक्य आ गया है। इन पार्थक्यों का निदर्शन इस प्रकार है :—

महाभारत में इन्द्र द्वारा भिक्षुक रूप में कवच-कुण्डल की याचना वनपर्व में ही प्रदर्शित है जब कि पाण्डव वनवास कर रहे थे। वहाँ कर्ण को सूर्य स्वप्न में समझाते हैं कि इन्द्र तुमसे कवच-कुण्डल मागेंगे उन्हें न देना। इसके अलावे, वहाँ कर्ण भी इसके लिये निश्चय कर बैठा है कि शक्ति पाने के बाद ही वह अपना कवच-कुण्डल देगा। कर्ण वहाँ शक्ति भी स्वयं ही माँगता है। पर, इस नाटक में स्थिति भिन्न है। प्रथमतः तो यहाँ इस घटना की संघटना ही युद्धभूमि में की गई है। सम्भवतः इसका आशय यह रहा हो कि युद्ध में कवच-कुण्डल की महती आवश्यकता होती है और इस अवसर पर कोई भी व्यक्ति सब कुछ दे सकता है पर कवच-कुण्डल नहीं। वह कवच-कुण्डल भी साधारण नहीं अपितु सहजात है। दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ महाभारत में कर्ण शक्ति की स्वयं याचना करता है वहाँ इस नाटक में वह कहने पर भी नहीं मांगना चाहता। यह इस नाटक की महान् सफलता और चरित्र का चरम निष्कर्ष है। आदर्श दानवीर कर्ण के लिये इस प्रकार का होना ही चाहिये। इस प्रकार नाटककार ने कर्ण के चरित्र को उच्च-भूमि पर खड़ा कर दिया है।

महाभारत के शल्य तथा इस नाटक के शल्य में भी पर्याप्त अन्तर है। दोनों स्थानों पर शल्य कर्ण के सारथि हैं। पर, जहाँ महाभारत में वे कटु-भाषी, उत्साह-विनाशी तथा वाचाट हैं वहाँ इस नाटक में संयमी, उदारमना तथा स्वामी (रथी) के हितेच्छु हैं। कर्ण जब कवच देता है तो वे उसे मना करते हैं। इस प्रकार शल्य का रूप यहाँ अधिक मानवीय गुणों से युक्त है।

वे बार-बार कटूक्तियाँ सुनाकर कर्ण को खिन्न नहीं करते और न तो उसके उत्साह को ही भङ्ग करते हैं। ये सभी विशेषतायें नाटककार की अपनी हैं और इस रूप में यह नाटक अधिक निखरा है।

नाटक का नाम—यह प्रश्न भी विचारणीय है कि इस नाटक का नाम कर्णभार क्यों पड़ा ? जहाँ तक इस नाम के नाटक में दर्शन का प्रश्न है यह नाटक में कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है और न तो प्रत्यक्षतः इसका कोई अर्थ ही घटित होता दिखायी पड़ता है। कर्णभार शीर्षक की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। प्रो॰ ए॰ डी॰ पुसालकर की सम्मति में कानों के भारभूत कुण्डलों का दानकर यहाँ कर्ण की अद्भुत दानशीलता वर्णित की गई है। अतः कानों के भारभूत कुण्डलों के दान को केन्द्र मानकर इस नाटक की रचना करने से इस नाटक का नाम कर्णभार है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी कहा है कि जब कर्ण ने कुण्डलों को वाचिक रूप से दान कर दिया उसके बाद वे भारभूत हो गये। वाचिक दान और क्रियात्मक दान के मध्य में उनके भारभूत होने से इस नाटक का नाम कर्णभार हुआ।[1] पर यह व्यवस्था पूर्ण नहीं। वस्तुतः प्रधान देय वस्तु कुण्डल न होकर कवच ही था और कवच का इस शीर्षक की व्याख्या में कोई समावेश नहीं। प्रोफेसर देवधर ने इसीलिये इस व्याख्या को अधूरी करार दिया है। डाक्टर विन्तरनित्स ने कर्णभार की व्याख्या कर्ण के कठिन कार्य से की है। डाक्टर मैक्स लिण्डेन्यू भार का अर्थ कवच लेते हैं।[2]

डाक्टर भट्ट की धारणा है कि कर्ण की चिन्ता ही भारस्वरूप हो गई है। इसी बात को ध्यान में रखकर इस नाटक का नाम कर्णभार रखा गया। भार का अर्थ उत्तरदायित्व भी लगाया जाता है। चूंकि इसमें कौरव-सेना की रक्षा का कर्ण पर भार या उत्तरदायित्व है अतः इस अर्थ में भी इस शीर्षक को घटाने का प्रयास किया गया है। कुछ लोगों की राय में कर्ण द्वारा प्राप्त युद्ध-कौशल उसके लिये भारभूत हो गया था अतः इस नाटक का नाम कर्णभार

१. द्र॰, ए. डी. पुसालकर 'भास-ए स्टडी' पृ॰ १८८

२. द्र॰ कर्णभार की प्रो॰ देवधर कृत भूमिका पृ॰ ३

पड़ा। युद्ध-कौशल की व्यर्थता के तीन कारण थे—१. परशुराम का शाप, २. कुन्ती को अर्जुन के अतिरिक्त अन्य पाण्डवों को न मारने का वरदान और ३. इन्द्र को कवच-कुण्डल का दान।[1] चाहे जो भी बात स्वीकार की जाय इतना निश्चयेन कहा जा सकता है कि इस नाटक का शीर्षक बहुत स्पष्ट नहीं है।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक में दो पात्रों का चरित्र प्रमुखता प्राप्त कर सका है। एक है इस नाटक के नायक कर्ण और दूसरे है छद्म ब्राह्मणवेशधारी देवराज इन्द्र। कर्ण के चरित्र में कई प्रकार के तत्त्वों का सम्मिश्रण दिखायी पड़ता है। एक ओर तो वह महान् शूर-वीर-पराक्रमी है तो दूसरी ओर मानव-सुलभ कमजोरियाँ भी उसे घेरे हुये हैं। प्रारम्भ में ही वह चिन्तातुर दिखायी पड़ता है। घोड़ों के स्खलनादि को देख कर उसका मन आतंकित दिखायी पड़ता है। इसी प्रसङ्ग में वह शल्य से परशुराम के यहाँ से शस्त्र-प्राप्ति तथा शाप का वृत्तान्त कह सुनाता है। शस्त्रों के वैफल्य की उसे आशङ्का होती है और परीक्षण द्वारा इस आशङ्का को पुष्टि हो जाती है। बीच-बीच में उसमें उत्साह का भी सञ्चार होता रहता है और वह रथ प्रेरित करने को कहता है।

कर्ण के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता जो यहाँ निखरी है वह है उसकी अपूर्व ब्राह्मण-निष्ठा तथा महती दानशीलता। वह ब्राह्मणों के लिये सर्वस्व दान करने के लिये कृतोद्यम दिखायी पड़ता है और जब इन्द्र गौ, सुवर्ण आदि लेना अस्वीकार करते हैं तो अपना शिर देने की बात कहता है। उसका विश्वास है कि मरने पर भी यश ही स्थिर रहता है—

हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते।—१७

जब शल्य उसे कवच-कुण्डल देने से मना करते हैं तो वह कहता है कि संसार में सब कुछ तो विनाशी है पर यज्ञ और दान ही स्थिर रहने वाले हैं—

हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।—२२

कर्ण के चरित्रकी दूसरी बड़ी विशेषता है कि वह दान से किसी प्रतिफल की आशा नहीं रखता। इसीलिये जब देवदूत इन्द्रशक्ति देता है तो उसे वह

१. द्र० ए० एस. पी० अय्यर, 'भास', पृ० ६०

लेना अस्वीकार कर देता है। वह यह नहीं चाहता कि उसे दिये हुये दान के बदले कोई कुछ दे। किंतु जब ब्राह्मणवेशधारी देवदूत ब्राह्मण का वचन मानकर उसे लेने को कहता है तो कर्ण उसे स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार कर्ण महान् उदारमना, यशस्वी और दानी के रूप में चित्रित किया गया है।

इन्द्र के चरित्र में कोई विशेषता लक्षित नहीं होती। हां, उनका स्वार्थी रूप अवश्य प्रस्फुटित होता है। वे अपने स्वार्थ के प्रति एकनिष्ठ हैं। कर्ण के द्वारा बहुत-सी वस्तुओं का नाम सुनकर भी वे ध्यान नहीं देते और ज्यों-ही कवच-कुण्डल का नाम सुनते हैं, उसे स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु, इसके बाद उनका उदात्त चरित्र सामने आता है और अपने इस कृत्य का वे परिमार्जन करना चाहते हैं। इसीलिये वे देवदूत से दिव्य अमोघ शक्ति कर्ण के लिए भेजते हैं। इंद्र के चरित्र की विशेषता उनका प्राकृत बोलना भी है। ब्राह्मण-पात्र नाटकों में प्राकृत नहीं बोलते।

शल्य का चरित्र कोई विशेष उभार पर नहीं आया है। जितना वर्णित है उस रूप में वे संयमी, नम्र तथा कर्ण के हितैषी प्रतीत होते हैं।

नाटक का रचना-विधान—अपने लघुविस्तार में यह नाटक पूर्ण है। जिस सीमित घटना को यहाँ उठाया गया है उसका निर्वाह बड़ी सफलता के साथ किया गया है। बहुत से विषयों की सूचना कथनोपकथनों के द्वारा दे दी गई है, उदाहरणार्थ—परशुराम से कर्ण की शापप्राप्ति का वृत्तान्त, कुन्ती को अर्जुन के अतिरिक्त अन्य पाण्डवों को न मारने के वरदान का वृत्तान्त। समय तथा स्थान की दृष्टि से यह नाटक पूर्णतः सफल है। सीमिति में यह एक ही स्थान तथा समय से सम्बद्ध है। घटना के आरोहावरोह में भी शैथिल्य का अवकाश नहीं।

समीक्षण—भास नाटकों में कर्णभार अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। काव्य-रस के परिपाक तथा नाटकीय तत्त्वों के निर्वाह दोनों दृष्टियों से यह नाटक उच्च कोटि का है। यद्यपि नाटक का विषय वीर-रस और युद्धभूमि से ही सम्बन्ध रखता है, पर, नाटक में करुण-रस को ही विशेष प्रभा दिखायी पड़ती है। अलङ्कारों की योजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कर्ण की यह उपमा कितनी सुन्दर है—

प्राप्ते निदाघसमये घनराशिरुद्धः सूर्यः स्वभावरुचिमानिव भाति कर्णः ।।४।।

परशुरामजी का वर्णन साक्षात् उनके वेश को सामने रख देता है—

विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलाप-
मुद्यत्प्रभावलयिनं परशुं दधानम् ।
क्षत्रान्तकं मुनिवरं भृगुवंशकेतुं
गत्वा प्रणम्य निकटे निभृतः स्थितोऽस्मि ।।९।।

संसार की असारता तथा धर्म एवं दान की महत्ता निम्न पद्यों में स्पष्ट की गई है। नाटककार कर्ण के द्वारा गम्भीर तथ्य का उद्घाटन करा रहा है—

धर्मो हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः ।
तस्मात्प्रजापालनमात्रबुद्ध्या हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते ।।१७।।

× × ×

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः ।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ।।२२।।

निम्न श्लोक युद्ध की सार्थकता को सूचित करता है—

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः ।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ।।१३।।

इस पद्य पर श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न श्लोक की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।—गीता २।३७

३—दूतघटोत्कच

इस नाटक का कथानक अभिमन्यु के मरण के उपरान्त की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। संशप्तकगणों के द्वारा अर्जुन के दूर हटा लिये जाने पर कौरवों ने छल-कपट का आश्रय ले एकाकी बालक अभिमन्यु को निहत्था कर मार डाला। अभिमन्यु के मारे जाने का वृत्तान्त सुनाने के लिये भट धृतराष्ट्र के

पास जाता है और कहता है कि अपने पिता अर्जुन के समान पराक्रम प्रदर्शित करने वाले बालक अभिमन्यु को कौरव-वीरों ने मार डाला। इसे सुनकर धृतराष्ट्र स्तब्ध हो जाते हैं और कहते हैं कि किसने यह अमङ्गलकारी सन्देश सुनाया। वहीं बैठी महारानी गान्धारी कहती हैं कि—'महाराज ! कुलनाश का समय उपस्थित हो गया।' वे दोनों परस्पर शोकाकुल होकर कह रहे हैं कि कुल के नष्ट होने का समय अब आ गया। वहीं उनकी पुत्री दुश्शला भी बैठी हुई है जो कहती है कि जिसने अभिमन्यु-पत्नी उत्तरा को विधवा बनाया उसने अपनी स्त्री को भी वैधव्य दे दिया अर्थात् वह भी शीघ्र ही सुरपुर का पथिक होगा। फिर धृतराष्ट्र दूत से पूछते हैं कि यह संवाद किसने सुनाया। भट उत्तर देता है कि 'मैं हूँ जयत्रात।'

धृतराष्ट्र ने पूछा—'जयत्रात ! किसने अभिमन्यु को मारा। जीवन किसे अप्रिय है और किसने पाँचों पाण्डवरूपी अग्नि का अपने को इंधन बनाया।'

जयत्रात ने कहा—'महाराज ! बहुत से राजाओं ने मिलकर अभिमन्यु को मारा। पर, इसके निमित्त जयद्रथ थे।'

धृतराष्ट्र ने कहा—'यदि जयद्रथ निमित्त थे तो वे मारे गये।'

धृतराष्ट्र की बात को सुनकर समीप बैठी दुश्शला रोने लगती है। धृतराष्ट्र जब पूछते हैं कि 'कौन रो रहा है' तो उन्हें दुश्शला का पता चलता है। लोग समझाते हैं पर दुश्शला कहती है कि कृष्ण से वैर कर कौन व्यक्ति जी सकता है। उसकी बात सुनकर गान्धारी उसे समझाती है पर धृतराष्ट्र कहते हैं कि कृष्ण के संरक्षण में पले, बलराम को प्रसन्नता देनेवाले तथा देवतुल्य पराक्रम-शाली पाण्डवों के प्रीति-पात्र अभिमन्यु को मार कर कौन जी सकता है।

तदनन्तर जयत्रात धृतराष्ट्र को बताता है कि जब संशप्तकों के साथ अर्जुन दूर चले गये तो कौरवों ने मिलकर अभिमन्यु को मारा। युधिष्ठिर आदि पाण्डव मृतक को अर्जुन को दिखाने निमित्त ही रोक रखे हैं और उसका संस्कार नहीं करते। अब धृतराष्ट्र को कौरवों के विनाश का पक्का भरोसा हो जाता है। इसी बीच दुःशासन और शकुनि के साथ वहाँ दुर्योधन प्रवेश करता है। दुर्योधन दुःशासन से कहता है कि 'अभिमन्यु के वध से वैर बद्धमूल हो गया, हम लोगों को जय मिल गयी, शत्रु निरस्त कर दिये गये, कृष्ण का गर्व चूर्ण हो

गया और मुझे अभ्युदय मिल गया।' दुःशासन कहता है कि 'हम लोगों का भीष्मपातजन्य दुःख कम हो गया और पाण्डवों का दुःख बढ़ गया।' शकुनि भी उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाता है।

फिर दुर्योधन कहता है कि चलकर पिता धृतराष्ट्र को अभिवादन किया जाय। उसके इस प्रस्ताव का शकुनि यह कह कर विरोध करता है कि 'धृतराष्ट्र को यह कुल-विग्रह पसन्द नहीं। पाण्डव उन्हें प्रिय हैं अतः वे हमारी गर्हणा करते हैं। अतः जब युद्ध में जय प्राप्त कर लेंगे तो चल कर उन्हें अभिवादन करेंगे।' पर दुर्योधन कहता है कि चाहे जो भी हो, पिता जी का अभिवादन करना चाहिये। वे जाकर क्रमशः अपना नाम ले-लेकर प्रणाम करते हैं। उनके प्रणाम करने पर धृतराष्ट्र कोई आशीर्वाद नहीं देते। इस पर वे पूछते हैं—'आप आशीर्वाद क्यों नहीं दे रहे हैं?'

धृतराष्ट्र ने कहा—'कृष्ण-अर्जुन के प्रिय अभिमन्यु को मार कर आप लोग जीवन से पराङ्मुख हो गये हैं अतः अब आशीर्वाद क्या दूँ। सौ पुत्रों के बीच एक ही प्रिय पुत्री दुश्शला हुई थी। वह अब तुम लोगों की कृपा से वैधव्य को प्राप्त हो गयी।'

दुर्योधन ने कहा—'पिता जी! अकेले जयद्रथ ने नहीं बहुतों ने रोक कर अभिमन्यु को मारा।' इस पर धृतराष्ट्र उन सबों की भर्त्सना करते हुये कहते हैं कि अकेले बालक को मिलकर मारते समय तुम लोगों के हाथ नहीं गिर गये। जिसका जवाब दुर्योधन यह कह कर देता है कि यदि छल से भीष्म को पाण्डवों ने गिराया तो उनका हाथ नहीं गिरा तो फिर हमारी आप भर्त्सना क्यों कर रहे हैं? धृतराष्ट्र कहते हैं कि यदि अकेले बालक अभिमन्यु ने इतना पराक्रम दिखाया तो पुत्र-मृत्यु से शोकार्त अर्जुन कितना पराक्रम दिखायेंगे?' इस पर दुर्योधन अवज्ञा से कहता है कि 'अर्जुन का पराक्रम कैसा है?'

धृतराष्ट्र ने कहा—'यदि अर्जुन के पराक्रम को नहीं जानते तो इन्द्र से जा कर पूछो जो निवात-कवच दानवों के जीवनरूपी उपहार से अर्चित हुआ, शङ्कर से पूछो जो किरातरूप में अर्जुन के अस्त्रों द्वारा परितुष्ट किये गये, अग्नि से पूछो जो खाण्डव वन में सर्पों की आहुति से तृप्त हुये, उस चित्राङ्गद नामक यक्ष से पूछो जिसके द्वारा तुम निर्जित हुये और अर्जुन ने तुम्हारी रक्षा की।'

धृतराष्ट्र की बात सुन कर दुर्योधन कहता है कि कर्ण भी इससे कम प्रभाव-शाली और वीर्यवान् नहीं। धृतराष्ट्र कहते हैं कि इन्द्र ने उसका कवच ले लिया है वह अर्धरथी है, प्रमादी है, झूठ बोल कर अस्त्र सीखने से उसके अस्त्र विफल हो गये हैं, वह दयालु है अतः वह अर्जुन की समानता क्या कर सकता है ?

इसी बीच शकुनि कहता है—'आप हमारी सदैव अवधीरणा किया करते हैं।'

धृतराष्ट्र ने कहा—'द्यूत क्रीड़ा में दक्ष तूने जिस वैराग्नि का वपन किया है वह शिशु की आहुति देने पर भी शान्त नहीं होगी।'

इस वार्तालाप के समय ही सहसा घोर पटहादि के ताड़न का शब्द सुनायी पड़ता है। दुर्योधन जयत्रात को उसका पता लगाने को भेजता है। वह आकर कहता है कि कृष्ण से बारम्बार प्रेरित होकर अर्जुन ने प्रतिज्ञा की है कि जिस कौरव पक्षीय ने मेरे पुत्र का वध किया है और जिसे देख कर जो राजा परितुष्ट हुये हैं उनका कल सूर्यास्त से पूर्व ही वध कर डालूँगा। और यदि ऐसा न कर सका तो चितारोहण कर प्राण दे दूँगा।

यह सुनकर दुर्योधन आदि प्रसन्न होते हैं कि कल अब अर्जुन चितारूढ़ हो जायेंगे क्योंकि द्रोण की मंत्रणा से ऐसा व्यूह रचा जायेगा कि अर्जुन जयद्रथ का पता न पा सकेंगे और चितारूढ़ हो जायेंगे। इस प्रकार अब निष्क-एटक राज्य प्राप्त हो जायेगा। उनकी बात सुन कर धृतराष्ट्र कहते हैं कि चाहे तुम लोग पृथ्वी में समा जाओ या आकाश में उड़ जाओ पर कृष्ण द्वारा निर्दिष्ट अर्जुन के बाण तुम लोगों को ढूँढ लेंगे।

इसी अवसर पर घटोत्कच वहाँ प्रवेश करता है। वह सभाभवन में प्रवेश करते ही कहता है—'श्रीकृष्ण की आज्ञा से मैं हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच अपने कृत्यों से शत्रु बन बैठे गुरुजनों को देखने आया हूँ।' उसकी बात सुन कर दुर्योधन उसे अपने पास बुला कर सन्देश पूछता है, पास जाकर घटोत्कच धृतराष्ट्र को प्रणाम करता है। धृतराष्ट्र उसके साथ समवेदना प्रकट करते हैं। घटोत्कच भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाने को कहता है, जिसे सुनने के लिये धृतराष्ट्र आसन से उठ जाते हैं फिर घटोत्कच के कहने से बैठते हैं।

घटोत्कच ने कहा—'दादा जी ! भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि एक पुत्र अभिमन्यु के मरने से अर्जुन को जो महत् सन्ताप हुआ तो सौ पुत्रों के मारे जाने से आपको कितना कष्ट होगा अतः आप सम्पूर्ण सेना युद्ध से विरत कर दें।'

यह सुन कर धृतराष्ट्र के अतिरिक्त अन्य कौरव हँस पड़ते हैं। दुर्योधन कहता है कि कृष्ण को देवताओं के साथ मन्त्रणा करते-करते गर्व हो गया है इसीलिये वे एक अर्जुन से सभी क्षत्रियों का विनाश समझ रहे हैं। उसकी इस बात को सुनकर घटोत्कच कहता है कि आप लोगों को भी श्रीकृष्ण ने सन्देश दिया है उसे सुन लीजिये। इस पर दुश्शासन कहता है कि जिस राजा का शासन पृथ्वी के अन्य राजा मानते हैं उसी के सामने दूसरे का सन्देश सुनाने का तुम प्रयत्न करते हो।' इस पर घटोत्कच श्रीकृष्ण का पराक्रम वर्णित करता है। वह कहता है कि अब क्षत्रियों के विनाश से पृथ्वी हल्की हो जायेगी। वह शकुनि की भर्त्सना करता है तथा दुर्योधन से कहता है कि 'आप लोग तो राक्षसों से भी क्रूरतर हैं।' इस पर दुर्योधन से उसका विवाद बढ़ जाता है और धृतराष्ट्र के शान्त करने पर शमित होता है। चलते समय वह भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम सन्देश इस प्रकार सुनाता है—

'धर्म का आचरण करो, स्वजनों की उपेक्षा न कर, जो कुछ तुम्हारे मन में अभीष्ट हो सभी इस पृथ्वी पर कर डालो, क्योंकि अर्जुनरूपधारी यमराज तुम्हारे पास सूर्य की किरणों के साथ अनुकूल उपदेश की नाईं आयेंगे।'

नाटक का नामकरण—इस नाटक का नामकरण हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच के दौत्यकर्म से सम्बद्ध है। घटोत्कच श्रीकृष्ण का दूत बन कर जाता है और कौरव सभा में सन्देश देता है। वस्तुतः इस नाटक में घटोत्कच का प्रवेश आधे नाटक के समाप्त हो जाने पर होता है। घटोत्कच का दौत्य ही इस नाटक में सबसे प्रधान वस्तु है और वही प्रदर्शित करना नाटककार को अभीष्ट भी है। अतः नाटक का नामकरण दूतघटोत्कच किया गया है।

आधार—इस नाटक से सम्बद्ध कोई कथानक महाभारत में उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः यह नाटककार की कल्पना पर आश्रित रूपक है। दूत घटोत्कच के दौत्य का महाभारत में निर्देश नहीं है।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक का प्रधान पात्र घटोत्कच है। घटोत्कच में वीररस कूट-कूट कर भरा है। कभी भी वह अवमानना सहन करने के लिये प्रस्तुत नहीं। जब दुर्योधनादि पाण्डवों की तिरस्कृति करते हैं तो वह मुष्टि बाँध कर उनसे युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाता है। वीरता के साथ ही साथ घटोत्कच में शालीनता तथा शिष्टता भी समभावेन दिखायी पड़ती है। धृतराष्ट्र को वह नम्रता के साथ प्रणाम करता है। मर्यादा का भी उसे सदैव ध्यान है। जब वह धृतराष्ट्र को प्रणाम करने लगता है तो सहसा उसे याद आ जाता है और पहले युधिष्ठिरादि पाण्डवों का प्रणाम निवेदन करने के बाद अपना प्रणाम कहता है। वाक्पटुता भी घटोत्कच में पर्याप्तरूपेण दिखायी पड़ती है। जब दुर्योधन कहता है कि तुम्हीं राक्षस नहीं हम लोग भी राक्षस की नाईं व्यवहार कर सकते हैं तो घटोत्कच कहता है कि तुम लोग तो राक्षसों से भी निकृष्टतर हो; जैसा व्यवहार तुम लोगों ने किया है वैसा तो राक्षस भी नहीं करते। संक्षेप में यहाँ घटोत्कच का चरित्र बहुत ही उन्नत रूप में प्रदर्शित किया गया है। बहुत अंशों में उसके क्रूर राक्षसी स्वभाव का परिहार कर दिया गया है।

दुर्योधन, शकुनि तथा दुःशासन का चरित्र बहुत अंशों में समानकोटिक है—केवल मात्रा का अन्तर है। ये सभी अत्यन्त अभिमानी तथा क्रूर प्रतीत हो रहे हैं। निहत्थे बालक अभिमन्यु को मारकर ये प्रसन्न हो रहे हैं। इनके विपरीत धृतराष्ट्र गृहकलह से अत्यन्त दुःखी हैं। अभिमन्यु का मारा जाना उन्हें कथमपि अभीष्ट नहीं। इसीलिये वे कौरवों की बारम्बार भर्त्सना तथा पाण्डवों की प्रशंसा करते हैं। घटोत्कच भी जब कभी उत्तेजित होता है वे ही शान्त करते हैं। गांधारी तथा उनकी पुत्री दुःशला का चरित्र कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

समीक्षण—नाटक वीर तथा करुण रस का सम्मिलन है। एक ओर अभिमन्यु की मृत्यु से करुण का वातावरण प्रस्तुत है तो दूसरी ओर घटोत्कच तथा दुर्योधनादि के विवाद में वीररस अपना अस्तित्व जताता है। डा० गणपति शास्त्री के अनुसार यह नाटक न सुखान्त है न दुखान्त।

यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि यह नाटक रूपकों की किस श्रेणी

में आता है। डा० ए० बी० कीथ का अभिमत है कि यह नाटक व्यायोग है। इसके विपरीत पुसालकर महाशय इसे उत्सृष्टिकाङ्क मानते हैं। कीथ ने अपने समर्थन में अधिकांश अंश में युद्ध की योजना और तत्सम्बद्ध वार्ता को माना है। यह सुतरां सत्य है कि व्यायोग के चिह्न कुछ अंशों में इस नाटक में घटित होते हैं। इस के विपरीत उत्सृष्टिकाङ्क के कुछ लक्षण भी इस नाटक में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उत्सृष्टिकांक का लक्षण है—'बुद्धि-प्रपंचित प्रख्यात वृत्त, करुण रस, वाग्युद्ध तथा जय-पराजय, स्त्रियों से घिरा रहना' इत्यादि ये सभी बातें सइ नाटक में यथावत् हैं। अतः यह उत्सृष्टिकाङ्क के लक्षणों को भी बहुत अंशों में पूरा करता है। ऐसी स्थिति में, इसे किसी एक कोटि में रखना कठिन है।

डा० विन्तरनित्स ने इस नाटक के अंतिम श्लोक के प्रति जो कि श्रीकृष्ण के सन्देश के रूप में है आशंका प्रकट की है। उनका विचार है कि यह श्लोक सन्दर्भ से बाहर प्रतीत होता है। डा० पुसालकर भी इससे सहमति प्रकट करते प्रतीत होते हैं। चाहे जो भी हो श्लोक अपने स्थान पर नितान्त उचित है।

यह नाटक वास्तविकता के निकट प्रतीत होता है। मानव-हृदय की आशाकांक्षाओं एवं कमजोरियों के चित्रण में नाटककार अत्यन्त सफल है। जहाँ धृतराष्ट्र कौरवों की भर्त्सना करते हुये कहते हैं कि एकाकी बालक पर प्रहार करते हुये तुम लोगों के हाथ क्यों नहीं गिर गये? वहाँ दुर्योधन तुरत सटीक उत्तर देता है—'यदि वृद्ध भीष्म को छल से मारकर उनके हाथ नहीं गिरे तो हमारी भुजायें कैसे गिरेंगी?' उत्तर-प्रत्युत्तर बड़े मार्मिक हुये हैं। अर्जुन का पराक्रम वर्णित करते हुये धृतराष्ट्र का यह कथन नितान्त अनूठा है—

शक्रं पृच्छ पुरा निवातकवचप्राणापहारार्चितं
पृच्छास्त्रैः परितोषितं बहुविधैः कैरातरूपं हरम्।
पृच्छाग्निं भुजगाहुतिप्रणयिनं यस्तर्पितः खाण्डवे
विद्यारक्षितमद्य येन च जितस्त्वं पृच्छ चित्राङ्गदम्॥२२॥

श्रीकृष्ण का सन्देश भी अत्यन्त उपयुक्त है। एक ओर वह शान्ति तथा नम्रता का प्रतीक है तो दूसरी ओर वीरता, पौरुष तथा स्वाभिमान से संयुक्त है—

धर्मं समाचर कुरु स्वजनव्यपेक्षां
यत्कांक्षितं मनसि सर्वमिहानुतिष्ठ।
जात्योपदेश इव पाण्डवरूपधारी
सूर्यांशुभिः सममुपैष्यति वः कृतान्तः ॥ ५२ ॥

इस नाटक में भरतवाक्य का अभाव है अतः कुछ लोग इसे अपूर्ण मानते हैं। संभव है आगे इसमें कुछ अंश रहा हो। वैसे यह नाटक अपने तात्पर्य में पूर्ण है।

४—मध्यम व्यायोग

कुरुजाङ्गल प्रदेश के यूपग्राम का निवासी माठरगोत्रीय अध्वर्यु केशवदास अपने मातुल यज्ञबन्धु से, जो उद्यामक ग्राम का निवासी तथा कौशिक गोत्री है, मिलने जा रहा है। यज्ञबन्धु के यहाँ पुत्र का उपनयन संस्कार होने वाला है उसी में वह सम्मिलित होने जा रहा है। उसके साथ उसके तीन पुत्र तथा उसकी स्त्री भी है। मार्ग में उसे वही जङ्गल पार करना पड़ता है जिसमें दुर्योधन से द्यूत में पराजित पाण्डवगण निवास कर रहे हैं। उनका उस जंगल में एक भयंकर राक्षस पीछा कर रहा है। उस राक्षस का केश-कलाप मध्याह्नकालिक सूर्यकिरणों की नाईं विखरा हुआ है, आँखें पीली हैं तथा सूर्य-चन्द्र की भाँति चमकीली हैं, वक्षःस्थल विस्तृत है, वह पीला कौशेय वस्त्र धारण किये हुये है, उसके दाँत हाथी के बच्चे के दाँत के समान ईषद् निकले हुये हैं, हल के समान नाक है, हाथी के सूँड़ की नाईं भुजायें हैं, वह अग्नि के समान प्रोद्भासित है तथा त्रिपुरविनाशक रुद्रकी भाँति क्रुद्ध है। वह राक्षस भीमपुत्र घटोत्कच है।

उस राक्षस को देखकर कनिष्ठ पुत्र कहता है कि यह तो साक्षात् मृत्यु की भाँति हम लोगों का अनुधावन कर रहा है। इसी समय घटोत्कच उन्हें ललकारते हुये कहता है—'ऐ भीरु ब्राह्मण ? मेरे आगे से तुम कहाँ भाग रहे हो ? तुममें अपने पुत्रों तथा स्त्री की रक्षा का सामर्थ्य नहीं। तुम मेरे सामने वैसे ही हो जैसे क्रुद्ध गरुड़ के सामने स्त्री-सहित डरा हुआ नाग हो।' घटोत्कच की बात सुनकर वृद्ध ब्राह्मण अपने पुत्रों तथा स्त्री से कहता है कि तुम लोग डरो

मत। इसकी वाणी तो विवेकशील प्रतीत हो रही है। घटोत्कच उसी समय अपने मन में सोचता है कि मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि ब्राह्मण पृथ्वी पर अवध्य हैं पर माता के आज्ञावशात् यह अकरणीय कार्य भी शंका को छोड़ कर करना पड़ेगा।

उसी समय वृद्ध ब्राह्मण अपनी पत्नी से कहता है—'ब्राह्मणि, क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि उस जलक्लिन्न तपस्वी ने कहा था कि यह वन निरापद नहीं है अतः तुम लोगों को सावधानी से जाना चाहिये।' ब्राह्मणी कहती है कि 'इस समय आप कर्त्तव्यविमूढ़ क्यों हो रहे हैं किसी को पुकारिये।' ब्राह्मणी की बात सुनकर ब्राह्मण कहता है कि किसे पुकारूँ? यह वन तो निर्जन है पर्वतों से घिरा है तथा पशु-पक्षियों से व्यापृत है। फिर उसे स्मरण आता है कि पास ही पाण्डवों का आश्रम है। वे पाण्डव युद्धप्रिय, शरणागतवत्सल साहसी, दीनों पर दया करने वाले तथा भयानक प्राणियों को दण्ड देनेवाले हैं। पर, उन्हें परस्पर वार्तालाप से यह पता चलता है कि पाण्डव कहीं बाहर चले गये हैं। इस प्रकार किसी आसन्न सहायक को न देखकर वे घटोत्कच से ही पूछते हैं कि इस संकट से मोक्ष का कोई उपाय है या नहीं। इस पर घटोत्कच कहता है कि मोक्ष तो है पर उसके साथ शर्त है। मेरी माता की आज्ञा है कि इस अरण्य में यदि कोई मानव मिले तो उसे पकड़ कर मेरे पारण के लिये लाओ। यदि आप स्त्री और-दो बच्चों के साथ मोक्ष चाहते हैं तो योग्य-अयोग्य का विचार कर एक पुत्र को मेरे साथ कर दीजिये और इस प्रकार आपका कुटुम्ब बच जायेगा।

घटोत्कच की बात सुनकर ब्राह्मण क्रुद्ध हो जाता है और कहता है कि 'इन नीचतापूर्ण बातों से तू विरत हो जा। मेरा ही शरीर वार्धक्य-जर्जर है और अब कृत-कृत्य भी हो गया है अतः पुत्रों की रक्षा के निमित्त इसे तो मैं अर्पण करता हूँ।' वृद्ध ब्राह्मण की बात सुनकर ब्राह्मणी ही चलने को कहती है और और इसी में वह अपने पातिव्रत्य धर्म की सार्थकता समझती है। पर घटोत्कच उसे यह कहकर निवारण कर देता है कि मेरी माता को स्त्री अभीष्ट नहीं है। जब घटोत्कच वृद्ध को लेकर चलने को प्रस्तुत होता है तो ज्येष्ठ पुत्र यह कहता है कि वह अपने प्राणों को देकर पिता के प्राण की रक्षा करना चाहता है।

मध्यम पुत्र भी उसकी बात सुनकर उसे रोकता है और कहता है कि आप कुटुम्ब में ज्येष्ठ तथा पितरों के प्रिय हैं। अतः मैं ही अपने शरीर को दूँगा। इसी प्रकार कनिष्ठ पुत्र भी कहता है और वे अहमहमिकापूर्वक जाने को प्रस्तुत होते हैं। पर उन दोनों छोटे भाइयों को बड़ा लड़का यह कहकर रोकना चाहता है कि आपद्ग्रस्त पिता की ज्येष्ठ पुत्र ही रक्षा करता है। पर, ज्येष्ठ की बात सुनकर वृद्ध ब्राह्मण कहता है कि ज्येष्ठ पुत्र मुझे सर्वाधिक प्रिय है अतः इसे मैं काल के गाल में नही प्रेषित कर सकता। वृद्ध की बात सुनकर वृद्धा कहती है कि कनिष्ठ पुत्र उसे प्राणों से बढ़कर प्रिय है अतः उसे भी वह नहीं जाने देगी। इस पर मध्यम पुत्र कहता है कि माता-पिता का अनिष्ट किसे प्रिय होगा। यदि ये लोग दोनों पुत्रों को नहीं जाने देना चाहते तो मैं ही जाऊँगा। उसकी बात सुनकर घटोत्कच प्रसन्न हो जाता है। द्वितीय पुत्र क्रमेण माता, पिता तथा ज्येष्ठ भ्राता को प्रणाम करता है और वे उसे शुभाशीर्वाद देते हैं। चलते समय मध्यम पुत्र घटोत्कच से कहता है कि जरा तुम रुक जाओ जिससे मैं समीपवर्ती जलाशय में जलपान कर लूँ। घटोत्कच उसे शीघ्र आने को कह जाने की अनुमति दे देता है। मध्यमपुत्र चला जाता है।

मध्यम पुत्र के लौटने में कुछ विलम्ब होता है। घटोत्कच उसे मध्यम कह कर जोर से पुकारता है। समीप ही भीमसेन कहीं खड़े हैं। वे उस शब्द को सुनते हैं और वितर्क करते हैं कि अर्जुन उन्हें ही मध्यम कह कर पुकारते हैं। इसी बीच घटोत्कच दुबारा पुकारता है और भीम उधर मुड़कर देखते हैं। घटोत्कच के बलशाली तथा सुपुष्ट शरीर को देखकर वे आश्चर्यान्वित हो जाते हैं। जब पुनः घटोत्कच मध्यम पुत्र को पुकारता है तो वे कहते हैं कि मैं आ गया। घटोत्कच भी भीम के दर्शनीय व्यक्तित्व को देखकर ठिठक जाता है। वह कहता है कि 'क्या आप भी मध्यम हैं, तो भीम कहते हैं कि 'मैं ही मध्यम हूँ।' भीम की बात सुनकर वृद्ध ब्राह्मण मन में सोचता है कि यह अवश्य ही मध्यम पाण्डव भीम हैं जो हम लोगों को मुक्त कराने के लिये ही भाग्यवशात् यहाँ आये हैं। इसी अन्तराल में ब्राह्मण का मध्यम पुत्र भी चला आता है और घटोत्कच उसे लेकर चल देता है। वृद्ध कातर दृष्टि से भीम की शरण में

जाता है और कहता है कि यह राक्षस हम लोगों को खाना चाहता है इससे आप रक्षा कीजिये। वह यह भी बताता है कि वह कौन है तथा कहाँ जा रहा है। उसकी बात सुनकर भीम उसे आश्वासन देते हैं। वे घटोत्कच को पुकार कर कहते हैं कि इस ब्राह्मण परिवाररूपी चन्द्र के लिये तुम क्यों राहु बने हो। ब्राह्मण अवध्य होते हैं अतः इसे छोड़ दो। भीम की बात सुनकर घटोत्कच छोड़ने से इनकार करता है और कहता है कि आप क्या मेरे साक्षात् पिता भी आकर कहें तो मैं इसे नहीं छोड़ सकता। मैं अपनी माता की आज्ञा की पूर्ति के लिये इसे ले जा रहा हूँ। भीम उसकी माता का नाम पूछते हैं और हिडिम्बा नाम सुनकर मन ही मन प्रसन्न होते हैं। पुत्र की मातृभक्ति से भी उन्हें महान् आह्लाद होता है। भीम मध्यम पुत्र को रोक देते हैं और कहते हैं कि तुम मत जाओ तेरे स्थान पर मैं जाऊँगा। इस पर जब घटोत्कच उनसे चलने के लिये कहता है तो वे कहते हैं कि 'यदि तुममें शक्ति हो तो मुझे ले चलो।'

इसके अनन्तर घटोत्कच वृक्ष, शैलादि से भीम पर प्रहार करता है। पर भीम निगृहीत नहीं होते। बाहुयुद्ध तथा मायायुद्ध से भी घटोत्कच उनका बाल-बांका नहीं कर सका। अन्त में घटोत्कच उनकी प्रतिज्ञा की याद दिलाता है और भीम उसके साथ चलने लगते हैं। घटोत्कच भीमसेन को खड़ा कर अपनी माता हिडिम्बा को खुशखबरी सुनाने जाता है। हिडिम्बा उसके साथ अपने कल्पित आहार को देखने आती है और देखकर आश्चर्यचकित हो जाती है। वह 'आर्यपुत्र' कह कर भीमसेन का अभिवादन करती है। घटोत्कच भी अपने कृत्य पर लज्जित होता है और भीम को प्रणाम करता है। वह भीम से क्षमायाचना करता है। भीम भी उसे गले से लगा लेते हैं। वृद्ध ब्राह्मण के चरणों में भी घटोत्कच नतमस्तक होता है। अन्त में मङ्गलवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है—

यथा नदीनां प्रभवः समुद्रः
यथाहुतीनां प्रभवो हुताशनः।
यथेन्द्रियाणां प्रभवं मनोऽपि
तथा प्रभुर्नो भगवानुपेन्द्रः॥—श्लोक ५२

नाटक का आधार—महाभारत में हिडिम्ब-वध तथा हिडिम्बा से भीम का व्याह वर्णित है। इसके अतिरिक्त हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच का अस्तित्व भी वहाँ विद्यमान है (द्र० महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्व अध्याय १५१–१५५, गीता प्रेस संस्करण)। पर, इस प्रकार ब्राह्मण का पीछा तथा भीम द्वारा ब्राह्मणों की मुक्ति महाभारत में अनुल्लिखित है। हाँ, यह महाभारत में अवश्य उल्लिखित है कि घटोत्कच यज्ञ तथा ब्राह्मणों का विद्वेषी है (द्रोणपर्व अ० १८१।२६–२७)। इस प्रकार यहाँ इस नाटक का आख्यान कल्पित है। भास सुपरिचित पात्रों को लेकर उन्हीं के आधार पर इस नाटक की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

नाटक का नामकरण—यह प्रश्न विचारणीय है कि नाटक का नाम मध्यमव्यायोग क्यों रखा गया है? इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—मध्यम अर्थात् मध्यम पाण्डव भीम पर अथवा मध्यम ब्राह्मण पर आधृत व्यायोग नामक नाटक-प्रकार। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पाण्डवों में मध्यम तो अर्जुन हैं फिर भीम क्यों मध्यम कहे गये हैं? इसका उत्तर यह है कि भास पाण्डवों में भीम को मध्यम मानते हैं जिसका आधार यह है कि कुन्ती के तीन पुत्रों में भीम ही मध्मम हैं।

इसकी अन्य व्याख्या यह भी हो सकती है कि जिस नाटक में मध्यम पाण्डव भीम का हिडिम्बा से मिलन हुआ अथवा जिसमें दो मध्यमों (पाण्डव-मध्यम भीम तथा मध्यम ब्राह्मण) का प्रयोग हुआ है (विशेषेण आयोगः संयोगः या व्यायुज्यतेऽस्मिन्)।

चरित्राङ्कन—यद्यपि इस नाटक में भीम का व्यक्तित्व सर्वातिशायी प्रदर्शित किया गया है पर सारे नाटक का घटनाक्रम घटोत्कच पर केन्द्रित है। घटोत्कच के चरित्रांकन में विशेष सावधानी प्रदर्शित की गयी है। घटोत्कच राक्षस होते हुए भी मानवीय भावभूमि पर अधिष्ठित है। उसे यह पता है कि ब्राह्मण अवध्य होता है पर वह बेचारा करे क्या? माता की आज्ञा का पालन तो उसे करना ही है। इसीलिये वह सोचता है—

जानामि सर्वत्र सदा च नाम द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्।
अकार्यमेतच्च मयाऽद्य कार्यं मातुर्नियोगादपनीय शङ्काम्॥—श्लोक ९

घटोत्कच का शरीर अत्यन्त सुगठित तथा बलशाली है। उसकी आँखें चन्द्र-सूर्य की भाँति तेजस्वी हैं, उसका वक्षःस्थल पीन तथा विस्तीर्ण है; केशराशि कनककपिशवर्ण की है तथा कौशेयवस्त्र धारण किये हुये है। जब मध्यम ब्राह्मण-कुमार जल पीने के लिये बाहर जाने को कहता है तो वह बिना किसी हिचकिचाहट के वैसी आज्ञा दे देता है। इसमें उसका आत्मविश्वास तथा सहानुभूति लक्षित होती है। भीम के साथ उसकी बातचीत म भी उसका व्यक्तित्व मलिन नहीं होता अपितु वह निर्भीकता के साथ उनसे संघर्ष ठानता है। घटोत्कच में दृढ़ता के साथ-साथ विनय भी उचित रूप में विद्यमान है। जब भीम को लेकर अपनी माता के पास पहुँचता है और वहाँ जाकर उसे पता लगता है कि ये उसके पिता हैं तो वह उनके चरणों में अवनत हो जाता है और अपने कृत्य के लिये क्षमा-याचना करता है।

भीमसेन का चरित्र इस नाटक में अपेक्षाकृत सबसे उदात्त तथा महनीय प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि उनका नाटक में सान्निध्य घटोत्कच और केशवदास से कम ही रहता है पर उनके आते ही सारा कथानक उन्हीं पर केन्द्रित हो जाता है। भीमसेन परदुःखकातर, आत्माभिमानी, निर्भीक तथा बलवान् योद्धा क्षत्रिय के रूप में अंकित किये गये हैं। वे आते ही ब्राह्मणों की बात सुनकर उन्हें अभयदान देते हैं और राक्षसी का आहार बनने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अपने बलशालित्व का भी वे परिचय देते हैं और घटोत्कच से संघर्ष भी कर बैठते हैं। इस संघर्ष में वे विजयी होते हैं पर 'संवित्' का ध्यान कर हिडिम्बा के पास चलने को प्रस्तुत हो जाते हैं। हिडिम्बा के पास जाने पर उनका असली कुटुम्बी रूप प्रकट हो जाता है। उनके वार्तालापों में प्रेम तथा सौहार्द की भावना लक्षित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककार भीम के चरित्राङ्कन में विशेष सचेष्ट है और भीम को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करता है।

ब्राह्मण केशवदास तथा उनके परिवार का चरित्र एक विशेष प्रकार का है। वे संयमी तथा तपस्वी हैं। परस्पर एक दूसरे के लिये त्याग की भावना भी उल्लेख्य रूप से वर्तमान है। परन्तु, खटकनेवाली बात एक यह है कि माता-पिता

दोनों ज्येष्ठ-कनिष्ठ पुत्र के प्रति तो विशेष ममता रखते है। मध्यम पुत्र के प्रति उनमें वह ममता नहीं है इसीलिये उसे कालकवलित कराने के लिये वे उद्यत हो जाते हैं। इसमें नाटककार का वैदिक सभ्यता और धर्म के प्रति आग्रह का भाव प्रेरक प्रतीत होता है। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक में शुनःशेप को उसके माता-पिता वरुण-बलि बनाने के लिये उद्यत हो जाते हैं। इस प्रकार लेखक यहाँ वृद्ध ब्राह्मण और वृद्धा के साथ न्याय नहीं कर सका है।

हिडिम्बा के चरित्र में कोई उल्लेख्य वैशिष्ट्य नहीं दिखायी पड़ता। इसका कारण यह है कि उसके उभार का इसमें अवसर नहीं दिया गया है।

समीक्षण—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह रूपक 'व्यायोग' नामक नाटक-प्रकार की कोटि में आता है। व्यायोग का इतिवृत्त प्रसिद्ध होता है, नायक धीरोद्धत होता है, गर्भ तथा विमर्शाख्य सन्धियाँ नहीं होतीं, वीर, रौद्र आदि उद्दीप्त रस होते हैं, युद्ध स्त्री-निमित्तक नहीं होता, एक दिन का चरित होता है तथा एक ही अङ्क होता है—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः॥
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा।
एकहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः॥

—दशरूपक, ३.६०-६२

इस मानदण्ड से यह रूपक व्यायोग ही ठहरता है और इस रचना में नाटककार को पर्याप्त साफल्य मिला है। नाटकीय दृष्टि से यह नाटक उत्तम माना जायेगा क्योंकि रस-परिपाक तथा भावोन्मेष में नाटककार को पूरी सफलता मिली है। वार्तालापों में भी कहीं वैरस्य नहीं आता और दर्शक का कुतूहल प्रतिक्षण वृद्धिंगत होता रहता है। इस कथनोपकथन में भाषा भी बड़ी सहायिका सिद्ध होती है। लम्बे समासान्त पदों का अभाव दर्शक के भाव-बोध में व्यवधान नहीं आने देता। भास की भाषा सरलता में बेजोड़ है। घटनाक्रम में सत्वरता प्रभावोत्पादन में चार-चाँद लगा देती है।

भास का काव्य-कर्म भी इस नाटक में सफल रहा है। घटोत्कच का

उत्प्रेक्षा के आश्रय से ऐसा वर्णन है कि नाटक पढ़नेवाले के सामने में एक वरिष्ठ व्यक्ति खड़ा हो जाता है :—

ग्रहयुगलनिभाक्षः पीनविस्तीर्णवक्षाः,
कनककपिलकेशः पीतकौशेयवासाः ।
तिमिरनिवहवर्णः पाण्डरोद्वृत्तदंष्ट्रो
नव इव जलगर्भो लीयमानेन्दुलेखः ॥—श्लोक ५

इसी प्रकार वृद्ध ब्राह्मण के परिवार का चित्रण भी बड़ा सजीव तथा आकर्षक है । उपमा की छटा भी यहाँ दर्शनीय है :—

भ्रान्तैः सुतैः परिवृतस्तरुणैः सदारैः वृद्धो द्विजो निशिचरानुचरः स एषः ।
व्याघ्रानुसारचकितो वृषभः सधेनुः सन्त्रस्तवत्सक इवाकुलतामुपैति ॥
—श्लोक ३

भयभीत तरुणपुत्रों और पत्नी से युक्त वृद्ध ब्राह्मण का राक्षस पीछा कर रहा है । वह ब्राह्मण सिंह के द्वारा आक्रमण किये जाते हुए डरे हुए वत्सों तथा गायवाले वृषभ की भाँति प्रतीत हो रहा है । वृद्ध ब्राह्मण का यह रूप दर्शक को बरबस करुण-रस में डुबो देता है ।

५—पञ्चरात्र

यह तीन अङ्कों का नाटक है । यह महाभारत के विराट पर्व पर आधृत है । द्यूत में पराजित पाण्डव तेरह वर्षों के लिये वनवास तथा अज्ञातवास का संवित् कर राज्य से बाहर चले गये हैं । इस समय वे विराट के यहाँ छद्मवेश में अज्ञातवास कर रहे हैं । इसी समय कुरुराज दुर्योधन का यज्ञ प्रारम्भ होता है । यज्ञ बृहत् सम्भार के साथ होता है । ब्राह्मणोच्छिष्ट अन्न चतुर्दिक अवकीर्ण पड़े हुये हैं । यज्ञधूम की सुगन्धि से पुष्पों की सुगन्धि दब गई है । यज्ञ के सात्त्विक प्रभाव से परस्पर विरोधी स्वभाव के हिंस्र पशु भी वैर को विस्मृत कर दिये हैं । दुर्योधन सारे प्राणियों को तृप्त कर रहा है । बड़े-बड़े वृद्ध विद्वान् ब्राह्मण उस यज्ञ में सम्मिलित हुये हैं । पृथ्वी के सारे नृपतियों ने राजा को कर देकर सन्तुष्ट किया है । इस प्रकार यज्ञ की छटा निराली हो गयी है । यत्र-तत्र बालक औद्धत्य तथा चापल्य भी प्रदर्शित कर रहे हैं ।

यज्ञ पूर्ण समारोह के साथ समाप्त होता है । दुर्योधन अपने मित्र कर्ण से

मन्त्रणा कर गुरुजनों को प्रणाम करता है। भीष्म-द्रोण दुर्योधन को यज्ञ में सम्मिलित राजाओं से मिलाते हैं। इसी समय दुर्योधन को पता चलता है कि सम्पूर्ण राजा तो आ गये पर विराट का पता नहीं। शकुनि उसे बताता है कि विराट के यहाँ दूत भेजा जा चुका है रास्ते में आ रहा होगा। इसके अनन्तर दुर्योधन आचार्य द्रोण से दक्षिणा माँगने को कहता है क्योंकि वे उसके धर्म तथा धनुर्विद्या में गुरु हैं। द्रोणाचार्य दुर्योधन के बहुत आग्रह करने पर कहते हैं कि 'और किसी वस्तु की तो मुझे अपेक्षा नहीं पर यदि तुम्हें दक्षिणा देने की लालसा है तो यही दक्षिणा है कि बारह वर्षों से वन में इधर-उधर भटकने वाले पाण्डवों को उनका हिस्सा दे दो।' इसपर शकुनि तुरन्त उद्विग्न हो जाता है और कहता है कि ऐसा नहीं हो सकता। यह तो प्रत्यय उत्पन्न कर धर्म-वञ्चना की गयी। इस कथन से द्रोण रुष्ट हो जाते हैं पर भीष्म साम-वचनों से सबको शान्त करते हैं। दुर्योधन मामा शकुनि से मन्त्रणा करने को अनुमति माँगता है और मन्त्रणा के लिये अनुमति पाकर शकुनि से मन्त्रणा करता है। शकुनि उसे राज्य न देने की राय देता है। कर्ण कहता है कि जैसा आप उचित समझिये वैसा कीजिये। भ्रातृ-भाग से मैं इनकार नहीं कर सकता। हम लोग तो समर में आपके सहायक हैं।' जब दुर्योधन गुरु को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा से निस्तार का उपाय पूछता है तो शकुनि उसे द्रोण के पास लाकर कहता है कि दुर्योधन कहते हैं कि यदि पाँच रातों के भीतर पाण्डवों का पता लग जाय तो वह उनका भाग देने को प्रस्तुत है।

पहले तो द्रोणाचार्य उसकी शर्त मानने को प्रस्तुत नहीं होते पर, इसी बीच विराट नगर से दूत लौट आता है और बताता है कि विराट के सम्बन्धी सौ कीचक-भाइयों को किसी व्यक्ति ने बाहों से ही रात्रि में मार डाला अतः शोक-संविग्न होने से वे यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुये। भीष्म जब इसे सुनते हैं तो उन्हें प्रत्यय हो जाता है कि भीमसेन ने ही मारा है। वे द्रोण से दुर्योधन की शर्त मान लेने को कहते हैं और कहते हैं कि 'मुझे पूरा विश्वास है कि भीम ने ही कीचकों को मारा है। मुझे अपने बच्चों के पराक्रम का पूरा पता है। द्रोण उसकी शर्त को मान लेते हैं और उस शर्त को सभी समागत राजाओं को सुना देते हैं।

भीष्म कौरवों से विराट के गोधन के हरण की सलाह देते हैं क्योंकि वह यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुआ है और गुप्त शत्रुत्व भी चला आता है। इस प्रस्ताव को सभी मान लेते हैं। द्रोण जनान्तिक में इस अपहरण का निषेध करते हैं और कहते हैं कि विराट उनका प्रिय शिष्य है। भीष्म कहते हैं कि जब वहाँ आक्रमण होगा तो कृतज्ञतावशात् पाण्डव साहाय्य के लिये आवेंगे ही और गोधन के प्रति उनका और भी विशिष्ट प्रेम है। इस प्रकार मन्त्रणा करने के उपरान्त भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, शकुनि आदि कौरव सदल-बल विराट के गोधन पर आक्रमण करते हैं।

द्वितीय अङ्क विराट के गोधन की निवासभूमि से प्रारम्भ होता है। वृद्ध गोपालक अपने परिवार के तथा सम्बन्धी गोपालकों से वार्तालाप कर रहा है? इसी दिन विराट का जन्मदिवस भी है। गोपालक इसी आनन्द में नाच रहे हैं। इसी समय कौरव आकर गोधन का हरण करते हैं। गायें इधर-उधर भागती हैं पर वे सभी को समेट कर ले चलते हैं। गोपालक दौड़कर विराट को इसकी सूचना देते हैं। भट जाकर विराट को गोधन-हरण की सूचना देता है। महाराज विराट शीघ्र ही रणक्षेत्र में जाने लिए उद्यत होते हैं। इसी समय विराट भगवान् नामक ब्राह्मण को बुलाते हैं और उनसे सब वृत्तान्त यथावत् निवेदित करते हैं (वस्तुतः युधिष्ठिर ही भगवान् बने हैं) विराट रथ सजाने की आज्ञा देते हैं पर पता चलता है कि उस रथ पर सवार होकर राजकुमार उत्तर शत्रु-सैन्य को विफल करने के किये चले गये हैं। उन्हें यह भी बताया जाता है कि रथ का सारथि बृहन्नला को बनाया गया है। बृहन्नला को सारथि सुनकर राजा चिन्तित होते हैं पर भगवान् उन्हें ढाढस बँधाते हैं। उन्हें यह भी सूचना दी जाती है कि उत्तर का रथ समराङ्गण को छोड़ कर श्मशान की ओर भाग गया है। भट फिर लौट कर विराट से बताता है कि उत्तर ने बाण से सभी विपक्षियों को पराङ्मुख कर दिया है केवल एक अभिमन्यु ही निर्भय भाव से लड़ रहा है। तदनन्तर यह भी बताया जाता है कि गोधन की रक्षा हो गयी, गायें लौट आयीं। धार्तराष्ट्र परास्त होकर भाग गये।

विराट बृहन्नला बने अर्जुन को सभा में बुलाते हैं। वे बृहन्नला से रण-वृतान्त पूछते हैं। इसी बीच भोजन बनाने में नियुक्त भीमसेन द्वारा अभिमन्यु भी

पकड़ लाया जाता है। अभिमन्यु का अर्जुन तथा भीम के साथ वार्तालाप होता है। अभिमन्यु राजा विराट के साथ निर्भीकता से बात करता है और कहता है कि यदि आप लोगों ने बाहुबल से मुझे पकड़ लिया है तो मध्यम पिता भीमसेन बाहुबल से ही मुझे छुड़ा ले जायेंगे। इसी समय वहाँ राजकुमार उत्तर आता है और कहता है कि वस्तुतः यह विजय मेरे द्वारा नहीं अपितु बृहन्नला बने इन अर्जुन के द्वारा हुई है। वह युद्ध का सारा वृत्तान्त भी बताता है। अर्जुन कहते हैं कि यदि मैं अर्जुन हूँ तो ये राजा युधिष्ठिर तथा ये भीमसेन हैं। इस प्रकार सब प्रकट हो जाते हैं। जब राजा विराट उन्हें गुप्त होने को कहते हैं तो युधिष्ठिर कहते हैं कि अब अज्ञातवास का समय पूरा हो गया। सब लोग परस्पर प्रसन्नता के साथ मिलते हैं। विराट अपनी पुत्री उत्तरा को अर्जुन के लिये देने का प्रस्ताव करते हैं। पर, अर्जुन इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हैं और कहते हैं कि सम्पूर्ण अन्तःपुर की मैंने मातृवत् पूजा की। इस कुमारी को मेरे पुत्र अभिमन्यु को दे दिया जाय। अर्जुन के प्रस्ताव का सभी अनुमोदन करते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं कि इस प्रस्ताव के साथ उत्तर कुमार को भीष्म पितामह के पास भेज दिया जाय। सभी लोग इसे स्वीकार करते हैं।

तृतीय अङ्क कौरवों के यहाँ प्रारम्भ होते हैं। सूत आकर निवेदन करता है कि अर्जुनतनय अभिमन्यु को शत्रुओं ने पकड़ लिया है। इस कथन को सुनकर भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि उत्तेजित हो जाते हैं। किन्तु शकुनि कहता है कि इसमें चिन्ता करने की कोई बात नहीं। विराट पाण्डवों और श्रीकृष्ण के भय से उसे छोड़ देंगे। सूत बताता है कि कोई पैदल ही आकर अभिमन्यु को पकड़ ले गया। वह अपने बाहुवेग से अश्वों के वेग को रोककर रथ पर चढ़ गया और अभिमन्यु को अपने कब्जे में कर लिया। यह सुनकर भीष्म कहते हैं कि वह व्यक्ति भीमसेन है। द्रोण भी इसका समर्थन करते हैं। शकुनि इसका प्रतिवाद करता है और कहता है कि इस पृथ्वी पर आप लोगों को केवल पाण्डव ही बलवान् दिखायी पड़ते हैं। इस समय सूत आकर कहता है कि जिस बाण ने आपकी ध्वजा को विद्ध किया उस पर किसी का नाम अङ्कित है। उसे देखने पर अर्जुन का नाम मालूम पड़ता है। शकुनि कहता है कि यह किसी दूसरे

अर्जुन का बाण होगा। दुर्योधन कहता कि यदि आप लोग युधिष्ठिर को लाकर दिखा देंगे तो मैं उनका राज्यांश दे दूँगा।

इसी समय दूतरूप में विराटनगर से राजकुमार उत्तर आते हैं और प्रणाम पुरस्सर निवेदन करते हैं कि धर्मराज ने कहा है कि 'उत्तरा मुझे पुत्रवधू के रूप में प्राप्त हुई है उसका विवाह आप लोगों के यहाँ हो या यहीं पर।' शकुनि झट उत्तर देता है कि वहीं पर। द्रोण तत्काल दुर्योधन की प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं और कहते हैं अभी पञ्चरात्र पूरा नहीं हुआ है और पाण्डवों का पता लग गया। अतः दुर्योधन अपनी गुरुदक्षिणा पूरी करे। दुर्योधन अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करना स्वीकार करता है और कहता है कि 'मैंने पाण्डवों को आधा राज्य दे दिया। सत्य बना रहेगा तो मरने के बाद भी हम यशःशरीर से जीवित रहेंगे।

भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का आधार—इस नाटक के कथानक का ताना-बाना महाभारतीय विराटपर्व के आधार पर निर्मित है, यद्यपि नाटककार ने परिवर्तन कर दिया है। युधिष्ठिरादि पाण्डवों का वेश-बदल कर विराट के यहाँ रहना, कौरवों से युद्ध, कीचक वध आदि की कथा विराटपर्व में सविस्तार वर्णित है (द्र० विराटपर्व अ० ७ से ७१ तक)। पर मुख्य आधार जिस पर कि नाटक का नामकरण पाञ्चरात्र हुआ है महाभारत में अनिर्दिष्ट है। द्रोण का पाण्डवों को राज्य देने को कहना, दुर्योधन का पाँच दिन के अन्दर पता लगने पर देने की प्रतिज्ञा करना तथा पता लग जाने पर राज्य दे देना पूर्णतः काल्पनिक है और महाभारत में इसका संकेत तक नहीं। दूसरे शब्दों में इस आख्यान को मानने पर महाभारत का मुख्य विषय भारत-युद्ध ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में विराट युद्ध में नहीं जाते जब कि महाभारत में वे युद्ध करते हुये जीवित ही सुशर्मा के द्वारा पकड़ लिये जाते हैं (द्र० विराटपर्व अ० ३२,३३)। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथानक-निर्माण में नाटककार ने पर्याप्त स्वतंत्रता बरती है और मूलकथा को एक नया रूप दे दिया है। यह परिवर्तन नाटक की प्ररोचनावृद्धि करने में पर्याप्त सहायक हुआ है।

नामकरण—इस नाटक का नामकरण पञ्चरात्र द्रोण की दुर्योधन से पाण्डवों को राज्य देने अनुरोध और दुर्योधन का पाँच दिनों के अन्दर पाण्डवों के मिल जाने पर देनेकी प्रतिज्ञा पर आधृत है। सारा कथानक इस पर केन्द्रित है। द्रोण, भीष्म के साथ कौरवों का विराट के यहाँ गोधन का हरण, उत्तर के साथ अर्जुन का कौरवों को परास्त करना तथा पता लग जाने पर दुर्योधन द्वारा पाण्डवों को राज्यांश देना इसी पञ्चरात्र की धुरी पर प्रतिष्ठित है। अतः इस नाटक का नामकरण पञ्चरात्र सटीक है।

चरित्राङ्कन—इस नाटक में सर्वप्रधान व्यक्तित्व दुर्योधन का है। आरम्भ से अन्त तक वह नाटक में वर्तमान है। नाटक का सारा क्रिया-कलाप उसी के वचनों से सञ्चालित हो रहा है। नाटक में उसका रूप धार्मिक राजा के रूप में सर्वप्रथत्र प्रदर्शित किया गया है। पाण्डवों को राज्य-भ्रष्ट कर वह महान् यज्ञ का प्रवर्तन करता है। यज्ञ में सभी देश-देशान्तर के राजा दुर्योधन को कर देने उपस्थित होते हैं। यह उसके महान् शौर्य-पराक्रम को घोषित करता है। यज्ञ में उसने विपुल सम्पत्ति व्यय की है। ब्राह्मणगण प्रभूत दक्षिणाओं को प्राप्त कर आप्तकाम हो गये हैं। होमधूमों से वह देवताओं का प्रीणन करता है।

अवभृथस्थान के समय दुर्योधन की अटूट गुरुभक्ति भी सामने आती है। गुरु द्रोणाचार्य को वह बार-बार यथेच्छ दक्षिणा माँगने को बाध्य कर रहा है। जब द्रोण पाण्डवों को उनका राज्य देने को कहते हैं तो उसके स्वार्थ को करारा झटका लगता है। उसके स्वार्थ-वृक्ष को द्रोण का वचनवायु झकझोर देता है। मंत्रणाओं का साथी तथा कुटिल मातुल शकुनि उसे न देने को बार-बार उत्साहित करता है। पर दुर्योधन पर गुरु का गौरव अपनी अटूट छाप डालेहै। वह शकुनि से कहता है कि चाहे गुरुदेव ने वञ्चना ही की हो पर यदि मैंने उनके हाथ में जल संकल्प के लिये दे दिया है तो उसे अवश्य ही पूरा करूँगा। कुलवृद्धों के सामने की प्रतिज्ञा से मैं मुकर नहीं सकता—

गुरुकरतलमध्ये तोयमावर्जितं मे,
श्रुतमिह कुलवृद्धैर्यत् प्रमाणं पृथिव्याम्।
तदिदमपनयो वा वञ्चना वा यथा वा
भवतु नृप ! जलं तत् सत्यमिच्छामि कर्तुम्॥ ४७॥

इसीलिये वह एक शर्त पर द्रोण की याचना को स्वीकार करता है। वह शर्त है पाँच रातों के अन्दर पाण्डवों का पता लग जाना।

दुर्योधन में स्वाभिमान की भावना भी कूट-कूट कर भरी हुई है। जब द्रोणाचार्य कहते हैं कि यदि पाण्डवों को उनका राज्यांश नहीं दिया जायेगा हो वे हठात् छीन लेंगे तो दुर्योधन उत्तेजित हो जाता है और कहता है कि यदि उनमें ऐसी सामर्थ्य है तो जब द्रौपदी का भरी सभा में केश-कर्षण किया गया तो उन्होंने क्यों नहीं अपना पराक्रम प्रदर्शित किया।

पाण्डवों के साथ प्रबल वैर होने पर अभिमन्यु के प्रति उसके हृदय में वात्सल्य प्रेम भरा है। जब उसे सूचना दी जाती है कि अभिमन्यु वन्दी बना लिया गया जाता है तो वह कहता है कि इसके पितरों से मेरा वैर है अतः वन्दी बनाये जाने पर मुझे ही दोषी ठहरायेंगे। इसके अतिरिक्त वह पहले मेरा पुत्र है फिर पाण्डवों का। कुल-विरोध होने पर बालकों का उसमें अपराध नहीं होता—

मम हि पितृभिरस्य प्रस्तुतो ज्ञातिभेद-
स्तदिह मयि तु दोषो वक्तृभिः पातनीयः।
अथ च मम स पुत्रः पाण्डवानां तु पश्चात्
सति कुलविरोधे नापराध्यन्ति बालाः॥ अङ्क ३ श्लो० ४

दुर्योधन अपने वचनों पर दृढ़ रहने वाला है। जब उसे पाण्डवों का पता लग जाता है तो उनका राज्यांश लौटा देना स्वीकार कर लेता है और कहता है कि सत्य के ही सहारे व्यक्ति मरने पर भी जीवित रहता है। संक्षेप में दुर्योधन का रूप अत्यन्त उदात्त प्रदर्शित किया गया है।

द्रोणाचार्य—अत्यन्त शिष्यवत्सल आचार्य हैं। अन्याय उन्हें रञ्चमात्र भी नहीं भाता। दुर्योधन से सर्वभावेन परितुष्ट किये जाने पर भी पाण्डवों का राज्यचुत किया जाना उन्हें सन्ताप देता है। इसीलिये दुर्योधन द्वारा दक्षिणा लेने के लिये प्रार्थना किये जाने पर वे पाण्डवों का राज्यांश लौटाने का आग्रह करते हैं। इसी शिष्यत्सलता के कारण वे शकुनि जैसे शठ व्यक्ति को भी अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं यद्यपि धूर्त शकुनि उनकी चालाकी ताड़ जाता है। द्रोण उदात्तमना, निःस्पृह तथा शिष्यवत्सल आचार्य के रूप में दर्शाये गये हैं।

भीष्म का चरित्र भी अत्यन्त प्रशस्त प्रदर्शित किया गया है। उनमें विनय तथा शिष्टाचार भी कूट-कूट कर भरा है। धर्म की तो साक्षात् मूर्ति हैं। पाण्डवों के प्रति अटूट प्रेम तथा सहानुभूति के साथ ही साथ न्याय्य मार्ग का प्रदर्शन उनका लक्ष्य है। दुर्योधन को सदैव वे नेक सलाह देते हैं जिससे कुलविग्रह शान्त हो तथा पाण्डवों का न्याय्य अंश मिले। यद्यपि इस नाटक में वे कभी उत्तेजित प्रदर्शित नहीं किये गये हैं पर नीति का उपदेश वे सदैव करते हैं। द्रोण को भी वे समझाते हैं तथा शान्ति से काम लेने का उपदेश देते हैं।

शकुनि का चरित्र सभी दुर्गुणों का आकर है। छल ही उसका स्वभाव है। वक्रता उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अङ्ग है। जब द्रोण दक्षिणा के रूप में दुर्योधन से पाण्डवों को राज्यांश देने को कहते हैं तो शकुनि इसे धर्म-वञ्चना कहता है। तदनन्तर जब दुर्योधन उससे मंत्रणा करने चलता है और द्रोण उसका आलिङ्गन करते हैं तो शकुनि कहता है कि यह आचार्य बड़ा शठ है जो मुझे वञ्चित करना चाहता है। अभिमन्यु के विराटनगर में बन्दी बनाने का समाचार जब सुनाया जाता है और दुर्योधनादि उसे छुड़ाने के लिये उद्विग्नता-प्रदर्शित करते हैं उस समय भी शकुनि कहता है कि विराट अभिमन्यु को पाण्डवों या कृष्ण या बलराम के भय से छोड़ देगा फिर छुड़ाने की क्या ज़रूरत है। इतनी दुष्टता के साथ-साथ उसे पाण्डवों के बल का भी पता था। जब दुर्योधन कोई देश बताने को कहता है जिसे पाण्डवों को दिया जाय तो वह कहता है कि देने योग्य कोई भी देश नहीं यहाँ तक कि शून्य भी नहीं—

शून्यमित्यभिधाष्यामि कः पार्थाद्बलवत्तरः।
ऊषरेष्वपि शस्यं स्याद्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १.४८ ॥

कर्ण का चरित्र यद्यपि इस नाटक में थोड़ा ही आया है पर उसके चरित्राङ्कन में नाकटकार ने पूर्ण सावधानी तथा सहानुभूति बरती है। वह विनयशील तथा कार्य-साफल्य का विश्वासी है। जब द्रोण उत्तेजित हो जाते हैं तो उन्हें शान्त कर अपना काम निकालने को कहता है। दुर्योधन के प्रति मित्रता को वह अन्तिम दम तक निभाने का पक्षपाती है। जब दुर्योधन उससे पूछता हैं कि पाण्डवों का अंश उन्हें दिया जाय या नहीं तो वह बड़े ही कुशल

शब्दों में उत्तर देता है कि यह तो आपके ऊपर है। हम लोग तो लड़ाई शुरू होने पर अपना प्राणार्पण करने को प्रस्तुत हैं। भातृ-भाव का मैं निषेध नहीं कर सकता—

रामेण भुक्तां परिपालितां च सुभ्रातृतां न प्रतिषेधयामि।
क्षमाक्षमत्वे तु भवान् प्रमाणं संग्रामकालेषु वयं सहायाः ॥१.४५॥

युधिष्ठिर धर्म के प्रबल पक्षपाती हैं। उनका चरित्र आदर्शभूत है। मर्यादा के वे प्रबल पोषक हैं। कौरवों ने यद्यपि उनका बड़ा अपकार किया तथापि उनके प्रति उनमें सहानुभूति विद्यमान है। जब कौरवों ने विराट पर आक्रमण किया तो उनको बड़ा आघात लगा और वे बोल उठे—

एकोदकत्वं खलु नाम लोके मनस्विनां कम्पयते मनांसि—अंक २

जब विराट अर्जुन के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव करते है तो उन्हें दुःख हुआ। वे सोचने लगे कि कहीं अर्जुन का चित्त विचलित न हो जाय इसीलिये वे कहते हैं—'एतदवनतं शिरः'। पर जब अर्जुन इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर अभिमन्यु के साथ उत्तरा के परिणय का आवेदन करते हैं तो युधिष्ठिर प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि युधिष्ठिर का चरित्र बड़ा ही प्राञ्जल तथा उदात्त प्रदर्शित किया गया है।

अर्जुन का चरित्र वीररूप में प्रदर्शित किया गया है। अपने धनुर्विद्या के बल से वे उत्तर को साथ ले भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरवों को परास्त कर विराट की गायें लौटा लाते हैं। पर, अभिमान का उनके हृदय में लेश भी नहीं। इस विजय का वे अपने ऊपर श्रेय नहीं लेते। इससे बढ़कर उनके बाहुबल की प्रशंसा क्या हो सकती है कि शकुनि भी कह उठता है—कः पार्थाद् बलवत्तरः'। अर्जुन के चरित्र की शालीनता तब अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है जब उत्तरा के साथ सादी का प्रस्ताव वे ठुकरा कर कहते हैं—

इष्टमन्तःपुरं सर्वं मातृवत् पूजितं मया।
उत्तरैषा त्वया दत्ता पुत्रार्थे प्रतिगृह्यते ॥ अङ्क २

अभिमन्यु भी अपने पिता के समान वीर तथा स्वाभिमानी है। उसकी बातों से स्वाभिमान का दर्प द्योतित होता है। भीम का चरित्र भी बली तथा

उदात्त है। अन्य पात्रों का चरित्राङ्कन भी मर्यादा के अनुरूप हुआ है यद्यपि उनमें स्थानाभाव से विकास नहीं हो सका है।

समीक्षण

डा० ए. बी. कीथ ने पञ्चरात्र को रूपको दश भेदों में 'समवकार' माना है। साहित्यदर्पण में समवकार का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है—

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।
सन्धयो निर्विमर्षास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे॥ इत्यादि

यद्यपि भास के नाटकों में नाट्यशास्त्र से नियमों का कठोरता से पालन नहीं हुआ है पर, 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवति' के आधार पर इसे समवकार ही कहा जायेगा। कुछ विद्वानों के अनुसार यह व्यायोग नामक नाट्य प्रकार है।

काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह नाटक उत्तम कोटि का कहा जायेगा। सरल शब्दावली में भावोन्मेष भास की अपनी विशेषता है। शब्दों के आश्रय से भास ऐसा चित्र खड़ा कर देते हैं कि पूरा दृश्य ही सामने आ जाता है। शकुनि के मुख से 'ऊषरेष्वपि शस्यं स्याद्यत्र राजा युधिष्ठिरः' की उक्ति बरबस हृदय को आकृष्ट कर लेती है। अलङ्कारों की संघटना भी नितान्त स्पृहणीय है। दुर्योधन की यज्ञ-समृद्धि का वर्णन नाटककार ने बड़ी ही कुशलता के साथ किया है।

स्थान-स्थान पर सूक्तियाँ इस बारीकी के साथ दी गई हैं कि प्रभावोत्पादन में वे दूनी वृद्धि कर देती हैं। ये सूक्तियाँ बड़ी ही हृदयहारिणी हैं—'सति च कुलविरोधे नापराध्यन्ति बालाः' 'मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति', 'नष्टाः शरीरैः क्रतुभिर्धरन्ते' इत्यादि।

पांच रातों में पाण्डवों का पता लग जाने पर उनका राज्य लौटाने की दुर्योधन की प्रतिज्ञा तथा पता लग जाने पर राज्य लौटा देना नाटककार की अपनी सूझ है। इस कल्पना के आश्रय से नाटककार ने दुर्योधन के चरित्र को उदात्त बनाने का प्रयत्न किया है और उसके सारे कल्मषों को धो डालने की कोशिश की है। इस कल्पना के द्वारा महाभारती आख्यान ने एक नया ही रूप

ले लिया है। इस नाटक का प्रधान रस वीर है। शृंगार का इसमें पूर्णतः अभाव है जो नाटक में स्त्रीपात्रों के न आने से हुआ है। संक्षेप में इसे भास की नाट्य-चातुरी का एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

६—उरुभङ्ग

यह नाटक महाभारत-युद्ध के अन्तिम अंश से सम्बन्ध रखता है। सारी कौरव तथा पाण्डव सेना युद्ध में विनष्ट हो चुकी है। केवल कौरव-पक्ष में कुरुराज दुर्योधन बचा है। जिसके साथ पाण्डव भीम का गदायुद्ध होता है। प्रारम्भ में क्षत विक्षत वीरों वाली युद्धभूमि का सूत्रधार वर्णन करता है और दुर्योधन-भीम के गदायुद्ध का संकेत करता है। इसके अनन्तर पुनः युद्धभूमि और क्षत्रियों की विनाशावस्था का विस्तृत विवरण है। फिर दर्शक के सामने भीम एवं दुर्योधन के गदायुद्ध का दृश्य आता है।

युद्धभूमि में अत्यन्त कुपित पराक्रमी भीमसेन तथा गदायुद्ध में निष्णात दुर्योधन परस्पर गदाओं का प्रहार कर रहे हैं। पाण्डवों तथा कृष्ण के अतिरिक्त हलधर बलराम भी दर्शकों की कक्षा में हैं। दोनों की गदाओं से वज्रपात जैसी कठोर कर्कश ध्वनि हो रही है। दोनों युद्ध की पैंतरेबाजियाँ भी भली भाँति प्रदर्शित कर रहे हैं। गदाओं की चोट से दोनों के शरीर खून से लथपथ हो रहे हैं। सहसा दुर्योधन के गदाघात से भीम मूर्छित होकर पृथ्वी पर आ जाते हैं।

भीम के गिरते ही विदुरादि खिन्न हो जाते हैं। उधर शिष्य के नैपुण्य से बलरामजी प्रसन्न हो रहे हैं। इसी समय भीम प्रकृतस्थ होते हैं। कृष्ण उन्हें कुछ गुप्त संकेत बताते हैं। भीम इससे उछल पड़ते हैं, उनमें नई शक्ति का सञ्चार हो जाता है और पुनः गदायुद्ध प्रारम्भ होता है। इस बार मौका देखकर भीम गान्धारीनन्दन दुर्योधन की जंघा पर गदा मारते हैं। गदा-प्रहार से दुर्योधन की जांघें टूट जाती हैं और वह जमीन पर गिर पड़ता है, दुर्योधन को इस प्रकार गिरते देख बलरामजी कुपित हो उठते हैं और भीम को उनके भय से पाण्डव लोग घेरे में कर कृष्ण के साथ वहाँ से चल देते हैं। बलदेवजी क्रोध के मारे बोल उठते हैं—'मेरे रहते ही मेरी अवहेलना

कर भीम ने मर्यादा के विपरीत दुर्योधन की जांघ पर गदा-प्रहार कर उसे गिरा दिया। आज मैं अपने हल से भीम का वक्षस्थल चीर डालूँगा।' बलदेवजी की इन बातों को सुनकर दुर्योधन कहता है—'भगवन्! भीमसेन ने युद्ध-मर्यादा का ध्यान न कर गदा से मारकर मुझे गिरा दिया। मेरा शरीर जर्जर हो गया है। अब आप प्रसन्न होइये। पृथ्वी पर गिरा मेरा मस्तक आपके चरणों में प्रणाम कर रहा है। आप क्रोध छोड़िये जिससे कुरुकुल को जलाञ्जलि देने के लिये पाण्डव जीवित रहें। वैर, वैर की कथा और हम लोग तो अब नष्ट हो गये।'

बलराम ने कहा—'दुर्योधन! तुम क्षणमात्र तक जीवन को धारण करो जिससे मैं सबलवाहन पाण्डवों को मारकर तुम्हारी स्वर्गयात्रा में सहायक बना दूँ।'

दुर्योधन ने कहा—हलायुध! भीम की प्रतिज्ञा अब पूरी हो चुकी क्योंकि मेरे सौ भाई मारे गये तथा मेरी यह दशा हो गयी। अतः अब विग्रह से क्या लाभ?'

बलराम ने कहा—-दुर्योधन! मुझे इसी बात का क्षोभ है कि मेरे सामने तुम छल से मारे गये और वह छल भीम ने किया।' इस पर दुर्योधन ने कहा कि यदि आपको यह विश्वास हो कि मैं छल से मारा गया तो मुझे पूर्ण सन्तोष है। पर आपने जो यह कहा कि भीम ने छल से मुझे जीता वैसी बात नहीं। मुझे तो क्षीरसागरशायी, पारिजात वृक्ष के हरणकर्ता जगत्प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण ने भीम की गदा में प्रविष्ट होकर काल का ग्रास बनाया।

इसी बीच वहाँ परिचरों एवं अन्य सम्बन्धियों के साथ धृतराष्ट्र-गान्धारी आते हैं। वे दोनों दुर्योधन को ढूँढ़ रहे हैं। वे कह रहे हैं कि छल से गदायुद्ध में दुर्योधन का मारा गया सुनकर मेरी आँखें और अन्धी हो गयीं। साथ ही वे क्रूर काल को भी कोसते हैं जिसने सौ पुत्रों में से एक को भी नहीं छोड़ा। धृतराष्ट्र को अब कोई तिलांजलि देनेवाला न रहा। इस प्रकार प्रलाप करते हुए वे दुर्योधन के पास पहुँचते हैं। दुर्योधन से उनकी बातचीत होती है और वह उन्हें वीरोचित सान्त्वना देता है। वह अपनी स्त्रियों से कहता है कि 'वेदोक्त विविध यज्ञों से मैंने देवताओं को संतृप्त किया, बान्धवों

को उचित आश्रय दिया और मेरे सौ भाइयों ने शत्रुओं पर आधिपत्य रखा, आश्रितों को कभी मैंने निराश्रित नहीं बनाया, युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेनाओं के नृपति मेरे नियन्त्रण में रहे। अतः मेरे मान को देखकर तुम लोग शोक को छोड़ दो। ऐसे राजाओं की स्त्रियाँ नहीं रोतीं।' उसका दुर्जय के प्रति यह उपदेश भी कि 'तुम यह सोचकर दुःख छोड़ दो कि प्रशंसित श्रीवाला तथा अभिमानी दुर्योधन तुम्हारा पिता था। जलांजलि-दान के अवसर पर रेशमी वस्त्रों में ढँकी युधिष्ठिर की बायीं भुजा को छूकर मेरे नाम के अन्त में जल देना।'

इसी समय वहाँ गुरुपुत्र अश्वत्थामा का आगमन होता है। अश्वत्थामा अत्यन्त उत्तेजित है और वह दुर्योधन को ढूँढ़ रहा है। दुर्योधन से मिलते ही वह कह उठता है—'राजन्! गरुड़ की पीठ पर आरूढ़ तथा हाथ में शार्ङ्ग धनुष लिये हुए कृष्ण को मैं पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ मार डालूँगा।'

अश्वत्थामा की उत्तेजना-पूर्ण बातों को सुनकर भूमिशायी दुर्योधन अत्यन्त विनयान्वित तथा समयोचित बात कहता है—'गुरुपुत्र! सारा राजसमाज पृथ्वी की गोद में सो गया, कर्ण दिवङ्गत हो चुका, गांगेय भीष्म का शरीर-पात हो गया, मेरे सौ भाई संयुग में निहत हो गये तथा मेरी भी ऐसी दशा हो गयी अतः अब आप धनुष का त्याग कर दीजिये।'

अश्वत्थामा ने व्यंग से कहा—'राजन्! प्रतीत होता है भीम ने गदा का प्रहार तथा केश पकड़ कर आपकी जाँघों के साथ ही आपके दर्प को भी नष्ट कर दिया।'

अश्वत्थामा के व्यंग्य-बाणों के प्रहार से दुर्योधन उत्तेजित हो जाता है। वह बोल उठता है—'अश्वत्थामन्! बलपूर्वक मैंने भरी सभा में द्रौपदी के केश खींचे, अभिमन्यु को युद्ध में मरवाया तथा द्यूत में हराकर उन्हें वन्य पशुओं का सहचरी बनाया। इन अपमानों के सामने पाण्डव-कर्तृक मेरा अपमान छोटा ही है।'

दुर्योधन की बात सुनकर अश्वत्थामा ने कहा—'राजन्! मैं आपकी, अपनी तथा वीरलोक की शपथ खाकर कहता हूँ कि आज रात्रि-रण-रचना कर युद्ध में पाण्डवों को जला डालूँगा।'

अश्वत्थामा के कथन का दुर्योधन, बलदेव तथा धृतराष्ट्र अनुमोदन करते हैं। अश्वत्थामा पितृराज्य पर दुर्जय का अभिषेक करता है। दुर्योधन यह देखकर मृत व्यक्तियों का स्मरण करता हुआ महाप्रयाण करता है। धृतराष्ट्र बोल उठते हैं—'अब मैं मुनिजनों के धनभूत तपोवन को जा रहा हूँ। पुत्रों के नाश से विफल राज्य को धिक्कार है।' अश्वत्थामा कहता है—'मैं धनुष-बाण लेकर सौतिकगणों के वध के लिये जा रहा हूँ।'

अन्त में भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का नामकरण—इस नाटक का सारा कथासूत्र केवल एक ही बात पर केन्द्रित है और वह है भीम द्वारा गदायुद्ध में दुर्योधन का उरुभङ्ग। उरुभङ्ग से पूर्व के सारे संवाद और कथावृत्त इसी उरुभङ्ग के दृश्य की ओर आकर्षण कर रहे हैं। नाटक का चरम परिपाक भी इसी घटना से सम्बद्ध है जब कि भगवान् श्रीकृष्ण के संकेत से भीमसेन छलपूर्वक दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार करते हैं और उसे तोड़ डालते हैं। श्रीबलदेवजी का अमर्ष भी यहीं उभरता है। तदनन्तर की सारी घटनायें यथा धृतराष्ट्र का शोक-संवाद, अश्वत्थामा का आगमन, अमर्षपूर्ण उद्गार, दुर्योधन का उसे शान्त करना इत्यादि भी उरुभङ्ग से ही सम्बद्ध हैं। अतः नाटक का उरुभङ्ग नामकरण सार्थक तथा यथार्थ है।

चरित्राङ्कन—इस नाटक का नायक दुर्योधन है। उसके चरित्र-विन्यास में नाटककार ने पर्याप्त कौशल प्रदर्शित किया है। महाभारतीय दुर्योधन की न्याई वह शठ, दुर्विनीत तथा अहङ्कारी यहाँ नहीं प्रदर्शित किया गया है अपितु नाटककार ने उसके चरित्र को नितान्त उदात्त तथा प्राञ्जल रूप में प्रदर्शित किया है। वह शौर्य-पराक्रम का जीवन्त प्रतीक है। उसका शरीर नितान्त सुपुष्ट तथा बलिष्ठ है। अस्त्र-कौशल में वह निष्णात है और इस दृष्टि से वह अपने प्रतिद्वन्द्वी भीम से अधिक कुशल है। उसके सुप्रयुक्त प्रहार से भीम विचलित हो उठते हैं और मूर्च्छित होकर धराशायी हो जाते हैं। यदि श्रीकृष्ण-प्रेरित भीम अधर्म का आश्रय नहीं लेते तो यह स्पष्ट है कि जयश्री दुर्योधन को ही वरण करती। पर, भीम कैतव का आश्रयण कर

उसकी जांघों को तोड़ डालते हैं और कुरुकुल का महान् शासक दुर्योधन जिसने १८ अक्षौहिणी सेना को अपने संकेत पर नर्तन कराया भूलुण्ठित हो जाता है।

यहाँ तक तो दुर्योधन के शौर्य-पराक्रम वाले प्रश्न की बात रही। उसके भूशायी होने के बाद का चरित्र और भी प्रकृष्ट तथा प्रोज्ज्वल है। उसे अधर्म से मारा गया देख श्रीकृष्णाग्रज बलदेव, जो उसके गदायुद्ध के गुरु भी हैं अत्यन्त कुपित हो जाते हैं। वे पाण्डवों का विनाश करने पर उद्यत हो जाते हैं। उस समय उन्हें युद्ध से विरत करते हुए दुर्योधन अत्यन्त विनयपूर्ण तथा नीति भरी बात कहता है—विग्रह या तो इसलिये किया जाता है कि शत्रु का अभीष्ट पूरा न हो, या सम्बन्धियों को जय प्राप्त कर आनन्द मिले अथवा आत्मसुख ही मिले। पर भीम ने तो अपनी सारी प्रतिज्ञायें पूर्ण कर लीं। भाई-बन्धु भी युद्ध में काम आये और मेरी यह दयनीय स्थिति रही। अतः अब युद्ध से क्या सधेगा—

प्रतिज्ञावसिते भीमे गते भातृशते दिवम्।
मयि चैवं गते राम ! विग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

इसके बाद जब बलदेवजी कहते हैं कि तुम अधर्म वा छल में मेरे सामने मारे गये तो दुर्योधन कहता है कि यदि आप यह मानते हैं कि मैं छल से हराया गया तो हार कर भी मेरी जीत हुई है। यह वञ्चना वस्तुतः भीम ने न कर श्रीकृष्ण ने की है।

दुर्योधन का धृतराष्ट्र, दुर्जय तथा रानियों से संवाद भी उसके चरित्र की महनीयता एवं कमनीयता के परिचायक हैं, धृतराष्ट्र से वह वह अत्यन्त धैर्य तथा पराक्रमपूर्ण उत्तर देता है। इस दयनीय अवस्था में भी उसका चित्त जरा भी विचलित नहीं हुआ है। वह कहता है—'पिताजी ! जिस सम्मान से मैंने जन्म लिया था उसी सम्मान से जा रहा हूँ। मुझे जलती चिता की भी चिन्ता नहीं।' वह अपनी स्त्री मालवी से भी यही बात कहता है—'मालवि। गदाघात के मेरी भ्रुकुटी भिन्न हो गयी है, वक्षःस्थल भी रुधिराप्लुत हो गया है पर तू इसलिये मत रो कि तेरा पति युद्ध में मारा गया है, वह पराङ्मुख

होकर युद्ध से भागा नहीं है।' उसमें शौर्य तथा अभिमान की भावना अन्तिम समय तक स्थिर है। जब अश्वत्थामा कहता है कि प्रतीत होता है उरुभङ्ग के साथ भीम ने तुम्हारा मान-भङ्ग भी कर डाल तो वह बोल उठता है—मैंने भरी सभा में द्रौपदी के केश को खींचा। द्यूत में हराकर पाण्डवों को बनैला पशु बना दिया और पूरे समर में सबके सामने अभिमन्यु को मारा। फिर उस अवमानना के सामने मेरी यह पराजय तो तुच्छ है।' (श्लोक ६३) परन्तु अभिमान और दर्प के प्रतीक के साथ ही साथ दुर्योधन शम-विनय का भी जीवन्त लक्ष्य है। वह दुर्जय से कहता है—

श्लाघ्यश्रीरभिमानदीप्तहृदयो दुर्योधनो मे पिता
तुल्येनाभिमुखं रणे हत इति त्वं शोकमेवं त्यज।
स्पृष्ट्वा चैव युधिष्ठिरस्य विपुलं क्षौमापसव्यं भुजं
देयं पाण्डुसुतैस्त्वया मम समं नामावसाने जलम् ॥५३॥

संक्षेप में दुर्योधन स्वाभिमानी, पराक्रमी तथा अदीन पात्र है।

दुर्योधन के अतिरिक्त अश्वत्थामा तथा बलराम का व्यक्तित्व भी अपने में महत्वपूर्ण है। अश्वत्थामा का चरित्र एकाङ्गी प्रतीत होता है। उसमें शौर्य-पराक्रम प्रदीप्त हो रहा है। वैराग्नि उसके हृदय से शान्त नहीं हुई है। वह पाण्डवों के समूलोच्छेद के लिये कृतसंकल्प है। वह युद्धाग्नि में पाण्डवों की अन्तिम आहुति डालना चाहता है। वीरता के अतिरिक्त उसमें विनयहीनता भी लक्षित होती है। इसलिये जब दुर्योधन विग्रह की समाप्ति के लिये उससे कहता है तो वह उसे भी खरी-खोटी सुनाने से नहीं चूकता—

संयुगे पाण्डुपुत्रेण गदापातकचग्रहे
सममूरुद्वयेनाद्य दर्पोऽपि भवतो हृतः ॥ ६२ ॥

सबके अन्त में भी वह अपनी पाण्डवविनाश की बात से नहीं हटता और कहता है—

भवता चात्मना चैव वीरलोकैः शपाम्यहम्।
निशासमरमुत्पाद्य रणे धक्ष्यामि पाण्डवान् ॥ ६४ ॥

संक्षेप में वह क्रोधी, पराक्रमशील तथा दुराग्रही के रूप में दिखायी पड़ता है।

बलराम का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि वे भी अमर्षशील तथा क्रोधी दिखाये गये हैं पर, उनका क्रोध अधर्मयुद्ध देखकर उभरा है अतः यह न्याय्य कोटि में आ जाता है। उन्हें अपने शिष्य के विद्याकौशल पर अभिमान है। जब दुर्योधन को गदायुद्ध के आचार्य बलराम सामने ही भीमसेन छल से मार डालते हैं तो उनकी आँखें क्रोध से लाल हो जाती हैं, वे माला को समेटने लगते हैं तथा वस्त्र को कसने लगते हैं—

चलविलुलितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो
भ्रमरमुखविदिष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम्
असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी
क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः ॥ २६ ॥

क्रुद्ध बलराम जी उस समय बोल उठते हैं—भीम ने शत्रु-विनाशक मेरे हल का ख्याल नहीं किया, युद्ध में छल करते हुये उसने मेरा स्मरण नहीं रखा तथा दुर्योधन को छल से गिराते हुये उसने अपने कुल की विनय को भी ध्वस्त कर दिया—

मम रिपुबलकालं लाङ्गलं लङ्घयित्वा
रणकृतमतिसन्धिं मां च नावेक्ष्य दर्पात् ।
रणशिरसि गदां तां तेन दुर्योधनोर्वोः
कुलविनयसमृद्ध्य पातितः पातयित्वा ॥ २७ ॥

इस प्रकार बलराम धर्मयुद्ध के प्रेमी, वीर तथा उग्र स्वभाव के दर्शाये गये हैं।

धृतराष्ट्र और गांधारी का चरित्र विशेष विकास नहीं पा सका है और उसमें करुणा का प्राधान्य हैं।

समीक्षण—संस्कृत-नाटक-साहित्य में उरुभङ्ग अपना विशिष्ट स्थान रखता है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में दुखान्त नाटकों का निषेध किया गया है। पर, यह नाटक इस निषेध के विपरीट दुःखान्त है। दुर्योधन की मृत्यु रङ्गमञ्च पर ही होती है। युद्धादि की संघटना भी जो कि शास्त्रीय दृष्टि से निषिद्ध है रङ्गमञ्च पर की गई है। इससे यह स्पष्ट अवभासित होता है कि इस नाटक का प्रणयन इन परम्पराओं के प्रचलन से ऊर्ध्वतर काल में हो चुका

था। दुर्योधन के दुर्जय नामक पुत्र की अवतारणा भी नाटककार की अपनी विशेषता है। इस पात्र की कल्पना स्वयं भास ने की है, महाभारतकार को इसका पता नहीं। इसी प्रकार इस नाटक में अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण नवीन तथ्यों को नाटककार ने संघटित किया है जिनका महाभारत में अभाव है।

उरुभंग एक अत्यन्त प्रशस्त रूपक है। भरत-नाट्यशास्त्र के निर्देशों के विपरीत भी होने पर इसके महत्त्व में जरा भी अन्तर नहीं आता। नाटकीय कौशल की दृष्टि से यह नाटक श्लाघ्य है। कथनोपकथनों में स्वाभाविकता का साम्राज्य विराजमान है। समय और पात्र के अनुकूल ही वार्तालापों की संघटना की गई है। दुर्योधन के उरुभंग हो जाने पर बलदेव जी की चेष्टाओं तथा कथनों में पर्याप्त स्वाभाविकता है। साथ-साथ उनके स्वभाव की भी स्पष्ट झलक मिल जाती है। निम्न पद्य में अमर्ष तथा वीररस का अद्भुत परिपाक हुआ है—

सौभोच्छिष्टमुखं महासुरपुरप्राकारकूटाङ्कुशं
कालिन्दी जलदेशिकं रिपुबलप्राणोपहारार्चितम्।
हस्तोत्क्षिप्तहलं करोमि रुधिरस्वेदार्द्रपङ्कोत्तरं
भीमस्योरसि यावदद्य विपुले केदारमार्गाकुलम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार दुर्योधन के उत्तर भी नितान्त मर्यादित तथा शौर्यान्वित हैं। चरित्रांकन में नाटककार ने विशेष सावधानी बरती है। अपने चरितनायक को वह निम्न भावभूमि में अधिष्ठित करना नहीं चाहता इसीलिए महाभारतीय कथा में परिवर्तन कर वह उसे उदात्त तथा प्रतिष्ठित भूमि पर प्रतिष्ठापित करता है। अश्वत्थामा में कुछ औद्धत्य अवश्य है, पर नाटक में उसका व्यक्तित्व विशेष निखर नहीं सका है। यही कारण है कि वह दर्शकों पर अपना कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ता।

रस की दृष्टि से भी नाटककार को पर्याप्त साफल्य मिला है। नाटक में करुण तथा वीररस परस्पर अनुस्यूत हैं। यदि गदायुद्ध, बलदेव के कथन तथा अश्वत्थामा के उद्गारों में वीररस की स्थिति है तो धृतराष्ट्र और गान्धारी के कथनों, दुर्जय के वार्तालाप तथा दुर्योधन की मृत्यु में करुण की भी सत्ता स्पष्ट है। इन दोनों रसों के चित्रण में लेखक को पर्याप्त सहायता मिली है।

७—अभिषेक नाटक

अभिषेक नाटक भास के उन दो नाटकों में से है जो रामकथा पर आधृत हैं। अन्य रामकथा पर आश्रित नाटक है प्रतिमा। नाटक का आरम्भ किष्किन्धा प्रदेश में होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी सीता का हरण हो गया है और बालि ने अपने अनुज सुग्रीव को राज्य से निर्वासित कर उसकी पत्नी तथा धन का हरण कर लिया है। दोनों में मैत्री स्थापित हुई है और बालि को मारने की श्रीराम ने प्रतिज्ञा की है। राम ने सात सालवृक्षों को एक ही बाण से गिराकर धराशायी कर दिया। उनके इस पराक्रम से सुग्रीव को यह निश्चय हो गया कि इनके द्वारा बालि का वध हो जायगा। राम, लक्ष्मण तथा हनूमान के साथ सुग्रीव किष्किन्धा में जाकर बालि का युद्ध के लिये आह्वान करता है। परोत्कर्षासहिष्णु बानरराज बालि उस उत्तेजक आह्वान को सुनकर युद्ध के लिये निकलना ही चाहता है कि उसकी पत्नी तारा उसे रोक लेती है और नाना प्रकार से उसे समझाने का प्रयत्न करती है। बालि उसके कहे को नहीं मानता और उसे ढाढस बँधा कर युद्ध करने चला जाता है। बालि और सुग्रीव परस्पर युद्ध करने लगते हैं और श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण तथा हनूमान् के साथ युद्ध को देखते हैं। युद्ध में बालि को सबल पड़ता देख हनूमान् जी श्रीराम को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर सुग्रीव की दयनीय अवस्था को बताते हैं। श्रीराम बाण छोड़ते हैं और उससे विद्ध होकर बालि धराशायी हो जाता है। बालि को कुछ समय तो मूर्च्छा रहती है। सचेत होने पर वह राम के बाण को देखता है और उस पर श्रीराम का नाम खुदा हुआ पाता है। सामने राम को देख कर वह कहता है—'हे राम! आप राजधर्म पर आरूढ़ हैं तथा धर्म के स्वरूप को भी आप निश्चित रूप से जानते हैं। आप वीर हैं तथा छल-प्रपञ्च को दूर करने वाले हैं। तो फिर क्या मुझे इस तरह से अन्याय से मारना आपके लिये उचित था? आपने यशस्वी तथा वीर होकर भी मुझे छल से मारा और अपकीर्ति के पात्र बने।'

राम कहते हैं, 'बालि! तू अगम्या-गमन के कारण दोषी है। तू ने धर्माधर्म का विवेक होने पर भी भ्रातृनारी का अभिमर्षण किया है। अतः तुम वध्य हो।'

बालि कहता है कि तब तो सुग्रीव ने भी भ्रातृदाराभिमर्षण किया है अतः वह वध्य क्यों नहीं हुआ ? राम यह कह कर उसे निरुत्तर कर देते हैं कि ज्येष्ठ भाई की स्त्री का अभिमर्षण कहीं-कहीं होता है।

इसी समय स्त्रियाँ तथा कुमार अङ्गद भी वहाँ पहुँचते हैं। अङ्गद को बालि राम तथा सुग्रीव के हाथों सौंप देता है। बालि इसके बाद प्राणों का त्याग कर देता है। राम सुग्रीव का अभिषेक करने के लिये लक्ष्मण को आज्ञा देते हैं।

द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में यह पता चलता है कि सभी दिशाओं में सीतान्वेषण के लिये प्रेषित बन्दर तो लौट आये पर, दक्षिण दिशा से अभी नहीं आये। यह भी पता चलता है कि जटायु से सीता का समाचार सुनकर हनूमान् ने समुद्र को पार कर लिया है। इसके बाद लङ्का का दृश्य प्रारम्भ होता है। सीता राक्षसियों से घिरी हुई हैं और वे विलाप कर रही हैं। हनूमान् भी इसी समय सामने आते हैं। चारों तरफ ढूँढ़ने के बाद राक्षसियों से घिरी सीता को देखते हैं। अशोकवृक्ष के कोटर में बैठ कर वे वहाँ का वृत्तान्त देखते हैं। रावण नाना प्रकार से सीता को समझाता है और अपनी प्रणयिनी बनाने का प्रयास करता है पर सीता उसे अस्वीकार कर देती हैं। इसी समय स्नानवेला होने से रावण चला जाता है। हनूमान् जी अच्छा अवसर जान कर उसी समय सीता जी से राम का समाचार बताते हैं और उनकी वियोगजन्या अवस्था का वर्णन करते हैं। पहले तो सीता जी को प्रत्यय नहीं होता, पर राम का सुग्रीव के साथ सख्य-वृत्तान्त सुनकर विश्वस्त हो जाती हैं। हनूमान् जी राम को लाने का विश्वास देकर सीता जी से अनुमति लेकर चल देते हैं। पर, बीच में सोचते हैं कि रावण को अपने आगमन की सूचना देने के लिये त्रिकूट उपवन को उजाड़ना चाहिये।

तृतीय अङ्क में हनूमान् के उपवन-विध्वंस का वृत्तान्त शंकुकर्ण नामक परिचर रावण से कहलवाता है। रावण तुरन्त उस वानर को बाँधकर लाने की आज्ञा देता है। पर शंकुकर्ण लौट कर बताता है कि ज्योंही पाँच सेनापति उस बानर को पकड़ने के लिये गये उसने पाँचों को मार डाला और उसने आगे बढ़ रहे कुमार अक्ष को भी मुठ्ठी से मार डाला। रावण यह सुनकर स्वयं पकड़ने चलने लगता है, पर शंकुकर्ण कहता है कि इन्द्रजित् उसे पकड़ने चले

गये हैं अतः आपके जाने की आवश्यकता नहीं। फिर रावण से यह बताय जाता है कि इन्द्रजित् ने युद्ध में उस बन्दर को बाँध लिया। इसी समय रावण विभीषण को बुलाता है। हनूमान् को लेकर राक्षस भी आ जाते हैं। हनूमान अपने को राघवेन्द्र श्रीरामचन्द्र का दूत बताते हैं। वे राम का अनुशासन सुनाते हुये कहते हैं कि चाहे शङ्कर की शरण में जाओ या गिरिकन्दरा मे प्रविष्ट हो जाओ पर राम के बाण तुम्हें यमालय अवश्य भेज देंगे। हनूमान की बात का विभीषण भी समर्थन करते हैं और श्रीराम-पत्नी सीताको लौट देने के लिये रावण से प्रार्थना करते हैं। रावण इस पर रुष्ट हो जाता है तथा विभीषण और श्रीराम दोनों को खरी-खोटी सुनाता है। उत्तर में हनूमान् जी रावण का कटु वचनों से सत्कार करते हैं। रावण उन्हें निकलवा कर बाहर भेज देता है। विभीषण पुनः उसे सीता देने तथा राक्षसकुल की रक्षा का उपदेश देता है। रावण रुष्ट होकर उसे भी निकाल देता है और विभीषण राम की शरण में जाने के लिये चल देता है।

चतुर्थ अङ्क राम के शिविर में आरम्भ होता है। हनूमान् से सीता का सन्देश पाकर सन्नद्ध वानवाहिनी समुद्र के तट पर आकर खड़ी हो गयी है। आगे जाने का अब कोई मार्ग नहीं इसी समय आकाश से विभीषण उतरते दिखायी पड़ते हैं। उसे देखकर सब बानर चौंक जाते हैं और सावधानी से प्रतीक्षा करने लगते हैं। इसी समय विभीषण नीचे आता है और हनूमान उसे पहचान लेते हैं। वे श्रीरामचन्द्र से जाकर इसके आने का समाचार देते हैं और कहते हैं कि आपके ही लिये यह निकाला गया है।

विभीषण को सत्कार के साथ राम आश्रय देते हैं। ससुद्र पार होने के लिये मंत्रणा होती है और विभीषण कहता है कि यदि समुद्र मार्ग नहीं देता तो इस पर दिव्यास्त्रों का प्रयोग कीजिये। राम ज्यों ही शरसन्धान के लिये उद्यत होते हैं त्यों ही भीत वरुण वहाँ प्रकट होते हैं और समुद्र के बीच से मार्ग देते हैं। समुद्र का जल बीच में सूख जाता है और सारी सेना पार हो जाती है। सेना का शिविर सुवेल पर्वत पर बनता है।

सेना की गिनती होने पर दो बन्दर अधिक मिलते हैं। वे राम के सामने लाये जाते हैं। वे अपने को कुमुद का सेवक कहते हैं। पर विभीषण उन्हें

पहचान लेता है और बताता है कि ये शक और सारण राक्षस हैं। राम उनके द्वारा रावण को यह सन्देश देकर विदा करते हैं कि मैं युद्ध का अतिथि बनकर आ गया हूँ।

पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में काञ्चुकीय के द्वारा यह पता चलता है कि युद्ध प्रारम्भ हो गया है और कुम्भकर्ण आदि प्रमुख वीर युद्ध में मारे जा चुके हैं। इन्द्रजित् लड़ने के लिये निकल चुका है। रावण के निदेश से विद्युज्जिह्व नामक राक्षस राम तथा लक्ष्मण के शिर की प्रतिकृति लाता है। राक्षसीगणों से परिवृता सीता के पास रावण जाता है और कहता है कि 'राम लक्ष्मण मेरे द्वारा युद्ध में आज मारे जायँगे तू मेरा वरण कर।' सीता उसका तिरस्कार करती हैं। इसी समय राक्षस आकर राम-लक्ष्मण के शिर की प्रतिकृति लाकर प्रस्तुत करता है। सीता उसे देखकर विलाप करने लगती हैं। इसी अवसर पर एक राक्षस आकर निवेदन करता है कि उन तापसों ने इन्द्रजित् को मार डाला। इस महान् अप्रिय समाचार को सुनकर रावण मूर्च्छित हो जाता है और सचेत होने पर विलाप करने लगता है। वह क्रुद्ध होकर सीता को ही मारने के लिये उद्यत होता है पर राक्षस जो उपस्थित है उसको स्त्री-वध से रोकता है। रावण युद्ध के लिये चल देता है।

षष्ठ अङ्क में राम-रावण के युद्ध का दृश्य है। तीन विद्याधर उस युद्ध को देखते हुये उसका वर्णन कर रहे हैं। राम-रावण के भयानक युद्ध में दोनों वीर लड़ रहे हैं। राम के लिये इन्द्र-सारथि मातलि दिव्य रथ लाता है जिस पर चढ़कर वे रावण को मार डालते हैं। विभीषण राज्य का अधिकारी होता है। सीता रामके समीप आती हैं। पर, राम उन्हें राक्षसों के स्पर्श से सकल्मषा समझ कर दूर रखते हैं। अपने पातिव्रत्य के परीक्षण के लिये सीता अग्नि में प्रवेश करती हैं। वे अग्नि में प्रविष्ट होकर और दीप्तिमती हो जाती हैं और अग्निदेव उन्हें लेकर बाहर आते हैं और सीता को निष्पाप बताते हैं। नेपथ्य में दिव्य गन्धर्व भगवान् श्रीराम को साक्षात् नारायण कहकर स्तुति करते हैं। समस्त देवता, देवर्षि और ऋषिगण भगवान् राम का अभिषेक करते हैं। भरत, शत्रुघ्न और प्रजाजन भी उपस्थित होते हैं। अभिषेक के अवसर पर

दशरथ जी भी वहाँ उपस्थित रहते हैं। भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का शीर्षक—इस रूपक का शीर्षक अभिषेक नाटक बड़ा सटीक है। इस नाटक में दो अभिषेक हैं। एक तो सुग्रीव का और दूसरा श्रीरामचन्द्र का। इस नाटक की अन्तिम परिणति राम के राज्याभिषेक में होती है जो कि इस नाटक का फल भी है अतः उसी के आधार पर इस नाटक का नामकरण हुआ है।

नाटक का आधार—अभिषेक नाटक का आधार किष्किन्धाकाण्ड से प्रारम्भ कर लङ्का काण्ड के उत्तरार्ध तक की कथा है। कथा बहुचर्चित तथा सुपरिचित है। कथानक को सजाने-सँवारने में नाटककार ने पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है। बालि-वध को न्याय्य रूप देने का भी नाटककार ने पर्याप्त प्रयास किया है। दो स्थानों पर कवि ने अपनी नवीन सूझ उड़ायी है। पहला तो है समुद्र का मार्ग देना। प्रचलित कथाओं के अनुसार श्रीराम ने नल-नील की सहायता से समुद्र पर सेतु बाँधा जिससे बानर-सेना पार हुई। पर, इस नाटक में भीत वरुणदेव ने समुद्र के जल को बीच से सुखाकर मार्ग दे दिया है। जटायु और राम का मिलन भी प्रचलन के अनुसार सुग्रीव के साथ सख्य से पूर्व ही हो चुका था पर इस नाटक में संकेत किया गया है कि जटायु से समाचार जानकर हनूमान् जी ने समुद्र पार किया। हो सकता है इनका अन्यत्र कहीं आधार नाटककार को मिला हो।

चरित्राङ्कन—इस नाटक के नायक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र हैं। जैसा कि विद्याधरों, अग्निदेव, वरुणदेव आदि के कथनों से पता चलता है वे साक्षात् विष्णु के अवतार हैं तथा सृष्टि की सर्जना, पालन और विसृष्टि के कर्ता हैं। पृथ्वी पर धर्म की संस्थापना ही उनका उद्देश्य है। इसीलिये वे बालि का वध करते हैं। लोकोपदेश उनके चरित्र का प्रधान भाग है। सीता को निष्कलंक जानने पर भी वे तब तक उन्हें अङ्गीकार नहीं करते जब तक अग्नि में उनकी परीक्षा नहीं हो जाती। अभीरुता उनके प्रत्येक शब्दों से द्योतित होती है। जब विभीषण शरणागत होकर आता है तो सुग्रीव उसपर नियंत्रण रखने की इच्छा प्रकट करते हैं क्योंकि निशाचरी माया से सदैव

सतर्क रहना चाहिये। पर, श्रीरामचन्द्र उनके इस प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं करते। यही अवस्था शुक-सारण नाम वाले राक्षसों के पकड़े जाने पर होती है। वे वानर-वेश बनाकर राम के सैन्य-सञ्चार की गतिविधि का पता लगाने आते हैं और वानरों की गणना के समय पकड़ जाते हैं। लोगों की इच्छा उन्हें दण्ड देने की है पर, श्रीराम उन्हें छुड़ा देते हैं। वे सोचते हैं कि इन नगण्य जीवों को मारकर मेरी न तो कोई उन्नति होगी और न रावण की हानि अतः इन्हें मारना व्यर्थ ही है। वे यह भी उनसे कहते हैं कि मैंने स्वयं यह युद्ध नहीं ठाना है बल्कि रावण ने मेरी स्त्री का हरण कर मुझे युद्ध का निमन्त्रण दिया है।

लक्ष्मण का चरित्र इस नाटक में विशेष प्रस्फुटित नहीं हो सका है। वे श्रीराम के एक आज्ञाकारी सेवक तथा विनीत भक्त के रूपमें सामने आते हैं। जैसा राम का निदेश होता है वैसा सद्यः निष्पन्न कर देते हैं। राम द्वारा सीता के परीक्षण का प्रस्ताव किये जाने पर वैसा करना उन्हें उचित नहीं लगता। पर, आज्ञा का वे पालन करते हैं। अपनी असमर्थता को व्यक्त करते हुये वे कहते हैं—

'निष्फलो मम तर्कः। अथवा वयमार्यस्याभिप्रायमनुवर्तितारः। गच्छामस्तावत्।'—अङ्क ६।

सुग्रीव का चरित्र इस नाटक में प्रारम्भ से लेकर अब तक किसी न किसी रूप में वर्तमान रहता है। बालि से संत्रस्त होकर वे राम की शरण में जाते हैं और बालि-वध होने पर किष्किन्धा के अधिपति होते हैं। राज्य-प्राप्ति के अनन्तर वह सच्चे मित्र की भाँति राम के कार्य को सम्पादित कराने में सहयोग देते हैं। इस रूप में वे एक कृतज्ञ मित्र हैं। सुग्रीव में राजनीतिक पटुता पर्याप्तरूपेण विद्यमान है। जब राम विभीषण को शरण देते हैं तो सुग्रीव पर्याप्त सशंकित दिखायी पड़ता है। शत्रु के भाई का विश्वास क्या? पर, यहाँ तो स्थिति ही दूसरी है। राम के सामने छल-कपट कैसे चल सकता है। उनके चरित्र का कोई विशेष महत्त्व नहीं प्रदर्शित किया गया है।

हनूमान् जी का चरित्र एक महान् पराक्रमी योद्धा, स्वामिकार्यसम्पादन में निपुण भक्त तथा अतुलित साहसी के रूप में प्रकट होता है। सुग्रीव और राम

की मित्रता वे ही सम्पन्न कराते हैं तथा बालि-वध के लिये भी श्रीराम को वे ही प्रेरित करते हैं। समुद्र पार कर सीता का अन्वेषण करते हैं तथा राम का परिचय देने के निमित्त रावण के उपवन को ध्वस्त करते हैं। वहाँ अपनी निर्भीकता का पूर्ण परिचय देते हैं। राक्षसों के बीच उनके बल का अतिक्रमण कर उन्हें संत्रस्त करना साधारण बूते की बात नहीं।

जब विभीषण शरणागत होता है तो बानर उसके प्रति सशङ्क दृष्टिगत होते हैं। उस समय हनूमान् जी उन्हें शान्त करते हैं और कहते हैं—'देवे यथा वयं भक्तास्तथा मन्ये विभीषणम्।' संक्षेप में उनका चरित्र नितान्त उदात्त है।

विभीषण न्यायप्रिय भगवद्भक्त के रूप में अङ्कित किया गया है। दूसरे की स्त्री का हरण नितान्त अनुचित तथा अधर्मसम्मत है। इसीलिये वह अपने बड़े भाई रावण से विवाद करता है और परिणामस्वरूप देशनिकाला होता है। वह महान् अनुभवी तथा कुशल उपदेष्टा के रूप में आता है। आते ही वह श्रीरामसे कहता है कि यदि समुद्र मार्ग नहीं देता तो दिव्यास्त्रों के प्रयोग से इसे सन्त्रस्त कीजिये। राम वैसा ही करते हैं और उन्हें मार्ग मिल जाता है। शुक-सारण राक्षसों को भी विभीषण ही पहचानता है। राम की लङ्का-विजय का वह एक प्रमुख सहायक है।

रावण क्रूर, दुराचारी तथा परस्त्री-लंपट के रूप में चित्रित किया गया है। न्याय्य मार्ग का उल्लंघन कर वह श्रीरामचन्द्र जी की धर्मपत्नी सीताजी को हर लाया है। वह बड़ी ही क्रोधी प्रकृति का है और हितोपदेशी विभीषण को राज्य से बाहर निकाल देता है। इसी प्रकार एक बार वह सीता को मारने के लिये भी उद्यत हो जाता है और बहुत समझाने पर मानता है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये वह उचित-अनुचित कुछ भी कर सकता है। सीता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये वह राम-लक्ष्मण की मायामय आकृति तैयार कराता है और उन्हें मारा गया दिखाता है। इतने अवगुणों तथा क्रूर राक्षसी स्वभाव होने पर भी उसे अपने बाहुबल पर अटूट विश्वास और इसी विश्वास के बल पर अन्तिम समय तक युद्ध कर वीरगति को प्राप्त होता है।

समीक्षण

अभिषेक नाटक के प्रणयन में भास ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

यद्यपि काव्य तथा नाटकीयता की दृष्टि से यह नाटक प्रतिमा नाटक की अपेक्षा अवर कोटि का है तथापि इस नाटक की अपनी विशेषतायें हैं। राम-रावण युद्ध अपनी विशिष्टता में बेजोड़ है। रावण की चारों तरफ से पराजय होती है। सीता को मायामय राम-लक्ष्मण की प्रतिकृति दिखा कर वश में करना चाहता है पर इसमें उसे सफलता नहीं मिलती। दूसरे ठीक इसी समय उसे मेघनाद के वध का दुःखद समाचार मिलता है और अन्ततोगत्वा वह स्वयं युद्ध में पराजित होता है। इस प्रकार नाटककार ने रावण-वध की एक पीठिका प्रस्तुत की है जिस पर अन्तिम बार रावण की समाप्ति होती है।

पात्रों का कथनोपकथन भी प्रभावुक बन पड़ा है। छोटे-छोटे तथा सरल वाक्यों का विन्यास भास की अपनी विशेषता है और उस विशेषता का दर्शन यहाँ भी होता है। कथोपकथनों से सारा दृश्य प्रस्तुत हो जाता है और दर्शकों को उसे हृदयङ्गम करने में कठिनाई नहीं रहती। कथनोपकथनों में कहीं-कहीं भास ने ऐसी विचित्रता उत्पन्न कर दी है कि दर्शक उन्हें सुनकर दंग रह जाते हैं। उदाहरणार्थ जब रावण सीता से कहता है कि—

व्यक्तमिन्द्रजिता युद्धे हते तस्मिन् नराधमे।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा केन त्वं मोक्षयिष्यसे॥ अङ्क ५, १०॥

ठीक उसी समय नेपथ्य से ध्वनि आती है—'रामेण-रामेण।' और यह भी पता चलता है कि इन्द्रजित युद्ध में मारा गया। दर्शकों की वृत्ति एक दूसरी ओर इस कौशल से मोड़ दी गयी है कि जिसकी कोई सम्भावना तक नहीं थी।

वैसे इस नाटक का प्रधान रस तो वीर ही है जो समग्र नाटक में व्याप्त है पर करुण रस भी यत्र-तत्र अनुस्यूत है। इसकी सत्ता बालिवध के अनन्तर, सीता के सन्ताप आदि में देखी जा सकती है। शृंगार का इसमें अभाव है और उसके लिये कहीं अवसर भी नहीं आया है।

वस्तुतः इस नाटक के माध्यम से नाटककार रामकथा को दर्शाना चाहता था अतः काव्यकौशल का प्रस्फुटन सम्यक्रूपेण नहीं हो सका है। नाटकीयता की दृष्टि से इसमें कोई कोर-कसर नहीं है।

८—बाल-चरित

यह नाटक भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीलाओं पर आधृत है। पुराणों में

यह प्रसङ्ग बहुचर्चित है। विशेषतः श्रीमद्भगवत महापुराण का तो यही सार है। यह नाटक पाँच अंकों में विभक्त है। प्रथम अंक में भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म वर्णित है। देवर्षिगण आकाश में स्थित होकर भगवान् के जन्मधारण के समय कोलाहल करते हैं। नारद जी भी उपस्थित हैं। भगवान् जन्म लेते हैं। अर्धरात्रि का सुनसान समय है। सारे प्राणी निद्रित हो चुके हैं। वसुदेव उस अद्भुत बालक को लेकर मथुरा से बाहर निकलते हैं। सघन अंधकार में कहीं मार्ग नहीं सूझता। उस बालक को लेकर वे यमुना के किनारे पहुँचते हैं। यमुना नदी जल से पूर्णतः भरी हैं। कहीं नाव-बेड़े का भी प्रबन्ध नहीं है। अन्ततोगत्वा वसुदेव तैर कर ही नदी को पार करना चाहते हैं। इसी समय एक आश्चर्यजनक घटना घटित होती है। यमुना का जल दो भागों में विभक्त हो जाता है, बीच में मार्ग बन जाता है। वसुदेव उसी मार्ग से यमुना को पार करते हैं। नदी पार कर वे कहाँ जायँ यह सोचते हैं। सोचते-सोचते उन्हें नन्द गोप का स्मरण आता है जिसका उन्होंने एक बार उपकार किया था। कंस ने नन्द को बाँध कर कोड़े लगाने की सजा दी थी। वसुदेव ने उसे बाँधा तो सही पर कोड़े नहीं लगाये। पर, इस सघन रात्रि में वहाँ जाना भी ठीक नहीं, अतः वे न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं। प्रभात वेला में नन्द के यहाँ जाने का निश्चय करते हैं।

दैव की लीला ही कुछ विचित्र है। इसी रात नन्दगोप की स्त्री यशोदा ने एक कन्या उत्पन्न किया। प्रसव-वेदना से वे मूर्च्छित हो गयीं। उन्हें पता भी नहीं कि पुत्री उत्पन्न हुई या पुत्र। कन्या भी उत्पन्न होते ही मर गयी। उसी को लेकर वे यमुना में विसर्जित करने आते हैं। वे तर्क-वितर्क और सन्ताप कर रहे हैं जिसे सुनकर वसुदेव उन्हें पहचान लेते हैं। वसुदेव उन्हें पुकारते हैं। पहले तो नन्द भूत आदि की आशंका कर नहीं आते पर बाद में वसुदेव को पहचान कर आते हैं। वसुदेव उन्हें अपनी रामकहानी सुनाकर बालक को ले जाने का प्रस्ताव करते हैं। कंस के भय से नन्द उस बालक को ले जाने के लिये उद्यत नहीं होते पर जब वसुदेव अपने उपकार का स्मरण दिलाते हैं तो नन्द बालक को ले जाते हैं। वसुदेव भी उस कन्या को लेकर मथुरा लौटते हैं। लौटते समय उस कन्या में प्राण का सञ्चार होता है। विष्णु के आयुध

तथा गरुड़ भी बालगोपों का वेश रखकर उनकी सहायता के लिए अवतीर्ण होते हैं। यमुना का जल उसी प्रकार दो भागों में विभक्त है। वसुदेव नदी पार कर मथुरा में आते हैं। सभी लोग पूर्ववत् सोये हैं। वे अपने घर में चले जाते हैं।

द्वितीय अङ्क कंस के राजमहल से प्रारम्भ होता है। उसे चाण्डाल युवतियाँ दिखायी पड़ती हैं जो उसके साथ परिहास करती हैं। कंस उन्हें खदेड़ता है कि मधूक ऋषि का शाप अलक्ष्मी, खलति, कालरात्रि, महानिद्रा और पिङ्गलाक्षि के साथ प्रवेश करता है। कंस कहता है कि तुम हमारे यहाँ नहीं आ सकते। कंस की राजलक्ष्मी भी उन्हें रोकती हैं पर, विष्णु की आज्ञा समझ स्वयं ही चली जाती हैं और सपरिचर शाप कंस के शरीर में प्रविष्ट होता है। कंस ज्योतिषियों तथा पुरोहित से पूछता है कि रात में भूमिकम्प, उल्कापात, आँधी तथा देवमूर्तियों के जो दर्शन हुए हैं उनका क्या फल होनेवाला है। ज्योतिषी बताते हैं कि कोई दैवी प्राणी लोकोपकार के लिये भूतल पर अवतरित हुआ है। राजा कञ्चुकीय को पता लगाने के लिये भेजता है कि आज रात को किस व्यक्ति के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ है। कञ्चुकीय पता लगाकर बताता है कि देवकी को कन्या हुई है। पहले तो कंस को यह विश्वास नहीं होता कि कन्या हुई है पर कञ्चुकीय के शपथ लेने पर उसे विश्वास हो जाता है।

कंस वसुदेव को बुलाता है। वसुदेव तर्क-वितर्क करते हुए आते हैं और कंस से कहते हैं कि देवकी को कन्या हुई है। कंस उस कन्या को मँगाता है। धात्री उस कन्या को लेकर आती है और कंस उसे कंसशिला पर पटक देता है। उसका एक भाग तो जमीन पर गिरता है पर एक तेजोमय अंश आकाश में उड़ जाता है और त्रिशूल लेकर कात्यायनी के रूप में दिखायी पड़ता है। कात्यायनी के साथ कुण्डोदर, शूल, नील तथा मनोजव नामक उसके परिवार के सदस्य भी हैं। भगवती कात्यायनी कंस का नाश करने को कहती हैं। यही बात कुण्डोदर, शूल, नील तथा मनोजव भी कहते हैं।

तृतीय अङ्क में गोपालगण गौओं को चराते हुए श्रीकृष्ण की पराक्रम-गाथा गा रहे हैं। नन्दगोप के यहाँ बालक का जन्म होने से गोधन में महान् वृद्धि हुई है। उस बालक की अपूर्व पराक्रमशालिता से सभी लोग आश्चर्या-

न्वित हो गये हैं। उसने बचपन में ही पूतना, शकट, धेनुक, केशी आदि दानवों का वध कर डाला तथा यमलार्जुन को गिरा दिया। संकर्षण बलदेव ने प्रलम्ब नामक असुर का वध कर दिया। गोपालों तथा गोपकन्याओं के साथ श्रीकृष्ण हल्लीसक नृत्य करते हैं। इसी समय अरिष्टवृषभ नामक दानव वहाँ आता है और गौओं को सन्ताप देना शुरू करता है। कृष्ण गोप-गोपिकाओं को अलग हटाकर उस दानव से भिड़ जाते हैं तथा उसका वध कर डालते हैं। अरिष्टवृषभ के मारे जाने पर बलरामजी ने देखा कि कालियनाग कालियह्रद से ऊपर उठ आया है। वे उसका दर्प-प्रशमन करने के लिये उधर दौड़ते हैं। जब श्रीकृष्ण को यह समाचार विदित होता है तो वे भी उधर चल देते हैं।

चतुर्थ अंक में भगवान् श्रीकृष्ण कालियह्रद में प्रवेश करना चाहते हैं, और गोपिकायें उन्हें जलाशय में प्रवेश न करने का अनुरोध करती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सभी को सान्त्वना देकर ह्रद में प्रविष्ट हो जाते हैं। बलरामजी सभी को शान्त करते हैं। कालिय और श्रीकृष्ण में वाग्युद्ध होता है तथा भगवान् उसके फणों पर आरूढ़ हो जाते हैं। कालिय उन्हें भयंकर विषज्वाल से भस्मशात् करने की कोशिश करता है पर असफल रहता है और भगवान् उसका दमन कर डालते हैं। कालिय भगवान् का शरणागत होता है और कहता है कि आपके वाहन गरुड़ के भय से ही मैं यहाँ आया हूँ। भगवान् कहते हैं कि 'तेरे फण पर मैंने अपने चरणों का चिह्न बना दिया है अब तुझे गरुड़ सन्ताप नहीं देंगे। कालिय सपरिजन ह्रद से निकल कर चला जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी गोप-गोपियों से आकर मिलते हैं। इसी समय कंस के यहाँ से भट आता है और श्रीकृष्ण से कहता है कि मथुरा में 'धनुर्यज्ञ' हो रहा है जिसमें कंस ने आप लोगों को सपरिजन बुलाया है। भगवान् श्रीकृष्ण कंस को मारने की दृष्टि से सद्यः उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं।

पञ्चम अङ्क में कंस कृष्ण-बलराम को पहलवानों से मरवाने की बात सोचता है। इसी समय ध्रुवसेन नामक भट आकर कहता है कि दामोदर तथा बलराम ने नगर में प्रविष्ट होते ही धोबी से वस्त्र छीन लिये तथा कुवलयापीड हाथी को मार डाला। दामोदर मदनिका नामक कुब्जा को देखकर जो कि

सुगन्धित द्रव्य लेकर राजप्रासाद में आ रही थी उसके हाथ से सुगन्धित द्रव्य लेकर अपने अङ्ग में लगा लिया तथा कुब्जा के कुबड़ेपन को ठीक कर दिया। उसने धनुःशाला के रक्षक को मारकर धनुष के दो खण्ड कर डाले। राजा चाणूर और मुष्टिक को उन गोप बालों के साथ युद्ध करने की आज्ञा देता और स्वतः भवन पर चढ़कर युद्ध देखने को प्रस्तुत होता है। युद्ध-पटह बजता है और कृष्ण के साथ चाणूर का तथा बलराम के साथ मुष्टिक का मल्लयुद्ध होता है। राम-कृष्ण असुरों को मार डालते हैं। चाणूर को मारकर कृष्ण प्रासाद पर चढ़ जाते हैं और कंस का सिर पकड़ कर नीचे गिरा देते हैं। कंस के प्राण छूट जाते हैं। सभा में कोलाहल होता है और कंस की सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध होती है। इधर बलरामजी भी सैन्य-मथन के लिये उद्यत दिखायी पड़ते हैं। इसी समय वहाँ वसुदेव आते हैं और बताते हैं कि ये उन्हीं के पुत्र रोहिणीकुमार बलराम तथा देवकीनन्दन श्रीकृष्ण हैं। कंस का वध करने के लिए साक्षात् भगवान् वासुदेव ही अवतरित हुए हैं। वसुदेव के निर्देश से उग्रसेन को कारागार से मुक्त किया जाता है और उनका अभिषेक होता है। वृष्णिराज्य की प्रतिष्ठा पुनः होती है।

आकाश से दुन्दुभिनाद तथा पुष्पवृष्टि होती है। देवर्षि नारद भगवान् का गुणानुवाद करते हुए प्रकट होते हैं और भगवान् को प्रणाम कर चले जाते हैं। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का शीर्षक—इसमें बालकरूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण की लीलायें वा चरित प्रदर्शित है अतः इस नाटक का नाम बालचरित रखा गया है।

आधार—इस नाटक का श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराण एवं महाभारतादि में वर्णित प्रसिद्ध श्रीकृष्णचरित का ही संक्षिप्त रूप है। कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं किया गया है।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक के नायक रूप में भगवान् श्रीकृष्ण आये हैं। नाटककार इन्हें साक्षात् परात्पर ब्रह्म के रूप में चित्रित करता है। भूभार-हरण तथा गो-ब्राह्मण की रक्षा एवं असुरों के संहार के लिये उन्होंने नर-रूप धारण किया है। श्रीकृष्ण के जन्म से ही अलौकिक घटनायें घटित होने लगती हैं। मध्यरात्रि में उनका जन्म होता है और वसुदेव उन्हें लेकर व्रज में चलते

हैं। बीच अथाह जलोंवाली यमुना नदी हिलोरें ले रही हैं। श्रीकृष्ण को देखकर बीच से उनका जल सूख जाता है और मार्ग बन जाता है जिससे निकल कर वसुदेवजी पार करते हैं।

व्रज में निवास करते समय श्रीकृष्ण बाल्यावस्था में ही पूतना राक्षसी का स्तन पान करते हुये वध कर डालते हैं। केशी अरिष्टवृषभ का वध भी गायें चराते समय ही करते हैं। कालिय-दमन की घटना भी उनकी अलौकिक महत्ता का परिचायक है। कंस उन्हें मथुरा में 'धनुर्यज्ञ' के बहाने मरवाने के लिये बुलाता है पर कृतकार्य नहीं होता और उसी को अपने प्राण गँवाने पड़ते हैं।

अलौकिकता के साथ ही साथ कृष्ण में मानवीय पक्ष भी सुतरां स्पष्ट है। गोप-बालकों के साथ क्रीड़ा तथा गोपिकाओं के साथ हल्लीस नृत्य उनकी बालसुलभ चेष्टा के निदर्शक हैं। गोपियों के घरों में घुस कर माखन-चोरी भी प्रेक्षक के हृदय में अपूर्व रस का सञ्चार करती है। वीरता तथा तेजस्विता की तो वे साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। कुब्जा के शरीर को ठीक करना उनकी कृतज्ञता का सूचक है। कृष्ण के शरीर-संगठन तथा शरीर-सौन्दर्य को देखकर कंस भी प्रभावित हो जाता है (५.८)। संक्षेपेण कृष्ण के चरित्राङ्कन में नाटककार का मुख्य उद्देश्य उनके भगवत्तत्त्व को प्रदर्शित करना रहा है, यद्यपि साथ-साथ वह मानवीय अंश को प्रदर्शित करते गया है।

बलराम के चरित्र में भी प्रायेण वे ही गुण दिखायी पड़ते हैं जो कृष्ण के। सर्वप्रथम कालिय-दमन के प्रसङ्ग में वे सामने आते हैं। कृष्ण के लिये व्याकुल लोगों को वे सान्त्वना देते हैं। कृष्ण के साथ वे भी कंस के धनुर्यज्ञ में सम्मिलित होते हैं और वहाँ मुष्टिक नामक कंस के मल्ल का वध करते हैं। बलरामजी के शरीर सौन्दर्य का प्रभाव कंस पर भी पड़ता है और उसकी प्रशंसा करता है।

वसुदेवजी का चरित्र अपनी शालीनता में अद्वितीय है। कृष्ण का जन्म होने पर वे अपूर्व साहस के साथ उन्हें लेकर बाहर निकलते हैं। भरी यमुना को पार कर जाने का उनमें उत्साह है यद्यपि यमुना स्वयं मार्ग दे देती हैं। उनमें स्वाभिमान तथा पराक्रम की भावना भी अनुस्यूत है। जब कृष्ण को ले जाते समय बिजली कौंधती है तो उन्हें आशंका होती है कि कहीं कंस का

कोई अनुचर तो उनका अनुधावन नहीं कर रहा है। सद्यः वे प्रतीकार के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। बालक की रक्षा के लिये नन्दगोप को अपने उपकार का स्मरण दिलाते हैं। उनकी सत्यवादिता पर कंस को भी विश्वास है। जब लोग कहते हैं कि देवकी ने कन्या-प्रसव किया है तो कंस कहता है कि वसुदेव झूठ नहीं कहेंगे अतः उन्हीं से पूछ लिया जाय। पर वसुदेव यहाँ कंस को प्रवञ्चित करते हैं। कंस-वध के बाद पुनः वसुदेवजी अपने दोनों पुत्रों से मिलते हैं और उत्तेजित मथुरावासियों को शान्त करते हैं। वसुदेवजी के चरित्र में त्याग की अपूर्व आभा दिखायी पड़ती है। कंस के मारे जाने पर राज्य उनको स्वतः सुलभ था। पर, उन्होंने कंस के पिता उग्रसेन को राजा बनाया।

कंस का चरित्र अत्यधिक कठोर प्रदर्शित किया गया है। अपनी प्राणरक्षा के लिये उसने वसुदेव के छः अबोध शिशुओं को कंस-शिला पर पटक कर मार डाला। औद्धत्य की मात्रा उसमें प्रचुर है। उसमें वसुदेव के बालक द्वारा मारे जाने का भय प्रविष्ट हो गया है इसीलिये चाण्डाल युवतियों तथा मधूक ऋषि के शाप को देखकर तथा भूकम्प आदि दुर्निमित्तों का अवलोकन कर वह ज्योतिषियों तथा पुरोहितों से उसका फल पूछता है। कृष्ण को मारने का उसका उद्योग चलता रहता है और अनेकों असुरों को वह भेजता रहता है और इस प्रयत्न में कृतकार्य न होने पर यज्ञ के बहाने राम-कृष्ण को मथुरा में बुलाता है। यहाँ भी वह उन्हें मरवाने का हर सम्भव प्रयास करता है पर अन्त में उसे अपने ही प्राण गँवाने पड़ते हैं।

समीक्षण—नाटकीय दृष्टि से बालचरित एक सफल नाटक कहा जा सकता है। इस नाटक का नायक प्रख्यात तथा धीरोदात्त है। वह नायक के सभी गुणों से सम्पन्न है। रस की दृष्टि से इसमें वीर ही प्रधान रस है और करुण, रौद्र आदि रस अङ्ग रूप से आये हैं। शृङ्गार-रस का इस नाटक में अभाव है। भास के लघु विस्तारी वाक्यों तथा सरल भाषा दर्शक के हृदय पर अपना अपूर्व प्रभाव डालती है। इस दृष्टि से कथनोपकथन सुतरां स्तुत्य हैं। चुस्तता नाटकीतया तथा भावप्रवणता इनके नाटकों की प्रमुख विशेषता है।

काव्य-परिपाक की दृष्टि से बालचरित बहुत ही प्रशंसनीयता कहा जा

सकता है। बालचरित का निम्न श्लोक अलङ्कार ग्रन्थों में बहुत उल्लिखित हो चुका है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥—बालचरित १.१५

(मानो तम अङ्गों का लेप कर रहा है, आकाश अञ्जन की वर्षा कर रहा है। जिस प्रकार असत्पुरुष की सेवा व्यर्थ जाती है उसी प्रकार दृष्टि निष्फल हो गयी है—कुछ सूझता नहीं।)

यह श्लोक काव्य-प्रकाश (दशम उल्लास, उत्प्रेक्षालङ्कार), कुवलयानन्द (संसृष्टि अलङ्कार प्रकरण) इत्यादि ग्रंथों में उद्धृत है।

रात्रि के वर्णन में कवि की विशेष निपुणता लक्षित होती है। नन्दगोप द्वारा रात्रि का निम्न वर्णन अलंकार तथा भाव दोनों दृष्टियों से नितान्त उदात्त है—

दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना रात्रिर्वर्तते निमीलिताकारा।
संप्रावृतप्रसुप्ता नील निवसना यथा गोपी ॥—१.१९

यह रात्रि जिसकी ज्योत्स्ना बरसात से नष्ट हो गयी है तथा जिसने अपने आकारों को छिपा लिया नील वस्त्रों को पहने सोती गोपी के समान मालूम पड़ रही है।

शब्दों के द्वारा भावदशा के चित्रण में भास ने महान् सफलता प्राप्त की है। शब्दों के आश्रय से सारी भाव दशा, सारी परिस्थितियाँ साक्षात् दिखायी पड़ने लगती हैं। पाठक के सामने दृश्य खड़ा हो जाता है। गोपकुमारों का निम्न चित्रण दर्शनीय है—

रक्तैर्वेसुकडिण्डिमैः प्रमुदिताः केचिन्नदन्तः स्थिताः
केचित्पङ्कजपत्रनेत्रवदनाः क्रीडन्ति नानाविधम्।
घोषे जागरिमा गुरुप्रमुदिता हुम्भारशब्दाकुले
वृन्दारण्यगते समप्रमुदिता गायन्ति केचित् स्थिताः ॥—३।३

(कुछ गोपकुमार रंगीन नगाड़ों के साथ आनन्दित होकर नाच रहे हैं, कमल के समान नेत्रवाले कुछ बालक नाना प्रकार से खेल रहे हैं। घोष में जागरण है और गौओं के हम्भारव से व्याप्त वृन्दावन में कुछ लोग प्रसन्न होकर गा रहे हैं।)

कालियदमन के समय गोपियों की स्थिति का सजीव दर्शन इस पद्य में कीजिये—

एता मत्तचकोरशावनयनाः प्रोद्भिन्नकुम्भस्तनाः
कान्ताः प्रस्फुरिताधरोष्ठरुचयो विस्रस्तकेशस्रजः।
सम्भ्रान्ता गलितोत्तरीयवसनास्त्रासाकुलव्याहृता-
स्त्रस्ता मामनुयान्ति पन्नगपतिं दृष्ट्वैव गोपाङ्गनाः ॥–४।१

(मत्त चकोरशावकों के तुल्य नेत्रोंवाली, विकसित स्तनोंवाली, लाल ओठों से सुन्दर कान्तिवाली, केश से गिरते हुये मालावाली, चकित, खिसक रहे उत्तरीय वस्त्रों वाली, भयकातर वचन बोलनेवाली ये गोपाङ्गनायें कालियनाग को देखकर मेरे पीछे आ रही हैं।)

६—अविमारक

छः अंकों का यह नाटक सौवीर-राजकुमार अविमारक तथा राजा कुन्तिभोज की कन्या कुरङ्गी के प्रणय-व्यापार पर आश्रित है। इस नाटक की कथा लोक-कथा पर आश्रित है। अविमारक काशिराज की पत्नी सुदर्शना में अग्नि से उत्पन्न हुए थे। सुदर्शना ने अपने इस पुत्र को सौवीरराज की पुत्री सुलोचना को दे दिया जो सौवीरराज से ब्याही गयी थी। पर, इस वृत्तान्त का किसी को पता न था। सौवीरराज के यहाँ इस कुमार का लालन-पालन हुआ और विष्णुसेन नाम पड़ा। विष्णुसेन बड़ा ही सुन्दर, बलवान् तथा निर्भीक युवक निकला। एक बार निसर्गतः क्रोधी चण्डभार्गव नामक ऋषि सौवीर-नरेश के राज्य में पधारे। उनके शिष्य को व्याघ्र ने मार डाला। उसी समय सौवीर-राज भी मृगयाप्रसङ्ग से उनके आश्रम में गये और उन्हें देखकर ऋषि उन्हें कटूक्तियाँ सुनाने लगे। बिना कारण बताये इस प्रकार कटूक्ति कह रहे ऋषि को सौवीरराज ने चाण्डाल कह दिया। बस क्या था ? मुनि का क्रोध उबल पड़ा। उन्होंने राजा को शाप दे दिया—'सदारपुत्र चाण्डाल हो जा।' उनके इस शाप को सुनकर राजा ने बहुत अनुनय-विनय किया और मुनि ने अनुग्रह-भाव से शाप की अवधि एक वर्ष कर दी। इसी अन्त्यज वेष में सौवीरराज को सपरिवार रहना पड़ा।

प्रथम अङ्क में राजा कुन्तिभोज की कन्या कुरङ्गी उद्यान में टहलने जाती है। स्थापना के अनन्तर राजा कुन्तिभोज सपरिवार दिखायी पड़ते हैं। उन्हें अपनी कन्या की बड़ी चिन्ता है। राजा और रानी दोनों योग्य पति को कन्या सौंप देना चाहते हैं। पर, उनका विचार है कि कन्यादान से पूर्व जामाता के सम्पत्तिशील का सम्यक् विचार कर लेना चाहिये। यदि कोई बिना विचारे कन्या दूसरे को दे देता है तो कन्या दोनों का नाश कर डालती है। इसी समय कौञ्जायन नामक अमात्य वहाँ आता है और कहता है कि उद्यान में एक बड़ी अप्रत्याशित घटना घटित हो गयी। जब राजकुमारी उद्यान में विहार कर लौट रही थीं उसी समय एक हाथी उन्मत्त हो गया। उसने अपने पीलवान को मार डाला और धूल उछालता हुआ राजकुमारी के पास पहुँच गया। सभी अङ्गरक्षक उसे देखते ही भाग गये और स्त्रियाँ हाहाकार करने लगीं। वह हाथी राजकुमारी की सवारी पर झपटा ही था कि कोई सुन्दर युवा पुरुष वहाँ उपस्थित हो गया और उसने हाथी को पीट कर वहाँ से हटा दिया। हाथी के हटते ही राजकुमारी को अन्तःपुर में प्रवेश करा दिया गया। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वह युवा अन्त्यज है। अमात्य भूतिक उसी का पता लगाने के लिये रुक गये हैं। राजा को कौञ्जायन की बात सुनकर यह विश्वास नहीं होता कि अकुलीन व्यक्ति इतना गुणवान् हो सकता है। इसी बीच भूतिक भी आता है और बताता है कि यद्यपि वह अपने को अन्त्यज कहता है पर इतनी सहृदयता, इतनी दयालुता और इतना दाक्षिण्य किसी अन्त्यज में नहीं हो सकता। उसके पिता के बारे में भी भूतिक कहता है कि वह देखा गया है तथा अत्यन्त बलवान् एवं सुन्दर है। अमात्यों के साथ राजा के वार्तालाप से यह भी विदित होता है कि काशीराज से कन्या मांगने के लिये दूत आया है पर इसमें शीघ्रता करने की कोई आवश्यकता नहीं। भलीभाँति सोच-विचार कर सौवीरराज अथवा काशिराज में से किसी एक को कुरङ्गी देना चाहिये। सौवीरराज तथा काशिराज दोनों राजा कुन्तिभोज के बहनोई हैं, पर सौवीरराज कुन्तिभोज की महारानी के भाई भी हैं।

द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में सौवीर-राजकुमार अविमारक का विदूषक दिखायी पड़ता है। वह कहता है कि ऋषिशापवशात् चाण्डालत्व को प्राप्त

अविमारक कुरङ्गी के सौन्दर्यपाश से आबद्ध हो गये हैं। वे कामबाण से पीड़ित होकर घूमना-फिरना सब छोड़कर दिन-रात उसी की चिन्ता किया करते हैं। इसी के उपरान्त अविमारक कामदशापन्न दिखायी पड़ता है। उधर राजकुमारी कुरङ्गी भी उस हस्तिसंकट के दिन से अविमारक की अनर्घ सुन्दरता पर मुग्ध हो गयी। उसकी भी आहार-विहार से विरक्ति हो गयी। उसकी इस दयनीय दशा पर तरस खाकर उसकी सहेली नलिनिका धात्री के साथ अविमारक का पता लगाने निकल पड़ती है। धात्री मार्ग में नाना प्रकार का तर्क-वितर्क करती है। वह सोचती है कि यदि उस युवक को राजकुल में प्रवेश करा दिया जाय तो राजकुल दूषित हो जायेगा और यदि उसे प्रवेश न कराया जाय तो कुरङ्गी ही अपने प्राण छोड़ देगी। इसी समय उन्हें कहीं से ध्वनि सुनायी पड़ती है कि ऐसा गुणी व्यक्ति अकुलीन नहीं हो सकता। वे अविमारक के आवास में जाती हैं और वहाँ अविमारक को कुरङ्गी से सम्बद्ध प्रलाप करते सुनती हैं। वे वहाँ जाती हैं और पूछती हैं कि इस एकान्त में आप क्या सोच रहे हैं? अविमारक बहाना करता है और कहता है कि वह योगशास्त्र का चिन्तन कर रहा है। धात्री कहती है कि हम लोग भी योगशास्त्र की इच्छा से ही यहाँ आयी हैं। एकान्त राजकुल में प्रवेश कर उसे सम्पन्न कीजिये। वे दोनों अविमारक से राजमहल में प्रवेश का भी उपाय बताती हैं। कुछ देर में विदूषक भी वहाँ आता है और अविमारक उससे कहता है कि वह आज राजमहल में प्रवेश करेगा।

तृतीय अङ्क में कुरंगी अपनी परिचारिकाओं से अविमारक के विषय में पूछती है। वे परिहास करती हैं। शिलातल पर बैठकर मागधिका कहती है कि काशिराज के यहाँ से दूत आया था और महाराज ने दामाद को यहीं बुलाया है। इसी समय अविमारक चौरवेश में राजान्तःपुर में प्रविष्ट होता है। मार्ग में वह सशङ्क होकर चलता है। अविमारक को देखकर नलिनिका उसे पहचान लेती है। राजकुमारी सो गयी है, उसी के पार्श्व में अविमारक बैठ जाता है। इसी समय कुरंगी की निद्रा भंग होती है और वह पूछती है कि उस निर्दय ने क्या कहा? कुरंगी अपनी सहेली नलिनिका से कहती है कि 'मेरा आलिंगन करो।' नलिनिका की प्रेरणा से अविमारक उसका

आलिंगन करता है। राजकुमारी उसे देखकर कांप जाती है और चारित्रिक पतन से दुःखी होती है। अविमारक समझा-बुझाकर उसे शान्त करता है। सखियाँ हट जाती हैं और अविमारक तथा कुरंगी भीतर शयनागार में चले जाते हैं।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में मागधिका और विलासिनी राजकुमारी कुरंगी तथा अविमारक के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करती हैं। इसी बीच नलिनिका आती है और उससे पता चलता है कि अविमारक के अन्तःपुर में ठहरने के वृत्तान्त का राजा कुन्तिभोज को पता लग गया है। अविमारक सकुशल अन्तःपुर से बाहर निकाल दिये गये हैं और लज्जा, भय तथा शोक से कुरंगी की हालत अत्यन्त शोचनीय हो गयी है। सखियाँ राजकुमारी कुरंगी को आश्वासन देने चली जाती हैं। इसके अनन्तर अविमारक सामने आता है। उसकी अवस्था बड़ी विचित्र है। उसे दुहरा दुःख है। एक ओर तो कुरंगी के वियोग से उसका शरीर जल रहा है दूसरे कुरंगी की दशा का ध्यान कर उसे और भयानक सन्ताप हो रहा है। वह सोचता है कि कुरंगी परिजनों में इस वृत्तान्त से लज्जित हो रही होगी। राजा ने उस पर कड़ा पहरा बैठा दिया होगा तथा मेरे वियोग से उसे वेदना हो रही होगी। इस सन्ताप से छुट्टी पाने के लिये वह प्राणहत्या करने पर तैयार हो जाता है। उसे यह भी स्मरण है कि आत्महत्या अविहित मरणमार्ग है, पर उसे कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखायी पड़ता। वह दावाग्नि में प्रवेश करता है किन्तु विधि का विधान कौन रोक सकता है ? अग्निदेव शीतल हो जाते हैं। इसके बाद वह शैलशिखर से कूदकर अपना प्राण गँवाना चाहता है। इसी समय एक विद्याधर अपनी प्रिया के साथ उस शैलशिखर पर आता है। उस विद्याधर को अविमारक दिखायी पड़ता है। उसकी भव्य आकृति को देखकर वह प्रभावित हो जाता है। वह अविमारक के पास जाता है और उसे अपना परिचय देते हुये बताता है कि वह मेघनाद नामका विद्याधर है और उसकी स्त्री का नाम सौदामिनी है। अविमारक अपने को सौवीरराजकुमार बताता है। पर, विद्याधर को उसकी बातों का प्रत्यय नहीं होता और वह मंत्र-विद्याबल से अविमारक का सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात कर लेता है। कुरङ्गी से उसके वियोग

को जानकर उसे सहानुभूति होती है और वह अविमारक को एक अंगूठी देता है जिसके सहारे वह प्रच्छन्न होकर राजान्तःपुर में प्रविष्ट हो सकता है। उस अंगूठी को दाहिने हाथ में धारण करने पर व्यक्ति अदृश्य हो जाता है और बाँयें हाथ में पहनने पर प्रत्यक्ष हो जाता है। उस अंगुलीयक को देकर विद्याधर अपने गन्तव्य स्थान को चला जाता है।

अविमारक वहीं बैठकर विश्राम करता है और इसी बीच उसे ढूँढ़ते हुये विदूषक वहाँ पहुँच जाता है। दोनों की भेंट होती है और विदूषक को अंगुलीयक का वृत्त ज्ञात होता है। विदूषक को साथ लेकर अविमारक उस अंगूठी के सहारे राजपुर में प्रवेश करता है।

पञ्चम अङ्क में नलिनिका तथा कुरङ्गी राजप्रासाद पर बैठी हुई हैं। कुरङ्गी अविमारक के वियोग से सन्तप्त हो रही है। इसी बीच अविमारक और विदूषक भी वहाँ पहुँच जाते हैं। कुरङ्गी को देखकर अविमारक की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। इसी बीच महारानी के पास से लेप लेकर हरिणिका आती है और नलिनिका तथा हरिणिका क्रमशः चली जाती हैं। कुरङ्गी गले में फन्दा लगाकर प्राणत्याग करना चाहती है पर मेघस्तनित सुनकर डर जाती है। इसी समय अविमारक जाकर उसका आलिङ्गन कर लेता है। हरिणिका और नलिनिका भी आती हैं और विदूषक को वहाँ से हटा ले जाती हैं। वृष्टि होने लगती है और अविमारक तथा कुरङ्गी भीतर चले जाते हैं।

षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में धात्री से ज्ञात होता है कि काशिराजकुमार जयवर्मा अपनी माता सुदर्शना के साथ कुरङ्गी से शादी करने के लिये कुन्तिभोज के यहाँ आ गये हैं। यह भी ज्ञात होता है सौवीरराज के मंत्रियों ने कुन्तिभोज को पत्र लिखा कि सौवीरराज सदारपुत्र उन्हीं के नगर में निवास कर रहे हैं। राजा कुन्तिभोज को सौवीरराज मिल जाते हैं पर उनके पुत्र का पता नहीं लगता। सौवीरराज कुन्तिभोज से चण्डभार्गव ऋषि के शाप का समाचार बताते हैं। वे कुन्तिभोज से अविमारक द्वारा धूमकेतु राक्षस के मारे जाने का भी वृत्तान्त बताते हैं। पर उसका पता न लगने से सभी को क्लेश है। इसी समय वहाँ देवर्षि नारद जी उपस्थित होते हैं। वे बताते हैं कि सौवीरराजकुमार कुन्तिभोज के अन्तःपुर में कुरङ्गी के साथ गान्धर्व

विवाह कर समय यापन कर रहा है। हस्तिसंभ्रम के समय से ही दोनों में प्रणय-व्यापार चल रहा है। वे सुदर्शना तथा कुन्तिभोज को अलग हटाकर सुदर्शना में अग्नि से उत्पन्न अविमारक का स्मरण दिलाते हैं। अविरूपधारी असुर को मारने से उसकी संज्ञा अविमारक हुई। नारद जी कुरङ्गी की छोटी बहिन सुमित्रा से जयवर्मा की शादी कराते हैं। अविमारक, कुरङ्गी और भूतिक भी वहीं आ जाते हैं। परस्पर सबका प्रेम–मिलन होता है और स्त्रियाँ अन्तःपुर में जाती हैं। भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का नामकरण—इस नाटक में सौवीरराजकुमार अविमारक का आख्यान वर्णित होने से इसका नाम अविमारक रखा गया है। अविमारक का यथार्थ नाम विष्णुसेन था और अवि-रूपधारी असुर को मारने से उसकी संज्ञा अविमारक है।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक का नायक विष्णुसेन या अविमारक है। वह काशिराज की पत्नी सुदर्शना में अग्निदेव से उत्पन्न हुआ, पर सौवीरराज की पत्नी सुलोचना को जन्म के समय ही दे दिया गया। वह अतुलित पराक्रम-शाली है और बचपन में ही उसने राक्षस का वध कर डाला है। दैवदुर्विपाक से वह चण्डभार्गव ऋषि के शापवशात् वर्ष भर चाण्डालत्व को प्राप्त होता है। सहजपराक्रमशालिता तथा परदुःखकातरता उसके स्वभाव के अङ्ग हैं। इसी कारण वह राजकुमारी कुरंगी पर हाथी के आक्रमण करने पर उसे मुक्त करता है। उसके शरीर की शोभा निराली है और इसी सौन्दर्य के कारण प्रथम दर्शन में ही कुरंगी उस पर न्यौछावर हो जाती है।

हस्तिसंभ्रम के अनन्तर अविमारक एक प्रेमी के रूप में प्रकट होता है। प्रथम दर्शन में ही कुरंगी के सौन्दर्य पर वह रीझ जाता है और उसके केश-पाशों में बंधन के लिये लालायित हो जाता है। उसकी कामापन्न अवस्था भी चरम कोटि को पहुँचती है। कुरंगी के वियोग में उसकी दयनीय अवस्था हो जाती है और छद्मवेश में वह एक वर्ष तक राजभवन में रहता है। जब उसका पता राजा को लगता है तो वह भाग निकलता है और आत्महत्या तक करने को सन्नद्ध हो जाता है। संक्षेप में वह धीरललित नायक कहा जा सकता है।

इस नाटक की नायिका कुरङ्गी है। वह रूपयौवनसंपन्ना अविवाहिता

कन्या है। इस यौवन के उभार के अवसर पर उसे अविमारक का दर्शन होता है और वह मदनज्वर से ग्रस्त हो जाती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि उसका प्रेम शुद्ध है और उसमें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं। अविमारक के कुलशील का उसे पता नहीं फिर भी उसके तरुणयौवन तथा सुगठित सुन्दर शरीर को देखकर वह लुब्ध हो जाती है। प्रथम दर्शन में ही उसकी आसक्ति इतनी बढ़ती है कि उसकी दशा दयनीय हो जाती है और सखियों को उसकी प्राणरक्षा के लिये अविमारक को ढूंढ़ना पड़ता है।

इस चरम कामदशा को प्राप्त होने पर भी शीलसंरक्षण की भावना उसमें सुरक्षित है। जब प्रथम बार रात्रि में उसके अनजाने अविमारक उसका आलिङ्गन करता है और उसे पता चलता है कि यह अविमारक है तो उसे पश्चात्ताप होता है और वह कहती है कि यह महान् चारित्रिक पतन हुआ। स्त्रीसुलभ हाव-भाव तथा रूठने की भावना भी उसमें वर्तमान है और जब सखियाँ परिहास करती हैं तो वह रूठने का अभिनय करती है। एक वर्ष के संयोग के बाद उसे अविमारक का वियोग होता है और उस समय की दशा का जैसे सटीक अनुमान अविमारक ने किया है वह नितान्त यथार्थ है—

ह्रीता भवेत् प्रेष्यजनप्रवादै-
र्भीता च राज्ञा दृढसन्निरुद्धा।—४।२

अविमारक के वियोग में वह भी प्राणात्यय पर तुल जाती है और गले में पाश तक लगा लेती है पर मेघस्तनित से सहसा भयभीत होकर इस कर्म से प्रत्यावृत्त होती है। संक्षेपेण कुरङ्गी का प्रेम अपनी परिणति को पहुँचा प्रदर्शित किया गया है।

सौवीरराज ऋषि के शापवश चाण्डालत्व को प्राप्त हुए हैं। इस अवधि में वे छद्मवेश में कालयापन करते हैं और राजा कुन्तिभोज से मिलने पर शाप की सारी कथा उनको सुना देते हैं।

कुन्तिभोज का चरित्र सौवीरराज की अपेक्षा अधिक प्रस्फुटित हुआ है। नाटक की सारी घटनायें उन्हीं के राज्य में केन्द्रित हैं। उनके वचनों से पता चलता है कि राजनीति का उन्हें सम्यक् ज्ञान है—

धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुध्या
प्रच्छाद्यौ रागरोषौ मृदुपरुषगुणौ कालयोगेन कार्यौं।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं परचरनयैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यं
रक्ष्यो यत्नादिहात्मा रणशिरसि पुनः सोऽपि नावेक्षितव्यः ॥१।१२

अन्य पात्रों में देवर्षि नारद स्वरगर्णों के साधक, कलह के उत्पादक (६।११), शाप-प्रसाद-समर्थ एवं नष्ट कार्यों के सुधारक (६।१६) दर्शाये गये हैं। कुन्तिभोज के अमात्यद्वय कौञ्जायन तथा भूतिक महान् स्वामिभक्त तथा नयज्ञ हैं।

स्त्री पात्रों में कुरङ्गी की सखियाँ तथा परिचारिकायें उसकी हितैषिणी के रूप में चित्रित की गई हैं। कुरंगी का अभीष्ट पूरा करने के लिये वे सब कुछ करने को उद्यत हैं। सौवीरराज की पत्नी तथा काशिराज की पत्नी एवं कुरंगी की माता का चरित्र प्रस्फुटित नहीं हो सका है।

समीक्षण—अविमारक एक काल्पनिक नाटक है और प्रेमाख्यान का यहाँ प्रदर्शन हुआ है। नाटकीय दृष्टि से इसे प्रकरण कहा जा सकता है यद्यपि इसे कुछ लोग नाटक भी कह सकते हैं। प्रकरण का लक्षण निम्न है—

भवेत् प्रकरणं वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ॥

प्रकरण के अन्य लक्षण तो यहाँ घटित हो जाते हैं पर इसका नायक न तो विप्र ही है, न अमात्य ही और न वणिक् ही। इस नाटक का प्रधान रस शृंगार है और अन्य रस उसके सहायक बन कर आये हैं। इसका नायक अविमारक धीरललित कहा जायेगा।

नाटकीयता की दृष्टि से भास के अन्य नाटकों की भाँति यह नाटक भी सफल है। अभिनेय यह भी उसी भाँति है जिस भाँति भास के नाटक। सरल भाषा का प्रयोग इनकी अभिनेयता में चार चाँद लगा देता है। कथनोपकथनों में स्वाभाविकता तथा भावाङ्कन भास की अपनी विशेषता है। छोटे छोटे वाक्य, सरल भाषा, रसानुकूल भाषा का प्रयोग एवं भावों का सम्यक् उन्मेष इस नाटक को बरबस उच्चकोटि में बैठा देते हैं।

काव्यकला की दृष्टि से भी यह नाटक नितान्त उदात्त है। नाटकों में भास

का कविकर्म सर्वत्र प्रस्फुटित हुआ है। परिस्थितियों, अवस्थाओं एवं भावों का सटीक शब्दों एवं अलंकारिक भाषा में वर्णन सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृति चित्रण में नाटककार ने पर्याप्त दक्षता प्रदर्शित की है। ग्रीष्म का यह वर्णन नितान्त परिष्कृत तथा यथार्थ है :—

अत्युष्णा ज्वरितेव भास्करकरैरापीतसारा मही
यक्ष्मार्त्ता इव पादपाः प्रमुषितच्छाया दवाग्न्याश्रयात् ॥–४।४

इसी प्रकार रात्रि के अन्धकार, चोर के कार्यकलाप, राजपुर आदि का वर्णन भी भास की सूक्ष्म अन्वीक्षण शक्ति के परिचायक हैं। अन्धकार का यह वर्णन दर्शनीय है :—

तिमिरमिव वहन्ति मार्गनद्यः
पुलिननिभाः प्रतिभान्ति हर्म्यमालाः।
तमसि दशदिशो निमग्नरूपाः
प्लवतरणीय इवायमन्धकारः ॥–३।४

नाटक में सूक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। प्रसिद्ध सूक्ति 'कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्' का भास ने यहाँ उत्तर उपस्थित किया है—कन्यापितृत्वं बहुवन्दनीयम्' (१।६)। इस प्रकार सभी दृष्टियों से अविमारक एक प्रशस्त नाटक कहा जा सकता है।

१०—प्रतिमा नाटक

सात अंकों का प्रतिमा नाटक भास के सर्वोत्तम नाटकों में से है। श्रीराम के युवराज पद पर अभिषेक के प्रसङ्ग से आरम्भ कर चौदह वर्षों बाद वन से लौटने तक का कथानक इसमें समाविष्ट है। चौदह वर्षों के उपरान्त राम के राज्याभिषेक के साथ यह नाटक समाप्त होता है।

प्रथम अंक में प्रतीहारी कञ्चुकी से कहती है कि महाराज दशरथ राम का युवराज पद पर अभिषेक करने वाले हैं अतः उनकी आज्ञा है कि इसके लिये सारी तैयारियाँ कर दी जायँ। कञ्चुकी कहता है कि उनकी आज्ञा के अनुसार सारे सम्भार एकत्र कर दिये गये हैं। इसी समय अवदातिक नामक परिचारिका हाथ में वल्कल लिये पधारती है। वह परिहास में किसी को वल्कल देने जा

रही है। सीता की दृष्टि उस पर पड़ती है और वे उसे बुला लेती हैं। वे कुतूहलदृष्ट्या उस वल्कल को धारण करती हैं। सीता को इसी समय चेटी बताती है कि आज श्रीरामचन्द्रजी का महाराज दशरथ युवराज पद पर अभिषेक करनेवाले हैं। उन्हें नगर में वाद्यध्वनि सुनायी पड़ती है जो सहसा बन्द हो जाती है। सबका कुतूहल बढ़ जाता है।

श्रीरामचन्द्र जी वहाँ उपस्थित होते हैं। वे भी वल्कल को पहनना चाहते हैं। इसी समय जनता का कोलाहल सुनायी पड़ता है। कञ्चुकी आकर बताता है कि कैकेयी ने राजा को आपका अभिषेक करने से रोक दिया और राज्यपद भरत के लिये मांग लिया है। महाराज इस अमंगल वचन से मूर्छित होकर गिर पड़े हैं और संकेत द्वारा यह समाचार आपको बताने के लिये भेजा है। सहसा हाथ में धनुष लिये लक्ष्मण प्रवेश करते हैं और हठात् राज्य छीन लेने के लिये राम को उत्तेजित करते हैं, पर राम उनका क्रोध शान्त करते हैं। लक्ष्मण उनसे बताते हैं कि राज्य आपको नहीं मिला इसकी मुझे चिन्ता नहीं और न तो उसके लिये खेद ही है। खेद केवल इस बात का है कि चौदह वर्षों तक आपको वनवास करना पड़ेगा। श्रीरामचन्द्र फिर भी लक्ष्मण को शान्त करते हैं। वे अकेले तो वन जाने के लिये तैयार होते हैं किन्तु सीता तथा लक्ष्मण भी उनके साथ चलने के लिये उद्यत होते हैं। राम लक्ष्मण और सीता के साथ वन को प्रस्थान करते हैं।

द्वितीय अङ्क में राम को वन जाने से विरत करने में असमर्थ राजा दशरथ समुद्रगृहक में जाकर सो गये। राम के लिये वे नाना प्रकार से विलाप कर रहे हैं। कौसल्या तथा सुमित्रा उन्हें नाना प्रकार से सान्त्वना देती हैं। इसी बीच राम, लक्ष्मण तथा सीता को वन में पहुँचाकर सुमन्त्र लौट आते हैं। उनके लौट कर न आने का समाचार सुनकर महाराज दशरथ मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। सचेत होने पर वे उनका समाचार पूछते हैं। किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिलती और इस वार्धक्य जर्जरावस्था में इस महान् विपत्ति को सहन करने में असमर्थ वे प्राणों का त्याग कर देते हैं।

तृतीय अङ्क में प्रवेशक से ज्ञात होता है कि अयोध्या में मृत इक्ष्वाकु-वंशीय राजाओं की प्रतिमायें स्थापित की जाती हैं। महाराज दशरथ की

प्रतिमा भी स्थापित की गई है जिसका दर्शन करने के लिए कौसल्या आदि महारानियाँ प्रतिमा-गृह में आने वाली हैं। इसके अनन्तर रथारूढ़ भरत तथा सूत दिखायी पड़ते हैं। अयोध्या तथा परिवार के कुशल को जानने के लिये आतुर भरत शीघ्रता से रथ वाहित करने के लिये सूत से कहते हैं। उन्हें महाराज दशरथ की व्याधि का समाचार मिला है। सूत भरत से महाराज की मृत्यु का समाचार नहीं बताता। रथ अयोध्या के समीप आता है और नगर से एक भट आकर कहता है कि आचार्यों की राय है कि कृत्तिका नक्षत्र बीत रहा है, इसके अवशिष्ट एक चरण के बीत जाने पर आप नगर में प्रवेश करें। भरत उनकी राय मान कर बाहर ही रुक जाते हैं। विश्राम करने के लिये वे इक्ष्वाकु-नृपतियों के प्रतिमा-गृह में जाते हैं। वहाँ उस प्रतिमा-गृह का संरक्षक देवकुलिक वहाँ जाता है और मूर्तियों का परिचय देता है। वह यह भी बताता है कि यहाँ केवल मृत नृपतियों की प्रतिमायें स्थापित की जाती हैं, जीवन्तों की नहीं। उन प्रतिमाओं में महाराज दशरथ की प्रतिमा को देखकर भरत शोक से मूर्छित हो जाते हैं। देवकुलिक का परिचय भी ज्ञात हो जाता है और रामके वनवास आदि की कथा वह सुनाता है। इसी समय कौशल्या आदि देवियाँ वहाँ प्रतिमा-दर्शन के लिये आती हैं। भरत कौशल्या से अपनी अनपराधता को बताते हैं तथा कैकेयी को कोसते हैं। वसिष्ठ, वामदेव आदि महर्षि भरत का अभिषेक करना चाहते हैं, पर भरत राम-लक्ष्मण के पास जाने के लिये वन को प्रस्थान करते हैं।

चतुर्थ अङ्क में भरत रथारूढ़ होकर सुमन्त्र के साथ राम के तपोवन में पहुँचते हैं। सुमन्त्र के साथ वे राम के विषय में वार्तालाप करते जाते हैं। वे राम के आश्रम के पास पहुँचते हैं और उनकी ध्वनि राम-लक्ष्मण-सीता को सुनायी पड़ती है। उन्हें किसी परिचित बन्धु की आवाज प्रतीत होती है। इसी बीच भरत वहाँ पहुँच जाते हैं। वे परस्पर स्नेहार्द्र होकर मिलते हैं। वन में करुणा का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है। भरत उनसे लौट चलने तथा राज्यभार संभालने का आग्रह करते हैं। पर, राम उनसे पिता के सत्य की रक्षा के लिए प्रस्ताव करते हैं। राम के आग्रह को भरत स्वीकार कर लेते हैं, पर शर्त यह लगाते हैं कि चौदह वर्षों के बाद आप अपना राज्य लौटा लें।

तब तक मैं केवल न्यास के रक्षक के रूप में कार्य करूँगा। वे राम की चरण-पादुकायें भी माँग लेते हैं जो राम के प्रतिनिधि के रूप में रखी रहेंगी। राम भरत को राज्यरक्षा में अनवधानता न बरतने का आदेश देते हैं। सुमंत्र को भी भरत की सावधानी से रक्षा का उपदेश देते हैं। अन्ततः भरत अयोध्या को लौट आते हैं।

पञ्चम अंक के प्रारम्भ में सीता छोटे-छोटे वृक्षों में पानी सींच रही हैं। इसी समय श्रीरामचन्द्र वहाँ आते हैं और सीता से पिता दशरथ के श्राद्ध-दिवस के बारे में बताते हैं। वे कहते हैं कि 'कल पिताजी का श्राद्ध-दिन है। पितरों का श्राद्ध सामर्थ्यानुकूल करने का विधान है। पर, मेरे पास आवश्यक पदार्थ नहीं है।' सीताजी कहती हैं कि 'वैभवानुकूल श्राद्ध तो भरत करेंगे ही आप वन्य पुष्प-फलों से श्राद्ध कीजिये।' राम कहते हैं कि सो तो ठीक है पर कुश पर फलों को देखकर पिताजी को वनवास का प्रसंग याद आ जायेगा और वे दुःखी होंगे।

राम और सीता के वार्तालाप करते समय ही संन्यासी के वेश में वहाँ रावण आता है। वह अपने को काश्यपगोत्रीय बताता है। वह अपने को नाना शास्त्रों तथा प्राचेतस श्राद्धकल्प में निष्णात कहता है। श्राद्धकल्प का नाम सुनकर राम विशेष अभिरुचि दिखाते हैं और पूछते हैं कि पिण्डदान के समय पितरों को किस पदार्थ से तृप्त करना चाहिये। रावण पिण्डदान योग्य पदार्थों का नाम बताता है। वह बताता है कि सर्वाधिक पितरों के प्रीतिकारक हिमालय के सप्तम श्रृंग पर रहने वाले काञ्चनपार्श्व नामक मृग होते हैं। पर, उनकी प्राप्ति दुर्लभ है। इसी समय काञ्चनमृग वहाँ दिखायी पड़ता है और रावण कहता है कि हिमालय आपका अभिनन्दन कर रहा है। राम सीता को संन्यासी की शुश्रूषा करने को कह स्वयं मृग पकड़ने दौड़ते हैं। रावण इस अवसर का लाभ उठाने को सोचता है। सीता उटज में प्रवेश करना ही चाहती हैं कि रावण अपने लोकरावण विग्रह को धारण कर उन्हें पकड़ लेता है। वह अपना परिचय भी उन्हें देता है। सीता विलाप करती हैं, पर रावण उन्हें हठात् लेकर भाग चलता है। गृध्रराज जटायु सीता को ले जा रहे रावण पर आक्रमण करता है।

षष्ठ अङ्क में दो तापस सीता का हरण कर रहे रावण को देखकर भयभीत हो जाते हैं। वे जटायु के पराक्रम को देखकर उसकी चर्चा करते हैं और देखते हैं कि रावण द्वारा मारा जाकर जटायु भूमिशायी हो गया है। इसके बाद विष्कम्भक के अनन्तर अयोध्या में दृश्य केन्द्रित होता है। कञ्चुकीय कहता है कि सुमन्त्र राम का पता लेने वन गये थे जहाँ से वे लौट आये हैं। सुमन्त्र जाकर सीताहरण का वृत्तान्त भरत को सुनाते हैं। वे कहते हैं कि 'जब मैं उन्हें देखने के लिये तपोवन में पहुंचा तो तपोवन को शून्य पाया। सुनने में आया कि वे वानरों की नगरी किष्किन्धा में गये हैं। वहाँ सुग्रीव नामक वानर है जिसकी स्त्री को उसके बड़े भाई ने हर लिया है। समान दुःख वाले श्री रामचन्द्र जी वहीं चले गये हैं क्योंकि माया का आश्रयण कर सीता को राक्षसेन्द्र रावण ने हर लिया है।' सुमन्त्र द्वारा सीताहरण का आख्यान सुनकर भरत को अत्यन्त सन्ताप होता है। वे माताओं के पास पहुँचते हैं और कैकेयी को उलाहना देते हुये कहते हैं कि 'तेरे ही कारण अप्रधर्ष्य इक्ष्वाकुकुल की स्त्री का हरण हुआ।' कैकेयी भरत के उपालम्भ से जर्जर हो जाती है। वह सुमन्त्र से दशरथ को मिले शाप का वर्णन करने को कहती है और बताती है कि उसी ऋषिशाप को सत्य करने के लिये मैंने राम को वन भेजा। भरत की आज्ञा से सुमंत्र दशरथ के शाप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि 'पहले शिकार के लिये निकले महाराज ने कलश में जल भर रहे एक ऋषिपुत्र को वन्यगज समझकर मार डाला। जब ऋषि ने उसे सुना तो महाराज को शाप दिया कि तुम भी पुत्र-शोक से मरोगे।' कैकेयी ने भरत से यह भी बताया कि मैंने तेरा वनवास इसलिये नहीं मांगा कि ननिहाल में रहने से तेरा वियोग सहने के महाराज अभ्यस्त हो गये थे और मैं तो केवल चौदह दिन कहने वाली थी पर मानसिक व्याकुलता से चौदह वर्ष निकल गया।' सब वृत्तान्त सुनकर भरत कैकेयी से क्षमा मांगते हैं और राम की सहायता के लिये ससैन्य प्रस्थान करने को कहते हैं।

सप्तम अङ्क में तापस बताता है कि श्री रामचन्द्र ने सीता का हरण करने वाले रावण का वध कर डाला। उन्होंने विभीषण का अभिषेक किया है और वानरों सहित वे पधार रहे हैं। सीता और राम तापसों के बीच आकर उन्हें

आनन्दित कर रहे हैं। वे सीता को वनवास के स्थल दिखाकर उनकी स्मृति दिला रहे हैं। इसी समय उन्हें पटहनाद, हवा से उठती हुई धूल तथा बाजों की ध्वनि सुनायी पड़ती है। लक्ष्मण आकर राम को बताते हैं कि ससैन्य भरत आपके दर्शन करने आ रहे हैं। राम सीता के साथ उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा करते हैं और भरत माताओं के साथ वहाँ आते हैं। सबका प्रेम-मिलन होता है। सारे मुनिजन, सारी प्रजायें और अमात्य श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करते हैं और कैकेयी इसका अनुमोदन करती हैं। रावण का पुष्पक विमान वहाँ उपस्थित होता है और सब लोग उस पर आरूढ़ हो अयोध्या को प्रस्थान करते हैं। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का नामकरण—इस नाटक का नामकरण प्रतिमा इसलिये रखा गया है कि इक्ष्वाकुवंशीय मृत राजाओं के प्रतिमा-निर्माण पर यहाँ विशेष महत्त्व दिया गया है। प्रतिमा-निर्माण की कथा भास की अपनी मौलिकता है और प्रतिमा के दर्शन से ही भरत को दशरथ के मरने का सारा वृत्तान्त ज्ञात होता है। सारा घटनाक्रम एक बार इस प्रसङ्ग पर आवृत्त हो जाता है और भरत को राम के वनवासादि के प्रसङ्ग का पता चलता है। कुछ लोगों की धारणा है कि प्रतिमा नाटक का नाम कुछ बृहत् रहा होगा (संभवतः 'प्रतिमादशरथ' ?) क्योंकि भास के अन्य नाटकों का नाम जहाँ बड़ा है वहाँ छोटे नामों से भी उसका अभिधान किया जाता है, जैसे, स्वप्नवासवदत्तम् का स्वप्ननाटक और प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण का प्रतिज्ञा!

भास की मौलिकता—भास ने इस नाटक में मौलिकता लाने में प्रचलित रामचरित से पर्याप्त पार्थक्य ला दिया है। यद्यपि ये सारी घटनायें प्रचलित कथा से भिन्न हैं, पर नाटकीय दृष्टि से इनका महत्त्व सुतरां ऊँचा है और पाठक वा दर्शक की कुतूहलवृद्धि में ये सहायक हुई हैं। इस नाटक में रामायणीय कथा से भिन्नतायें इस प्रकार हैं—प्रथम अंक में सीता द्वारा परिहास में वल्कल पहनना भास की मौलिकता है। तृतीय अंक में प्रतिमा का सारा प्रकरण ही कविकल्पित है और यह कल्पना ही नाटक की आधारभूमि बनायी गयी है। भरत को प्रतिमा के प्रसङ्ग में ही अयोध्या में हुये सारे उदन्त का परिचय मिलता है। पाँचवें अंक में सीता का हरण भी यहां नवीन ढंग से बताया गया

है। यहाँ राम के उटज में वर्तमान रहने पर ही रावण वहाँ आता है और दशरथ के श्राद्ध के लिए उन्हें काञ्चनपार्श्व मृग लाने को कहता है और उन्हें काञ्चनमृग दिखाकर दूर हटाता है। यह सारा प्रसङ्ग नाटककार के द्वारा गढ़ा गया है। पांचवें *अंक में सुमंत्र का वन में जाना और लौट कर भरत से सीताहरण बताना कवि-कल्पना का प्रसाद है। कैकेयी द्वारा यह कहना भी कि उसने ऋषिवचन सत्य करने के लिये राम को वन भेजा, भास की प्रसूति है। अन्ततः सप्तम अंक में राम का वन में ही राज्याभिषेक इस नाटक में मौलिक ही है।

इस प्रकार इस नाटक में भास ने प्रचलित कथा को दूसरे ढंग से मोड़ा है और सारे नाटक को एक नवीन रूप दे दिया है।

चरित्राङ्कन—प्रतिमा नाटक के नायक के रूप में श्री रामचन्द्र दिखाये गये हैं और फलसंप्राप्ति का उन्हीं से सम्बन्ध है। श्री रामचन्द्र सारे सद्गुणों के आकर हैं। राज्य की अप्राप्ति तथा वनगमन की आज्ञा से उनके चित्त में ज़रा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और लक्ष्मण को शांत करना उनके चरित्र का नितान्त प्रोज्ज्वल अंश है। यह प्रसङ्ग उन्हें दैवी स्तर पर प्रतिष्ठित कर देता है। कैकेयी के प्रति जितनी उनकी भक्ति है उसका पता निम्न श्लोक से लग जाता है—

यस्याः शक्रसमो भर्ता मया पुत्रवती च या।
फले कस्मिन् स्पृहा तस्या येनाकार्यं करिष्यति ॥–अङ्क १

उनकी शक्ति तथा महत्ता का वर्णन पद-पद पर मिलता है। भरत जब वन में उन्हें लौटाने के लिये जाते हैं तो बड़े ही नयपूर्ण तथा भ्रातृवात्सल्य से आपूर्ण शब्दों से उनका समाधान करते हैं—

मैवं नृपः स्वसुकृतैरनुयातु सिद्धिं
मे शापितो न परिरक्षसि चेत्स्वराज्यम् ॥–३।२४

उनकी शक्ति तथा साहस की प्रशंसा रावण भी खुले मुख से करता है। जब सुवर्णमृग राम के सामने दिखायी पड़ता है तो रावण उनका हिमालय द्वारा इसे अभिनन्दन बताता है। पर, श्रीरामचन्द्र जी इसे दशरथ जी का प्रभाव कहते हैं। अन्ततः भी उनके मन में अपकारिणी कैकेयी के प्रति कोई विकार

नहीं उत्पन्न होता और वे उसकी आज्ञा को विनीत होकर शिरोधार्य करते हैं। राज्याभिषेक होने पर भी वे उसे दशरथ जी का अभीष्ट बताते हैं कि धर्म से प्रजापालन करने का अवसर मिला है। सहायक वनौकसों के प्रति भी उनका सद्भाव सुतरां स्तुत्य है। लंकाविजय को वे उन्हीं का प्रयास मानते हैं।

भरत का चरित्र राम के चरित्र की भांति ही अत्यन्त उदात्त प्रदर्शित किया गया है। इस चरित्र में कहीं भी कालिमा का लेश नहीं। वे ननिहाल में हैं तभी अयोध्या में सारी अनभीष्ट घटनायें घटित हो जाती हैं। दूत उन्हें लाने जाता है और वे अत्यन्त उत्सुकता से अयोध्या को प्रस्थान करते हैं। पर, अयोध्या में भी नहीं पहुंच पाते कि प्रतिमादर्शन के अवसर पर मार्ग में ही सारा वृत्तान्त ज्ञात हो जाता है। सारे वृत्तान्त को जानकर उन्हें अयोध्या जाना व्यर्थ-सा लगता है। किसी पिपासित का निर्जला नदी में जल पीने जाना व्यर्थ ही तो है—

अयोध्यामटीवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम्।
पिपासार्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव ॥–३।१०

उनका कैकेयी पर आक्रोश उनके चारित्र्य और मनोभाव की निर्मलता के प्रतीक हैं। सारे मुनिजन तथा प्रकृतियाँ भरत के राज्याभिषेक का निश्चय करती हैं, पर भरत के लिये तो यह प्रसङ्ग ही दुःखद है। वे तुरन्त राम को उनका राज्य लौटाने वन चल देते हैं। वन में वे राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव करते हैं। पर, राम कहते हैं कि धर्म तो इसी में है कि जिसे माता ने राष्य दिया वह राज्य भोगे। यह सुनकर भरत की दशा बड़ी विचित्र होती है। मानों उनका व्रण छू गया हो। वे कहते हैं कि आपका जन्म जिस वंश में हुआ है उसी में मेरा भी हुआ है। हम दोनों के एक ही पिता हैं। केवल मातृदोष से पुरुषों को दोषी नहीं गिना जाता। मैं आर्त हूँ, मुझ पर दया कीजिये—

अपि सुगुण ! मयापि त्वत्प्रसूतिः प्रसूतिः
स खलु निभृतधीमांस्ते पिता मे पिता च।
सुपुरुष ! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो
वरद ! भरतमार्तं पश्य तावद्यथावत् ॥–४।२१

अन्य प्रसङ्गों पर भी भरत का चरित्र निखरता ही गया है और उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है।

सीता—सीता का चरित्र आदर्श पतिव्रता नारी के रूप में अङ्कित किया गया है। पति के सुख-दुःख में वे सहधर्मचारिणी हैं। राम के साथ वन में निवास को 'महान् खलु मे प्रासादः' कहती हैं और रोकने पर भी नहीं रुकतीं। वन में भी वे तापस जीवन व्यतीत करती हैं और परिस्थितियों के अनुकूल व्यवहार करती हैं। वे लघु वृक्षों को अपने हाथों से सींचती हैं। जब राम कहते हैं कि पिताजी का श्राद्ध वैभव के अनुरूप करना है तो वे कहती हैं कि वैभवानुरूप श्राद्ध तो भरत करेंगे ही आप वन्य जीवन के उपयुक्त पुष्प-फल से ही श्राद्ध कीजिये। सीताहरण में सीता के चरित्रोत्कर्ष को प्रदर्शित करने के लिये नाटककार ने लक्ष्मण को वहाँ से हटा दिया है जिससे लक्ष्मण के प्रति कटुवचन कहने का अवसर ही नहीं रह जाता। इस प्रकार यहाँ सीता का चरित्र नितान्त उदात्त तथा प्रोज्ज्वल प्रदर्शित किया गया है।

कैकेयी—नाटकीय कथावस्तु के विन्यास-विस्तार में कैकेयी का महत्त्व बहुत अधिक है। उसके वचनों से राम का वनवास और दशरथ-मरण तथा परवर्ती सारी घटनायें घटित हो रही हैं। इसलिये उसे सभी की ताड़ना तथा उपालम्भोक्तियों को सहना पड़ता है। पर, नाटककार ने उसके एक नये रूप का ही चित्रण किया है। जब भरत कहते हैं कि तेरे कुकृत्य से प्रतापी इक्ष्वाकुओं की स्त्रियों का भी हरण होने लगा तो उससे नहीं रहा जाता। वह कहती है कि ऋषिशाप को सत्य करने मात्र के लिये उसने राम के वनवास का वर माँगा तथा वह चौदह दिन के लिये ही वनवास कहना चाहती थी, किन्तु मानसिक विकलता से चौदह वर्ष निकल गया। यह वरदान सभी ऋषियों को सम्मत था। इस प्रकार नाटककार ने कैकेयी के चरित्र का परिमार्जन करने का पर्याप्त प्रयास किया है, भले ही यह स्थिति वस्तुस्थिति से उलटी हो।

सुमन्त्र—वृद्ध सचिव सुमन्त्र महाराज दशरथ का परम हितैषी तथा सुख-दुःख में सहकारी है। वही श्रीराम को वन में पहुँचाने जाता है। वह वृद्ध है तथा राम के वनवास ने उसे झकझोर कर जर्जर बना दिया है। वद नितांत सौम्य प्रकृति का साधु पुरुष है। वह सभी का विश्वासभाजन है। इसी से श्री-

रामचन्द्र वन में भरत आदि के जाने पर उससे कहते हैं कि 'आप महाराज दशरथ की ही भाँति भरत का हितसाधन तथा संरक्षण कीजिये।' भरत पुनः उसे वन में राम का पता लगाने के लिये भेजते हैं तथा वह आकर सीता-हरण की बात सुनाता है।

अन्य पात्रों में लक्ष्मण श्रीरामचन्द्र तथा सीता के प्रति असीम भक्ति रखनेवाले दर्शाये गये हैं। उनके स्वभाव का औद्धत्य भी कुछ नाटक में उभरा है। शत्रुघ्न का प्रसङ्ग बहुत ही कम आया है तथा वे भातृभक्त दिखायी पड़ते हैं। कौसल्या तथा सुमित्रा पर पुत्रों के वन जाने से विपत्ति का पहाड़ टूट गया है। फिर भी धैर्य से वे उसे सहन करती हैं। वे वार्धक्यपीड़ित हैं। पुत्रों के प्रति उनकी असीम ममता है।

समीक्षण

प्रतिमा नाटक भास के सर्वोत्तम नाटकों में से एक है। सप्ताङ्कविस्तारी इस नाटक में भास की कला पर्याप्त ऊँचाई को प्राप्त कर चुकी है। इस नाटक में भास ने पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है और सम्पूर्ण नाटक को एक नये रूप में ढाल दिया है। इस नाटक में भास ने पात्रों का चारित्रिक उत्कर्ष दिखाने का भरसक प्रयास किया है। इतिवृत्त तथा चरित्र-चित्रण दोनों दृष्टियों से यह नाटक सफल हुआ है। भावों के अनुरूप भाषा तथा लघुविस्तारी वाक्य भास के नाटकों की अपनी विशेषताएँ हैं।

प्रतिमा का प्रधान रस करुण है और अन्य रस इसी के सहायक बनकर आये हैं। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री इसमें 'धर्मवीररस' का अस्तित्व स्वीकार करते हैं पर यह मात्र ऊहा है। वनवास का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर लक्ष्मण के वचनों में वीररस स्फुटित हुआ। वैसे करुणा का प्रसङ्ग व्यापक है।

काव्यकला की दृष्टि से यह नाटक पर्याप्त सफल है। अलङ्कार-योजना सर्वत्र मनोहारिणी है। उपमा का निम्न उदाहरण सहृदयाह्लादकारी है :

अयोध्यामटवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम्।
पिपासार्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव ॥ ३।१०

'पिता और भाई से हीन इस वनतुल्य अयोध्या में मैं उसी भाँति प्रवेश

कर रहा हूँ जैसे कोई तृषित व्यक्ति जलहीन नदी में जल पीने जाय।' उपमा कितनी सटीक है।

पाँचवें अङ्क में अपने हाथों वृक्षों को सींच रही सीता का वर्णन देखिये—

योऽस्याः करः श्राम्यति दर्पणेऽपि स नैति खेदं कलशं वहन्त्याः।
कष्टं वनं स्त्रीजनसौकुमार्यं समं लताभिः कठिनीकरोति॥ ५।३

'जिस सीता का हाथ दर्पण उठाने में भी थक जाता था वह कलश उठाने से भी नहीं थकता। वन लताओं के साथ ही स्त्रीजनों की सुकुमारता को भी कठोर बना देता है।'

निम्न पद्य में अलंकार योजना के साथ वर्ण्य-विषय का चित्रांकन दर्शनीय है :

मेरुश्चलन्निव युगक्षयसन्निकर्षे
शोषं व्रजन्निव महोद्धिरप्रमेयः।
सूर्यः पतन्निव च मण्डलमात्र लक्ष्यः
शोकाद् भृशं शिथिलदेहमतिर्नरेन्द्रः॥ २।१

११—प्रतिज्ञायौगन्धरायण

यह नाटक लोककथाओं पर आश्रित है। प्रथम अङ्क में मंत्री यौगन्धरायण सालक के साथ रङ्गमञ्च पर दिखायी पड़ता है। वह वार्तालाप में यह बात कहता है कि कल प्रातः वत्सराज उदयन वेणुवन के समीप अवस्थित नागवन के लिये प्रस्थान करेंगे। वहीं महासेन प्रद्योत उन्हें बन्दी बनाने का प्रयास करेगा। वह पत्र एवं रक्षासूत्र के साथ सालक को उनकी सुरक्षा के लिये भेजना चाहता है। वह सालक से पूछता है कि उसने मार्ग देखा है या नहीं। सालक कहता है कि यद्यपि उसने मार्ग देखा नहीं है पर सुना अवश्य है अतः शीघ्रता से वहाँ पहुंच जाता है। यौगन्धरायण राजमाता के पास से रक्षासूत्र मंगाता है।

इसी समय उदयन के साथ सदैव रहनेवाला अंगरक्षक हंसक वहाँ आता है और उदयन के बन्दी बनाये जाने का वृत्तान्त बताता है। वह बताता है कि स्वामी बिना किसी को सूचित किये प्रातःकाल नागवन चले गये। उन्हें कुछ

दूर पर एक नीला हाथी दिखायी पड़ा। उसे देखकर उन्होंने उसे चक्रवर्ती हस्ती समझा और कुछ सैनिकों के साथ अपनी वीणा लेकर उसे पकड़ने चल दिये। अमात्य समण्वान् ने उन्हें रोका पर उसे अपनी शपथ देकर वे चले गये। वहाँ जाकर वे अश्व से उतरकर अपनी वीणा लेकर वहाँ पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचते ही उस कृत्रिम गज के भीतर से अस्त्रधारी योद्धा निकल पड़े। उदयन इसे प्रद्योत का कपट समझ गये और अपने सीमित सैनिकों के साथ शत्रु-सैन्य में प्रवेश किया। उन्होंने अत्यन्त पराक्रम से युद्ध किया और सन्ध्या समय तक अनेकों शत्रुओं को काल के गाल में पहुँचा दिया। संध्या होते-होते उनका श्रमित तथा प्रहार से विद्ध अश्व धराशायी हो गया। उदयन भी इसी समय मूर्च्छित होकर गिर पड़े और शत्रु-सैनिकों ने उन्हें बांध लिया। उन्हें वे तब तक पीड़ित करते रहे जब तक चेतना न आयी। चेतना आने पर सभी सैनिक उन्हें मारने के लिये टूट पड़े पर प्रद्योत के मंत्री शालङ्कायन ने उन सभी को रोका और उन्हें बन्धन से मुक्त किया। उसने नाना प्रकार से शान्तिवचन कहकर उन्हें शान्त किया और पालकी पर बिठा कर उन्हें उज्जयिनी ले गया। यह सारी कथा सुना कर हंसक चुप हो जाता है। वह यह भी कहता है कि स्वामी उदयन ने अन्तिम बार मुझसे यह कहा कि यौगन्धरायण से भेंट करना चाहता हूँ। यौगन्धरायण प्रतिज्ञा करता है कि 'यदि राहुग्रस्त चन्द्रमा की भाँति शत्रुओं द्वारा पकड़े गये स्वामी उदयन को मैं मुक्त न कर दूँ तो मेरा नाम उदयन नहीं।' यौगन्धरायण उदयन के बन्दी बनाये जाने का वृत्तान्त राजमाता को सुना देता है। इसी समय महर्षि व्यास वहाँ आते हैं और अपना वस्त्र छोड़ जाते हैं तथा यह भी आशीर्वाद दे जाते हैं कि राजकुल का अभ्युदय होगा। उस वस्त्र को पहनकर यौगन्धरायण अपना वेश परिवर्तन करता है।

द्वितीय अङ्क महासेन प्रद्योत की राजधानी में ला देता है। प्रद्योत-पुत्री पासवदत्ता को मांगने के लिये अनेकों राजाओं से प्रस्ताव आ रहे हैं। काशिराज ने अपने उपाध्याय जैवन्ति को दूत बनाकर भेजा है। राजा प्रद्योत कांचुकीय से वासवदत्ता के विवाह के विषय में बातचीत करते हैं। महासेन की राजमहिषी भी बुलायी जाती है। वह कहती है कि वासवदत्ता की वीणा सीखने

की उत्सुकता है और वह उत्तरा नाम की वैतालिका के पास वीणा सीखने गयी है। रानी के साथ भी काशिराज के यहाँ से आये दूत की चर्चा होती है। राजा कहते हैं कि मगध, काशी, वङ्ग, मिथिला तथा शूरसेन देश के अधिपति कन्याग्रहण के इच्छुक हैं, पर किसे दिया जाय यह निश्चय नहीं होता। इसी समय सहसा कांचुकीय आकर कहता है कि वत्सराज। राजा सतर्क हो जाते हैं। इस अपने अक्रम वचन के लिये क्षमा मांगते हुये कांचुकीय निवेदन करता है कि वत्सराज बन्दी बना लिये गये। पहले तो प्रद्योत को विश्वास नहीं होता, पर कांचुकीय के प्रत्यय दिलाने पर विश्वस्त होते हैं। राजा कांचुकीय से कहते हैं कि राजकुमार के अनुरूप सत्कार कर वत्सराज को भीतर लाओ। उसके चले जाने पर रानो उदयन को ही योग्यवर कहती हैं पर राजा कहते हैं यह बड़ा उद्दण्ड है मेरे सम्मान का ध्यान नहीं रखता। उसे अपने भरतवंश, गांधर्ववेद, सौन्दर्य तथा पौरप्रेम का दर्प है। कांचुकीय लौटकर कहता है कि वत्सराज की घोषवती नामक वीणा को शालङ्कायन ने आपके पास भेजा है। राजा उसे वासवदत्ता को दे देते हैं। राजा प्रद्योत वत्सराज की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखने को कहते हैं। रानी कहती हैं कि अभी वासवदत्ता बच्ची है अतः अभी विवाह की कोई चिन्ता नहीं।

तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में महासेन प्रद्योत की राजधानी में वत्सराज का विदूषक दिखायी पड़ता है। उसने अपना वेष परिवर्तित कर दिया है। वत्सराज के चर तथा अमात्य भी वेष-परिवर्तन कर वहाँ जुट गये हैं। यौगन्धरायण ने उन्मत्तक का वेष बनाया है और रुमण्वान् ने श्रमणक का। विदूषक के लड्डुओं को उन्मत्तक ने लिये हैं। सांकेतिक भाषा में वे बात कर रहे हैं। विदूषक अपने मोदकों को मांग रहा है, पर उन्मत्तक उन्हें नहीं दे रहा है। इसी समय वहाँ श्रमणक के वेश में रुमण्वान् आ जाता है। वे कुछ बातचीत करके मध्याह्न-काल समझ मंत्रणा के लिये अग्निगृह में प्रविष्ट होते हैं। विदूषक बताता है कि वह वत्सराज से मिला था। यद्यपि उनको हमलोगों ने मुक्त करने का सारा उपक्रम कर डाला है पर उन्हें तो वासवदत्ता का दर्शन हो गया है और वे उसे लेकर चलने को कहते हैं। विदूषक के बाद रुमण्वान् भी यही कहता है। यौगन्धरायण कहता है कि यह तो बड़ी हास्यास्पद बात है

कि इस निन्दनीय अवस्था को प्राप्त होकर भी स्वामी को काम सता रहा है। पर, चाहे जो हो हमलोगों को तो उनकी इच्छा का अनुवर्तन करना ही है। वह प्रतिज्ञा करता है कि 'यदि जिस भांति गांडीवधन्वा अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया उसी भांति राजा वासवदत्ता का हरण नहीं कर लेते तो मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं। यदि घोषवती वीणा, नलागिरि हस्ती, वासवदत्ता तथा राजा को हर कर कौशाम्बी न पहुँचा दूँ तो मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं।' इसी समय दुपहरी ढल जाने तथा जनकोलाहल सुनायी देने से वे इधर-उधर चल देते हैं।

चतुर्थ अङ्क में गात्रसेवक को ढूँढ़ते हुये भट आता है। गात्रसेवक वस्तुतः वत्सराज का चर है जो वेश बदल कर प्रद्योत के यहाँ भद्रवती हस्ती का संरक्षक बना है। यह हाथी का पता न पाकर उसे ढूँढ़ता है और गात्रसेविक कृत्रिक रूप से मद्यप होने का अनुकरण करता है। वह भट को बताता है कि उसने हाथी के अंकुश, घण्टा आदि समस्त पदार्थों को शौण्डिक के यहाँ दे दिया है। वह नशे में एकदम चूर होने का अनुकरण कर रहा है। इसी समय कोलाहल बढ़ता है और शोर में पता लगता है कि वत्सराज वासवदत्ता को लेकर भाग गया। गात्रसेवक अपना असली रूप प्रकट करता है और कहता है कि हम लोग अमात्य यौगन्धरायण के द्वारा विभिन्न स्थलों पर नियुक्त वत्सराज के चारपुरुष (गुप्तचर) हैं। वत्सराज के भाग जाने पर युद्ध प्रारम्भ होता है और उसमें यौगन्धरायण बन्दी बना लिया जाता है। यौगन्धराएण को पकड़े जाने का किञ्चित् भी खेद नहीं, क्योंकि उसने स्वामी का कार्य तो निष्पन्न कर ही दिया। यौगन्धरायण को शस्त्रागार में टिकाया जाता है। शस्त्रागार में प्रद्योत का अमात्य भरतरोहक उससे मिलता है। भरतरोहक वत्सराज के कृत्यों की निन्दा करता है, पर यौगन्धरायण सभी आक्षेपों का उत्तर दे देता है। भरतरोहक उसे शृङ्गार नामक स्वर्णपात्र पुरस्कार में देता है। पहले तो यौगन्धरायण लेना नहीं चाहता, पर जब सुनता है कि प्रद्योत ने वत्सराज द्वारा वासवदत्ता के भगाये जाने का अनुमोदन कर चित्रफलक के द्वारा दोनों का विवाह कर दिया है तो इस उपहार को स्वीकार करता है।

भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का नामकरण—इस नाटक का नामकरण अमात्य यौगन्धरायण की प्रतिज्ञाओं पर आश्रित है। प्रथमबार जब वह सुनता है कि कपट के माध्यम से प्रद्योत ने वत्सराज को बन्दी बना लिया तो प्रतिज्ञा करता है कि 'यदि मैं वत्सराज को छुड़ा नहीं लेता तो यौगन्धरायण नहीं।' इस प्रतिज्ञा के उत्तीर्ण होने के अवसर पर ही एक दूसरी बात सामने आ जाती है। उदयन के भागने का वह सारा प्रबन्ध कर देता है पर उदयन कहता है कि मैं वासवदत्ता को लेकर भागना चाहता हूँ। विदूषक तथा रुमण्वान् के द्वारा जब यौगन्धरायण इस बात को सुनता है तो पुनः प्रतिज्ञा करता है—'यदि वत्सराज के द्वारा मैं अर्जुन के द्वारा सुभद्रा की भाँति वासवदत्ता का हरण नहीं करा देता तो मैं यौगन्धरायण नहीं। यदि घोषवती वीणा, भद्रवती हाथी, तथा वासवदत्ता का मैं हरण नहीं करा देता तो यौगन्धरायण नहीं।' यौगन्धरायण की इन्हीं प्रतिज्ञाओं पर इस नाटक का नामकरण हुआ है।

नाटकीय कथा का आधार—उदयन तथा वासवदत्ता की प्रेमकहानी उज्जयिनी के लोगों के मुख पर रहती थी। इसका स्पष्ट उल्लेख कालिदास ने किया है—'प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्'—(मेघदूत)। इसी लोकप्रचलित कथा को आधार बनाकर भास ने इस नाटक की रचना की है। वत्सराज उदयन का आख्यान गुणाढ्य की वृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर में उपलब्ध हैं। सम्भव है लोककथा का वही वास्तविक रूप रहा है जो कथासरित्सागर तथा वृहत्कथामञ्जरी में उपलब्ध है, और भास ने उसमें यथेच्छ परिवर्तन किया हो। यह भी सम्भावना है कि भास के नाटकों में उपलब्ध कथा का रूप भी प्रचलित रहा हो। यह प्रायेण पाया जाता है कि एक ही लोककथा विभिन्न स्थानों तथा व्यक्तियों के माध्यम से विभिन्न रूप धारण कर लेती है। उदयन की कथा इतनी लोकप्रिय रही है कि विभिन्न नाटककारों ने इसे वर्णित करने में अपनी लेखनी की सार्थकता समझी। उन्मथवासवदत्ता, वीणावासवदत्ता तथा रत्नावली ऐसी ही नाट्यकृतियाँ हैं। किमप्यस्तु, भास के नाटक में प्रचलित लोककथा से अन्तर स्पष्ट है।[1]

---

१. भास के नाटकों में उदयन की कथा के परिवर्तन के लिये द्र० अय्यर-कृत 'भास' पृष्ठ २०३-२०६

चरित्र-चित्रण—वत्सदेशाधीश उदयन कलाकारों का शिरमौर है। उसका जन्म प्रख्यात भरतवंश में हुआ है। वह अद्वितीय रूपवान् है और उसके रूप-गुण पर महासेन प्रद्योत की स्त्री भी लुब्ध हैं। वीणावादन में वह आचार्य है। उसके वीणा बजाने में इतना गुण है कि उन्मत्त गज भी सहज में ही वशीभूत हो जाते हैं। इसी वीणा के सहारे वह प्रद्योत के मायागज को वशीभूत करना चाहता है पर दैव-दुर्विपाक से स्वयं ही वशीभूत हो जाता है। उसके वीणा की प्रसिद्धि देश-देशान्तर में फैली हुई है और बन्दी अवस्था में ही उसे प्रद्योतपुत्री वासवदत्ता को वीणा सिखाने का दायित्व मिलता है। अतुलित कलाप्रेमी होने के साथ ही साथ उसमें शौर्य-पराक्रम की भी कमी नहीं। कृत्रिम गज को पकड़ने का प्रयास करते समय जब प्रद्योत की सेना उस पर टूट पड़ती है तो वह जरा भी विचलित नहीं होता और अनेकों को मृत्यु के घाट भेज देता है। यहाँ उसके धैर्य तथा पराक्रम की परीक्षा होती है और इसमें वह सफल होता है। अन्ततोगत्वा वह बन्दी बना लिया जाता है। वहाँ भी उसके गुणों तथा रूप की धाक जम जाती है। बन्दी अवस्था में भी वह मन से बन्दी नहीं है और यौगन्धरायण द्वारा मुक्ति का पूरा प्रबन्ध कर लेने पर भी वासवदत्ता को लेकर चलने की ही ठानता है। इस काम में वह अपने कौशल तथा यौगन्धरायण के बुद्धिकौशल से सफल होता है। यह भास की महती सफलता है कि नायक को रङ्गमञ्च पर आने का मौका न देकर भी कथासूत्र को उसी में पिरोये हैं।

यौगन्धरायण—अमात्य यौगन्धरायण बुद्धिमत्ता तथा नीतिकौशल का चूडान्त निदर्शन है। वैसे अमात्य का पाना ईर्ष्या की वस्तु है। कलाकार और विलासी राजा का इस प्रकार संरक्षण कि उसका पराधीन होने पर भी बाल बाँका न होने देना उसकी सफलता के प्रतीक हैं। यद्यपि पहली बार वह चूक जाता है और छल से वत्सराज बन्दी बना लिये जाते हैं, पर, अपनी इस असफलता का वह इतना सुन्दर प्रतीकार करता है कि विरोध पक्ष के मन्त्रियों का शिर सर्वदा के लिये अवनमित हो जाता है। प्रथम अङ्क में ही वह प्रतिज्ञा करता है कि यदि वत्सराज को मुक्त नहीं कराता तो मैं यौगन्धरायण नहीं। यह महान् आत्मविश्वास का निदर्शन है। यदि उसने मूल गँवाया है तो ब्याज के

साथ—वह भी बड़ी ऊँची दर की ब्याज से, उसे वापस लाता है। वासवदत्ता का हरण सामान्य बात नहीं, वह भी महासेन के संरक्षण से। वह इतना बड़ा नीतिज्ञ है कि सारी उज्जयिनी को अपने गुप्तचरों से पाट देता है। वत्सराज को मुक्त कराने में वह स्वयं को दाव पर रख देता है। वह वेश बदल कर विपत्तियों का सामना करता है और स्वयं को विपत्ति में डाल देता है। वह बन्दी बना लिया जाता है, किन्तु इसका उसे रञ्चमात्र भी खेद नहीं। उसकी बन्दी अवस्था में जब भरतरोहक वत्सराज पर आक्षेप करता है तब यौगन्धरायण तर्कयुक्त वचनों से उसका समाधान कर देता है।

उज्जयनी के स्वामी महासेन प्रद्योत प्रतापी राजा है। सर्वत्र उनके आधिपत्य का सम्मान है। इसमें यदि कोई बाधक है तो केवल उदयन। इसी की उसे चिढ़ है। पर, वह गुणग्राहक भी है। मन ही मन वह वत्सराज के गुणों का प्रशंसक है। जब उसकी रानी उदयन को कन्या देने के विषय में कहती है तो वह कहता है कि वर के सर्वथा उपयुक्त होने पर भी वत्सराज दर्प से भरा है। उसकी सदाशयता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि वत्सराज के बन्दी बनाये जाने पर वह उसके साथ राजकुमार-जैसा व्यवहार करने को कहता है। जब वत्सराज प्रद्योततनया वासवदत्ता का हरण कर भगा ले जाता है उस समय भी वह सबका समाधान कर इस सम्बन्ध का अनुमोदन करता है और चित्रफलक के सहारे दोनों का विवाह कर देता है।

रुमण्वान् तथा विदूषक दोनों स्वामिभक्त हैं। राजा का दुःख-सुख में सदैव साथ देते हैं। पर विदूषक में धैर्य की मात्रा कम दिखायी पड़ती है। अग्निगृह में मन्त्रणा करते समय वत्सराज के वासवदत्ता के हरण का प्रस्ताव सुनाकर वह खिन्न होता है और साथ छोड़कर चल देने का प्रस्ताव करता है। पर यौग धरायण उसे धैर्य दिलाता है। वैसे, इन दोनों का चरित्र इस नाटक में विकसित नहीं हो सका है। प्रद्योत के मंत्रियों में भो बुद्धिमत्ता की कमी नहीं पर यौगन्धरायण के सामने वे असफल हो जाते हैं। प्रद्योत की पत्नी गुणग्राही तथा कन्या के प्रति असीम स्नेह रखने वाली प्रतीत होती हैं।

समीक्षण—प्रतिज्ञायौगन्धरायण भास के सफल नाटकों में से एक है। यह उस समय रचा गया जब भास की कला पूर्ण प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुकी थी।

कथानक का विन्यास, पात्रों का चरित्राङ्कन, संवाद, और प्रभावान्विति सभी इस नाटक में सफलता को प्राप्त कर चुके हैं। कथावस्तु का विन्यास इस क्रम से हो रहा है कि एक पर एक घटनायें त्वरित गति से बढ़ रही हैं। कथाभाग को शीघ्रता से प्रदर्शित करने के लिये सूच्यांश की अधिकता इस नाटक में अधिक है। उदयन के बन्दी बनाये जाने का सारा वृत्तान्त दर्शक को सुनना पड़ता है। वासवदत्ता के हरण का वृत्तान्त भी सूचित ही कर दिया जाता है। इस सन्दर्भ में संवादों का महत्त्व सुतरां बढ़ जाता है। प्रसङ्गानुकूल ऐसे संवाद जड़ दिये गये हैं जो दर्शकों के सामने एक नया ही वातावरण उपस्थित कर देते हैं। जब प्रद्योत अपनी महिषी से नाना देश के राजाओं का नाम बता कर कहते हैं कि इसमें किसे कन्या दो जाय उसी समय सहसा बाहर से आकर काञ्चुकीय कहता है 'वत्सराज'। यद्यपि उसका तात्पर्य वत्सराज को बन्दी बताना है पर वहाँ सहसा यह मालूम पड़ता है कि वह उदयन को उपयुक्त वर बता रहा है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटककार ने पात्रों के चरित्र को बड़े ही आकर्षक रूप में रखा है। जहाँ उदयन कलाप्रेमी, रूपवान् तथा शौर्य के प्रतीक-प्रदर्शित किये गये हैं वहीं यौगन्धरायण नीति-विशारद के रूप में दर्शाया गया है। प्रद्योत का चरित्र भी उदात्त प्रदर्शित किया गया है। लघुविस्तारी वाक्यों तथा बोधगम्य भाषा के द्वारा सामाजिकों का परितोष भास की अपनी विशेषता है।

मनोविकारों के यथातथ्य वर्णन का यहाँ प्राचुर्य है। वत्सराज के बन्दी बनाये जाने पर जहाँ यौगन्धरायण को अपनी नीति पर खीझ होती है वहीं उसमें आत्मविश्वास का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। प्रद्योत के द्वारा कन्यादान के विषय में माताओं की प्रवृत्ति का वर्णन मनोविकारों के सूक्ष्म अन्वीक्षण का परिणाम है :—

अदत्तेत्यागता चिन्ता दत्तेति व्यथितं मनः।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः ॥२।७॥

काव्यकला के परिपाक की दृष्टि से भी यह नाटक ऊंची कक्षा को प्राप्त है। इस नाटक में राजनीति और कूटनीति का साम्राज्य है। परवञ्चना ही इसकी

रीढ़ है। स्वामिभक्ति का महत्त्व इस नाटक में सर्वत्र लक्षित होता है। स्वामि-भक्तिपरक यह पद्य दर्शनीय है :

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत् ॥४-२॥

सूक्तियों का इस नाटक में प्राचुर्य है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं : सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम् (१।४), भूमिर्भर्तरिमापन्नं रक्षिता परिरक्षति (१।६), मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति (१।१८), नीते रत्ने भाजने को निरोधः (४।११) इत्यादि।

१२—स्वप्नवासवदत्तम्

यह भास का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसकी 'स्वप्ननाटक' भी संज्ञा है। इसके कथानक का भी आधार वत्सराज उदयन का चरित्र है। घटनाक्रम की दृष्टि से यह प्रतिज्ञानाटक का परवर्ती भाग है। स्वप्न वाला दृश्य नितान्त महत्त्वपूर्ण है और संस्कृत नाटकों की कक्षा में इस नाटक को ऊँचाई पर पहुँचा देता है। प्रथम अङ्क में तपोवन का दृश्य है। अमात्य यौगन्धरायण परिव्राजक के वेष में तथा वासवदत्ता आवन्तिका के वेष में दिखायी पड़ते हैं। मगधनरेश दर्शक की माता तपोवन में निवास कर रही है। उसी को देखने के लिये मगधेश्वर की बहन पद्मावती आ रही है। उसके संरक्षक लोगों को खदेड़ कर मार्ग खाली करा रहे हैं। उनके द्वारा इस निस्सारण-क्रिया को देखकर यौगन्धरायण को आश्चर्य होता है कि इस शान्त तपोवन में निस्सारण-क्रिया कैसे हो रही है। अपमान को न सहनेवाली वासवदत्ता को इस बात का क्लेश होता है कि उसकी भी अवधीरणा होगी। यौगन्धरायण उसे सान्त्वना देता है और कहता है कि भाग्य की दशा चक्र के आरे की भाँति ऊपर-नीचे आती-जाती रहती है अतः इसमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इसी समय मगधराज का काञ्चुकीय वहाँ आता है और भटों को इस निस्सारण-क्रिया से विरत करता है।

पद्मावती राजमाता का दर्शन कर आशीर्वाद प्राप्त करती है। उसकी इच्छा है कि अभ्यर्थियों को दान-मान से सन्तुष्ट किया जाय। उसके निदेश से काञ्चुकीय आश्रमवासियों से पूछता है कि जिस किसी को जो वस्तु अभीष्ट हो

वह माँग ले। वहाँ के तापसों में से तो कोई याचना नहीं करता पर यौगन्धरायण आगे बढ़कर कहता है कि 'यह मेरी भगिनी है, इसका आप संरक्षण करें। बिचारी प्रोषितपतिका है।' पद्मावती पहले तो उस भार को वहन करने में ढील दिखाती है पर प्रतिज्ञा का स्मरण कर उसे रख लेती है। दैवज्ञों से यौगन्धरायण ने सुना है कि पद्मावती उदयन की पत्नी होगी अतः वासवदत्ता को उसे सौंपना वह नितान्त उपयोगी समझता है। पद्मावती ही वासवदत्ता की साक्षिणी होगी।

इसी समय वत्सदेश के लावाणक ग्राम से एक ब्रह्मचारी आता है और बताता है कि 'वहाँ बड़ी दुर्घटना घटित हो गयी। उस ग्राम में वत्सराज उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता तथा अमात्यों के साथ ठहरे हुए थे। एक दिन जब वे मृगया के लिये गये थे उनके आवास में आग लग गई। उदयन की पत्नी वासवदत्ता उसी से जल गयी तथा उसी के बँचाने के प्रयास में मन्त्री यौगन्धरायण भी जल गया। जब राजा आखेट से लौटे तो उन्हें महान् सन्ताप हुआ। वे प्राणत्याग कर रहे थे कि अमात्यों ने बड़े प्रयत्न से उन्हें विरत किया। पत्नी के विरह से उनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गयी है पर, मन्त्री रुमण्वान् उनका सम्यक् रक्षण कर रहा है।' ब्रह्मचारी यह सुनाकर चला जाता है। यौगन्धरायण भी आज्ञा लेकर चला जाता है।

द्वितीय अङ्क में पद्मावती और वासवदत्ता कन्दुक खेलती दिखाई पड़ती हैं। वासवदत्ता पद्मावती के साथ परिहास भी कर रही है। पद्मावती को वह महासेन की होनेवाली वधू कहती है। इसी समय चेटी कहती है कि भर्तृदारिका पद्मावती उसके साथ सम्बन्ध नहीं चाहती। यह वत्सराज उदयन को चाहती है क्योंकि वह बड़ा दयालु है। वासवदत्ता सोचती है कि इसी तरह वह भी उन्मत्त हो गयी थी। इसी समय धात्री आती है और कहती है कि पद्मावती उदयन को दे दी गई। वासवदत्ता को यह सुनकर ठेस लगती है और सहसा कह उठती है कि यह तो बड़ा बुरा हुआ। यद्यपि मनोवेग के कारण वह बोल जाती है पर समाधान करते हुये कहती है कि पहले तो वह अपनी स्त्री के लिये इतना उन्मत्त था और अब विरक्त हो गया। वासवदत्ता यह भी पूछती है कि क्या उसने स्वयं पद्मावती का वरण किया? धात्री बताती है कि वह किसी

प्रसङ्ग से यहाँ आया हुआ था तो हमारे महाराज ने स्वयं उसे कन्या दे दी। इसी समय एक चेरी आकर कहती है कि आज ही मंगल-मुहूर्त है अतः शीघ्रता कीजिये। धात्री के साथ सभी चली जाती हैं।

तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में चिन्ताकुला वासवदत्ता दिखाई पड़ती है। उसे बड़ा दुःख है कि वत्सराज उदयन भी अब दूसरे के हो गये। वह तर्क-वितर्क कर ही रही है कि पुष्पों को लेने वहाँ चेटी पहुँचती है। वह वासवदत्ता से कहती है कि मालकिन ने कहा है कि 'आप महाकुलप्रसूता, स्निग्धा तथा निपुणा हैं अतः आप ही इस कौतुकमाला को गूथें।' वासवदत्ता मानसिक कष्ट के साथ माला गूँथती है। माला गूँथते समय वह उदयन की प्रशंसा सुनती जाती है। चेटी माला लेकर चली जाती है।

चतुर्थ अङ्क में विदूषक रङ्गमञ्च पर दिखायी पड़ता है और उदयन के विवाह-सम्पन्न हो जाने की सूचना देता है। उसे इस बात की प्रसन्नता है कि वासवदत्ता दाहरूप महान् अनर्थ हो जाने से जो आपत्ति आ गई थी उसका पद्मावती-परिणय से शमन हो गया। मगधराज के यहाँ उदयन का आदर-सत्कार हो रहा है। इसके अनन्तर पद्मावती वासवदत्ता के साथ शेफालिका गुच्छों का अवलोकन करने के लिये आती है। उसके साथ में चेटी भी है। वासवदत्ता पद्मावती से पूछती है कि क्या तेरा पति प्रिय है? पद्मावती इसका उत्तर यह कह देती है कि 'यह तो पता नहीं, पर, इतना अवश्य है कि उसके बिना मेरा मन नहीं लगता।' पद्मवती यह भी कह बैठती है कि जितने हमें आर्यपुत्र प्रिय है उतने ही क्या वासवदत्ता को भी प्रिय थे?' वासवदत्ता स्वभावतः कह बैठती है कि 'इससे भी अधिक प्रिय थे।' पद्मावती तुरन्त पूछती है कि यह तुम्हें कैसे पता है। वासवदत्ता कहती है कि यदि ऐसा न होता तो वह परिजनों को क्यों छोड़ती? वे आपस में इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहीं हैं कि उदयन वहाँ विदूषक के साथ आ जाता है। उसे देखकर पद्मावती तथा वासवदत्ता लता-गुल्म में छिप जाती हैं। उदयन वहाँ की छटा को देखता है। इसी समय विदूषक वसन्तक उससे पूछता है कि वासवदत्ता तथा पद्मावती में आपको कौन अधिक प्रिय है? पहले तो वत्सराज अना-कानी करता है पर विदूषक के ज्यादा आग्रह करने पर कहता है कि यद्यपि रूप, गुण तथा दाक्षिण्य में पद्मावती अधिक है, पर, वासवदत्ता

में आकृष्ट मेरे मन को आकर्षित नहीं कर रही है। यह सुनकर वासवदत्ता को परम प्रीति होती है और राजा के दाक्षिण्य की पद्मावती भी प्रशंसा करती है। अब उदयन भी वसन्तक से पूछता है कि तुम्हें कौन अधिक प्रिय है और वसन्तक पद्मावती की अधिक प्रशंसा करता है। राजा अनजाने ही कहता है कि मैं इसे वासवदत्ता से कहूँगा। वसन्तक उसे मरा बताता है। सहसा प्रबुद्ध होने पर उदयन को वासवदत्ता की स्मृति हो जाती है और वह रोने लगता है। उपयुक्त अवसर पाकर वासवदत्ता वहाँ से चली जाती है। पद्मावती अब उदयन के पास जाती है। उदयन बहाना करते हुये कहता है कि पुष्पों की रेणु से आँख में आँसू आ गये। पद्मावती जल से उसका मुखमार्जन कराती है।

पञ्चम अङ्क में ज्ञात होता है कि पद्मावती को शीर्षवेदना हो रही है और वह समुद्रगृहक में पड़ी है। मधुरिका वासवदत्ता को समाचार बताने जाती है जिससे आकर वह मधुर कथाओं से पद्मावती का मनोविनोद करे। पद्मिनिका यह खबर उदयन को बताने जाती है। उसे मार्ग में विदूषक मिल जाता है और स्वामी को सूचना देने के लिये कहकर शीर्षानुलेपन लाने चली जाती है। विदूषक जाकर यह समाचार उदयन से कहता है और समुद्रगृहक में चलने के लिये कहता है। उदयन कहता है ज्योंही मेरा पूर्व शोक मन्द हो रहा था यह दूसरी विपत्ति आ पड़ी। वह समुद्रगृहक में जाता है। वहाँ जाकर देखता है कि पद्मावती अभी नहीं आयी है। वह लेट जाता है और विदूषक उसे कहानी सुनाने लगता है। उसे नींद आ जाती है और प्रावारक लाने के लिये विदूषक वहाँ से चला जाता है। इसी समय वहाँ वासवदत्ता भी आ जाती है। वह उदयन को सोया हुआ देखकर उसे पद्मावती समझती है और पार्श्व में लेट जाती है। उदयन स्वप्न में वासवदत्ता का नाम लेकर बोलने लगता है। वासवदत्ता को पता लगता है कि यह पद्मावती नहीं अपितु उदयन है। वह कुछ देर तक वहाँ रहती है और उदयन की नीचे लटकती बाँह को ऊपर उठाकर चली जाती है। उसके निकलते ही उदयन की नींद टूटती है और वह स्वप्नावस्था में ही उसका पीछा करता है पर द्वार का धक्का लगने से गिर पड़ता है कि इसी समय वहाँ विदूषक आ जाता है। उदयन उससे कहता है कि उसने वासवदत्ता का दर्शन कर लिया है। पर विदूषक इसे स्वप्न अथवा माया

कहता है। उदयन कहता है कि यदि यह स्वप्न है तो स्वप्न ही सदैव बना रहे क्योंकि जागरण से यही अधिक हितावह है। उनके बातचीत करते समय ही मगधराज का काञ्चुकीय वहाँ आता है और कहता है कि आपका अमात्य रुमण्वान् आरुणि को मारने के लिये सेना के साथ सन्नद्ध है और मगधराज की सेना भी उसका अनुगमन कर रही है अतः आप तैयार हो जाइये।

षष्ठ अङ्क में महासेन का काञ्चुकीय रैभ्य तथा वासवदत्ता की धात्री वसुन्धरा अवन्ती से उदयन से भेंट करने के लिये आती हैं। प्रतीहारी से यह भी पता चलता है कि किसी व्यक्ति ने नर्मदातटीय जंगल में घोषवती नामक वीणा पायी थी जिसकी ध्वनि को सुन कर महाराज ने उसे मँगा लिया है तथा वासवदत्ता का स्मरण कर विलाप कर रहे हैं। उदयन को महासेन के यहाँ से काञ्चुकीय तथा धात्री के आने की सूचना दी जाती है और पद्मावती के साथ वह उनसे भेंट करता है। महासेन की महिषी अङ्गारवती का सन्देश सुनाते हुये धात्री कहती है कि महारानी ने कहा है 'तुम्हारा और वासवदत्ता का सम्बन्ध तो हम लोगों को अभीष्ट था ही, पर तुम चापल्यवश जल्दी ही भाग गये। तुम्हारे जाने पर हम लोगों ने चित्रफलक के सहारे तुम दोनों की शादी कर दी। अब इस चित्रफलक को लेकर धैर्य धारण करो।' उस चित्रफलक को देखकर पद्मावती कहती है कि ऐसी ही स्त्री एक मेरे पास है जिसे एक ब्राह्मण ने प्रोषितपतिका कहकर न्यास के रूप में रखा है। ब्राह्मण का न्यास सुनकर उदयन कहता है कि तुल्यरूपता संसार में होती है अतः वह कोई दूसरी स्त्री होगी।

इसी समय अपना न्यास लौटाने यौगन्धरायण भी आ जाता है। वासवदत्ता लायी जाती है और सब लोग उसे पहचान लेते हैं। यौगन्धरायण राजा के पैरों पर गिर पड़ता है। पद्मावती भी अविनय के लिये वासवदत्ता से क्षमा माँगती है। वत्सराज उदयन के द्वारा इस प्रपञ्च का रहस्य पूछे जाने पर यौगन्धरायण बताता है कि दैवज्ञों ने आपका पद्मावती के साथ परिणय बताया था। अतः यह परिणय एवं मगधराज के साहाय्य से वत्सभूमि की प्राप्ति दोनों ही कार्य सिद्ध हो गये। महासेन को यह प्रियसंवाद सुनाने के लिये पद्मावती के साथ सभी लोग उज्जयिनी जाने के लिये प्रस्तुत होते हैं। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक का नामकरण—इस नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्तम्' राजा के द्वारा स्वप्न में वासवदत्ता के दर्शन पर आधृत है। स्वप्न वाला दृश्य संस्कृत नाट्य साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। पञ्चम अङ्क में पद्मावती को शीर्षवेदना से पीड़ित जानकर उदयन उसे देखने समुद्रगृहक में जाता है और उसे वहाँ न पाकर वहीं सो जाता है। इसी समय वासवदत्ता भी वहाँ आती है और उदयन को पद्मावती समझ लेट जाती है। पर राजा को स्वप्न में बोलते सुन उसे पहचान कर वह चल देती है। राजा भी सहसा उठकर दौड़ता है पर दरवाजा से टकराकर गिर जाता है। यह घटना बड़ी ही सरस तथा हृदयावर्जक है। भास की कल्पना ने पद्मावती की शीर्षवेदना के व्याज से उदयन और वासवदत्ता को एकत्र संघटित कर दिया है। कुछ लोग इस नाटक के नामकरण के विषय में कहते हैं कि इसका नाम 'पद्मावती-परिणय' या 'उदयनोदय' होना चाहिये। परन्तु, जो सरसता और कल्पना का प्रसाद स्वप्न दृश्य में है वह इस नाटक का आत्मा है और उस आधार पर यह नामकरण सर्वथा यथार्थ है।

नाटक का आधार—प्रतिज्ञागयौन्धरायण की ही भाँति स्वप्नवासवदत्तम् की कथा का आधार उदयन से संबन्धित लोककथा है। इस नाटक में भी प्रचलित कथा से नाटककार ने पर्याप्त परिवर्तन किया है। प्रसिद्ध कथा में यौगन्धरायण ने वासवदत्तादाह की झूठी अफवाह फैलाकर तथा पद्मावती के साथ उसका परिणय कराकर इसे चक्रवर्ती सम्राट् बनाने का काम किया। कदाचित् दर्शक इस कथा को पसन्द न करते इसीलिये नाटककार ने चक्रवर्ती बनाने के उद्देश्य से नहीं, अपितु, आरुणि से पदाक्रान्त कौशाम्बी की रक्षा के लिये वासवत्तादाह की झूठी अफवाह का कथानक बनाया है। इसी प्रकार 'स्वप्न' वाला दृश्य भी लोक कथा में नहीं है। यह नाटककार की उद्भावना है। अन्य परिवर्तन भी तुलना करने पर स्पष्ट हो जाते हैं।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक का नायक उदयन कलाप्रेमी, विलासी तथा रूपवान् है। इसके रूप की प्रशंसा सभी समानरूपेण करते हैं (द्र० द्वितीय अङ्क जहाँ वासवदत्ता उसे दर्शनीय कहती है तथा तृतीय अंक जहाँ चेटी उसे शरचापहीन कामदेव बताती है)। वह वत्सदेश का अधिपति है। उसके

वीणावादन की प्रसिद्धि सर्वत्र फैल चुकी है। राजा मृगया का भी प्रेमी है। मृगया के लिये बाहर जाने पर ही लावाणकदाह की घटना घटित होती है। वह दाक्षिण्य गुण से युक्त है। वासवदत्ता की स्मृति उसे सदैव बनी है और पद्मावती-परिणय के अनन्तर भी विदूषक के पूछने पर कहता है कि पद्मावती वासवदत्ता की भाँति मन को आकृष्ट नहीं कर रही है। इसी दाक्षिण्यगुण के कारण अपने वासवदत्ता के प्रति प्रेम को वह पद्मावती के सामने प्रकट नहीं होने देता।

राजा में विवेक की कुछ कमी प्रतीत होती है। इसी कारण अन्तिम अङ्क में यौगन्धरायण के विरोध करने पर भी वह वासवदत्ता को भीतर जाने के लिये कहता है, यद्यपि उसे उसका पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त हो सका है। यह उसके सद्यः पूर्व के वक्तव्य—'परस्परगतालोके दृश्यतो तुल्यरूपता' से मेल नहीं खाता। यवनिका-प्रक्षेप के बाद ही उसे वस्तुस्थिति का ठीक ज्ञान होता है। नायक के वर्गीकरण में उदयन धीरललित नायक ठहरता है। साहित्यदर्पण के अनुसार धीरललित नायक 'निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्' होता है। ये गुण उसमें पूर्णता के साथ हैं। निश्चिन्त तो वह इतना है कि राज्यभार पूर्णतः मन्त्रियों पर छोड़ देता है। कलापरायणता का पूछना ही नहीं। मृदु इतना है कि क्रोध का दर्शन नहीं होता।

परन्तु, धीरललित होने के अलावे शौर्य का उसमें अभाव नहीं। पञ्चम अंक के अन्त में जब उसे सूचना मिलती है कि रुमण्वान् ने आरुणि पर आक्रमण कर दिया है और सहायता के लिये मगधनरेश की सेना सन्नद्ध है तो वह भी उद्यत हो जाता है। गुरुजनों के प्रति सम्मान की भावना उसमें भरी है। जब महासेन तथा अङ्गारवती के यहाँ से आया ब्राह्मण तथा धात्री सन्देश सुनाते हैं तो 'क्या आज्ञा है' कहकर वह आसन से उठ जाता है। जो व्यक्ति किसी के आदेश को सुनने के लिये आसन से उठ जाता है वह गुरुजनों के प्रत्यक्ष होने पर कितना सम्मान करेगा यह सहज अनुमेय है।

वासवदत्ता—रूपयौवनशालिनी वासवदत्ता अत्यन्त पतिभक्त रमणी है। वह ऐसी पतिव्रता रमणियों की कक्षा में दिखायी पड़ती है जो स्वामिहित के लिये सर्वस्व त्यागने के लिये प्रस्तुत रहती हैं—प्रस्तुत ही नहीं रहतीं त्याग देती हैं। वासवदत्ता उज्जयिनी-नरेश महासेन प्रद्योत की पुत्री है। बन्दी अवस्था में

उदयन के रहते समय उसका परिचय हुआ। यही परिचय प्रगाढ़ होकर प्रेम में परिणत हो गया। महासेन दोनों का ब्याह करानेवाले ही थे कि चापल्यवश उदयन वासवदत्ता को लेकर भाग गया।

वासवदत्ता में स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी है। अवधीरणा की बात सुनकर भी वह कांप उठती है। प्रथम अंक में जब देखती है कि मगधराज के अनुचर लोगों को रास्ते से खदेड़ रहे हैं तो उसे सम्भावना होती है कि वह भी हटायी जायेगी। इस परिभव से वह खिन्न होती है। वह गुणग्राहिणी है। पद्मावती के रूप की प्रशंसा वह खुले मुँह से करती है—अभिजनानुरूपं खल्वस्या रूपम्। उसे पतिव्रता के धर्म का ज्ञान है और इसीलिये सदैव परपुरुषदर्शन का निषेध करती है। वह 'धीरा' वर्ग की नायिका है। वह उदयन की मंगलकामना करती है इसीलिये उसके विरहपर्युत्सुक मन के लिये पद्मावती को विश्रामभूता मानती है। परन्तु सब कुछ होते हुये भी 'आर्यपुत्रोऽपि परकीयः संवृत्तः' का स्मरण उसे रह-रह कर खल जाता है। उदयन के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर वह फूल उठती है।

पद्मावती—यह मगधनरेश की भगिनी है। वह अत्यन्त रूपवती है। उसके रूप की प्रशंसा स्वयं वासवदत्ता प्रथम अंक में करती है। उसकी वाणी भी मधुर है। उदयन भी उसके रूप की प्रशंसा करता। विदूषक के शब्दों में तो वह सर्वसद्गुणों की आकर है। वह तरुणी, दर्शनीया, अकोपना, अनहंकारा, मधुरवाक् और सदाक्षिण्या है (द्र० चतुर्थ अंक—विदूषक की उक्ति)। अपने कर्तव्य के पालन में वह कभी नहीं चूकती। क्योंकि वासवदत्ता परपुरुषदर्शन का वर्जन करती है अतः उसी के लिये वह उदयन के पास नहीं जाती। वह बुद्धिमती नारी है। जब विदूषक उदयन से पूछता है कि वासवदत्ता और पद्मावती में कौन अधिक प्रिय है तो उदयन कहता है कि नहीं बताऊँगा। इस पर जब वसन्तक पुनः पूछता है तो कहती है कि यह इतने से भी नहीं समझा।

वह उदारमना तथा बड़ों का सम्मान करने वाली है। वन में जिस किसी को उसका अभीष्ट पूरा करने की उद्घोषणा करती है। जिस प्रकार वासवदत्ता आदर्श सपत्नी है उसी प्रकार पद्मावती भी। वह वासवदत्ता के पिता-माता का

अपने अभिभावकों जैसा सम्मान करती है। वासवदत्ता का पता चल जाने पर वह उसके पैरों पर गिर जाती है और अविनय के लिये क्षमा-याचना करती है।

संक्षेप में उदयन की दोनों पत्नियाँ आदर्श गुणों से युक्त हैं।

यौगन्धरायण—यौगन्धरायण आदर्श मंत्री है। नाटक सारा घटनाचक्र उसी के बुद्धिकौशल से चल रहा है। कलाप्रिय विलासी तथा राज्य से उदासीन राजा का मंगल-निष्पादन सरल कार्य नहीं है। यह उसी के बुद्धिवैभव का प्रसाद है। 'स्वामिभक्ति' उसमें पूर्णतः भरी है। स्वामी के भला के लिये वह सब कुछ सहने के लिये तैयार है। स्वामिभक्ति उसमें इतनी है कि ज्योतिषियों के मुख से उसने सुन रखा है कि पद्मावती उदयन की पत्नी होगी। मात्र इतने से ही वह अपना मानने लगा—भर्तृदाराभिलाषित्वादस्यां मे महती स्वता।'

इतना बड़ा बुद्धिकौशल तथा स्वामिभक्ति होने पर भी वह निरभिमानी है और कहता है कि—स्वामिभाग्यस्यानुगन्तारो वयम्। जब उदयन खोयी वत्स-भूमि को पुनः प्राप्त कर लेता है तथा वासवदत्ता भी मिल जाती है उस समय यौगन्धरायण उसके पैरों पर गिर पड़ता है। धन्य है स्वामिभक्ति ! वह कहता है कि यह सारा प्रपञ्च उसने इसलिये रचा कि राज्यविस्तार हो तथा पद्मावती से ब्याह हो। वह आदर्श अमात्य है।

विदूषक (वसन्तक)—पेटू ब्राह्मण वसन्तक उदयन का मित्र है। वह नटखट तथा विनोदी है। पेटपूजा का ध्यान उसे सदैव बना रहता है भले ही अधिक खाने से उदरपीड़ा हो। मगधराज के यहाँ खाने से वह बीमार पड़ गया है। इसका ज्ञान बहुत ही सीमित है। कहानी तो सुनाता है पर इसे पता नहीं के नगर का ब्रह्मदत्त नाम है या व्यक्ति का। यद्यपि दूसरों के प्रेम में उसे आनन्द आता है पर प्रतीत होता है अपने लिये उसे प्रेम नामक वस्तु का ज्ञान नहीं।

समीक्षण—स्वप्नवासवदत्तम् भास की कला की सर्वोत्तम परिणति है। समीक्षकों ने बहुत पहले ही यह जान लिया था कि इसकी रसवत्ता अग्नि में भी नहीं जल सकी। नाटकीय संविधान, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, प्राकृतिक वर्णन और रसोन्मेष सभी इस नाटक में पूर्ण परिपाक को प्राप्त हुये हैं। स्वप्न वाला दृश्य इस नाटक में विशेष महत्त्व रखता है। दर्शक इस दृश्य को देखकर भास के महान् व्यक्तित्त्व से अभिभूत हुये बिना नहीं रह सकते। धीरललित

नायक उदयन का कलाप्रेम यदि एक ओर सहृदय-हृदय का आवर्जन करता है तो दूसरी ओर नीतिज्ञ यौगन्धरायण का बुद्धिविलास मस्तिष्क को चमत्कृत कर देता है।

भास के इस नाटक में एक विचित्र अनूठापन है। लघुविस्तारी वाक्यों में जितना सरस पदविन्यास प्रभावित करता है उतने ही भाव भी रसाप्लावित करते हैं। मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावदशाओं का चित्रण इस नाटक में सर्वत्र देखा जा सकता है।

भास ने इस नाटक में प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा ही व्यापक तथा हृदयहारी वर्णन किया है। ये वर्णन इतने हृदयवर्जक तथा साङ्गोपाङ्ग हैं कि पूरा दृश्य ही सामने नाचने लगता है। तपोवन का यह वर्णन देखिये—

विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि वह्वाश्रयः॥

(स्थान के विश्वास से हरिण विश्वस्त होकर घूम रहे हैं। तोड़ी न जाने से वृक्षों की शाखायें फूल-फलों से लदी हैं। कपिला गायें बहुत दिखायी पड़ रहीं है तथा खेत भी नजर नहीं आ रहे हैं। यज्ञीय धूम चारों ओर से निकल रहा है अतः निश्चय ही यह तपोवन है।)

सन्ध्या का वर्णन देखिये—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥१।१६॥

(पक्षिगण नीडों में चले गये हैं। मुनिजन स्नानार्थ जल में प्रविष्ट हो चुके हैं। सायंकालीन होम-अग्नि जला दी गई है और धूम जंगल में फैल रहा है। दूर से आने के कारण सूर्य की धीरे-धीरे किरणें भी संकुचित हो गयी हैं तथा यह रथ को घुमा कर धीरे-धीरे अस्ताचल में प्रविष्ट हो रहा है।)

इस नाटक में सूक्तियाँ भी सर्वत्र दिखायी पड़ती हैं। ये सूक्तियाँ इतनी

ार्मिक तथा सार्वभौम हैं कि पाठक के हृदय में स्थायी निवास बना लेती ः। कुछ उदाहरण ये हैं :

ालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।–१।४

दुःखं न्यासस्य रक्षणम्।१।१०

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः।४।६

प्रायेण हि नरेन्द्रश्रीः सोत्साहैरेव भुज्यते।–६।७

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले।६।१० इत्यादि।

इस नाटक का प्रधान रस रसराज शृंगार है। वासवदत्ता और उदयन की दृष्टि से विप्रलम्भ शृंगार का ही प्राधान्य है। शृंगार के अलावे उत्साह का भी वर्णन मिलता है। पद्मावती तथा वासवदत्ता के विनोद में शिष्ट हास्य भी दिखाई पड़ता है। विदूषक के वचनों से भी हास्योद्भावना होती है। चिन्ता, स्मृति, शङ्का, सम्भ्रम आदि मनोदशाओं का भी दर्शन होता है। प्रधान रसकी दृष्टि से कोई उद्दीप्त रस लक्षित नहीं होता। मात्र रसों की उद्बुद्धि होती है।

१३—चारुदत्त

महाकवि भास की नाट्य शृंखला में चारुदत्त अन्तिम कड़ी माना जाता है। यह नाटक चार अंकों में विभक्त है। यह नाटक तब रचा गया जब भास की कला चरम प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुकी थी। यह नाटक सहसा समाप्त हो जाता है जिससे प्रतीत होता है कि भास की मृत्यु के कारण यह पूरा नहीं हो सका था। इस कथा की पूर्ति शूद्रक ने अपने मृच्छकटिक में की है। नान्दी के अनन्तर स्थापना में नट रङ्गमञ्च पर दिखायी पड़ता है। प्रातःकाल ही उसे भूख लग गयी है अतः कुछ खाने के उद्देश्य से घर लौट आता है। नटी कहती है कि वह अभिरूपपति नामक उपवास का अनुष्ठान कर रही है अतः किसी ब्राह्मण को निमंत्रण देकर खिलाना है। नट ब्राह्मण को निमंत्रित करने के लिये बाहर निकलता है और उसे चारुदत्त का मित्र मैत्रेय (विदूषक) दिखाई पड़ता है। वह उसे भोजन के लिये निमंत्रण देता है पर मैत्रेय अस्वीकार कर देता है। प्रस्तावना के अनन्तर विदूषक रङ्गमञ्च पर दिखाई पड़ता है। वह कहता है कि आर्य चारुदत्त उसका स्वागत-सत्कार करता है। यद्यपि चारुदत्त

इस समय दारिद्रय से ग्रस्त हो गया है पर वह उसका साथ नहीं छोड़ने को। षष्ठी तिथि के दिन देवबलि करने के लिये वह चारुदत्त के पास पुष्प ले जा रहा है। इसके बाद चारुदत्त विदूषक तथा चेटी रदनिका दिखायी पड़ रहे हैं। चारुदत्त अपनी दरिद्रता पर पश्चात्ताप करता है। उसे इस बात का दुःख नहीं कि वह दरिद्र हो गया है। दुःख इस बात का है कि धन समाप्त हो जाने से सुहृज्जन भी निरादर करने लगे हैं। दुःख के बाद सुख होना अच्छा है पर सुख के बाद दुःख की प्राप्ति जीते ही मृत्यु है। विदूषक उसे सान्त्वना देता है।

तदनन्तर शकार और विट द्वारा पीछा की जा रही गणिका वसन्तसेना दिखायी पड़ती है। गहन अन्धकार से आपूर्ण रात्रि है। अपनी कामपिपासा की परिशान्ति के लिये वे दोनों उसका पीछा कर रहे हैं। उनके वार्तालापों से यह विदित होता है कि वे अत्यन्त क्रूर-प्रकृति के व्यक्ति हैं। उन्हें नरहत्या करने में भी कुछ परेशानी महसूस नहीं होती। शकार अत्यधिक मूर्ख मालूम पड़ता है। पास ही आर्य चारुदत्त का मकान है। उस गहन अन्धकार में गणिका चारुदत्त के दरवाजे से चिपक जाती है। वह अपनी माला को भी फेंक देती है जिससे उसकी सुगन्धि से विट और शकार आहट न पा जायँ। चारुदत्त विदूषक तथा रदनिका को बलि देने के लिये चतुष्पथ पर भेजता है। विदूषक हाथ में दीपक लेकर चलता है। द्वार खोलते ही वसन्तसेना दीपक को बुझा देती है। विदूषक समझता है कि हवा के झोंके से दीपक बुझ गया है और रदनिका को बाहर चलने के लिये कहकर स्वयं दीपक जलाने भीतर चला जाता है। इसी बीच वसन्तसेना भी भीतर चली जाती है। इधर रदनिका को बाहर देख शकार और विट उसे ही वसन्तसेना समझ कर पकड़ लेते हैं। जब दीपक लेकर विदूषक आता है तो वे पहचान कर छोड़ देते हैं। विट क्षमा मांगता है और चारुदत्त से न कहने की प्रार्थना कर चला जाता है। पर शकार विदूषक से यह कहता है कि वह जाकर चारुदत्त से कहें कि चारुदत्त वसन्तसेना को लौटा दे नहीं तो उसका सर तोड़ डालेगा। विदूषक तथा रदनिका उससे छुट्टी पा अपना कार्य समाप्त कर चले जाते हैं। पास खड़ी वसन्तसेना को चारुदत्त रदनिका समझ कर बलिकार्य के बारे में पूछता है पर वह मौन खड़ी

रहती है। इसी समय विदूषक आकर सब वृत्तान्त सुनाता है। वसन्तसेना पहचानी जाती है। वह अपना हार चारुदत्त के यहाँ न्यास रूप में रखकर चली जाती है। उसे पहुँचाने विदूषक जाता है।

द्वितीय अङ्क में गणिका वसन्तसेना और उसकी चेटी परस्पर बातें कर रही हैं। वसन्तसेना वणिक्पुत्र चारुदत्त के प्रति अपनी अनुरक्ति को बताती है। चेटी चारुदत्त को दरिद्र कहती है। पर वसन्तसेना कहती है कि यह भी सौभाग्य की बात है क्योंकि दरिद्र को कामना करने पर यह अपवाद नहीं रहेगा कि वेश्यायें धनिकजनों पर अनुरक्त होती हैं। इसी समय एक व्यक्ति डरा हुआ-सा वसन्तसेना के घर में आता है। वसन्तसेना उसे सान्त्वना देकर उसके बारे में पूछती है। वह बताता है कि 'पाटलिपुत्र का रहनेवाला है। वह जन्म से वाणिक् है पर भाग्यदशा के फेर से संवाहक (अङ्गमर्दन करनेवाला) बन गया। उज्जयिनी में रईशों को सुनकर वह यहाँ आया और चारुदत्त के यहाँ संवाहक का कार्य करने लगा। चारुदत्त के यहाँ उसे प्रभूत स्नेह मिला। पर उसके निर्धन होने पर भृत्यों का भरणपोषण सम्भव न रहा और उसने उसको दूसरे की सेवा करने को कह भेज दिया। वह भी किसी इतर व्यक्ति की सेवा करना ठीक न समझ कर जुआरी बन गया। बहुत दिन जीतने के बाद एक दिन जुये में हार गया और आज विजेता की दृष्टि उस पर पड़ गयी। वह उसका पीछा कर रहा है।' वसन्तसेना जीतनेवाले को उसका द्रव्य दे देती है। और संवाहक को पुनः चारुदत्त की सेवा में जाने को कहती है। संवाहक को वैराग्य उत्पन्न हो गया है। उसके जाने के बाद वसन्तसेना के यहाँ चेट आता है और बताता है कि राजमार्ग पर एक हाथी ने परिव्राजक को पकड़ लिया। कोई भी व्यक्ति छुड़ाने को उद्यत नहीं हुआ पर उसने स्वयं हाथी का शुण्डदण्ड पकड़ कर उसे मुक्त कर दिया। इस पर सभी लोग आश्चर्यान्वित होकर वाह-वाह करने लगे और किसी ने तो उसे कुछ नहीं दिया पर एक व्यक्ति ने निर्धनतावश और कुछ न देकर अपना प्रावारक दे दिया। वसन्तसेना उस व्यक्ति का नाम पूछती है पर चेट उसको नहीं जानता। इसी समय चारुदत्त उधर से निकलता है और चेट उसे दिखा देता है कि इसी व्यक्ति ने प्रावारक दिया है।

तृतीय अङ्क चारुदत्त के घर के दृश्य से प्रारम्भ होता है। रात्रि का समय है। चारुदत्त विदूषक से वीणा की प्रशंसा करता है। विदूषक कहता है कि सोने का समय हो गया है पर नींद नहीं आ रही है। बातचीत करते-करते नायक कहता है कि अष्टमी का चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है। अब अर्धरात्रि हो चली। पैर धुलाकर वह सोने का उपक्रम करता है। इसी समय चेटी वसन्तसेना का दिया हुआ सुवर्णभाण्ड विदूषक को देती है कि वह इस रात उसकी रक्षा करे। विदूषक पहले तो रखने से इनकार करता है पर चारुदत्त के शपथ दिलाने पर रख लेता है। सब लोग सो जाते हैं।

इसी समय सज्जलक नामक चोर चारुदत्त के घर में प्रविष्ट होता है। वह बहुत परिश्रम से सेंध करता है और सेंध मापने के लिये यज्ञोपवीत का उपयोग करता है। अपने इस कुकृत्य पर उसे रह-रह कर पश्चात्ताप भी होता है। प्रवेश करने के बाद दीपक के प्रकाश में वह सारे घर को देख जाता है पर कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं दिखायी पड़ती। इसी समय विदूषक स्वप्न में बोलने लगता है और चारुदत्त से कहता है कि अपना सुवर्णभाण्ड ले लो। मेरी बाँयी आँख फड़क रही है। सज्जलक उसे ध्यान से देखता है और उसे सोया पाता है। वह सुवर्णभाण्ड को देखता है। तदनन्तर वह एक भ्रमर को छोड़ता है जो जाकर दीपक को बुझा देता है। इसी समय विदूषक फिर स्वप्न में ही बोल उठता है कि चोर सुवर्णभाण्ड ले जा रहा है। इसे ले लो। सज्जलक पटह की ध्वनि सुनकर भोर हुआ समझता है और सुवर्णभाण्ड लेकर भाग जाता है।

जागने पर चेटी उस चौर-निर्मित मार्ग को देखती है। धीरे-धीरे सुवर्णभाण्ड की चोरी ज्ञात होती है। विदूषक कहता है कि उसने चारुदत्त को लौटा दिया है। पर पीछे विदूषक को विश्वास होता है कि वस्तुतः चोर ने उठा लिया है। वे चिन्ता में पड़ जाते हैं। इसी समय चारुदत्त की पत्नी वहाँ आती है और जब उसे इस बात का पता लगता है तो अपनी शतसाहस्र-मूल्यवाली माला को देती है। चारुदत्त उसे विदूषक को देकर वसन्तसेना के पास भेजता है कि जाकर यह माला दे दो और कह दो कि तुम्हारे हार को चारुदत्त जुये में हार गया और उसी के बदले तुम्हें यह माला भेजा है।

चतुर्थ अङ्क में एक चेटी आकर वसन्तसेना से कहती है कि यह आभरण तुम्हारी माता ने भेजा है। और इसे पहनकर बाहर खड़ी गाड़ी में बैठकर राजश्यालक के पास जाओ। वसन्तसेना जाने से इनकार कर देती है। इसी समय सज्जलक वहाँ पहुँचता है। वह वसन्तसेना की चेटी मदनिका का प्रेमी है। उसी को मुक्त कराने के लिये उसने आर्यचारुदत्त के घर चोरी की और सुवर्णभाण्ड को प्राप्त किया। वह मदनिका को पास बुलाता है और उससे बातें करता है। वसन्तसेना भी उन्हें देखकर छिप जाती है और उनकी बातें सुनने लगती है। सज्जलक उसे हार दिखाता है और चेटी देखकर तुरन्त पहचान जाती है। सज्जलक अपनी चोरी की बात बताता है। मदनिका कहती है कि वह जाकर वसन्तसेना को दे दे और कहे कि चारुदत्त ने भेजा है। वह स्वीकार लेता है और मदनिका उसे दूर बैठा देती है। इसी समय वहाँ विदूषक आता है और चारुदत्त की आज्ञानुसार शतसाहस्र-मूल्यवाली माला को लौटा देता है। वह जुये में चारुदत्त के हारने की झूठी बात भी बताता है। वसन्तसेना चारुदत्त के इस व्यवहार से और अधिक अनुरक्त हो जाती है।

विदूषक के जाने पर मदनिका सज्जलक को गणिका के पास ले जाती है। वह अपने को चारुदत्त द्वारा भेजा गया बताता है और हार को लौटा देता है। गणिका कहती है कि उसे सज्जलक के साहस का पता है कि किस प्रकार उसने हार लाया है। वह गाड़ी मँगाती है। मदनिका का स्वयं अलङ्करण कर सज्जलक के साथ उसे विदा करती है। सज्जलिक तथा मदनिका वसन्तसेना के इस उपकार पर नतमस्तक होते हैं और गाड़ी पर चढ़कर चले जाते हैं।

वसन्तसेना को इन घटनाओं पर आश्चर्य होता है। वह समझ नहीं पाती कि यह सब स्वप्न हुआ है वा यथार्थ है। वह चतुरिका नामक चेटी को बुलाती है। गणिका उससे कहती है कि इन अलंकार को पहनकर वह चारुदत्त के पास अभिसरण करेगी। चेटी कहती है कि अभिसार के योग्य दुर्दिन भी हो गया है। गणिका कहती है कि 'तू मेरे काम को और उद्दीप्त न कर'। दोनों चली जाती हैं और नाटक समाप्त होता है।

नाटक का नामकरण—इस नाटक का नायक वणिक्-पुत्र आर्य चारुदत्त है। उसी के नाम पर इस नाटक का नामकरण हुआ है। नाटक की सारी

घटनायें उसी के सुकृत्यों पर केन्द्रित हैं। चारुदत्त की दरिद्रता का वर्णन होने से इसे दरिद्र-चारुदत्त भी कहा जाता है।

नाटक का आधार—संभवतः इस कथानक आधार भी लोककथा रहा हो। पीछे शूद्रक ने इसी कथा को आधार बनाकर अपनी अमर कृति 'मृच्छकटिक' की रचना की। मृच्छकटिक पर इस नाटक की छाया स्पष्टतः देखी जा सकती है।

चरित्र-चित्रण—इस नाटक का नायक चारुदत्त वणिक्-पुत्र है। वह अत्यन्त दानी, गुणवान् एवं रूपवान् है। उसके यहाँ याचना व्यर्थ नहीं जाती। उसकी समृद्धि सबकी समृद्धि है वह उस सरोवर की भाँति है जो दूसरी की तृषा का शमन कर स्वयं सूख जाता है। इस दानशीलता के कारण वह दरिद्र हो गया है। दरिद्रता भी इतनी हुई है कि वह अपने भृत्यों का भी भरण-पोषण नहीं कर सकता। इसीलिये अपने संवाहक को अपने पास से हटा दिया है।

चारुदत्त अत्यन्त धीर प्रकृति का आदमी है। इस दारिद्रय में भी वह अपने धर्म से विचलित नहीं होता। उसने अपने दारिद्रय की इसलिये चिन्ता नहीं की कि उसे विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है, अपितु इसलिये कि द्रव्याभाव में आत्मीय जन भी मुँह फेर लेते हैं। उसे इस बात का अभिमान है कि इस विपत्ति की अवस्था में भी उसे विदूषक जैसे मित्र, उसकी पत्नी जैसी सहगामिनी तथा धैर्यवान् मन मिला है—ये दरिद्रता के सहायक हैं।

इस विपत्तिग्रस्त अवस्था में भी उसकी उदारता में कमी नहीं। वसन्तसेना की वह रक्षा करता है और उसके न्यास को सुरक्षित रखता है। वसन्तसेना का चेट जब हाथी से परिव्राजक की रक्षा करता है उस समम वह और कुछ अपने पास न देखकर अपना प्रावारक ही दे देता है। वसन्तसेना का जब न्यास चोर द्वारा चुरा लिया जाता है उस समय वह अपनी स्त्री के हार को उसके पास भेज देता है और झूठा बहाना भी बना लेता है।

चारुदत्त कला का मर्मज्ञ है। तृतीय अंक में वह विदूषक से वीणा की प्रशंसा करता है। वह महान् धार्मिक है और दरिद्रावस्था में भी पूजा और बलि को सम्पन्न करता है। यह सब होते हुये भी वह गणिका के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

वसन्तसेना—इस नाटक की नायिका वसन्तसेना है। मातृपरम्परा से वह उज्जयिनी की एक प्रसिद्ध गणिका है। अत्यन्त रूपवती वसन्तसेना बहुतों को अपने कटाक्षों का आखेट बना चुकी है। शकार और विट उसके रूप-जल के पिपासु हैं। परन्तु गणिका होते हुये भी उसका चारित्रिक स्तर ऊँचा है। वह जिस किसी के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने वाली नहीं। यही कारण है कि वह राजश्यालक से सम्बन्ध स्थापित करने से इनकार करती है।

वसन्तसेना हृदय से अत्यन्त सहृदय है। जब उसे पता लगता है कि सज्जलक ने मदनिका को मुक्त कराने के लिये ही चारुदत्त के घर चोरी की तो न केवल वह मदनिका को मुक्त ही करती है अपितु स्वयं मदनिका का शृङ्गार कर गाड़ी में बैठा सज्जलक के साथ उसे विदा करती है। वह चारुदत्त के गुणों पर अनुरक्त है। उसके एक-एक गुण वसन्तसेना के प्रेम को दृढ़ करते जाते हैं। जहाँ कहीं वह किसी गुण को सुनती है उसे चारुदत्त का ही समझती है तथा नाटकीय कथावस्तु में वह गुणवान् चारुदत्त ही सिद्ध होता है। शकार से रात्रि में रक्षा और विदूषक के साथ वसन्तसेना को सकुशल घर पहुँचाना; चेट को प्रावारक देना, वसन्तसेना के न्यास की चोरी हो जाने पर उसे अपनी स्त्री का अत्यन्त मूल्यवान् हार देना—ये सभी गुण वसन्तसेना के हृदय में स्थायी प्रभाव डालते हैं और वह स्वयं अभिसार के लिये उसके पास चल देती है।

वसन्तसेना गणिका होने पर भी धनलोभिनी नहीं। वह अत्यन्त उदार मनवाली नायिका है। संवाहक पर आपत्ति देखकर वह स्वयं अपने पास से उसका ऋण चुकाती है और उससे प्रत्युपकार की भी आशा नहीं रखती। इसी भांति सज्जलक का सारा कृत्य जानकर भी वह मदनिका को निष्कृति का मूल्य बिना लिये ही उसे सज्जलक के साथ विदा कर देती है। वह चारुदत्त के प्रति अपनी आसक्ति को बताती है और चेटी कहती है कि चारुदत्त दरिद्र है तो वह दरिद्र के पास जाने में ही अपना सौभाग्य बताती है। दरिद्र के पास जाने पर कोई यह नहीं कहेगा कि वसन्तसेना व्यक्ति पर नहीं धन पर अनुराग रखती है।

विदूषक—चारुदत्त का विदूषक मित्र मैत्रेय जन्मना ब्राह्मण है। वह

चारुदत्त का विपत्ति-सम्पत्ति दोनों समयों में साथ देनेवाला है। चारुदत्त को विदूषक की मित्रता का अभिमान है। विदूषक चारुदत्त के सभी कार्यों को निष्पन्न करता है। एक तरफ वह बलि आदि धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता है तो दूसरी तरफ स्वर्णभाण्ड की रखवाली, वसन्तसेना को रात्रि में उसके घर पहुँचाना तथा चारुदत्त की पत्नी के हार को वसन्तसेना के हाथ सौंपना भी उसी के मत्थे पड़ता है। चारुदत्त के लिये वह झूठ भी बोलता है और वसन्तसेना से कहता है कि तुम्हारे हार को चारुदत्त द्यूत में हार गया। चारुदत्त के दान-मान से वह सर्वथा परितुष्ट है और चारुदत्त की अभावावस्था में भी नट के निमन्त्रण को अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चारुदत्त का विदूषक केवल भोजनभट्ट मूर्ख ब्राह्मणमात्र नहीं है। वह समयानुसार उसके हित-सम्पादन के लिए कठिन कार्यों को भी सम्पन्न करता है।

ब्राह्मणी—चारुदत्त की धर्मपत्नी ब्राह्मणी में आदर्श पतिव्रता नारी के गुण विद्यमान हैं। यद्यपि नाटकीय मञ्च पर उसका अल्प कर्तृत्व ही है तथापि उस अल्प हिस्से ने ही उसके चरित्र को इतना प्रोज्ज्वल तथा उदात्त बना दिया है कि उसका चरित्र दर्शक के हृदय पर स्थायी प्रभाव डाल देता है। वसन्तसेना के अपेक्षाकृत अल्पमूल्यवाले हार के चुराये जाने पर वह अपनी महार्ह माला को बिना किसी ननु-नच के वसन्तसेना को देने के लिये देती है। वह वसन्तसेना भी कोई उसके लिये सुखदायिनी नहीं अपितु उसी के सौभाग्य में हिस्सा लेनेवाली है।

सज्जलक—सज्जलक चौर के रूप में प्रदर्शित किया गया है। वह अत्यन्त बलवान् तथा चोरी में निपुण है। चारुदत्त के महल में वह सेंध लगाकर चोरी करता है। यद्यपि उसे चारुदत्त के घर में वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड रखे जाने का पता नहीं है और वह केवल इसीलिये चोरी करने जाता है कि चारुदत्त का महल सुन्दर है पर विदूषक-स्वप्न-वचन से उसे सुवर्णभाण्ड का पता लग जाता है। वह सुवर्णभाण्ड लेकर चम्पत हो जाता है। सज्जलक की चोरी के पीछे भी नाटककार ने एक सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार रख दिया है। वह उदर-पूर्ति या किसी दुर्व्यसन के लिये चोरी नहीं करता। वह चोरी प्रेमपाशमें बंध जाने के कारण करता है वह वसन्तसेना की चेटी

मदनिका से प्रेम करता है। मदनिका वसन्तसेना की क्रीतदासी है और बिना उसका मूल्य चुकाये सज्जलक उसे प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिये वह चोरी करता है। इस मनोवैज्ञानिक आधार के सन्दर्भ में उसका जघन्य अपराध छोटा हो जाता है। सेंध करते समय उसके मन में उठ रहे तर्क-वितर्कों से यह स्पष्ट पता लगता है कि चोरी करना उसे प्रिय नहीं है। पर, दूसरा कोई उपाय न पाकर उसने चोरी की है।

संवाहक—संवाहक का जन्म पाटलिपुत्र में हुआ था पर उज्जयिनी के अमीरों को सुनकर वह उज्जयिनी चला गया। वहाँ चारुदत्त के यहाँ वह गात्र-संवाहक का कार्य करने लगा। चारुदत्त की दरिद्रावस्था का उस पर प्रभाव पड़ा और वह सेवा से हटा दिया गया। पर वैसे गुणज्ञ व्यक्ति की सेवा करने के अनन्तर वह दूसरे व्यक्ति की सेवा नहीं करना चाहता इसलिये उसने द्यूत का आश्रय लिया है। द्यूत में बहुत दिन जीत कर जीवनचर्या चलानेवाला संवाहक एक दिन हार जाता है। पर, देने के लिये उसके पास द्रव्य नहीं। अतः जेता के डर से वह भागने लगता है। एक दिन इसी भाग-दौड़ में वह वसन्तसेना के घर में भाग जाता है। वसन्तसेना उसके वृत्तान्त को जानकर उसका ऋण चुका देती है। इस प्रकार संवाहक एक कलाकार व्यक्ति के रूप में दर्शाया गया है।

शकार—खल नायक शकार राजस्यालक है। वह मूर्खता का आगार प्रतीत होता है। सामान्य से सामान्य बात का भी उसे ज्ञान नहीं। उदाहरणार्थ उसे यह भी पता नहीं कि श्रवणेन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान नहीं होता तथा घ्राणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता—'शृणोमि गन्धं श्रवणाभ्याम्' अन्धकारपूरिताभ्यां नासापुटाभ्यां सुष्ठु न पश्यामि' (अङ्क १)। लोकप्रचलित प्रसिद्ध कथाओं का भी उसे ज्ञान नहीं। तभी तो कहता है—अहं त्वां गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनः सीतामिवाहरामि। (अङ्क १) गुणवानों के प्रति इसका कोई आकर्षण नहीं। इसीलिये विट के क्षमा माँगने के बाद भी यह चारुदत्त के विदूषक मैत्रेय से धमकी भरे शब्द कहता है।

समीक्षण—यह भास का अन्तिम नाटक है और उनकी कला यहाँ ललित लास्य दिखाती है। परन्तु दैव-दुर्विपाकवश यह नाटक सहसा समाप्त हो जाता है और यह सहज में अनुमित हो जाता है कि अपने वर्तमान रूप में यह पूर्ण

नहीं। हो सकता है इस नाटक की रचना करते समय ही भास की मृत्यु हो गयी हो और इस प्रकार यह नाटक अधूरा रह गया हो।

चारुदत्त सरल होने से सुबोध है। अभिनेय भी यह बड़ी सरलता से हो सकता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक बेजोड़ है। नाना प्रकार के सज्जन से सज्जन तथा खल से खल नायक यहाँ वर्तमान हैं। यदि एक ओर चारुदत्त सज्जनता की सीमा है तो दूसरी तरफ शकार दुर्जनता का चूडान्त प्रतीक है। सरस कोमल नायिकायें सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। प्रभावोत्पादिका तथा सूक्तिबहुला भासीय भाषा प्रेक्षक के मन में अनुराग की धारा उड़ेल देती है। कथनोपकथक की दृष्टि में भी यह नाटक उच्चकोटि का है।

इस नाटक में भास का कविहृदय भी पूर्णरूप से अभिव्यक्ति पा गया है। नाना प्रकारकी भावदशाओंका वर्णन भासके क्रान्तदर्शी कवि होने का प्रमाण है। चारुदत्त द्वारा वर्णित दारिद्र्य का वर्णन सूक्ष्म अन्वीक्षण के परिणाम हैं। उदाहरण लीजिये—

दारिद्र्यात् पुरुषस्य वान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सत्त्वं हास्यमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते।
निर्वैरा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फीता भवन्त्यापदः
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते॥—१।६

दरिद्रताके कारण बन्धुजन आज्ञा में नहीं रहते, बल वा तेज हास्य का विषय बन जाता है और सदाचार क्षीण हो जाता है। बिना शत्रुता के ही मित्र-जन शत्रु हो जाते हैं, आपत्तियाँ प्रकट हो जाती हैं तथा दूसरे के द्वारा किये हुये पापकर्म की भी उसी में सम्भावना की जाने लगती है।" कितना यथार्थ वर्णन है।

प्रकृति-चित्रण सुतरां तथ्यानुकारी है। अन्धकारका वर्णन देखिये—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥ १।१९

चन्द्रोदय का यह वर्णन देखिये—

उदयति हि शशाङ्कः क्लिन्नखर्जूरपाण्डु-
र्युवतिजनसहायो राजमार्गप्रदीपः।

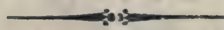
तिमिरनिचयमध्ये रश्मयो यस्य गौरा
हृतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति ॥ १।२९

"सिक्त खर्जूर की नाईं पाण्डुवर्ण वाला, युवतियोंका सहायक तथा राज-मार्ग का प्रदीप यह चन्द्रमा उदित हो रहा है। अन्धकार समूहमें इसकी गौर रश्मियाँ जलहीन पंक में दुग्धधारा की भांति प्रतीत हो रही हैं।" उपमा बड़ी ही सटीक है।

भास ने रसपरिपाक में भी विशेष बारीकी दिखायी है। शृंगार रस सर्वत्र अनुस्यूत है। बीच-बीचमें अन्य रस भी समयानुसार प्रदर्शित किये गये हैं।

इस नाटकमें देश-कालका चित्रण बड़ा ही विस्तृत हुआ है। दास-प्रथा का संकेत सज्जलक द्वारा वसन्तसेना की चेटी को मुक्त कराने के उद्योगसे लगता है। द्यूत का प्रचलन भी उस समय था। संवाहक द्यूतमें हारने के कारण ही वसन्तसेना के घर में शरण लेता है। चारुदत्त भी वसन्तसेना के पास मिथ्या समाचार भिजवाता है कि उसने द्यूत में वसन्तसेना के हार को गवाँ दिया। चोरी का दृष्टान्त सज्जलक का कृत्य है। वेश्यावृत्ति का पता वसन्तसेना से चलता है जिसके लिए विट 'वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरम्' (१।१७) कहता है।

चारुदत्त तथा मृच्छकटिक—भास के नाटक 'दरिद्र चारुदत्त' तथा शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' में एक ही कथानक उपजीव्य है। अतः यह बहुत सम्भव है कि शूद्रक ने दरिद्रचारुदत्त के कथानक को ही आधार रूप में ग्रहण किया हो। चारुदत्त का कथानक अपूर्ण है पर मृच्छकटिक अपने में पूर्ण है। भास के नाटक की उपलब्धि होनेसे विद्वानों की यह धारणा हो गयी है कि शूद्रक का ध्यान इस नाटकपर अवश्य रहा होगा। परिवर्धित तथा परिवर्तित अंश शूद्रक की कल्पना-प्रसूत हो सकते हैं अथवा किसी अन्य स्रोत से ग्रहण किये गये होंगे।



तृतीय परिच्छेद

भास की समीक्षा

भास की शैली

भासीय नाटकों की शैली अपनी विशिष्ट महत्ता रखती है। इनकी शैली में व्यञ्जकता तथा प्रभावोत्पादकता का मणि-काञ्चन संयोग है। लघु वाक्यों में गम्भीर तथा रसपेशल भावों की व्यंजना अपना विशेष महत्त्व रखती है। दुरूह तथा दीर्घविस्तारी समस्त पदों की संघटना भले ही काव्य के लिये कोई उपयोगी बतावे, पर, नाटक में लघुविस्तारी एवं सरल वाक्यों की महत्ता अक्षुण्ण है। इस दृष्टि में भास सफलता के शिखर पर दिखायी पड़ते हैं। इनकी भाषा एवं शैली से स्पष्ट लक्षित होता है कि संस्कृत लोकव्यवहार की भाषा रही होगी। छोटे-छोटे वाक्यों को लोकोक्तियों तथा सूक्तियों से अलंकृत करना भास की शैली का गुण है।

अलंकारविहीन सरल भाषा यदि भावव्यंजना में सफल रहे तो यह कवि की महती विशेषता होगी। भास के नाटकों में हमें यही विशेषता लक्षित होती है। प्रभावमयी सरल भाषा भावों की अभिव्यक्ति में इतनी समर्थ है कि दर्शक के हृदय को हठात् आकृष्ट कर लेती है। भास की शैली की विशिष्टता उनके कथनोपकथनों में देखी जाती है। कथनोपकथन में इनके पात्र नितान्त विदग्ध हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति की विदग्धता के लिये प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण में यौगन्धरायण तथा भरतरोहक के संवादों में देखी जा सकती है। भरतरोहक जिन आक्षेपों को उदयन पर लगाता है उनकी बड़ी बारीकी से यौगन्धरायण उत्तर देता है। उक्ति-प्रत्युक्तियों के बीच कहीं-कहीं ऐसी अप्रत्याशित घटनाएँ टपक पड़ती हैं जो नाटकीय रसचर्वणा में अतीव मिठास ला देती हैं। उदाहरण के लिये प्रतिज्ञा नाटक में जब महासेन अपनी स्त्री से वासवदत्ता के वर के विषय में बिमर्श कर रहा है उसी समय कञ्चुकी सहसा प्रवेश कर उदयन का नाम लेता है। यह उक्ति पाठकों और दर्शकों के हृदय को सहसा झकझोर देती है।

ऐसी आकस्मिक उक्तियाँ भास की अपनी विशेषताओं के रूप में हैं और अन्य नाटकों में भी इनकी सम्यक् उपलब्धि होती है।

भास अपने वर्ण्य विषयों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ पेश करते हैं। विषय या दृश्य का वर्णन करते समय उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश को भी वे उपस्थापित कर देते हैं। दरिद्र-चारुदत्त नाटक में दरिद्रता का वर्णन जितना स्वाभाविक है उतना ही बारीक भी। सुख को दुःख के बाद प्राप्त होना चाहिये यह भास को अच्छी तरह विदित था। सुखावस्था के बाद दुःख का आना मरण-तुल्य ही है। इस वर्णन को देखकर पाठक भास की शैली की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। यदि किसी दृश्य का वे वर्णन करने लगते हैं तो इतनी स्पष्टता के साथ उसे उपस्थित करते हैं कि पाठक को पूर्ण बिम्बग्रहण हो जाता है। यह कवि वा नाटककार की चरमसिद्धि है। उदाहरणार्थ सन्ध्या का वर्णन लीजिये—

पूर्वा तु काष्ठा तिमिरानुलिप्ता
सन्ध्यारुणा भाति च पश्चिमाशा।
द्विधा विभक्तान्तरमन्तरिक्षं
यात्यर्धनारीश्वररूपशोभाम् ॥

—अवि० २।१२

और—

खगा वासोपेता सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥

—स्वप्न० १।

इसी प्रकार कृष्ण-रात्रि का वर्णन भी हृदयहारी है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

—चारुदत्त १।१९

अविमारक में मध्यरात्रि का वर्णन देखिये—

तिमिरमिव वहन्ति मार्गनद्यः
पुलिननिभाः प्रतिभान्ति हर्म्यमालाः।
तमसि दशदिशो निमग्नरूपाः
प्लवतरणीय इवायमन्धकारः ॥–अविमारक ३।४

इसी प्रकार वनवर्णन, मध्याह्नवर्णन, तारुण्यवर्णन इत्यादि में भास की सफलता देखी जा सकती है।

भास सरल पद्धति के जनक हैं। शास्त्रीय दृष्टि से इनकी भाषा प्रसादगुण से संयुक्त है। रसपेशलता, भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति, मनोरञ्जकता, गम्भीरता, औदात्त्य तथा माधुर्य इनकी शैली के गुण हैं। अवस्था तथा पात्र के अनुसार उग्रता एवं संयम का प्रयोग इनके नाटकों की विशेषता है। हास्य की सम्यक् सयोजना भी इनकी शैली की सफलता का एक कारण है। स्वप्नवासवदत्ता का विदूषक यदि यह नहीं जानता कि राजा का नाम ब्रह्मदत्त है या नगर का, तो चारुदत्त का प्रतिनायक शकार उससे भी घोर मूर्ख निकलता है। इनकी उक्तियाँ रससिद्धि में सहायक होती हैं।

वाक्यसंघटना की विशेषता भी भास की निराली ही है। इसकी प्रशंसा महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने खुले मुँह से की थी। उनके अनुसार भास की शैली की तुलना अन्य किसी कवि से नहीं की जा सकती। चरित्र-चित्रणों में भास ने इतनी सफलता प्राप्त की है कि पात्रों में काल्पनिकता का भान तक नहीं होता। इनकी भाषा शैल-निर्झरिणी की भाँति बिना किसी तड़क-भड़क के स्वाभाविक गति से प्रवाहित होती है। भास भारतीवृत्ति के महनीय आचार्य हैं। शब्दार्थ-योजना में अभिव्यञ्जना का प्रश्रय आकर्षक लगता है। भाव, रस, देश-काल एवं पात्रों के अनुसार भाषा में परिवर्तन दिखायी पड़ता है।

भास की शैली में कृत्रिमता नहीं, स्वाभाविकता है। इसमें ऊहा की अपेक्षा नहीं। पाठकों को सामान्य बुद्धि के प्रश्रय से ही चरम आनन्द की अनुभूति होती है। ओज तथा प्रसाद गुणभूयिष्ठा इनकी भाषा माधुर्य से ओत-प्रोत है। लोग ओज तथा समासबाहुल्य को गद्य का जीवित बताते रहें पर भास के लिये

समास-विहीन भाषा भी गद्य को उच्च कक्षा में विराजमान हो सकती है। इनके गतिशील प्रवाह में कहीं भी गतिरोध नहीं और न तो तोड़-फोड़ ही है। सरल स्वच्छन्द गति है। इनकी शैली की आलङ्कारिकता में आस्था नहीं है अपितु रसाभिव्यक्ति और भावव्यञ्जना को यह प्रधान मानकर चलनेवाली है। भास की सरल शैली को कुछ लोगों ने रामायणीय प्रभाव माना है।

भास की शैली की प्रशंसा महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने बड़े ही प्रशस्त शब्दों में की है। उनके अनुसार इन नाटकों की शैली अद्वितीय है।[1] भास की सरल शैली का कारण उस पर काव्यों की शैली का प्रभाव है। शैली प्रवहण-शील तथा प्रभावुक है। उद्दाम भावनाओं का बड़ा ही सशक्त वर्णन किया गया है। विपत्तियों के चित्रण में भास सिद्धहस्त हैं। नाटकों की अभिनेयता पर भास की दृष्टि थी इसीलिये कृत्रिमता तथा आलङ्कारिकता का अभाव दिखायी पड़ता है। अलंकरण यद्यपि काव्य के लिये आवश्यक होता है पर नाटक में वह उसकी अभिनेयता का विघातक होता है। इसी कारण भास के नाटकों में अलङ्करण का प्राचुर्य नहीं है।

भास की शैली के तीन गुण हैं—प्रसाद, ओज और माधुर्य। ये तीनों गुण उनके नाटकों में सर्वत्र दृष्टिगत हो सकते हैं। अवस्था तथा समय के अनुसार उनकी शैली में सहसा मोड़ आता है जिससे प्रभावशालिता एवं व्यञ्जकता में वृद्धि होती है। अपने भावों की व्यञ्जकता में भास इतने सिद्ध हैं कि कहीं भी विवक्षित भाव दब नहीं सकता। सीमित शब्दों एवं सरल भाषा के द्वारा विवक्षित अर्थ का उद्‌बोध यह भास की महती विशेषता है।

भास की शैली का गुण मौन भाषण भी है। अल्प शब्दों के द्वारा अधिकाधिक भावों की व्यञ्जना के अतिरिक्त मौन से भी अर्थबोध कराया गया

---

1. The Superior excellence of Sentences which are not subject to the restriction of verification is everywhere to be observed in these Rupakas. It really surpasses in grandeuro, the style of other works is incomparable.

है। ये मौन शब्दों से कहीं अधिक प्रभावशाली हुये हैं एवं रस तथा भावों की प्रतीति में सहायक हुये हैं। इसी कारण समीक्षकों ने उन्हें 'मौन के आचार्य' विशेषण से विभूषित किया है।

भास की शैली के अपने विशेष गुण हैं परवर्ती कवियों और नाटककारों पर इसका प्रभाव पड़ा है। फिर-भी वह अपना पार्थक्य स्थिर रखे और अपनी महत्ता को सँजोये है।

भास के नाटकों के पात्र

भास की नाट्यकला की सफलता में पात्रों के चरित्र-चित्रण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। भास ने सभी प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। इन नाटकों में जितने प्रकार के पात्र मिलते हैं संस्कृत नाट्यसाहित्य में कदाचित् ही किसी नाटककार को इतने पात्रों से सरोकार पड़ा हो। प्रोज्ज्वल चरित्र के धीरोदात्त नायक, धीरोद्धत, धीरललित, खल, दैवी, आसुरी जितने भी प्रकार के नाटकीय पात्रों की सम्भावना की जा सकती है वे सभी यहाँ उपलब्ध हैं। बाण ने भास के नाटकों को 'सूत्रधार-कृतारम्भैर्नाटकैः बहुभूमिकैः' कहा है। इसका आशय यह है कि भास के नाटकों में बहुत से पात्रों का समावेश हुआ है। बाणभट्ट का यह कथन अक्षरशः सत्य है। पर, यह बात विशेष महत्त्व रखती है कि इतने अधिक पात्रों के होने पर भी एक भी पात्र अधिक नहीं। इन नाटकों के कथानक में ऐसा कहीं भी आभास नहीं होता कि अमुक पात्र की आवश्यकता नहीं है।

इतने अधिक पात्रों का समावेश भास ने केवल एक वर्ग से नहीं किया है। पशु-पक्षी तक पात्र कोटि में लाये गये हैं। मानवों में भी केवल एक ही वर्ग वा जाति के पात्र नहीं है अपितु सभी स्तरों के पात्र यहाँ दिखायी पड़ते हैं। इन पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है :

(१) देवता—राम, कृष्ण, बलराम, इन्द्र, अग्नि आदि
(२) यक्ष आदि—विद्याधर
(३) देवपत्नियाँ—सीता, कात्यायनी आदि
(४) राक्षस—रावण, विभीषण, कंस, घटोत्कच आदि

(५) राक्षसियाँ—हिडिम्बा

(६) राजा—धृतराष्ट्र, दशरथ, शल्य, शकुनि, दुर्योधन आदि

(७) रानियाँ—कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, गांधारी, पौरवी आदि

(८) राजकुमार—दुःशासन, दुर्जय आदि

(९) राजकुमारियाँ—दुःशला, कुरङ्गी आदि

(१०) अमात्य—यौगन्धरायण, रुमण्वान् , शालंकायन, भरतरोहक, सुमंत्र आदि

(११) विदूषक—वसन्तक, मैत्रेय आदि

(१२) वीर—कर्ण, अविमारक, लक्ष्मण, भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि

(१३) काञ्चुकीय—बादरायण, बालाकि आदि

(१४) सन्देशवाहक—हंसक

(१५) बानर—हनूमान् , अङ्गद, सुग्रीव, बालि आदि

(१६) धात्री—वसुन्धरा, विजया, आदि

(१७) विद्यार्थी—स्वप्न नाटक के प्रथमांक में लावाणक से नगर आने वाला ब्रह्मचारी

(१८) मल्ल—चाणूर और मुष्टिक।

(१९) चोर—सज्जलक

(२०) जुआरी—संवाहक

(२१) खल—शकार

(२२) वारवनिता—वसन्तसेना

(२३) नाग—कालिय

(२४) पशु—अरिष्टवृषभ, गरुड, जटायु

इस प्रकार हम देखते हैं कि पात्रों का वर्गीकरण बहुत विस्तृत है। जिस-जिस वर्ग के पात्रों की भास ने उद्भावना की है उनमें तत्तद् गुणों का विन्यास भी बड़ी सफलता के साथ किया है और यही कारण है कि बाणभट्ट जैसे महाकवि को भी भास के पात्र-बाहुल्य की प्रशंसा करनी पड़ी। उन्होंने यह भी स्पष्ट कह दिया कि भारतीय नाटकों के प्रथित होने का एक कारण पात्र बाहुल्य भी है। इन पात्रों के चरित्र-विन्यास में भास ने बड़ी ही सतर्कता तथा

कुशलता प्रदर्शित की है। यदि देववर्ग का पात्र है तो उसमें देवत्व का पूर्णतः समावेश किया गया है। उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं आने दी गई है जो उसके स्वभाव के विपरीत पड़े। प्रयत्न तो यह किया गया है कि उसके असदंश को भी निकालकर उसे नितान्त परिष्कृत रूप में प्रदर्शित किया जाय। इसी भाँति यदि दानव-वर्ग का पात्र है तो उसमें दानवोचित सभी दोष-गुणों को प्रदर्शित किया गया है। कंस, घटोत्कच, हिडिम्बा के चरित्र को उदाहरण रूप में उपन्यस्त किया जा सकता है। भास ने तो यह भी प्रयास किया है कि पात्रों के अशिष्ट आचरण को इस मनोवैज्ञानिक संदर्भ में प्रस्तुत किया जाय कि पाठकों की उसपर सहानुभूति हो जाय। उदाहरण के लिए घटोत्कच के चरित्र को देखिये। माता की आज्ञावश यद्यपि वह ब्राह्मण को पकड़ता है फिर भी उसका मन उसे कोसता है। चारुदत्त में सज्जलक भी यद्यपि चोरी करता है पर उसकी अन्तरात्मा इस कार्य के लिये गवाही नहीं करती।

पात्रों के चरित्र को उत्कृष्ट दिखाने के लिये भास को लोक-प्रसिद्ध कथानकों में भी परिवर्तन कर देना पड़ा है। पर इस कार्य में उन्हें जरा भी संकोच नहीं हुआ है। उदाहरण के लिये कैकेयी के चरित्र को ले लीजिये। पाठकों को यह पूर्वविदित है कि कैकेयी ने अपनी अल्पज्ञता और अदूरदर्शिता-वश राम का वनवास माँगा। पर भास ने यहाँ दूसरा ही कारण उपस्थित कर कैकेयी के कलङ्क को शमित या कम करने का प्रयास किया है। यहाँ यह दर्शाया गया है कि कैकेयी ने भरत को राज्य देने के लिये नहीं अपितु ब्राह्मण का शाप सत्य करने के लिये राम के लिये वनवास का वर माँगा। वह भरत का भी वनवास मांग सकती थी पर उसे यह बात विदित थी कि भरत का वियोग सहते-सहते राजा दशरथ उसके अभ्यस्त हो गये थे अतः उनके वियोग से वह नहीं मर सकते इसीलिये उसने राम का वनवास मांगा। वनवास भी वह चौदह दिनों के लिये मांगना चाहती थी पर मानसिक असन्तुलन के कारण १४ वर्ष मुँह से निकल गया (द्र० प्रतिमानाटक)। यहाँ यह कथानक भास की कल्पना द्वारा प्रसूत है। पर सिर्फ अपनी पात्रभूता कैकेयी के चरित्रोत्कर्ष के लिये उन्होंने ऐसा परिवर्तन कर डाला। इसीलिये हम देखते हैं उन्होंने पात्रों के चरित्र-विन्यास में बड़ी सहानुभूति तथा कुशलता से काम लिया है।

भास के नाटकों में जिस प्रकार का नाटक है वैसा पात्र मिलेगा। यदि नाटक प्रकार का रूपक है तो उसका नायक धीरोदात्त होगा। पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि ने इतनी सच्चाई प्रदर्शित की है कि कहीं भी कृत्रिमता का लेश नहीं दिखायी पड़ता। दर्शक पात्रों को अपने बीच का प्राणी पायेगा और इस प्रकार रसानुभूति में शीघ्रता तथा तीव्रता रहेगी। इस कुशल चित्रण का कोई भी पात्र अपवाद नहीं। चाहे वे राम हों या भरत, कृष्ण हो या बलराम या चारुदत्त सभी का सजीव अंकन हुआ है।

भास के पात्रों में व्यर्थ का आडम्बर नहीं दिखायी पड़ता। कथनोपकथनों में वे इतने कुशल हैं कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक व्यञ्जना का प्रयास करते हैं। व्यर्थ का वार्तालाप ढूँढ़ने पर भी कहीं दिखायी नहीं पड़ेगा। सरल भाषा एवं संक्षिप्त शब्दों में मनोगत अभिप्राय को प्रकट करना ही इन पात्रों का स्वभाव है। अन्तर्द्वन्द्व को भी स्पष्ट शब्दों में ही प्रकट किया जाता है। मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्वाह भी बड़ी सफलता के साथ किया गया है। कौन पात्र किस परिस्थिति में कैसी भावदशा के अधीन होगा, कैसी चेष्टा करेगा तथा क्या कहेगा यह भास को भली भाँति विदित है। इस कारण दर्शको कहीं भी विचित्रता का अनुभव नहीं होगा। सर्वत्र उसे परिचित व्यक्तियों तथा वातावरण में विचरण करना पड़ेगा।

भास के पात्र सामान्य धरातल पर हैं। अति कहीं भी दिखायी नहीं पड़ेगी। यथासाध्य बुरे पात्रों में भी आदर्श गुणों का ही सन्निधान किया गया है। भरत आदर्श भाई हैं, वासवदत्ता और पद्मावती आदर्श सपत्नियाँ हैं, सुमंत्र, यौगन्धरायण आदर्श अमात्य हैं, वसन्तसेना आदर्श गणिका है और उदयन तथा चारुदत्त आदर्श प्रेमी हैं—सर्वत्र आदर्श आदर्श ही हैं। इन पात्रों के चरित्राङ्कन अपनी विशदता एवं उत्कृष्टता के कारण सदैव स्मरण किये जायेंगे।

भास के नाटकों में पात्रों एवं उनके प्रकार की बहुलता होने पर भी अनावश्यक पात्रों का प्रवेश सावधानी से हटाया गया है। यही कारण है कि प्रतिज्ञा नाटक में मुख्य पात्र उदयन और वासवदत्ता ही नहीं आते। अविमारक में काशिराज का अभाव भी इसी कारण है। भास के पात्र अन्य नाटककारों

के पात्रों से अपना स्पष्ट वैभिन्न्य रखते हैं। वे कालिदास के पात्रों की भाँति अति श्रृंगारिक तथा कल्पनाप्रधान नहीं, भवभूति के पात्रों की भाँति अति भावुक नहीं, भट्टनारायण के पात्रों की भाँति अति बलशाली नहीं तथा शूद्रक के पात्रों की भाँति हँस-मुख नहीं।

भास की नाट्यकला

नाट्यकला के अन्तर्गत सभी नाटकीय तत्त्वों का समावेश होता है। जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है भास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। पुराण-इतिहास, महाभारत, आख्यायिका ग्रन्थ और लोक में प्रचलित कथानकों का भास ने अपने नाटकों में उपयोग किया है। संस्कृत नाटक-साहित्य में किसी भी इतर नाटककार ने इतने बड़े क्षेत्र में सञ्चरण नहीं किया है। इन आधारों के साथ ही साथ भास ने अपने कथानकों में मौलिकता को भी पर्याप्त प्रश्रय दिया है। कहीं-कहीं तो मौलिकता इतनी अधिक हो जाती है कि वह पाठकों की स्थिर भावना को झकझोर देती है। उदाहरण के लिये प्रतिमा नाटक में प्रतिमावाला सम्पूर्ण प्रसङ्ग भास की कल्पना की उद्भूति है। इसी प्रकार कैकेयी का यह कहना भी भासीय कल्पना का ही प्रसाद है कि उसने मात्र ऋषि-वचन की सत्यता के लिये राम का वनवास माँगा। परन्तु, इतने बड़े क्षेत्र में अपनी मौलिकता के साथ सञ्चरण करने पर भी भास के पैर कहीं नहीं लड़खड़ाये हैं। उन्होंने बड़ी ही कुशलता के साथ इन कथाओं का विन्यास किया है। कथा-वस्तु का विन्यास सदैव दर्शक की कुतूहल-वृत्ति का विवर्धक रहा है।

विस्तृत क्षेत्र से कथानकों का संकलन करने के कारण निसर्गतः पात्रों की संख्या तथा कोटियों में भी वृद्धि हो गई है। जितने प्रकार के पात्र यहाँ हैं उतने प्रकार के पात्रों का अन्य नाटककारों की कृतियों में पाना सुगम नहीं। इतने अधिक पात्र होने पर भी सभी मानव लोक के जीते जागते प्राणी हैं। दर्शक को यह कभी आभास नहीं होगा कि यह पात्र काल्पनिक है। उनके आचरण में कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखायी पड़ेगी। जैसा हम सर्वत्र देखते-सुनते हैं वैसे ही वे भी दिखायी पड़ेंगे। यह अन्य बात है कि अपने दृढ़ वैदिक संस्कारों तथा ब्राह्मणीय संस्कृति के प्रवक्ता होने से उन्होंने कहीं-कहीं उसका जान-बूझकर प्रदर्शन कर दिया है। इस प्रकार का वृत्तान्त हमें मध्यम-

व्यायोग में मिलता है। इस रूपक में पिता-माता अपने मध्यम पुत्र को स्वेच्छया मृत्यु के हवाले करने में जरा भी संकोच नहीं करते। यहाँ दर्शकों को यह सहज अनुमेय है कि यह शुनःशेप के आख्यान का प्रभाव है और उसका नाटककार ने यहाँ प्रदर्शन किया है। ब्राह्मणीय संस्कृति तथा धर्म का प्रभाव अविमारक तथा प्रतिमा नाटक में दिखायी पड़ता है। अविमारक ब्राह्मण के शाप को सत्य करने के लिये स्वेच्छया चाण्डाल बना हुआ है। इसी प्रकार कैकेयी भी ऋषि-शाप को सत्य करने के लिये राम का वनवास माँगती है।

भास ने पात्रों के चरित्राङ्कन में सर्वत्र उदात्त आदर्श रखा है। यथासाध्य उन्होंने यही प्रयास किया है कि पात्रों का चरित्र प्रोज्ज्वल प्रदर्शित किया जाय। इस कार्य के लिये यदि कथानक में परिवर्तन करना अपेक्षित रहा तो उसमें भी वे संकोच नहीं करते। नायक-नायिका, अमात्य, विदूषक, काञ्चुकीय, गणिका, सेवक आदि सभी पात्र इस प्रकार उन्नत चरित्र के ही दिखायी पड़ते हैं। यदि पात्रों के कलुष अंश को हटाना सम्भव न रहा तो उनको कम तो अवश्य ही कर दिया गया है। पर, यदि नाटकों के नायकों पर इसका प्रभाव पड़नेवाला होता है तो उसी हदतक परिष्कार किया गया है जितने तक प्रधान नायक पर कोई प्रभाव न पड़े।

पात्रों के संवादों में भी भास ने विशेष दक्षता प्रदर्शित की है। संवाद प्रायेण लघु विस्तारवाले हैं। वाग्विस्तार का परिहार भास की महती विशेषता है। कोई भी पात्र उतना ही बोलता है जितना आवश्यक है। पाठक को यह कहीं भी भान नहीं होगा कि वार्तालाप का अमुक अंश फालतू है। ये संवाद सर्वत्र विवक्षित भाव के द्योतक हैं। अभीष्ट अर्थ के द्योतन में अशक्ति कहीं भी लक्षित नहीं होती। वार्तालापों के आश्रय से ही सारे दृश्य को उपस्थित करने में नाटककार सफल रहा है। वार्तालापों को सुनकर दर्शकों को यदि सूच्य विषय है तो भी उसका पूरा दृश्य सामने आ जायेगा। संवादों में भास की सरल तथा असमस्त भाषा ने श्रीवृद्धि की है। भास सरल शब्दावली के आचार्य हैं। यह बात नितान्त अपेक्षित है कि नाटक की भाषा यथासाध्य सरल तथा भावव्यञ्जन में समर्थ हो। तभी नाटक सार्ववर्णिक और सार्वजनीन होगा। नाटक के दर्शक परिष्कृत और अपरिष्कृत दोनों प्रकार के होते हैं।

इसीलिये नाटककार का यह प्रधान कर्तव्य है कि भाषा को सरल तथा भाववहन में समर्थ बनाये। जब इस दृष्टि से हम विचार करते हैं तो भास सफल दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः भास की इतनी प्रसिद्धि का एक कारण यह भी है।[1]

भास ने अपने नाटकों के अलङ्करण का भी पर्याप्त प्रयास किया है। यथा सन्ध्या, रात्रि, तपोवन, मध्याह्न इत्यादि का वर्णन भी किया गया है। ये वर्णन सूक्ष्म अन्वीक्षण के परिणाम हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भास ने इन प्राकृतिक दृश्यों को बड़ी ही बारीकी तथा सहानुभूति के साथ देखा है। ये वर्णन बड़े हो सजीव हुये हैं तथा पूरे दृश्य का बिम्बग्रहण कराते हैं। नाटकीय कथानक में इनका उपन्यास भी प्रसङ्गोपात्त होने पर ही किया गया है। कहीं भी यह प्रतीत नहीं होता कि मात्र आकारवृद्धि तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये ही इन्हें इकट्ठा किया गया है।

रसपरिपाक की दृष्टि से भी भास के नाटक पर्याप्त ऊँचे हैं। इनके नाटकों में नवों रसों का अस्तित्व दिखायी पड़ता है। इन रसों की सिद्धि बड़ी ही दक्षता के साथ की गयी है रसाभास से इन्हें बचाया गया है। वीर, शृङ्गार तथा करुण ये तोन रस प्रायेण इनके नाटकों में अङ्गी बनकर आये हैं। शृंगार में संयोग और विप्रलम्भ दोनों का अस्तित्व दिखायी पड़ता है। वीरकोटिक नायकों में भी दानवीर, युद्धवीर इत्यादि वीरों के दर्शन होते हैं। हास्य रस की स्थिति तो विदूषक प्रायेण सर्वत्र बनाये रहते हैं। अन्य रसों की भी स्थिति यथावसर दिखायी पड़ती है। जयदेव ने भास को कविता कामिनी का हास कहा है—'भासो हासः'। इससे यह ध्वनित होता है कि भास शृङ्गार कवि न होकर हास्य के ही प्रमुख प्रवर्तक हैं। यद्यपि इन नाटकों में हास्यरस की सर्वातिशायिता तो नहीं है और न तो भास के जिस प्रकार के नाटक हैं उसमें

१. महामहोपाध्याय गणपतिशास्त्री ने भास की वाक्य रचना की प्रशंसा इस प्रकार की है :—

'The Sentences are everywhere replete with a wealth of ideas beautifnlly expressed, which cultured minds appreciate.'—critical study, P. 27.

यह सम्भव ही है कि हास्य रस अङ्गी बनकर आवे, पर, हाँ इतना अवश्य है के भास ने हास्यरस का बड़ा ही उदात्त वर्णन किया है। हास्य के दृश्य मात्रा और विस्तार में सीमित भले ही हों पर सुन्दरता में अपनी विशिष्टता बनाये रखते हैं। यदि प्रतिज्ञा का विदूषक उद्धत हास्य का प्रदर्शन करता है तो स्वप्न-वासवदत्तम् सुकुमार हास की संसृष्टि करता है।

भास के नाटकों में काव्यकौशल भी पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुआ है। भास का कवि हृदय मौका पाते ही अपनी कला का प्रदर्शन कर देता है। नाना प्रकार की छन्दयोजना इन नाटकों में दर्शनीय है। अलङ्कारों का विधान भी काव्यकर्म की सफलता में सहायक होता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कार अपूर्व छटा को उत्पन्न करते हैं। सुन्दर से सुन्दर उपमायें यहाँ मिल सकती हैं। उपमा की छटा इस पद्य में भली भाँति दिखायी पड़ती है :

अयोध्यामटवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम्।
पिपासार्त्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव ॥–प्रतिमाना० ३।१०

अलङ्कारशास्त्र का यह सुप्रसिद्ध उदाहरण भी भासीय कला का ही परिणाम है :

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥–बालचरित १।१५

भास के नाटकों की अभिनेयता—यहाँ यह प्रश्न भी प्रसङ्गोपात्त है कि भास के नाटक रङ्गमञ्च की दृष्टि से अभिनेय हैं या नहीं? इसका उत्तर बड़ा ही स्पष्ट है। भास के समस्त नाटक अभिनय कला की दृष्टि से सफल हैं। भले ही संस्कृत के अन्य नाटकों में अभिनेयता की दृष्टि से आंशिक कठिनाई का सामना करना पड़े पर भास के नाटकों में ऐसी स्थिति नहीं। ये नाटक सभी दृष्टियों से अभिनेय हैं। कथानक, पात्र, भाषा-शैली, देशकाल, संवाद आदि सभी तत्त्व इसकी अभिनेयता के अनुकूल हैं। जिन लोगों ने इन्हें चाक्यारों की सृष्टि माना है वे भी कहते हैं कि ये चाक्यार नाटकों का प्रदर्शन करते थे और उन्होंने रङ्गमञ्च के अनुरूप इन नाटकों की सृष्टि की। उनके इस मत से इतना तो स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि भास के नाटक अभिनय की दृष्टि से सुतरां सफल हैं।

भास के नाटकों की रचना उस समय में हुई थी जब नाट्य सिद्धान्त तथा नाट्यकला पूर्णतः विकसित न हुई थी। अतः ऐसे प्रसङ्ग यहाँ सुलभ हैं जो नाट्यनियमों के विरुद्ध पड़ते हैं। यथा वध, अभिषेक आदि। पर, इन वर्ज्य दृश्यों का अस्तित्व होने पर भी इनकी अभिनेयता में कोई व्याघात नहीं पड़ता और स्थिति तो यह है कि सिद्धान्तों के विकसित होने तथा उनके बाद निर्मित होनेवाले नाटकों की अपेक्षा भास के नाटक अधिक अभिनेय हैं।

रंगमञ्च—लगे हाथ भासकालीन रङ्गमञ्च का भी संकेत कर देना उचित है। भास के समय में बड़े-बड़े प्रेक्षागृहों के अस्तित्व की सूचना इन नाटकों से नहीं मिलती। यह भी स्पष्ट नहीं है कि रङ्गमञ्च का पूर्ण निर्देश करनेवाला भरत का नाट्यशास्त्र उस समय था या नहीं। पर, इतना स्पष्ट है कि रङ्गमञ्च की भावना भास के समय में वर्तमान थी। नाटकों का अभिनय बड़े-बड़े उत्सवों या पर्वों के अवसर पर मन्दिरों, सड़कों या मैदानों में होता था। प्राचीन भारतीय लोग बड़े-बड़े थियेटरों में विश्वास नहीं रखते थे जैसा कि ग्रीक लोग रखते थे। क्योंकि दृश्य तथा दर्शक में दूरी पर्याप्त होने से रस में बाधा होगी और नाट्यप्रदर्शन का प्रधान लक्ष्य ही नष्ट हो जायेगा। हो सकता है मन्दिरों में नाट्यप्रदर्शन के लिये ही स्थान बने हों। रंगमञ्च को सजाने का प्रयास अवश्य किया जाता था और इसमें नाना रंगों का उपयोग होता था। पशुओं को कभी-कभी कृत्रिम रूप में दिखाया जाता था और कभी-कभी जीवित पशुओं को ही रंगमंच पर पकड़ लाया जाता था।[1]

भास के नाटकों में नवरस

संस्कृत नाटकों का प्रधान लक्ष्य है रसों की सम्यक् उद्बुद्धि तथा परिपाक। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभषा देने वालों ने स्पष्टतः रस की सत्ता सर्वोपरि मानी है और 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहने वालों ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि नाटकों का जीवित रसवत्ता ही है। किसी विशिष्ट रस का उद्बोधन करा नाटककार नैतिक आदर्श की सिद्धि करता है। इस प्रकार हम देखते हैं

१. भास के रंगमञ्च के विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य, ए० एस० पी० अय्यरकृत 'भास' नामक ग्रन्थ पृ० ५३५–५४१

के नाटक में पात्र, चरित्रांकन, कथोपकथन आदि साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य तो एकमात्र रसोद्बोध ही है। भास इस लक्ष्य से सुपरिचित थे और उन्होंने बड़ी सतर्कता से रसों का परिपाक किया है। इन नाटकों में रसों का परिपाक बड़े ही समीचीन ढंग से किया गया है।

संस्कृत-साहित्यशास्त्र में रसों की संख्या के विषय में ऐकमत्य नहीं। पर, यहाँ विश्वनाथ के ग्रन्थ साहित्यदर्पण को आदर्श मानकर रसों की संख्या नव स्वीकार की जाती है। भास के प्रत्येक नाटक में एक या दो रस प्रधान बनकर आये हैं और अन्य रस उसके उपस्कारक रूप में दिखायी पड़ते हैं। इन नाटकों में प्रमुख रसों की स्थिति इस प्रकार मानी जा सकती है :

(१) दूतवाक्य—वीर तथा अद्भुत
(२) कर्णभार—करुण और वीर
(३) दूतघटोत्कच—वीर तथा करुण
(४) ऊरुभङ्ग—वीर, करुण तथा शान्त
(५) मध्यमव्यायोग—वीर, भयानक, करुण तथा रौद्र
(६) पञ्चरात्र—वीर, हास्य, वात्सल्य
(७) अभिषेक—वीर, करुण तथा भयानक
(८) बालचरित—वीर, अद्भुत तथा हास्य
(९) अविमारक—शृङ्गार, वीर, हास्य तथा करुण
(१०) प्रतिमा—करुण तथा वीर
(११) प्रतिज्ञा—वीर, शृंगार, अद्भुत तथा हास्य
(१२) स्वप्नवासवदत्तम्—शृङ्गार एवं करुण
(१३) चारुदत्त—करुण, शृङ्गार तथा हास्य

अब संक्षेप में इन रसों का दिग्दर्शन कराया जायेगा।

(१) शृंगार—शृङ्गार को रसराजपद पर अधिष्ठित किया गया है। इससे इसकी महत्ता का सहज अनुमान हो जाता है। शृङ्गार के पाँच प्रकार हैं : १. धर्म शृङ्गार २. काम-शृङ्गार, ३. अर्थ-शृंगार, ४. मुग्ध-शृङ्गार और ५. मूढ-शृंगार। भास के नाटकों में शृङ्गार के ये पांचों प्रकार उपलब्ध होते हैं। प्रतिमा तथा अभिषेक नाटकों में वर्णित राम तथा सीता का प्रेम धर्म-

शृङ्गार के अन्तर्गत आता है। उनका प्रेम शुद्ध प्रेम है जो वासना से असम्पृक्त है। वह धार्मिक कृत्यों के निष्पादन के लिये है। धर्म शृङ्गार का परिपाक इन नाटकों में बड़े ही कौशल के साथ कराया गया है।

शृङ्गार का दूसरा प्रकार है काम-शृंगार। इसमें विवाहजन्य प्रेम का वर्णन रहता है। यहाँ पर कायिक वियोग दुःखावह होता है। इस प्रकार का शृङ्गार वासवदत्ता तथा उदयन के प्रेम एवं अविमारक तथा कुरंगी के प्रणय-व्यापार में दिखायी पड़ता है।

शृङ्गार की तीसरी कोटि अर्थ-शृङ्गार की होती है। राजनीतिक, आर्थिक या अन्य लाभों के निमित्त किया गया विवाह तथा तज्जन्य शृङ्गार इस कोटि में आते हैं। स्वप्नवासवदत्तम् में उदयन तथा पद्मावती का विवाह इसी प्रकार का है। इस शृंगार में भौतिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है।

मुग्ध-शृङ्गार की चौथी कोटि है। इसमें प्रेम के शारीरिक संबन्ध की प्रधानता रहती है। भीम तथा हिडिम्बा का प्रेम इसी कोटि में आता है।

शृङ्गार का पञ्चम प्रकार मूढ-शृङ्गार है। यहाँ एक मात्र वासना का प्राधान्य रहता है। यह मांसल प्रेम का उदाहरण है। यह कभी-कभी एक पक्षीय ही होता है और दोनों पक्ष यदि इसमें भाग लेते भी हैं तो भी एक-निष्ठता का अभाव रहता है। इसमें भय, तर्जना, आदि का आश्रय लिया जाता है। दरिद्र-चारुदत्त में शकार और वसन्तसेना का प्रेम इस शृङ्गार का सर्वोत्तम निदर्शक है। यहाँ विट वसन्तसेना को हाट का सामान बताता है जिसे जो ही मूल्य दे प्राप्त कर सकता है।

(२) हास्यरस-जयदेव ने भास को कविताकामिनी का हास कहा था। इससे यह स्पष्ट है कि जयदेव को भासीय नाटकों के हास्य प्रशंसनीय लगे थे। भास के नाटकों में हास्य के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। दरिद्र-चारुदत्त में शकार की मूर्खता स्मित हास्य को उत्पन्न करती है। स्वप्न नाटक में विदूषक कहता है कि कोकिला के अक्ष परिवर्त की भाँति उसका पेट उलट-पुलट गया है। प्रतिज्ञा में विदूषक यौगन्धरायण और रुमण्वान् से कहता है कि उन दोनों की योजनायें असफल होंगी और वे पूछते हैं कि यह कैसे? उस समय वह उत्तर देता है 'मैं अपने विचारों को पहले जानता हूँ और आपलोगों के विचारों

को बाद में।' चारुदत्त में सूत्रधार तथा नटी के संवाद भी हास्य के उत्कृष्ट उदाहरण है। जब नट भोजन माँगता है तो पहले तो वह कहती है कि सब कुछ प्रस्तुत है और जब वह पूछता है कि कहाँ है तो कहती है कि 'बाजार में।' नटी का यह कथन कि वह दूसरे जन्म में सुन्दर पति पाने के लिये उपवास कर रही है हास्य का जनक है। चारुदत्त में सज्जलक का यज्ञोपवीत के विषय में यह विचार कि दिन में तो वह यज्ञोपवीत है तथा रात्रि में सेंध-मापने का तागा हास्योद्बोधक है। व्यंग्यात्मक हास्य का भी कहीं-कहीं समावेश है। दूत घटोत्कच में जब दुर्योधन कहता है कि 'हम लोग भी दानवों की भाँति उग्र तथा रौद्र हैं' उस समय घटोत्कच का यह कथन कि तुम लोग तो राक्षसों से भी अधिक क्रूर हो' कठोर किन्तु सत्य व्यंग्य है।

(३) करुण—भास के नाटकों में करुणरस की अभिव्यक्ति भी बड़ी सटीक दिखायी पड़ती है। यद्यपि भास भवभूति की भाँति 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' के पुजारी नहीं हैं, पर, करुण रस भी इनके प्रिय रसों में प्रतीत होता है। अविमारक नाटक में कुरंगी तथा अविमारक के वियोग में, प्रतिमा नाटक में राम के वन प्रसंग में, स्वप्न नाटक में वासवदत्ता-दाह की खबर होने पर उदयन के विषय में करुण रस दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार दूतघटोत्कच में धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा दुश्शला की भावनाओं तथा उक्तियों में करुण का प्रसंग है। अभिषेक नाटक में इन्द्रजित् की मृत्यु के अनन्तर रावण की दशा के प्रसङ्ग में भी करुण की संसृष्टि दिखायी पड़ती है।

(४) रौद्ररस—रौद्र रस का अस्तित्व मध्यम व्यायोग में घटोत्कच के साथ भीम के संघर्ष में दिखायी पड़ता है। ऊरुभंग में भीम के द्वारा अधर्म पूर्वक दुर्योधन की जाँघ तोड़ी जाने पर बलराम का क्रोध तथा बालचरित में उथलपुथल के अवसर पर कंस की दृष्टि भी रौद्र रस का सञ्चार करते हैं। प्रतिमा में भरत का कैकेयी को बुरा-भला कहना भी इसी की सीमा में आते हैं।

(५) वीररस—वीररस का प्रदर्शन भास ने प्रधानता से किया है। वीरों के क्रम के अनुसार इस रस की भी तीन कोटियाँ हैं—युद्धवीर, धर्मवीर तथा दयावीर। युद्धवीर का वर्णन इन युद्धों में दिखायी पड़ता है—राम-रावण

युद्ध, भीम-दुर्योधन युद्ध, कुमार उत्तर तथा कौरवों का युद्ध, उदयन तथा महासेन की सेना का युद्ध एवं अभिमन्यु तथा विराट् की सेना में युद्ध। राम का पिता की आज्ञा के अनुसार राज्यत्याग तथा पञ्चरात्र में अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुर्योधन का पाण्डवों को आधा राज्य देना धर्मवीर के उदाहरण हैं। द्रोण का कौरव-पाण्डवों को युद्धजन्य अनर्थ से बचाने के लिये दुर्योधन से पाण्डवों को आधा हिस्सा दिलाना दयावीर का उदाहरण है।

(६) भयानक—भयानक रस मध्यमव्यायोग के उस दृश्य में दिखायी पड़ता है जब ब्राह्मण-परिवार के सम्मुख सहसा घटोत्कच आ जाता है। राम के द्वारा मायामृग का अनुसरण करने के बाद जब रावण अपने विकराल राक्षसी रूप को सीता के सामने प्रदर्शित करता है उस समय भी भयानक रस की उद्भूति होती है। यह दृश्य प्रतिमा नाटक में है। इन्द्रजित् की मृत्यु के बाद अभिषेक में भी भयानक रस दिखायी पड़ता है जब कि रावण सीता को मारने के लिये उद्यत दिखायी पड़ता है। बालचरित में केश-कर्षण के द्वारा कंस के वध के अवसर पर भी भयानक की सृष्टि हुई है। ऊरुभङ्ग के युद्ध दृश्य के वर्णन में भी भयानक रस है।

(७) अद्भुत—अद्भुत रस भास के नाटकों में अनेकों स्थलों पर दिखायी पड़ता है। अविमारक में विद्याधर के द्वारा अंगुरीयक प्राप्त कर अविमारक के अदृश्य होने में अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। दूतवाक्य में कृष्ण को बांधने का दुर्योधन प्रयास करता है पर उनके विराट् रूप धारण कर लेने से वह अपने प्रयास में असफल रहता है। कृष्ण का विराट् रूप अद्भुत रस का जनक है। कंस के यहाँ मानव-रूप में लक्ष्मी तथा शाप का आना इसी रस के जनक है। यमुना के जल का संकुचित हो जाना, नन्दकन्या का जीवित हो जाना, नन्द द्वारा कन्या को कंस के हाथ सौंपना तथा कंस के द्वारा कंसशिला पर पटकते ही उस कन्या का आधे शरीर से आकाश में उड़ जाना—ये सारे प्रसंग अद्भुत रस की सृष्टि करते हैं। अभिषेक नाटक में राम के लिये समुद्र का जल को दो भागों में विभक्त कर मार्ग देना अद्भुत रस का उदाहरण है।

(८) शान्तरस—भास के नाटकों में शान्तरस भी अनेकों स्थलों पर उपलब्ध होता है। कर्णभार में जिस समय इन्द्र द्वारा कवच कुण्डल माँग लेने

पर शल्य कर्ण से कहते हैं कि वह इन्द्र द्वारा वञ्चित कर लिया गया उस समय कर्ण का यह कथन कि वस्तुतः इन्द्र ही वञ्चित किया गया है शान्त का अच्छा उदाहरण है। अभिषेक नाटक में जब राम सीता की शुद्धता का वर्णन करते हैं तब भी शान्त का दृश्य दिखायी पड़ता है। सीता जिस समय राम से वन्य पदार्थों के द्वारा ही दशरथ का श्राद्ध करने को कहती हैं उस समय भी शान्त का वातावरण दिखायी पड़ता है।

(६) वात्सल्य—कुछ लोगों ने इसे शृङ्गार के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया है। पर वस्तुतः इसकी पृथक् सत्ता मानना ही युक्तिगत है। मध्यम-व्यायोग में भीम का घटोत्कच के लिये प्रेम, पञ्चरात्र में भीम अर्जुन का अभिमन्यु के प्रति, दशरथ का राम के प्रति प्रेम, तथा रावण का इन्द्रजित् के प्रति प्रेम इसी कोटि में आते हैं। ऊरुभङ्ग में दुर्योधन का अपने पुत्र के प्रति प्रेम भी इसी कोटि में है।

कुछ लोगों ने भक्तिरस को भी पृथक् कोटि में गिना है। अन्य लोगों ने इसे शान्त में समाहित किया है। भक्तिरस का भास के नाटकों में उचित स्थानों पर निवेश है। आरम्भ-मङ्गल के श्लोक भक्तिपरक हैं। बालचरित में राम तथा कृष्ण के प्रति भक्ति इसी रस के अधीन है।

इस प्रकार यह स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि भास ने नवरसों का बड़ा ही समीचीन परिपाक दर्शाया है। यद्यपि उनका विशेष आग्रह वीर, हास्य, करुण, रौद्र, वत्सल तथा शृंगार के प्रति ही लक्षित होता है पर इससे अन्य रसों के उचित स्थान पर सन्निवेश तथा परिपाक में किञ्चित् भी न्यूनता नहीं आने पायी है। अन्य रसों के प्रसंग मात्रा में कम होने पर भी विशिष्टता में कम नहीं हैं। रसों का सम्यक् परिपाक ही भास की प्रसिद्धि का एक प्रमुख कारण है।

भास का प्रकृति-वर्णन

महाकवि भास प्रकृति के प्रेमी पुजारी हैं। प्राकृतिक दृश्यों को उन्होंने बड़े ही सान्निध्य से देखा था। प्राकृतिक दृश्यों को वर्णित करते समय उनका वे ऐसा सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करते हैं कि पाठक की वृत्ति उनमें पूर्णतः तल्लीन हो जाती है। ये वर्णन रोचक, यथार्थ तथा व्यापक हैं। जिस चित्र का वे वर्णन करते हैं उसका पूर्ण बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयास करते हैं और

एतदर्थ वे उस दृश्य के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यंगों तथा तत्सम्पृक्त अन्य पदार्थों का भी वर्णन करते हैं।

भास के प्रकृति वर्णन का विश्लेषण करते समय इस तथ्य पर हमें सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि वे नाटककार हैं तथा उतना ही वर्णन कर सकते हैं जितना उस नाटक के प्रकृत अंश के लिये आवश्यक हो। उनको काव्यग्रंथों के रचयिताओं जैसी छूट नहीं है कि ऋतु वर्णन आदि पर ही सर्ग का सर्ग रच डालें। पर, इस सीमित परिधि में भास किसी भी कवि से न्यून नहीं ठहरते। प्रसंगोपात्त दृश्यों का वे इतनी सूक्ष्मता तथा मनोहारिता के साथ वर्णन करते हैं कि चित्त-वृत्ति उन दृश्यों का अवगाहन करने लगती है। कहीं-कहीं तो इन दृश्यों के वर्णन में अलङ्कार-योजना इतनी सटीक बैठ जाती है कि उनके सौन्दर्य तथा रमणीयता में द्विगुणित वृद्धि हो जाती है।

स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम अङ्क में वन प्रान्त की सन्ध्या का यह वर्णन सुतरां दर्शनीय है:

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥—१.१६

(पक्षिगण नीडों में चले गये हैं, मुनिजन जल में स्नान करने के लिये प्रविष्ट हो गये हैं, सायंकालीन अग्नि प्रज्ज्वलित हो गया है, धूम तपोवन में चारो तरफ प्रसृत हो गया है, और सूर्यदेव दूर से आकर किरणों को समेट अस्ताचल की ओर प्रविष्ट हो रहे हैं।)

अभिषेक-नाटक का सूर्यास्त का वर्णन देखिये—

अस्ताद्रिमस्तकगतः प्रतिसंहृतांशुः
सन्ध्यानुरञ्जितवपुः प्रतिभाति सूर्यः।
रक्तोज्ज्वलांशुकवृते द्विरदस्य कुम्भे
जाम्बूनदेन रचितः पुलको यथैव॥ ४।२३

इसी प्रकार अविमारक (२।१२) में भी सन्ध्या तथा रात्र्यागमन का वर्णन बड़े ही मनोहर रूप में किया गया है।

रात्रि तथा अन्धकार का वर्णन भास के बहुत प्रिय विषय प्रतीत होते हैं। रात्रि के सघन अन्धकार के वर्णन के लिये चारुदत्त के निम्न पद्य देखिये :—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥–१।१९
सुलभशरणमाश्रयो भयानां वनगहनं तिमिरं च तुल्यमेव।
उभयमपि हि रक्षतेऽन्धकारो जनयति यश्च भयानि यश्च भीतः ॥–१।२०

चारुदत्त में चन्द्रोदय का वर्णन भी बड़ा सुन्दर हुआ है :

उदयति हि शशाङ्कः क्लिन्नखर्जूरपाण्डु-
र्युवतिजनसहायो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिचयमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
हृतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति ॥–१।२९

(सिक्तखर्जूर की भांति पाण्डुर वर्ण का चन्द्रमा उदित हो रहा है। वह युवतियों का सहायक तथा राजमार्ग का दीपक है। अन्धकारसमूह में इसकी गौर किरणें जलहीन पंक में दुग्धधारा की भाँति बरस रही हैं।)

समुद्र का वर्णन भी भास ने सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया है। अभिषेक-नाटक में समुद्र का यह वर्णन देखिये :

क्वचित् फेनोद्गारी क्वचिदपि च मीनाकुलजलः
क्वचिच्छङ्खाकीर्णः क्वचिदपि च नीलाम्बुद निभः।
क्वचिद्वीचीमालः क्वचिदपि च नक्रप्रतिभयः
क्वचिद् भीमावर्तक्वचिदपि च निष्कम्पसलिलः ॥–४।१७

स्वप्न नाटक में तपोवन का यह वर्णन देखिये :

विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुल धनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥–१।१२

(अपने देश के विश्वास से यहाँ हरिण निश्शङ्क होकर विचरण कर रहे हैं, वृक्षों की शाखायें फूल-फलों से समृद्ध हैं। कपिला गायें बहुत सी दिखायी पड़ रही हैं तथा कृषि-भूमि दिखायी नहीं पड़ रही है। अतः यह निस्सन्देह

तपोवन है क्योंकि यज्ञीय धूम भी बहुत से आश्रमों में दिखाई पड़ रहा है।)

स्वप्न नाटक में उदयन उड़ रही वक-पंक्ति का वर्णन करते हुये कह रहा है :

ऋज्वायतां च विरलां च नतोन्नतां च
सप्तर्षिवंशकुटिला च निवर्तनेषु।
निर्मुच्यमानभुजगोदरनिर्मलस्य
सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम् ॥–४।२

अविमारक में वर्षा ऋतु का वर्णन बड़े-ही सजीव रूप में किया गया है। इसी प्रकार यहाँ ग्रीष्मऋतु का वर्णन भी सुन्दर बन पड़ा है।

अत्युष्णा ज्वरितेव भास्करकरैरापीतसारा मही
यक्ष्मार्ता इव पादपाः प्रमुषितच्छाया दवाग्न्याश्रयात्।
विक्रोशन्त्यवशादिवोच्छ्रितगुहा व्यात्ताननाः पर्वताः
लोकोऽयं रविपाकनष्टहृदयः संयाति मूर्च्छामिव ॥–४।४

रथ के वेग से सामने की वस्तुयें कितनी तेजी से भाग रही हैं इसका वर्णन प्रतिमा नाटक में दिखायी पड़ता है।

द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया
नदीवोद्वृत्ताम्बुर्निपतति महीनेमिविवरे।
अरव्यक्तिर्नष्टा स्थित मिव जवाच्चक्रवलयं
रजश्चाश्वोद्धूतं पतति पुरतो नानुपतति ॥–३।२

इस वर्णन को देखने पर शाकुन्तल के रथवर्णन (प्रथम अङ्क) वाले प्रसङ्ग की स्मृति हो जाती है और यह कोई असंभव नहीं है कि कालिदास ने इसे देखा हो।

ऊरुभङ्ग नाटक में युद्ध भूमि की यज्ञ से तुलना की गई है। इसमें युद्धभूमि का चित्र उपस्थित किया गया है।

करिवरकरयूपो बाणाविन्यस्तदर्भो
हतगजचयनोच्चो वैरवह्निप्रदीप्तः।
ध्वजविततवितानः सिंहनादोच्चमंत्रः
पतितपतिमनुष्यः संस्थितो युद्धयज्ञः ॥–श्लोक ६

युद्धभूमि में उड़ने वाले गृध्रों का यह वर्णन देखिये।

गृध्रा मधूकमुकुलोन्नतपिङ्गलाक्षा
दैत्येन्द्रकुञ्जरनतांकुशतीक्ष्णतुण्डाः ।
भान्त्यम्बरे विततलम्बविकीर्णपक्षा
मांसैः प्रवालरचिता इव तालवृन्ताः ॥–श्लोक ११

अभिषेक नाटक में लंका की सुन्दरता का वर्णन देखिये :—

कनकरचितचित्रतोरणाढ्या
मणिवरविद्रुमशोभितप्रदेशा
विमलविकृतसञ्चितैर्विमानै
र्वियति महेन्द्रपुरीव भाति लङ्का ॥–२।२

इसी प्रकार अन्य अनेकों प्रकृति-वर्णनपरक पद्य भास के नाटकों में व्याप्त है। यह तो निर्देशमात्र है। इन वर्णनों को देखकर यह सहज ही पता लग जाता है कि नाटककार का जीवन प्राकृतिक दृश्यों से घनिष्ठता के साथ संपृक्त था। कवि ने प्रकृति के नाना दृश्यों को सावधानी और सहृदयता के साथ देखा था। इनके वर्णनों में प्रकृति के सभी अंश सम्मिलित हैं। सुन्दर के प्रति न तो कोई इनका विशेष आग्रह है और न असुन्दर का विरूप से घृणा। प्रकृति का कोई भी अंश चाहे वह सुन्दर हो या कुरूप, भास के लिये समान है प्रसङ्गोपात्त होने पर वे सभी का समानाभिनिवेश से चित्रण करेंगे।



चतुर्थ परिच्छेद

भास का समय तथा परिचय

जिस प्रकार भास की कीर्ति संस्कृत साहित्य में प्रथित है उस प्रकार उनके समय के विषय में ज्ञान नहीं। भास का अस्तित्व आज भी एक समस्या बना हुआ है। संस्कृत का कोई भी ऐसा कवि नहीं जिसके समय के विषय में इतनी विषमतायें हों। यदि एक पक्ष भास को ई० पू० ४ थी सदी में मानता है तो अपर पक्ष ईसा की १० वीं सदी में। इस प्रकार १४०० वर्षों का अन्तर पड़ता है। जहाँ तक दसवीं सदी में माननेवालों का प्रश्न है, वे भासनाटकचक्र को उस भास की कृति नहीं मानते जिसका कालिदास, बाणभट्ट आदिने उल्लेख किया है। इस नाटकचक्र को वे किसी केरलीय कवि या चाक्यारों की सृष्टि मानते हैं।

विभिन्न मतों का सारांश इस प्रकार है :

(१) डाक्टर बार्नेट इस नाटकचक्र के कल्पित भास को सातवीं सदी का केरलीय कवि कहते हैं। उसी समय महेन्द्रवीरविक्रम रचित 'मत्तविलास' प्रहसन (७ वीं सदी) से इन नाटकों की भाषा मिलती-जुलती है। पारिभाषिक शब्दों में भी पूर्ण साम्य है। अधिकांश भरतवाक्यों में प्रयुक्त 'राजसिंह' शब्द केरलीय राजा का वाचक है।

इस तर्क का निरास बड़ा ही सरल है। जब बाण तथा कालिदास ने भास का सातवीं सदी से पूर्व ही उल्लेख कर दिया था तो फिर सातवीं सदी में भास का समय निश्चित करना हास्यास्पद है। यह प्रश्न इससे सम्बन्ध नहीं रखता कि इन नाटकों में प्रक्षेप हैं। यह सही है कि इन नाटकों में यत्र-तत्र प्रक्षेप की पुष्टि होती है पर इन प्रक्षेपों से भास की प्राचीनता में कोई बाधा नहीं पड़ती।

(२) डा० ए० पी० बैनर्जी शास्त्री ने भास का समय ईसा की दूसरी सदी के बाद और तीसरी सदी के पूर्व माना है।[1] उनके मत का सारांश इस प्रकार है :

---

१. द्र०, 'दि जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', खण्ड १, भाग १, मार्च १९२३ पृ० ४९–११३

१. विभिन्न अन्तःसाक्ष्यों से उन्होंने वात्स्यायन का समय ईसा की तीसरी सदी का अन्त माना है। वात्स्यायन का भास को पता नहीं क्योंकि रावण जब प्रतिमा नाटक में अन्य शास्त्रों की गणना करता है उस समय वात्स्यायन के कामसूत्र का उल्लेख नहीं है अतः भास वात्स्यायन से पूर्ववर्ती हुये। वात्स्यायन का समय उन्होंने दूसरी सदी का अन्त माना है अतः भास इससे किञ्चित् पूर्व रहे होंगे।

२. भरत का समय उन्होंने दूसरी सदी के बाद तथा तीसरी सदी के पूर्व माना है। भास भरत से पूर्ववर्ती हैं अतः इनका समय तीसरी सदी के मध्य के बाद नहीं हो सकता।

३. कौटिल्य का समय ३०० ई० पू० माना जाता है। भास के उदाहरणों के आधार पर उन्होंने कौटिल्य से परवर्ती सिद्ध किया है अतः भास ३०० ई० पू० से पूर्व न थे।

४. पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि को वे भास से पूर्ववर्ती मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि कुछ अपाणिनीय प्रयोगों को देखकर भास को इन महान् वैयाकरणों से पूर्ववर्ती नहीं कहा जा सकता। वे पाणिनि का समय चौथी सदी ई० पू०, कात्यायन का समय तीसरी सदी ई० पू० तथा पतञ्जलि का समय दूसरी सदी ई० पूर्व मानकर भास को इनसे बहुत बाद का बताते हैं।

५. मनु का समय वे ईसा की दूसरी सदी बताकर प्रतिमा में मानव-धर्मशास्त्र का उल्लेख दिखाते हुए भास को ईसा की दूसरी सदी के बाद का बताते हैं—

'इस प्रकार वे भास का समय ईसा की दूसरी और तीसरी सदी के बीच निश्चित करते हैं।

डा० बैनर्जी शास्त्री का यह महत् प्रयास भी सत्य के समीप दिखायी नहीं पड़ता। कालिदास का समय ईसा पूर्व पहली सदी में मानना युक्तिगत है अतः भास उससे ऊर्ध्वतर काल के ठहरते हैं। अपाणिनीय प्रयोगों को देखकर भी भास की प्राचीनता में सन्देह नहीं रहता। अतः भास को ईसा के बाद निश्चित करना यौक्तिक प्रतीत नहीं होता।

(३) डा० लेस्नी, प्रिन्ट्ज तथा सुकथनकर जैसे विद्वानों ने प्राकृत-भाषा की समीक्षा कर इन्हें कालिदास से प्राचीन तथा अश्वघोष से नवीन सिद्ध किया है। भास की प्राकृत भाषा कालिदास से प्राचीन ठहरती है पर अश्वघोष की भाषा का समय इससे भी पूर्वतर है। ये विद्वान् कालिदास को ईसा की पाँचवीं सदी में मानते हैं। इस आधार पर वे भास का समय तीसरी सदी में निश्चित करते हैं। एक तो भाषा का आधार ही लचर है क्योंकि लिपिक को भाषा लिखते समय पर्याप्त सावधानी नहीं बरतते। दूसरे भाषा एक तरलपदार्थ है जो बहुत समय तक प्रवाहित होती रहती है। यदि कोई शब्द इस समय प्रचलित है तो वह पहले प्रचलित न रहा होगा यह नहीं कहा जा सकता।

अत्र कतिपय अन्तरंग तत्त्वों का समीक्षण कर भास का समय निश्चित करने का प्रयास किया जाता है :

(१) भास के नाटकों का आधार रामायण, महाभारत तथा लोककथायें हैं। उदयन का आख्यान ऐतिहासिक है। उदयन, प्रद्योत तथा दर्शक ६वीं सदी ई० पू० के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ई० पू० ६वीं सदी में रामायण तथा महाभारत भी मूलरूप में विद्यमान थे अतः भास की उपरितम समय-सीमा ई० पू० ६ ठी सदी ठहरती है।

(२) प्रतिज्ञा, अविमारक तथा स्वप्ननाटक हमें ऐतिहासिक तथ्य दर्शाते हैं। प्रतिज्ञा तथा अविमारक में दो राजाओं की स्मृतियाँ अभी नवीन हैं अतः उस काल के समीप ही लेखक रहा होगा। राजगृह का राजधानी के रूप में वर्णन तथा पाटलिपुत्र का साधारण नगर के रूप में उल्लेख इसे ५ वीं सदी के समीप स्थिर करता है।

(३) प्रतिमा नाटक में वर्णित विद्यायें ई० पू० षष्ठ शतक से प्राचीन हैं। मानवीय धर्मशास्त्र (मनुस्मृति का मूलरूप) गौतम-धर्मसूत्र से प्राचीन है क्योंकि गौतम धर्मसूत्र में इसका उल्लेख हुआ है। गौतम धर्मसूत्र प्राचीनतम धर्मसूत्र है तथा इसका समय छठी ई० पू० है।[1] बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का महाभारत में उल्लेख है तथा कौटिल्य ने भी इसे उद्धृत किया है। मेधातिथि का

---

१. द्र० गौतमधर्मसूत्र, स्टेन्जलर द्वारा सम्पादित, लण्दन १८७८

न्यायशास्त्र मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका नहीं है अपितु प्राचीन न्यायग्रन्थ है। माहेश्वरयोगशास्त्र भी पातञ्जल-योग से प्राचीन है। ये सभी उल्लेख भास को प्राचीन सिद्ध करते हैं।

(४) इन नाटकों में वर्णित सामाजिक दशायें अर्थशास्त्र तथा नाटकों से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। प्रतिमा में मन्दिर के परिवेश में बालुका डालने का विधान केवल आपस्तम्ब सूत्रों में ही मिलती है। मरे हुये व्यक्तियों की प्रतिमाओं की स्थापना भी शिशुनाग-राजाओं के युग की स्मृति दिलाती है। मथुरा में शिशुनाग राजाओं की प्रस्तर मूर्तियाँ खोज में मिली हैं।

(५) भरतवाक्यों में उल्लिखित राजसिंह शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है। हिमालय ले लेकर विंध्य तक शासन करनेवाले राजा का संकेत सम्भवतः नन्दवंश की ओर है।

(६) भास की भाषा भी प्राचीन ही प्रतीति होती है और भाषा की दृष्टि से भी इसी समय इनको मानना अयुक्तिक नहीं है।

इन सब बातों का परीक्षण करने पर यही ज्ञात होता है कि भास चतुर्थ तथा पञ्चम सदी ई० पूर्व में हुये थे।

बहिरङ्ग परीक्षण

अन्तरङ्ग परीक्षण से जिन बातों की सिद्धि होती है, बहिरङ्ग परीक्षण उन्हें पुष्ट करता है। बहिरङ्ग परीक्षण से भी भास का समय चौथी-पाँचवीं सदी ई० पू० के भीतर ही प्रतीत होता है। बहिःसाक्ष्य निम्न हैं—

(१) महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में सूत्रधार के मुख से भास आदि की कृतियों का इस प्रकार उल्लेख कराया है :

'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासकृतौ बहुमानः।'

कालिदास के इस उल्लेखसे भास निश्चितरूपेण उनसे पूर्ववर्ती ठहरते हैं। कालिदास का समय ई० पू० विक्रम की पहली सदी है अतः भास निश्चित-रूपेण इससे पूर्व हुये थे।

(२) बाण ने (७ वीं सदी) भास के नाटकों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः बाण से इनकी पूर्ववर्तिता सिद्ध है।

(३) बौद्ध आचार्य दिङ्नाग अपनी कुन्दमाला में दशरथ को पडिमागदो महाराओ (प्रतिमागतो महाराजः) कहते हैं। दशरथ की प्रतिमा का उल्लेख ज्ञात साहित्य में केवल प्रतिमा नाटक में ही है। स्वयं रामायण में यह तथ्य नहीं है। अतः दिङ्नाग को भास का यह नाटक ज्ञात रहा होगा।

(४) कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१०।३) में 'तदीह श्लोको भवतः' कह कर दो श्लोक उद्धृत हैं। इनमें दूसरा श्लोक प्रतिज्ञा (४।२) में भी मिलता है। वह श्लोक इस प्रकार है :

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं
सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद्
यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्ध्येत्॥

कौटिल्य ने यह ग्रन्थ अवश्य ही भास से लिया होगा। यदि किसी स्मृति का होता तो अवश्य ही 'इति स्मृतौ' लिखते।

(५) शूद्रक के मृच्छकटिक का आधार भास का चारुदत्त नाटक ही प्रतीत होता है। दोनों में अन्तर होने पर भी आश्चर्यजनक समानतायें हैं।

(६) वामन (८ वीं सदी) अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (४।३।२५) में एक पद्य उद्धृत करते हैं जो भास के नाटक स्वप्नवासवदत्तम् (४।३) में मिलता है। पद्य इस प्रकार है :

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्॥

स्वप्न नाटक में केवल 'चन्द्रांशु' के स्थान पर 'शशांक' तथा 'कृतं' के स्थान पर 'मम' पाठ है। वामन ने चारुदत्त (१।२) तथा प्रतिज्ञा (४।२) के पद्यों को भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

(७) अश्वघोष के बुद्धचरित (१३।६०) में निम्न पद्य है :

काष्ठं हि मन्थन् लभते हुताशं
भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।
निर्बन्धिनः किञ्चन नाप्यसाध्यं
न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्॥

इसकी भास के निम्न पद्य से तुलना कीजिये—

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति ।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥–प्रतिज्ञा १।१८

अश्वघोष पर भास का प्रभाव स्पष्ट है ।

इस प्रकार बाह्य साक्ष्यों से भास का समय ४ थी सदी ई० पू० मानने में कोई विप्रत्तिपत्ति नहीं पड़ती तथा ये बाह्य साक्ष्य अन्य समयों के मानने का विरोध करते हैं । अतः ई० पू० चतुर्थ शतक तथा पञ्चम शतक के बीच भास का समय मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

भास ब्राह्मण थे ?—भास के नाटकों से यह स्पष्ट आभास मिलता है कि वे ब्राह्मण थे ।[1] ब्राह्मणीय धर्म तथा समाज-व्यवस्था के प्रति उनका महान् आग्रह; अकुलीनों का सुरूप न होना (अविमारक) आदि तथ्य उन्हें ब्राह्मण सिद्ध करते हैं । परम्परा से भी विद्या का क्षेत्र ब्राह्मणों के आधिपत्य में ही मुख्यतः था अतः यही सही प्रतीत होता है कि भास ब्राह्मण थें ।

भास का जीवनवृत्त—भास का जीवनवृत्त भी ज्ञात नहीं । कहा जाता है कि एक बार इनके ग्रन्थों की अग्नि-परीक्षा हुई थी । भास के सभी नाटक अग्नि में डाल दिये गये । अग्नि ने सब नाटकों को तो जला दिया पर स्वप्न नाटक बच गया । इससे यही सिद्ध होता है कि स्वप्न नाटक भास के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है ।

भास उत्तरी भारत के निवासी प्रतीत होते हैं । इनके नाटकों में उत्तरी भारत के नगर, नदी, पर्वत तथा रीति-रिवाजों का बड़ा ही व्यापक वर्णन है । उज्जैनी, अयोध्या तथा मथुरा में इनकी वृत्ति विशेष रमी है । अतः यह मालूम पड़ता है कि भास ने इन स्थानों का आँखों देखा वर्णन किया है । 'हिमवद्-विन्ध्यकुण्डलाम्' स्पष्ट संकेत करता है कि वे उत्तरी भारत के निवासी थे । उत्तरी भारत की तुलना में भास का दक्षिणी भारत का ज्ञान बहुत ही सीमित

१. ए० एस० पी० अय्यरकृत 'भास' पृ० ७; यही मत डा० पुसालकर का भी है ।

प्रतीत होता है। अतः उनका दक्षिणी भारत का ज्ञान रामायण तथा महाभारत तक सीमित प्रतीत होता है। रामकथा वर्णित करने पर भी रामेश्वरम् जैसे तीर्थ का अनुल्लेख इस अनुमान की पुष्टि करता है।

भास का राजकुलों से गहरा सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। राजप्रासादों, अन्तःपुरों आदि के वर्णन में इन्होंने विशेष रुचि प्रदर्शित की है। अतः हो सकता है किसी राजसभा से इनका सम्बन्ध रहा हो। 'राजसिंहः प्रशास्तु नः' की उक्ति इसी का समर्थन करती दिखायी पड़ती है। अमात्यों, सेना, द्वन्द्व आदि का वर्णन इनके नाटकों में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। राजकुल के अतिरिक्त धनी-मानी नागरजनों से भी इनका सम्पर्क रहा होगा। चारुदत्त नाटक नागर-जनों के जीवन का सच्चा प्रतिनिधि है।

भास के नाटकों के अध्ययन से उनका अनेकों शास्त्रों में निष्णात होना लक्षित होता है। वेद, इतिहास-पुराण, लोककथाएँ, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि नाना शास्त्रों का इन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। साहित्यशास्त्र में उनकी निपुणता असन्दिग्ध है। वे स्वभाव से नम्र तथा विनोदप्रिय प्रतीत होते हैं। उनका कौटुम्बिक जीवन भी सुखमय रहा होगा।

भास का धर्म—भास वैष्णव धर्म के अनुयायी हैं। राम तथा कृष्ण के चरितों में उनकी अनुरक्ति इस विषय में प्रमाण है। भक्त वैष्णव होने के साथ ही साथ भास वैदिक कर्मकाण्ड में पूर्ण विश्वास रखते थे। गो-ब्राह्मणों में भी उनकी परम अनुरक्ति थी।

भास का देश-काल

भास के नाटकों के अध्ययन से उस समय की देश की परिस्थितियों का सम्यक् पता चल जाता है। भास के नाटकों में बहुत से देशों का उल्लेख है जिनमें अवन्ती, वत्स, काशी, मत्स्य, सूरसेन, कुरु, कुरुजाङ्गल, उत्तर कुरु, कोशल, विराट, सौवीर, कम्बोज, गांधार, मद्र, मगध, मिथिला (विदेह), अंग, वंग, जनस्थान, दक्षिणापथ तथा लङ्का प्रमुख हैं। इन नामों के उल्लेख से यह स्पष्ट पता चलता है कि भास को दक्षिण भारत के स्थानों का विशेष ज्ञान न था। जो जनस्थान, दक्षिणापथ तथा सिंहल का वर्णन है वह भी रामायण आदि

ग्रन्थों के अध्ययन से ही भास को ज्ञात था। अन्य नामों से यही ज्ञात होता है कि भास उत्तरी भारत के क्षेत्रों में ही अधिक रमे थे। पर्वतों में हिमालय, विन्ध्य, महेन्द्र, मलय, त्रिकूट, मेरु, मन्दर, क्रौञ्च, कैलास आदि का उल्लेख है।

भास के नाटकों से उस समय की सामाजिक परिस्थितियों का भी ज्ञान होता है।

वर्ण-व्यवस्था—भास के समय में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था दृढ़ दिखायी पड़ रही है। बौद्धों के प्रबल प्रहार के बाद भी ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च स्थान का अधिकारी था। वे विद्वान्, धार्मिक तथा सत्यवादी माने जाते थे। राजा लोग विशिष्ट ब्राह्मणों का सत्कार करने के लिये आसन से उठ जाया करते थे। ब्राह्मणों के वचनों को लोग सत्य करने का प्रयास करते थे। ब्राह्मणों को विशिष्ट अवसरों पर भोजन कराया जाता था और उन्हें दक्षिणा दी जाती थी। ब्राह्मणों में पुरोहित, तपस्वी तथा विद्वान् हुआ करते थे। कुछ ब्राह्मण अन्य प्रकार की वृत्तियों का आश्रय लेते थे। ब्राह्मणों में कुछ लोग दुष्ट प्रकृति के होते थे और चोरी आदि जैसे कुकृत्य भी करते थे (सज्जलक का चरित्र)।

ब्राह्मणों के बाद श्रेष्ठता क्रम में क्षत्रियों का दूसरा स्थान था। वे युद्धविद्या में कुशल हुआ करते थे। राज्यपद के भी वे ही अधिकारी हुआ करते थे। दान करने में वे संकोच नहीं करते थे। युद्ध से भागना अक्षम्य अपराध था। दुर्बल की बलिष्ठ से रक्षा उनका प्रधान कर्त्तव्य था। ब्राह्मणों का क्षत्रिय सम्मान करते थे। वैश्य व्यापार में संलग्न रहते थे। शूद्रों का कर्म सेवा था और छोटे पैमाने पर कृषि आदि में भी वे संलग्न रहते थे।

चारों वर्णों के अतिरिक्त वर्णबाह्य चाण्डाल हुआ करते थे। ये जन्मना होते थे तथा कुछ दूसरी जातियों से बहिष्कृत लोग भी इस कोटि में आते थे। ये लोगों की दृष्टि से ओझल रहने का प्रयास करते थे। साधारणतया ये लोग नगर के बाहर रहते थे। अनुक्रोश तथा दया का इनमें अभाव माना जाता था। वर्ण में ये काले होते थे और सुन्दरता का इनमें अभाव होता था।

आश्रम व्यवस्था—भास के समय में चारों आश्रमों की भी व्यवस्था स्थिर मालूम पड़ती है। प्रारम्भिक आश्रम ब्रह्मचर्य था। लोग ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्याध्ययन किया करते थे। उपयुक्त गुरु की खोज में वे दूर तक चले जाते

थे। उनका जीवन संयमित तथा कठोर होता था। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में लोग दारपरिग्रह कर सांसारिक जीवन में व्यस्त रहते थे। संन्यासियों के दो वर्ग प्रतीत होते हैं—एक तपस्वी जो तपोवन में रहकर तपस्या करते थे और दूसरे परिव्राजक जो घूमा करते थे। स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम अङ्क में यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ भी तपस्विनी होकर जंगलों में रहती थीं। मगधराजमाता इसका उदाहरण हैं।

संयुक्त परिवार-प्रथा—भारत में संयुक्त परिवार की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भास के समय में भी परिवार संयुक्त ही दिखायी पड़ता है। इसमें कुटुम्ब का ज्येष्ठ व्यक्ति प्रधान होता था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि होती थी। पिता यदि पुत्र को मृत्यु के गाल में भी भेज दे तो वह सहर्ष जाने के लिये उद्यत दिखायी पड़ता है। राम का वनवास तथा मध्यम-व्यायोग में मध्यम पुत्र का राक्षसी का आहार बनने के लिये उद्यत होना इसी बात का प्रमाण है।

विवाह-विधि—मनु ने विवाह की आठ विधियाँ बताई हैं :

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यास्तथासुरः
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमो मतः ॥–३।२१

भास के नाटकों में इनमें से कई का उल्लेख मिलता है। पद्मावती तथा उदयन का विवाह ब्राह्मकोटि में आता है। अविमारक में काशिराज अपने पुत्र जयवर्मा के लिये कुन्तिभोज की कन्या मांगने के लिये दूत भेजते हैं। अविमारक में कुरंगी तथा अविमारक का विवाह गान्धर्व कोटि में आता है। उदयन तथा वासवदत्ता का विवाह भी इसी कोटि में आता है। यह विवाह राक्षस कोटि में भी आ सकता है क्योंकि वासवदत्ता को उदयन ने उसके माता-पिता के यहाँ से भगाया था। सज्जलक तथा मदनिका का परिणय अनुलोम विवाह के अन्तर्गत आता है।

स्त्रियों का महत्त्व—भास के नाटकों से स्त्रियों के विभिन्न रूपों का पता लगता है। कन्यायें पितृगृह में स्वच्छन्दता से घूम-फिर सकती थीं। वे गीत-वाद्य आदि नाना कलाओं को सीखती थीं। वे सखियों के साथ कन्दुक-कीडन भी करती थीं। विवाह के बाद उनका जीवन संकुचित हो जाता था। पर्दा

प्रथा का अस्तित्व भी दिखाई पड़ता है। स्त्रियाँ पतियों की अर्धांगिनी होती थीं तथा पति को उनके भरण और संरक्षण का दायित्व था। स्त्री का कर्तव्य सभी अवस्थाओं में पति का अनुकरण करना था। राजपरिवार की स्त्रियां पर्दा प्रथा का अनुकरण करती थीं।

जन-विश्वास—लोगों का जादू-टोने में विश्वास था। अभिचार के आश्रय से लोग अन्तर्धान या प्रकट हो जाते थे। मन्त्रों के बल से कपाट खुल या बन्द हो जाते थे। ऋषियों का शाप अक्षरशः सत्य माना जाता था। कभी-कभी शाप साक्षात् विग्रह धारण कर लेता था। विपत्तियों को दूर करने के लिये यंत्र-मंत्र का उपयोग होता था। ज्योतिर्विद्या में लोगों का पूर्ण विश्वास था। यौगन्धरायण दैवज्ञों के वचन के अनुसार ही कार्य करता दिखायी पड़ता है। मानव जीवन के साफल्य वा असाफल्य में दैव का प्रधान हाथ माना जाता था। शान्ति-सम्पन्न करना तथा ब्राह्मणों का भोजन करना प्रचलित था।

मनोरंजन—लोग नाच-गान से मनोरंजन किया करते थे। पर्वों के अतिरिक्त विशिष्ट अवसरों पर साज-सज्जा के साथ महोत्सव मनाये जाते थे। कामदेव महोत्सव या कामदेवानुयान इसी प्रकार का महोत्सव था। यह कामदेव से सम्बद्ध उत्सव था और युवक-युवतियाँ इसमें भाग लेते थे। प्रायेण यह वसन्त ऋतु में मनाया जाता था जब कि प्रकृति अपने पूर्ण यौवन पर रहती है। मल्लविद्या का भी समय-समय पर प्रदर्शन किया जाता था और इसमें दूर-दूर के लोग भाग लेते थे।

नैतिकता—द्यूत तथा गणिकावृत्ति, जिसका आगे उल्लेख किया जायगा, के विपरीत भी नैतिकता का मानदण्ड बहुत ऊँचा था। सत्य के सभी लोग पुजारी प्रतीत होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने वचन से मुकरना उचित नहीं समझता। दूसरे की गोपनीय बातों का सुनना भी लोग उचित नहीं समझते थे। हास्य में भी लोग असत्य बोलना उचित नहीं समझते थे।[1] दूसरे की रखो

१. हास्य इत्यादि में असत्य-भाषण प्राचीन युग में क्षम्य माना जाता था—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति स्त्रीषु राजन्नविवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥

हुई वस्तु (न्यास) की लोग पूर्णतः रक्षा करते थे। दान देने में लोग अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते थे। चारित्रिक स्तर लोगों का बहुत ऊँचा था।

द्यूत—भास के समय द्यूत कोई अनुचित व्यवहार नहीं माना जाता था या कम से कम शिष्टजनानुमोदित था। चारुदत्त में इस विद्या का विशेष महत्त्व दिखायी पड़ता है। संवाहक द्यूत में ही हारकर वसन्तसेना के घर में प्रविष्ट होता है। चारुदत्त भी वसन्तसेना का आभूषण चोरी जाने पर यही कहकर विदूषक को वसन्तसेना के पास भेजता है कि वह जाकर कहे कि उसका आभूषण वह द्यूत में हार गया। इससे यही व्यञ्जित होता है कि चारुदत्त द्यूत खेलता था।

वेश्यावृत्ति—समाज में वेश्यावृत्ति का भी अस्तित्व दिखायी पड़ता है। यद्यपि उनमें कुछ शिष्ट भी होती थीं पर सामान्यतया लोग उन्हें बाजारू वस्तु समझते थे जिसे जो चाहे पैसा देकर खरीद ले।[1] सामान्य स्त्रियों की अपेक्षा पण्यस्त्रियाँ कलाओं में दक्ष हुआ करती थीं। कलाओं की उन्हें विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। वेश्याओं में कुछ ऊँचे चरित्र की भी हुआ करती थीं और केवल गुणियों पर ही रीझा करती थीं। वसन्तसेना इसी का उदाहरण है। वह राजश्यालक के आमन्त्रण को ठुकरा देती है और दरिद्र किंतु गुणी चारुदत्त को अंगीकार करती है।

चौर्य—भास के समय में चौर्यवृत्ति का भी पता चलता है। चोरी करने की कला में चोर निष्णात हुआ करते थे। वे रात में घर की दीवाल को काटकर घर में प्रविष्ट होते थे। जल रहे दीपक को बुझाने के लिये भ्रमरों का उपयोग करते थे। भ्रमर पेटिका से निकाले जाने पर सीधे दीपक की लपट पर जाकर बैठता था और अपने प्राण गवाँ कर दीपक को बुझा देता था। चोरी करनेवाले वरिष्ठ शरीर के होते थे।

दासप्रथा—दासप्रथा के भी संकेत मिलते हैं। मूल्य देकर आदमी खरीद लिये जाते थे और वे तब तक सेवा करते थे जब तक मूल्य लौटा न दिया जाय। वसन्तसेना की दासी मदनिका क्रीत ही थी। उसी को मुक्त कराने के लिये उसका प्रेमी सज्जलक चोरी करता है।

---

१. द्र० चारुदत्त अंक २।

बहु-विवाह—भास के समय में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। लोग एक से अधिक विवाह करते थे। बहु-विवाह की प्रथा प्रायः धनिकों या राजाओं में थी।

गुप्तचर—राजा लोग दूसरे राजाओं तथा कवियोंके क्रियाकलापों का अवलोकन किया करते थे। इस काम के लिये वे गुप्तचरों का उपयोग करते थे। विशेष आशङ्का होने पर या आवश्यता पड़ने पर गुप्तचरों के जाल बिछ जाते थे। गुप्तचरों को राजाओं की आँख कहा जाता था। गुप्तचर नाना वेशों को धारण कर घूमते थे और शत्रु के नगर में नाना प्रकार की नौकरियों में लग जाते थे। उदयन के महासेन प्रद्योत के यहाँ बन्दी बनाये जाने पर यौगन्धरायण ने अवन्ती में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। अविमारक में कुन्तिभोज चरों के द्वारा ही सौवीरराज के राज्य का समाचार ज्ञात करता है। कभी-कभी गुप्तचर विभाग असफल भी हो जाया करता था। उदयन को जब छल से प्रद्योत ने बन्दी बनाया तब यही अवस्था थी।

राजसैन्य और युद्ध—सेनाओं को विभिन्न प्रकार से सज्जित रखा जाता था। युद्ध की सेना में गज, अश्व, रथ तथा पैदल सिपाही सम्मिलित थे। राजा, अमात्य तथा सहायक सभी युद्ध में सम्मिलित होते थे।

प्राचीन काल में हाथियों का युद्ध में प्राधान्य रहता था। एक विशिष्ट प्रकार का हस्ती चक्रवर्ती चिन्ह से युक्त होता था जिसको प्राप्त कर राजा चक्रवर्ती बनने की आशा करते थे। हाथियों का नाना प्रकार से शृङ्गार किया जाता था तथा उसे प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न किये जाते थे। राजा उदयन वीणा बजाकर हाथियों को वश में करने की कला का आचार्य था। हाथियों के बाद रथों का महत्त्व है। रथ का सारथी रथ-कला में विशेष निपुण होता था जो आवश्यकता पड़ने पर रथ को रोक तथा घुमा सकता था। रथों पर विशिष्ट व्यक्तियों के विशेष ध्वज हुआ करते थे। घोड़ों का रथों के बाद महत्त्व आता है। कम्बोज देश के घोड़े विशेष प्रसिद्ध थे। पैदल सेना भी युद्ध में काम आती थी। सभी सैनिक कवचों तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहते थे। अस्त्र-शस्त्रों में धनुष-बाण का विशेष प्राधान्य था। मुशल, मुद्गर, गदा, त्रिशूल, चक्र, शक्ति, रिष्टि, खड्ग, इत्यादि का भी इन नाटकों में निर्देश है।

युद्धोद्धत सैनिक प्राण छूटने तक स्वामी के नमक का प्रतिफल चुकाने का प्रयास करते थे। एक ओर तो वे स्वामी के अनुराग में अनुरक्त होने के कारण प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध करते थे दूसरी ओर धर्मभावना भी उन्हे युद्ध से पराङ्मुख होने से रोकती थी। धर्मभावना का प्रतिज्ञायौगन्धरायण में बड़ा ही सुन्दर उल्लेख है—

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥–४।२

यही प्रमुख मनोवृत्ति थी जिसके कारण सैनिक कभी पराङ्मुख नहीं होते थे।

वास्तु कला—भास के समय में वास्तु कला भी बड़े ऊँचे दर्जे की थी। महलों का निर्माण बड़े ठाट-बाट से होता था। ये महल समृद्धि के द्योतक थे। चारुदत्त के प्रासाद को देखकर ही सज्जलक उसमें प्रविष्ट हुआ था। राजमहल का निर्माण विशेष प्रकार से होता था। महल के अन्दर ही उद्यान, वापी तथा क्रीड़ास्थल बने होते थे। प्रासाद के भीतर ही राजकुमारियाँ अपना मनोविनोद किया करती थीं। प्रासादों की वापिकाओं में कमल का पुष्प खिला रहता था। राजकुमारियाँ कमलिनी-पत्र का उपयोग दाह-शान्ति के लिये किया करती थीं।

देव-मन्दिरों का निर्माण भी पर्याप्त संख्या में होता था। समय-समय पर राजा आदि देव-मन्दिरों में दर्शन के लिये जाया करते थे। इस समय के मूर्तिकार विशेष कुशल प्रतीत होते थे। वे व्यक्तियों की प्रतिमा का निर्माण करते थे। प्रतिमा नाटक में रघुवंशी राजाओं की प्रतिमा का उल्लेख इसी तथ्य को दर्शाता है। विशिष्ट अवसरों पर इन मूर्तियों का शृङ्गार किया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भास के नाटकों में तत्काली समाज का सम्यक् चित्रण किया गया है। यहाँ संक्षेप में इसका उल्लेख किया गया है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी दशाओं का इन नाटकों के अध्ययन से पता चल जाता है।

भास का परवर्ती कवियों पर प्रभाव

भास अपने युग का महान् साहित्यकार थे जिनकी अमर कृतियों की छाया परवर्ती कवियों पर पड़ी। संस्कृत के परवर्ती नाटककार जाने-अनजाने भास क

कृतियों से प्रभावित होते रहे। यह बात इसकी कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

कालिदास पर भास का प्रभाव दिखाई पड़ता है। विक्रमोर्वशी की उनकी प्रस्तावना से यह स्पष्ट है कि भास के नाटक उस समय बहुत ही प्रसिद्ध थे। उनका व्यापक प्रचलन था। अतः यह स्वाभाविक है कि भास की कृतियों का उन पर प्रभाव पड़े। इसी प्रभाववश कालिदास के ग्रंथों में समान भाव वाले पद्य मिलते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कालिदास की काव्य-प्रतिभा इतनी समुन्नत थी कि वे दूसरे के भावों को परिवर्तित कर देते थे या उसमें और परिष्कार कर देते थे। अतः स्पष्ट साम्य दिखाना संभव नहीं। पर घटनाओं, विचारों, परिस्थितियों आदि के मूलतत्त्व दोनों में समानरूप से मिल सकते हैं।

शाकुन्तल में दुष्यन्त आश्रमवासी तपस्वियों को किसी प्रकार कष्ट न देने का आदेश देते हैं। इसी प्रकार की बात स्वप्न नाटक के प्रथम अङ्क में पद्मावती का कांचुकीय भी कहता है। दोनों नाटकों में आश्रम का वर्णन भी समान है। शकुन्तला में जहाँ दुर्वासा का शाप है वहाँ अविमारक में चण्ड-भार्गव का। क्रोधी दोनों समानरूप से हैं।

शूद्रक पर भास का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने अपने मृच्छकटिक नाटक की योजना भास के चारुदत्त के आधार पर की है। उन्होंने न केवल पात्र, कथा-नक और घटनाओं को ही लिया है अपितु उचित परिष्कार तथा दोषों के परिहार के साथ वाक्यों को भी लिया है। भास का भवभूति पर भी प्रभाव दिखायी पड़ता है। मालतीमाधव नाटक में उन्होंने अविमारक से प्रेरणा ग्रहण की है। दोनों नाटकों का आधार लोककथा है। प्रकृति-वर्णन दोनों में समान शैली में हुआ है। जहाँ अविमारक में हाथी का उत्पात है वहाँ मालती-माधव में व्याघ्र का। अविमारक में उसका जीवन विद्याधार के द्वारा रक्षित हुआ है। और मालती-माधव में योगिनी के द्वारा। दण्डक छन्द का प्रयोग भी दोनों में हुआ है।

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नाटक ऐतिहासिक तथा राजनीतिक नाटक है। इस नाटक पर प्रतिज्ञायौगंधरायण का प्रभाव लक्षित होता है। मुद्राराक्षस के

चाणक्य में प्रतिज्ञा के यौगन्धरायण जैसे गुण हैं। हर्ष के नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका पर भी भास का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रियदर्शिका (अङ्क २) में अगस्त्यपूजा अविमारक (अङ्क ४) के आधार पर है। वेणीसंहार तथा पञ्चरात्र के पात्रों के स्वभाव में साम्य है। प्रबोधचन्द्रोदय में सूक्ष्म मनोभाव पात्र रूप में आये हैं जो बालचरित के शापादि के पात्रत्व-कल्पना से साम्य रखता है। केरल के नाटकों पर भी भास का प्रभाव दिखायी पड़ता है। भास के उदयन-आख्यान ने वीणावासवदत्ता, उन्मादवासवदत्ता, तापस-वत्सराजचरित आदि के माध्यम से व्यापक प्रचार पाया है।



पंचम परिच्छेद

भास के दोष

परन्तु इन गुणों के विपरीत भास में कुछ दोष भी हैं जो दर्शक का ध्यान बरबस आकृष्ट कर लेते हैं। कुछ लोगों ने विचार प्रकट किया है कि बहु-विवाह का समर्थन, ब्राह्मणीय महत्ता का प्रतिपादन तथा वर्णाश्रम धर्म का गुणगान अनुचित है। परन्तु इस आलोचना में कोई सार नहीं प्रतीत होता। भास उस सभ्यता तथा संस्कृति की उद्भूति थे जो ब्राह्मणीय धर्म व्यवस्था में पूर्ण विश्वास करती थी। उस सभ्यता तथा संस्कृति के लिये ये सर्वोच्च आदर्श थे। इस कारण भास को इनके लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उस वैदिक संस्कृति का ही यह प्रभाव है कि मध्यमव्यायोग में भास पिता-माता के द्वारा मध्यम पुत्र के त्याग का संकेत करते हैं। स्पष्टतः यह वैदिकी कथा (शुनःशेप) का प्रभाव है। अतः भास को इनके लिये दोषी ठहराना ऐतिहासिक भूल होगी।

इन सामाजिक चित्रणों को छोड़कर कुछ नाटकीय त्रुटियाँ हैं जिनका परिहार कठिन है। ये त्रुटियाँ ऐसी हैं जिनकी जिम्मेदारी भास पर ठहरती है। सबसे प्रमुख दोष यह है कि भास काल की अन्विति पर ध्यान नहीं देते। घटनाओं में दीर्घकालीन समय बिखरा रहता है। कालान्विति का अभाव स्वप्न नाटक, चारुदत्त, बालचरित, अभिषेक आदि नाटकों में देखा जा सकता है। बालचरित नाटक में जब वसुदेव नन्दगोप को बालक देकर लौटने का उद्योग करते हैं उस समय प्रभात समीप रहता है (वयस्य प्रभाता रजनी—अङ्क १) पर जब वे गोकुल से मथुरा लौटते हैं तो भी घना अन्धकार ही रहता है और लोग सोये रहते हैं। यदि वहाँ प्रभात का उल्लेख नहीं होता तो नाटकीय व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

नाटकों में कञ्चुकीय, धात्री और चेटी आदि का प्रवेश बड़ी शीघ्रता से

होता है। यद्यपि नाटककार कथानक में तीव्रता लाने के लिये ही ऐसा करता है पर इनका आधिक्य इनकी वास्तविकता में सन्देह उत्पन्न कर देता है।

आकाशभाषित का अस्तित्व भी निरापद नहीं। यद्यपि आकाशभाषित रङ्गमञ्च की दृष्टि से निरर्थक विस्तार को कम करने वाले तथा इस रूपमें उपयोगी भी होते हैं पर वास्तविकता से इनका सम्बंध छूट जाता है और इस रूप में अपनी प्रभावशालिता खो बैठते हैं।

ऐसे पात्रों का बोलना जो रङ्गमञ्च पर नहीं हैं पर बोल रहे हैं अस्वाभाविक लगता है। उदाहरण के लिए प्रतिज्ञा नाटिका में भट को पता लगता है कि उदयन वासवदत्ता को लेकर भाग गया। यह सूचना उसे ऐसे व्यक्ति से मिलती है जो रङ्गमञ्च पर नहीं है। वही उसे युद्ध प्रारम्भ होने की भी सूचना देता है। भास के नाटकों ऐसे स्थल कई मिलते हैं।

भास के नाटकों में कुछ उपमायें तथा रूपक परम्परागत प्रतीत होते हैं और कई बार उनका पिष्टपेषण मात्र हुआ है। उपमायें भी प्रसिद्ध ही दिखायी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के प्रदेशों के चित्रण में भास अत्यंत संकुचित दिखायी पड़ते हैं। यही प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत का उनका ज्ञान प्रसिद्ध ग्रंथों पर ही आधृत है।

परंतु ये दोष बहुत ही साधारण हैं तथा भास के महत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं करते भास संस्कृत-नाट्य-साहित्य के ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं जिनकी ज्योति काल तथा देश से परे हैं। ये दोष तो मात्र उनके महत्त्व को दर्शाते हैं—एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीदोः किरणेष्विवाङ्कः ॥



भासनाटक-सुभाषितानि

(१) दूतवाक्यगतम्—

१. राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते ।
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते ॥–१।२४

(२) कर्णभारगतानि—

१. हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः ।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥–१।१२

२. धर्मो हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो
भुजङ्गजिह्वा चपला नृपश्रियः ।
तस्मात् प्रजापालनमात्रबुद्ध्या
हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते ॥–१।१७

३. शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥–१।२२

(३) दूतघटोत्कचगतम्—

१. को हि संनिहितशार्दूलां गुहां धर्षयितुं समर्थः ।
(पृ० ११, चौखम्बा प्रकाशन)

(४) मध्यमव्यायोगगतानि—

१. जानामि सर्वत्र सदा च नाम द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्
—१।६

२. वनं निवासाभिमतं मनस्विनाम् ।।—१।१०

३. ज्येष्ठो भ्राता पितृसमः कथितो ब्रह्मवादिभिः ।।—१।१८

४. आपदं हि पिता प्राप्तो ज्येष्ठपुत्रेण तार्यते ।।—१।१६

५. माता किल मनुष्याणां देवतानां च दैवतम् ।।—१।३७

(५) पञ्चरात्रगतानि—

१. एतदग्नेर्बलं नष्टमिन्धनानां परिक्षयात् ।
दानशक्तेरिवार्यस्य विभवानां परिक्षयात् ।।—१।१७

२. अतीत्य बन्धूनवलंघ्य मित्रा-
ण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः ।
बालं ह्यपत्यं गुरवे प्रदातु-
र्नैवापराधोऽस्ति पितुर्न मातुः ।।—१।२१

३. बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः
पुत्रापेक्षी वञ्च्यते सन्निधाता ।
विप्रोत्सङ्गे वित्तमावर्ज्य सर्वं,
राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः ।।—१।२४

४. भेदाः परस्परगता हि महाकुलानां
धर्माधिकारवचनेषु शमीभवन्ति ।।—१।४१

५. रणशिरसि गवार्थे नास्ति मोघः प्रयत्नो
निधनमपि यशः स्यान्मोक्षयित्वा तु धर्मः ।।—२।५

६. एकोदकत्वं खलु नाम लोके मनस्विनां कम्पयते मनांसि ।।—२।६

७. अकारणं रूपमकारणं कुलं
महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते ।।—२।३३

८. मिथ्या प्रशंसा खलु नाम कष्टा ।–२।६०
९. सति च कुलविरोधे नापराध्यन्ति बालाः ॥–३।४
१०. मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति ॥–३।२५

(६) ऊरुभङ्गगतानि—

१. नमस्कृत्य वदामि त्वां यदि पुण्यं मया कृतम् ।
अन्यस्यामपि जात्यां मे त्वमेव जननी भव ॥–१।५६
२. मानशरीरा राजानः । (पृ० ५४ : चौखम्बा प्रकाशन)
३. सज्जनधनानि तपोवनानि ।–१।६६

(७) अभिषेकनाटकगतानि—

१. मज्जमानमकार्येषु पुरुषं विषयेषु वै ।
निवारयति यो राजन् ! स मित्रं रिपुरन्यथा ॥–६।२२

(८) बालचरितगतानि

१. स्मरताऽपि भयं राजा भयं न स्मरताऽपि वा ।
उभाभ्यामपि गन्तव्यो भयादप्यभयादपि ॥–२।१३
२. दारिकासु स्त्रीणामधिकतरः स्नेहो भवति ॥
(पृ० ४४ चौखम्बा-प्रकाशन)

(९) अविमारकगतानि—

१. कन्या पितुर्हि सततं बहु चिन्तनीयम् ॥–१।२
२. विवाहा नाम बहुशः परीक्ष्य कर्तव्या भवन्ति—
जामातृसम्पत्तिमचिन्तयित्वा
पित्रा तु दत्ता स्वमनोऽभिलाषात् ।
कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी
कूलद्वयं क्षुब्धजला नदीव ॥–१।३
३. छन्ना भवन्ति भुवि सत्पुरुषाः कथञ्चित्
स्वैः कारणैर्गुरुजनैश्च नियम्यमानाः ।

भूयः परव्यसनमेत्य विमोक्तुकामा
विस्मृत्य पूर्वनियमं विवृता भवन्ति ॥–१।६

४. न तत्र कर्त्तव्यमिहास्ति लोके
कन्यापितृत्वं बहु वन्दनीयम्।
सर्वे नरेन्द्रा हि नरेन्द्रकन्यां
मल्लाः पताकामिव तर्कयन्ति ॥–१।६

५. महद्भारो राज्यं नाम—
धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुद्ध्या
प्रच्छाद्यौ रागरोषौ मृदुपरुषगुणौ कालयोगेन कार्यौ।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं परचरनयनैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यं
रक्ष्यो यत्नादिहात्मा रणशिरसि पुनः सोऽपि नावेक्षितव्यः ॥–१।१२

६. मनश्च तावदस्मदिच्छया न प्रवर्तते। इह हि—
प्रतिषिद्धं प्रयत्नेन क्षणमात्रं न वीक्षते।
चिराभ्यस्तपथं याति शास्त्रं दुर्गुणितं यथा।–३।४

७. हस्तिहस्तचञ्चलानि पुरुषभाग्यानि भवन्ति।
(पृ० ४७ : चौखम्बा प्रकाशन)

८. एकः परगृहं गच्छेद् द्वितीयेन तु मंत्रयेत्।
बहुभिः समरं कुर्यादित्ययं शास्त्रनिर्णयः ॥–२।१०

९. यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः
को वा न सिध्यति ममेति करोति कार्यम्।
यत्नैः शुभैः पुरुषता भवतीह नृणां
दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धिः ॥–३।१२

(१०) प्रतिमानाटकगतानि—

१. शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा ॥–१।१२

२. अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।

त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः ॥-१।२५

३. निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ॥
-१।२६

४. बहुदोषाण्यरण्यानि ।-२।१५

५. गोपहीना यथा गावो विलयं यान्त्यपालिताः ।
एवं नृपतिहीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः ॥-३।२३

६. सुपुरुषपुरुषाणां मातृदोषो न दोषो ॥-४।२१

७. कुतः क्रोधो विनीतानां लज्जा वा कृतचेतसाम् ॥-६।६

(११) प्रतिज्ञायौगन्धरायणगतानि—

१. सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम् ॥-१।४

२. परचक्रैरनाक्रान्ता धर्मसङ्करवर्जिता ।
भूमिभर्तारमापन्नं रक्षिता परिरक्षति ॥-१।६

६. काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति ।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥-१।१८

४, कन्याया वरसम्पत्तिः पितुः प्रायः प्रयत्नतः ।
भाग्येषु शेषमायत्तं दृष्टपूर्वं न चान्यथा ॥-२।५

५. अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः ।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः ॥-२।७

६. व्यवहारेष्वसाध्यानां लोके वा प्रतिरज्यताम् ।
प्रभाते दृष्टदोषाणां वैरिणां रजनी भयम् ॥-३।३

७. नवं सरावं सलिलैः सुपूर्णं
सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम् ।

तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद्
योे भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत् ।।–४।२

(१२) स्वप्नवासवदत्तगतानि—

१. कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः ।–१।४

२. प्रद्वेषो बहुमानो वा संकल्पादुपजायते ।–१।७

३. सुखमर्थो भवेद् दातुं सुखं प्राणाः सुखं तपः ।
सुखमन्यद् भवेत् सर्वं दुःखं न्यासस्य रक्षणम् ।।–१।१०

४. तस्मिन् सर्वमधीनं हि यत्राधीनं नराधिपः ।–१।१५

५. दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् ।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं
प्राप्ताऽऽनृण्यं याति बुद्धिः प्रसादम् ।।–४।६

६. कामं धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः ।–४।८

७. गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः ।
कर्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ।।–४।६

८. कातरा येऽप्यशक्ता वा नोत्साहस्तेषु जायते ।
प्रायेण हि नरेन्द्रश्रीः सोत्साहैरेव भुज्यते ।।–६।७

९. कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां
काले काले छिद्यते रुह्यते च ।।–६।१०

१०. परस्परगताल्लोके दृश्यते तुल्यरूपता ।।–६।१४

(१३) चारुदत्तगतानि—

१. सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
   यथान्धकारादिव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति दशां दरिद्रतां
   स्थितः शरीरेण मृतः स जीवति ॥–१।१३

२. दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
   सत्त्वं हास्यमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते ।
निर्वैरा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फीता भवन्त्यापदः
   पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते ॥–१।६

३. जनयति खलु शेषं प्रश्रयो भिद्यमानः ॥–१।१४

४. स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः ॥–४।६



(२)

नाटकीयवस्तुलक्षणानि

प्रकरणम्—

भवेत् प्रकरणं वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ॥

नान्दी—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

सूत्रधारः—

आसूत्रयन् गुणान् नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इहोदितः ॥

प्रयोगातिशयः—

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥

नेपथ्यम्—

कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते ।

प्रस्तावना—

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मारिषं वा विदूषकम् ।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत् तदामुखम् ॥

अङ्कः—

(क) अङ्क इति रूढशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात् तस्माद् भवेदङ्कः ॥

(ख) यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदावगन्तव्यः॥

विष्कम्भकः—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥

स्वगतम्—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्।

प्रकाशम्—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्।

नायकः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता॥

---

(३)

भास की प्रशस्तियाँ

(१)

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

—बाणभट्ट : हर्षचरित, १।१५

(२)

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

—राजशेखर

(३)

सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ॥

—दण्डी : अवन्तिसुन्दरी, ११

(४)

भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे .अजस्स रहुआरे ।
सो बन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो ॥
[भासे ज्वलनमित्रे कुन्तीदेवे च यस्य रघुकारे ।
सौबन्धवे च बन्धे हारिचन्द्रे च आनन्दे ॥]

—गउडवहो

(५)

भासो हासोः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।

—जयदेव : प्रसन्नराघव ।

(६)

प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः ।

—कालिदास : मालविकाग्निमित्र

(१)

दूतवाक्यम्

व्याख्याकार :—
आचार्य रामजी मिश्र

भासनाटकचक्रे

दूतवाक्यम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्



प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—

पादः पायादुपेन्द्रस्य सर्वलोकोत्सवः स वः ।
व्याविद्धो नमुचिर्येन तनुताम्रनखेन खे ॥ १ ॥

निर्विघ्नसमाप्ति चिकीर्षुः महाकविर्भासः दूतवाक्याभिधानं नाटकं विघ्नविघाताय सूत्रधारद्वारा मंगलाचरणं सूचयन् उपेन्द्रचरणं प्रस्तौति—पादेति । सर्वलोकोत्सवः-सर्वेषां लोकानामुत्सवः येन = अशेषभुवनमंगलदात्रा उपेन्द्रस्य = इन्द्रावरजस्य (उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः । अमरः ।) विष्णोरित्यर्थः । सः = प्रसिद्धः पादः = अङ्घ्रिः (पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् । अमरः ।) वः = युष्मान् सामाजिकान् दर्शकांश्च पायात् = रक्षेत् (रक्षणार्थक पा + विधिलिङि प्रथमैकवचने) तनुताम्रनखेन—तनुताम्राणि नखानि यस्य तेन = अल्परक्तनखेन येन = पादेन खे = आकाशे नमुचिः = एतन्नामको राक्षसः न मुञ्चतीति नमुचिः अत्र 'नभ्राण्नपाद्' इति शासनेन नस्य प्रकृतिभावे व्याविद्धः = प्रक्षिप्तः । 'सर्वलोको-

---

(नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार आता है ।)

सूत्रधार—सारे संसार को आनन्द देने वाला भगवान् विष्णु का वह चरण, आप लोगों की रक्षा करे जिसने अपने पैने तथा लाल नखों से नमुचि नामक दैत्य को आकाश में वेध डाला था ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अङ्ग ! पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

भो भोः प्रतिहाराधिकृताः ! महाराजो दुर्योधनः समाज्ञापयति ।

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम् ।

उत्पन्ने धार्तराष्ट्राणां विरोधे पाण्डवैः सह
मन्त्रशालां रचयति भृत्यो दुर्योधनाज्ञया ॥ २ ॥

त्सवः स वः' इत्यत्र छेकानुप्रासः । अनुष्टुब्वृत्तम् तल्लक्षणं यथा—

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः ।
गुरु षष्ठं च पादानां चतुर्णां स्यादनुष्टुभि: ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि—आर्याः = कुलशीलदयाधर्मसत्यादिसद्गुणसम्पन्नाः सभ्याः ते च ते मिश्राः = पूज्यास्तान् = श्रेष्ठसामाजिकान् एवम् = अनेन प्रकारेण (अहं) विज्ञापयामि = निवेदयामि ।

नेपथ्यशब्दान्विज्ञाय तानेव सूत्रधारः स्पष्टयति–उत्पन्नेति ।

धार्तराष्ट्राणां—धृतराष्ट्रे जाताः धार्तराष्ट्राः तेषां = धृतराष्ट्रपुत्राणां दुर्योधनादीनां पाण्डवैः—पाण्डौ जाताः तैः = युधिष्ठिरादिभिः सह = साकं विरोधे = वैरे उत्पन्ने = प्रादुर्भूते सति दुर्योधनाज्ञया—दुःखेन युद्ध्यत इति दुर्योधनः तस्य आज्ञा तया = कौरवज्येष्ठादेशेन भृत्यः = सेवकः (भरतीति भृत्यः ।) मंत्रशालां-मंत्रस्यशाला ताम् = विचारगृहं सभास्थानमिति यावत् रचयति = निर्मापयति । अत्राप्यनुष्टुपछन्दः ॥ २ ॥

इस प्रकार (अब) मैं आप महानुभावों को बतलाता हूँ । अरे मुझ सूचना देने में व्यग्र (सूत्रधार) को यह कैसा शब्द सुनाई पड़ रहा है ? अच्छा देखता हूँ !

(नेपथ्य में)

हे हे द्वाररक्षाधिकारियो ! महाराज दुर्योधन आज्ञा दे रहे हैं ।

सूत्रधार—अच्छा, समझा ।

धृतराष्ट्र के वंश में उत्पन्न होने वाले दुर्योधनादि से और पाण्डुवंश में उत्पन्न होने वाले युधिष्ठिरादि से विरोध उत्पन्न होने पर दुर्योधन की आज्ञा से उनके सेवक सभागृह का निर्माण कर रहे हैं ॥ २ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

स्थापना

(ततः प्रविशति काञ्चुकीयः ।)

काञ्चुकीयः—भो भोः प्रतिहाराधिकृताः ! महाराजो दुर्योधनः समाज्ञापयति—अद्य सर्वपार्थिवैः सह मन्त्रयितुमिच्छामि । तदाहूयन्तां सर्वे राजान इति । (परिक्रम्यावलोक्य) अये अयं महाराजो दुर्योधन इत एवाभिवर्तते । य एषः,

श्यामो युवा सितदुकूलकृतोत्तरीयः
सच्छत्रचामरवरो रचिताङ्गरागः ।
श्रीमान् विभूषणमणिद्युतिरञ्जिताङ्गो

प्रतिहाराधिकृताः = द्वाररक्षाधिकारिणः ।

दुर्योधनं विशिनष्टि दूतः—श्यामो युवा इति ।

एषः = दुर्योधनः श्यामः = श्यामवर्णः युवा = तरुणः सितदुकूलकृतोत्तरीयः—सितेन=शुभ्रेण तद्दुकूलेन=क्षौमेण (क्षौमं दुकूलं स्यादित्यमरः ।) कृतं=विहितम् उत्तरीयं=प्रावारः (द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा । संव्यानमुत्तरीयं चेत्यमरः।) येन स तथोक्तः सच्छत्रचामरवरः–सत् समीचीनं छत्रं चामरवरश्च यस्मिन् सः= शोभनच्छत्रव्यजनवरः रचिताङ्गरागः—रचितः अंगेषु रागः येन सः=विहिताङ्गानुलेपनः श्रीमान्—श्रीः = अस्ति अस्य श्रीमान् शोभायुक्तः लक्ष्मीयुक्तो वा विभूषणमणिद्युतिरञ्जिताङ्गः-विभूषणाय मणयः तेषां द्युतयः ताभिः रञ्जितानि अङ्गानि यस्य

(चला जाता है ।)

स्थापना

(तब कन्चुकी आता है ।)

कन्चुकी—हे हे द्वाररक्षको ! महाराज दुर्योधन आज्ञा दे रहे हैं—आज अपने सभासदों के साथ मन्त्रणा करना चाहता हूँ । तो सब राजाओं को पुकारो । (मुड़कर देखकर) अरे यह महाराज दुर्योधन इधर ही आ रहे हैं । यह जो—

साँवला, युवक और श्वेत वस्त्र का उत्तरीय धारण किया हुआ (दुर्योधन) छत्र, चामरश्रेष्ठ तथा शरीर में अङ्गरागादि लगाकर शोभित हो रहा है । वह धनवान्

नक्षत्रमध्य इव पर्वगतः शशाङ्कः ॥ ३ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो दुर्योधनः ।)

दुर्योधनः—

उद्धूतरोषमिव मे हृदयं सहर्षं
प्राप्तं रणोत्सवमिमं सहसा विचिन्त्य ।
इच्छामि पाण्डवबले वरवारणाना-
मुत्कृत्तदन्तमुसलानि मुखानि कर्तुम् ॥ ४ ॥

सः=आभरणोत्पलमणिकान्तिशोभितविग्रहः नक्षत्रमध्ये-नक्षत्राणां मध्यं तस्मिन्= उडुगणपरिवृतः पर्वगतः—पर्वणि गतः = पूर्णमासि जनितः शशाङ्कः—शशः = मृगः-अङ्के = क्रोडे यस्य सः = चन्द्र इव शोभते इति शेषः । उपमालङ्कारः । वसन्त-तिलकं वृत्तम् । यथा—'ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ३ ॥

उद्धूतरोषमिव-उद्धूतः रोषः यस्मिन् तत् = विनष्टक्रोधमिव मे = मम हृदयं = चित्तं (चित्तं तु चेतो हृदयमित्यमरः ।) इमं = वर्तमानं रणोत्सवं—रणस्य उत्सवः तम् = संग्राममहम् (महस्तूत्सवतेजसोः । अमरः ।) प्राप्तं = समागतम् सहसा = द्राक् विचिन्त्य=विमृश्य अतः पाण्डवबले—पाण्डवानां बलं तस्मिन्= पाण्डवसेनायां वरवारणानां वराश्च ते वारणाः तेषां = महागजानां मुखानि = आननानि (आननं लपनं मुखमित्यमरः ।) उत्कृत्तदन्तमुसलानि—उत्कृत्ताः = उत्पाटिताः दन्ताः = रदाः मुसला इव येषु तानि = उत्पाटितरदानि इत्यर्थः । कर्तुं = विधातुम् इच्छामि = ईहे । अस्मिन् रणे पाण्डवीयसैनिकगजानां विनाशं करोमीति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् उपमालंकारः ॥ ४ ॥

आभूषणों के मणियों की छटा से ऐसा शोभित हो रहा है जैसे नक्षत्रों के मध्य में पूर्णचन्द्र की शोभा होती है ॥ ३ ॥

(तब उपर्युक्त प्रकार का दुर्योधन आता है ।)

दुर्योधन—क्रोध के नष्ट होने के कारण मेरा मन प्रसन्न है तथा इस एकाएक रण के उत्सव के उपस्थित होने पर पाण्डव-सेना के मत्त गजराजों के दन्त को मूसल की भांति उखाड़कर उनके मुखों को दन्तहीन करने की इच्छा होती है ॥४

काञ्चुकीयः—जयतु महाराजः। महाराजशासनात् समानीतं सर्वराजमण्डलम्।

दुर्योधनः—सम्यक् कृतम्। प्रविश त्वमवरोधनम्।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रान्तः।)

दुर्योधनः—आर्यौ वैकर्णवर्षदेवौ! उच्यताम्—अस्ति ममैकादशाक्षौहिणीबलसमुदयः। अस्य कः सेनापतिर्भवितुमर्हति। किं किमाहतुर्भवन्तौ—महान् खल्वयमर्थः। मन्त्रयित्वा वक्तव्यमिति। सदृशमेतत्। तदागम्यतां मन्त्रशालामेव प्रविशामः। आचार्य अभिवादये प्रविशतु भवान् मन्त्रशालाम्। पितामह! अभिवादये। प्रविशतु भवान् मन्त्रशालाम्। मातुल! अभिवादये। प्रविशतु भवान् मन्त्रशालाम्। आर्यौ वैकर्णवर्षदेवौ! प्रविशतां भवन्तौ। भो भोः सर्वक्षत्रियाः! स्वैरं प्रविशन्तु भवन्तः। वयस्य! कर्ण! प्रविशामस्तावत्।

समानीतम् = आहूतम्। अवरोधनम् = अन्तःपुरं (भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्। अमरः।)

किमाहतुर्भवन्तौ—किं कथम्। यथा दशरूपके—

काञ्चुकीय—महाराज की जय हो। महाराज की आज्ञा से सब राजागण बुला लिए गए हैं।

दुर्योधन—उचित किया। तो तुम अन्तःपुर के अन्दर प्रवेश करो।

काञ्चुकीय—जैसी महाराज की आज्ञा। (चला गया)

दुर्योधन—ओ श्रेष्ठ वैकर्ण और वर्षदेव! बतलाओ मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेना का समूह है? इनका सेनापति कौन हो सकता है। क्या क्या आप लोग कहते हैं? अवश्य ही यह गूढ़ बात है। मंत्रणा करने के बाद बतलाइए। ठीक ही यह है। तो आइए हम सब सभाभवन में ही प्रवेश करें। आचार्य अभिवादन करता हूँ। आप मन्त्रशाला में ही प्रवेश करें। पितामह! अभिवादन करता हूँ। आप सभाभवन में चलें। मामाजी! अभिवादन करता हूँ। आप भी सभाभवन में चलें। आर्य वैकर्ण और वर्षदेव! आप दोनों भी प्रवेश करें। हे, हे सब क्षत्रियगण! धीरे-धीरे आप लोग भी प्रवेश करें। मित्र कर्ण! तब तक हम सब भी प्रवेश करें।

(प्रविश्य)

आचार्य ! एतत् कूर्मासनम् , आस्यताम् । पितामह ! एतत् सिंहासनम् , आस्यताम् । मातुल ! एतच्चर्मासनम् , आस्यताम् । आर्यौ वैकर्णवर्षदेवौ ! आसातां भवन्तौ । भो भोः सर्वक्षत्रियाः ! स्वैरमासतां भवन्तः । किमिति किमिति महाराजो नास्त इति । अहो सेवाधर्मः । नन्वयमहमासे । वयस्य कर्ण ! त्वमप्यास्स्व । (उपविश्य ।) आर्यौ वैकर्णवर्षदेवौ ! उच्यताम्—अस्ति ममैकादशाक्षौहिणीबलसमुदयः । अस्य कः सेनापतिर्भवितुमर्हतीति । किमाहतुर्भवन्तौ—अत्रभवान् गान्धारराजो वक्ष्यतीति । भवतु, मातुलेनाभिधीयताम् । किमाह मातुलः—अत्रभवति गाङ्गेये स्थिते कोऽन्यः सेनापतिर्भवितुमर्हतीति । सम्यगाह मातुलः । भवतु भवतु, पितामह एव भवतु । वयमप्येतदभिलषामः ।

सेनानिनादपटहस्वनशङ्खनादै-

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥ (१।६७)

दुर्योधनः सर्वाभिमतं गाङ्गेयं सेनापतित्वेन प्रतिष्ठापयति–सेनानीत्यादिना ।

(प्रवेश कर)

आचार्य ! यह कूर्मासन है, (आप) बैठिये । पितामह ! यह सिंहासन है, आप बैठिये । मामाजी, यह चर्म का आसन है आप भी बैठिये । आर्य वैकर्ण और वर्षदेव ! आप दोनों भी बैठें ! हे, हे, सब क्षत्रियो धीरे-धीरे आप लोग भी बैठ जाँय । यह क्या यह क्या महाराज नहीं बैठेंगे ऐसा (आप क्षत्रियगण कहते हैं)। धन्य है (आप लोगों का) सेवाधर्म । अवश्य ही मैं बैठता हूँ । मित्र कर्ण ! तुम भी बैठो । (बैठकर) आर्य वैकर्ण और वर्षदेव ! बोलो—मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेना-समूह है न ? इसका सेनापति कौन हो सकता है । क्या कहा आप लोगों ने—गान्धार देश के राजा बतलायेंगे । अच्छा, मेरे मामा जी को कहने दो । क्या कहा मामा—यहाँ श्री भीष्म के रहते सैन्य-सञ्चालक (दूसरा) कौन हो सकता है । मामा जी ने ठीक कहा । अच्छा, अच्छा पितामह भीष्म ही हों । हम सब ऐसी अभिलाषा रखते हैं ।

सेना के पटह, शंख आदि के बजने से घोर झंझावात में समुद्र के गर्जन-सी

चण्डानिलाहतमहोदधिनादकल्पैः ।
गाङ्गेयमूर्ध्नि पतितैरभिषेकतोयैः
सार्धं पतन्तु हृदयानि नराधिपानाम् ॥ ५ ॥

(प्रविश्य)

काञ्चुकीयः—जयतु महाराजः । एष खलु पाण्डवस्कन्धावाराद् दौत्येनागतः पुरुषोत्तमो नारायणः ।

सेनानिनादपटहस्तनशङ्खनादैः—सेनायाः निनादः = सैनिकघोषः पटहानां स्वनः = आनकशब्दः (आनकः पटहोऽस्त्री स्यात् । अमरः ।) शङ्खनादः=शङ्खानां नादः= कम्बुरवश्च इत्येतैः उपलक्षितैः चण्डानिलाहतमहोदधिनादकल्पैः—चण्डानां = प्रचण्डानाम् अनिलानाम् आहतस्य महोदधेः नादेन ईषदूनैः = प्रचण्डवायुताडित-महासागरशब्दतुल्यैः गाङ्गेयमूर्ध्नि—गङ्गाया अपत्यं तस्य मूर्ध्नि—भीष्ममस्तके (मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् । अमरः ।) पतितैः = प्रक्षिप्तैः अभिषेकतोयैः—अभिषेकस्य तोयानि तैः = सेनापतिपदाभिषेकजलैः सार्धं=साकं नराधिपानाम्—अधिकं पान्तीति अधिपाः नराणामधिपाः तेषां नृपाणां हृदयानि = चेतांसि पतन्तु = पितामहसमीपे आपतन्तु = पितामहाधीना भवन्त्विति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् । सहोक्तिरलंकारः । यथा-'सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः ।' (कुवलयानन्दः) ॥ ५ ॥

पाण्डवस्कन्धावारात्—पाण्डौ जातः पाण्डवः तस्य स्कन्धावारः = शिविरः तस्मात् दौत्येनागतः—दूतस्य भावं दौत्यं तेन आगतः = आयातः पुरुषोत्तमः—पुरुषेषु उत्तमः = मानवश्रेष्ठः कृष्ण इत्यर्थः ।

आवाज होगी और उसी समय मन्त्रपूत जल के अभिषेक के साथ भीष्मपितामह के ऊपर अनेक राजा-महाराजाओं का हृदय भी गिरे ॥ ५ ॥

(प्रवेश कर)

काञ्चुकीय—महाराज की जय हो । यह पाण्डवों के शिविर से दूत के रूप में पुरुषोत्तम नारायण पधारे हैं ।

दुर्योधनः—मा तावद् भो बादरायण ! । किं किं कंसभृत्यो दामोदरस्तव पुरुषोत्तमः । स गोपालकस्तव पुरुषोत्तमः । बाहद्रथापहृतविषयकीर्तिभोगस्तव पुरुषोत्तमः । अहो पार्थिवासन्नमाश्रितस्य भृत्यजनस्य समुदाचारः । सगर्वं खल्वस्य वचनम् । आः अपध्वंस ?

काञ्चुकीयः—प्रसीदतु महाराजः । सम्भ्रमेण समुदाचारो विस्मृतः । (पादयोः पतति ।)

दुर्योधनः—संभ्रम इति । आः मनुष्याणामस्त्येव संभ्रमः । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।

काञ्चुकीयः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

दुर्योधनः—इदानीं प्रसन्नोऽस्मि । क एष दूतः प्राप्तः ।

काञ्चुकीयः—दूतः प्राप्तः केशवः ।

दुर्योधनः—केशव इति । एवमेष्टव्यम् । अयमेव समुदाचारः । भो

दामोदरः—दाम = रज्जुः अस्ति उदरे कटिप्रदेशे यस्य सः = कृष्णः । बाल्यावस्थायां मात्रा रज्ज्वा उलूखले बद्धः कृष्णः अतः तस्य एतन्नाम । गोपालकः—गां पालयतीति = गोपालः 'अल्पे' इति कप्रत्ययः । बृहद्रथस्य पुत्रः जरासन्धः तेन अपहृतः विषयकीर्तिः भोगः यस्य सः = कृष्णः । आचारोल्लङ्घनं प्रति भृत्यं भर्त्सयति-समुदाचार इति । सदाचारोल्लङ्घनम् ।

एष्टव्यम्—(इच्छार्थकस्य इषधातोः तव्यत प्रत्ययः) एषितुं योग्यं राजानः

दुर्योधन—हे बादरायण ! ऐसा न कहो । क्या क्या कंस का सेवक दामोदर ही तुम्हारा पुरुषोत्तम है । जरासंध के द्वारा जिसकी कीर्त्ति नष्ट कर दी गई वही तुम्हारा पुरुषोत्तम है ? क्या, महाराजाओं के दरबार में रहने वाले सेवक का यही आचरण है ? यह वाणी तो बड़ी गर्बीली है । अरे नीच !

काञ्चुकीय—महाराज प्रसन्न हों (कृपा कर) । घबड़ाहट के कारण शिष्ट आचरण भी भूल गया था (पैर पर गिरता है ।)

दुर्योधन—घबड़ाहट । आह मनुष्य के आने से इतनी घबड़ाहट, उठो उठो ?

काञ्चुकीय—अनुगृहीत हुआ ।

दुर्योधन—अब मैं प्रसन्न हूँ । कौन सा दूत आया है ?

काञ्चुकीय—केशव (नामक) दूत आया है ।

दुर्योधन—केशव । यही योग्य (परिचय) है । यही सभ्यता है । हे, हे,

भो राजानः! दौत्येनागतस्य केशवस्य किं युक्तम्। किमाहुर्भवन्तः। अर्घ्यप्रदानेन पूजयितव्यः केशव इति। न मे रोचते। ग्रहणमस्यात्र हितं पश्यामि।

ग्रहणमुपगते तु वासुभद्रे
हृतनयना इव पाण्डवा भवेयुः।
गतिमतिरहितेषु पाण्डवेषु
क्षितिरखिलापि भवेन्ममासपत्ना॥ ६॥

अपि च योऽत्र केशवस्य प्रत्युत्थास्यति, स मया द्वादशसुवर्णभारेण

केशवस्य अर्घ्यादिसपर्यया पूजनमिति इच्छन्तोऽपि दुर्योधनाय ग्रहणमेव रोचते (रुच्यर्थानामिति सम्प्रदानत्वम्) तदेवात्र प्रतिपादयति-ग्रहणेति।

वासुभद्रे ('विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदवक्तव्यः' इति पाणिनिशासनात् वासुपदं वासुदेवपदबोधकम्।) = कृष्णे ग्रहणं = बन्धनं मदधीनमिति भावः। उपगते = प्राप्ते सति। पाण्डवाः = युधिष्ठिरादयः हृतनयनाः—हृतानि नयनानि येषां ते = विनष्टचक्षुषः (लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी। अमरः।) इव = यथा स्यात् तथा भवेयुः = स्युः एवं च यदा गतिमतिरहितेषु—गतिश्च मतिश्च तयोः रहिताः तेषु = पथप्रदर्शकबुद्धिदातृरहितेषु पाण्डवेषु = पाण्डुपुत्रेषु सत्सु तथा अखिलापि = अशेषापि क्षितिः = भूमिः मम = दुर्योधनस्य असपत्ना = विपक्षरहिता भवेत् = स्यात्। पुष्पिताग्रावृत्तम्। यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'॥ ६॥

द्वादशसुवर्णभारेण—सुवर्णः = कर्षः, द्वादशकर्षात्मको नाणकविशेषः द्वादश-

---

राजाओ! दूतरूप में आए हुए केशव के लिए क्या (वर्ताव) युक्त है? क्या कहा आप लोगों ने? अर्घ्य देकर केशव की पूजा करनी चाहिये? यह मुझे नहीं पसन्द है। उसे कैद करने में ही अपना हित देखता हूँ।

कृष्ण को बन्धन में ले लेने के बाद पाण्डव अन्धे (हरण कर लिया गया है नेत्र जिनका ऐसे) होकर (शारीरिक) गति और (बौद्धिक) चिंतन शक्ति से हीन हो जाएँगे तब समग्र पृथ्वी का एक मात्र मैं ही स्वामी बनूँगा॥ ६॥

और भी जो यहाँ कृष्ण के आने पर (आदर-प्रदर्शनार्थ) उठेगा उसे बारह

दण्डयः। तदप्रमत्ता भवन्तु भवन्तः। को नु खलु ममाप्रत्युत्थानस्योपायः। हन्त दृष्ट उपायः। बादरायण! आनीयतां स चित्रपटो ननु, यत्र द्रौपदीकेशाम्बराकर्षणमालिखितम्। (अपवार्य) तस्मिन् दृष्टिविन्यासं कुर्वन् नोत्थास्यामि केशवस्य।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः। अयं स चित्रपटः।

दुर्योधनः—ममाग्रतः प्रसारय।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः। (प्रसारयति।)

दुर्योधनः—अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः। एष दुःशासनो द्रौपदीं केशहस्ते गृहीतवान्। एषा खलु द्रौपदी,

दुःशासनपरामृष्टा सम्भ्रमोत्फुल्ललोचना।

सुवर्ण इति प्रसिद्धः—द्वादशसुवर्णानां भारः = पलसहस्रद्वयं द्वादशसुवर्णभारः (भारः सहस्रद्वितये पलानाञ्च गरिम्णि च इति यादवः।) तेन दण्डयः = दण्डयितुं योग्यः दण्डनीय इत्यर्थः।

दुर्योधनः द्रौपदी चीरहरणचित्रपटे द्रौपदीं विशिनष्टि—दुःशासनेति। एषा = द्रौपदी दुःशासनपरामृष्टा—दुःशासनेन = दुर्योधनकनिष्ठभ्रात्रा परामृष्टा = केशा·

स्वर्ण से दण्डित किया जायगा। तो आप लोग सतर्क हो जाइये। (अब) मेरे न उठने का कौन सा उपाय है। ठीक है एक उपाय सूझा। बादरायण! जिसमें द्रौपदी के केश और वस्त्र खींचे जाने का चित्रण है उस चित्रफलक को ले आओ (अपवारित करके) उसी पर दृष्टि जमाकर केशव के आने पर भी (बैठा ही रहूँगा) नहीं उठूँगा।

कन्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। (जाकर पुनः लौटकर) महाराज की जय हो। यही वह चित्रपट है।

दुर्योधन—मेरे सम्मुख फैलाओ।

कन्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। (फैलाता है।)

दुर्योधन—अहा, यह चित्र तो दर्शन करने के योग्य है। द्रौपदी के केश को हाथ में पकड़े हुए यह दुःशासन है। यह द्रौपदी है।

दुःशासन के द्वारा केश खींचा जाने पर क्षोभ के कारण विकसित नेत्रोंवाली

राहुवक्त्रान्तरगता चन्द्रलेखेव शोभते ॥ ७ ॥

एष दुरात्मा भीमः सर्वराजसमक्षमवमानितां द्रौपदीं दृष्ट्वा प्रवृद्धामर्षः सभास्तम्भं तुलयति । एष युधिष्ठिरः,

सत्यधर्मघृणायुक्तो द्यूतविभ्रष्टचेतनः ।
करोत्यपाङ्गविक्षेपैः शान्तामर्षं वृकोदरम् ॥ ८ ॥

एष इदानीमर्जुनः,

कृष्टा सती सम्भ्रमोत्फुल्ललोचना—सम्भ्रमेण उत्फुल्ले लोचने यस्याः सा = संक्षुभितविकसितनेत्रा राहुवक्त्रान्तरगता—राहोः वक्त्रं तस्य अन्तरगता = राहुवदनमध्यप्राप्ता चन्द्रलेखा—चन्द्रस्य लेखा = इन्दुकला इव यथा शोभते = प्रतिभाति । अत्रोपमालङ्कारः, अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ७ ॥

दुर्योधनस्तथैव युधिष्ठिरं विशिनष्टि—सत्येति ।

सत्यधर्मघृणायुक्तो—सत्यश्च धर्मश्च घृणा च ताभिः = युक्तः सत्यधर्मदयासहितः द्यूतविभ्रष्टचेतनः—द्यूतेन=कैतवेन ('द्यूतोऽस्त्रियामक्षवती कैतवं पण इत्यपि' इत्यमरः ।) विभ्रष्टा = विगता चेतना = चैतन्यं यस्य स एवंभूतः, एषः युधिष्ठिरः (चित्रपटे दर्शयति) अपाङ्गविक्षेपैः—अपाङ्गानां = कटाक्षाणां विक्षेपाः = प्रक्षेपाः तैः वृकोदरं—वृकः = वृकनामाग्निः, उदरे=जठरे यस्य तम् = भीमं शान्तामर्षं—शान्तः=उपशमितः आमर्षः = द्वेषः यस्य तम् शमितकोपं करोति = विदधाति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ८ ॥

(यह द्रौपदी) राहु के जबड़ों में स्थित चन्द्र की कला की भाँति शोभित हो रही है ॥ ७ ॥

यह दुष्टात्मा भीम है जो समस्त राजाओं के सम्मुख अपमानित होती हुई द्रौपदी को देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होने के कारण सभा के खम्भे को उखाड़ रहा है। यह युधिष्ठिर है ।

सत्य, धर्म, दया से युक्त होकर भी जुए के खेलने से हतचेतन हो भीम के क्रोध को अपाङ्ग-विक्षेप के द्वारा शान्त कर रहा है ॥ ८ ॥

यह अर्जुन है ।

रोषाकुलाक्षः स्फुरिताधरोष्ठ—
स्तृणाय मत्वा रिपुमण्डलं तत् ।
उत्सादयिष्यन्निव सर्वराज्ञः
शनैः समाकर्षति गाण्डिवज्याम् ॥ ९ ॥

एष युधिष्ठिरोऽर्जुनं निवारयति । एतौ नकुलसहदेवौ,
कृतपरिकरबन्धौ चर्मनिस्त्रिंशहस्तौ
परुषितमुखरागौ स्पष्टदष्टाधरोष्ठौ ।

दुर्योधनः पूर्वोक्तप्रकारेण क्रमशः अर्जुनमपि विशिनष्टि-रोषाकुलेति ।

रोषाकुलाक्षः—रोषेण = क्रोधेन आकुले = व्याप्ते अक्षिणी = नेत्रे यस्य सः स्फुरिताधरोष्ठः = अधरोष्ठः = अधरदन्तच्छदः येन स एषः नर्तितः अर्जुनः तत् = तत्कालीनं रिपुमण्डलं—रिपूणां मण्डलं = शत्रुराजकं तृणाय मत्वा = अकिञ्चित्करं ज्ञात्वा सर्वराज्ञः=सर्वे च ते राजानः सर्वराजानः तान्=समस्तभूपान् उत्सादयिष्यन्निव (उत् + सद् + णिच् + लृट् शतृप्रत्ययः) = निर्मूलयिष्यन्निव गाण्डिवज्यां = गाण्डिवस्य ज्या ताम् = निजचापमौर्वीं (मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः । अमरः ।) शनैः = मन्दं यथा स्यात् तथा समाकर्षति (सम् + आ + कृष् लट् + तिप्) = सम्यक् प्रकारेण आकर्षणं करोति । उत्प्रेक्षालङ्कारः, उपजातिवृत्तम् यथा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । तथा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । इत्यनयोरुपजातिः ॥ ९ ॥

यथाक्रमं दुर्योधनः नकुलसहदेवौ विशिनष्टि-कृतपरिकरेति । कृतपरिकरबन्धौ—कृतः परिकरस्य बन्धः ययोस्तौ = विहितकटिबन्धौ, चर्मनिस्त्रिंशहस्तौ-चर्म = फलकं (फलकोऽस्त्री फलं चर्मेत्यमरः ।) निस्त्रिंशः-निर्गतः त्रिंशदङ्गुलिभ्यः खड्गश्च हस्ते ययोस्तौ = फलकखड्गपाणौ, परुषितमुखरागौ, परुषितः मुखरागः

इसकी आँखें क्रोध से विस्फारित हो गई हैं अधरोष्ठ भी फड़क रहे हैं। यह उस शत्रुसमूह को तृण के समान मानकर समस्त भूपाल-मण्डल को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए ही मानो अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को कान तक खींच रहा है ॥ ९ ॥

यह युधिष्ठिर अर्जुन को मना कर रहा है । ये दोनों नकुल और सहदेव, हैं । (जिन्होंने) अपना ढाल-तलवार लेकर तैयार हो गए हैं क्रोध के कारण मुख का

विगतमरणशङ्कौ सत्वरं भ्रातरं मे
हरिमिव मृगपोतौ तेजसाभिप्रयातौ ॥ १० ॥

एष युधिष्ठिरः कुमारावुपेत्य निवारयति—

नीचोऽहमेव विपरीतमतिः कथं वा
रोषं परित्यजतमद्य नयानयज्ञौ ।
द्यूताधिकारमवमानममृष्यमाणाः
सत्त्वाधिकेषु वचनीयपराक्रमाः स्युः ॥ ११ ॥

ययोस्तौ = ताम्राननौ, स्पष्टदष्टाधरोष्ठौ = स्पष्टः दन्तेन दष्टः अधरोष्ठः ययोस्तौ = चर्विताधरोष्ठौ, विगतमरणशङ्कौ—विगता = विनष्टा मरणस्य = मृत्योः शङ्का = सन्देहः ययोस्तौ, मृगपोतौ-मृगस्य पोतः तौ=मृगार्भकौ (पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुरित्यमरः ।) नकुलसहदेवौ मे = मम दुर्योधनस्य भ्रातरं = दुःशासनं तेजसा = पराक्रमेण हरिमिव = सिहमिव (सिंहो मृगेन्द्रः पंचास्यो हर्यक्षः केशरी हरिः । अमरः ।) अभिप्रयातौ (अभि + प्र + या + क्त)=अभियानं कृतवन्तौ । अत्रोपमालङ्कारः, मालिनीवृत्तम् । यथा—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥१०॥

युधिष्ठिरः नकुलसहदेवौ निवारयति—नीचोऽहमेवादिना ।

विपरीतमतिः—विपरीता मतिर्यस्य सः = विपर्ययबुद्धिः अहमेव = युधिष्ठिर-एव नीचः = निकृष्टः नयानयज्ञौ—नयम् अनयञ्च जानीतः = कार्याकार्यविदौ (युवाम्) अद्य = अस्मिन्नवसरे रोषं = क्रोधं परित्यजतं=परिजहीतं सत्त्वाधिकेषु-सत्त्वेषु—अधिकाः तेषु = बलज्ञानाद्यधिकेषु ज्येष्ठेष्वस्मासु द्यूताधिकारमवमानम-मृष्यमाणाः = द्यूतस्य = कैतवस्य अधिकारं = क्रीडासामर्थ्यम् अवमानम् = अप-

---

रङ्ग कठोर हो गया है (मुख लाल हो उठा है ।) तथा दांतों से ओठ दबाए हुए मरण-भय की चिन्ता से रहित मृगशावक मेरे सिंह के समान पराक्रमी भाई (दुःशासन) पर आक्रमण किया है ॥ १० ॥

यह युधिष्ठिर कुमारों के पास जाकर उन्हें (ऐसा करने से) मना कर रहा है। मैं नीच हूँ, मेरी बुद्धि पलट गई है पर तुम दोनों न्याय-अन्याय जानने वाले हो अतः आज क्रोध को त्याग दो । जुआ में हारकर अपमान को न सहकर शत्रु-पक्ष पर शक्ति-प्रदर्शन करना केवल वाचिक वीरता होगी ॥ ११ ॥

एष गान्धारराजः,

अक्षान् क्षिपन् स कितवः प्रहसन् सगर्वं
सङ्कोचयन्निव मुदं द्विषतां स्वकीर्त्या ।
स्वैरासनो द्रुपदराजसुतां रुदन्तीं
काक्षेण पश्यति लिखत्यभिखं नयज्ञः ॥ १२ ॥

एतावाचार्यपितामहौ तां दृष्ट्वा लज्जायमानौ पटान्तान्तर्हितमुखौ स्थितौ। अहो अस्य वर्णाढ्यता। अहो भावोपपन्नता। अहो युक्त-

---

मानम् अमृष्यमाणाः = असहमानाः, वचनीयपराक्रमाः—वक्तुं योग्यः वचनीयः पराक्रमः येषां ते कथं वा स्युः=केन प्रकारेण भवेयुः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥११॥

गान्धारराजं विशिनष्टि—अक्षानिति।

कितवः = धूर्तः स शकुनिः अक्षान् = द्यूतक्रीडापाशान् क्षिपन् = प्रसारयन् सगर्वं—गर्वेण सहितं = सदर्पं प्रहसन् = हास्यं कुर्वन् स्वकीर्त्या—स्वस्य कीर्तिः तया = निजयशसा द्विषतां = शत्रूणां (पाण्डवानां) मुदं—मोदनम् इति मुत ताम् मुदं = हर्षं संकोचयन्निव = निवारयन्निव स्वैरासनः स्वैरं = स्वच्छन्दम् आसनम् = उपवेशनस्थानं यस्य स स्वच्छन्दोपविष्टः सन् नयज्ञः—नयं = द्यूतन्यायं जानातीति = द्यूतपण्डितः शकुनिः रुदन्तीम् = अश्रुप्रवाहवतीं द्रुपदराजसुतां—द्रुपदानां राजा तस्य सुता ताम् = द्रुपदराजकुमारीं द्रौपदीं काक्षेण = अपाङ्गेन पश्यति = विलोकयति अभिखम् = आकाशसम्मुखं (स्वस्य सम्मुखमिति अभिमुखम् अव्ययीभावसमासः।) लिखति = आकाशे स्वाभिप्रायं निश्चिनोति। अत्रापि वसन्ततिलकावृत्तम् उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १२ ॥

यहाँ गान्धार देश का राजा है,

यह धूर्त पासे को फेंकता है और गर्व से पूर्ण हो हंसता है जैसे अपनी कीर्त्ति से शत्रुओं की प्रसन्नता संकुचित कर रहा हो।

यह द्यूतनीति का पारंगत पण्डित शकुनि स्वच्छन्दतापूर्वक बैठा हुआ सम्मुख के आकाश (हवा) में कुछ लिखता हुआ सा रोती हुई द्रुपदराज की पुत्री को कनखियों से देखता है ॥ १२ ॥

यह आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म इस (प्रकार की) द्रौपदी को देखकर लज्जित होकर अपने मुखों को वस्त्र से ढंक लिया है। अहा, कितना सुन्दर रंगों

लेखता। सुव्यक्तमालिखितोऽयं चित्रपटः। प्रीतोऽस्मि। कोऽत्र।

काञ्चुकीयः—जयतु महाराजः।

दुर्योधनः—बादरायण ! आनीयतां स विहगवाहनमात्रविस्मितो दूतः।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रान्तः।)

दुर्योधनः—वयस्य कर्ण !

प्राप्तः किलाद्य वचनादिह पाण्डवानां
दौत्येन भृत्य इव कृष्णमतिः स कृष्णः।
श्रोतुं सखे ! त्वमपि सज्जय कर्ण ! कर्णौ
नारीमृदूनि वचनानि युधिष्ठिरस्य ॥ १३ ॥

विहगवाहनमात्रविस्मितः = विहगः = विहायसा गच्छतीति तदेव वाहनं यस्य विहगवाहनः स एव विहगवाहनमात्रं (अवधारणे मात्रच् प्रत्ययः।) तेन विस्मितः = गर्वितः दूतः।

मदान्धः दुर्योधनः कृष्णस्यावमाननं कुर्वन्नाह—प्राप्त इति।

अद्य = सम्प्रति सः कृष्णमतिः—कृष्णा कलुषिता मतिः = बुद्धिः यस्य सः = प्रसिद्धः कृष्णः = वासुदेवः पाण्डवानां = पाण्डुपुत्राणां वचनात् = वचसा (वचनं वचः। अमरः।) दौत्येन—दूतस्य भावः तेन = दूतकार्येण भृत्य इव प्राप्तः किल = सम्प्राप्तः, अतः हे सखे = मित्र कर्ण = राधेय त्वमपि = भवानपि युधि-

---

का मेल है ? अहा उचित (यथार्थ) चित्र बनाया है ? सबका चित्र इस चित्रपट में स्पष्ट चित्रित है। मैं प्रसन्न हूं। यहां कौन है ?

काञ्चुकीय—महाराज की जय हो।

दुर्योधन—बादरायण ! उस पक्षी के साधारण से वाहन पर गर्व करने वाले उस दूत को बुलाओ।

काञ्चुकीय—महाराज की जैसी आज्ञा। (जाता है।)

दुर्योधन—मित्र कर्ण !

वह कलुषितबुद्धि कृष्ण आज पाण्डवों की आज्ञा से यहां नौकर की भांति दूत बनकर आया है। (अतः) युधिष्ठिर की स्त्रियों जैसी कोमल (कायरतापूर्ण) वाणी को सुनने के लिए तुम भी अपने कानों को तैयार कर लो ॥ १३ ॥

(ततः प्रविशति वासुदेवः काञ्चुकीयश्च ।)

वासुदेवः—अद्य खलु धर्मराजवचनाद् धनञ्जयाकृत्रिममित्रतया चाहवदर्पमनुक्तग्राहिणं सुयोधनं प्रति मयाप्यनुचितदौत्यसमयोऽनुष्ठितः । अथ च,

कृष्णापराभवभुवा रिपुवाहिनीभ-
कुम्भस्थलीदलनतीक्ष्णगदाधरस्य ।
भीमस्य कोपशिखिना युधि पार्थपत्रि-
चण्डानिलैश्च कुरुवंशवनं विनष्टम् ॥ १४ ॥

ष्ठिरस्य = पाण्डवज्येष्ठस्य नारीमृदूनि = नारी इव मृदूनि वचनानि = स्त्रीवत् कोमलानि वचांसि श्रोतुम् = आकर्णयितुं कर्णौ = निजश्रोत्रे सज्जय = प्रसज्जय । उपमालङ्कारः वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ १३ ॥

धनञ्जयाकृत्रिममित्रतया—धनञ्जयः = अर्जुनः तं प्रति अकृत्रिमं = स्वाभाविकी मित्रता = वयस्यता तया । चाहवदर्पमनुक्तग्राहिणं—च = तथा आहवः = रणः तस्य दर्पः = गर्वः तेन अनुक्तम् = अकथितं तस्य ग्राहिणं—ग्रहणं कर्तुं योग्यं = बोध्यम् ।

भाविनं कुरुवंशस्य विनाशम् उत्प्रेक्षते भगवान् कृष्णः-कृष्णापराभवभुवेति ।

युधि = संग्रामे महाभारते इत्यर्थः । रिपुवाहिनीभकुम्भस्थलीदलनतीक्ष्णगदाधरस्य-रिपूणां वाहिनी रिपुवाहिनी=शत्रुसैन्यं तत्रस्थानाम् इभानां=गजानां (मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी । इभः स्तम्बेरमः पद्मीति । अमरः) कुम्भस्थल्याः= मस्तकस्य दलने = विदारणे तीक्ष्णा = उग्रा गदा = आयुधविशेषः यस्य स तस्य भीमस्य = वायुपुत्रस्य कृष्णापराभवभुवा—कृष्णायाः = द्रौपद्याः पराभवः =

(तब कृष्ण और काञ्चुकीय प्रवेश करते हैं ।)

वासुदेव—आज मैं धर्मराज की प्रार्थना पर अर्जुन से प्रगाढ़ मित्रता होने के कारण ही, यहां रणदर्पवाले दुर्योधन के पास अनुचित दूत-कर्म करने आया हूँ । और भी,

द्रौपदी के अपमान से, शत्रुसैन्य के गजराजों के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने वाली उग्र गदा को धारण करने वाले भीम की प्रबुद्ध क्रोधाग्नि ने रणक्षेत्र में अर्जुन के बाणरूपी वायु से और भी उद्दीप्त होकर कौरववन का विनाश किया है ऐसा मैं देखता हूँ ॥ १४ ॥

इदं सुयोधनशिबिरम् । इह हि-

आवासाः पार्थिवानां सुरपुरसदृशाः स्वच्छन्दविहिता
विस्तीर्णाः शस्त्रशाला बहुविधकरणैः शस्त्रैरुपचिताः ।
ह्रेषन्ते मन्दुरास्थास्तुरगवरघटा बृंहन्ति करिण
ऐश्वर्यं स्फीतमेतत् स्वजनपरिभवादासन्नविलयम् ॥१५॥

तिरस्कारः तस्मात् भूः = उत्पत्तिः तेन = द्रुपदात्मजापमानोत्पन्नेन कोपशिखिना—कोप एव शिखी तेन = क्रोधवह्निना पार्थपत्रिचण्डानिलैश्च = पार्थस्य = अर्जुनस्य पत्रिणः = बाणाः एव चण्डानिलाः = तीक्ष्णवायवः तैश्च कुरुवंशवनं—कुरूणां वंशः स एव वनं = कौरवारण्यं विनष्टं = नाशं प्राप्तम् पश्यामीति शेषः । वसन्ततिलका-वृत्तम् । अत्र साङ्गरूपकालङ्कारः ॥ १४ ॥

पुरोगतं कौरवश्रेष्ठस्य शिविरं विलोक्य तदेव विशिनष्टि—आवासा इति ।

(इमे) पार्थिवानां—पृथिव्याः ईश्वराः तेषां = नृपाणाम् आवासाः = निवास-स्थानानि सुरपुरसदृशाः = सुराणां पुराणि तैः सदृशाः = अमरपुरतुल्याः = स्वच्छ-न्दविहिताः—स्वच्छन्देन विहिताः = स्वतन्त्रनिर्मिताः विस्तीर्णाः = विशालाः बहु-विधकरणैः = अनेकप्रकारसाधनैः शस्त्रैः = हेतिभिः उपचिताः = प्रवृद्धाः शस्त्र-शालाः = शस्त्राणाम् = आयुधानां शालाः = गृहाणि, तुरगवरघटाः—तुरगवराणां घटाः = अश्वश्रेष्ठसमूहाः मन्दुरास्थाः = मन्दुरायां = वाजिशालायां (वाजिशाला तु मन्दुरा । अमरः ।) तिष्ठन्तीति = वाजिशालास्थिताः हेषन्ते-ह्रेषन्ते (अश्वानां हेषा ह्रेषा तु निःस्वनः । अमरः ।) करिणः = गजाः बृंहन्ति = गर्जन्ति (बृंहणं करिगर्जितमित्यमरः ।) एतत् = दृश्यमानं स्फीतं = प्रवृद्धम् ऐश्वर्यं = गृहतुरगादि वैभवमित्यर्थः । स्वजनानां = बन्धूनां परिभवः=अनादरः तस्मात्=कुटुम्बानादरात् आसन्नविलयम्—आसन्नो विलयो यस्य तत् = विनाशोन्मुखं दृश्यत इति शेषः ।

यह दुर्योधन का शिबिर है । यहां,

स्वतन्त्ररूप से (अलग-अलग) महाराजाओं का निवास स्थान इन्द्रलोक की भांति बना हुआ है । अस्त्रागार खूब बड़ा है और अनेक प्रकार के शस्त्रों से पूर्ण है । घोड़साल में उत्तमोत्तम घोड़े हिनहिना रहे हैं और मत्त गजराज चिग्घाड़ते हैं । (दुर्योधन का) यह विस्तृत ऐश्वर्य अपने परिवार के (पाण्डवों को) कष्ट देने और अनादर करने के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ॥ १५ ॥

भोः !

दुष्टवादी गुणद्वेषी शठः स्वजननिर्दयः ।
सुयोधनो हि मां दृष्ट्वा नैव कार्यं करिष्यति ॥ १६ ॥

भो बादरायण ! किं प्रवेष्टव्यम् ।

काञ्चुकीयः—अथ किमथ किम् । प्रवेष्टुमर्हति पद्मनाभः ।

वासुदेवः—(प्रविश्य) कथं कथं मां दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः सर्वक्षत्रियाः । अलमलं सम्भ्रमेण । स्वैरमासतां भवन्तः ।

दुर्योधनः—कथं कथं केशवं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः सर्वक्षत्रियाः । अलमलं सम्भ्रमेण । स्मरणीयः पूर्वमाश्रावितो दण्डः । नन्वहमाज्ञप्ता ।

उपमालङ्कारः । सुवदनावृत्तम् यथा—ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता म्लौ गः सुवदना ॥ १५ ॥

कृष्ण आत्मगतमात्मनैव कथयति—दुष्टवादीति ।

सुयोधनः—सुखेन युध्यते इति=कौरवज्येष्ठः दुष्टवादी—दुष्टम्=अपुण्यं वदति=वक्ति = अप्रियवक्ता गुणद्वेषी—द्वेषः अस्ति अस्मिन् द्वेषी गुणेषु द्वेषी = क्षमादिगुणद्वेष्टा शठः = धूर्तः स्वजननिर्दयः—स्वे च ते जनाः=स्ववर्गाः तेषु निर्दयः = निष्कृपः एतादृशस्य माम् = केशवं दृष्ट्वा = अवलोक्य कार्यं = कौरवपाण्डवसन्धिरूपं नैव करिष्यति = कथमपि नैव विधास्यति । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १६ ॥

प्रवेष्टव्यम् (प्र + विश् + तव्यत्) = प्रवेशोचितम् ।

पद्मनाभः पद्मं = कमलं नाभौ यस्य (बहुव्रीहिसमासः) क्षीरसागरशयनसमये तस्य नाभेः सकमलात् ।

कटुभाषी, गुण से द्वेष रखनेवाला, धूर्त और अपने बान्धवों पर भी दया न करनेवाला सुयोधन मुझको देखकर कभी भी कार्य (सन्धिरूप) नहीं करेगा ॥१६॥

हे बादरायण ! क्या प्रवेश करना चाहिये ।

काञ्चुकीय—और क्या, और क्या, पद्मनाभ (आप) प्रवेश करने के योग्य हैं ।

वासुदेव—(प्रवेश करके) क्यों, क्यों मुझे देखकर सब क्षत्रिय घबड़ा गए । बस घबड़ाइए मत । आप लोग स्वच्छन्दतापूर्वक बैठें ।

दुर्योधन—क्यों, क्यों, केशव को देखकर सब क्षत्रिय घबड़ा गये । बस घबड़ाइए नहीं । पहले ही सुनाए दण्ड को आप लोग स्मरण रखिये । मैं आज्ञा देता हूँ ।

वासुदेवः—भोः सुयोधन ! किमास्से ।

दुर्योधनः—(आसनात् पतित्वा आत्मगतम्) सुव्यक्तं प्राप्त एव केशवः ।

उत्साहेन मतिं कृत्वाऽप्यासीनोऽस्मि समाहितः ।
केशवस्य प्रभावेण चलितोऽस्म्यासनादहम् ॥ १७ ॥

अहो बहुमायोऽयं दूतः । (प्रकाशम्) भो दूत ! एतदासनमास्यताम् ।

वासुदेवः—आचार्य ! आस्यताम् । गाङ्गेयप्रमुखा राजानः ! स्वैरमासतां भवन्तः । वयमप्युपविशामः । (उपविश्य) अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः । मा तावत् । द्रौपदीकेशधर्षणमत्रालिखितम् । अहो नु खलु,

---

दुर्योधनः केशववचनं श्रुत्वैव आसनात् पतित्वा आत्मगतं तदागमनमेव विचारयति—उत्साहेनेति ।

(यद्यपि) अहं = दुर्योधनः उत्साहेन = उत्साहगुणयुक्तेन मतिं = बुद्धि कृत्वाऽपि = विधायापि समाहितः = सावधानस्सन् आसीनोऽस्मि = उपविष्टोऽस्मि (तथापि अहम्) केशवस्य = नारायणस्य प्रभावेण = माहात्म्येन (तेजोविशेषेणेत्यर्थः ।) आसनात् = निजोपवेशनस्थानात् सिंहासनादित्यर्थः, चलितोऽस्मि = प्रभ्रंशितोऽस्मि । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १७ ॥

तत्र द्रौपदीकेशाकर्षणलिखितचित्रपटप्रेक्षणसंलग्नदुर्योधनं केशवो दूषयति—मा तावदिदानीमिदं कर्तव्यमिति ।

वासुदेव—हे दुर्योधन ! क्या बैठे हो ।

दुर्योधन—(आसन से गिरकर अपने मन में ही) स्पष्ट ही है केशव आ गया। सावधान होकर उत्साह से बुद्धिपूर्वक मैं बैठा हूँ फिर भी कृष्ण के प्रभाव से मैं आसन से च्युत हो गया ॥ १७ ॥

अरे यह दूत बड़ा मायावी है। (प्रकाश में) हे दूत ! यह आसन है बैठ जाओ ।

केशव—आचार्य बैठिये । भीष्मादि राजगण बैठ जांय । आप लोग स्वच्छन्दतापूर्वक बैठ जांय । हम भी बैठते हैं। (बैठकर) वाह, यह चित्रपट तो दर्शन करने के योग्य है। तो रहने दो। इसमें द्रौपदी के केश-धर्षण का चित्र बनाया है। अहा यह तो,

सुयोधनोऽयं स्वजनावमानं पराक्रमं पश्यति वालिशत्वात् ।
को नाम लोके स्वयमात्मदोषमुद्घाटयेन्नष्टघृणः सभासु ॥ १८ ॥

आः अपनीयतामेष चित्रपटः ।

दुर्योधनः—बादरायण ! अपनीयतां किल चित्रपटः ।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः (अपनयति ।)

दुर्योधनः—भो दूत !

धर्मात्मजो वायुसुतश्च भीमो भ्राताऽर्जुनो मे त्रिदशेन्द्रसूनुः ।
यमौ च तावश्विसुतौ विनीतौ सर्वे सभृत्याः कुशलोपपन्नाः ॥१९॥

अयं = दुष्टमतिः सुयोधनः = दुर्योधनः, वालिशत्वात—वालिशस्य भावः तस्मात् = मूर्खत्वात् स्वजनावमानम् = आत्मीयजनपराभवं तमेव पराक्रमं = शौर्यं पश्यति = अवलोकयतीति । किन्तु सभासु = राजपरिषत्सु नष्टघृणः—नष्टा = विनष्टा घृणा यस्य सः = विगतकृपः (घृणा दयाऽनुकम्पा स्यात् । अमरः ।) लोके—भुवने (लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः ।) को नाम = बुद्धिमान् कोऽन्यः आत्मदोषं = स्वपापं स्वयं = स्वकार्येणैव उद्घाटयेत् = प्रकाशयेत । दुर्योधनं विहाय नान्यः कश्चित् एवंविधं कार्यं कर्तुं शक्नोतीति भावः । उपजातिवृत्तम् ॥ १८ ॥

दुर्योधनः दूतं कुशलवार्तां पृच्छति—धर्मात्मज इति ।

(भो दूत !) धर्मात्मजः—धर्मस्य आत्मजः धर्मपुत्रः=युधिष्ठिरः वायुसुतः—वायोः = पवनस्य सुतः = पुत्रः = भीमः त्रिदशेन्द्रसूनुः—त्रिदशानामिन्द्रः तस्य सूनुः = अमरेशपुत्रः भ्राताऽर्जुनो मे = मम भ्राता अर्जुनः विनीतौ = विनम्रौ अश्विसुतौ—अश्विनोः सुतौ = अश्विनीकुमारपुत्रौ यमौ च यमलौ च सभृत्याः—

दुर्योधन अपने बान्धवों का अपमान करके मूर्खता के कारण उसमें ही अपना पराक्रम समझता है । संसार में ऐसा दूसरा कौन होगा जो सभाओं में निर्दय होकर अपना ही दोष प्रकट करे ॥ १८ ॥

आह, इस चित्रपट को दूर हटा दो ।

दुर्योधन—बादरायण ! इस चित्रपट को दूर हटाओ ?

काञ्चुकीय—महाराज की जैसी आज्ञा । (हटाता है ।)

दुर्योधन—हे दूत,

धर्मपुत्र युधिष्ठिर, वायुपुत्र भीम, अमरेशपुत्र मेरा भाई अर्जुन और विनीत अश्विनीकुमार के जोड़वां पुत्र नकुल और सहदेव आदि सब अपने परिजनों के सहित सकुशल तो हैं ॥ १९ ॥

वासुदेवः—सदृशमेतद् गान्धारीपुत्रस्य। अथ किमथ किम्। कुशलिनः सर्वे। भवतो राज्ये शरीरे बाह्याभ्यन्तरे च कुशलमनामयं च पृष्ट्वा विज्ञापयन्ति युधिष्ठिरादयः पाण्डवाः—

अनुभूतं महद् दुःखं सम्पूर्णः समयः स च।
अस्माकमपि धर्म्यं यद् दायाद्यं तद् विभज्यताम्॥ २०॥

इति।

दुर्योधनः—कथं कथं दायाद्यमिति।

वने पितृव्यो मृगयाप्रसङ्गतः कृतापराधो मुनिशापमाप्तवान्।

भृत्यैः सहिताः = ससेवकाः सर्वे = अशेषाः कुशलोपपन्नाः—कुशलैः उपपन्नाः = सकुशलास्सन्ति किम्? उपजातिवृत्तम्॥ १९॥

श्रीकृष्णः युधिष्ठिरादीनां वार्ताम् उद्देश्यं च दुर्योधनं प्रति श्रावयति—अनुभूतमिति।

(भो दुर्योधन! अस्माभिः) महत्=अत्यन्तं दुःखं = क्लेशम् अनुभूतं = प्राप्तं स च समयः=त्रयोदशवर्षपर्यन्तं वनवासः सम्पूर्णः=पूर्णं यातम् अतः अस्माकम् = पाण्डवानामपि यद् = वस्तु धर्म्यं = धर्मादनपेतं धर्मयुक्तमिति दायाद्यं—दायः = कुलधनं तद्रूपम् आद्यम् = अदनीयं भोग्यं वस्तु=पितृरिक्थं तद् विभज्यतां = विभागं कृत्वा अस्मभ्यं देहि। अनुष्टुब् वृत्तम्॥ २०॥

युधिष्ठिरादीनां पाण्डवानामपि रिक्थस्य (पितृधनस्य) कथमपि प्राप्तिप्रसङ्गो न भवत्येषामिति दुर्योधनः प्रतिपादयति—वने पितृव्य इति।

वासुदेव—गान्धारीपुत्र दुर्योधन के लिए ऐसा प्रश्न युक्त ही है। और क्या और क्या। सब सकुशल हैं। युधिष्ठिरादि पाण्डव आपके शरीर और राज्य के आन्तरिक और बाह्य कुशल को पूछते हुए निवेदन करते हैं—

हम लोगों ने तेरह वर्ष तक महान् दुःख सहकर वनवास किया अब वह समय समाप्त हो गया अतः धर्मानुमोदित जो पिता के धन का विभाग हो हम लोगों को मिलना चाहिये॥ २०॥

दुर्योधन—कैसे यह दाय आदि कैसे?

वन में शिकार खेलने के सिलसिले में चाचाजी (पाण्डु) को मुनि ने शाप

तदाप्रभृत्येव स दारनिस्पृहः परात्मजानां पितृतां कथं व्रजेत् ॥२१॥

वासुदेवः— पुराविदं भवन्तं पृच्छामि ।

विचित्रवीर्यो विषयी विपत्तिं क्षयेण यातः पुनरम्बिकायाम् ।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते ॥ २२ ॥

वने = अरण्ये मृगयाप्रसङ्गतः = मृगयायाः प्रसंगः तस्मात् = आखेटप्रसक्तेः कृतापराधः—कृतोऽपराधः येन = विहितागाः (आगोऽपराधो मन्तुश्चेत्यमरः ।) पितृव्यः = पित्रवरजः पाण्डुः मुनिशापम्—मुनेः शापम् = ऋध्याक्रोशं (शापाक्रोशौ दुरेषणेत्यमरः ।) [कस्मिंश्चित् समये स्वधर्मपत्न्या सह किन्दमनामा महर्षिः मृगरूपं विधाय क्रीडां चकार । तदा आखेटमन्विष्यमाणः नृपतिः पाण्डुः तौ दृष्ट्वा मृगञ्च मत्वा शरैर्जघान । स च महर्षिः मृगरूपं विहाय तस्मै 'त्वमपि यदा स्त्रीप्रसङ्गं करिष्यसि तदा पञ्चत्वं प्राप्स्यसीति' शापं ददौ । इति कथा महाभारतस्य आदिपर्वे १२३ अध्याये द्रष्टव्या ।) आप्तवान = प्राप तदा प्रभृत्येव = तत् समयादारभ्यैव सः मम पितृव्यः दारनिस्पृहः—दारेभ्यः निर्गता स्पृहा यस्य सः = स्त्रीप्रसङ्गरहितः संजात इति शेषः । अतः परात्मजानां=परात्मभ्यः जाताः तेषां= जारजानां पितृतां = पितृधनभाक्त्वं कथं व्रजेत् = कथं प्राप्नुयात् । ये औरसाः पुत्राः तेषामेव पित्र्यं धनं नान्यजातानामिति दुर्योधनस्य आशयः । वंशस्थवृत्तम् । यथा—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ इति लक्षणम् ॥ २१ ॥

पुराविदं — पुरा वेत्तीति तं प्राग्वेत्तारम् ।

दुर्योधनं प्रति वासुदेवस्य प्रश्नः, विचित्रवीर्य इति ।

विषयी—विषयः = प्रमदाद्यासक्तिः = अस्ति अस्य=विषयवान् विचित्रवीर्यः = तव पितामहः क्षयेण = क्षयरोगेण विपत्तिं = मृत्युं जातः = प्राप्तः पुनः = तत् मरणानन्तरम् अम्बिकायां = तत्पाणिगृहीतायां व्यासेन = कृष्णद्वैपायनेन ते =

दिया और तभी से वे स्त्री-संभोग से विरक्त हो गए अस्तु दूसरे पुरुषों से उत्पन्न हुए (पुत्र) को पिता के धन का भागी कैसे माना जाय ? ॥ २१ ॥

वासुदेव — इतिहास को जानने वाले आपसे मैं पूछता हूँ,

अति विषयासक्त विचित्रवीर्य (तुम्हारा पितामह) क्षय रोग से मृत्यु को प्राप्त हुआ पुनः अम्बिका में व्यास के द्वारा उत्पन्न हुआ धृतराष्ट्र तुम्हारा पिता राज्य का उत्तराधिकारी हुआ ? ॥ २२ ॥

मा मा भवान्

एवं परस्परविरोधविवर्धनेन
शीघ्रं भवेत् कुरुकुलं नृप ! नामशेषम् ।
तत् कर्तुमर्हति भवानपकृष्य रोषं
यत् त्वां युधिष्ठिरमुखाः प्रणयाद् ब्रुवन्ति ॥ २३ ॥

दुर्योधनः—भो दूत ! न जानाति भवान् राज्यव्यवहारम् ।

राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते

तव जनकः—उत्पादयिता पिता एषः = वर्तमानः धृतराष्ट्रः कथं = केन प्रकारेण राज्यं=राष्ट्रं लभेत=प्राप्येत, सोऽप्यनधिकारीति भावः । उपजातिवृत्तम् ॥ २२ ॥

अतः परं कल्याणमार्गं प्रदर्शयति भगवान् श्रीकृष्णः—एवं परस्परमिति । हे नृप—नॄन् पातीति नृपः = भूपालः ततसम्बुद्धौ एवं = यथा ब्रवीषि तथा परस्परविरोधविवर्धनेन = परस्परस्य विरोधः तस्य विवर्धनं तेन—मिथः वैरप्राचुर्येण कुरुकुलं—कुरूणां कुलं = कौरववंशः शीघ्रम्-आशु नामशेषं—नामैव शेषो यस्य तत्= नामावशिष्टं भवेत्—स्यात तत = तस्मात कारणात् भवान्=दुर्योधनः रोषं=क्रोधम् अपकृष्य = विहाय युधिष्ठिरमुखाः—युधिष्ठिरः ज्येष्ठपाण्डवः मुखम् = आदिः येषां ते, प्रणयात् = प्रेमतः यत् = वाक्यं त्वां = भवन्तं ब्रुवन्ति—कथयन्ति तत् कर्तुं = विधातुम् भवान् अर्हति = योग्योऽस्ति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २३ ॥

पूर्वोक्तं दूतवाक्यं खण्डयन् राज्यप्राप्तेरुपायान्तरं प्रकाशयति दुर्योधनः—राज्यं नामेति ।

सहृदयैः—समानं हृदयं येषां तैः = उदारचित्तैः महाशयैः, नृपात्मजैः =

नहीं ऐसा आप न कहें ।

हे राजन् ! इस प्रकार परस्पर विरोध बढ़ाने से यह कौरववंश शीघ्र ही नाम मात्र से शेष रह जायगा (अर्थात् इसका विनाश हो जायेगा) अतः आप क्रोध को त्यागकर ऐसा कुछ करें जैसा कि युधिष्ठिर आदि पाण्डव आपसे प्रेमपूर्वक कहते हैं ।

दुर्योधन—हे दूत ! आप राजाओं के साथ व्यवहार करना भी नहीं जानते ।

सहृदय शत्रुओं को पराजित करके राजकुमारगण राज्य को प्राप्त करते हैं । (इस प्रकार शक्ति से अर्जित राज्य) संसार मे कहीं भी माँगा नहीं जाता और

तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते ।
काङ्क्षा चेन्नृपतित्वमाप्तुमचिरात् कुर्वन्तु ते साहसं
स्वैरं वा प्रविशन्तु शान्तमतिभिर्जुष्टं शमायाश्रमम् ॥२४॥

वासुदेवः—भोः सुयोधन ! अलं बन्धुजने परुषमभिधातुम् ।

पुण्यसञ्चयसम्प्राप्तामधिगम्य नृपश्रियम् ।
वञ्चयेद् यः सुहृद्बन्धून् स भवेद् विफलश्रमः ॥ २५ ॥

राजपुत्रैः, रिपून् = शत्रून् जित्वा = पराजित्य राज्यं = विषयो नाम भुज्यते = लभ्यते तत् = राज्यं लोके = भुवने (लोकस्तु भुवने जने । अमरः) न तु याच्यते = न प्रार्थ्यते भिक्षया राज्यं न लभ्यत इति भावः । तु = पुनः दीनाय = कातराय वा तत् = राज्यं न दीयते = न प्रदीयते चेत् = यदि नृपतित्वं—नृपतेर्भावः = भूपत्वम् आप्तुं = लब्धुं काङ्क्षा = अभिलाषः तर्हि ते = पाण्डवाः अचिरात् = शीघ्रं साहसम् = आयोधनं कुर्वन्तु = विदधतु वा = अथवा शान्तिमतिभिः—शान्ता मतिर्येषां ते तैः = दान्तचेतोभिः जुष्टं = सेवितम् आश्रमम् = अरण्यमिति यावत् शमाय = शान्तिप्राप्तये स्वैरं = स्वच्छन्दं प्रविशन्तु = गच्छन्तु । शार्दूलविक्रीडितम् यथा तल्लक्षणं—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ २४ ॥

वासुदेवः दुर्योधनं नीतिमार्गं प्रदर्शयति—पुण्यसञ्चयेत्यादिना ।

पुण्यसञ्चयसम्प्राप्तां—पुण्यानां संचयः तेन सम्प्राप्ता तां = प्राक्तनसञ्चित-पुण्यार्जितां नृपश्रियं—नृपाणां श्रीः ताम् = राज्यलक्ष्मीम् अधिगम्य = सम्प्राप्य यः = पुरुषः सुहृद्बन्धून् = मित्रज्ञातीन् वञ्चयेत् = प्रतारयेत् सः पुरुषः विफल-

---

न तो यह दीन-हीन याचकों को दिया ही जाता है। यदि उन्हें (पाण्डवों को) राज्य की इच्छा हो तो शीघ्र ही वे युद्ध करें अथवा शान्ति प्राप्ति करनी हो तो वन में किसी आश्रम में स्वच्छन्दता से जाकर रहें ॥ २४ ॥

वासुदेव—हे सुयोधन ! अपने ही बान्धवों पर परुष वाणी का प्रयोग बन्द करो पुण्य के सञ्चय से प्राप्त राज्य-श्री को प्राप्त करके जो अपने बन्धु-बान्धवों को ठगता है उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है ॥ २५ ॥

दुर्योधनः—

स्यालं तव गुरोर्भूपं कंसं प्रति न ते दया।
कथमस्माकमेवं स्यात् तेषु नित्यापकारिषु ॥ २६ ॥

वासुदेवः—अलं तन्मद्दोषतो ज्ञातुम्।

कृत्वा पुत्रवियोगार्तां बहुशो जननीं मम।
वृद्धं स्वपितरं बद्ध्वा हतोऽयं मृत्युना स्वयम् ॥ २७ ॥

श्रमः-विफलः श्रमो यस्य सः = व्यर्थपरिश्रमः भवेत् = स्यात् तस्य तस्मिन् विषये परिश्रमो निष्फल इति भावः। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २५ ॥

दुर्योधन एवं कृष्णोक्तेः प्रतिवादं करोति—स्यालं तवेति।

तव = भवतः (कृष्णस्य) गुरोः = पितुः (गुरू गीष्पतिपित्राद्यौ। अमरः।) स्यालं = देवकीभ्रातरं भूपं = नृपति कंसम् = एतन्नामकं मथुराधीशं प्रति ते = तव (कृष्णस्य) दया = अनुकम्पा (कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादित्यमरः।) न = नहि जाता। (अतः) नित्यापकारिषु—नित्यं = सततम् अपकारः = अपकरणम् अस्ति एषाम् ते तेषु = सततापकृतिपरेषु तेषु = पाण्डवेषु अस्माकं = कौरवाणाम् एवं = दयाभावः कथं स्यात् = केन प्रकारेण भवितुमर्हति। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २६ ॥

कंसं प्रति यन्मयाचरितं त्वं तद् याथातथ्यं न जानासि। प्रदर्शयति दूतः-कृत्वा पुत्रवियोगेति।

अयं = कंसः मम = कृष्णस्य जननीं = मातरं बहुशः = बहुप्रकारेण पुत्रवियोगार्ता—पुत्रस्य वियोगः तेन आर्ता ताम् = पुत्रविनाशदुःखितां कृत्वा = विधाय वृद्धं = जरठं स्वपितरं = स्वस्य पिता तम् = स्वोत्पादयितारम्

दुर्योधन—जब अपने पिता के साले, राजा कंस के प्रति तुममें दया नहीं थी तब उन नित्यप्रति अपकार करनेवालों के प्रति कैसे हम लोगों से ऐसा हो सकता है ॥ २६ ॥

वासुदेव—उसमें केवल मेरा ही दोष है, ऐसा मत जानो।

इस कंस ने मेरी मां देवकी को अनेक प्रकार से (कष्ट दिया) पुत्र के वियोग से आर्त किया और अपने वृद्ध पिता को कारागार में डालकर स्वयं ही मृत्यु के द्वारा मार डाला गया ॥ २७ ॥

दुर्योधनः— सर्वथा वञ्चितस्त्वया कंसः। अलमात्मस्तवेन। न शौर्यमेतत्। पश्य,

जामातृनाशव्यसनाभितप्ते रोषाभिभूते मगधेश्वरेऽथ।
पलायमानस्य भयातुरस्य शौर्यं तदेतत् क्व गतं तवासीत् ॥ २८ ॥

वासुदेवः—भोः सुयोधन! देशकालावस्थापेक्षि खलु शौर्यं नयानुगामिनाम्। इह तिष्ठतु तावदस्मद्गतः परिहासः। स्वकार्यमनुष्ठीयताम्।

कर्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतराः।

उग्रसेनं बद्ध्वा = कारागारे कृत्वा स्वयम् = आत्मना मृत्युना = अन्तकेन हतः = विनष्टः नान्योऽस्य अश्चिद्धन्तेति भावः ॥ अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ २७ ॥

दुर्योधनः कृष्णकृत्यं संप्रकाश्य तं दूषयति—जामातृनाशव्यसनेति।

जामातृनाशव्यसनाभितप्ते—जामातुः = दुहितुः पत्युः जरासन्धस्य नाशव्यसनं = मृत्युदुःखं तेन अभितप्तः = शोकाकुलः तस्मिन् = दुहितृपतिमृत्युदुःखदुःखिते अथ मगधेश्वरे—मगधानामीश्वरः = स्वामी तस्मिन = जरासन्धे रोषाभिभूते—रोषेण अभिभूतः तस्मिन् = क्रोधयुक्ते सति पलायमानस्य—पलायते असौ तस्य = अपसरतः भयातुरस्य—भयेन आतुरः तस्य = भीतस्य तव = भवतः कृष्णस्य एतत शौर्यं 'यदुच्यते' तत् = पराक्रमः क्व गतं = कुत्र गतमासीत्। कथं नैष पराक्रमः प्रदर्शितः तदानीं त्वया पलायनं स्वीकुर्वता। उपजातिवृत्तम् ॥ २८ ॥

वासुदेव इदानीमागमनप्रयोजनं प्रदर्शयति—कर्तव्य इत्यादिना।

भ्रातृषु = ज्ञातिषु स्नेहः=परस्परं प्रेमा कर्तव्यः = विधातव्यः गुणेतराः = गुण

दुर्योधन—तुम्हारे द्वारा कंस सर्वथा धोखा खाया। अपनी प्रशंसा बन्द करो। यह कोई बहादुरी नहीं है। देखो,

जब अपने दामाद (कंस) की मृत्यु से व्यथित और क्रोधित मगधदेश के राजा (जरासंध) ने कोप प्रकट किया (आक्रमण किया) तब तुम्हारी यह शूरता कहाँ चली गई थी ॥ २८ ॥

वासुदेव—हे सुयोधन! न्याय को समझने वाले व्यक्ति का क्रोध भी देश, काल और अवस्था के अनुकूल होता है।

तो हम लोगों का परिहास यहीं रहे। अब अपना कार्य कीजिए।

दूसरे के गुण को भूलकर अपने भाइयों पर केवल स्नेह करना चाहिये।

सम्बन्धो बन्धुभिः श्रेयाँल्लोकयोरुभयोरपि ॥ २९ ॥

दुर्योधनः—

देवात्मजैर्मनुष्याणां कथं वा बन्धुता भवेत् ।
पिष्टपेषणमेतावत् पर्याप्तं छिद्यतां कथा ॥ ३० ॥

वासुदेवः—(आत्मगतम्)

प्रसाद्यमानः साम्नाऽयं न स्वभावं विमुञ्चति ।
हन्त संक्षोभयाम्येनं वचोभिः परुषाक्षरैः ॥ ३१ ॥

भिन्नाः=दोषाः विरमर्तव्याः=विरमतुं योग्याः विरमरणीया इत्यर्थः । उभयोः लोकयोः अपि=ऐहिकपारलौकिकयोः द्वयोरपि बन्धुभिः = भ्रातृभिः सम्बन्धः=सद्व्यवहारः श्रेयान् = अतिकल्याणकारी भवतीति शेषः । अनुष्टुप् छन्दः ॥ २९ ॥

दुर्योधनः तेषु पाण्डवेषु सम्बन्धं दूषयति—देवात्मजैरित्यादिना ।

देवात्मजैः—देवानाम् = अमराणाम् आत्मजाः=सूनवः तैः (सह) मनुष्याणां= मर्त्यानां बन्धुता = बन्धोर्भावः = भ्रातृत्वं कथं भवेत् = केन प्रकारेण स्यात् वा = अथवा कथा छिद्यतां=वाग्विस्तरः विरम्यताम् एतावत्=एतावत् पर्यन्तं यदालपनं यातं पिष्टपेषणं पिष्टस्य पेषणं=चूर्णितचूर्णं पर्याप्तं=पूर्णम् । अनुष्टुप्छन्दः ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण आत्मन्येवं विमृशति—प्रसाद्यमान इति ।

अयं = दुर्योधनः साम्ना = सान्त्वनेन प्रसाद्यमानः = प्रसाद्यते असौ (प्र + सद् + णिच् + शानच्) = संतुष्यमाणः स्वभावं = निजाभिप्रायं न विमुञ्चति = न त्यजति हन्त = खेदे एनं = दुर्योधनं परुषाक्षरैः—परुषाणि अक्षराणि येषु ते

बन्धुओं से प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करना इस लोक एवं परलोक के लिए लाभदायक होता है ॥ २९ ॥

दुर्योधन– देवता के पुत्रों और मनुष्य के पुत्रों में किस प्रकार भाई चारा की संभावना हो सकती है। यह तो पिसे हुए को पीसना है अतः ऐसी कथा समाप्त करो ॥ ३० ॥

वासुदेव–(अपने मन में)

यह दुर्योधन शान्तिपूर्वक सन्तुष्ट होकर अपना स्वभाव नही छोड़ेगा अतः अब इसे कठोर वचन से ही क्षुभित करूंगा ॥ ३१ ॥

(प्रकाशम्) भोः सुयोधन ! किं न जानीषेऽर्जुनस्य बलपराक्रमम् ।

दुर्योधनः—न जाने ।

वासुदेवः—भोः ! श्रूयतां,

कैरातं वपुरास्थितः पशुपतिर्युद्धेन संतोषितो
वह्नेः खाण्डवमश्नतः सुमहती वृष्टिः शरैश्छादिता ।
देवेन्द्रार्तिकरा निवातकवचा नीताः क्षयं लीलया
नन्वेकेन तदा विराटनगरे भीष्मादयो निर्जिताः ॥३२॥

तैः = कर्कशैः वचोभिः = वाणीभिः संक्षोभयामि—सम्यक् प्रकारेण क्षुभितं करोमि= व्यथितं करोमीति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३१ ॥

वासुदेवः दुर्योधनम् अर्जुनबलपराक्रमं श्रावयति —श्रूयतामिति ।

कैरातं किरातस्येदं (किरात + 'अण्' प्रत्यय इदमर्थे ।) = शाबरं (भेदाः किरातशबराः पुलिन्दा म्लेच्छजातयः । अमरः ।) वपुः = शरीरम् आस्थितः = गृह्णन् युद्धेन=संग्रामेण पशुपतिः—पशूनां पतिः=शिवः, 'पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः । अमरः ।) संतोषितः=प्रसादितः, वह्नेः=विभावसोः खाण्डवं=वनम् अश्नतः= भुञ्जतः दहत इत्यर्थः । शरैः = बाणैः सुमहती=अत्यधिका महापरिमाणवती वृष्टिः= जलवृष्टिः छादिता = निवारिता देवेन्द्रार्तिकराः—देवानाम् इन्द्रः तस्य आर्तेः कुर्वन्तीति कराः = इन्द्रसंपीडकाः निवातकवचाः=एतन्नामकाः राक्षसाः लीलया = अनायासेनैव क्षयं = विनाशं नीताः = विहिताः ननु युष्माभिरपि यदा गोचारणे विराटनगरं प्राप्ताः तदा एकेन = अर्जुनेन विराटनगरे = एतन्नामके नगरे भीष्मादयः = भीष्म आदिर्येषां ते पितामहादयो निर्जिताः=पराजिताः एतादृशो यः अर्जुनः तस्य पराक्रमं स्मृत्वा क्रियतां कार्यमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृतम् ॥ ३२ ॥

(प्रकाश में) हे सुयोधन ! क्या अर्जुन के बल पराक्रम को तुम नहीं जानते ।

दुर्योधन—नहीं जानता ।

वासुदेव—हे ! सुनो,

किरातवेषधारी भगवान् शंकर से युद्ध करके उन्हें सन्तुष्ट कर दिया, खाण्डव वन में आग लगने पर बाणों की वर्षा करके उसे ढंक दिया तथा इन्द्र को कष्ट देने वाले निवात-कवच को क्रीडा करते हुए मार डाला और उसी अकेले (अर्जुन) से विराट नगर में भीष्म पितामह आदि भी पराजित हुए ॥ ३२ ॥

अपि च, तवापि प्रत्यक्षमपरं कथयामि ।

ननु त्वं चित्रसेनेन नीयमानो नभस्तलम् ।
विक्रोशन् घोषयात्रायां फाल्गुनेनैव मोक्षितः ॥ ३३ ॥

किं बहुना,

दातुमर्हसि मद्वाक्याद् राज्यार्धं धृतराष्ट्रज ! ।
अन्यथा सागरान्तां गां हरिष्यन्ति हि पाण्डवाः ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णः त्वम् दुर्योधनोऽपि अर्जुनेनैवोपकृत इति स्मारयति ।

त्वं = दुर्योधनः चित्रसेनेन = एतन्नामकेन गन्धर्वेण नभस्तलं = स्वगन्धर्वपुरं नीयमानः = हठात् आकृष्यमाणः विक्रोशन् = आर्त्तनादं कुर्वन् घोषयात्रायां—घोषस्य यात्रा तस्याम् = गोहरणमार्गे फाल्गुनेनैव = अर्जुनेनैव मोक्षितः = गन्धर्वसकाशात् परिमोचितः ननु इति किन्न स्मर्यते । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ३३ ॥

प्रकृतप्राप्तं तथ्यमुपदिशति श्रीकृष्णः—दातुमर्हतीति ।

हे धृतराष्ट्रज !—धृतराष्ट्राज्जातः तत्सम्बुद्धौ = हे धृतराष्ट्रपुत्र ! (धृतराष्ट्रस्य पुत्रोऽसि इति मत्वा त्वां सम्बोधयामि) मद्वाक्यात्—मम वाक्यं तस्माद् = मद्वचनात् राज्यार्धं-राज्यस्य अर्धं = विषयखण्डं (पाण्डवेभ्यः) दातुमर्हसि—दातुम् = अर्पयितुम् अर्हसि = योग्योऽसि । अन्यथा—यदि मद्वचनात् न दास्यसि तर्हि पाण्डवाः = युधिष्ठिरादयः सागरान्तां = सागरः अन्तः यस्याः सा तां = समुद्रपर्यन्तां गां = भूमिं (स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः । अमरः) हरिष्यन्ति = (त्वां पराजित्य) स्वायत्तीकरिष्यन्ति । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ३४ ॥

और भी, तुम्हारे आंखों के सामने की बातें कहता हूँ,

गो-हरण की यात्रा में जब तुम्हें चित्रसेन आकाशमार्ग से ले जा रहा था तो रोते हुए तुमको अर्जुन ने ही छुड़ाया था ॥ ३३ ॥

अधिक क्या कहूं,

हे धृतराष्ट्र के पुत्र ! मेरे कहने से तुम अपना राज्यार्ध दे दो नहीं तो सागरपर्यन्त समस्त पृथ्वी को पाण्डव हर लेंगे (स्वायत्तीकृत कर लेंगे) ॥ ३४ ॥

दुर्योधनः—कथं कथम्। हरिष्यन्ति हि पाण्डवाः।

प्रहरति यदि युद्धे मारुतो भीमकर्मा
प्रहरति यदि साक्षात् पार्थरूपेण शक्रः।
परुषवचनदक्ष! त्वद्वचोभिर्न दास्ये
तृणमपि पितृभुक्ते वीर्यगुप्ते स्वराज्ये ॥ ३५ ॥

वासुदेवः—भोः कुरुकुलकलङ्कभूत! अयशोलुब्ध! वयं किल तृणान्तराभिभाषकाः।

दुर्योधनः पूर्वोक्तं दूतवाक्यं खण्डयति—प्रहरति यदीति।

युद्धे = आहवे यदि = चेत् भीमरूपी—भीमस्य रूपम् अस्ति अस्मिन् (इन् प्रत्ययः तद्धितः) = मारुतः = पवनः प्रहरति = प्रहारं करोति, यदि = चेत् साक्षात् = प्रत्यक्षः पार्थरूपेण—अर्जुनरूपेण शक्रः = इन्द्रः प्रहरति = युद्धे प्रहारं करोति चेत् तथापि हे परुषवचनदक्ष-परुषवचने = कठिनवचनप्रयोगे दक्षः = निपुणः तत्सम्बुद्धौ पितृभुक्ते—पित्रा भुक्तं तस्मिन्=जनकोपभुक्ते वीर्यगुप्ते-वीर्येण गुप्तं तस्मिन् = स्वपराक्रमरक्षिते स्वराज्ये स्वस्य राज्यं तस्मिन् = स्वराष्ट्रे तृणमपि = तृणमात्रमपि त्वद्वचोभिः = श्रीकृष्णवचनैः न दास्ये = न प्रदास्ये। मालिनीवृत्तम् ॥ ३५ ॥

अयशोलुब्ध—न यशः अयशः तत्र लुब्ध = अपकीर्तिलोभिन् तृणान्तराभिभाषकाः—तृणं मध्ये कृत्वाऽभिभाषणकारिणः तृणेन अन्तरं = व्यवधानं तृणान्तरम् अभिभाषकाः अर्थात् तृणमन्तरतः कृत्वैव त्वमस्माकं अभिभाष्यो न साक्षादिति अभिप्रायः।

दुर्योधन—कैसे कैसे? पाण्डव हरण कर लेंगे।

यदि युद्ध में भीमरूप से वायु भी प्रहार करने आ जाय अथवा अर्जुन के रूप में साक्षात् इन्द्र युद्ध करने आ जाय तो भी हे कठोरवाणी के प्रयोग में पटु! (श्री कृष्ण!) तुम्हारे कहने से पिता के पराक्रम से रक्षित और शासित अपने राज्य का तृण भी नहीं दे सकता ॥ ३५ ॥

वासुदेव—हे कुरुवंश के कलङ्कभूत (दुर्योधन)! अपयश का लोभ करनेवाले! हम सब तुम्हारे साथ तृण मध्य में रखकर भाषणीय हैं!

दुर्योधनः—भो गोपालक ! तृणान्तराभिभाष्यो भवान्,
अवध्यां प्रमदां हत्वा हयं गोवृषमेव च ।
मल्लानपि सुनिर्लज्जो वक्तुमिच्छसि साधुभिः ॥ ३६ ॥
वासुदेवः—भोः सुयोधन ! ननु क्षिपसि माम् !
दुर्योधनः—आः, अभाष्यस्त्वम् ।
अहमवधृतपाण्डरातपत्रो द्विजवरहस्तधृताम्बुसिक्तमूर्धा ।

भवान् तृणान्तराभिभाष्यः इति पूर्वोक्तवचनस्य पुष्टिं करोति दुर्योधनः—अवध्यामिति ।

अवध्याम् = हन्तुं योग्या वध्या न वध्या अवध्या तां=हननायोग्यां प्रमदाम् = अबलां पूतनामिति भावः । हत्वा उपरतां कृत्वा हयं = तुरगं (केशिनं) गोवृषं = गोश्रेष्ठम् (अरिष्टासुरं) मल्लान् = मुष्टिकचाणूरानपि विनाश्य सुनिर्लज्जः = सुतरां निर्गता लज्जा यस्मात् सः=लज्जारहितः साधुभिः = सज्जनैः सह वक्तुम् = आलपितुम् इच्छसि=वाञ्छसि । इदं सुतरामयोग्यमिति भावः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥३६॥

क्षिपसि—तिरस्करोषि ।

अभाष्यः = वाणीप्रयोगानर्हः ।

दुर्योधनः कृष्णे अभाष्यत्वं प्रतिपादयति—अहमादिना ।

अवधृतपाण्डरातपत्रः—अवधृतं = धारितं पाण्डरं = शुभ्रम् आतपत्रं = छत्रं येन सः (बहुव्रीहिसमासः ।) अवधारितश्वेतच्छत्रः द्विजवरहस्तधृताम्बुसिक्तमूर्धा-द्विजवराणां = ब्राह्मणश्रेष्ठानां हस्ताः = पाणयः तैः धृतैः अम्बुभिः = आनीतजलैः सिक्तः मूर्धा यस्य सः = वैदिकविप्रकरधृतजलसेचितमस्तकः अहं = दुर्योधनः

दुर्योधन—हे गोपालक ! आप तृण को बीच में रखकर ही बोलने योग्य हैं। जिसे मारा नहीं जाता ऐसी अबला को मारकर, घोड़े और बैल का संहार करके तथा मल्ल-मुष्टिकादि को मार करके अब सज्जनों से वार्तालाप करना चाहते हो ॥ ३६ ॥

वासुदेव—हे दुर्योधन ! अब तुम मुझपर आक्षेप लगाते हो ?

दुर्योधन—अरे, तुमसे भाषण करना योग्य नहीं है ।

मैं, जो श्वेत छत्र को धारण करता हूँ जिसका अभिषेक श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा

अवनतनृपमण्डलानुयात्रैः सह कथयामि भवद्विधैर्न भाषे ॥ ३७ ॥

वासुदेवः—न व्याहरति किल मां सुयोधनः भोः !

शठ ! बान्धवनिःस्नेह ! काक ! केकर ! पिङ्गल ! ।
त्वदर्थात् कुरुवंशोऽयमचिरान्नाशमेष्यति ॥ ३८ ॥

भो भो राजानः ! गच्छामस्तावत् ।

दुर्योधनः—कथं यास्यति किल केशवः । दुःशासन ! दुर्मर्षण ! दुर्मुख ! दुर्बुद्धे ! दुष्टेश्वर ! दूतसमुदाचारमतिक्रान्तः केशवो बध्यताम् । कथमशक्ताः । दुःशासन ! न समर्थः खल्वसि ।

कथयामि = ब्रवीमि । अवनतनृपमण्डलानुयात्रैः—अवनतस्य = नम्रीभूतस्य नृपाणां मण्डलं तस्य = राजसंघस्य अनुयात्रैः = अनुयायिभिः भवद्विधैः = त्वत्सदृक्षैः भृत्यैस्सहेत्यर्थः । न भाषे = न भाषणं करोमीति भावः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ३७ ॥

व्याहरति = वदति ।

हे शठ = धृष्ट बान्धवनिःस्नेह— बान्धवेषु निर्गतः स्नेहः यस्य सः तत्-सम्बुद्धौ = भ्रातृनिष्कृप ! हे काक = वायसवत् कुत्सित चेष्ट ! हे केकर = वलिर (वलिरः केकरे । अमरः) पिङ्गल = मर्कट त्वदर्थात्—तव अर्थः तस्मात् = तव कारणात् अयं = वर्तमानः कुरुवंशः = कुरूणां वंशः अचिरात् = शीघ्रम् एव नाशं = विनाशम् एष्यति = गमिष्यति । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ३८ ॥

आए गये तीर्थोदक से हुआ है, यात्रा करते समय जिसके सम्मुख नृपगण नत शिर होते हैं ऐसा मैं तुमसे कैसे बोलूं ॥ ३७ ॥

वासुदेव— क्या मुझसे सुयोधन नहीं बोलता । हे,

शठ, भाइयों पर क्रूरता करनेवाले, काक, केकर (विषम दृष्टिवाले), बन्दर तुम्हारे ही लिए सम्पूर्ण कुरुवंश का शीघ्र ही विनाश होगा ॥ ३८ ॥

हे हे राजाओ ! जायें हम ।

दुर्योधन—क्या वास्तव में केशव जायगा । दुःशासन ! दुर्मर्षण ! दुर्मुख ! दुर्बुद्धि ! दुष्टेश्वर । दूत के शिष्टाचार का उल्लंघन करने वाले केशव को बांध डालो । अरे अशक्त कैसे ? दुःशासन ! क्या तुम भी समर्थ नहीं हो ।

करितुरगनिहन्ता कंसहन्ता स कृष्णः
पशुपकुलनिवासादानुजीव्यानभिज्ञः ।
हतभुजबलवीर्यः पार्थिवानां समक्षं
स्ववचनकृतदोषो बध्यतामेष शीघ्रम् ॥ ३९ ॥

अयमशक्तः । मातुल ! बध्यतामयं केशवः । कथं पराङ्मुखः पतति । भवतु, अहमेव पाशैर्बध्नामि । (उपसर्पति ।)

वासुदेवः—कथं बद्धुकामो मां किल सुयोधनः । भवतु, सुयोधनस्य सामर्थ्यं पश्यामि । (विश्वरूपमास्थितः ।)

दुर्योधनः—भो दूत !

दुर्योधनः दुःशासनादीन् आज्ञापयति केशवं हन्तुं, यदि ते हन्तुमसामर्थ्यं प्रकटयन्ति तर्हि तान् प्रोत्साहयति-करितुरगेत्यादिना ।

करितुरगनिहन्ता—करिणः = कुवलयापीडाख्यस्य गजस्य तुरगस्य = अरिष्टाख्यस्य दनुजस्य निहन्ता = नाशकः कंसहन्ता = कंसोपरतकारी स कृष्णः पशुपकुलनिवासादानुजीव्यानभिज्ञः = पशून् पान्तीति पशुपाः तेषां कुले निवासः तस्मात् = गोपालकगृहावासात् अनुजीविनो भावे आनुजीव्ये अनुजीविकर्मणि अनभिज्ञः = अज्ञः । हतभुजबलवीर्यः—हतं भुजानां बलवीर्यं येन = नष्टबाहुबलपराक्रमः एष = कृष्णः स्ववचनकृतदोषः—स्ववचनेन कृतः दोषः येन = स्वभाषणविहिताघः पार्थिवानां—पृथिव्या ईश्वराः तेषां = नृपाणां समक्षम् = अक्ष्णः समं = प्रत्यक्षं शीघ्रम् = आशु बध्यताम् = बद्धः क्रियताम् मालिनीवृत्तम् ॥ ३९ ॥

हाथी, घोड़े और बैल तथा कंस को मारने वाले, ग्वालों के साथ रहने के कारण यह दूत का शिष्टाचार भी नहीं जानता तथा बाहों में बल-पराक्रम न होने के कारण कटुवचनों के द्वारा इन्होंने राजाओं के समक्ष मेरा अपमान किया है अतः इन्हें बांध लो ॥ ३९ ॥

यह शक्तिहीन है । मामा ! इस केशव को बांध लो । कैसे पराङ्मुख होकर गिरता है । अच्छा, मैं ही पाश इन्हें बाँधूँगा । (पास जाता है ।)

वासुदेव—क्या दुर्योधन मुझे बांधना चाहता है ? अच्छा सुयोधन की सामर्थ्य देखूंगा । (विश्वरूप में प्रकट होते हैं ।)

दुर्योधन—हे दूत,

सृजसि यदि समन्ताद् देवमायाः स्वमायाः
प्रहरसि यदि वा त्वं दुर्निवारैः सुरास्त्रैः।
हयगजवृषभाणां पातनाज्ज्ञातदर्पो
नरपतिगणमध्ये बध्यसे त्वं मयाऽद्य ॥ ४० ॥

आः तिष्ठेदानीम्! कथं न दृष्टः केशवः। अयं केशवः। अहो ह्रस्वत्वं केशवस्य! आः तिष्ठेदानीम्। कथं न दृष्टः केशवः। अयं केशवः। अहो दीर्घत्वं केशवस्य। कथं न दृष्टः केशवः। अयं केशवः। सर्वत्र मन्त्रशालायां केशवा भवन्ति। किमिदानीं करिष्ये। भवतु, दृष्टम्। भो भो राजानः! एकेनैकः केशवो बध्यताम्। कथं स्वयमेव पाशैर्बद्धाः पतन्ति राजानः। साधु भो जम्भक! साधु!

इदानीं विश्वरूपम् आस्थितं भगवन्तं दूतं दुर्योधनः भर्त्सयति-सृजसीत्यादिना। (भो दूत) यदि = चेत् समन्तात् = परितः स्वमायाः = स्वस्य मायाः = जनविमोहिका देवमायाः = शाम्बरीः (स्यान्माया शाम्बरीत्यमरः।) सृजसि = विदधासि यदि वा त्वं कृष्णः दुर्निवारैः = अनिवार्यमाणैः सुरास्त्रैः = सुराणाम् अस्त्राणि तैः = देवायुधैः प्रहरसि = मयि प्रहारं करोषि। हयगजवृषभाणां-हयाश्च गजाश्च वृषभाश्च हयगजवृषभाः तेषाम् = करितुरगवृषाणां पातनात् = बधात् जातदर्पः = जातः = उत्पन्नः दर्पः = गर्वः यस्य स त्वं = भवान् अद्य इदानीं नरपतिगणमध्ये = नरपतीनां गणः तस्य मध्यं तस्मिन् = नृपमण्डलमध्ये मया = दुर्योधनेन बध्यसे = बन्धनं प्राप्यसे। मालिनीवृत्तम् ॥ ४० ॥

चाहे तुम अपनी माया या देवमाया से अनेक रूप धारण कर लो या कठिन अमोघ दैवी अस्त्रों का प्रहार करो, फिर भी हाथी, घोड़ा, बैल आदि के वध से जो तुम्हें घमण्ड हुआ है उसे नष्ट करते हुए राजाओं के बीच आज तुम्हें बाधूंगा ही ॥

आः इस समय रुको। कैसे केशव नहीं दिखाई देते। यह केशव हैं। अरे, इतने लघु केशव! अरे, अब रुको। कैसे केशव नहीं दिखाई देते। यह केशव हैं। अरे, इतने बड़े केशव! कैसे केशव नहीं दिखाई देते। यह केशव हैं। सब जगह सभाभवन में केशव ही केशव हो गये। अब क्या करूं? अच्छा, देखा। हे, हे, राजाओ! एक-एक केशव को बाँध लो। कैसे स्वयं ही सब पाश में बंधकर गिरते हैं। बहुत अच्छा, हे मायाविन्! बहुत अच्छा?

मत्कार्मुकोदरविनिःसृतबाणजालै-
विद्धक्षरत्क्षतजरञ्जितसर्वगात्रम् ।
पश्यन्तु पाण्डुतनयाः शिबिरोपनीतं
त्वां बाष्परुद्धनयनाः परिनिःश्वसन्तः ॥ ४१ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

वासुदेवः—भवतु, पाण्डवानां कार्यमहमेव साधयामि । भोः सुदर्शन ! इतस्तावत् ।

(ततः प्रविशति सुदर्शनः ।)

सुदर्शनः—एष भोः !

जम्भक = ऐन्द्रजालिक ! मायाविन् !

दुर्योधनः श्रीकृष्णं दूतं स्वकृतनिकारपरिणतिं दर्शयति—मत्कार्मुकेत्यादिना । मत्कार्मुकोदरविनिःसृतबाणजालैः = मम = दुर्योधनस्य कार्मुकं=धनुः तस्य उदरात् विनिःसृतानि = बहिर्भूतानि बाणजालानि = शरसमूहाः तैः, विद्धक्षरत्क्षतजरञ्जितसर्वगात्रम्—विद्धात = वेधयुक्तात् क्षरन्ति=प्रस्रवन्ति क्षतजानि=रुधिराणि तैः रञ्जितं = लोहितीकृतं सर्वगात्रं यस्य तं = रुधिराप्लुतशरीरमित्यर्थः, शिबिरोपनीतं—शिबिरे = सैनिकावासस्थाने उपनीतं = प्राप्तम् त्वां दूतभूतं श्रीकृष्णं बाष्परुद्धनयनाः = बाष्पैः = अश्रुभिः रुद्धानि— आवृतानि नयनानि—नेत्राणि येषां ते, परिनिःश्वसन्तः परितः = सर्वतः निःश्वसन्तः = शोकोच्छ्वासं कुर्वतः, पाण्डुतनयाः = युधिष्ठिरादयः (एतादृशं भवन्तं) पश्यन्तु = अवलोकयन्तु । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४१ ॥

मेरे धनुष से छोड़े गये तीखे तीरों से विद्ध और रक्त के स्राव से रञ्जित शिबिर में आये हुये, तुम्हारे शरीर को पाण्डवगण आँखों में आंसू भरकर दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए देखें ॥ ४१ ॥

(चला जाता है ।)

वासुदेव—अच्छा हो, पाण्डवों का कार्य मैं ही सिद्ध कर दूँ। हे सुदर्शन ! इधर आओ ।

(तब सुदर्शन प्रवेश करता है ।)

सुदर्शन—हे, यह,

श्रुत्वा गिरं भगवतो विपुलप्रसादा-
न्निर्धावितोऽस्मि परिवारिततोयदौघः ।
कस्मिन् खलु प्रकुपितः कमलायताक्षः
कस्याद्य मूर्धनि मया प्रविजृम्भितव्यम् ॥ ४२ ॥

क नु खलु भगवान् नारायणः ।
अव्यक्तादिरचिन्त्यात्मा लोकसंरक्षणोद्यतः ।

भगवदाहूतं सुदर्शनं भगवन्तं प्रति स्वोपस्थितिं सूचयति—श्रुत्वा गिरमिति । (भोः भगवन् !) विपुलो = महांश्चासौ प्रसादः = अनुग्रहः तस्मात् = महाकृपातः भगवतः = श्रीकृष्णस्य गिरं = वाचं (गीर्वाग्वाणी सरस्वती । अमरः ।) श्रुत्वा = आकर्ण्य श्रवणानन्तरं परिवारिततोयदौघः-परिवारितः = दूरीकृतः तोयदानां = जलदानाम् ओघः येन सः = परितः समुत्सारितमेघवृन्दः निर्धावितः = शीघ्रमागतो ह्यस्मि कमलायताक्षः—कमले=जलजे इव आयते=दीर्घे अक्षिणी = नेत्रे यस्य सः = पुण्डरीकाक्षः, कस्मिन् = कस्मिन् जीवे प्रकुपितः = क्रोधितः खलु = निश्चयेन कस्य = अपकारिणः मूर्धनि = मस्तके वा (मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् । अमरः ।) अद्य—अस्मिन् काले मया = सुदर्शनेन प्रविजृम्भितव्यम्- स्वपराक्रमप्रकाशितव्यम् खण्डितव्यमित्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४२ ॥

सुदर्शनो वदति—अव्यक्तादिरिति । नारायणं विशिनष्टि—भगवान्नारायणः = परमात्मा लोकान्तर्यामीति भावः ।

अव्यक्तादिः—न व्यक्तः आदिर्यस्य सः = अनादिः अचिन्त्यात्मा—न चिन्त्यः—चिन्तयितुं योग्य आत्मा = शक्तिविशेषः यस्य सः = अपरिमेयशक्तिः लोकसंरक्षणोद्यतः—लोकानां = भुवनानां संरक्षणं = पालनं तस्मिन् उद्यतः=तत्परः= भुवनपालनासक्तः, एकोऽपि = एकाक्यपि केवलोऽपि (एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे

परमकृपालु श्रीकृष्ण की वाणी को सुनकर मैं मेघखण्डों को विदीर्ण करता हुआ आया हूँ । कमलनेत्र ! आज आप किस पर प्रकुपित हो गये हैं ? किसके मस्तक पर मुझे अपनी शक्ति प्रकट करनी है (अर्थात् किसका वध करना है ?) ? ॥४२॥

कहाँ हैं भगवान् नारायण ?

जिसकी आदि का कोई निश्चय नहीं, जिसके स्वरूप को कोई सोच नहीं सकता

एकोऽनेकवपुः श्रीमान् द्विषद्बलनिषूदनः ॥ ४३ ॥

(विलोक्य) अये अयं भगवान् हास्तिनपुरद्वारे दूतसमुदाचारेणोपस्थितः । कुतः खल्वापः, कुतः खल्वापः । भगवति आकाशगङ्गे ! आपस्तावत् । हन्त स्रवति । (आचम्योपसृत्य) जयतु भगवान् नारायणः । (प्रणमति ।)

वासुदेवः—सुदर्शन ! अप्रतिहतपराक्रमो भव ।

सुदर्शनः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

वासुदेवः—दिष्ट्या भवान् कर्मकाले प्राप्तः ।

सुदर्शनः—कथं कथं कर्मकाल इति । आज्ञापयतु भगवानाज्ञापयतु ।

किं मेरुमन्दरकुलं परिवर्तयामि

केवले तथा । अमरः) अनेकवपुः=बहुशरीरम् (एकोऽहं बहु स्याम् इति श्रुतिरपि तदेव प्रतिपादयति ।) श्रीमान् = श्रीः अस्ति अस्य = शोभावान् लक्ष्मीयुक्तो वा, द्विषद्बलनिषूदनः-द्विषतां = शत्रूणां बलं = शक्तिं सैन्यं वा निषूदयति = विनाशयति = विपक्षशक्तिनाशकनारायणः वर्तते इत्यन्वेषयति सुदर्शनः । अनुष्टुप्छन्दः । अत्र व्याजोक्तिरलङ्कारः ॥ ४३ ॥

सुदर्शनः स्वां शक्तिं भगवति निवेदयन् आदेशं भिक्षते—किमित्यादिना । (अद्य) मेरुमन्दरकुलं-मेरुश्च मन्दरश्च मेरुमन्दरौ = एतन्नामकौ पर्वतविशेषौ

ऐसे लक्ष्मी से युक्त नारायण शत्रुविनाश के लिए और लोक की रक्षा के लिए एक होकर भी अनेक अवतार धारण करते हैं ॥ ४३ ॥

(देखकर) अरे यह भगवान हस्तिनापुर के दरवाजे पर दूत बनकर आये हैं । जल कहाँ है, जल कहाँ है । हे भगवती आकाश गङ्गा ! तो पानी दो ! अच्छा पानी गिर रहा है । (आचमन करके पास जाकर) भगवान नारायण की जय हो । (प्रणाम करता है)

वासुदेव—सुदर्शन ! अजेय शक्तिवाला बन जाओ ।

सुदर्शन—अनुगृहीत हुआ ।

वासुदेव—भाग्यवश तुम बड़े कार्य के समय आ गये ।

सुदर्शन—कैसा कार्य का समय कैसा ? आज्ञा दें भगवान आज्ञा दें ।

क्या मेरु और मन्दर आदि पर्वत-कुलों को उखाड़ फेकूं, या ग्राह-मकर आदिके

संक्षोभयामि सकलं मकरालयं वा ।
नक्षत्रवंशमखिलं भुवि पातयामि
नाशक्यमस्ति मम देव ! तव प्रसादात् ॥ ४४ ॥

वासुदेवः—भोः सुदर्शन ! इतस्तावत् । भोः सुयोधन !

यदि लवणजलं वा कन्दरं वा गिरीणां
ग्रहगणचरितं वा वायुमार्गं प्रयासि ।
मम भुजबलयोगप्राप्तसंजातवेगं
भवतु चपल ! चक्रं कालचक्रं तवाद्य ॥ ४५ ॥

तयोः कुलं = समूहं किं परिवर्तयामि = परिवर्त्तितं करोमि ? वा = अथवा सकलं—सम्पूर्णं मकरालयं-मकराणां = ग्रहादीनाम् आलयं = निवासस्थानं समुद्रमिति यावत् संक्षोभयामि = आविलं करोमि । अथवा भुवि = पृथिव्याम् अखिलं = निःशेषं नक्षत्रवंशं-नक्षत्राणां वंशम् = उडुगणसमूहं पातयामि = पृथिव्यां प्रसारयामि । हे देव = भगवन् तव=भवतः प्रसादात् = अनुग्रहात् अशक्यम् = अकार्यं किमपि न अस्ति = सर्वं कर्तुं शक्यम् इति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४४ ॥

वासुदेवः सुदर्शनं दर्शयित्वा दुर्योधनमुद्दिश्यैवं वदति, यत् अद्य कुत्रापि गमने तव मुक्तिर्नास्ति—यदि लवणजलं वा इति ।

हे चपल = हे चञ्चल दुर्योधन यदि = चेत् त्वं लवणजलं = लवणं = क्षारं जलं = नीरं यस्य स तं = क्षारोदं प्रयासि = गच्छसि वा = अथवा गिरीणां = पर्वतानां कन्दरं = गुहां, वायुमार्गम् = वायोः मार्गम् = पवनपदवीम् (अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिरित्यमरः ।) ग्रहगणचरितम्=ग्रहाणां गणः तेन चरितम् = आच्छादितम् अन्तरिक्षमिति यावत् , प्रयासि = गच्छसि तथापि मम = श्रीकृष्णस्य भुजबलयोगप्राप्तसञ्जातवेगम्—भुजानां बलं तेन = बाहुवीर्येण योगम् =

वररूप समुद्र का ही मंथन कर डालूँ। सम्पूर्ण आकाश के नक्षत्र-मण्डल को ही पृथ्वी पर गिरा दूं हे देव ! आपकी कृपा से मेरे लिए कुछ भी अशक्य नहीं है ॥ ४४ ॥

वासुदेव—हे सुदर्शन ! इधर आओ। हे दुर्योधन !

अब तुम यदि क्षारसमुद्र में या पर्वत की कन्दराओं में अथवा ग्रहनक्षत्रों से सेवित अर्थात् अन्तरिक्ष में वायुमार्ग से जाओ तुम्हारे लिए, मेरी बाहुशक्ति से संचालित अत्यन्त गतिमान सुदर्शन चक्र, काल चक्र ही सिद्ध होगा ॥ ४५ ॥

सुदर्शनः—भोः सुयोधनहतक। (इति पुनर्विचार्य) प्रसीदतु प्रसीदतु भगवान् नारायणः।

महीभारापनयनं कर्तुं जातस्य भूतले।
अस्मिन्नेव गते देव ! ननु स्याद् विफलः श्रमः ॥ ४६ ॥

वासुदेवः—सुदर्शन ! रोषात् समुदाचारो नावेक्षितः। गम्यतां स्वनिलयमेव।

सुदर्शनः—यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः। कथं कथं गोपालक इति। त्रिचरणातिक्रान्तत्रिलोको नारायणः खल्वत्रभवान्। शरणं

सम्बन्धं प्राप्तम् = लब्धं सञ्जातवेगं च = उत्पन्नरभसं चक्रं = सुदर्शन इति यावत् तव = दुर्योधनस्य अद्य = अस्मिन्नवसरे कालचक्रं—कालस्य चक्रम् = मृत्युचक्रं भवतु = प्रभवतु। मालिनी वृत्तम् ॥ ४५ ॥

सुदर्शनः सुयोधनकृते भगवन्तं प्रसादयति—महीभारेति।

हे देव ! = द्योतनात्मक परमात्मन् (द्योतनाद्देवमित्याहुः।) भूतले=पृथिव्यां महीभारापनयनं—मह्याः = उर्व्याः भारः=भारभूतो राक्षसादिः तस्य अपनयनम्= विनाशं ध्वंसम् कर्तुम् = विधातुं जातस्य = प्रादुर्भूतस्य तव = भवतः समेषां दुर्जनानां विनाशहेतवे तवोत्पत्तिरिति भावः। श्रमः = आगमनरूपः परिश्रमः विफलः = मुधा स्यात् = भवेत् ननु = वितर्कयामि। अनुष्टुप् छन्दः ॥ ४६ ॥

सुदर्शन—हे दुर्योधन को मारने वाले (पुनः सोचता है) कृपा करें, कृपा करें भगवान नारायण प्रसन्न हों।

हे देव ! सम्पूर्ण पृथ्वी का बोझ हलका करने के लिए ही आपने यहां भूमि पर अवतार लिया है। इस दुर्योधन की मृत्यु हो जाने से आपका सारा श्रम विफल हो जायगा ॥ ४६ ॥

वासुदेव—सुदर्शन ! क्रोध के कारण मैं अपना कर्तव्य भूल गया था। तुम अपने निवासस्थान को लौट जाओ।

सुदर्शन—भगवान नारायण की जैसी आज्ञा हो। कैसे गोपालक कैसे। इन्होंने तो तीन चरण से सम्पूर्ण त्रिलोक को नाप लिया था अवश्य ही ये नारायण हैं।

व्रजन्तु भवन्तः । यावद् गच्छामि । अये एतद् भगवदायुधवरं शार्ङ्गं प्राप्तम् ।

तनुमृदुललिताङ्गं स्त्रीस्वभावोपपन्नं
हरिकरधृतमध्यं शत्रुसङ्घैककालः ।
कनकखचितपृष्ठं भाति कृष्णस्य पार्श्वे
नवसलिलदपार्श्वे चारु विद्युल्लतेव ॥ ४७ ॥

भो भोः ! शार्ङ्ग, प्रशान्तरोषो भगवान् नारायणः । गम्यतां स्वनिलयमेव । हन्त निवृत्तः । यावद् गच्छामि । अये इयं कौमोदकी प्राप्ता ।

सुदर्शनः तद् शार्ङ्गमेव वर्णयति—तनुमृद्वित्यादिना ।

तनुमृदुललिताङ्गं—तनु च मृदु च ताभ्यां ललितम् अङ्गं यस्य तत् = कृशमसृणशोभितावयवं स्त्रीस्वभावोपपन्नम्—स्त्रियः स्वभावः तेन उपपन्नम्=स्त्रीस्वभावयुक्तं हरिकरधृतमध्यं-हरिकरेण=विष्णुपाणिना धृतो = गृहीतः मध्यो = मध्यभागो यस्य तद् = विष्णुमुष्टिस्थितं शत्रुसङ्घैककालः-शत्रूणां सङ्घः तेषाम् एकः कालः तद् = विपक्षसमूहविध्वंसकं कनकखचितपृष्ठं-कनकेन = सुवर्णेन खचितम् = युक्तं पृष्ठम् = पृष्ठभागो यस्य तद्, नवसलिलदपार्श्वे—नवः = नूतनः (नवीनो- नूतनो नवः । अमर ।) सलिलदः = सलिलं ददातीति = जलदः तस्य पार्श्वम् = समीपं तस्मिन् चारु = सुन्दरं यथा स्यात् तथा विद्युल्लता = तडिद् रेखा इव (तडित् सौदामिनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि । अमरः) कृष्णस्य = वासुदेवस्य पार्श्वे—सन्निधौ भाति = शोभते । मालिनी वृत्तम् ॥ ४७ ॥

आप सब शरण में जांय । अच्छा मैं जाता हूँ । अरे, यह भगवान का अस्त्र श्रेष्ठ शार्ङ्ग धनुष आ गया ।

यह तन्वङ्ग और कोमल तथा सुन्दर रूप को धारण करने वाला स्त्री के स्वभाव वाला विष्णु के द्वारा मध्य में पकड़ा जाने वाला शत्रुसमूह के लिए एक मात्र काल के समान है । स्वर्ण से इसका पृष्ठ भाग जड़ा हुआ है, वह शार्ङ्ग धनुष श्री कृष्ण के समीप ऐसा ही लगता है जैसे नवीन श्यामल मेघ के समीप सौदामिनी ॥ ४७ ॥

हे हे ! शार्ङ्ग, भगवान नारायण का क्रोध शान्त हो गया है । अपने निवासस्थान पर लौट जाओ । अच्छा, लौट गया । तो मैं भी जाता हूँ । अरे यह कौमोदिकी गदा आ गई ।

मणिकनकविचित्रा चित्रमालोत्तरीया
सुररिपुगणगात्रध्वंसने जाततृष्णा ।
गिरिवरतटरूपा दुर्निवारातिवीर्या
व्रजति नभसि शीघ्रं मेघवृन्दानुयात्रा ॥ ४८ ॥

हे कौमोदकि ! प्रशान्तरोषो भगवान् नारायणः । हन्त निवृत्ता । यावद्गच्छामि । अये अयं पाञ्चजन्यः प्राप्तः ।

पूर्णेन्दुकुन्दकुमुदोदरहारगौरो
नारायणाननसरोजकृतप्रसादः ।

सुदर्शनः तां कौमोदकीं रूपतः वर्णयति—मणिकनकेत्यादिना ।

मणिकनकविचित्रा—मणिभिः = बहुमूल्योत्पलैः कनकैः = हाटकैश्च विचित्रा= अनेकरूपा चित्रमालोत्तरीया=चित्रवर्णा माला = स्रक् उत्तरीयम् = ऊर्ध्ववस्त्रं यस्याः सा, सुररिपूणां = दानवानां, गणानां=समूहानां गात्राणां शरीराणां=ध्वंसने=नाशने जाततृष्णा = प्रत्युत्पन्नलोभा गिरिवरतटरूपा—गिरीणां वरः तस्य तटम्=भागैकं प्रान्तभागः तदिव रूपम् = स्वरूपं यस्याः सा = पर्वतप्रान्तभागवत्तीक्ष्णफलका दुर्निवारा = दुःखेन निवारो निवारणं यस्याः सा = अनिवारणीया । अतिवीर्या— अति = महत् वीर्यम्=पराक्रमो यस्याः सा = लोकोत्तरपराक्रमा मेघवृन्दानुयात्रा— मेघवृन्दस्य = जलदसमूहस्य अनुयात्रा = अनुगमनं यस्याः सा = जलदसमूहानुगा इयम् = कौमोदकी भगवतः श्रीकृष्णस्य गदा नभसि = आकाशे शीघ्रम् = त्वरितं व्रजति = गच्छति । मालिनी वृत्तम् ॥ ४८ ॥

सुदर्शनः अवसरप्राप्तं पाञ्चजन्यनामकं शंखं विशेषयति—पूर्णेन्द्वित्यादिना ।

पूर्णेन्दुकुन्दकुमुदोदरहारगौरः-पूर्णश्चासौ इन्दुः पूर्णेन्दुश्च कुन्दश्च कुमुदोदरश्च हारश्च

मणियों और स्वर्ण से विचित्र प्रकार से निर्मित सुन्दर माला का उत्तरीय धारण किए हुए तथा देव-द्वेषियों के शरीर को चूर्णित करने की तृषा से युक्त, पर्वत के प्रान्तभाग के समान चौड़ी और अप्रतिहत पराक्रम वाली यह गदा शीघ्रतापूर्वक मेघघटा को विदीर्ण करती हुई चली आ रही है ॥ ४८ ॥

हे कौमोदकि ! भगवान् नारायण का कोप शान्त हो गया । अच्छा, लौट गया । तो जाता हूँ । अरे, यह पाञ्चजन्य आ गया ।

पूर्ण चन्द्र, कुन्द, कुमुद और मुक्ताहार के समान शुभ्र कान्ति से युक्त तथा विष्णु भगवान के मुख-कमल का कृपापात्र (यह शंख है ।) जिसकी ध्वनि

यस्य स्वनं प्रलयसागरघोषतुल्यं
गर्भा निशम्य निपतन्त्यसुराङ्गनानाम् ॥ ४९ ॥

हे पाञ्चजन्य ! प्रशान्तरोषो भगवान्। गम्यताम्। हन्त निवृत्तः। अये नन्दकासिः प्राप्तः।

वनिताविग्रहो युद्धे महासुरभयङ्करः।
प्रयाति गगने शीघ्रं महोल्केव विभात्ययम् ॥ ५० ॥

तेषामिव गौरः = अशेषचन्द्रमाघ्यकैरवोदरमुक्ताहारशुभ्रः (हारो मुक्तावली । अमरः।) (माध्यं कुन्दम्। अमरः।) (सिते कुमुदकैरवे। अमरः।) अतिधवलमित्यर्थः। नारायणाननसरोजकृतप्रसादः—नारायणस्य = भगवतः विष्णोः आननसरोजेन = मुखकमलेन कृतः = विहितः प्रसादः = अनुग्रहः यत्र सः, यस्य=पाञ्चजन्यस्य प्रलयसागरघोषतुल्यं—प्रलये = प्रलयकाले सागरः = समुद्रः तस्य घोषः = नादः तेन तुल्यं = समानं स्वनं = शब्दं निशम्य = श्रुत्वा असुराङ्गनानाम् = असुराणाम् अङ्गनाः तासां = दैत्यपत्नीनां गर्भाः = भ्रूणाः निपतन्ति= स्रवन्ति, अस्य शङ्खस्य स्वनेनैव दैत्याङ्गनानां गर्भाः स्रवन्तीति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम्। मालोपमालङ्कारः ॥ ४९ ॥

सुदर्शनः अवसरप्राप्तं नन्दकनामानं खड्गं वर्णयति—वनिताविग्रह इत्यादिना। वनिताविग्रहः = वनितायाः = स्त्रियः विग्रहः = शरीरं (शरीरं वर्ष्म विग्रहः । अमरः) यस्य सः, युद्धे=संग्रामे महासुरभयङ्करः—महाँश्चासौ असुरः तेषां भयं करोतीति = महादैत्यभयकारी अयं = नन्दकासिः गगने = वियति शीघ्रम् =

प्रलयकालीन सागर के समान गंभीर है और जिसे सुनकर दैत्यवधुओं का गर्भपात हो जाता है ॥ ४९ ॥

हे पाञ्चजन्य ! भगवान नारायण का क्रोध शान्त हो गया। आप लौट जांय।

अच्छा लौट गया। अरे नन्दक तलवार आगई।

तन्वङ्गी बाला के रूप को धारण करने वाली, युद्धस्थल में दैत्यों के लिए अत्यन्त भयङ्कर (वह तलवार) आकाश में तेजी से जाती हुई यह उत्पात केतु की तरह दिखाई देती है ॥ ५० ॥

हे नन्दक ! प्रशान्तरोषो भगवान्। गम्यताम्। हन्त निवृत्तः। यावद् गच्छामि। अये एतानि भगवदायुधवराणि।

सोऽयं खड्गः खरांशोरपहसिततनुः स्वैः करैर्नन्दकाख्यः
सेयं कौमोदकी या सुररिपुकठिनोरःस्थलक्षोददक्षा।
सैषा शार्ङ्गाभिधाना प्रलयघनरवज्यारवा चापरेखा
सोऽयं गम्भीरघोषःशशिकरविशदः शङ्खराट् पाञ्चजन्यः॥५१॥

आशु प्रयाति = गच्छति सति महोल्केव—महती चासौ उल्का = उत्पातकेतुः इव विभाति = शोभते। अनुष्टुप् छन्दः॥ ५०॥

इदानीं सुदर्शनः समस्तयायुधानि वर्णयति—सोऽयं खड्ग इत्यादिना।

सोऽयं = भगवत्पार्श्वस्थितः नन्दकाख्यः = एतन्नाम्ना प्रसिद्धः खड्गः = असिः स्वैः = स्वकीयैः करैः = रश्मिभिः खरांशोः—खराः=तीक्ष्णाः अंशवः = किरणा यस्य तस्य = सूर्यस्य अपहसिततनुः—अपहसिता = उपहासं प्रापिता तनुः यस्य सः = तिरस्कृततैक्ष्ण्यः या = गदा सुररिपुकठिनोरःस्थलक्षोददक्षा—सुराणां रिपवः तेषां कठिनानि यानि उरःस्थलानि तेषां क्षोदः=भञ्जनं तस्मिन् दक्षा= समर्था दैत्यपरुषवक्षःस्थलभञ्जनचतुरा इयं=पुरोवर्तमाना सा एव कौमोदकी=गदा। (या) प्रलयघनरवज्यारवा प्रलये = प्रलयकाले ये घनाः = मेघाः, तेषां रवः = स्वनः, इव ज्यायाः = मौर्व्याः रवः यस्याः सा, शार्ङ्गम् = शृङ्गमयं धनुः, अभिधानं = नाम यस्याः सा, चापेषु रेखा चापरेखा = धनुःप्रधानम् सा, एषा = पुरोदृश्यमाना = (यः) गम्भीरघोषः = गम्भीरो = गभीरो, घोषः = रवः यस्य सः, शशिकरविशदः-शशिनः = चन्द्रस्य करः = किरणः

हे नन्दक ! भगवान का क्रोध शान्त हो गया। आप जांय। अच्छा लौट गई। तो जाता हूँ। अरे, ये सब भगवान के श्रेष्ठ अस्त्र !

यह नन्दक नाम की तलवार जिसने अपनी तीव्र ज्योति से सूर्य की तीक्ष्ण किरणों का उपहास किया है। यह वह गदा है जो शत्रुपक्ष के कठिन वक्षःस्थल को विदीर्ण करने में परम निपुण है। यह शार्ङ्ग नाम का धनुष हा लौट गया। तो (अब) जाता हूँ। अरे बड़ी प्रचण्ड वायु है। सूर्य बड़ा तप रहा है। पर्वत

हे शार्ङ्ग ! कौमोदकि ! पाञ्चजन्य !
दैत्यान्तकृन्नन्दक ! शत्रुवह्ने ! ।
प्रशान्तरोषो भगवान् मुरारिः
स्वस्थानमेवात्र हि गच्छ तावत् ॥ ५२ ॥

हन्त निवृत्ताः। यावद् गच्छामि । अये अत्युद्धूतो वायुः। अतितपत्यादित्यः। चलिताः पर्वताः। क्षुब्धाः सागराः। पतिताः वृक्षाः। भ्रान्ता मेघाः। प्रलीना वासुकिप्रभृतयो भुजङ्गेश्वराः। किन्नु खल्विदम्। अये अयं भगवतो वाहनो गरुडः प्राप्तः।

सुरासुराणां परिखेदलब्धं येनामृतं मातृविमोक्षणार्थम्।
आच्छिन्नमासीद् द्विषतो मुरारेस्त्वामुद्वहामीति वरोऽपि दत्तः ॥५३॥

हे काश्यपप्रियसुत ! गरुड ! प्रशान्तरोषो भगवान् देवदेवेशः।

इव विशदः = उज्ज्वलः, सोऽयं पाञ्चजन्यः=एतन्नामकः। प्रतीपालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम्, यथा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ १५ ॥

भगवतः वाहनः गरुडः स च तत्र प्राप्तः सुदर्शनः तस्य कार्यं वर्णयति—सुरेति। येन = गरुडेन सुरासुराणां—सुराश्च असुराश्च तेषाम् = देवदानवानां परिखेदलब्धम्—परितः खेदः तेन लब्धम् = अतिपरिश्रमप्राप्तम् अमृतम् = सुधां मातृविमोक्षणार्थम्—मातुः विमोक्षणं तस्मै इति सुपर्णामुक्त्यर्थं मुरारेः = विष्णोः द्विषतः = शत्रोः आच्छिन्नम् = स्वायत्तीकृतं तद्धस्तादित्यर्थः, त्वाम् = भगवन्तं, विष्णुं उद्वहामि = वहनं करोमि मानत्वेन इति = इत्थं वरोऽपि = वचनमपि दत्तः = प्रदत्तः आसीत् = अभवदित्यर्थः। उपजाति वृत्तम् ॥ ५३ ॥

चलायमान हो गये हैं। सागर उद्वेलित हो उठा है। वृक्ष गिर रहे हैं। बादल इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वासुकि आदि नागराज भी छिप गए हैं। यह सब क्या है। अरे, यह भगवान (विष्णु) का वाहन गरुड़ भी आ गया।

देवता और दानवों के अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त अमृत को अपनी माता (सुपर्णा) के मोक्ष के लिए जिस (गरुड़) ने प्राप्त किया और विष्णु को, तुम्हारा भार वहन करूंगा; ऐसा वर भी दे दिया (वह गरुड़ आ गया) ॥ ५३ ॥

हे कश्यप के प्रिय पुत्र। गरुड़ ! देवताओं के देव के ईश्वर भगवान कृष्ण का

गम्यतां स्वनिलयमेव । हन्त निवृत्तः । यावद् गच्छामि ।

एते [स्थिता वियति किन्नरयक्षसिद्धाः]
देवाश्च संभ्रमचलन्मुकुटोत्तमाङ्गाः ।
रुष्टेऽच्युते विगतकान्तिगुणाः प्रशान्तं
श्रुत्वा श्रयन्ति सदनानि निवृत्ततापाः ॥ ५४ ॥

यावदहमपि कान्तां मेरुगुहामेव यास्यामि । (निष्क्रान्तः ।)

वासुदेवः—यावदहमपि पाण्डवशिबिरमेव यास्यामि ।

(नेपथ्ये)

सुदर्शनः अन्तरिक्षस्थितान् देवयोनिविशेषान् वर्णयति—एते स्थिता इति । वियति=गगने एते स्थिताः=वर्तमानाः किन्नरयक्षसिद्धाः—किन्नराश्च यक्षाश्च सिद्धाश्च= देवयोनिविशेषाः (पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः । विद्याधराप्सरो-यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ॥ अमरः) संभ्रमचलन्मुकुटोत्तमाङ्गाः—संभ्रमेण = भ्रान्त्या चलन्तः = वेपन्तः मुकुटाः = शिरोभूषणानि येषां तानि उत्तमाङ्गानि = मूर्धानः, येषां ते, देवाः = अमराः (अमरा निर्जरा देवाः । अमरः) । (इमे) अच्युते = भगवति कृष्णे रुष्टे = रोषं गते विगतकान्तिगुणाः—विगताः = नष्टाः कान्तीनां = छवीनां गुणाः येषां ते = कान्तिगुणरहिताः जाताः । प्रशान्तम् = प्रशमितकोपं भगवन्तं श्रुत्वा = आकर्ण्य निवृत्ततापाः = निवृत्तः तापो येषां ते सुप्रसन्नाः सदनानि = स्वावासान् श्रयन्ति = सेवन्ते । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥

क्रोध शान्त हो गया। अपने घर को जाओ। हा लौट गया। तो अब (मैं भी) जाता हूँ।

आकाश में ये किन्नर, यक्ष और सिद्ध जन खड़े देख रहे हैं। भ्रान्ति के कारण देवताओं के मुकुट पर शिर हिल रहे हैं। विष्णु को रुष्ट हुआ सुनकर सबकी शोभा (भय की अधिकता से) नष्ट हो गई थी पर अब शान्तरोष कृष्ण को जानकर सब अपने-अपने धाम को जा रहे हैं ॥ ५४ ॥

तो अब मैं भी सुन्दर मेरु पर्वत की गुहा में जाता हूँ। (चला जाता है ।)

वासुदेव—तो मैं भी पाण्डवों के शिविर में जाता हूँ।

(नेपथ्यमें)

न खलु न खलु गन्तव्यम् ।

वासुदेवः—अये वृद्धराजस्वर इव । भो राजन् ! एष स्थितोऽस्मि ।

(ततः प्रविशति धृतराष्ट्रः ।)

धृतराष्ट्रः—क्व नु खलु भगवान् नारायणः । क्व नु खलु भगवान् पाण्डवश्रेयस्करः । क्व नु खलु भगवान् विप्रप्रियः । क्व नु खलु भगवान् देवकीनन्दनः ।

मम पुत्रापराधात् तु शार्ङ्गपाणे ! तवाधुना ।
एतन्मे त्रिदशाध्यक्ष ! पादयोः पतितं शिरः ॥ ५५ ॥

वासुदेवः—हा धिक् पतितोऽत्रभवान् । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।

धृतराष्ट्रः—अनुगृहीतोऽस्मि । भगवन् ! इदमर्घ्यं पाद्यं च प्रतिगृह्यताम् ।

धृतराष्ट्रः भगवन्तं नारायणं (श्रीकृष्णं) प्रसादयति—मम पुत्रेत्यादिना । हे त्रिदशाध्यक्ष—त्रिदशानां=देवानाम् (अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः । अमरः ।) अध्यक्षः = स्वामी तत् सम्बुद्धौ, मम = धृतराष्ट्रस्य पुत्रापराधात = पुत्रस्यापराधः तस्मात् = दुर्योधनागसः (आगोऽपराधो मन्तुश्चेत्यमरः ।) अधुना = इदानीं तव = भवतः पादयोः = चरणयोः मे = मम एतत् शिरः = मूर्धा पतितं = प्राप्तम् । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ५५ ॥

नहीं, न जाओ ।

वासुदेव—अरे, यह तो वृद्ध महाराज का सा स्वर है । हे राजन् ! यह मैं खड़ा हूँ ।

(तब धृतराष्ट्र प्रवेश करते हैं ।)

धृतराष्ट्र—भगवान् नारायण कहां हैं ? पाण्डवों का कल्याण करने वाले भगवान् कहां हैं ? ब्राह्मणों के प्रिय भगवान् कहां हैं ! देवकी के नन्दन भगवान् कहां हैं ?

हे देवताओं के देव ! हे शार्ङ्गचापधारी ! तुम्हारे पैरों पर आज मेरा मस्तक अपने पुत्रों के अपराध करने से गिरा हुआ है ॥ ५५ ॥

वासुदेव—हा धिक्कार है आप मेरे पैरों पर गिर पड़े । उठिए उठिए ।

धृतराष्ट्र—अनुगृहीत हुआ । भगवन् यह अर्घ्य, यह पाद्य ग्रहण करें ।

वासुदेवः—सर्वं गृह्णामि । किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ।
धृतराष्ट्रः—यदि मे भगवान् प्रसन्नः, किमतः परमिच्छामि ।
वासुदेवः—गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।
धृतराष्ट्रः—यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः । (निष्क्रान्तः ।)

(भरतवाक्यम् ।)

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥ ५६ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

दूतवाक्यं समाप्तम् ।



सागरपर्यन्तां—सागरः = समुद्रः पर्यन्तः सीमा यस्याः ताम् = समुद्रावसानां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्—हिमवान् = हिमालयः, विन्ध्यः = विन्ध्याचलः, कुण्डले कर्णभूषणे यस्याः सा ताम् एकातपत्राङ्काम्—एकं = केवलम्, आतपत्रं = छत्रं अङ्कः = चिह्नं यस्याः सा ताम् महीम् = वसुन्धराम् नः = अस्माकं राजसिंहः = राजश्रेष्ठः प्रशास्तु = शासनं करोतु रक्षतु इत्यर्थः ॥ ५६ ॥



वासुदेव—सब ग्रहण करता हूँ । पुनः तुम्हारा क्या कल्याण करूं ?
धृतराष्ट्र—यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो इससे अधिक और क्या चाहिये ।
वासुदेव—आप पुनः दर्शन देने के लिए जांय ।
धृतराष्ट्र—भगवान् नारायण की जैसी आज्ञा । (जाता है ।)

(भरतवाक्य)

जिसके कुण्डल स्वरूप हिमालय और विंध्याचल पर्वत हैं । ऐसी सागर पर्यन्त विस्तृत भूमि पर हमारे राजश्रेष्ठ राजा एकच्छत्र राज्य करें ।

(सब चले जाते हैं ।)

दूतवाक्य समाप्त ॥





(२)

कर्णभारम्

व्याख्याकार:—
आचार्य रामजी मिश्र

भासनाटकचक्रे

कर्णभारम्

'प्रकाश'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—

नरमृगपतिवर्ष्मालोकनभ्रान्तनारी-
नरदनुजसुपर्वव्रातपाताललोकः ।

अथ तत्रभवान् कविचक्रचूडामणिः कालिदासादिभिरतिश्लाघितगुणगणः भासः 'कर्णभारम्' नामकं नाटकं चिकीर्षुः विघ्नविघाताय सूत्रधारेण कृतं मङ्गलाचरणं सूचयन् तस्य प्रवेशं निर्दिशन्नाह—नरमृगपतीति ।

नरमृगपतिवर्ष्मालोकनभ्रान्ताः—नरस्य = मनुष्यस्य मृगपतेः = सिंहस्य च वर्ष्म = विग्रहः (शरीरं वर्ष्म विग्रहः । अमरः ।) तस्य आलोकनेन = प्रेक्षणेन भ्रान्ताः = भ्रान्तिमन्तः कृताः नारीणाम् = अंगनानां नराणां = मानवानां दनुजानां = दानवानां सुपर्वणां = सुमनसां (सुपर्वाणस्सुमनसो गीर्वाणा दानवारयः । अमरः) व्राताः = संघाताः (निकरव्रातसंघातसंचयाः । अमरः) पाताललोकश्च

(नान्दी-पाठ के बाद सूत्रधार आता है ।)

सूत्रधार—**जिस (विष्णु) के नृसिंह-विग्रह को देखकर नर, नारी, राक्षस, देवगण और पाताललोक आश्चर्य में पड़ गया और जिन्होंने अपने वज्र के समान**

करजकुलिशपालीभिन्नदैत्येन्द्रवक्षाः
सुररिपुबलहन्ता श्रीधरोऽस्तु श्रिये वः ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि । (परिक्रम्य, कर्णं दत्त्वा ।) अये किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अङ्ग ! पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

भो भो ! निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजायाङ्गेश्वराय ।

सूत्रधारः—भवतु विज्ञातम् ।

येन सः । करजकुलिशपालीभिन्नदैत्येन्द्रवक्षाः—करेजातः करजः = नखः स एव कुलिशं = वज्रं तस्य पाल्या = कोट्या (कोणस्तु स्त्रियः पाल्यश्रिकोटयः । अमरः) भिन्नं = विदीर्णं दैत्येन्द्रस्य = हिरण्यकशिपोः वक्षः = उरःस्थलम् येन सः (उरो वत्सञ्च वक्षश्च । अमरः) सुररिपुबलहन्ता—सुराणां = देवानां रिपवः = दैत्याः तेषां बलं हन्तीति = दनुजबलविनाशकः भगवान् नृसिंहः श्रीधरः—धरतीति धरः श्रियः धरः = इन्दिरापतिः वः युष्माकं श्रिये = कल्याणाय अस्तु = भवतु । पूर्वोक्तगुणगणविशिष्टः लक्ष्मीपतिः भवतां श्रोतृणां दर्शकानां च कल्याणं कुर्यादिति भावः । मालिनी वृत्तम् यथा—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरिति । पर्यायोक्तिरलङ्कारः ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि—आर्याः कुलशीलदयाधर्मसत्यादिसद्गुणसम्पन्नाः सभ्याः ते च ते मिश्राः = पूज्यास्तान् श्रेष्ठसामाजिकान् विज्ञापयामि=निवेदयामि । अङ्गेश्वराय = अङ्गानां = देशविशेषाणाम् ईश्वरः = अधिपतिः तस्मै कर्णाय ।

कठोर नख के अग्रभाग से दैत्यराज (हिरण्यकशिपु) का हृदय विदीर्ण किया ऐसे दानवों की सेना को परास्त करनेवाले विष्णु भगवान् आप लोगों का कल्याण करें ॥ १ ॥

इस प्रकार मैं आप महानुभावों को सूचित करता हूँ । (घूमकर, कान देकर) अरे मुझ सूचना देने में व्यग्र (सूत्रधार) को यह कैसा शब्द-सा सुनाई पड़ता है । अच्छा ! देखता हूँ ।

(नेपथ्य में)

हे हे ! निवेदन करो, निवेदन करो महाराज अङ्गदेशाधिपति (कर्ण) से ।

सूत्रधार—अच्छा, समझा ।

संग्रामे तुमुले जाते कर्णाय कलिताञ्जलिः ।
निवेदयति संभ्रान्तो भृत्यो दुर्योधनाज्ञया ॥ २ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

प्रस्तावना ।

(ततः प्रविशति भटः ।)

भटः—भो भो ! निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजायाङ्गेश्वराय युद्धकाल उपस्थित इति ।

करितुरगरथस्थैः पार्थकेतोः पुरस्तात्

सूत्रधारः सामाजिकान् प्रति पूर्वरंगं स्थापयन्नाह—संग्राम इति ।

संग्रामे = आहवे तुमुले = भयङ्करे जाते = भूते सम्भ्रान्तः = व्याकुलः भृत्यः = राजसेवकः दुर्योधनाज्ञया—दुर्योधनस्य = धार्तराष्ट्रश्रेष्ठस्य आज्ञया = आदेशेन कलिताञ्जलिः—कलितः = विहितः अञ्जलिः = करसम्पुटो येन सः = करं बद्ध्वा निवेदयति = विज्ञापयति । इदानीं भयङ्करः संग्रामोऽभूदिति सूचयति । अनुष्टुप् छन्दः ।

प्रस्तावना—आमुखं स्थापना चेति अयं प्रयोगातिशयो नाम प्रस्तावनाभेदः । उक्तं साहित्यदर्पणे—

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयोज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥ इति ।

पार्थकेतोः—पृथायाः पुत्रः तस्य केतुः तस्य = अर्जुनध्वजस्य पुरस्ताद् =

दुर्योधन की आज्ञा से कर्ण को घबड़ाया हुआ हाथ जोड़े हुये परिचारक भयङ्कर युद्ध होने की सूचना दे रहा है ॥ २ ॥

(सब चले जाते हैं)

प्रस्तावना समाप्त ॥

(भट प्रवेश करता है)

भट—हे हे ! निवेदन करो, निवेदन करो महाराज अङ्गेश्वर (कर्ण) को कि युद्धकाल उपस्थित हो गया है ।

आज अर्जुन के ध्वज के सम्मुख सिंह के समान राजागण, जो हाथी, घोड़े और

मुदितनृपतिसिंहैः सिंहनादः कृतोऽद्य ।
त्वरितमरिनिनादैर्दुस्सहालोकवीरः
समरमधिगतार्थः प्रस्थितो नागकेतुः ॥ ३ ॥

(परिक्रम्य विलोक्य) अये अयमङ्गराजः समरपरिच्छदपरिवृतः शल्यराजेन सह स्वभवनान्निष्क्रम्येत एवाभिवर्तते । भोः किं नु खलु युद्धोत्सवप्रमुखस्य दृष्टपराक्रमस्याभूतपूर्वो हृदयपरितापः ।

अग्रे करितुरगरथस्थैः—करिणां तुरगाणां रथानां तेषु तिष्ठन्तीति तैः = नागाश्वस्यन्दनस्थितैः मुदितनृपतिसिंहैः—मुदिताः = प्रसन्नाः नृपतयः = राजानः ते एव सिंहाः तैः प्रमुदितभूपमृगेन्द्रैः अद्य आहवे सिंहनादः = सिंहानां नाद इव नादः यथा स्यात् तथा = शार्दूलगर्जनम् अरिनिनादैः—निनदनानीति निनादाः अरीणां निनादास्तैः = शत्रुकोलाहलैः कृतः = विहितः । अतः दुःसहालोकवीरः—दुस्सहः सोढुमशक्यः आलोकः तेजोविशेषो यस्य एतादृशश्चासौ वीरश्च = अनभिभूतपराक्रमयोद्धा । अधिगतार्थः—अधिगतः = ज्ञातः अर्थः येन सः = ज्ञातप्रयोजनः नागकेतुः—नागः मणिमयो हस्ती केतौ = ध्वजे यस्य = हस्तिचिह्न ध्वजः दुर्योधनः त्वरितं = द्रुतं (त्वरितं चपलं द्रुतमित्यमरः ।) समरं = युद्धभूमिं प्रस्थितः = प्रस्थानं कृतवान् । मालिनी वृत्तम् ॥ ३ ॥

समरपरिच्छदपरिवृतः—समरस्य = समराङ्गणस्य परिच्छदेन = नेपथ्येन (वेशभूषया) परिवृतः = युक्तः, कर्णः । युद्धोत्सवप्रमुखस्य—युद्धस्य = समरस्य उत्सवः = समारोहः तस्मिन् प्रमुखः—मुखं प्रगतः = अग्रगण्यः तस्य । दृष्टपराक्रमस्य—दृष्टः = अवलोकितः पराक्रमः = वीरता यस्य तस्य । अभूतपूर्वः = नूतनः हृदयस्य = हार्दिकः, परितापः=चिन्ता । इदानीं भटः कर्णं विशिनष्टि—अत्युग्रेति ।

रथोंपर सवार हैं सिंहनाद (जयनाद) कर रहे हैं और अपराजेय शक्तिवाले नागकेतु, (हाथी का चिह्न वाली ध्वजा है जिसकी) दुर्योधन ने युद्ध के लिए आह्वान सुनकर तुरन्त प्रस्थान किया ॥ ३ ॥

(घूमकर, देखकर) अरे, यह अङ्गराज (कर्ण) युद्धवेष को धारण करके शल्यराज (सारथि) के साथ अपने भवन से निकलकर उसी ओर (युद्धस्थल की ओर) जा रहे हैं । हे ! युद्धरूपी उत्सव में सर्वप्रमुख (सेनापति) अत्यन्त पराक्रमी कर्ण का यह अभूतपूर्व मानसिक संताप कैसा ?

एष हि—

अत्युग्रदीप्तिविशदः समरेऽग्रगण्यः
शौर्ये च संप्रति सशोकमुपैति धीमान् ।
प्राप्ते निदाघसमये घनराशिरुद्धः
सूर्यः स्वभावरुचिमानिव भाति कर्णः ॥ ४ ॥

यावदपसर्पामि । (निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः कर्णः शल्यश्च ।)

अत्युग्रदीप्तिविशदः—अत्युग्रा चासौ दीप्तिः तया विशदः = प्रतापातिशयप्रद्योतितः समरे = आयोधने शौर्ये—शूरस्य भावः (गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः ष्यञ् इति ष्यञि ।) तस्मिन् पराक्रमे च अग्रगण्यः—अग्रे गणितुं—योग्यः = अग्रेसर इत्यर्थः । धीमान्—धीः, अस्ति अस्य (धी + मतुप्)=बुद्धिमान् कर्णः सम्प्रति = सशोकं—शोकेन सहितं = विषादयुक्तम्—उपैति = प्राप्नोति निदाघसमये—निदाघस्य समयः तस्मिन् = ग्रीष्मर्तौ घनराशिरुद्धः—घनानां = मेघानां राशयः = समूहाः तैः रुद्धः = आच्छादितः स्वभावरुचिमान्—स्वस्य भावः तस्य रुचिः अस्ति अस्य = सहजकान्तिमान् सूर्यः = दिवाकरः इव कर्णः = राधेयः भाति = शोभते । आतपर्तौ मेघाच्छन्नः सूर्यः द्योतते तथैवेदानीं कर्णः प्रतिभाति इति भावः । 'ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।' इत्यत्र वसन्ततिलका वृत्तम् । वृत्त्यनुप्रासः तथा विशेषस्य सामान्येन पुष्टिर्भवति अतः अत्र अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ४ ॥

यहां यह—

अत्यन्त प्रखर पराक्रम से युक्त युद्धस्थल में सर्वप्रमुख (योद्धा) बलशाली कर्ण बुद्धिमान होकर भी इस समय शोक से परितप्त हो रहे हैं । ग्रीष्मऋतु में स्वाभाविक प्रखर किरणों वाला सूर्य जैसे मेघमाला से आच्छादित हो जाय वैसे ही इस समय कर्ण (शोक से संविग्नमन होकर) लगते हैं ॥ ४ ॥

अच्छा तो जाता हूँ । (जाता है ।)

(तब पूर्वनिर्दिष्ट कर्ण और शल्य प्रवेश करते हैं ।)

कर्णः—

मा तावन्मम शरमार्गलक्षभूताः
संप्राप्ताः क्षितिपतयः सजीवशेषाः ।
कर्तव्यं रणशिरसि प्रियं कुरूणां
द्रष्टव्यो यदि स भवेद्धनंजयो मे ॥ ५ ॥

शल्यराज ! यत्रासावर्जुनस्तत्रैव चोद्यतां मम रथः ।

शल्यः—बाढम् । (चोदयति ।)

कर्णः—अहो नु खलु

सम्प्रति कर्णः हृद्गतं स्वाभिप्रायं सूचयति—मा तावेति ।

तावत् = आदौ मम = कर्णस्य शरमार्गलक्षभूताः—शराणां = विशिखान मार्गेषु=पदवीषु (अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः । अमरः ।) लक्षभूताः लक्ष्यत्वेन स्थिताः क्षितिपतयः—क्षितीनां = भूमीनां पतयः = स्वामिनः = नरेन्द्र सजीवशेषाः—जीवेन सहिताः तैः शेषाः जीवनयुक्ताः सम्प्राप्ताः = उपस्थिताः ते मा आयान्तु मम सम्मुख इति शेषः । सम्प्रति रणशिरसि—रणस्य शिर तस्मिन् = संग्राममूर्द्धनि कुरूणां— कुरुवंशीयानां = दुर्योधनानामित्यर्थः । प्रियम् = अभिलषितं कर्तव्यं—विधातव्यं वर्तते यदि चेत् स धनंजयः—धन·नामान अग्निं जयतीति = विभावसुविजेता अर्जुनः मद्विद्वेष्टा मे = मम कर्णस्य द्रष्टव्यः = चक्षुर्गोचरीभूतः स्यात् तदा तं विजित्य अवश्यं कौरवाभिलाषं पूरयिष्यामि इति भावः ॥ 'म्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' इत्यत्र प्रहर्षिणी वृत्तम् । ओजे गुणः ॥ ५ ॥

कर्ण—नहीं, ऐसा कभी नहीं हुआ है कि मेरे शरसंधान के लक्ष्य बन कर राजे महाराजे जीवित बच जांय । मैं कौरवों का अभीष्ट पूर्ण कर दूं यदि (मैं) युद्ध क्षेत्र में अर्जुन को पा जाऊं ॥ ५ ॥

ओ शल्यराज (सारथि) ! जहां वह अर्जुन है वहीं मेरे रथ को प्रेरित करो (ले चलो) ।

शल्य—बहुत अच्छा । (ले जाता है ।)

कर्ण—अरे, यह कैसे—

अन्योन्यशस्त्रविनिपातनिकृत्तगात्र-
योधाश्ववारणरथेषु महाहवेषु ।
क्रुद्धान्तकप्रतिमविक्रमिणो ममापि
वैधुर्यमापतति चेतसि युद्धकाले ॥ ६ ॥

भोः कष्टम् ।

पूर्वं कुन्त्यां समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः ।
युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

पुरा कदाचिदपि आहवे अनुभूतभावो हृदये प्रादुर्भवतीति शल्यं सूचयति—अन्योन्येति ।

अन्योन्यं = मिथः शस्त्राणाम्=आयुधानां विनिपातैः=प्रहारैः निकृत्तगात्राः = कर्तितविग्रहाः योधाः = सैनिकाः अश्वाः = तुरगाः वारणाः = करिणः रथाः = स्यन्दनाश्च येषु तेषु । महाहवेषु—महान्तश्च ते आहवाः तेषु = महायुद्धेषु युद्धकाले—युद्धस्य कालः तस्मिन् = रणसमये क्रुद्धान्तकप्रतिमविक्रमिणः—क्रुद्धः = कुपितः अन्तकः = यमः तस्य प्रतिमा इव प्रतिमा यस्य एतादृशः यः विक्रमः सः अस्य अस्तीति (अत इनि ठनौ इति इनि प्रत्ययः ।) तस्य = कुपितयमसदृशपराक्रमस्य ममापि = कर्णस्यापि चेतसि = मनसि वैधुर्यं—विधुरस्य भावः = दीनता आपतति = आगच्छति तन्नयुक्तमिति भावः । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् । ओजोगुणः ॥ ६ ॥

कर्णः स्वहृदयवैधुर्यकारणं निरूपयन्नाह—पूर्वं कुन्त्यामिति ।

पूर्वं = प्रथमं कुन्त्यां=पाण्डुपत्न्यां समुत्पन्नः = उत्पन्नः अहं राधेयः-राधाया अपत्यं पुमान् राधेयः (स्त्रीभ्यो ढक् इति ढकि ।) इति=इत्थं (लोके) विश्रुतः = प्रसिद्धः अतः ते युधिष्ठिरादयः = युधिष्ठिर आदिर्येषां ते = युधिष्ठिरप्रमुखाः पञ्च

युद्ध का समय उपस्थित होने पर कायरता का भाव मेरे मन में आ रहा है, जिसकी अतुल शक्ति की तुलना क्रुद्ध यमराज से हो सकती है और जो युद्धस्थल में दोनों तरफ शस्त्र-प्रहार के द्वारा अनेक योद्धाओं, घोड़ों, रथों और हाथियों के टुकड़े-टुकड़े कर डालता था ॥ ६ ॥

अरे, महान् कष्ट है ।

पहले कुन्ती से उत्पन्न होकर राधा के पुत्र के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ (इसलिए) युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव मेरे छोटे भाई हैं ॥ ७ ॥

अयं स कालः क्रमलब्धशोभनो
गुणप्रकर्षो दिवसोऽयमागतः।
निरर्थमस्त्रं च मया हि शिक्षितं
पुनश्च मातुर्वचनेन वारितः ॥ ८ ॥

भोः शल्यराज, श्रूयतां ममास्त्रस्य वृत्तान्तः।

शल्यः—ममाप्यस्ति कौतूहलमेनं वृत्तान्तं श्रोतुम्।

कर्णः—पूर्वमेवाहं जामदग्न्यस्य सकाशं गतवानस्मि।

शल्यः—ततस्ततः

पाण्डवाः–पाण्डौ जाताः (तत्र जात इति अणि।)= पाण्डुपुत्राः मे = मम (कर्णस्य) यवीयांसः = कनिष्ठाः (अतः अनुजाः पुत्रसमाः ख्याता'''इति) जानन्नपि कथं तेषां हननं मद्विधानाम् युक्तमिति भावः। अत्र दैन्यं संचारी भावः। अनुष्टुप् श्लोकः ॥ ७ ॥

अयमिति। गुणप्रकर्षः—गुणेन=प्रतीक्ष्येण गुणेन प्रकर्षः=उत्कृष्टः क्रमलब्धशोभनः–क्रमेण = दिनक्रमेण लब्धः=प्राप्तः शोभनः सुन्दरः स कालः = समयः अयं = प्रवर्तमानः दिवसः=वासरः (वा क्लीबे दिवसवासरौ। अमरः।) आगतः=सम्प्राप्तः हि = यतः मया = कर्णेन शिक्षितम् = अभ्यस्तम् अस्त्रम् = आग्नेयादिविशिष्टायुधं निरर्थम्—अर्थेभ्यः निष्क्रान्तम् अनर्थकं व्यर्थमिति भावः। पुनश्च मातुः = जनन्याः कुन्त्याः वचनेन = वचसा च वारितः = निषिद्धः। त्वया युधिष्ठिरादिषु इमान्यस्त्राणि न कदाचिदपि प्रक्षेपणीयानि। वंशस्थवृत्तम् यथा 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।' इति ॥ ८ ॥

यह समय अत्यन्त उपयुक्त और अनेक दिनों से प्रतीक्षित दिन आ गया किंतु मेरी अस्त्र-शिक्षा इस समय व्यर्थ सिद्ध होती है और माता ने मुझे मना भी किया है (कि युधिष्ठिरादि अपने छोटे भाइयों पर अस्त्र न चलाना) ॥ ८ ॥

हे शल्यराज, सुनो मेरे अस्त्रों की कथा।

शल्य—इसका वृत्तान्त सुनने का मुझे भी बड़ा कौतूहल है।

कर्ण—पहले जामदग्न्य (परशुराम) के पास गया था।

शल्य—तब फिर।

कर्णः—ततः,

विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलाप-
मुद्यत्प्रभावलयिनं परशुं दधानम्।
क्षत्रान्तकं मुनिवरं भृगुवंशकेतुं
गत्वा प्रणम्य निकटे निभृतः स्थितोऽस्मि ॥ ९ ॥

शल्यः—ततस्ततः।

कर्णः—ततो जामदग्न्येन ममाशीर्वचनं दत्त्वा पृष्टोऽस्मि। को भवान् किमर्थमिहागत इति।

राधेयः स्वस्मिन् दिव्यानाम् आयुधानां समागमनवृत्तान्तं स्मारयति शल्यं प्रति विद्युल्लतेति।

(अहं कर्णः) विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलापं—विद्युच्चासौ लता = तडित् (तडित् सौदामिनी—विद्युत्। अमरः) इव कपिलः=पिङ्गलवर्णः तुङ्गः=महान् जटायाः कलापः जटाकलापः यस्य तम् उद्यत्प्रभावलयिनं—उद्यन्ती चासौ प्रभा तस्या वलयम् अस्ति यस्य (अत इनिठनौ) तम्=प्रद्योतितच्छविपरिधिमन्तं परशुम् = आयुधविशेषं दधानं = धारयन्तं क्षत्रान्तकं—क्षत्राणामन्तकः तम् = क्षत्रिय—जातिनाशकं भृगुवंश-केतुं—भृगोर्वंशः तस्य केतुः तम् = भार्गवान्वय—श्रेष्ठं मुनिवरं—मुनिषु वरं = तपस्वि-महत्तमं पशुरामं निकटे = समीपे गत्वा = उपसृत्य प्रणम्य च निभृतः = मौनमवलम्ब्य स्थितः = उपविष्टः = अस्मि = भवामि ॥ अत्र वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ९ ॥

कर्ण—तब,

विद्युत् की लता के समान पीली और लम्बी जटा के समूह एवं प्रभा की परिधि से घिरे हुए परशु को धारण करनेवाले मुनियों में श्रेष्ठ, भृगुवंश के ध्वज और क्षत्रियों के विनाशक (परशुराम) के निकट जाकर (मैं उन्हें) प्रणाम करके चुपचाप एक तरफ खड़ा हो गया ॥ ९ ॥

शल्य—तब फिर।

कर्ण—तब परशुराम ने आशीर्वाद देकर (मुझसे) पूछा 'आप कौन हैं ? क्यों यहां आये हैं।

शल्यः—ततस्ततः ।

कर्णः—ततः भगवन् अखिलान्यस्त्राण्युपशिक्षितुमिच्छामीत्युक्तवानस्मि ।

शल्यः—ततस्ततः ।

कर्णः—तत उक्तोऽहं भगवता ब्राह्मणेषूपदेशं करिष्यामि न क्षत्रियाणामिति ।

शल्य—अस्ति खलु भगवतः क्षत्रियवंश्यैः पूर्ववैरम् । ततस्ततः ।

कर्णः—ततो नाहं क्षत्रिय इत्यस्त्रोपदेशं ग्रहीतुमारब्धं मया ।

शल्यः—ततस्ततः ।

कर्णः—ततः कतिपयकालातिक्रमे कदाचित्फलमूलसमित्कुशकुसुमाहरणाय गतवता गुरुणा सहानुगतोऽस्मि ।

शल्यः—ततस्ततः ।

कर्णः—ततः स गुरुर्वनभ्रमणपरिश्रमान्मदङ्के निद्रावशमुपगतः ।

शल्यः—ततस्ततः ।

शल्य—तब फिर ।

कर्ण—तब भगवान (मैं) समस्त अस्त्र-विद्या सीखना चाहता हूँ । ऐसा मैंने कहा ।

शल्य—तब फिर ।

कर्ण—तब भगवान ने मुझसे कहा कि मैं केवल ब्राह्मणों को ही (अस्त्रविद्या का) उपदेश देता हूँ क्षत्रियों को नहीं ।

शल्य—भगवान् को तो क्षत्रिय वंश से पुराना वैर है । तब फिर ।

कर्ण—तब मैं क्षत्रिय नहीं हूँ (ऐसा कहकर) अस्त्र का उपदेश लेना प्रारम्भ कर दिया ।

शल्य—तब फिर ।

कर्ण—तब कुछ समय बीतने पर एकबार फल, मूल, समिधा, कुश, कुसुम लाने के लिए जाते हुए गुरु के साथ मैं भी (जंगल को) गया था ।

शल्य—तब फिर ।

कर्ण—तब गुरुजी वन में भ्रमण करने के परिश्रम से (थककर) मेरी गोद में ही सो गए ।

शल्य—तब फिर ।

कर्णः—ततः

कृत्ते वज्रमुखेन नाम कृमिणा दैवान्ममोरुद्वये
निद्राच्छेदभयादसह्यत गुरोर्धैर्यात्तदा वेदना।
उत्थाय क्षतजाप्लुतः स सहसा रोषानलोद्दीपितो
बुद्ध्वा मां च शशाप कालविफलान्यस्त्राणि ते सन्त्विति॥१०॥

शल्यः—अहो कष्टमभिहितं तत्रभवता।

कर्णः—परीक्षामहे तावदस्त्रस्य वृत्तान्तम्। (तथा कृत्वा) एतान्यस्त्राणि

पूर्वं निरर्थम् अस्त्रं मया शिक्षितमिति यदुक्तं तदेव कर्णः स्पष्टयति—कृत्त इति। दैवात् = (मम) दुर्भाग्यवशात् वज्रमुखेन—वज्रवत् मुखं यस्य तेन एतन्नामकेन कृमिणा = कीटेन मम = मे (कर्णस्य) ऊरुद्वये कृत्ते = दष्टे सति तदा = तस्मिन् समये गुरोः = शिक्षकस्य (परशुरामस्य) निद्राच्छेदः-निद्रायाः = शयनस्य छेदः = भंगः तस्य भयं तस्मात् = शयनभंगभीतेः धैर्यात् = क्षत्रियत्वदार्ढ्येन तद् वेदना असह्यत = सोढा। क्षतजाप्लुतः—क्षताज्जातं तेन आप्लुतः = रुधिराप्लुतः स महर्षिः परशुरामः उत्थाय = निद्रामुन्मुच्य सहसा = झटिति (द्राक्) रोषानलोद्दीपितः—रोष एव अनलः अग्निः तेनोद्दीपितः = क्रोधवह्निवर्धितः माम् (कर्णम्) बुद्ध्वा = क्षत्रियोऽयमिति ज्ञात्वा ते = तव (कर्णस्य) अस्त्राणि = आयुधानि यानि मया (परशुरामेण) शिक्षितानि तानि कालविफलानि काले = प्रयोगसमये विफलानि = फलरहितानि विस्मृतानि सन्तु = भवन्तु इति = एवं शशाप = शापं ददौ। अतएव इदानीं तानि विस्मृतानि। अत्र शार्दूलविक्रीडितम् इति॥ १०॥

कर्ण—तब,

(मेरे) अभाग्यवश वज्रमुख नामक कीड़े ने मेरे जंघों में काट लिया पर (उसपर) सोए हुए गुरु के निद्राभंग के भय से मैंने उस पीड़ा को धैर्यपूर्वक सह लिया। रक्त से भींगे हुए वे उठकर बैठ गये तथा उनकी क्रोधाग्नि धधक उठी और क्रुद्ध होकर मुझे उन्होंने शाप दिया कि 'युद्धकाल में तुम्हारे अस्त्र विफल हो जाँय॥ १०॥

शल्य—अरे, बड़ी कष्टकर बात उन्होंने कही।

कर्ण—तब तो मैं अपने अस्त्रों की कथा की परीक्षा करता हूँ। (वैसा करके)

निर्वीर्याणीव लक्ष्यन्ते । अपि च ।

> इमे हि दैन्येन निमीलितेक्षणा
>
> मुहुः स्खलन्तो विवशास्तुरङ्गमाः ।
>
> गजाश्च सप्तच्छदपानगन्धिनो
>
> निवेदयन्तीव रणे निवर्तनम् ॥ ११ ॥

शङ्खदुन्दुभयश्च निःशब्दाः ।

शल्यः—भोः कष्टं किं नु खल्विदम् ।

कर्णः—शल्यराज ! अलमलं विषादेन ।

इदानीमन्यानि यानि लक्षणानि दृश्यन्ते तेभ्यः न ममाभीष्टसिद्धिः स्फुरति इति सूचयति—इमे हीति ।

हि = यतः दैन्येन—दीनतायाः भावः दैन्यं (गुणवचनत्वात् ष्यञ्) तेन = कातरतया निमीलितेक्षणाः (नि + मिल सङ्गमे + निष्ठाक्तप्रत्यये) निमीलितानि ईक्षणानि येषां ते = सम्पुटित-(निद्रित)-नेत्राः अतएव मुहुः = भूयोभूयः स्खलन्तः = भ्रश्यन्तः विवशाः = विगतं वशं = स्वच्छन्दता येषां ते = पराधीनाः इमे = पुरतो वर्तमानाः तुरङ्गमाः तुरं = शीघ्रं गच्छन्तीति = घोटकाः । सप्तच्छद-दानगन्धिनः-सप्तच्छदस्य इव दानस्य गन्धः स एषां ते = सप्तपर्णगन्ध-मदस्राविणः गजाः = करिणश्च रणे = संग्रामे निवर्त्तनं = परावर्तनं निवेदयन्ति = प्रकटयन्ति एव । अत्र वर्तमानाः तुरगाः करिणश्च रणान्निवर्तनमेव वाञ्छन्तीति भावः । अत्र वंशस्थवृत्तम् ॥ ११ ॥

ये अस्त्र भी निःशक्त से दिखाई पड़ते हैं । और भी,

ये दीनभावापन्न विवश से घोड़े अपनी आंखों को बन्द करके बारम्बार ठोकर खा रहे हैं । सप्तच्छद के समान मदधारा की गन्ध से युक्त ये मस्त गजराज भी (दीन होकर) जैसे रणस्थल से लौट चलने का निवेदन कर रहे हैं ॥ ११ ॥

शङ्ख और दुन्दुभी भी निश्शब्द हो गए हैं ।

शल्य—बड़ा कष्ट है यह सब क्या है ।

कर्ण—शल्यराज ! विषाद करना व्यर्थ है ।

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः ।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥ १२ ॥

अपि च

इमे हि युद्धेष्वनिवर्तिताशा
हयाः सुपर्णेन समानवेगाः ।
श्रीमत्सु काम्बोजकुलेषु जाताः
रक्षन्तु मां यद्यपि रक्षितव्यम् ॥ १३ ॥

अक्षयोऽस्तु गोब्राह्मणानाम् । अक्षयोऽस्तु पतिव्रतानाम् । अक्षयोऽस्तु

हत इति । रणे = संग्रामे हतोऽपि = पञ्चत्वंगतोऽपि स्वर्गं=स्वर्गलोकं लभते = प्राप्नोति जित्वा = रणं विजित्य तु यशः = कीर्तिः लभते = आदत्ते लोके = भुवने (लोकस्तु भुवने जने । इत्यमरः ।) उभे = स्वर्गयशसी बहुमते = दुर्लभे अतः कदाचिदपि रणे निष्फलता = व्यर्थता नास्ति = न वर्तते ॥ १२ ॥

इम इति । हि=यतः युद्धेष्वनिवर्तिताशा-युद्धेषु=संग्रामेषु अनिवर्तिता आशा यैस्ते=अत्याजिताभिलाषाः सुपर्णेन = गरुत्मता समानवेगाः-समानो वेगो येषां ते= तुल्यरयाः इमे = संग्रामे वर्तमानाः हयाः = अश्वाः श्रीमत्सु-श्रीः अस्ति एषां ते तेषु = लक्ष्मीयुक्तेषु काम्बोजकुलेषु = कम्बोजे जाताः तेषां कुलानि तेषु = कम्बोज देशोत्पन्नवंशेषु (काबुलीति लोके प्रसिद्धिः ।) जाताः = प्रादुर्भूताः यद्यपि मया रक्षितुं योग्यं तथापि ते इदानीं माम् (राधेयं) रक्षन्तु = रक्षां कुर्वन्तु । अत्र 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।' तथा 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।' इत्यनयोरुपजातिः ॥ १३ ॥

संग्राम में मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्त होता है और जीतने पर यश मिलता है, अतः लोक में दोनों ही अधिक माननीय माने जाते हैं इससे युद्ध करने में निष्फलता नहीं है ॥ १२ ॥

और भी—

युद्ध में अभिलाष रखनेवाले, गरुड़ के समान वेगशाली शोभायुक्त काबुली घोड़ों की जाती के ये घोड़े, जिनकी रक्षा मुझे करनी चाहिये, मेरी रक्षा करें ॥१३॥

गो ब्राह्मणों का कल्याण हो । सती स्त्रियों का कल्याण हो । रण में पीठ न

रणेष्वपराङ्मुखानां योधपुरुषाणाम् । अक्षयोऽस्तु मम प्राप्तकालस्य एष भोः प्रसन्नोऽस्मि ।

समरमुखमसह्यं पाण्डवानां प्रविश्य
प्रथितगुणगणाढ्यं धर्मराजं च बद्ध्वा ।
मम शरवरवेगैरर्जुनं पातयित्वा
वनमिव हतसिंहं सुप्रवेशं करोमि ॥ १४ ॥

गोब्राह्मणानाम्—गावश्च ब्राह्मणाश्च तेषां = धेनुभूदेवानाम् अक्षयोऽस्तु—न क्षयः—क्षतिरहितः कल्याणमिति यावत् अस्तु = भूयात् । पतिव्रतानां = पतिधर्मपरायणानामङ्गनानाम् । रणेष्वपराङ्मुखानां—रणेषु = संग्रामेषु अपराङ्मुखानां—न पराङ्मुखाः तेषाम् अपृष्ठदर्शिनां योधपुरुषाणां—युध्यन्ते इति योधाः ते च ते पुरुषाः तेषां = प्रतिभटानां प्राप्तकालस्य—प्राप्तः कालः यस्य तस्य = लब्धावसरस्य मम = कर्णस्य अक्षयः = कल्याणम् अस्तु = भूयात् ।

इदानीं चिकीर्षितं निर्दिशति कर्णः—समरमुखमिति । पाण्डवानां—पाण्डोर्भवाः, जाताः तेषां = पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनामित्यर्थः । असह्यम् = सोढुमशक्यम् समरमुखं—समरस्य मुखं = रणस्थलं (अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहावित्यमरः ।) प्रविश्य = प्रवेशं विधाय तत्र गत्वेत्यर्थः । प्रथितगुणगणाढ्यं—प्रथितेन = प्रसिद्धेन गुणगणेन = गुणसंहत्या (गणः स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दमित्यमरः ।) आढ्यः = युक्तः तम् धर्मराजं—धर्माणां राजा तम् = धर्मपुत्रं युधिष्ठिरं बद्ध्वा = पाशैः संयोज्य किं च मम = कर्णस्य शरवरवेगैः = शरेषु वराः बाणश्रेष्ठाः तेषां वेगाः = प्रवाहास्तैः (वेगः प्रवाहजवयोरपि । अमरः) अर्जुनम् एतन्नामानं पाण्डवं पातयित्वा = विनाश्य हतसिंहं हतः । सिंहः यस्मिन् तत् (हिंसार्थकस्य हन् धातो निष्ठाप्रत्यये नकारस्य अनुदात्तोपदेशवनतीत्यादिना लोपे हत इति ।) = विनष्टमृगपतिं वनमिव = अरण्यमिव

दिखाने वाले वीर योद्धाओं का कल्याण हो । मुझ, सुअवसर प्राप्त किये हुये का भी कल्याण हो । अब मैं प्रसन्न हूँ ।

कठिन पाण्डवों के रण की सीमा में प्रवेश करके अत्यन्त प्रसिद्ध गुणों वाले धर्मराज (युधिष्ठिर) को बांध कर अपने तीव्र एवं प्रखर बाणों से अर्जुन को गिराकर (मारकर) [उस दुर्गम पाण्डवों की सेना को] भयानक सिंह के मर जाने पर सुगम (निरापद) जङ्गल की भांति बना दूंगा ॥ १४ ॥

शल्यराज ! यावद्रथमारोहावः ।

शल्यः—बाढम् ।

(उभौ रथरोहणं नाटयतः ।)

कर्णः—शल्यराज ! यत्रासावर्जुनस्तत्रैव चोद्यतां मम रथः ।

(नेपथ्ये)

भो कण्ण ! महत्तरं भिक्खं याचेमि । [भोः कर्ण ! महत्तरां भिक्षां याचे ।]

कर्णः—(आकर्ण्य) अये वीर्यवान् शब्दः ।

श्रीमानेष न केवलं द्विजवरो यस्मात्प्रभावो महा-
नाकर्ण्य स्वरमस्य धीरनिनदं चित्रार्पिताङ्गा इव ।

(अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम् । अमरः) सुप्रवेशं = सुखेन प्रवेशयोग्यं करोमि = विदधामि । वीरान् पातयित्वा सुलभमार्गं करोमीति भावः । मालिनीवृत्तम् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १४ ॥

वीर्यवान् = ओजस्वी गम्भीर इति ।

भिक्षुयाचितं शब्दं श्रुत्वा सा वाक् ओजस्विनीति कर्णः निरूपयन्नाह—श्रीमानिति । एषः = याचकः शब्दोच्चारणकर्त्ता केवलम् = एकमात्रं द्विजवरः=ब्राह्मणश्रेष्ठः न अपितु श्रीमान्—श्रीः अस्ति यस्य = शोभायुक्तः यस्मात् = द्विज-वचनात् महान्=व्यापकः प्रभावः = इदं माहात्म्यम् अस्य = याचकस्य धीरनिनदं—धीरो

शल्यराज ! तो रथ पर हम लोग चढ़ें ।

शल्य—बहुत अच्छा ।

(दोनों रथ पर चढ़ने का नाट्य करते हैं ।)

कर्ण—शल्यराज ! जहां वह अर्जुन है वहीं मेरे रथ को ले चलो ।

(नेपथ्य में)

हे कर्ण ! मैं बहुत बड़ी भिक्षा माँगता हूँ ।

कर्ण—(सुनकर) अरे, यह तो बड़ा तेजस्वी शब्द है ।

यह केवल साधारण ब्राह्मण नहीं अपितु कोई ऐश्वर्यवान् व्यक्ति है जिसके गम्भीर घोष को सुनकर उसके प्रभाव से मेरे चलते हुये घोड़े, कान खड़े करके,

उत्कर्णस्तिमिताञ्चिताक्षवलितग्रीवार्पिताग्रानना-
स्तिष्ठन्त्यस्ववशांगयष्टि सहसा यान्तो ममैते हयाः ॥ १५ ॥

आहूयतां स विप्रः । न न । अहमेवाह्वयामि । भगवन्नित इतः ।

(ततः प्रविशति ब्राह्मणरूपेण शक्रः ।)

शक्रः—भो मेघाः सूर्येणैव निवर्त्य गच्छन्तु भवन्तः । (कर्णमुपगम्य) भो कण्ण ! महत्तरं भिक्खं याचेमि । [भोः कर्ण ! महत्तरां भिक्षां याचे ।]

निनदो यस्मिन् स तं=गम्भीरघोषं स्वरं=वाचम् आकर्ण्य=श्रुत्वा मम=कर्णस्य एते=प्रस्थिताः हयाः = तुरगाः उत्कर्णस्तिमिता०—उत्कर्णाः—उद्गताः कर्णाः येषां ते = उत्थितश्रवणाः स्तिमिताञ्चिताक्षाः—स्तिमितानि=निमीलितानि अञ्चितानि = शोभनानि च अक्षीणि=नेत्राणि येषां ते, वलितायां=भुग्नायां ग्रीवायां=शिरोधरायां अर्पितानि = दत्तानि अग्राननानि = मुखाग्रभागा येषां ते उत्कर्णाश्च ते, स्तिमिताञ्चिताक्षाश्च ते, वलितग्रीवार्पिताननाश्च (अत्र कर्मधारय-बहुव्रीहिसमासद्वयम् ।) अस्ववशांगयष्टि—स्ववशा न भवति इति अस्ववशा अङ्गयष्टिः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा (बहुव्रीहिसमासः)=पराधीनशरीरं सहसा = झटिति यान्तः = गच्छन्तः चित्रार्पिताङ्गा इव—चित्रे = चित्रफलके अर्पितानि = दत्तानि अङ्गानि = शरीराणि येषां ते = चित्रलिखिता इव तिष्ठन्ति=गमनप्रतिनिवृत्ताः सन्ति । आगन्तुकस्यास्य याचकस्य वाचः प्रभावादेव इमे मे तुरगाः चित्रे निवेशिता इव जाता इति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् । अत्युक्तिगर्भितोपमालङ्कारः ॥ १५ ॥

भगवन् = भग ऐश्वर्यमस्ति अस्य तत्संबुद्धौ अयि ऐश्वर्यवन् !

निर्निमेष दृष्टि से गर्दन टेढ़ी करके उसी ओर देखते हुए यकायक रुक गये जैसे चित्र लिखित हों और उनका अपने शरीर पर कुछ वश ही नहीं रह गया हो ॥१५॥

इस ब्राह्मण को बुलाओ । नहीं नहीं । मैं ही बुलाता हूँ । श्रीमान् ! इधर आइये इधर ।

[तब ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र आते हैं ।]

शक्र—हे मेघ ! सूर्य के साथ तुम सब चले जाओ । (कर्ण के समीप जाकर) हे कर्ण ! बहुत बड़ी भिक्षा माँग रहा हूँ ।

कर्णः—दृढं प्रीतोऽस्मि भगवन्!

यातः कृतार्थगणनामहमद्य लोके
राजेन्द्रमौलिमणिरञ्जितपादपद्मः।
विप्रेन्द्रपादरजसा तु पवित्रमौलिः
कर्णो भवन्तमहमेष नमस्करोमि ॥ १६ ॥

शक्रः—(आत्मगतम्) किं नु खलु मया वक्तव्यं, यदि दीर्घायुर्भवेति वक्ष्ये दीर्घायुर्भविष्यति। यदि न वक्ष्ये मूढ इति मां परिभवति। तस्मादुभयं परिहृत्य किं नु खलु वक्ष्यामि। भवतु दृष्टम्। (प्रकाशम्) भो कण्ण! सुय्ये विअ, चन्दे विअ, हिमवन्ते विअ, सागळे विअ,

---

इदानीं विप्रदर्शनेन तस्य आशीर्वादलाभेन च आत्मानं कृतकृत्यं मन्यते कर्णः कथयति च—यात इति।

अद्य = इदानीं लोके = भुवने (लोकस्तु भुवने जने·इत्यमरः।) राजेन्द्रमौलिमणिरञ्जितपादपद्मः—राजेन्द्राणां = भूपतीनां मौलौ = शिरसि ये मणयः = रत्नानि तैः रंजितं = सुशोभितं पादपद्मं = चरणाब्जं यस्य स एवंभूतः कृतार्थगणनां—कृतः अर्थः यैस्ते तेषां कृतकृत्यार्थानां जनानां गणना संख्यानम् अहं = कर्णः यातः = प्राप्तः। तु = किन्तु (इदानीं) विप्रेन्द्रपादरजसा विप्रेषु इन्द्राः तेषां पादाः तेषां रजः तेन = भूसुरचरणरेणुना पवित्रमौलिः—पवित्रो मौलिः यस्य सः = पूतमस्तकः एषः = तव पुरतः स्थितः कर्णः = राधेयः भवन्तं=विप्रं याचकम् अहं नमस्करोमि = प्रणमामि। वसन्ततिलका वृत्तम्। छेकानुप्रासश्च ॥ १६ ॥

कर्ण—हे ऐश्वर्यवन्! मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

अनेक प्रतापी महाराजाओं के मणिमय मुकुट से जिसका चरण कमल शोभित होता है (अर्थात् अनेक राजे-महाराजे जिसके चरणों पर झुकते हैं) वह कर्ण आज ब्राह्मणश्रेष्ठ के चरणों की धूलि से पवित्र मस्तकवाला संसार में कृतार्थ होकर आपको नमस्कार करता है ॥ १६ ॥

शक्र—(अपने मन में) अब मुझे क्या कहना चाहिए, यदि दीर्घायु हो ऐसा कहते हैं तो चिरंजीवी होगा, यदि नहीं कहते हैं तो मुझे मूर्ख समझेगा। तो

चिट्ठदु दे जसो। [भो कर्ण ! सूर्य इव, चन्द्र इव, हिमवान् इव, सागर इव तिष्ठतु ते यशः ।]

कर्णः—भगवन् ! किं न वक्तव्यं दीर्घायुर्भवेति। अथवा एतदेव शोभनम्। कुतः—

धर्मो हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः ।
तस्मात्प्रजापालनमात्रबुद्ध्या हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते ॥ १७ ॥

भगवन् , किमिच्छसि । किमहं ददामि ।

शक्रः—महत्तरं भिक्खं याचेमि । [महत्तरां भिक्षां याचे ।]

कर्णः—महत्तरां भिक्षां भवते प्रदास्ये । श्रूयन्तां मद्विभवाः ।

यद् ब्राह्मणेन आशीर्वचनं दत्तं मया तदेव शोभनमिति स्पष्टयति—धर्मो हीति ।

हि = यतः पुरुषेण = मानवेन धर्मः = शास्त्रोक्तं कर्तव्यं कर्म यत्नैः = स्वोद्योगैः साध्यः = कर्तव्यः नृपश्रियः—नृपाणां श्रियः = राजलक्ष्म्यः भुजङ्गजिह्वाचपलाः—भुजङ्गानां जिह्वा इव चपलाः = फणिनां रसना इव चञ्चलाः तस्मात् = तस्मात् कारणात् हतेषु = नष्टेषु देहेषु = विग्रहेषु प्रजापालनमात्रबुद्ध्या— प्रजायाः पालनं तन्मात्रा बुद्धिः तया = जनरक्षणमात्रमत्या गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः धरन्ते (धृ + लट् + झोऽन्तादेशः) = तिष्ठन्ति । उपजातिवृत्तम् ॥ १७ ॥

दोनो को छोड़कर मैं क्या कहूँ। अच्छा देखा। (प्रकाश में) हे कर्ण ! सूर्यकी भाँति, चन्द्र, हिमवान् एवं सागर की भाँति तुम्हारा यश हो।

कर्ण—भगवन्। 'दीर्घायु हो' ऐसा क्यों नहीं कहा। अथवा यही अति सुन्दर है। क्योंकि,

केवल धर्म ही मनुष्य के द्वारा यत्नपूर्वक साध्य है। राजलक्ष्मी तो सर्प की जिह्वा की भाँति चञ्चल हैं इसलिए प्रजा का पालन करने वाला अपने शरीरपात के बाद केवल यश से ही जीवित रहता है ॥ १७ ॥

भगवन् ! क्या चाहते हैं ? क्या दूँ ?

शक्र—बहुत बड़ा भिक्षा चाहता हूँ।

कर्ण—आपको बहुत बड़ी भिक्षा दी जाएगी। मेरा ऐश्वर्य सुनिए।

गुणवदमृतकल्पक्षीरधाराभिवर्षि
द्विजवर! रुचितं ते तृप्तवत्सानुयात्रम्।
तरुणमधिकमर्थिप्रार्थनीयं पवित्रं
विहितकनकश्रृङ्गं गोसहस्रं ददामि ॥ १८ ॥

शक्रः—गोसहस्सं त्ति। मुहुत्तअं खिरं पिबामि। णेच्छामि कण्ण! णेच्छामि। [गोसहस्रमिति। मुहूर्तकं क्षीरं पिबामि। नेच्छामि कर्ण! नेच्छामि!]

कर्णः—किं नेच्छति भवान्। इदमपि श्रूयताम्।

रवितुरगसमानं साधनं राजलक्ष्म्याः

विभवाः = ऐश्वर्याणि।

गुणवदिति। हे द्विजवर-द्विजेषु वरः तत् सम्बुद्धौ=ब्राह्मणश्रेष्ठ। अहं=कर्णः गुणवदमृतकल्पक्षीरधाराभिवर्षि—गुणवतां=गुणयुक्तानाम् अमृतकल्पानां=पीयूषतुल्यानां क्षीराणां = दुग्धानां धारा=प्रस्रवणं तामभिवर्षितुं शीलमस्येति गुणवदमृतकल्पक्षीरधाराभिवर्षि तृप्तवत्सानुयात्रं—तृप्तानां वत्सानाम् अनुयात्रा यस्य तत् = दुग्धतृप्तवत्सानुगतं तरुणं = युवानम् अधिकं=विशेषम् अर्थिप्रार्थनीयम्—अर्थिनां=याचकानां प्रार्थनीयं = प्रार्थनायोग्यं = याचकयाचितम् विहितकनकश्रृङ्गं = विहितानि कनकानां श्रृङ्गाणि यस्मिन् तत् = कृतसुवर्णश्रृङ्गं पवित्रं = जरादिदोषरहितं रुचितं = रुचिकरं गोसहस्रं—गवां = धेनूनां सहस्रं = दशशतसंख्याकं ते = तुभ्यं ददामि = समर्पयामि। मालिनी वृत्तम् ॥ १८ ॥

इदानीमन्यद् देयवस्तु प्रतिपादयति कर्णः-रवीति।

रवितुरगसमानं—रवेः तुरगाः तेषां समानं = सूर्याश्वतुल्यं राजलक्ष्म्याः—

ओ ब्राह्मण श्रेष्ठ यदि तुम्हे पसन्द हो तो, जिनके सींघ का ऊपरी भाग स्वर्ण मण्डित है, जो स्वस्थ सुन्दर और युवती हैं, अमृत के तुल्य मधुर दुग्ध की धारा बहानेवाली, सन्तुष्ट बछड़ों के साथ, पवित्र तथा अन्य धन-धन्य सहित मैं (तुम्हे) हजारों गाएँ दे सकता हूँ ॥ १८ ॥

शक्र—हजार गाएँ! कुछ समय तक दूध पिऊँगा। नहीं चाहता, कर्ण नहीं चाहता।

कर्ण—क्या आप नहीं चाहते। इसे भी सुनिए—

सूर्य के घोड़ों के सदृश, राजश्री के साधनभूत, अनेक राजाओं से प्रशंसित,

सकलनृपतिमान्यं मान्यकाम्बोजजातम्।
सुगुणमनिलवेगं युद्धदृष्टापदानं
सपदि बहुसहस्रं वाजिनां ते ददामि॥ १९॥

शक्रः—अस्स त्ति। मुहुत्तअं आळुहामि। णेच्छामि कण्ण! णेच्छामि।
[अश्व इति। मुहूर्तकमारोहामि। नेच्छामि कर्ण! नेच्छामि।]

कर्णः—किं नेच्छति भगवान्। अन्यदपि श्रूयताम्।

मदसरितकपोलं षट्पदैः सेव्यमानं
गिरिवरनिचयाभं मेघगम्भीरघोषम्।

राज्ञां लक्ष्मीः तस्याः = नृपश्रियः साधनं = करणम् सकलनृपतिमान्यं—सकलानां = सर्वेषां नृपतीनां = राज्ञां मान्यं = माननीयं मान्यकाम्बोजजातम्—मान्येषु = आदरणीयेषु काम्बोजेषु=कम्बोज (काबुल इति लोके) देशोद्भवेषु जातम् = उत्पन्नं सुगुणं सु शोभनाः गुणाः यस्मिन् तत् = समीचीनगुणयुक्तम् अनिलवेगं—अनिलस्य वेग इव वेगः यस्मिन् तत = वायुजवम् युद्धदृष्टपदानं—युद्धेषु दृष्टानि अपदानानि यस्मिन् तत् = आहवदृष्टपराक्रमादिकर्मवृत्तम् वाजिनां = तुरगाणां बहुसहस्रम् = अनेकसहस्रसंख्याकं सपदि = सद्यः ते = तुभ्यं (याचकाय) ददामि = दानं करोमि। अत्रापि मालिनीवृत्तम्॥ १९॥

मदेति। मदसरितकपोलं मदेन=दानेन (गण्डः कटो मदो दानम्। अमरः।) सरिताः = दिग्धाः कपोला यस्मिन् तत्=दानसिक्तगण्डस्थलम् अतएव षट्पदैः = भ्रमरैः (द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः। अमरः।) सेव्यमानं = युक्तं गिरिवरनिचयाभं—गिरिवराणां = पर्वतश्रेष्ठानां निचयाः = पुञ्जाः तेषाम् आभा इव आभा यस्मिन् तत, मेघगम्भीरघोषम्—मेघः = जलदः इव गम्भीरः = ओजस्वी

उत्तम काबुली जाति के, अद्भुतगुणों से युक्त अनिल के समान तीव्र वेगवाले, तथा युद्धक्षेत्र में जिनकी वीरता देखी जा चुकी है ऐसे हजारों घोड़े मैं तुरन्त दे दूँगा॥ १९॥

शक्र—घोड़े। थोड़े समय तक चढ़ूंगा। नहीं चाहता कर्ण! नहीं चाहता।

कर्ण—क्या नहीं चाहते आप? अच्छा दूसरा सुनिए।

मद की नदियां जिनके कपोलों से वह रही हैं और भ्रमर मँडरा रहे हैं। गिरि-समूह के समान जिनकी शोभा है, जो मेघ के समान गम्भीर घोष वाले, श्वेत

सितनखदशनानां वारणानामनेकं
रिपुसमरविमर्दं वृन्दमेतद्ददामि ॥ २० ॥

शक्रः— गअ त्ति। मुहुत्तअं आलुहामि। णेच्छामि कण्ण ! णेच्छामि [गज इति। मुहूर्तकमारोहामि। नेच्छामि कर्ण ! नेच्छामि।]

कर्णः—किं नेच्छति भवान्। अन्यदपि श्रूयताम्। अपर्याप्तं कनकं ददामि।

शक्रः—गह्णिअ गच्छामि। (किंचिद्गत्वा) णेच्छामि कण्ण! णेच्छामि। (गृहीत्वा गच्छामि। नेच्छामि कर्ण! नेच्छामि।)

कर्णः—तेन हि जित्वा पृथिवीं ददामि।

शक्रः—पुहुवीए किं करिस्सम्। [पृथिव्या किं करिष्यामि।]

कर्णः—तेन ह्यग्निष्टोमफलं ददामि।

घोषः = स्वरः यस्मिन् तत् सितनखदशनानां—सिताः = शुभ्राः नखा दशनाश्च येषां तेषां = स्वच्छकरजदन्तानां वारणानां = गजानां रिपुसमरविमर्द—रिपूणां = शत्रूणां समरे = संग्रामे विमर्दं = विमर्दकारकं विमर्दयति विमर्दम् पचाद्यच्।) एतत् = इदम् अनेकं = बहु वृन्दं = समूहं ददामि = दानं करोमि। मालिनी वृत्तम् ॥ २० ॥

अग्निष्टोमफलं = वैतानिकेऽग्नौ साध्यः स्वर्गफलकः मर्त्यलोकोत्पन्नवेदविद्भिः अवश्यमाचरणीयो वेदोक्तः अग्निष्टोमनामको यज्ञः स्वकर्तृकः तस्य फलं ददामि = दातुमिच्छामि।

नख और दांत से युक्त तथा युद्धभूमि में अनेक शत्रुओं को विनष्ट करने वाले अनेक हाथियों का समूह (तुम्हें) दूँगा ॥ २० ॥

शक्र—गज ! थोड़े समय तक चढ़ूँगा। नहीं चाहता कर्ण ? नहीं चाहता।

कर्ण—क्या आप इसे भी नहीं चाहते। और भी सुनो। अतुल स्वर्ण दूँगा।

शक्र – लेकर चला जाऊँगा। (कुछ दूर जाकर) नहीं चाहता कर्ण! नहीं चाहता।

कर्ण—तो भूमि को जीतकर दूँगा।

शक्र—पृथ्वी लेकर क्या करूँगा ?

कर्ण—तो अग्निष्टोम (यज्ञ) का फल दूँगा।

शक्रः—अग्निट्ठोमफळेण किं कय्यं। [अग्निष्टोमफलेन किं कार्यम्।]

कर्णः—तेण हि मच्छिरो ददामि। [तेन हि मच्छिरो ददामि।]

शक्रः—अविहा अविहा। [अविहा अविहा।]

कर्णः—न भेतव्यं न भेतव्यम्। प्रसीदतु भवान्। अन्यदपि श्रूयताम्।

अङ्गैः सहैव जनितं मम देहरक्षा
देवासुरैरपि न भेद्यमिदं सहास्त्रैः।
देयं तथापि कवचं सह कुण्डलाभ्यां
प्रीत्या मया भगवते रुचितं यदि स्यात् ॥ २१ ॥

कर्णः विप्राय भिक्षवे अभिलषिते कवचकुण्डले दातुं प्रतिश्रृणोति—अङ्गैः सहेति। (यद्यपि) अङ्गैः = गात्रैः सहैव = सार्धमेव जनितम् = प्रादुर्भूतम् (अनेन) मम = कर्णस्य देहरक्षा—देहस्य रक्षा (षष्ठी समासः) = शरीरसंरक्षणं (भवति)। इदं = कवचं सहास्त्रैः—अस्त्रैः सार्धम् = आयुधयुक्तैः देवासुरैरपि—देवाश्च असुराश्च तैः (द्वन्द्वसमासः) = अमरदानवैरपि न भेद्यम् न भेत्तुं योग्यं = नहि खण्डनीयमित्यर्थः। तथापि कुण्डलाभ्यां सह = कर्णाभरणाभ्यां सार्कं कवचं = वर्म (तनुत्रं वर्म दशनम्। उरच्छदः कंकटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्। अमरः।) यदि = चेत् भगवते = ब्राह्मणाय रुचितम् = अभिलषितं स्यात् = भवतु (तर्हि) मया = कर्णेन प्रीत्या = प्रसन्नतया देयं = दातुं योग्यम्। यद्यप्यनेन कवचेन ममाङ्गरक्षा भवति तथापि तवाभीष्टं चेत् तर्हि ददामीति भावः। अत्र वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २१ ॥

शक्र—अग्निष्टोम का फल लेकर क्या होगा।

कर्ण—तो अपना शिर दूँगा।

शक्र—ईश्वर रक्षा करे, रक्षा करे।

कर्ण—न डरिए, न डरिए। आप प्रसन्न हों। और भी सुनिए।

अंगों के साथ ही मेरे शरीर रक्षा के लिए हजारों अस्त्रों से देवता और दानवों से भी अभेद्य यह (कवच) है। यदि आपको ईप्सित हो तो मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने कवच के साथ कुण्डल को भी आपको दे दूँ ॥ २१ ॥

शक्रः—(सहर्षम् ।) देदु, देदु । [ददातु, ददातु ।]

कर्णः—(आत्मगतम्) एष एवास्य कामः किं नु खल्वनेककपटबुद्धेः कृष्णस्योपायः । सोऽपि भवतु । धिगयुक्तमनुशोचितुम् । नास्ति संशयः । (प्रकाशम्) गृह्यताम् ।

शल्यः—अङ्गराज ! न दातव्यं न दातव्यम् ।

कर्णः—शल्यराज ! अलमलं वारयितुम् । पश्य

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः ।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥ २२ ॥

शल्यराजेन वारितोऽपि दानस्यैव माहात्म्यं प्रतिपादयति कर्णः–शिक्षेति । कालपर्ययात्—कालस्य पर्ययः तस्मात् = समयपरिवर्तनात् शिक्षा = विद्यार्जनं क्षयं = नाशं गच्छति = याति प्राप्नोतीति भावः । सुबद्धमूलाः = शोभनं बद्धं मूलं येषां ते सुदृढबुध्नाः (मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः । अमरः ।) निपतन्ति (नि + पत् + लट् प्रथमपुरुषबहुवचने) = विशीर्णाः भवन्ति । जलस्थानगतं—जलस्य स्थानं तस्मिन् गतं = जलाशयस्थं जलं = नीरं च शुष्यति = शुष्कतां याति । किन्तु यत् हुतम् = अग्नौ प्रक्षिप्तं यच्च दत्तं = सत्पात्रे प्रतिपादितं तत् तथैव = अविकृतमेव तिष्ठति अत इदं दानमेव प्रशस्तमिति भावः । वंशस्थवृत्तम् ॥ २२ ॥

शक्र—(प्रसन्नतापूर्वक) दीजिए, दीजिए ।

कर्ण—(मन में) यही इसका मतलब था । अवश्य ही यह अनेक कपट-व्यवहार में रत बुद्धि वाले कृष्ण का ही उपाय है । वह भी हो । धिक्कार है, यह मैंने अनुचित विचार किया । कोई संशय नहीं । (प्रकाश में) लीजिए ।

शल्यराज—अङ्गराज ! न दीजिए न दीजिए ।

कर्ण—शल्यराज ! बस, अब मत रोको । देखो,

समय बीतने पर उपार्जित विद्या भी नष्ट हो जाती है और मजबूत जड़ वाले वृक्ष भी गिर पड़ते हैं, जल भी सरोवर में जाकर (गर्मी आने पर) सूख जाता है किन्तु जो हवनादि किया हुआ पदार्थ या दान में दिया हुआ है वह ज्यों का त्यों बना रहता है, अर्थात् पुण्य का नाश नहीं होता ॥ २२ ॥

तस्मात् गृह्यताम् । (निकृत्य ददाति ।)

शक्रः—(गृहीत्वा, आत्मगतम् ।) हन्त गृहीते एते । पूर्वमेवा (हम् ?)ऽर्जुनविजयार्थं सर्वदेवैर्यत् समर्थितं तदिदानीं मयानुष्ठितम् । तस्मादहमप्यैरावतमारुह्यार्जुनकर्णयोर्द्वन्द्वयुद्धं पश्यामि । (निष्क्रान्तः ।)

शल्यः—भो अङ्गराज ! वञ्चितः खलु भवान् ।

कर्णः—केन ।

शल्यः—शक्रेण ।

कर्णः—न खलु । शक्रः खलु मया वञ्चितः ! कुतः,

अनेकयज्ञाहुतितर्पितो द्विजैः
किरीटवान् दानवसंघमर्दनः ।
सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलि-
र्मया कृतार्थः खलु पाकशासनः ॥ २३ ॥

अनेकेति । द्विजैः = ब्राह्मणक्षत्रियविड्भिः अनेकयज्ञाहुतितर्पितः—अनेके च ते यज्ञाः तेषु या आहुतयः ताभिः तर्पितः=असंख्यमखाहुत्याप्यायितः किरीटवान्—किरीटम् अस्ति अस्य = किरीटवान् = मुकुटवान् दानवसंघमर्दनः—दानवानां संघास्तान् मर्दयतीति = दैत्यनिकरनाशकः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिः—द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबतीति द्विपः सुरस्य द्विपः ऐरावतस्तस्य आस्फालनानि संचालनानि

इसलिए लीजिये । (निकाल कर देता है ।)

शक्र—(लेकर अपने मन में) ओह ! यह ले लिया गया । पहले ही मैंने अर्जुन की विजय के लिए जो सब देवताओं से प्रतिज्ञा की थी वह आज मैंने कर लिया । अतएव अब मैं ऐरावत पर चढ़ कर कर्ण और अर्जुन के युद्ध को देखूंगा ।

(चला जाता है ।)

शल्य— हे अङ्गराज ! आप ठग लिए गए

कर्ण—किसके द्वारा ?

शल्य – इन्द्र से ।

कर्ण—नहीं, इन्द्र ही मुझसे ठगा गया क्योंकि—

ब्राह्मणों के अनेक यज्ञों के फल से तृप्त हुआ, दानवों के समूह का विनाशक, मुकुट को धारण करने वाला और ऐरावत को थपथपाने से कठोर अङ्गुलियों वाला इन्द्र (आज) अवश्य ही मेरे द्वारा उपकृत हुआ ॥ २३ ॥

(प्रविश्य ब्राह्मणरूपेण)

देवदूतः—भोः कर्ण ! कवचकुण्डलग्रहणाज्जनितपश्चात्तापेन पुरन्दरेणानुगृहीतोऽसि। पाण्डवेष्वेकपुरुषवधार्थममोघमस्त्रं विमला नाम शक्तिरियं प्रतिगृह्यताम् ।

कर्णः—धिग् , दत्तस्य न प्रतिगृह्णामि ।

देवदूतः—ननु ब्राह्मणवचनाद् गृह्यताम् ।

कर्णः—ब्राह्मणवचनमिति । न मयातिक्रान्तपूर्वम् । कदा लभेय ।

देवदूतः—यदा स्मरसि तदा लभस्व ।

कर्णः—बाढम् । अनुगृहीतोऽस्मि । प्रतिनिवर्ततां भवान् ।

देवदूतः—बाढम् । (निष्क्रान्तः)

कर्णः—शल्यराज ! यावद्रथमारोहावः ।

तैः = कर्कशा अङ्गुलयो यस्य = ऐरावतचालनकठिनकरशाखः (अङ्गुल्यः करशाखाः स्युः । अमरः ।) पाकशासनः—पाकनामानं दैत्यं शासयति = इन्द्रः (इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः । अमरः ।) मया = कर्णेन कृतार्थः—कृतः अर्थः यस्य सः = कृतकृत्य खलु । वंशस्थवृत्तम् ॥ २३ ॥

(ब्राह्मण रूप से प्रवेश करके)

देवदूत—हे कर्ण ! कवच और कुण्डल के लेने के पश्चात्ताप से युक्त इन्द्र के द्वारा तुम उपकृत किए गए हो । पाण्डवों में से एक पुरुष के वध करने का यह अचूक अस्त्र विमला नामक शक्ति ग्रहण करो ।

कर्ण—धिक्कार है । दान का बदला नहीं लेता ।

देवदूत—अवश्य ही ब्राह्मण-वचन से ले लो ।

कर्ण—ब्राह्मण का वचन । मैंने पहले कभी नहीं टाला । कब प्राप्त करूँगा (शक्ति) ।

देवदूत—जब स्मरण करोगे तभी प्राप्त होगी ।

कर्ण—अच्छा उपकृत हुआ । आप लौट जाँय ।

देवदूत—बहुत अच्छा । (चला गया)

कर्ण—शल्यराज ! तब (तक) रथ पर चढ़ा जाय ।

शल्यः— बाढम् । (रथारोहणं नाटयतः ।)

कर्णः—अये शब्द इव श्रूयते । किं नु खल्विदम् ।

शङ्खध्वनिः प्रलयसागरघोषतुल्यः
कृष्णस्य वा न तु भवेत्स तु फाल्गुनस्य ।
नूनं युधिष्ठिरपराजयकोपितात्मा
पार्थः करिष्यति यथाबलमद्य युद्धम् ॥ २४ ॥

शल्यराजः ! यत्रासावर्जुनस्तत्रैव चोद्यतां मम रथः ।

शल्यः—बाढम् !

आहवे शंखध्वनिं श्रुत्वा स कृष्णस्य फाल्गुनस्य वा शब्द इति निर्णीयते—शङ्खध्वनिरिति ।

प्रलयसागरघोषतुल्यः—प्रलयसागरः = प्रलयकालीनसमुद्रः तस्य घोषः = शब्दः तेन तुल्यः = सदृशः शंखध्वनिः-शंखस्य ध्वनिः = कम्बुरवः (शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियौ । अमरः ।) कृष्णस्य = यादवेन्द्रस्य वा = एव (ववायथा तथैवैवम् । अमरः) न तु भवेत् = न स्यात् स तु = ध्वनिस्तु फाल्गुनस्य = अर्जुनस्यैव भवितुमर्हति । यतः युधिष्ठिरपराजयकोपितात्मा—युधिष्ठिरस्य पराजयः तेन कोपितः आत्मा यस्य सः धर्मराजपराजयक्रुद्धमानसः पार्थः = पृथायाः पुत्रः = अर्जुनः अद्य = वर्तमाने संग्रामे यथाबलं = बलमनतिक्रम्य (अव्ययीभावसमासः) यावच्छक्ति इति युद्धम् = आयोधनं करिष्यति = विधास्यति । उपमालंकारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २४ ॥

शल्य—बहुत अच्छा । (रथ पर चढ़ने का नाटय करते हैं ।)

कर्ण—अरे शब्द सा सुनाई पड़ता है । यह क्या है ?

यह प्रलयकालीन समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर ध्वनि करने वाला कृष्ण का शंख है अथवा अर्जुन का । युधिष्ठिर के पराजय से कुपित मन होकर अर्जुन आज मुझसे अवश्य ही यथाशक्ति युद्ध करेगा ॥ २४ ॥

शल्यराज ! वहीं मेरे रथ को प्रेरित करो जहाँ वह अर्जुन हो ।

शल्य—अच्छा ।

(भरतवाक्यम्)

सर्वत्र सम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा ।
राजा राजगुणोपेतो भूमिमेकः प्रशास्तु नः ॥ २५ ॥

(निष्क्रान्तौ ।)

कर्णभारमवसितम् ।



इदं नाटकावसानसमये भरतवाक्यं—सर्वत्रेति ।

सर्वत्र =.सर्वस्मिन् जगति सम्पदः – सम्पत्तयः सन्तु = भवन्तु सदा = सर्वदा विपदः = विपत्तयः नश्यन्तु = विनाशभावं प्राप्नुवन्तु । राजगुणोपेतः—राज्ञां गुणाः तैः उपेतः = नृपगुणयुक्तः एकः = केवलः राजा = भूपः राजसिंहः नः = अस्माकं भूमि = वसुन्धराम् प्रशास्तु (प्र + शास् + लोट् प्रथमपुरुषैकवचने) = शासनं करोतु । अत्रानुष्टुब् वृत्तम् ॥ २५ ॥



(भरत·वाक्य)

सब संसार भर में संपत्तियां हों, विपत्तियों का सर्वथा नाश हो और हमलोगों की पृथ्वी पर कोई योग्य राजा, राजाओं के गुणों से युक्त हो शासन करे ॥ २५ ॥

(चले जाते हैं ।)

कर्णभार सम्पूर्ण ।



(३)

दूतघटोत्कचम्

व्याख्याकारः—
आचार्य रामजी मिश्र

॥ श्रीः ॥

भासनाटकचक्रे

दूतघटोत्कचम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—

नारायणस्त्रिभुवनैकपरायणो वः
पायादुपायशतयुक्तिकरः सुराणाम् ।
लोकत्रयाविरतनाटकतन्त्रवस्तु-
प्रस्तावनाप्रतिसमापनसूत्रधारः ॥ १ ॥

दूतघटोत्कचाभिधेयेऽस्मिन् भासकृते नाटके त्रिविधमङ्गलेषु आशीर्वादात्मकं मङ्गलं सूत्रधारमुखेन प्रदर्शयति—नारायणस्त्रिभुवन इति ।

त्रिभुवनैकपरायणः—त्रयाणां भुवनानां समाहारः तस्मिन् एकः=प्रधानः परायणः=तत्परः सुराणां देवानां (विजयार्थम्) उपायशतयुक्तिकरः—उपायानाम्= उद्योगानां शतानि = शतसङ्ख्यकानि तेषां या युक्तिः = योजना तां करोति = विदधाति = विविधविजयेऽनेकोद्योगकर्त्ता लोकत्रयाविरतनाटकतन्त्रवस्तुप्रस्तावना-प्रतिसमापनसूत्रधारः—लोकत्रयस्य = भुवनत्रयस्य (लोकस्तु भुवने जने ।

(नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार आता है ।)

सूत्रधार—तीनों लोकों में जो एकमात्र प्रधान पुरुष, देवताओं के विजय के लिये सैकड़ों उपाय करने वाला है तथा तीनों लोकों में अनवरत अभिनीत होने वाले नाटक के कथावस्तु, प्रस्तावना एवं समाप्ति का नियमन करने वाला सूत्रधार है वह विष्णु आप लोगों की रक्षा करे ॥ १ ॥

(परिक्रम्य) एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि। अये किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। अङ्ग पश्यामि।

(नेपथ्ये।)

भो भो निवेद्यतां निवेद्यतां तावत्।

सूत्रधारः—भवतु। विज्ञातम्। एष खलु संशप्तकानीकनिवाहिते जनार्दनसहाये धनञ्जये तदनन्तरमुपगतभीष्मवधामर्षितैर्धार्तराष्ट्रैः परिवार्य निपातितः कुमारोऽभिमन्युः। तथाहि—

अमरः) यत् अविरतं नाटकं = निरन्तराभिनयस्तस्य तन्त्रं = कला तस्मिन् यद्वस्तु = कथावस्तु तस्य या प्रस्तावना = स्थापना तस्य यत् प्रतिसमापनं = परिसमाप्तिः यस्य सूत्रधारः = निर्देशकः एवंविशेषणविशिष्टः नारायणः—नर एव नाराः = जलानि अयनं = स्थानं यस्य सः (आपो नारा इति प्रोक्ता इति वचनात्) क्षीरसमुद्रवासी विष्णुः वः = युष्मान् अध्येतृश्रोतृदर्शकान् पायात् = रक्षतात् सर्वतोविघ्नराहित्येन रक्षां क्रियात्। वसन्ततिलका वृत्तम्। यथा—ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ १ ॥

संशप्तकानीकनिवाहिते—संशप्तकाः = तन्नामका राजानः ये शपथपूर्वं युद्ध्यन्ते ते राजानः। ते च प्रकृते त्रिगर्तराजपुत्राः सुशर्मादयः नव कोटयस्तदनुयायिनः। तेषामनीकैः निवाहिते आहूते निर्वासिते वा जनार्दनसहाये धनञ्जये = कृष्ण-द्वितीये अर्जुने संशप्तकवधार्थं गते सति तदनन्तरम् = अतः परम् उपगतभीष्मवधा-मर्षितैर्धार्तराष्ट्रैः—उपगतः = प्राप्तः भीष्मस्य = पितामहस्य वधः = उपरतिः तेन

(घूमकर) आप महानुभावों को सूचित करता हूँ। अरे, सूचना देने में व्यग्र मुझ को यह शब्द कैसा सुनाई पड़ रहा है। अच्छा, देखता हूँ।

(नेपथ्य में)

हे हे, निवेदन करो निवेदन करो।

सूत्रधार—हो, समझ गया। यह धनञ्जय और श्रीकृष्ण के सुशर्मादि संशप्त-कानीक से लड़ने के लिए बुलाए जाने पर भीष्मपितामह के वध के कारण क्षुभित धृतराष्ट्र के पुत्रों के द्वारा अभिमन्यु चारों तरफ से घेर कर मार डाला गया। इस प्रकार,

यान्त्यर्जुनप्रत्यभियानभीता
यतोऽर्जुनस्तां दिशमीक्षमाणाः ।
नराधिपाः स्वानि निवेशनानि
सौभद्रबाणाङ्कितनष्टसंज्ञाः ॥ २ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

स्थापना ।

(ततः प्रविशति भटः ।)

भटः—भो भो ! निवेद्यतां तावत्पुत्रशतश्लाध्यबान्धवाय विज्ञान-विस्तारितविनयाचारदीर्घचक्षुषे महाराजाय धृतराष्ट्राय । एष खलु

अमर्षिताः = कुपिताः तैः धार्तराष्ट्रैः दुर्योधनादिभिः ।

अर्जुनप्रत्यभियानभीताः—अर्जुनस्य = फाल्गुनस्य प्रत्यभियानेन = आक्रमणेन भीताः = भयं गताः यतः = यस्मात् अर्जुनः = धनञ्जयः गतः = यातः तां दिशं = आशाम् ईक्षमाणाः—ईक्षन्ते इति । अवलोकयन्तः सौभद्रबाणाङ्कितनष्टसंज्ञाः = सुभद्रायाः अपत्यं तस्य बाणाः = विशिखाः तैः = अङ्किताः = चिह्निताः तेन नष्टा = विनष्टा संज्ञा = चेतना येषां ते नराधिपाः—अधिकं पान्तीति अधिपाः नराणाम् अधिपाः = भूपतयः स्वानि = स्वकीयानि निवेशनानि—निविशन्ते एषु निवेशनानि तानि-शिबिराणि यान्ति गच्छन्ति । उपजाति-वृत्तम् । यथा-स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । इत्यनयोरुपजातिः ॥ २ ॥

सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु) के तीखे बाणों से क्षत-विक्षत होकर हतचेतन राजागण अर्जुन के पुनः आक्रमण के भय से जिस दिशा में अर्जुन गए थे उसी दिशा की ओर देखते हुए, अपने शिबिरों में लौट रहे हैं ॥ २ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

स्थापना

(तब भट प्रवेश करता है ।)

भट—हे, हे ! सैकड़ों पुत्रों और सुयोग्य बान्धवों से सम्पन्न दूरदर्शी ज्ञान एवं विद्या से विनम्र व्यवहार वाले महाराज धृतराष्ट्र से निवेदन करो। यह यहाँ

योधस्यन्दनवाजिवारणवधैर्विक्षोभ्य राज्ञां बलं
बालेनार्जुनकर्म येन समरे लीलायता दर्शितम्।
सौभद्रः स रणे नराधिपशतैर्वेगागतैः सर्वशः
खे शक्रस्य पितामहस्य सहसैवोत्सङ्गमारोपितः ॥३॥

(ततः प्रविशति धृतराष्ट्रो गान्धारी दुःशला प्रतिहारी च ।)

धृतराष्ट्रः—कथं नु भोः !

भटः उपरतं सौभद्रं धृतराष्ट्राय निवेदयन् तस्य कर्म प्रशंसति–योधस्यन्दनेति । योधानां = सैनिकानां स्यन्दनवाजिनां = रथाश्वानां वारणानां = करिणां वधाः = हननानि तैः, राज्ञां = नृपाणां बलं = सैन्यं विक्षोभ्य = विद्राव्य येन = बालेन अभिमन्युना लीलायता = क्रीडायता रणक्रीडां कुर्वता समरे = संग्रामे अर्जुनकर्म-अर्जुनस्य कर्म (षष्ठीतत्पुरुषसमासः) धनञ्जयपराक्रमो विपक्षविध्वंसनं दर्शितम् = प्रदर्शितम् । रणे = संग्रामे अतिपराक्रमी स सौभद्रः = अभिमन्युः नराधिपशतैः = असंख्यराजभिः वेगागतैः—वेगेन = त्वरया आगताः = सम्प्राप्ताः तैः सर्वशः = सर्वतः खे = आकाशे स्वर्गे पितामहस्य = अभिमन्योः पितुः पितुः शक्रस्य = इन्द्रस्य सहसैव = द्राक् उत्सङ्गं = क्रोडम् आरोपितः = स्थापितः । ऐहिक-शरीरं त्यक्त्वा पारलौकिकीं तनुं धृत्वा स्वर्गं गतः । अत्र शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् । लक्षणं यथा—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितमिति ॥ ३ ॥

युद्धक्षेत्र में राजाओं को हाथी, रथ, घोड़े आदि की सेना के वध से व्याकुल करके (अभिमन्यु) बालक ने कौतुक मात्र से अपने पिता अर्जुन के समान पराक्रम प्रदर्शित किया। सुभद्रा का पुत्र वह अभिमन्यु रण में अत्यन्त शूर होने के कारण स्वर्ग में सब दिशाओं से शीघ्रतापूर्वक सैकड़ों राजकुमारों के आने पर भी अपने पितामह इन्द्र की गोद में बैठाया गया ॥ ३ ॥

(तब धृतराष्ट्र, गान्धारी, दुःशला एवं प्रतिहारी आते हैं ।)

धृतराष्ट्र—हे, यह कैसे,

केनैतच्छ्रुतिपथदूषणं कृतं मे
कोऽयं मे प्रियमिति विप्रियं ब्रवीति ।
कोऽस्माकं शिशुवधपातकाङ्क्षितानां
वंशस्य क्षयमवघोषयत्यभीतः ॥ ४ ॥

गान्धारी—महाराअ ! अत्थि उण जाणीअदि केवलं पुत्तसंखअकारओ कुलविग्गहो भविस्सदि त्ति । [महाराज ! अस्ति पुनर्ज्ञायते केवलं पुत्रसंक्षयकारकः कुलविग्रहो भविष्यतीति ।]

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ! ज्ञायते ।

गान्धारी—महाराअ कदा णु खु । [महाराज कदा नु खलु ।]

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ! शृणु—

अभिमन्युवधं श्रुत्वा धृतराष्ट्रो विलपति-केनैतदिति ।

एतत्—सौभद्रः उपरतः इति एतत् शब्दं विश्राव्य श्रुतिपथदूषणं—श्रुत्योः = कर्णयोः पथः = मार्गस्य दूषणं = कर्णकटु मे = मम धृतराष्ट्रस्य केन = जीवेन कृतं = विहितं कोऽयम् मे प्रियं = मम धृतराष्ट्रस्य इष्टम् इति (बुद्धा) कः पुरुषोऽसौ विप्रियं = (मम) अनभिमतं ब्रवीति = वक्ति । अभीतः—न भीतः अभीतः = निर्भीकः कः = पुमान् शिशुवधपातकाङ्क्षितानां = शिशोर्वधः स एव पातकः तेन अङ्किताः तेषाम् = अभिमन्युहननपापलाञ्छितानाम् अस्माकं = कौरवानां वंशस्य = अन्वयस्य क्षयं = विनाशम् अवघोषयति = घोषणां करोति मम वंशनाशं प्रसारयतीति भावः । अत्र प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ४ ॥

किसने मेरे कर्णपथ को दूषित किया ? कौन मेरा प्रिय समझ कर अप्रिय बोल रहा है । कौन ऐसा निर्भीक है जो हम लोगों के शिशु (अभिमन्यु) के वध के पाप से कलंकित वंश के विनाश की घोषणा कर रहा है ॥ ४ ॥

गान्धारी—महाराज ! मुझे ऐसा लगता है कि पुत्रों का विनाशकारक दो (कौरव एवं पाण्डव) वंशों में युद्ध होगा ।

धृतराष्ट्र—गान्धारी, मालूम है ।

गान्धारी—महाराज कब ?

धृतराष्ट्र—गान्धारी ! सुनो,

अद्याभिमन्युनिधनाज्जनितप्रकोपः
सामर्षकृष्णधृतरश्मिगुणप्रतोदः ।
पार्थः करिष्यति तदुग्रधनुः सहायः
शान्तिं गमिष्यति विनाशमवाप्य लोकः ॥ ५ ॥

गान्धारी—हा वच्छ अभिमञ्ञो ! ईदिसे यि णाम पुरुसखअकारए कुलविग्गहे वत्तमाणे वालभावणिमज्जणं अम्हाणं भग्गकमेण करअंतो कहिं दाणिं पोत्तअ ! गदोसि । [हा वत्स अभिमन्यो ! ईदृशेऽपि नाम पुरुषक्षयकारके कुलविग्रहे वर्तमाने बालभावनिमज्जनमस्माकं भाग्यक्रमेण कुर्वन् कुत्रेदानीं पौत्रक ! गतोऽसि ।]

दुःशला—जेण दाणिं वहूए उत्तराए वेधव्वं दाइदं, तेण अत्तणो

स्थविरः धृतराष्ट्रः महाराज्ञीं गान्धारीं प्रति पुत्रसंक्षयकारकं कुलविग्रहं प्रदर्शयति अद्याभिमन्युनिधनादिति ।

अद्य = अधुना अभिमन्युनिधनाज्जनितप्रकोपः = अभिमन्योः = स्वपुत्रस्य निधनात् = नाशात् जनितः = उत्पन्नः प्रकोपः = क्रोधो यस्य सः, सामर्षकृष्णधृतरश्मिगुणप्रतोदः—अमर्षेण सहितः सामर्षः = सक्रोधः कृष्णेन = वासुदेवेन धृतौ = गृहीतौ रश्मिगुणः = वल्गा प्रतोदः = कशा च येन सः, तदुग्रधनुः=तस्य उग्रं कठिनं धनुः = गाण्डीवः सहायः = साधको यस्य सः पार्थः—पृथायाः पुत्रः = अर्जुनः (एवं) करिष्यति = युद्धं विधास्यति, येन लोकः = भुवनं समस्तलोक इत्यर्थः, विनाशं = संक्षयम् अवाप्य = लब्ध्वा पश्चात् शान्तिं = प्रकृतिं गमिष्यति = यास्यति । सर्वान् विपक्षीयान् विनाश्य लोकशान्तिं करिष्यति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५ ॥

अभिमन्यु के वध से अत्यन्त क्रुद्ध और कुपित कृष्ण के द्वारा गृहीत वल्गा (लगाम) और चाबुक से युक्त अर्जुन अपने कठिन धनुष (गाण्डीव) की सहायता से सारे संसार को नष्ट कर डालेंगे तत्पश्चात् प्रकृति अवस्था में विश्व शान्ति को प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

गान्धारी—हाय पुत्र अभिमन्यु ! हम लोगों के भाग्य के दोष से तुमने बालचपलता के कारण इस प्रकार के कुल-विग्रह और मनुष्यों के विनाशकारक युद्ध को उपस्थित करके हे पौत्र ! तुम अब कहां चले गये ।

दुःशला—जिसने इस समय वधू उत्तरा को विधवापन दिया है उसने अपने

जुवदिजणस्स देघव्वमादिट्ठं । [येनेदानीं वावै हत्तरायै वैधव्यं दत्तं, तेनात्मनो युवतिजनाय वैधव्यमादिष्टम् ।]

धृतराष्ट्रः—अथ केनैष व्यसनार्णवस्य सेतुबन्धः कृतः ।

भटः—महाराज ! मया ।

धृतराष्ट्रः—को भवान् ।

भट;—महाराज ! ननु जयत्रातोऽस्मि ।

धृतराष्ट्रः—जयत्रात !

केनाभिमन्युर्निहतः कस्य जीवितमप्रियम् ।
पञ्चानां पाण्डवाग्नीनामात्मा केनेन्धनीकृतः ॥ ६ ॥

भटः—महाराज ! बहुभिः किल पार्थिवैः समागतैर्निहतः कुमारोऽभिमन्युः । स्यात्तु जयद्रथो निमित्तभूतः ।

जयत्रातमानं भटं प्रति परिपृच्छति धृतराष्ट्रः—केनाभिमन्युरिति । हे जयत्रात = भो जयत्रात ! अभिमन्युः = मम पौत्रः केन = मानवेन निहतः = निधनं प्रापितः कस्य = मानवस्य जीवितम् = आयुः अप्रियम् = अनभिलषितम् केन = मर्त्येन पञ्चानां = पञ्चसंख्याकानां पाण्डवाग्नीनां—पाण्डवा एव अग्नयः तेषां पाण्डववह्नीनां मध्ये आत्मा = स्वजीवनम् इन्धनीकृतः = न इन्धनम् अनिन्धनम् तद् एवेन्धनम् इन्धनत्वेन प्रापितः इन्धनीकृतः (अभूततद्भावे च्विः) । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ६ ॥

पञ्च की युवतियों को भी विधवापन दिया है ।

धृतराष्ट्र—अब इस विपत्तिरूपी सागर पर किसने पुल बांधा है ?

भट—महाराज ! मैंने ।

धृतराष्ट्र—तुम कौन हो ।

भट—महाराज ! मैं जयत्रात हूँ ।

धृतराष्ट्र—जयत्रात !

किसने अभिमन्यु का बध किया ? किसे अपना जीवन अप्रिय हो गया ? पाँचों पाण्डवों की पञ्चाग्नि में किसने अपनी आत्मा की आहुति दी ? ॥ ६ ॥

भट—महाराज ! अवश्य ही अनेक राजाओं ने मिलकर अभिमन्यु को मारा है जयद्रथ ही उसका निमित्त था ।

धृतराष्ट्रः—हन्त जयद्रथो निमित्तभूतः ।

भटः—महाराज ! अथ किम् ?

धृतराष्ट्रः—हन्त जयद्रथो निहतः ।

(तच्छ्रुत्वा दुःशला रोदिति ।)

धृतराष्ट्रः—कैषा रोदिति ।

प्रतीहारी—महाराअ ! भट्टिदारिआ दुश्शला । [महाराज ! भर्तृदारिका दुःशला ।]

धृतराष्ट्रः—वत्से अलमलं रुदितेन । पश्य,

भर्तुस्ते नूनमत्यन्तमवैधव्यं न रोचते ।
येन गाण्डीविबाणानामात्मा लक्षीकृतः स्वयम् ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रः दुःशलाम् (स्वात्मजां) रोदनात् विनिवार्य वस्तुस्थितिं दर्शयति—भर्तुस्ते इति ।

(हे वत्से ।) भर्तुः = स्वामिनः जयद्रथस्य ते = तव अवैधव्यं—विधवायाः भावः वैधव्यं तन्न भवतीति अवैधव्यं=सौभाग्यम् अत्यन्तम्=अतिशयं न रोचते = न प्रियमिति नूनं = निश्चितम् । येन तव भर्त्रा = जयद्रथेन गाण्डीविबाणानां—गाण्डीविनः = अर्जुनस्य बाणाः = विशिखाः तेषां मध्ये इत्यर्थः, आत्मा = स्वजीवनं स्वयं = स्वयमेव नान्यप्रेरितमित्यर्थः, लक्षीकृतः = विषयीकृतः अतएवानुमीयते इति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र—शोक है, जयद्रथ निमित्त हुआ ।

भट—महाराज ! और क्या ।

धृतराष्ट्र—शोक है, जयद्रथ मारा गया ।

(यह सुनकर दुःशला रोती है ।)

धृतराष्ट्र—कौन रोती है ?

प्रतिहारी—महाराज भर्तृदारिका दुःशला ।

धृतराष्ट्र—पुत्री ! मत रोओ । देखो,

तुम्हारे पति को सौभाग्य अवश्य ही अरुचिकर है, जिसने कि स्वयं अपने को अर्जुन के बाणों का लक्ष्य बनाया है ॥ ० ॥

दुःशला—तेण हि अणुजाणादु मं तादो, अहं वि गमिस्सं वहूए उत्तराए सआसं। [तेन ह्यनुजानातु मां तातः, अहमपि गमिष्यामि वध्वा उत्तरायाः सकाशम्।]

धृतराष्ट्रः—वत्से किमभिधास्यसि।

दुःशला—ताद! एवं च भणिस्सं-अज्जकालिअं च दे वेसग्गहणं अहं वि उवधारइस्सामि त्ति। [तात! एवं च भणिष्यामि-अद्यकालिकं च ते वेषग्रहणमहमप्युपधारयिष्यामीति।]

गान्धारी—पुत्तिए मा खु मा खु अमंगलं भणाहि। जीवदि खु दे भत्ता। [पुत्रिके! मा खलु, मा खल्वमङ्गलं भण। जीवति खलु ते भर्ता।]

दुःशला—अम्ब! कुदो मे एत्तिआणि भाअधेआणि। जो जणद्दणसहाअस्स धणंजअस्स विप्पिअं करिअ कोहि णाम जीविस्सिदि। [अम्ब! कुतो मे एतावन्ति भागधेयानि। यो जनार्दनसहायस्य धनञ्जयस्य विप्रियं कृत्वा को हि नाम जीविष्यति।]

धृतराष्ट्रः—सत्यमाह तपस्विनी दुश्शला। कुतः—

कृष्णस्याष्टभुजोपधानरचिते योऽङ्के विवृद्धश्चिरं

धृतराष्ट्रः दुश्शलायनं द्रढयति—कृष्णस्याष्टेति।

यः = अभिमन्युः कृष्णस्य = वासुदेवस्य अष्टभुजोपधानरचिते = अष्टानाम् =

दुःशला—अतएव मुझे आप आज्ञा दें, हे तात! मैं भी अपनी वधू उत्तरा के साथ जाऊंगी।

धृतराष्ट्र—पुत्री! यह क्या कहती हो।

दुःशला—हे तात! और मैं (उत्तरा से) कहूँगी कि—आज जो वेष उसने धारण किया है उसे काल मैं भी धारण करूंगी।

गान्धारी—हे पुत्रि! नहीं अमङ्गल मत बोलो। तुम्हारे पति जीवित हैं।

दुःशला—मां! मेरा ऐसा सौभाग्य कहां? कौन, जिसने कृष्ण सखा अर्जुन का अपकार किया है जीवित रहने की आशा करेगा?

धृतराष्ट्र—बेचारी दुःशला सत्य कहती है, क्योंकि—

जो अभिमन्यु कृष्ण की आठ भुजाओं का तकिया लगाकर उनकी गोदी में

यो मत्तस्य हलायुधस्य भवति प्रीत्या द्वितीयो मदः ।
पार्थानां सुरतुल्यविक्रमवतां स्नेहस्य यो भाजनं
तं हत्वा क इहोपलप्स्यति चिरं स्वैर्दुष्कृतैर्जीवितम् ॥८॥

जयत्रात ! अथ तदवस्थं पुत्रं दृष्ट्वा किं प्रतिपन्नं तेन गाण्डीवधन्वना ।

भटः—महाराज ! किं वार्जुनसमीपे वृत्तमेतत् ।

धृतराष्ट्रः—कथमर्जुनोऽपि नात्रासीत् ।

भटः—महाराज ! अथ किम् ?

अष्टसंख्याकानां भुजानां=बाहूनाम् उपधानम् = उपबर्हः तेन रचितं=विहितं तस्मिन् अङ्के = क्रोडे चिरं=बहुकालम् अशयावधीति भावः । विवृद्धः=वृद्धिंगतः, यः=सौभद्रः मत्तस्य = मदयुक्तस्य हलायुधस्य—हलः = लाङ्गलम् आयुधम् = अस्त्रं यस्य सः तस्य = बलरामस्य प्रीत्या = स्नेहेन द्वितीयः = अन्यः मदः भवति भागिनेयस्नेहमदो भवतीति भावः । यः=सौभद्रः सुरतुल्यविक्रमवतां—सुरतुल्यः=देवसमानः विक्रमः=पराक्रमः अस्ति येषां ते तेषां—देवसमपराक्रमशालिनां पार्थानां = पाण्डवानां स्नेहस्य=पुत्रप्रेम्णः भाजनं=पात्रं तं = तथाभूतम् अभिमन्युं हत्वा = निहत्य स्वैः = स्वकीयैः दुष्कृतैः = नीचकृत्यैः इह = लोके चिरं=बहुकालं जीवितम् = आयुः कः = पुमान् उपलप्स्यति = प्राप्स्यति नास्ति तस्य जीवनमिति भावः । अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

पला है तथा स्वयं मदयुक्त बलराम जिसे देखकर (भागिनेय) प्रेम से और भी मदमत्त हो जाते थे, जो पृथा के पुत्र देवताओं के समान विक्रम वाले पाँचों पाण्डवों का प्रेम-पात्र था उसे मार कर स्वयं दुष्कर्म करने वाला कौन भला इस संसार में अधिक दिन तक जीवित रह सकता है ॥ ८ ॥

जयत्रात ! इस प्रकार की अवस्था में (वध किए गए) अपने पुत्र को देखकर गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन ने क्या किया ?

भट—महाराज ! यह क्या अर्जुन के समक्ष हुई है ?

धृतराष्ट्र—क्या, अर्जुन भी वहां नहीं थे ।

भट—महाराज, हाँ ?

धृतराष्ट्रः—कथमिदानीं वृत्तमेतत् ।

भटः—श्रूयतां-संशप्तकानीकनिवाहिते जनार्दनसहाये धनञ्जये स बालभावाददृष्टदोषः संग्राममवतीर्णः कुमारोऽभिमन्युः ।

धृतराष्ट्रः—हन्त युक्तरूपोऽस्य वधः । को हि संनिहितशार्दूलां गुहां धर्षयितुं शक्तः । अथ शेषाः पाण्डवाः किमनुतिष्ठन्ति ।

भटः—महाराज ! श्रूयताम् ।

चितां न तावत्स्वयमस्य देहमारोपयन्त्यर्जुनदर्शनार्थम् ।
तेषां च नामान्युपधारयन्ति यैस्तस्य गात्रे प्रहृतं नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ! तदागम्यताम् । गङ्गाकूलमेव यास्यावः ।

इदानीं पाण्डवाः किमनुतिष्ठन्तीति पृष्टे धृतराष्ट्रे भटो वर्णयति—चितां इत्यादिना ।

(महाराज ! ते पाण्डवाः) तावत् = आदौ अर्जुनदर्शनार्थम् = अर्जुनस्य दर्शनम् अर्थः = प्रयोजनं यस्य स तम् अर्जुन इमम् पश्यतु इति प्रयोजनम् अस्य= अभिमन्योः देहं = मृतशरीरं चितां = काष्ठरचितां चितां स्वयं = स्वकरैः न आरोपयन्ति = स्थापयन्ति । इदानीं यैः नरेन्द्रैः = नृपैः तस्य = अभिमन्योः गात्रे = शरीरे प्रहृतं - प्रहारः कृतः, तेषां राज्ञां नामानि = अभिधेयानि उपधारयन्ति = निश्चिन्वन्ति । उपजातिवृत्तम् ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र—तो यह घटना कैसे घटी ?

भट—सुनिये, जब संशप्तक की सेना ने अर्जुन और कृष्ण को रोक लिया, तभी राजकुमार अभिमन्यु ने युद्ध में कोई दोष न देखकर स्वयं रणाङ्गन में प्रवेश किया।

धृतराष्ट्र—शोक, उसका वध इस अवस्था में सर्वथा सम्भव था । सिंह के रहते हुए भला कौन गुफा में जा सकता है ? अब शेष पाण्डव क्या कर रहे हैं ?

भट—महाराज ! सुनिए,

अर्जुन (मृत पुत्र के) शव को देख ले अतः अन्य पाण्डव स्वयं उसे चिता पर नहीं रख रहे हैं और जिन राजाओं ने उसके शरीर पर शराघात किया है उनके नाम का विचार कर रहे हैं ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र—गान्धारी ! तो आओ, हम सब गंगा के तट पर ही चलें ।

गान्धारी—महाराअ ! णं तहिं गाहामो । [महाराज ! ननु तत्र गाहावहे ।]

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ! शृणु ।

अद्यैव दास्यामि जलं हतेभ्यः स्वेनापराधेन तवात्मजेभ्यः ।
न त्वस्मि शक्तः सलिलप्रदानैः कर्तुं नृपाणां शिबिरोपरोधम् ॥१०॥

(ततः प्रविशति दुर्योधनो दुश्शासनः शकुनिश्च ।)

दुर्योधनः—वत्स दुश्शासन !

यातोऽभिमन्युनिधनात् स्थिरतां विरोधः

धृतराष्ट्रः महाराज्ञीं प्रति गंगाकूलगमनकारणं ब्रवीति—अद्यैवेत्यादिना । हे गान्धारि ! स्वेन = स्वकीयेन अपराधेन = आगसा (आगोऽपराधो मन्तुश्चेत्यमरः ।) हतेभ्यः = विनष्टेभ्यः मृतेभ्य इति यावत् तव = भवत्या आत्मजेभ्यः आत्मनो जाताः तेभ्यः = पुत्रेभ्यः अद्यैव = इदानीमेव जलं = जलाञ्जलिं दास्यामि= प्रदास्यामि । सलिलप्रदानैः = एभिः जलाञ्जलिदानैः नृपाणां = राज्ञां शिबिरोपरोधं—शिबिरे उपरोधः तं—प्रति शिबिरं गत्वा अवरोधं कर्तुं न तु = नहि शक्तः = समर्थः अस्मि = भवामि । यतः एते नूनं मरिष्यन्ति अतः एतान् अवरोद्धुमसमर्थोऽस्मीति भावः । अत्र इन्द्रवज्रावृत्तम्, यथा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ॥ १० ॥

दुर्योधनः दुःशासनं प्रति स्वाभीष्टसिद्धिं वर्णयति—यात इति ।

अभिमन्युनिधनात्—अभिमन्योः=सौभद्रस्य निधनं=पञ्चत्वं तस्मात् विरोधः=

गान्धारी—महाराज ! हम सब वहां जल में स्नान करेंगे ।

धृतराष्ट्र—गान्धारी ! सुनो,

आज ही हम अपने ही अपराध से मृत्यु को प्राप्त होने वाले तुम्हारे पुत्रों को जलाञ्जलि दे दें (फिर भी) इस जलाञ्जलि-दान के द्वारा हम राजाओं के शिबिर को युद्ध करने से रोक नहीं सकते ॥ १० ॥

(तब दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि प्रवेश करते हैं ।)

दुर्योधन—वत्स दुःशासन !

अभिमन्यु के वध से हमारा (पाण्डवों से) विरोध भी दृढ़ हो गया, शत्रुओं की

प्राप्तो जयः प्रचलिता रिपवो निरस्ताः ।
उन्मूलितोऽस्य च मदो मधुसूदनस्य
लब्धो मयाऽद्य सममभ्युदयेन शब्दः ॥ ११ ॥

दुश्शासनः—अहो नु खलु,

रुद्धाः पाण्डुसुता जयद्रथबलेनाक्रम्य शत्रोर्बलं
सौभद्रे विनिपातिते शरशतक्षेपैर्द्वितीयेऽर्जुने ।
प्राप्तैश्च व्यसनानि भीष्मपतनादस्माभिरद्याहवे

द्वेषः स्थिरतां—स्थिरस्य भावः तां = सुदृढत्वं यातः = प्राप्त; जयः = विजयः प्राप्तः = लब्धः प्रचलिताः = प्रकम्पिताः, रिपवः = शत्रवः, निरस्ताः = पराजिताः । अस्य = वर्तमानस्य मधुसूदनस्य—मधुं = मधुनामकं दैत्यं सूदयति = विनाशयतीति तस्य = केशवस्य मदः = गर्वः उन्मूलितः = उत्पाटितः दूरीकृत इत्यर्थः । अद्य = अस्मिन्दिने इदानीमित्यर्थः । मया = दुर्योधनेन अभ्युदयेन = समुन्नत्या समं = साकं शब्दः = विजयशब्दः लब्धः = प्राप्तः साम्प्रतम् मे सर्वाण्यभीष्टानि लब्धानीत्यर्थः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ११ ॥

दुश्शासनः एवं भ्रातरं दुर्योधनं बोधयति—एतानि कर्माण्यस्माभिः कृतानि रुद्धेत्यादिना ।

जयद्रथबलेन—जयद्रथस्य बलं तेन = जयद्रथपराक्रमेण शत्रोः = विपक्षस्य बलं = सैन्यम् आक्रम्य = पराजित्य पाण्डुसुताः = युधिष्ठिरादयः रुद्धाः = चक्रव्यूह प्रवेशात् वारिताः । द्वितीयेऽर्जुने = अर्जुनतुल्यपराक्रमे सौभद्रे = अभिमन्यो शरशतक्षेपैः = शराणां शतानि तेषां क्षेपास्तैः=असंख्यबाणवेधैः विद्धैः विनिपातिते= उपरते, भीष्मपतनात्—भीष्मस्य पतनं तस्मात् = पितामहविनाशात् अस्माभिः = कौरवैः (पूर्वं) व्यसनानि = दुःखानि प्राप्तैः = लब्धैः अद्य = अस्मिन् दिने

विजय भी डगमगा गई, कृष्ण का गर्व भी विनष्ट हो गया तथा हमें पूर्ण रूप से विजय की प्राप्ति के साथ-साथ यश भी प्राप्त हुआ ॥ ११ ॥

दुश्शासन—अरे निश्चय ही,

जयद्रथ की सेना ने शत्रु-सेना को जीतकर पाण्डवों को रोक दिया है और सैकड़ों शराघातों से द्वितीय अर्जुन—सुभद्रा के पुत्र के मारे जाने पर पहले भीष्म-पितामह की मृत्यु से जो कष्ट हमें मिला था वही आज युद्ध क्षेत्र में उनके पुत्र के

तीव्राः शोकशराः कृताः खलु मनस्येषां सुतोत्सादनात् ॥१२॥

शकुनिः—

जयद्रथेनाद्य महत्कृतं रणे नृपैरसंभावितमात्मपौरुषम् ।
प्रसह्य तेषां यदनेन संयुगे समं सुतेनाप्रतिमं हृतं यशः ॥ १३ ॥

दुर्योधनः—मातुल ! इतस्तावत् । दुश्शासन ! इतस्तावत् । तत्रभवन्तं तातमभिवादयिष्यामः ।

शकुनिः—वत्स दुर्योधन ! मा मैवम् ।

(अभिमन्युनाशदिवसे) आहवे=संग्रामे सुतोत्सादनात् सुतस्य उत्सादनं तस्मात् = पुत्रविनाशात् एषाम् = पाण्डवानां मनसि = हृदये तीव्राः = निशिताः शोकशराः = शोका एव शराः = खेदबाणाः कृताः = विहिताः खलु । पूर्वं पितामहं विनाश्य एभिरस्मभ्य शोकः प्रदत्ता, इदानीं तु एषाम् पुत्रविनाशात् अस्माभिः एते शोकाकुलीकृताः । अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२ ॥

इदानीं गान्धारराजोऽपि स्वाभिप्रायं निदर्शयति—जयद्रथेनेत्यादिना ।

अद्य = अस्मिन् दिने रणे = आहवे नृपैः—नॄन् पान्तीति नृपास्तैः—राजभिः असम्भावितम् = असम्भावनीयम् आत्मपौरुषम्—आत्मनः पौरुषं = स्वपराक्रमं महत्कृतम् = अत्यन्तं प्रदर्शितं जयद्रथेन संयुगे = संग्रामे तेषां = पाण्डवानां प्रसह्य = हठात् सुतेन = पुत्रेण अभिमन्युना समं = सार्द्धम् अप्रतिमं—नास्ति प्रतिमा यस्य तत् = अद्वितीयं यशः = कीर्तिः हृतं = हस्तगतं कृतम् । अनेनैवास्माकमभीष्टं साधितमिति भावः । सहोक्तिरलङ्कारः यथा = 'सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः ।' वंशस्थवृत्तं यथा—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ १३ ॥

वध के द्वारा तीखे शोकरूपी बाणों के प्रहार से उन (पाण्डवों) के हृदय को विद्ध किया है ॥ १२ ॥

शकुनि—आज जयद्रथ ने रणक्षेत्र में राजाओं की आशा से अधिक आत्मबल दिखलाया तथा पाण्डवों से दृढतापूर्वक उनके सुत और उसके साथ-साथ उनके यश का भी हरण किया ॥ १३ ॥

दुर्योधन—मामा ! इधर आओ । दुश्शासन ! इधर आओ । पूज्य पिताजी को हम सब प्रणाम करेंगे ।

शकुनि—वत्स दुर्योधन ! ऐसा नहीं ।

कामं न तस्य रुचितः कुलविग्रहोऽय-
मस्मांश्च गर्हयति स प्रियपाण्डवत्वात्।
युद्धोत्थितैर्जयमवाप्य हि तुल्यरूपं
एवं प्रहृष्टवदनैरभिगन्तुमेनम् ॥ १४ ॥

दुर्योधनः—मातुल ! मा मैवम्। यथा तथा भवतु। तत्रभवन्तं तातमभिवादयिष्यामः।

उभौ—बाढम्। (परिक्रामतः।)

दुर्योधनः—तात ! दुर्योधनोऽहमभिवादये।

दुश्शासनः—तात ! दुश्शासनोऽहमभिवादये।

विजयप्राप्त्यनन्तरं तातं वन्दितुं गच्छतं दुर्योधनं वारयति शकुनिः—कामं न तस्येत्यादिना।

तस्य = धृतराष्ट्रस्य—अयं = प्रचलितः कुलविग्रहः—कुलस्य विग्रहः = वंशवैरं कामं = यथेष्टं न रुचितः = नारोचतेति भावः। सः = राजा प्रियपाण्डवत्वात्—प्रियः पाण्डवः यस्य तस्य भावः तस्मात् अर्थात् युधिष्ठिरादिषु स्नेहातिशयात् अस्मान् = दुर्योधनादीन् गर्हयति = भर्त्सयति। हि = यतः युद्धोत्थितैः—युद्धात् = आहवाद् उत्थिताः=निवृत्ताः तैः=संग्रामलब्धं जयं = विजयम् अवाप्य = लब्ध्वा एवम् = अनेन प्रकारेण प्रहृष्टवदनैः = प्रसन्नाननैः एनम्=धृतराष्ट्रम् अभिगन्तुम् = अभिवादनार्थगमनं तुल्यरूपं = गन्तुं योग्यम्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१४॥

उनको (धृतराष्ट्र को) यह आपस का झगड़ा बिलकुल नहीं अच्छा लगता है क्योंकि पाण्डव लोग उन्हें अधिक प्रिय हैं अतः वे हम लोगों को निन्दा किया करते हैं। इसलिये जय पाकर युद्ध से निवृत्त होने पर प्रसन्न मुख हो हम लोगों को प्रणाम करने के लिये इनके पास जाना अनुरूप होगा ॥ १४ ॥

दुर्योधन—मामा जी ! ऐसा नहीं। कुछ भी हो। पूज्य तात को हम सब अभिवादन करेंगे।

दोनों—बहुत अच्छा (घूमते हैं।)

दुर्योधन—तात ! मैं दुर्योधन, अभिवादन करता हूँ।

दुश्शासन—तात ! मैं दुश्शासन, अभिवादन करता हूँ।

शकुनिः—शकुनिरहमभिवादये ।

सर्वे—कथमाशीर्वचनं न प्रयुज्यते ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! कथमाशीर्वचनमिति ।

सौभद्रे निहते बाले हृदये कृष्णपार्थयोः ।
जीविते निरपेक्षाणां कथमाशीः प्रयुज्यते ॥ १५ ॥

दुर्योधनः—तात ! किंकृतोऽयं संभ्रमः ।

धृतराष्ट्रः—किंकृतोऽयं संभ्रम इति ।

एका कुलेऽस्मिन्बहुपुत्रनाथे लब्धा सुता पुत्रशताद्विशिष्टा ।

अभिवादनान्ते आशीर्वचनमलब्ध्वा पृष्टस्सन् धृतराष्ट्रः हेतुं प्रदर्शयति-सौभद्रेत्यादिना ।

कृष्णपार्थयोः—कृष्णश्च पार्थश्च तयोः = केशवार्जुनयोः हृदये = हृदयस्वरूपे बाले = शिशौ सौभद्रे—सुभद्राया अपत्यं तस्मिन् = अभिमन्यौ निहते = घातिते सति जीविते = जीवने निरपेक्षाणाम् = अपेक्षाभ्यः निर्गताः तेषां = जीवनत्यक्ताशानां युष्माकम् आशीः = आशीर्वचनं कथं = केन प्रकारेण प्रयुज्यते = प्रयोक्तुं शक्यते, न केनापीत्यर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १५ ॥

दुर्योधनेन सम्भ्रमकारणे पृष्टे धृतराष्ट्रः तत्र हेतुं प्रदर्शयति—एका कुलेत्यादिना ।

बहुपुत्रनाथे—बहवः = अनेके पुत्राः = सूनवः नाथाः = स्वामिनो यस्मिन् सः तस्मिन् = अनेकपुत्रयुक्ते अस्मिन् कुले = कौरववंशे पुत्रशतात् = शतसंख्याकात् सूनोः विशिष्टा = गुणवती एका = केवला सुता = पुत्री (दुःशला) लब्धा=

शकुनि—मैं शकुनि, अभिवादन करता हूँ ।

सब—क्यों आशीर्वाद नहीं दे रहे हैं ?

धृतराष्ट्र—पुत्र ! कैसे आशीर्वाद दूँ ।

अर्जुन और कृष्ण के हृदय रूप सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का वध होने पर आप लोग जीवन से पराङ्मुख हो गये हैं, अतः कैसे आशीर्वाद दूँ ॥ १५ ॥

दुर्योधन—तात ! यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ ?

धृतराष्ट्र—तुम पूछ रहे हो यह भ्रम कैसे हुआ,

अनेक पुत्रों वाले इस कुल में सौ पुत्रों से भी अधिक प्यारी केवल एक

सा बान्धवानां भवतां प्रसादाद् वैधव्यमश्लाघ्यमवाप्स्यतीति ॥ १६ ॥

दुर्योधनः—तात ! किं चात्र जयद्रथस्य ।

धृतराष्ट्रः—तेन किल वरविदग्धेन रुद्धाः पाण्डवाः ।

दुर्योधनः—आः, तेन रुद्धाः । बहुभिः खल्वन्यैः ।

धृतराष्ट्रः—भोः ! कष्टम् ।

बहूनां समवेतानामेकस्मिन्निर्घृणात्मनाम् ।
बाले पुत्रे प्रहरतां कथं न पतिता भुजाः ॥ १७ ॥

दुर्योधनः—तात !

सम्प्राप्य सा = पुत्री बान्धवानां = भ्रातृणां भवतां = युष्माकं प्रसादात् = अनुग्रहात् अश्लाघ्यम् = श्लाघयितुं योग्यं श्लाघ्यं तन्न भवतीति = निन्दनीयं वैधव्यं-विगतो धवो यस्याः सा तस्याः भावः = दुर्भगत्वम् अवाप्स्यति = प्राप्स्यति । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १६ ॥

यदि पाण्डवाः बहुभिः नृपैः रुद्धाः तदा तु भृशं कष्टमिति धृतराष्ट्रो वर्णयति-बहूनामित्यादिना ।

निर्घृणात्मनां—निर्गता घृणा येभ्यः (निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्येति समासः) ते निर्घृणाः, तथा आत्मा येषां ते तेषां = निष्ठुरचित्तानां, निर्दयानामित्यर्थः बहूनाम् = अनेकानां समवेतानां = संघानाम् एकस्मिन् = निःसहाये बाले = अर्भके पुत्रे = सूनौ सौभद्रे प्रहरतां = प्रहारं कुर्वतां भुजाः = हस्ताः कथं = केन प्रकारेण न पतिताः = न पतनं प्रापिताः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १७ ॥

कन्या है और वह तुम भाइयों की कृपा से निन्दनीय वैधव्य को प्राप्त करेगी ॥१६॥

दुर्योधन—पिताजी, इसमें जयद्रथने क्या किया ।

धृतराष्ट्र—उस चतुर वर (मेरी कन्या के पति) ने पाण्डवों को रोका है ।

दुर्योधन—आह, उसने रोका ? अनेक अन्य राजकुमारों ने रोका ।

धृतराष्ट्र—ओह, बड़ा कष्ट है ।

बहुत लोगों के एकत्रित प्रयास से निर्दयतापूर्वक शिशु पुत्र पर प्रहार करते हुए तुम लोगों की भुजायें क्यों नहीं गिर गईं ? ॥ १७ ॥

दुर्योधन—पिताजी !

वृद्धं भीष्मं छलैर्हत्वा तेषां न पतिता भुजाः ।
हत्वाऽस्माकं पतिष्यन्ति तमबालपराक्रमम् ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रः—वत्स ! किं भीष्मस्य निपातनमभिमन्योश्च वधः समः ।

दुर्योधनः—तात ! कथं न समः ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! श्रूयताम् ,

स्वच्छन्दमृत्युर्निहतो हि भीष्मः स्वेनोपदेशेन कृतात्मतुष्टिः ।
अयं तु बालः कुरुवंशनाथश्छिन्नोऽर्जुनस्य प्रथमः प्रवालः ॥१९॥

दुर्योधनः धृतराष्ट्रवचनं खण्डयति तथा च स्वपक्षं प्रतिपादयति—वृद्धमित्यादिना। छलैः = कपटैः शिखण्डिनमग्रे कृत्वा वृद्धं = जरठं भीष्मं = भीष्मपितामहं हत्वा= विनाश्य तेषां = पाण्डवानां भुजाः = कराः न पतिताः = भ्रष्टाः, अबालपराक्रमं— न बालवत् पराक्रमः यस्य स तं = महापराक्रमं तम् = अभिमन्युं हत्वा = घातयित्वा अस्माकं = कौरवाणां कराः पतिष्यन्ति = भ्रष्टाः भविष्यन्ति किम् ? अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १८ ॥

अभिमन्योः भीष्मस्य वधः न समः इति पुत्रं दुर्योधनं श्रावयति धृतराष्ट्रः—स्वच्छन्देत्यादिना । हि = यतः भीष्मः = पितामहः स्वेन = स्वकीयेन उपदेशेन = उपदिश्यते असौ तेन = प्रवचनेन कृतात्मतुष्टिः—कृता = विहिता आत्मतुष्टिः = सन्तोषः येन, स्वच्छन्दमृत्युः—स्वच्छन्दः = स्वानुकूलः मृत्युः = मरणं यस्य सः निहतः = नितरां हतः = घातितः अयं = सौभद्रः तु कुरुवंशनाथः—कुरुवंशस्य नाथः = कौरवान्वयप्रभुः बालः = शिशुः अर्जुनस्य = फाल्गुनस्य प्रथमः = प्रमुखः

वृद्ध भीष्मपितामह को कपट से मारकर उन लोगों की भुजायें जब नहीं गिर गई तो तरुण पुरुषों के समान बलवाले इस बालक को मारने पर हम लोगों की भुजायें कैसे गिरेंगी ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र—पुत्र ! भीष्म के वध में और अभिमन्यु की हत्या में क्या समानता है ?

दुर्योधन—तात ! कैसे समता नहीं है ।

धृतराष्ट्र—पुत्र सुनो,

भीष्म की मृत्यु उनकी इच्छा और उनके आदेश पर ही आई अतः उन्हें आत्म-सन्तोष था किन्तु यह तो अर्जुन का प्रथम अङ्कुर था, जिसे काट डाला गया ॥

दुश्शासनः—तात ! बालो न बाल इति । अभिमन्युना—

धृतराष्ट्रः—किं किं दुश्शासनो व्याहरति ।

दुश्शासनः—अथ किम् ।

सर्वेषां नः पश्यतां युध्यतां च
व्यायामोष्णं गृह्य चापं करेण ।
सूर्येणेवाभ्यागतैरंशुजालैः
सर्वे बाणैरङ्किता भूमिपालाः ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रः—कष्टं भोः !

प्रवालः = किसलयः, अङ्कुरस्वरूपः (पुत्रः) छिन्नः = कर्तितः, उन्मूलित इति भावः । उपजातिवृत्तम् । रूपकालङ्कारः ॥ १९ ॥

दुःशासनः सौभद्रे अबालत्वं व्याहरति पितरं प्रति—सर्वेषामित्यादिना ।

नः = अस्माकं सर्वेषां = समेषां पश्यताम् = अवलोकयतां युद्धयताञ्च=सङ्ग्रामं कुर्वतां च, व्यायामेन = परिश्रमेण उष्णम् = अशीतं चापं = धनुः करेण = हस्तेन गृह्य = गृहीत्वा आदायेत्यर्थः, अभ्यागतैः = समागतैः अंशुजालैः = अंशूनां = किरणानां जालानि = समूहानि तैः, सूर्येण = भानुना इव = यथा सर्वे = अशेषाः भूमिपालाः = राजानः बाणैः = विशिखैः अङ्किताः = लाञ्छिताः । अतो न बालः किन्तु तरुण एवेति भावः । अत्रोपमालङ्कारः । शालिनी वृत्तम् , यथा 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैरि'ति ॥ २० ॥

दुश्शासन—पिताजी ! वह बालक नहीं था । क्योंकि अभिमन्यु—

धृतराष्ट्र—क्या यह दुश्शासन बोल रहा है ।

दुश्शासन—और क्या ?

जब कि हम सब देख रहे थे और युद्ध कर रहे थे, वह अपने हाथ में धनुष लिए हुए था जो कि परिश्रम के कारण गर्म हो गया था । उसने अपने बाणों से राजाओं को वैसे ही व्याप्त कर दिया था जसे अपनी किरणों से सूर्य घिरा होता है ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र—बड़ा कष्ट है ।

बालेनैकेन तावद्भोः ! सौभद्रेणेदृशं कृतम् ।
पुत्रव्यसनसन्तप्तः पार्थो वः किं करिष्यति ॥ २१ ॥

दुर्योधनः—किं करिष्यति ।

धृतराष्ट्रः—तत्करिष्यति, यत्सावशेषायुषो द्रक्ष्यथ ।

दुर्योधनः—तात ! कस्तावदर्जुनो नाम ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! अर्जुनमपि न जानीषे ।

दुर्योधनः—तात ! न जाने ।

धृतराष्ट्रः—तेन हि अहमपि न जाने । किन्तु, अर्जुनस्य बलवीर्यज्ञाः बहवः सन्ति । तान् पृच्छ ।

दुर्योधनः—तात ! केऽर्जुनस्य बलवीर्यज्ञा मया प्रष्टव्याः ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! श्रूयताम् ।

धृतराष्ट्रः—दुःखं प्रकटयति—बालेनेत्यादिना ।

भोः = दुर्योधन ! (यदि) तावत् = आदौ एकेन = केवलेन सौभद्रेण = सुभद्रापुत्रेण बालेन = शिशुना ईदृशं = त्वदुक्तं महत्कर्म कृतं = विहितं तर्हि पुत्रव्यसनसन्तप्तः = पुत्रस्य = अभिमन्योः व्यसनं = दुःखं तेन सन्तप्तः = तापं प्राप्तः पार्थः- पृथायाः पुत्रः = अर्जुनः वः = युष्माकं किं करिष्यति = किं विधास्यति इति यूयमेव विमृशध्वं किमहं वच्मीति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ २१ ॥

हे, यदि एक बालक अभिमन्यु ने इस प्रकार (पराक्रम दिखाया) तो पुत्र के शोक से दुःखी अर्जुन तुम लोगों का क्या करेंगे ? ॥ २१ ॥

दुर्योधन—क्या करेंगे ?

धृतराष्ट्र—वह करेंगे जिसे तुम यदि जीवित बचे तो देखोगे ।

दुर्योधन—पिताजी ! तो यह अर्जुन है कौन ?

धृतराष्ट्र—पुत्र ! अर्जुन को भी नहीं जानते ?

दुर्योधन—पिताजी ! नहीं जानता ।

धृतराष्ट्र—तो मैं भी नहीं जानता । किन्तु अर्जुन के पराक्रम को जानने वाले बहुत से लोग हैं । उनसे पूछो ।

दुर्योधन—पिताजी ! अर्जुन के पराक्रम को जाननेवाले किन लोगोंसे मैं पूछूं ।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! सुनो

शक्रं पृच्छ पुरा निवातकवचप्राणोपहारार्चितं
पृच्छास्त्रैः परितोषितं बहुविधैः कैरातरूपं हरम् ।
पृच्छाग्निं भुजगाहुतिप्रणयिनं यस्तर्पितः खाण्डवे
विद्यारक्षितमद्य येन च जितस्त्वं पृच्छ चित्राङ्गदम् ॥२२॥

कोऽर्जुन इति पृष्टे दुर्योधने धृतराष्ट्रः अर्जुनं परिचाययति—शक्रमित्यादिना ।

पुरा = पूर्वस्मिन् काले, आदौ, निवातकवचप्राणोपहारार्चितं—निवातकवचानाम् = एतन्नामकानां दैत्यगणानां प्राणाः = असवः एव उपहाराः = अर्पणीयाः तैः अर्चितः = पूजितः तं शक्रम् = इन्द्रं पृच्छ = प्रश्नं कुरु । द्वितीयं बहुविधैः—बहवः विधास्तैः = नानाप्रकारैः अस्त्रैः = आयुधैः परितोषितं—परितः = सर्वतः तोषितं = प्रसादितं कैरातरूपं—किरातस्येदं कैरातं तद् रूपं यस्य सः = पुलिन्दरूपस्तं (भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः । अमरः ।) इन्द्रकीलपर्वते अर्जुनपरीक्षासमये किरातरूपं धृत्वा शिवेन परीक्षितः । अतएव तं शिवं पृच्छ = विजानीहि । तृतीयं यः = अग्निः खाण्डवे = खाण्डववनदाहे तर्पितः = तोषितः प्रीणितः भुजगाहुतिप्रणयिनं—भुजगानां = सर्पाणाम् आहुतिः=अग्नौ प्रक्षेपः तस्य प्रणयः = प्रेमा अस्तीति तं = सर्पाहुतिप्रेमास्पदम् तम् = पूर्वोक्तम् अग्निं = विभावसुं पृच्छ = प्रश्नं कुरु ।

चतुर्थम् अद्य = अस्मिन्दिने येन च = गन्धर्वेण त्वं = दुर्योधनः जितः = पराजितः विद्यारक्षितं = विद्याधरेण रक्षितम् (अत्र विद्याधरशब्दे 'विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो वक्तव्यः' इत्यनुशासनाद् 'धर' इत्यस्य लोपे विद्यारक्षितमिति पदम् ।) चित्राङ्गदम् = एतन्नामकं गन्धर्वं त्वं—दुर्योधनः पृच्छ = प्रब्रूहि गत्वेति शेषः । अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

उस इन्द्र से पूछो, जो पहले निवातकवच राक्षसों के जीवन के उपहार के द्वारा पूजित हुआ; उस शंकर से पूछो, जिस किरातवेशधारी को अर्जुन ने अनेक शस्त्रास्त्रों से सन्तुष्ट किया था; उस अग्नि से पूछो, जो नागयज्ञ में प्रसन्न होने वाली है और जिसका तर्पण खाण्डववन में हुआ; और आज उस गन्धर्व चित्राङ्गद से पूछो, जिसने तुम्हें परास्त किया पर अर्जुन के द्वारा तुम रक्षित हुए ॥ २२ ॥

दुर्योधनः—यद्येतद्वीर्यमर्जुनस्य किमस्माकं बले न सन्ति प्रतियोद्धारोऽर्जुनस्य ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! के ते ।

दुर्योधनः—ननु कर्ण एव तावत् ।

धृतराष्ट्रः—अहो हास्यः खलु तपस्वी कर्णः ।

दुर्योधनः—केन कारणेन ।

धृतराष्ट्रः—श्रूयतां,

शक्रापनीतकवचोऽर्धरथः प्रमादी
व्याजोपलब्धविफलास्त्रबलो घृणावान् ।
कर्णोऽर्जुनस्य किल यास्यति तुल्यभावं
यद्यस्त्रदानगुरवो दहनेन्द्ररुद्राः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रः अर्जुनात् कर्णे अतुल्यबलं दर्शयति—शक्रापनीतेत्यादिना । कर्णः = अधिरथपुत्रः शक्रापनीतकवचः = शक्रेण = इन्द्रेण अपनीतं = स्वायत्तीकृतं कवचं = वर्म यस्य सः, अर्धरथः–अर्धो रथो यस्य सः=खण्डस्यन्दनः (रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते । घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः । उद्योग: १६८।९) प्रमादी–प्रमादः अस्यास्तीति=अनवधानः व्याजोपलब्धविफलास्त्रबलः—व्याजेन = छद्मना उपलब्धं—प्राप्तम् अतएव विफलम् = अनर्थकम् अस्त्रबलम् = आयुधशक्तिर्यस्य सः, घृणावान्—घृणा = दया (घृणा दयाऽनुकम्पा स्यात् । अमरः ।) अस्ति अस्य = दयावान् एवंभूतः कर्णः अर्जुनस्य = फाल्गुनस्य तुल्यभावं—समानतां तदा

दुर्योधन—यदि अर्जुन में ऐसा पराक्रम है तो क्या अर्जुन के समान उद्भट योद्धा मेरी सेना में नहीं हैं ?

धृतराष्ट्र—पुत्र ! कौन हैं वे ?

दुर्योधन—अवश्य कर्ण ही है ।

धृतराष्ट्र—अहा, वेचारा कर्ण तो हास्यास्पद है ।

दुर्योधन—किस कारण से ।

धृतराष्ट्र—सुनो,

इन्द्र ने उसका कवच हरण कर लिया, वह अर्धरथ और प्रमादी है, कपट के द्वारा अर्जित उसकी विद्या भी विफल है, वह दयावान है, (हाँ) कर्ण अर्जुन की तुलना में तभी आ सकता है जब कि इन्द्र, अग्नि और शिव स्वयं उसके अस्त्रशिक्षक बनें ॥ २३ ॥

शकुनिः—प्रभवति भवानस्मानवधीरयितुम् ।

धृतराष्ट्रः—शकुनिरेष व्याहरति । भोः शकुने !

त्वया हि यत्कृतं कर्म सततं द्यूतशालिना ।
तत्कुलस्यास्य वैराग्निर्बालेष्वपि न शाम्यति ॥ २४ ॥

दुर्योधनः—अये,

भूमिकम्पः सशब्दोऽयं कुतो नु सहसोत्थितः ।

यास्यति यदि = यदा अस्यापि = कर्णस्यापि दहनेन्द्ररुद्राः—दहनश्च इन्द्रश्च रुद्रश्च (एषामितरेतरयोगद्वन्द्वः ।) = अग्निशक्रशिवाः अस्त्रदानगुरवः = आयुधप्रदातारः स्युः = भवेयुः तदा तयोः = तुल्यता भविष्यति नान्यथेति भावः । वसन्ततिलका-वृत्तम् सम्भवालङ्कारश्च ॥ २३ ॥

अवधीरयितुं = तर्कयितुम् ।

शकुनिं भर्त्सयति महाराजधृतराष्ट्रः—त्वयेति ।

(भो शकुने !) हि = यतः द्यूतशालिना—द्यूतेन = द्यूतक्रीडया शाल्यते = शोभते इति तेन—द्यूतक्रीडाशोभिना त्वया = भवता सततं = निरन्तरं यत् कर्म = कार्यं कृतं = विहितं तत् = तेन कर्मणा अस्य = कौरवस्य कुलस्य = अन्वयस्य वैराग्निः = द्वेषवह्निः बालेष्वपि = शिशुष्वपि न शाम्यति = न शान्तिं प्राप्नोति । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनः आकस्मिकमुत्पातं दृष्ट्वा एवं वदति—भूमिकम्प इत्यादिना ।

अयं = पुरतः दृश्यमानः सशब्दः = शब्देन सहितः = ध्वनियुक्तः भूमिकम्पः—

शकुनि—हम लोगों की निन्दा करने में आप समर्थ हैं ।

धृतराष्ट्र—यह शकुनि कह रहा है ? हे शकुनि !

द्यूत क्रीडा में दक्ष, तुमने निरन्तर जो कर्म किया (उसी के परिणाम स्वरूप) कि यह कौरवकुल की द्वेषाग्नि शिशु की आहुति के पश्चात् भी नहीं शान्त हो रही है ॥ २४ ॥

दुर्योधन—अरे,

यह सहसा भूकम्प के साथ शब्द कहां से उठा, आकाश से ऐसा उल्कापात

उल्काभिश्च पतन्तीभिः प्रज्वालितमिवाम्बरम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! एवं मन्ये,

सुव्यक्तं निहतं दृष्ट्वा पौत्रमायस्तचेतसः ।
उल्कारूपाः पतन्त्येते महेन्द्रस्याश्रुबिन्दवः ॥ २६ ॥

दुर्योधनः—जयत्रात ! गच्छ, पाण्डवशिबिरे शङ्खपटहसिंहनादरवोन्मिश्रः किंकृतोऽयं शब्द इति ज्ञायताम् ।

भटः—यदाज्ञापयति । (निष्क्रम्य प्रविश्य ।) जयतु महाराजः । संशप्तकानीकनिवाहितप्रतिनिवृत्तेन धनञ्जयेन निहतं पुत्रमङ्कस्थमश्रुभिः परिषिच्य जनार्दनावभर्त्सितेन प्रतिज्ञातं किलानेन ।

भूमेः कम्पः = धरावेपथुः सहसा = झटिति कुतः नु = कस्मान्नु उत्थितः = प्रादुर्भूतः, पतन्तीभिः=खात् पतनशीलाभिः उल्काभिः=ज्योतिःपुञ्जविशेषैः अम्बरम्= आकाशं प्रज्वालितम् = प्रदीप्तमिव जातमित्यर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रः = उल्काविषये स्वानुमानं प्रदर्शयति—सुव्यक्तमित्यादिना ।

पौत्रम् = अभिमन्युं सुव्यक्तं = सुस्पष्टं निहतं = शत्रुभिः घातितं पञ्चत्वं गतमित्यर्थः, दृष्ट्वा = प्रत्यक्षीकृत्य आयस्तचेतसः—आयस्तं = व्यथितं चेतः=हृदयं यस्य तस्य = व्यथितमनसः महेन्द्रस्य = शक्रस्य एते = पुरो दृश्यमानाः अश्रुबिन्दवः = वाष्पपृषतः (पृषत्कविन्दुपृषताः । अमरः ।) उल्कारूपाः सत्यः पतन्ति=आकाशात् आगच्छन्ति ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २६ ॥

हो रहा है मानों आकाश ही जल रहा है ॥ २५ ॥

धृष्टराष्ट्र—पुत्र ! ऐसा मालूम होता है,

पुत्र के आत्मज (अभिमन्यु) को स्पष्ट ही मरा हुआ देखकर मानों इन्द्र रो रहे हैं और ये उन्हीं के अश्रु-विन्दु उल्का रूप में आकाश से गिर रहे हैं ॥ २६ ॥

दुर्योधन—जयत्रात ! पाण्डवों के शिविर में जाओ और शंख, पटह तथा सिंहनाद से मिश्रित यह शब्द किस कारण हुआ है जान जाओ ।

भट—जैसी आज्ञा । (जाकर आता है ।) महाराज की जय हो । संशप्तकानीक के अवरोध से लौटकर आये हुए अर्जुन के द्वारा मृत पुत्र को गोद में लेकर अश्रु से सींचे जाने पर श्री कृष्ण से निन्दित होकर उन्होंने प्रतिज्ञा की है ।

दुर्योधनः—किमिति किमिति !
भटः—

तस्यैव व्यवसायतुष्टहृदयैस्तद्विक्रमोत्साहिभि-
स्तुष्टास्यैर्जितमित्यवेक्ष्य सहसा नादः प्रहर्षात्कृतः ।
आक्रान्ता गुरुभिर्धराधरवरैः संक्षोभितैः पार्थिवै-
र्भूमिश्चागतसंभ्रमेव युवतिस्तस्मिन् क्षणे कम्पिता ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रः—

प्रतिज्ञासारमात्रेण कम्पितेयं वसुन्धरा ।
सुव्यक्तं धनुषि स्पृष्टे त्रैलोक्यं विचलिष्यति ॥ २८ ॥

भटः पाण्डवशिबिरे दृष्टं भूकम्पनादहेतुं श्रावयति दुर्योधनं प्रति—तस्यैवेत्यादिना ।

तस्यैव = अर्जुनस्यैव व्यवसायतुष्टहृदयैः-व्यवसायेन = समुद्योगेन तुष्टानि = सन्तोषितानि हृदयानि = चेतांसि येषां ते तैः, तद्विक्रमोत्साहिभिः तस्य = अर्जुनस्य विक्रमाः = पराक्रमाः तान् उत्साहयितुं = वर्धयितुं शीलं येषां ते तैः, तुष्टास्यैः = तुष्टानि = प्रसन्नानि आस्यानि = मुखानि येषां ते तैः = प्रसन्नाननैः जितमिति=पराजितं कौरवकुलमिति अवेक्ष्य = विचार्य सहसा=झटिति प्रहर्षात् = आनन्दातिरेकात् नादः = सिंहनादः कृतः = विहितः । संक्षोभितैः = अभिमन्युमरणात् क्षुभितैः पार्थिवैः = राजभिः गुरुभिः = महद्भिः धराधरवरैः = भूभृद्भिः आक्रान्ता—अधिष्ठिता भूमिः = वसुन्धरा तस्मिन्क्षणे = तत्समये आगतसम्भ्रमा = प्राप्तविभ्रमा युवतिः = तरुणी इव = यथा कम्पिता = वेपथुमती । इदमेव भूकम्पनादयोः कारणम् ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् तथा उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २७ ॥

दुर्योधन—क्या, क्या ?

अर्जुन की प्रतिज्ञा से मन में प्रसन्न हुए, उनके पराक्रम को बढ़ानेवाले राजाओं ने मुख पर सन्तोष प्रकट करते हुए कौरवों को विजित देखकर आनन्दातिरेक से सहसा सिंहनाद किया। उस समय पृथ्वी, महान पर्वतों के समान राजाओं से व्याप्त ऐसी कांपी जैसे संभ्रमवश कोई युवती कांपे ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्र—जिसकी प्रतिज्ञा के ही प्रताप से यह पृथ्वी कांप गई उसके धनुष ग्रहण करते ही स्पष्ट है कि तीनों लोक डगमगा जायेंगे ॥ २८ ॥

दुर्योधनः—जयत्रात ! किमनेन प्रतिज्ञातम् ।

भटः—

येन मे निहतः पुत्रस्तुष्टिं ये च हते गताः ।
श्वः सूर्येऽस्तमसम्प्राप्ते निहनिष्यामि तानहम् ॥ २९ ॥

इति ।

दुर्योधनः—प्रतिज्ञाव्याघाते किं प्रायश्चित्तम् ।

भटः—चितारोहणं किल गाण्डीवेन सह ।

दुर्योधनः—मातुल ! चितारोहणं चितारोहणम् । वत्स दुश्शासन ! चितारोहणं चितारोहणम् । वयमपि तावत्प्रतिज्ञाव्याघाते प्रयत्नमनुतिष्ठामः ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! किं करिष्यसि ।

भटः अर्जुनस्य प्रतिज्ञां श्रावयति दुर्योधनं प्रति—येनेत्यादिना ।

येन = येन कौरवेण मे = मम अर्जुनस्य पुत्रः = अभिमन्युः निहतः = मारितः ये च = राजानः हते = नष्टे पुत्रे तुष्टिं = प्रसन्नतां गताः = प्राप्ताः तान् = शत्रून् अहम् = अर्जुनः श्वः = आगामिनि दिवसे सूर्ये = दिवाकरे अस्तम् = अस्ताचलम् असम्प्राप्ते = अनस्तमिते सूर्ये आदित्ये तिष्ठति सतीति भावः, निहनिष्यामि = संहरिष्यामि । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २९ ॥

दुर्योधन—जयत्रात ! उसने क्या प्रतिज्ञा की ?

भट—जिस (कौरव) ने मेरे पुत्र का वध किया है और जो (राजागण) उससे सन्तुष्ट हुए हैं उन सबको मैं कल सूर्यास्त के पूर्व ही मार डालूंगा ॥ २९ ॥

ऐसा,

दुर्योधन—प्रतिज्ञा के अपूर्ण होने पर क्या प्रायश्चित्त करेंगे ?

भट—अपने गाण्डीव धनुष के साथ चितारोहण ।

दुर्योधन—मामा जी ! चितारोहण, चितारोहण ! पुत्र दुश्शासन ! चितारोहण चितारोहण ! तो हम सब भी उनकी प्रतिज्ञा में बाधा डालने की कोशिश करें ।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! क्या करोगे ।

दुर्योधनः—ननु सर्वाक्षौहिणीसन्दोहेन च्छादयिष्ये जयद्रथम् ।
अपि च—
द्रोणोपदेशेन यथा तथाहं संयोजये व्यूहमभेद्यरूपम् ।
खिन्नाशयास्ते सगजाः सयोधा अप्राप्तकामा ज्वलनं विशेयुः ॥३०॥
धृतराष्ट्रः—
अपि प्रविष्टं धरणीमप्यारूढं नभस्थलम् ।
सर्वत्रानुगमिष्यन्ति शरास्ते कृष्णचक्षुषः ॥ ३१ ॥

दुर्योधनः जयद्रथरक्षाप्रकारं प्रदर्शयति—द्रोणोपदेशेनेत्यादिना ।

द्रोणोपदेशेन—द्रोणस्य = द्रोणाचार्यस्य उपदेशेन = आदेशेन तेन=आचार्य-कथनेन यथा = येन प्रकारेण उपदेक्ष्यति तथा = तेन प्रकारेणैव अभेद्यरूपं—न भेदयितुं योग्यं रूपं यस्य तत् = केनापि भेदयितुमशक्यं व्यूहं = सैन्यव्यूहम् अहं = दुर्योधनः संयोजये = करिष्ये । येन ते पाण्डवाः खिन्नाशयाः—खिन्नः = शिथिलः आशयः = अभिप्रायः येषां ते राजानः, सगजाः = हस्तिभिस्सहिताः सयोधाः = योधैः=सैनिकैः सहिताः अप्राप्तकामाः—अप्राप्तः=अलब्धः कामः = मनोरथो येषां ते = अलब्धाभिलाषाः ज्वलनं = वह्निं विशेयुः = प्रविशेयुः, चितायामिति शेषः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्रः दुर्योधनं प्रति कथयति यत् पाण्डवशरेभ्यः जयद्रथस्य कुत्रापि रक्षा न भवितुमर्हति=अपि प्रविष्टमित्यादिना ।

धरणीं = पृथ्वीं प्रविष्टं=कृतप्रवेशमपि, नभस्थलं—नभसः स्थलम् = आकाशम् आरूढं = तत्र प्राप्तमपि कृष्णचक्षुषः—कृष्णः = वासुदेवः चक्षुः = नेत्रं यस्य स तस्य अर्जुनस्य ते = प्रसिद्धाः शराः = बाणाः सर्वत्र = सर्वस्मिन् स्थाने जयद्रथमनुगमिष्यन्ति = जयद्रथमनुसरिष्यन्ति । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३१ ॥

दुर्योधन—जयद्रथ को अपनी सारी अक्षौहिणी से छिपा देंगे। और भी, जैसा आचार्य द्रोणाचार्य कहेंगे हम सब सैन्यव्यूह की अजेय रचना करेंगे और इस प्रकार अपनी इच्छा को न पूर्ण करके हाथी और सेना के साथ सब आग में जल मरेंगे ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र—पृथ्वी के अन्दर प्रवेश करने पर एवं आकाश मण्डल में चढ़ जाने पर भी कृष्ण ही हैं नेत्र जिनके ऐसे पाण्डव के बाण जयद्रथ का पीछा सर्वत्र करेंगे ॥ ३१ ॥

भटः—

क्रूरमेवं नरपतिं नित्यमुद्यतशासनम् ।
यः कश्चिदपरो ब्रूयान्न तु जीवेत्स तत्क्षणम् ॥ ३२ ॥

(ततः प्रविशति घटोत्कचः ।)

घटोत्कचः—एष भोः !

प्रयामि सौभद्रविनाशचोदितः दिदृक्षुरद्यारिमनार्यचेतसम् ।
विचिन्तयंश्चक्रधरस्य शासनं यथा गजेन्द्रोऽङ्कुशशङ्कितो बलिम् ॥३३॥

एवं धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा कश्चिद् भटः एवं वदति—क्रूरमित्यादिना ।

नित्यं = सर्वदा उद्यतशासनम्—उद्यतम् = तत्परम् शासनम् = आदेशो यस्य स तम् नरपतिं—नराणां पतिम् = मानवेश्वरं दुर्योधनम् एवं = यथा धृतराष्ट्रः प्रवदति क्रूरं = निष्ठुरम् अपरः—अन्यः यः कश्चिद् = योपि कोपि पुमान् ब्रूयात् = कथयेत् सः = पुरुषः तत्क्षणं=सद्यः एव न तु जीवेत् = तस्य आयुरशेषो न स्यात् । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३२ ॥

घटोत्कचः स्वोद्देश्यं प्रदर्शयति—प्रयामीत्यादिना ।

सौभद्रविनाशचोदितः—सुभद्रायाः अपत्यं तस्य विनाशः = निधनं तेन चोदितः = प्रेरितः सन् अहं = घटोत्कचः अद्य = अधुना अनार्यचेतसं = न आर्यम् अनार्यं तत् चेतः यस्य स तम् = दुष्टहृदयम् अरिं = शत्रुं दिदृक्षुः—द्रष्टुमिच्छुः अवलोकनार्थमित्यर्थः, प्रयामि = गच्छामि । चक्रधरस्य = धरतीति धरः चक्रस्य धर तस्य = चक्रपाणेः कृष्णस्य शासनं = 'शास्यते अनेन = आज्ञां विचिन्तयन् = विचारयन् = यथा येन प्रकारेण अङ्कुशेन = सृणिना (अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम् ।

भट—निरन्तर प्रजा पर शासन करने में तत्पर राजा को यदि कोई अन्य इस प्रकार के क्रूर वचन कहता तो वह तत्क्षण मार डाला जाता है ॥ ३२ ॥

(तब घटोत्कच प्रवेश करता है ।)

घटोत्कच—हे, यह

मैं सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु के वध से प्रेरित होकर कृष्ण के आदेश को मान कर पापी-हृदय शत्रु को देखने की इच्छा से जाता हूँ जैसे अंकुश से भयभीत हुआ गजेन्द्र ग्रास लेने के लिए जाता है ॥ ३३ ॥

(अधो विलोक्य) इदमस्योपस्थानगृहद्वारम् । यावदवतरामि । (अवतीर्य) आत्मनैवात्मानं निवेदयिष्ये । भोः !

हैडिम्बोऽस्मि घटोत्कचो यदुपतेर्वाक्यं गृहीत्वागतो
द्रष्टव्योऽत्र मया गुरुः स्वचरितैर्दोषैर्गतः शत्रुताम् ।

दुर्योधनः—

एह्येहि प्रविशस्व शत्रुभवनं कौतूहलं मे महत् ।
धृष्टं श्रावय मां जनार्दनवचो दुर्योधनोऽहं स्थितः ॥ ३४ ॥

अमरः ।) शङ्कितः = विचिकित्सितः (विचिकित्सा तु संशयः । अमरः ।) गजेन्द्रः = गजेषु इन्द्रः = करिवरः बलिम् = ग्रासम् आहर्तुं प्रयाति तथैवाहमपि अरिं द्रष्टुं गच्छामीति आशयः । शस्यवृत्तम् उपमालङ्कारः ॥ ३३ ॥

दुर्योधनोपस्थानगृहद्वारं सम्प्राप्य घटोत्कचः स्वयमेवात्मानं निवेदयति— हैडिम्ब इत्यादिना ।

(अहं) घटोत्कचः = एतन्नामा हैडिम्बः = हिडिम्बायाः = एतन्नामिकायाः राक्षस्या अपत्यं = हिडिम्बापुत्रः अस्मि = भवामि यदुपतेः = श्रीकृष्णस्य वाक्यम्= आदेशं गृहीत्वा = आदाय आगतः = सम्प्राप्तः अत्र = अस्मिन् स्थाने स्वचरितैः स्वेनं = स्वयं चरितानि = कृतानि तैः दोषैः— अपराधैः शत्रुतां शत्रोर्भावः तां = वैरित्वं गतः = प्राप्तः गुरुः = श्रेष्ठः (गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे । अमरः) मया= घटोत्कचेन द्रष्टव्यः = दर्शनीयः ।

पश्चाद् दुर्योधनः कथयति—एहि एहि=आगच्छ आगच्छ शत्रुभवनं=वैरिगृहं प्रविशस्व = प्रवेशं कुरु मे = मम दुर्योधनस्य महत् = परमं कौतूहलम्—औत्कण्ठ्यं (वर्तते) धृष्टं=निर्भयं यथा स्यात् जनार्दनवचः—जनार्दनस्य=वासुदेवस्य वचः=वचनं

(नीचे देखकर) यही सभाभवन का द्वार है । तो प्रवेश करता हूँ (उतरकर) स्वयं ही मैं अपना परिचय दूँगा । हे,

श्री कृष्ण के आदेश को ग्रहण करके मैं हिडिम्बा का पुत्र घटोत्कच अपने गुरुजनों को, जो अपने ही पाप कर्मों के कारण अब शत्रु हो गये हैं, देखने की इच्छा से यहां आया हूँ ।

दुर्योधन—इधर आओ, इधर आओ, शत्रु के भवन में प्रवेश करो, मुझे बड़ी (कौतूहल) जिज्ञासा है निर्भय होकर श्री कृष्ण का सन्देश सुनाओ, यह मैं दुर्योधन यहां हूँ ॥ ३४ ॥

घटोत्कचः—(प्रविश्य) अये अयमत्रभवान् धृतराष्ट्रः ! अनार्यशतस्योत्पादयिता । अयं ननु ललितगम्भीराकृतिविशेषः । आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

वृद्धोऽप्यनाततवलीगुरुसंहतांसः
श्रद्धेयरूप इव पुत्रशतस्य धृत्या ।
मन्ये सुरैस्त्रिदिवरक्षणजातशङ्कै-
स्त्रासान्निमीलितमुखोऽत्रभवान् हि सृष्टः ॥ ३५ ॥

(उपसृत्य) पितामह ! अभिवादये घटोत्क—(इत्यर्धोक्ते) न न अयमक्रमः । युधिष्ठिरादयश्च मे गुरवो भवन्तमभिवादयन्ति । पश्चाद्घटोत्कचोऽहमभिवादये ।

श्रावय = कर्णगोचरीकुरु अहं दुर्योधनः = एतदभिधः स्थितः श्रोतुमित्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रं दृष्ट्वा घटोत्कचः आश्चर्यं प्रदर्शयति—वृद्धोप्यनेत्यादिना ।

वृद्धोऽपि = जरठोऽपि अनाततवली–अनातता = अपविस्तृता वली तया गुरु संहतौ अंसौ = मिलितौ स्कन्धौ यस्य सः, पुत्रशतस्य = पुत्राणां शतं तस्य = शतसङ्ख्यकसूनोः धृत्या = धारणेन श्रद्धेयरूपः = श्रद्धां कर्तुं योग्यं रूपं यस्य सः सुरैः = देवैः त्रिदिवरक्षणजातशङ्कैः–त्रिदिवस्य = स्वर्गस्य (स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः । अमरः ।) रक्षणं = पालनं तस्मिन् जाता शङ्का येषां ते तैः = स्वर्गपालनोत्पन्नसन्देहैः त्रासात् = भयात् निमीलितमुखः = निमीलितं =

घटोत्कच—(प्रवेश करके) अरे यही पूज्य धृतराष्ट्र हैं । सौ अनार्य पुत्रों के जनक । यह इनकी सुन्दर गम्भीर आकृति बड़ी विशिष्ट है । बड़ा आश्चर्य है ।

यह वृद्ध हैं फिर भी झुर्रियां नहीं पड़ी हैं और मांसल पुष्ट बाहुमूल तथा श्रद्धेय रूप हैं क्योंकि सौ पुत्रों को उत्पन्न किया है । मालूम होता है कि देवताओं को स्वर्ग लोक की रचा में शंका हो गई थी अतः (ब्रह्मा ने) इन श्रीमान को अन्धा ही बनाया ॥ ३५ ॥

(समीप जाकर) पितामह ! अभिवादन करता हूँ घटोत्कच (ऐसा आधा कहने पर) नहीं, नहीं, यह तो क्रमभंग हो गया । युधिष्ठिरादि मेरे श्रेष्ठ श्रीमान को प्रणाम कर रहे हैं, तत्पश्चात् मैं घटोत्कच भी अभिवादन करता हूँ ।

धृतराष्ट्रः—एह्येहि पुत्र !

न ते प्रियं दुःखमिदं ममापि
यद् भ्रातृनाशाद् व्यथितस्तवात्मा ।
इत्थं च ते नानुगतोऽयमर्थो
मत्पुत्रदोषात्कृपणीकृतोऽस्मि ॥ ३६ ॥

घटोत्कचः—अहो कल्याणः खल्वत्रभवान् । कल्याणानां प्रसूतिं पितामहमाह भगवांश्चक्रायुधः ।

धृतराष्ट्रः—(आसनादुत्थाय ।) किमाज्ञापयति भगवांश्चक्रायुधः ।

घटोत्कचः—न न न । आसनस्थेनैव भवता श्रोतव्यो जनार्दनस्य सन्देशः ।

सम्पुटितं मुखम् = आननं यस्य सः, अत्र भवान् = पूज्यः धृतराष्ट्रः सृष्टः = रचितः इति मन्ये = अनुमिनोमि । वसन्ततिलकावृत्तम् उत्प्रेक्षा अलङ्कारश्च ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्रः घटोत्कचं स्वाभिप्रायं वदति—न ते प्रियमित्यादिना ।

(हे पुत्र घटोत्कच !) भ्रातृनाशात्-भ्रातुः = अभिमन्योः नाशः = विलयनं तस्मात् = सौभद्रभङ्गात् तव = घटोत्कचस्य आत्मा = मनः व्यथितः = दुःखितः यत् तत् = तस्मात् कारणात् ते—तव न प्रियं = प्रियकरं ममापि = धृतराष्ट्रस्यापि इदं = पौत्रनिधनं दुःखं = दुःखकरम् इत्थं च = एवं च ते = तव अयमर्थः = अयमाशयः न अनुगतः = न सम्यग् ज्ञातः, मत्पुत्रदोषात्—मम = धृतराष्ट्रस्य पुत्रः = दुर्योधनः तस्य दोषात् = अपराधात् अहं = धृतराष्ट्रः कृपणीकृतः—न कृपणः अकृपणः कृपणः कृतः इति (अभूततद्भावे च्विः ।) = कदर्थीकृतः अस्मि = भवामि अयमाशयः । उपजाति वृत्तम् ॥ ३६ ॥

धृतराष्ट्र—आओ, आओ पुत्र !

जो भाई की मृत्यु से तुम्हारी आत्मा दुःखित है यह केवल तुम्हारे ही शोक का विषय नहीं है अपितु मेरा भी मन दुखी है । इस आशय को तुम नहीं समझते, मैं अपने पुत्रों के अपराध से कदर्थी किया गया हूँ ॥ ३६ ॥

घटोत्कच—अहा कैसे कल्याणकारी आप हैं । भगवान् चक्रपाणि ने कल्याण के उद्भवस्थान आप पितामह से कहा है ।

धृतराष्ट्र—(अपने आसन से उठते हुए) भगवान् चक्रधर ने (मेरे लिये) क्या आज्ञा दी है ।

धृतराष्ट्रः—यदाज्ञापयति भगवांश्चक्रायुधः । (उपविशति ।)

घटोत्कचः—पितामह ! श्रूयताम् । हा वत्स अभिमन्यो ! हा वत्स कुरुकुलप्रदीप । हा वत्स यदुकुलप्रवाल ! तव जननीं मातुलं च मामपि परित्यज्य पितामहं द्रष्टुमाशया स्वर्गमभिगतोऽसि । पितामह ! एक-पुत्रविनाशादर्जुनस्य तावदीदृशी खल्ववस्था, का पुनर्भवतो भविष्यति ! ततः क्षिप्रमिदानीमात्मबलाधानं कुरुष्व । यथा ते पुत्रशोकसमुत्थितोऽग्निर्न दहेत्प्राणमयं हविरिति ।

धृतराष्ट्रः—

सक्रोधव्यवसायेन कृष्णेनैतदुदाहृतम् ।
पश्यामीव हि गाण्डीवी सर्वक्षत्रवधे धृतः ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रः दूतमुत्तरयति—सक्रोधेत्यादिना ।

सक्रोधव्यवसायेन—क्रोधेन सहितः सक्रोधः स व्यवसायो यस्य तेन = सक्रोपो-द्योगेन कृष्णेन = वासुदेवेन एतद्वचः उदाहृतं = कथितं, हि = यतः गाण्डीवी—गाण्डीवं-धनुः अस्यास्तीति अर्जुनः सर्वक्षत्रवधे—सर्वेषां = समेषां क्षत्राणां = क्षत्रियाणां वधः = हननं तस्मिन् = अशेषवीरनाशे धृतः = धारित इति पश्यामीव = प्रत्यक्षीकरोमि इव । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३७ ॥

घटोत्कच—नहीं, नहीं, नहीं । आसन पर बैठे ही आप श्री कृष्ण के सन्देश को सुने ।

धृतराष्ट्र—भगवान् श्री कृष्ण की जैसा आज्ञा । (बैठता है ।)

घटोत्कच—पितामह ! सुनिये । हाय पुत्र अभिमन्यु ! हाय पुत्र कुरुकुल के दीपक ! हाय पुत्र यदुकुल के अङ्कुर ! तुम अपनी मां और मामा, मुझे भी छोड़कर पितामह को देखने के लिए स्वर्गलोक में चले गये । एक पुत्र के विनाश से अर्जुन की यह अवस्था हुई है फिर तुम्हारी अवस्था क्या होगी पितामह ! तो शीघ्र ही अपने पक्ष की सम्पूर्ण सेना को लौटा लो जिससे अपने पुत्रशोक से उठी हुई अग्नि में हवि की भांति तुम्हारे ही शरीर एवं प्रमाण न जल जांय ।

धृतराष्ट्र—क्रोध के साथ उद्योगशील श्री कृष्ण ने ऐसा कहा है मैं तो मानो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि अर्जुन ने सारे क्षत्रियों के विनाश के लिए ही निश्चय किया है ॥ ३७ ॥

सर्वे—अहो हास्यमभिधानम् ।

घटोत्कचः—किमेतद्धास्यते ।

दुर्योधनः—एतद्धास्यते ।

देवैर्मन्त्रयते सार्धं स कृष्णो जातमत्सरः ।
पार्थेनैकेन यो वेत्ति निहतं राजमण्डलम् ॥ ३८ ॥

घटोत्कचः—

हससि त्वमहं वक्ता प्रेषितश्चक्रपाणिना ।
श्रावितं पार्थकर्मेदमहो युक्तं तवैव तु ॥ ३९ ॥

अपि च, भवतापि श्रोतव्यो जनार्दनसन्देशः ।

दुर्योधनः हास्यबीजं दर्शयति—देवैर्मन्त्रयत इत्यादिना ।

जातमत्सरः-जातः = उत्पन्नः मत्सरः = द्वेषः ईर्ष्या वा यस्य सः = प्रसिद्धः कृष्णः = वासुदेवः देवैः सार्धं—देवैः = सुरैः सार्धं = साकं मन्त्रयते = मन्त्रणां करोति यः = वासुदेवः एकेन = केवलेन पार्थेन = अर्जुनेन राजमण्डलं = राज्ञां मण्डलं = राजसङ्घं निहतं = विनष्टं वेत्ति = जानाति । इदमेव हास्यकारणम् ॥ ३८ ॥

घटोत्कचः दुर्योधनकर्म निन्दति—हससीत्यादिना ।

(हे दुर्योधन !) त्वं = धृतराष्ट्रपुत्रः हससि = हास्यं करोषि अहं = घटोत्कचः वक्ता = सन्देशवाहकः चक्रपाणिना = चक्रधरेण कृष्णेन प्रेषितः = प्रेरितः इदं पार्थकर्म = अर्जुनकृत्यं श्रावितं = समुदितम् अहो-इत्थं कर्म = अयं व्यवहारः तवैव युक्तम् = योग्यं नान्यः कश्चिदेवं कर्तुं समर्थः त्वामृते ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥३९॥

सब लोग—अहा, कितना हास्यास्पद भाषण है ?

घटोत्कच—इसमें हास्यास्पद क्या है ?

दुर्योधन—यह हास्यास्पद है—

देवताओं के साथ मन्त्रणा करते-करते उसे द्वेष (गर्व) हो गया है जो केवल पार्थ के द्वारा सम्पूर्ण क्षत्रियमण्डल को मरा हुआ समझता है ॥ ३८ ॥

घटोत्कच—श्रीकृष्ण के द्वारा भेजा गया मैं संदेश कह रहा हूँ और तुम हँस रहे हो वास्तव में अर्जुन के कर्मों को तुम्हें बतलाना ही उचित है ॥ ३९ ॥

और भी, आप भी श्रीकृष्ण के सन्देश को सुनें ।

दुश्शासनः—मा तावत् भोः ! क्षत्रियावमानिन् !

पृथिव्यां शासनं यस्य धार्यते सर्वपार्थिवैः ।
सन्देशः श्रोष्यतेऽप्यन्यो न राज्ञस्तस्य संनिधौ ॥ ४० ॥

घटोत्कचः—कथं दुश्शासनो व्याहरति अरे दुश्शासन ! अराजा नाम भवतां चक्रायुधः । हं भोः !

मुक्ता येन यदा पुरा नृपतयः प्रभ्रष्टमानोच्छ्रया
येनार्घ्यं नृपमण्डलस्य मिषतो भीष्माग्रहस्तादृधृतम् ।

दुश्शासनः एवं वदति घटोत्कचं प्रति—पृथिव्यामित्यादिना ।

यस्य = राज्ञः दुर्योधनस्य शासनम् = आज्ञामादेशं वा पृथिव्यां = वसुन्धरायां सर्वपार्थिवैः सर्वे च ते पार्थिवाः तैः = निखिलराजभिः धार्यते = नतमस्तकेन गृह्यते तस्य राज्ञः = नृपस्य सन्निधौ अन्यः = राजभिन्नः सन्देशः = वाचिकं (सन्देशवाग् वाचिकं स्यात् । अमरः ।) न श्रोष्यते = नाकर्ण्यते, अतो न वक्तव्यमेवमिति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ४० ॥

घटोत्कचः कृष्णे राजत्वं दर्शयति—मुक्ता इत्यादिना ।

पुरा = प्राक्तनकाले यदा = यस्मिन् समये प्रभ्रष्टमानोच्छ्रयाः—प्रभ्रष्टाः प्रणष्टाः मानस्य = संमानस्य उच्छ्रयाः = उन्नतयः येषां ते । नृपतयः=राजानः जरासन्ध-कारागारे आसन्निति शेषः । (तदा) येन = कृष्णेन मुक्ताः = निगडात् मोचिताः नृपमण्डलस्य = राजसमूहस्य मिषतः = पश्यतः भीष्माग्रहस्तात्—भीष्मस्य = भीष्मकस्य रुक्मिणीपितुरित्यर्थः अग्रहस्तः = करकमलं तस्मात् अर्घ्यम् = अर्घद्रव्यं येन = कृष्णेन हृतं = प्राप्तं यस्य = कृष्णस्य श्रीवक्षशय्यागृहे—श्रीवक्षस्य शय्यागृहं

दुश्शासन—ऐसा नहीं, हे क्षत्रियों का अपमान करने वाले !

जिसकी आज्ञा सारे पृथ्वी के राजागण धारण करते हैं उस राजा के सम्मुख किसी अन्य (अराजा) का सन्देश नहीं सुना जायगा ॥ ४० ॥

घटोत्कच—क्या यह दुश्शासन कह रहा है दुश्शासन ! तुम्हारे लिए श्रीकृष्ण क्या राजा नहीं हैं ? खेद है ।

जिस श्रीकृष्ण ने (जरासन्ध के) कारागार से दीन-राजाओं को मुक्ति दी, भीष्म के कर कमलों से जिसने अनेक राजाओं के समक्ष अर्घ्यदान लिया, लक्ष्मी

श्रीर्यस्याभिरता नियोगसुमुखी श्रीवक्षशय्यागृहे

श्लाघ्यः पार्थिवपार्थिवस्तव कथं राजा न चक्रायुधः ॥ ४१ ॥

दुर्योधनः—दुश्शासन ! अलं विवादेन ।

राजा वा यदि वाऽराजा बली वा यदि वाऽबली ।

बहुनात्र किमुक्तेन किमाह भवतां प्रभुः ॥ ४२ ॥

घटोत्कचः—अथ किमथ किम् । प्रभुरेव त्रैलोक्यनाथो भगवांश्चक्रायुधः । विशेषतोऽस्माकं प्रभुः । अपि च,

अवसितमवगच्छ क्षत्रियाणां विनाशं

तस्मिन् = हृदये नियोगसुमुखी—नियोगेन = आदेशेन सुमुखी = सुप्रसन्ना श्रीः = लक्ष्मीः अभिरता=अनुरक्ता विराजत इति शेषः । पार्थिवः–पार्थिवानां पार्थिवः = राजराजः श्लाघ्यः = प्रशंसनीयः चक्रायुधः = रथाङ्गहेतिः श्रीकृष्णः तव = भवतः मते कथं न राजा । शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥ ४१ ॥

दुर्योधनः दुश्शासनं विवादेन विनिवार्य प्रकृतिमनुसरति–राजा वेत्यादिना । (यदि कृष्णः) राजा वा = नृपो वा अराजा वा = राजशब्दरहितो वा किञ्च बली वा = बलवान् वा अबली वा = निर्बलो वा स्यात् अत्र = अस्मिन् विषये बहुना = भृशम् उक्तेन = कथितेन किम्=व्यर्थम् । भवतां = युष्माकं प्रभुः = स्वामी किमाह = किमुक्तवान् तदुच्यताम् ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अवसितमिति । इदानीं क्षत्रियाणां = भूभृतां विनाशं = निधनम् अवसितं =

स्वयं जिसपर अनुरक्त हैं और उनका हृदय ही जिस (श्रीकृष्ण) का शयनगृह है वह वन्दनीय चक्रपाणि राजाओं का भी राजा तुम्हारे लिए कैसे राजा नहीं है ? ॥ ४१ ॥

दुर्योधन—दुश्शासन ! अब विवाद बन्द करो ।

श्रीकृष्ण राजा हों या अराजा हों वे बली हों या निर्बल हों इसके कथन की क्या आवश्यकता, बतलाओ तुम्हारे प्रभु ने क्या कहा है ? ॥ ४२ ॥

घटोत्कच—और क्या और क्या ? भगवान चक्रपाणि तीनों लोकों के स्वामी प्रभु ही हैं । विशेष रूप से हम लोगों के स्वामी हैं ।

और भी,

क्षत्रियों का विनाश अब समाप्त ही समझो सौ राजाओं के वध से अब पृथ्वी

नृपशतविनिचित्या लाघवं चास्तु भूमेः।
न हि तनयविनाशादुद्यतोग्रास्त्रमुक्तैः
समरशिरसि कश्चित्फाल्गुनस्यातिभारः ॥ ४३ ॥

शकुनिः—

यदि स्याद्वाक्यमात्रेण निर्जितेयं वसुन्धरा।
वाक्ये वाक्ये यदि भवेत्सर्वक्षत्रवधः कृतः ॥ ४४ ॥

घटोत्कचः—शकुनिरेष व्याहरति। भोः शकुने !

समाप्तम् अवगच्छ = जानीहि। नृपशतविनिचित्या—नृपाणां = राज्ञां शतं=संख्याशतकं तस्य विशेषेण निचितिः एकत्र स्थितिः तया भूमेः = पृथिव्याः लाघवं = लघुता च अस्तु = भवतु। तनयविनाशात्—तनयस्य विनाशः तस्मात् = पुत्रनिधनात् उद्यतोग्रास्त्रमुक्तैः—उद्यतानि उग्राणि अस्त्राणि तेभ्यः मुक्तैः तैः = उत्थापितोग्रायुधप्रेरितैः समरशिरसि—समरस्य = संग्रामस्य शिरः = मूर्द्धा तस्मिन् = रणमस्तके फाल्गुनस्य = अर्जुनस्य कश्चित् = कोऽपि अतिभारम् = अतिगौरवं नहि = न वर्तते अर्थात् हेलयैव संग्रामं विजेष्यत्यर्जुन इति भावः। मालिनी वृत्तम् यथा—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ४३ ॥

शकुनिः घटोत्कचवाक्यं प्रक्षिपति—यदि स्यादित्यादिना।

यदि = चेत् वाक्यमात्रेण = कथनेनैव इयम् = विद्यमाना वसुन्धरा = वसुधा (वसुधोर्वी वसुन्धरा। अमरः।) निर्जिता = स्वायत्तीकृता। स्यात् = भवेत् तर्हि वाक्ये वाक्ये = प्रतिवाक्यं सर्वक्षत्रवधः—सर्वेषां = समेषां क्षत्राणां = क्षत्रियाणां वधः = विनाशः कृतः = भवेत् ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ४४ ॥

हल्की हो (क्योंकि) पुत्र के निधन से उठे हुए उग्र अस्त्रों के प्रहार से रण के प्रारंभ होने पर अर्जुन के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होगा अर्थात् सब कुछ कौतुक मात्र में ही हो जाएगा ॥ ४३ ॥

शकुनि—यदि वाक्य कहने मात्र से ही यह पृथ्वी जीती जा सके और यदि वाक्य-वाक्य से ही होना है तो (समझो) सारे क्षत्रिय मार डाले गये ॥ ४४ ॥

घटोत्कच—यह शकुनि कह रहा है ? हे शकुनि !

अक्षान्विमुञ्च शकुने ! कुरु बाणयोग्य-
मष्टापदं समरकर्मणि युक्तरूपम् ।
न ह्यत्र दारहरणं न च राज्यतन्त्रं
प्राणाः पणोऽत्र रतिरुग्रबलैश्च बाणैः ॥ ४५ ॥

दुर्योधनः—भो भोः ! प्रकृतिं गतः ।

क्षिपसि वदसि रूक्षं लङ्घयित्वा प्रमाणं
न च गणयसि किञ्चिद्व्याहरन्दीर्घहस्तः ।
यदि खलु तव दर्पो मातृपक्षोग्ररूपो

घटोत्कचः शकुनिं भर्त्सयति—अक्षानित्यादिना ।

(हे शकुने !) अक्षान् = क्रीडायोग्यान् पाशान् विमुञ्च = प्रक्षिप समरकर्मणि-समरस्य कर्म = युद्धस्य कृत्यं तस्मिन् युक्तरूपं = तदनुकूलं बाणयोग्यं = विशिखानुकूलम् अष्टापदं=द्यूतक्रीडाफलकं कुरु=विधेहि, अत्र दारहरणं=दाराणां हरणं नहि अस्ति = वर्तते, राज्यतन्त्रञ्च = राज्यापहरणमपि न वर्तते अत्र प्राणाः=जीवनानि पणः = ग्लहः उग्रबलैः = बलाधिक्यशालिभिः बाणैश्च = विशिखैश्च रतिः = अनुरागः वर्तते । अतोऽत्र न तव सामर्थ्यम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधनः दूतं घटोत्कचं भर्त्सयन् स्वबलं प्रदर्शयति—क्षिपसीत्यादिना । प्रमाणं= नियमं लङ्घयित्वा = उल्लङ्घ्य रूक्षं = परुषं वदसि = जल्पसि क्षिपसि = निन्दसि अस्मात् इति शेषः । दीर्घहस्तः—दीर्घौ = आयतौ हस्तौ = करौ यस्य सः व्याहरन् = जल्पन् न च किञ्चित्=नहि किमपि गणयसि = विचारयसि स्मरसी-त्यर्थः । यदि = चेत् तव = भवतः घटोत्कचस्य मातृपक्षोग्ररूपः—मातुः = हिडि-

---

जुए के पाशों को छोड़ दो और अपने क्रीडाफलक को शराघात के अनुरूप युद्ध करने के योग्य बना दो। यहाँ कहीं स्त्री का अपहरण या राज्य का (धोखे से) अपहरण करना नहीं है यहाँ तो अति तीखे बाण और प्राण ही क्रीडा-पाश हैं ॥ ४५ ॥

दुर्योधन—हे हे ! शान्त हो जाओ ।

(दूत के) नियमों का उल्लंघन करके परुष वचन बोलते हो और हम सब की निन्दा करते हो। तुम दीर्घबाहु, बकवास करते समय कुछ भी नहीं गिनते।

वयमपि खलु रौद्रा राक्षसोग्रस्वभावाः ॥ ४६ ॥

घटोत्कचः—शान्तं शान्तं पापम् । राक्षसेभ्योऽपि भवन्त एव क्रूरतराः । कुतः,

न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातॄन् दहन्ति निशाचराः
शिरसि न तथा भ्रातुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचराः ।
न च सुतवधं संख्ये कर्तुं स्मरन्ति निशाचरा
विकृतवपुषोऽप्युग्राचारा घृणा न तु वर्जिता ॥ ४७ ॥

म्बायाः पक्षः तेन उग्रं = क्रूरतरं रूपं = स्वरूपं यस्य सः, दर्पः = अभिमानं तव = भवतः खलु तर्हि वयमपि=कौरवा अपि राक्षसोग्रस्वभावाः = राक्षसानामिव उग्रः= क्रूरः स्वभावः = आशयो येषां ते रौद्राः = भयङ्कराः खलु । अतः अस्माकं सन्निधौ त्वया दम्भो न विधेय इति भावः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

घटोत्कचः दुर्योधनादीन् राक्षसेभ्योऽप्यधिकं क्रूरं साधयति—न तु जतुगृह इत्यादिना । निशाचराः = यातुधानाः सुप्तान् = निद्रितान् भ्रातॄन्=बन्धून् जतुगृहे= लाक्षागृहे न तु दहन्ति = भस्मसात् कुर्वन्ति तथा = तेनैव प्रकारेण निशाचराः = रक्षांसि भ्रातुः = बन्धोः पत्नीं = भार्यां शिरसि = मस्तके न तु स्पृशन्ति = न स्पर्शं कुर्वन्ति किं च निशाचराः संख्ये = संग्रामे सुतवधं = पुत्रहननं कर्तुं = विधातुं न स्मरन्ति = नहि ध्यानं कुर्वन्ति विकृतवपुषोऽपि = भीषणविग्रहा अपि उग्राचाराः = कठोरव्यवहाराः सन्तोऽपि तु = किन्तु घृणा = दया न वर्जिता = न त्यक्ता तैरिति शेषः । किन्तु ते निशाचरा अपि दयालवः; भवन्तस्तु निर्दयाः अतस्तेभ्योऽप्युग्रतराः इति भावः ॥ ४७ ॥

यदि तुम्हें अपनी माता (हिडिम्बा) के द्वारा प्राप्त विकराल रूप पर गर्व है तो हम सब भी राक्षसों के समान विकट स्वभाव वाले हैं ॥ ४६ ॥

घटोत्कच—शान्त शान्त पाप ! आप लोग तो राक्षसों से भी अधिक कठोर स्वभाव के हैं । क्योंकि,

निशाचर भी लाक्षागृह में सोये हुए भाइयों को नहीं जलावेंगे । वे अपनी भावज के भी शिर पर हाथ वैसा नहीं लगावेंगे । निशाचरों को तो स्मरण भी नहीं होगा कि कभी उन्होंने युद्धक्षेत्र में अपने पुत्र को मारा हो । यद्यपि राक्षसों का रूप बड़ा विकराल होता है, उनके स्वभाव में उग्रता होती है फिर भी (तुमलोगों की भाँति) दयाहीन नहीं होते ॥ ४७ ॥

दुर्योधनः—

दूतः खलु भवान् प्राप्तो न त्वं युद्धार्थमागतः ।
गृहीत्वा गच्छ सन्देशं न वयं दूतघातकाः ॥ ४८ ॥

घटोत्कचः—(सरोषम्) किं दूत इति मां प्रधर्षयसि । मा तावद् भो! न दूतोऽहम् ।

अलं वो व्यवसायेन प्रहरध्वं समाहताः ।
ज्याच्छेदाद् दुर्बलो नाहमभिमन्युरिह स्थितः ॥ ४९ ॥

महानेष कैशोरकोऽयं मे मनोरथः ।

दुर्योधनो दूतरूपं घटोत्कचमादिशति—दूतः खल्वित्यादिना । भवान् = घटोत्कचः त्वं दूतः = सन्देशहारी प्राप्तः = दूतत्वेन सम्प्राप्तः खलु युद्धार्थं=युद्धं कर्तुं त्वं=भवान् नागतः—नात्र सम्प्राप्तः अतः सन्देशं = वाचिकं गृहीत्वा = आदाय गच्छ = स्वस्थानं याहि । वयं = धार्तराष्ट्राः दूतघातकाः = सन्देशवाहकनाशकाः न = नहि भवामः ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ४८ ॥

घटोत्कचः स्वस्मिन् दूतत्वं विनिवारयति—अलमित्यादिना ।

वः = युष्माकं व्यवसायेन = उद्योगेन अलं = व्यर्थं समाहताः = सङ्घीभूताः प्रहरध्वं = प्रहारं कुरुत, मयि इति शेषः । ज्याच्छेदाद् दुर्बलः—ज्यायाः = प्रत्यञ्चायाः छेदः = भङ्गः तस्मात् = मौर्वीभङ्गात् (मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः । अमरः ।) दुर्बलः = बलरहितः इह = अस्मिन् स्थाने नाहम् अभिमन्युः = सौभद्रः (अत्र अहं) स्थितः = उपस्थितः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ४९ ॥

दुर्योधन—

आप दूत के रूप में यहाँ आए हैं युद्ध करने के लिए नहीं, अतः अपना सन्देश लेकर चले जाइये । हम सब दूत को मारने वाले नहीं हैं ॥ ४८ ॥

घटोत्कच—(क्रोध से) क्या 'दूत' कहकर मेरी निन्दा करते हो । ऐसा नहीं है हे, मैं दूत नहीं हूँ ।

अब यह उद्योग समाप्त करो । सब लोग मिलकर मुझपर प्रहार करो । मैं प्रत्यञ्चा के कट जाने से दुर्बल बना हुआ अभिमन्यु नहीं हूँ । यह खड़ा हूँ ॥ ४९ ॥

मेरा यह बहुत बड़ा प्रबल युवावस्था का मनोरथ है ।

अपि च,

दष्टोष्ठो मुष्टिमुद्यम्य तिष्ठत्येष घटोत्कचः ।
उत्तिष्ठतु पुमान् कश्चिद्गन्तुमिच्छेद्यमालयम् ॥ ५० ॥

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।)

धृतराष्ट्रः—पौत्र घटोत्कच ! मर्षयतु मर्षयतु भवान् । मद्वचनावगन्ता भव ।

घटोत्कचः—भवतु भवतु । पितामहस्य वचनाद् दूतोऽहमस्मि । तथापि हि न शक्नोमि रोषं धारयितुम् । किमिति विज्ञाप्यः ।

दुर्योधनः—आः कस्य विज्ञाप्यम् । मद्वचनादेवं स वक्तव्यः ।

किं व्यर्थं बहु भाषसे न खलु ते पारुष्यसाध्या वयं

घटोत्कचः स्वकैशोरकं मनोरथं प्रदर्शयति—दष्टोष्ठ इत्यादिना ।

दष्टोष्ठः—दष्टौ ओष्ठौ = दंशितौ दन्तच्छदौ यस्य सः एषः = पुरोवर्तमानः घटोत्कचः = हैडिम्बेयः मुष्टिम् = उद्यम्य = उत्थाप्य तिष्ठति = वर्त्तते कश्चित् = कोऽपि पुमान् = पुरुषः उत्तिष्ठतु = आगच्छतु यश्च यमालयं = यमपुरं गन्तुं = प्रयातुम् इच्छेत् = अभिलषेत् ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ५० ॥

दुर्योधन आदिशति घटोत्कचं यत् मद्वचनादेवं कृष्णो वक्तव्यः—किं व्यर्थमित्यादिना ।

व्यर्थम् = अनर्थकमेव बहु = भृशं किं = किमर्थं भाषसे = व्याहरसि । वयं =

और भी,

यह घटोत्कच ओठ काट कर मुट्ठी बाँध कर खड़ा है जिस पुरुष को यमपुर जाना हो आ जाय ॥ ५० ॥

(सब उठ खड़े होते हैं ।)

धृतराष्ट्र—पौत्र घटोत्कच ! क्षमा करो, क्षमा करो तुम । मेरे वचनों पर ध्यान दो ।

घटोत्कच—अच्छा, अच्छा । पितामह के वचन से मैं दूत ही हूँ । फिर भी मैं अपने क्रोध को रोक नहीं सकता । क्या प्रार्थना करनी है ?

दुर्योधन—ओह, किसकी प्रार्थना ? मेरे वचन से ऐसे कहना–क्यों व्यर्थ में

कोपान्नार्हसि किंचिदेव वचनं युद्धं यदा दास्यसि।
निर्याम्येष निरन्तरं नृपशतच्छत्रावलीभिर्वृत-
स्तिष्ठ त्वं सह पाण्डवैः प्रतिवचो दास्यामि ते सायकैः॥ ५१॥

घटोत्कचः—पितामह ! एष गच्छामि।

धृतराष्ट्रः—पौत्र ! गच्छ, गच्छ।

घटोत्कचः—भो भो राजानः। श्रूयतां जनार्दनस्य पश्चिमः सन्देशः।

धर्मं समाचर कुरु स्वजनव्यपेक्षां
यत्कांक्षितं मनसि सर्वमिहानुतिष्ठ।

कौरवाः ते = तव पारुष्यसाध्याः = कठोरवचनसाध्याः न खलु, कोपात् = क्रोधात् किंचिदेव = किमपि वचनं = वाक्यं नार्हसि = न योग्योऽसि वक्तुमिति शेषः। यदा यस्मिन् समये युद्धं = समरं दास्यसि = करिष्यसि तदा निरन्तरं = सततं नृपशतच्छत्रावलीभिर्वृतः—नृपाणां = राज्ञां शतानि = संख्याशतकानि तेषां = छत्रावल्यः ताभिः वृतः = परिवृतः एषः = दुर्योधनोऽहं निर्यामि = युद्धार्थं निर्गच्छामि त्वं = कृष्णः पाण्डवैस्सह = युधिष्ठिरादिभिः साकं तिष्ठ = निवस, ते = तव कृष्णस्य प्रतिवचः = प्रत्युत्तरं सायकैः = विशिखैः दास्यामि = प्रत्यर्पयिष्यामि। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्॥ ५१॥

घटोत्कचः जनार्दनस्यान्तिमः सन्देशो राज्ञः प्रति श्रावयति—धर्ममित्यादिना। धर्मं = धर्माचरणं समाचर = विधेहि स्वजनव्यपेक्षा = स्वजनानां = बन्धूनां

जल्पना करते हो, हम सब तुम्हारे परुष वचनों से विजित नहीं होंगे। क्रोध से पूर्ण हो बोलने से कुछ नहीं कर सकते। तुम पाण्डवों के साथ रहना और मैं सैकड़ों छत्रियों से युक्त निरन्तर बाण-प्रहार के द्वारा तुम्हारे वचन का उत्तर दे दूँगा।

घटोत्कच—पितामह ! यह मैं जाता हूँ।

धृतराष्ट्र—पौत्र। जाओ, जाओ।

घटोत्कच—हे हे राजाओ ! सुनो श्रीकृष्ण का अन्तिम सन्देश (है कि)—

जो आचरणीय हो उसे करो, अपने बान्धवों का समादर करो, जो कुछ तुम्हारी हार्दिक इच्छा हो सब कुछ इस पृथ्वी पर करो। क्योंकि पाण्डवों के

जात्योपदेश इव पाण्डवरूपधारी
सूर्यांशुभिः समुपैष्यति वः कृतान्तः ॥ ५२ ॥ इति ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

दूतघटोत्कचं नामोत्सृष्टिकाङ्कं समाप्तम् ॥



-व्यपेक्षां—विशिष्टा अपेक्षा ताम् = बन्धुजनानुपेक्षां तत् मनसि = हृदये, कुरु = संपादय, इह = अस्मिन् संसारे यत् कांक्षितं = वाञ्छितम् सर्वमनुतिष्ठ = सर्वं कुरु । जात्योपदेशः जातौ भवः स चासौ उपदेशः = स्वानुकूलमहोपदेश इव पाण्डवरूपधारी = पाण्डवस्य रूपं धरतीति = अर्जुनस्वरूपं कृत्वा कृतान्तः = यमः वः = युष्माकं सूर्यांशुभिः—सूर्यस्य अंशवः तैः = आदित्यकिरणैः समम् = साकम् उपैष्यति = आगमिष्यति सः युष्मान् विनाशयतीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५२ ॥



-रूप में, हितकारी उपदेश की भाँति यमराज सूर्य की किरणों के साथ तुम्हारे पास आएँगे । ऐसा ॥ ५२ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

दूतघटोत्कच नामक उत्सृष्टिकाङ्क समाप्त हुआ ।



श्लोकानुक्रमणिका



(४)

मध्यमव्यायोगः

व्याख्याकारः—

आचार्य रामजी मिश्र

भासनाटकचक्रे

मध्यमव्यायोगः

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—

पायात्स वोऽसुरवधूहृदयावसादः
पादो हरेः कुवलयामलखड्गनीलः ।

महाकविभिराचार्यवर्यैश्च सादरं गृहीतनामधेयः कविताकामिनीहासो महाकविर्भासः स्वमध्यमव्यायोगे नाटकेऽस्मिन् आशीर्वादात्मकं मंगलमाचरन् श्रोतृव्याख्यात्रोरनुषङ्गतस्तदुपयोजयन् सूत्रधारमुखेनाह—पायादित्यादि । हरेः = वामनरूपेणावतीर्णस्य सः = विश्रुतः पादः = चरणः वः = युष्मान् सामाजिकान् सहृदयान् वा पायात् = रक्षेत् । यः = पादः असुरवधूनां = दैत्यदयितानां हृदयेषु = चित्तेषु अवसादः = विषादप्रदः किं वा प्रकृतत्वात् असुरो बलिस्तस्य वध्वाः = पत्न्या हृदयमवसादयतीति व्याख्येयम् । कुवलयामलखड्गनीलः = कुवलयमिव नीलकमलमिव अमलं निर्मलं तथा खड्गवत् = कृपाणवत् नीलः श्यामलः यद्वा

(नान्दी के बाद सूत्रधार आता है ।)

सूत्रधार—हरि (विष्णु के वामनावतार) का वह पद आप लोगों (सहृदयों, सामाजिकों) की रक्षा करे; जो नील कमल के समान स्वच्छ तथा तलवार की भांति नीला है । वह त्रिभुवन को नापने के लिए उठाये जाने पर असुरों की

यः प्रोद्यतस्त्रिभुवनक्रमणे रराज
वैदूर्यसंक्रम इवाम्बरसागरस्य ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि । अये किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अङ्ग पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

भोस्तात ! को नु खल्वेषः ।

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम् ।

भोः शब्दोच्चारणादस्य ब्राह्मणोऽयं न संशयः ।

अमलखड्गवत् स्वच्छकृपाणवत् नील इत्यर्थः । त्रिभुवनक्रमणे = त्रैलोक्यपरिमापणे प्रोद्यतः = प्रकर्षेण उद्यतः = संलग्नः, अम्बरसागरस्य = अम्बरमेव सागर इति अम्बरसागरस्तस्य गगनाम्भोधेः वैदूर्यसंक्रम इव = वैदूर्यमणिनिर्मितसेतुरिव रराज = शुशुभे । अत्र कुवलयामलखड्गनीले उपमा, अम्बरसागरस्य इति रूपकं तथा वैदूर्यसंक्रम इवेत्युत्प्रेक्षा अलङ्काराः । 'ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ १ ॥

अस्य = सन्निहितस्य जनस्य 'भोः' इति शब्दोच्चारणात् = पदोदीरणात् 'हेतौ पञ्चमी' अयं = सनिकृष्टः किन्तु चक्षुषोरगोचरः जनः ब्राह्मणः = विप्रः इत्यत्र न संशयः = न सन्देहः किञ्च अयम् = पूर्वोक्तः केनचित् = अज्ञातेन पुंसा निर्विशङ्केन = निरातङ्केन पापचेतसा = पापं पापमयं चेतो हृदयं यस्य तेन

(अथवा असुरराज बलि की) पत्नियों के हृदय में विषाद उत्पन्न करनेवाला है तथा ऐसा शोभित हो रहा है मानों आकाश के विस्तृत समुद्र से वैदूर्य मणि की राजि निकली हो या उस पर वैदूर्यमणि का कोई सेतु बाँधा गया हो ॥ १ ॥

मैं आप महानुभावों को सूचित करता हूँ । अरे ! यह कैसे मुझ सूचना देने के लिए व्यग्र (उतावले) को शब्द सुनाई पड़ते हैं ? अच्छा, तो देखूँ ।

(नेपथ्य में)

हे तात ! यह वास्तव में कौन है ?

सूत्रधार—अच्छा, अब समझा ।

भोः शब्द के उच्चारण से निश्चित ज्ञात होता है कि यह कोई ब्राह्मण किसी

त्रास्यते निर्विशङ्केन केनचित्पापचेतसा ॥ २ ॥

(पुनर्नेपथ्ये)

भोस्तात ! को नु खल्वेषः ।

सूत्रधारः—हन्त दृढं विज्ञातम् । एष खलु पाण्डवमध्यमस्यात्मजो हिडिम्बारणिसंभूतो राक्षसाग्निरकृतवैरं ब्राह्मणजनं वित्रासयति । भोः कष्टम् । अत्रहि

भ्रान्तैः सुतैः परिवृतस्तरुणैः सदारै-
वृद्धो द्विजो निशिचरानुचरः स एषः ।
व्याघ्रानुसारचकितो वृषभः सधेनुः
सन्त्रस्तवत्सक इवाकुलतामुपैति ॥ ३ ॥

दुष्कृतात्मनेत्यर्थः । त्रास्यते = भीष्यते । 'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः । गुरु षष्ठं च पादानां चतुर्णां स्यादनुष्टुभि' । इत्यनेन लक्षणेनेदम् अनुष्टुब् वृत्तम् ॥२॥

तरुणैः = युवभिः भ्रान्तैः = भ्रान्तिमद्भिः सुतैः = तनयैः परिवृतः = वलयितः सदारः = सभार्यः निशिचरानुचरः = राक्षसानुगतः एषः सः = सोऽयं वृद्धः = स्थविरः द्विजः = ब्राह्मणः सन्त्रस्तवत्सकः = वत्सकः, स्वार्थे क्षुद्रार्थे वा कन् सम्यक् त्रस्तः भीतः वत्सकः लघुभूतो वत्सो यस्य सः, सधेनुः = सद्यः प्रसूता गौर्धेनुः तया सहितः, व्याघ्रस्य = सिंहस्य अनुसारेण = आक्रमणेन चकितः = भीतः वृषभः = बलीवर्द इव आकुलताम् = व्यग्रताम् उपैति = अधिगच्छति । अत्रोपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३ ॥

निर्भय अत्याचारी से सताया जा रहा है ॥ २ ॥

(पुनः नेपथ्य में)

हे पिता ! यह कौन ?

सूत्रधार—आह, (मैं) निश्चित रूप से समझ गया । अवश्य ही यह पाण्डवों में मध्यम (भीमसेन) का पुत्र हिडिम्बारूपी अरणि से निकला हुआ यह राक्षस बेचारे साधु-प्रकृति के ब्राह्मण को कष्ट दे रहा है । आह, बड़ा ही कष्ट है ।

यहाँ राक्षस के द्वारा पीछा किए जाने पर डरे हुए पुत्रों और पत्नी के साथ इस वृद्ध ब्राह्मण की स्थिति सिंह से पीछा किये जाने पर डरे हुये छोटे बछड़ों और गाय से युक्त व्याकुल और व्यथित बैल के समान है ॥ ३ ॥

(निष्क्रान्ताः ।)

स्थापना

(ततः प्रविशति सुतत्रयकलत्रपरिवृतो ब्राह्मणः पृष्ठतो घटोत्कचश्च ।)

ब्राह्मणः—भोः को नु खल्वेषः ।

तरुणरविकरप्रकीर्णकेशो भ्रुकुटिपुटोज्ज्वलपिङ्गलायताक्षः ।
सतडिदिव घनः सकण्ठसूत्रो युगनिधने प्रतिमाकृतिर्हरस्य ॥ ४ ॥

तरुणरविकरप्रकीर्णकेशः = तरुणः = मध्याह्नकालिकः रविः = सूर्यस्तस्य कर इव = किरण इव प्रकीर्णः केशः = कुन्तलो यस्य सः, भ्रुकुटिपुटोज्ज्वलपिङ्गलायताक्षः = भ्रूसंपुटयोः उज्ज्वलम् = उत् ऊर्ध्वं ज्वलो दीप्तिर्यस्मिन् तत् पिङ्गलं पीतवर्णम् आयतं = विस्तृतञ्च अक्षि = नेत्रं यस्य सः सकण्ठसूत्रः = कण्ठे परिहितं सूत्रं कण्ठसूत्रं तेन सहितः सकण्ठसूत्रः परिहितकण्ठसूत्र इत्यर्थः, तडिता = विद्युता सह वर्तते इति सतडित् सविद्युत् मेघः वारिधर इव, युगनिधने = युगान्तकाले प्रलयावस्थायामित्यर्थः, हरस्य = विश्वसंहरणशीलस्य प्रतिमाकृतिः= प्रतिमाया आकृतिरिव आकृतिर्यस्य स एवंविधः राक्षसोऽयं क्षपयति नो धैर्यमिति भावः । अत्रोपमालङ्कारः । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इत्यत्र पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४ ॥

(सब चले जाते हैं ।)

स्थापना

(तब ब्राह्मण (केशवदास) अपने तीनों पुत्रों और पत्नी के साथ प्रवेश करता है पीछे घटोत्कच भी—आता है ।)

ब्राह्मण—हे, यह कौन है ?

जिसका केश-कलाप मध्याह्न-कालिक रवि-किरण की भांति फैला हुआ है, बड़ी-बड़ी आंखें कुञ्चित भ्रू के कारण चमकीली और लाल हो गई हैं, जिसके कण्ठ का स्वर्णसूत्र बादल में विद्युल्लता की भांति शोभित हो रहा है तथा जो प्रलयकाल के रुद्र (शंकर) की प्रतिमा के समान है, हमारे धैर्य का नाश कर रहा है ॥ ४ ॥

प्रथमः—भोस्तात ! को नु खल्वेषः ।

ग्रहयुगलनिभाक्षः पीनविस्तीर्णवक्षाः
कनककपिलकेशः पीतकौशेयवासाः ।
तिमिरनिवहवर्णः पाण्डरोद्वृत्तदंष्ट्रो
नव इव जलगर्भो लीयमानेन्दुलेखः ॥ ५ ॥

द्वितीयः—क एष भोः !

कलभदशनदंष्ट्रो लाङ्गलाकारनासः

पित्रा सचकितमुपन्यस्तमसुरस्वरूपं निशम्य भीतः सुतोऽपि स्वानुभवं निवेदयति—

ग्रहयोः सूर्यचन्द्रयोर्युगलं द्वन्द्वं तन्निभे = तत्सदृशे अक्षिणी यस्य स सूर्यचन्द्रवद्भास्वरनयन इत्यर्थः, पीनम् = स्थूलं विस्तीर्णम् = आयतं वक्षः = उरः यस्य सः, कनकं = हाटकम् (स्वर्णम्) इव कपिशः = पीताभः केशः = कुन्तलो यस्य सः, पीतं = पीतवर्णं कौशेयं = क्षौमं 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इत्यमरः । वासः = वस्त्रं यस्य स धृतपीतवस्त्र इत्यर्थः । तिमिरस्य = तमसः निवहः = स्तोमः तद्वत् वर्णः रूपं यस्य स तमःस्तोमनील इत्यर्थः । पाण्डरोद्वृत्तदंष्ट्रः = पाण्डरा = अतिधवला उद्वृत्ता = ऊर्ध्वगामिनी दंष्ट्रा = दशनः यस्य सः, तथाऽवभासते यथा लीयमाना = अन्तर्भूयमाना इन्दोश्चन्द्रस्य लेखा = कला यस्मिन् सः नवः = नवीनः जलगर्भः = जलं गर्भे = मध्ये यस्य स मेघ इत्यर्थः (शोभते) । अत्राप्युपमालङ्कारः, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' अतः मालिनीवृत्तम् ॥ ५ ॥

द्वितीयो ब्राह्मणकुमारः उत्प्रेक्षते—कलभ इत्यादिना । कलभस्य=करिकिशोरस्य

प्रथम—हे पिता ! वास्तव में यह कौन है ?

जिसकी आँखें दो (सूर्य और चन्द्र) ग्रहों के समान प्रभापूर्ण हैं, जिसके पुष्ट एवं विशाल वक्षस्थल एवं सोने के समान चमकीले केश हैं, जो पीला रेशमी वस्त्र धारण किए हुए हैं, जिसका वर्ण रात्रि के संपुंजित अन्धकार सा है और जिसके सफेद दाँत मुंह से बाहर निकलकर ऐसे लगते हैं मानो नवीन मेघ समूह में चन्द्र की कला निमज्जित हो रही हो ॥ ५ ॥

दूसरा (कुमार)—यह कौन है ?

जिसके दांत हाथी के बच्चे के (अङ्कुरित) दांत के समान छोटे और पतले से

करिवरकरबाहुर्नीलजीमूतवर्णः ।
हुतहुतवहदीप्तो यः स्थितो भाति भीम-
त्रिपुरपुरनिहन्तुः शङ्करस्येव रोषः ॥ ६ ॥

तृतीयः—भोस्तात । को नु खल्वयमस्मान्पीडयति ।

वज्रपातोऽचलेन्द्राणां श्येनः सर्वपतत्त्रिणाम् ।
मृगेन्द्रो मृगसंघानां मृत्युः पुरुषविग्रहः ॥ ७ ॥

दशन इव किञ्चिदुद्भिन्ना दंष्ट्रा यस्य सः, लाङ्गलस्य = हलस्य आकार इव नासा = नासिका यस्य सः, करिवरस्य = मत्तमतङ्गजस्य कर इव = शुण्डादण्ड इव बाहुर्भुजो यस्य सः, नीलजीमूतवर्णः = नीलश्चासौ जीमूतश्च नीलजीमूतः = श्यामलजलदः तस्य वर्ण इव वर्णो यस्य सः, हुतहुतवहदीप्तः = हुतः = आहुत्यादिभिर्ज्वलितः हुतवहः = हुतं देवान्प्रति वहतीति हुतवहः = अनलः तद्वत् दीप्तः = प्रकाशितः प्रज्वलितो वा यः पुरो दृश्यमानः त्रिपुरनिहन्तुः = त्रिपुरान्तकस्य शंकरस्य = हरस्य भीमः = भयङ्करः रोष इव = क्रोध इव स्थितः भाति = दीव्यति । अत्राप्युपमोत्प्रेक्षा च अलङ्कारः । इदमपि मालिनीवृत्तम् ॥ ६ ॥

तृतीयः सम्भावयति—वज्रपात इत्यादिना । अयमध्याहार्यः पुरोवर्ती प्राणीत्यर्थः । अचलेन्द्राणां = गिरिराजानां कृते वज्रपातः = वज्राघातः, सर्वपतत्रिणां = सर्वेषां पतत्रिणां = पक्षिणां कृते श्येनः = पक्षिविशेषः यः स्वपक्षघातेन महतोऽपि खात् पातयतीति भावः । मृगसङ्घानां = पशुसमूहानां कृते मृगेन्द्रः सिंहः एवंभूतः मृत्युः = यमराज एव पुरुषविग्रहः = धृतपुरुषशरीरः दृश्यते इत्यर्थः । अत्र मालारूपकालङ्कारः अनुष्टुप् श्लोकश्च ॥ ७ ॥

हैं, हल की भांति सुंदर जिसकी नाक है, गजराज की सूंड के समान जिसकी लम्बी भुजायें हैं, नीले जलद सा जिसका वर्ण (शरीर का रङ्ग) है और जो यज्ञ की अग्नि की तरह (स्वयं प्रभा से) प्रज्वलित है तथा त्रिपुरदाह के समय शंकर के भयङ्कर क्रोध के समान मालूम पड़ता है ॥ ६ ॥

तीसरा—हे पिता ! वास्तव में कौन हम लोगों को कष्ट दे रहा है ।

(यह) जो कि पर्वतसमूहों के लिए वज्रपात, सब पक्षियों के लिए बाज, मृग झुण्ड के लिए सिंह और मानव शरीर धारण करके साक्षात् मृत्यु ही है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणी—अय्य को एसो अम्हाअं सन्दावेइ। [आर्य! क एषोऽस्मान् सन्तापयति।]

घटोत्कचः—भो ब्राह्मण! तिष्ठ तिष्ठ।

किं यासि मद्भयविनाशितधैर्यसारो
वित्रस्तदारसुतरक्षणहीनशक्ते!।
तार्क्ष्याग्र्यपक्षपवनोद्धतरोषवह्नि-
तीव्रः कलत्रसहितो भुजगो यथार्तः ॥ ८ ॥

भो ब्राह्मण! न गन्तव्यं न गन्तव्यम्।

वृद्धः—ब्राह्मणि! न भेतव्यम्। पुत्रकाः न भेतव्यम्। सविमर्शा ह्यस्य वाणी।

घटोत्कचः साक्रोशं तर्जयन्नाह—

तार्क्ष्यस्य=गरुडस्य तृक्षस्य नाम कश्यपस्य मुनेः अपत्यं तार्क्ष्यः तस्य, अग्रपक्षाभ्याम्=पुरोवर्तिपक्षाभ्यां जनितो यः पवनः=अनिलः स एव उद्धतः=प्रचण्डः रोषवह्निः=क्रोधाग्निस्तेन तीव्रः=उत्तेजितः कलत्रसहितः=सस्त्रीकः आर्त्तः=उद्विग्नः भुजगः=सर्पोऽपयाति यथा, तथा वित्रस्तदारसुतरक्षणहीनशक्ते=विशेषेण त्रस्तानां=भीतानां दाराणां=भार्यायाः सुतानां=तनयानां च रक्षणे=पालने हीना=क्षीणा शक्तिः=सामर्थ्यं यस्य तत्सम्बुद्धौ, मत्=अस्मत् सकाशात् जातं यद्भयं 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी तेन विशेषतः नाशितः=क्षपितः धैर्यस्य=स्थैर्यस्य सारः=बलं यस्य स एवंभूतस्त्वं किं=कथं यासि=अपसर्पसि। अत्रापि वसन्ततिलकावृत्तम् उपमालङ्कारश्च ॥ ८ ॥

ब्राह्मणी—आर्य! यह कौन हम लोगों को पीड़ित करता है।

घटोत्कच—अरे! ब्राह्मण रुको रुको।

मेरे भय (आतङ्क) से तुम्हारा अवशिष्ट धैर्य भी नष्ट हो चुका है और अब अपने भयभीत पत्नी और पुत्रों की रक्षा की शक्ति भी तुममें नहीं है, (फिर भी) गरुड़ के पंख के अग्रभाग से जिसकी क्रोधाग्नि पूर्ण प्रज्वलित हो गई है ऐसे सपत्नीक सर्प की भांति तुम क्यों जारहे हो, ब्राह्मण न जाओ न जाओ ॥ ८ ॥

वृद्ध—हे ब्राह्मणी! तुझे न डरना चाहिये। पुत्रो! तुम्हें भी न डरना चाहिये, इसकी वाणी सुविचारित, विवेकयुक्त मालूम पड़ती है।

घटोत्कचः—भोः ! कष्टम् ।

जानामि सर्वत्र सदा च नाम द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम् ।
अकार्यमेतच्च मयाऽद्य कार्यं मातुर्नियोगादपनीय शङ्काम् ॥ ९ ॥

वृद्धः—ब्राह्मणि ! किं न स्मरसि तत्रभवता जलक्लिन्नेन मुनिनोक्तं-अनपेतराक्षसमिदं वनमप्रमादेन गन्तव्यमिति । तदेवोत्पन्नं भयम् ।

ब्राह्मणी—किं दाणिं अय्यो मज्झत्थवण्णो विअ दिस्सदि । [किमिदानीमार्यो मध्यस्थवर्ण इव दृश्यते ।]

सविमर्शा = विमर्शः योग्यायोग्यविचारः तेन सहिता हि = नूनम् अस्य = राक्षसस्य वाणी = वचनम् ।

जानामीति । यद्यपि द्विजोत्तमाः = ब्राह्मणतल्लजाः पृथिव्यां = भुवि सदा = शश्वत् , सर्वस्मिन् काले सर्वत्र च सर्वस्मिन् स्थाने च पूज्यतमाः = अतिशयेन पूज्या भवन्तीति अहं जानामि नाम = निश्चयेन वेद्मि । तथापि मातुः = जनन्या नियोगात् = आदेशात् अपनीता = दूरंगमिता शङ्का यस्मिन् कर्मणि तत्तथा अद्य = अस्मिन् दिने मया = घटोत्कचेन एतत् = सर्वथा गर्हितमपि कार्यं = कर्तव्यं कार्यं करणीयमेवास्ति । एतेन घटोत्कचस्य ब्राह्मणवधेन सम्भावितः शोकः, मातुर्भक्त्या चाकार्यकरणाध्यवसायश्च प्रतीयते । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।' 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।' इत्यनयोरुपजातिः अत्र सिध्यति ॥ ९ ॥

मध्यस्थवर्ण इव = (१) मध्यस्थः त्रिषु वर्णेषु मध्यगतः वर्णः अर्थात् क्षत्रियः

घटोत्कच—अरे ! बड़ा कष्ट है !

मैं यह जानता हूँ कि श्रेष्ठ ब्राह्मण सारी पृथ्वी पर सदा पूजनीय हैं फिर भी विना किसी शंका के माता की आज्ञा से, सर्वथा न करने योग्य (ब्राह्मण का वध रूप) कार्य आज मुझे करना है ॥ ९ ॥

वृद्ध—हे ब्राह्मणी ! क्या तुम्हे स्मरण नहीं है इस आदरणीय जलक्लिन्न (जल से भीगे हुए) मुनि ने कहा था कि यह वन राक्षसों से विहीन नहीं है अतः सतर्कता से जाना चाहिये । अतएव यह भय उपस्थित ही हो गया ।

ब्राह्मणी—क्यों इस समय भी आर्य (वृद्ध) कर्तव्यविमूढ से (या मध्यवर्ण क्षत्रिय सा धैर्य धारण कर चुपचाप) दीखते हैं ?

वृद्धः—किं करिष्यामि मन्दभाग्यः।

ब्राह्मणी—णं विक्कोसामो। ननु विक्रोशामः।]

प्रथमः—भवति ! कस्य वयं विक्रोशामः।

इदं हि शून्यं तिमिरोत्करप्रभैर्नगप्रकारैरवरुद्धदिक्पथम्।
खगैर्मृगैश्चापि समाकुलान्तरं वनं निवासाभिमतं मनस्विनाम् ॥१०॥

वृद्धः—ब्राह्मणि ! न भेतव्यं, न भेतव्यम्। मनस्विजननिवास-

स इव धीरव्यवहारित्वात (२) मध्यस्थस्य उदासीनस्य इव वर्णः छाया यस्य सः। उपस्थितविपत्प्रतीकारयत्नाकरणात्। इति गणपतिशास्त्रिमहोदयैः व्याख्यातः।

इदं हि पुरो विद्यमानं वनम् = अरण्यं शून्यं = जनरहितम् अतोऽत्र विक्रोशनमरण्यरोदनमेवेत्यर्थः। तिमिरोत्करप्रभैः तिमिरस्य = तमसः यः उत्करः = स्तोमः तद्वत् प्रभा येषां तैरित्यर्थः, नितान्तश्यामलकलेवरैः नगप्रकारैः = पादपविशेषैः विभिन्नपर्वतैर्वा अवरुद्धः = आवृतः दिशां पन्था यस्मिन् तत् वनमिति शेषः। खगैः = पक्षिभिः मृगैः = पशुभिश्च समाकुलान्तरं = सम्यक्तया आकुलं = परिपूर्णम् अन्तरम् = अन्तरालं यस्य तत् = तादृशं वनम् अरण्यं मनस्विनाम् = प्रशस्तमनसां निवासाय अभिमतं भवतीति भावः। 'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गम् समर्थनमि'त्यत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः। 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति वंशस्थवृत्तमिदम् ॥ १० ॥

वृद्ध—मैं अभागा क्या करूं ?

ब्राह्मणी—क्यों, हम सब चिल्लाकर बुलावें।

प्रथम—मां ! किसको हम सब बुलावें ?

यह वन अत्यन्त सूना है, चारों दिशायें अन्धकार उत्पन्न करने वाले वृक्ष (पर्वत) समूह से घिरी हुई हैं, इसका अन्तर-प्रदेश पशु-पक्षियों से युक्त तपस्वियों के ही निवासयोग्य है, यहां चिल्लाना अरण्यरोदन के ही समान होगा ॥ १० ॥

वृद्ध—हे ब्राह्मणी ! डरना नहीं चाहिए। मुनिजनों के निवास-योग्य इस

योग्यमिति श्रुत्वा विगत इव मे संत्रासः। शङ्के नातिदूरेण पाण्डवाश्रमेण भवितव्यम्। पाण्डवास्तु,

युद्धप्रियाश्च शरणागतवत्सलाश्च
दीनेषु पक्षपतिताः कृतसाहसाश्च।
एवंविधप्रतिभयाकृतिचेष्टितानां
दण्डं यथार्हमिह धारयितुं समर्थाः॥ ११॥

प्रथमः—भोस्तात ! न तत्र पाण्डवा इति मन्ये।

वृद्धः—कथं त्वं जानीषे।

पाण्डवानां शरणागतरक्षणप्रवणतां प्रतिपादयितुमुच्यते—

पाण्डवाः = भीमसेनादयः प्रकृत्या युद्धप्रियाः = युद्धं प्रियं येषां ते रणरसिका इत्यर्थः, शरणागतवत्सलाः शरणाय = रक्षणाय आगतेषु जनेषु वत्सलाः = स्निग्धमानसाः चकारत्रयमत्र सर्वत्र समप्राधान्यप्रतिविपादयिषयोक्तम्। दीनेषु = असहायेषु पक्षपतिताः = पक्षपातवन्तः, कृतसाहसाश्च = कृतमधिकृतं साहसं यैस्ते इत्यर्थः। एवंविधं प्रतिभयं = भयङ्करं (दारुणं भीषणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकम्। भयङ्करं प्रतिभयं रौद्रं तूग्रममी त्रषु॥ अमरः) आकृतिः = स्वरूपं चेष्टितं = व्यवसायश्च येषां तेषां यथार्हं = यथोचितं दण्डं धारयितुं = ग्राहयितुं समर्थाः = शक्ताः सन्ति। पाण्डवा एवैतादृशक्रूरकर्मणां समुचितदण्डप्रदाने समर्थाः सन्ति तत्समागम एवास्मत्त्रासनिरासायालमिति भावः। 'अलंकारः परिकरः साभिप्रायविशेषणे' इत्यत्र परिकरालङ्कारः, वसन्ततिलकावृत्तम्॥ ११॥

वन को सुनकर मेरा भय विनष्ट हो गया। मैं सोचता हूँ कि यहीं कहीं निकट ही पाण्डवों का आश्रम होना चाहिये। पाण्डव तो—

बड़े ही युद्धप्रिय (योद्धा), शरण में (रक्षा के लिए) आए हुये पर प्रेम और दीनों का पक्षपात करने वाले हैं एवं बड़े साहसी हैं। इस प्रकार की भयानक आकृति एवं कर्म करने वालों को योग्य दण्ड देने में वे सर्वथा समर्थ हैं॥ ११॥

प्रथम (कुमार)—हे पिता ! यहां मालूम होता है पाण्डव नहीं हैं।

वृद्ध—पुत्र ! तुम कैसे जान गए ?

प्रथमः—श्रुतं मया तस्मादागच्छता केनचिद् ब्राह्मणेन शतकुम्भं नाम यज्ञमनुभवितुं महर्षेर्धौम्यस्याश्रमं गता इति ।

वृद्धः—हन्त हताः स्मः ।

प्रथमः—तात ! न तु सर्व एव । आश्रमपरिपालनार्थमिह स्थापितः किल मध्यमः ।

वृद्धः—यद्येवं सन्निहिताः सर्वे पाण्डवाः ।

प्रथमः—स चाप्यस्यां वेलायां व्यायामपरिचयार्थं विप्रकृष्टदेशस्थ इति श्रूयते ।

वृद्धः—हन्त निराशाः स्मः । भवतु पुत्र व्यपाश्रयिष्ये तावदेनम् ।

प्रथमः—अलमलं परिश्रमेण ।

वृद्धः—पुत्र ! निर्वेदप्रत्यर्थिनी खलु प्रार्थना । भवतु पश्यामस्तावत् । भो भोः पुरुष ! अस्त्यस्माकं मोक्षः ।

वेलायाम् = काले (अब्धम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि । अमरः) । विप्रकृष्टे = दूरे (स्याद् दूरं विप्रकृष्टकम् । अमरः) व्यपाश्रयिष्ये—वि + अप + आ + श्रि + लृट् = निवेदयिष्ये । निर्वेदप्रत्यर्थिनी खलु प्रार्थना—निर्वेदः=विरागः प्रत्यर्थम् अस्ति अस्याः = शान्त्यभिलाषुका प्रार्थना खलु = याच्ना खलु ।

प्रथम—उनके आश्रम की ओर से आए हुए किसी ब्राह्मण ने कहा था कि वे शतकुम्भ यज्ञ में सम्मिलित होने महर्षि धौम्य के आश्रम में गए हैं ।

वृद्ध—हाय ! हम सब मारे गए ।

प्रथम (कुमार)—पिता जी ! वे सभी नहीं गए हैं । आश्रम की रक्षा और देखभाल के लिए सम्भवतः मध्यम छोड़ दिए गए हैं ।

वृद्ध—यदि ऐसा है तो (समझो) सब पाण्डव यहीं हैं ।

प्रथम—वह (भीमसेन) भी इस समय व्यायाम करने कहीं दूर गए हैं । ऐसा सुना है ।

वृद्ध—हाय ! हम सब निराश हैं । अच्छा, पुत्र तब तक हम इससे ही विनती करें ।

प्रथम—बस, बस, परिश्रम व्यर्थ है

वृद्ध—पुत्र ! प्रार्थना मोक्ष की याचना के लिए होगी । अच्छा देखें तब तक, हे पुरुष ! क्या हम लोगों की मुक्ति हो सकती है ?

घटोत्कचः—मोक्षोऽस्ति समयतः ।

वृद्धः—कः समयः ।

घटोत्कचः—अस्ति मे तत्रभवती जननी । तयाऽहमाज्ञप्तः । पुत्र ! ममोपवासनिसर्गार्थमस्मिन्वनप्रदेशे कश्चिन्मानुषः प्रतिगृह्यानेतव्य इति । ततो मयाऽऽसादितो भवान् ।

पत्न्या चारित्रशालिन्या द्विपुत्रो मोक्षमिच्छसि ।
बलाबलं परिज्ञाय पुत्रमेकं विसर्जय ॥ १२ ॥

वृद्धः—हं भो राक्षसापसद ! किमहमब्राह्मणः ।

ब्राह्मणः श्रुतवान्वृद्धः पुत्रं शीलगुणान्वितम् ।

(हे वृद्ध) चारित्रशालिन्या चारित्रेण = सदाचारेण शाल्यते = शोभते यया सा तया पत्न्या = धर्मभार्यया सह द्विपुत्रः सन् साम्प्रतमवशिष्टत्वात् यदि मत्तः (घटोत्कचात्) मोक्षं = मुक्तिम् इच्छसि = वाञ्छसि तर्हि बलाबलं = प्रियाप्रियं परिज्ञाय = सम्प्रधार्य विचार्येत्यर्थः, एकं पुत्रं = त्रयाणां मध्ये केवलं विसर्जय= मह्यं देहीत्यर्थः । स्वयं पत्नीं कंचन पुत्रमेकं च यदि रक्षितुमिच्छसि तर्हि सूनुमेकं परित्यजेति भावः । अत्र अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १२ ॥

(भो नीचराक्षस) अहं वृद्धः = स्थविरः (प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि । अमरः) श्रुतवान् = शास्त्रज्ञः शीलगुणान्वितम् = शीलय

घटोत्कच—हाँ, एक शर्त पर ही छुटकारा मिल सकता है ।

वृद्ध—कौन सी शर्त ?

घटोत्कच—मेरी आदरणीया माता है । उन्हीं का आदेश है कि हे पुत्र ! मेरे उपवास के पारण के लिए इस वन-प्रदेश से किसी मनुष्य को खोज लाओ । अतः मैंने आप लोगों को पकड़ा है ।

यदि तुम अपनी शीलवती पत्नी और दो पुत्रों के सहित छुटकारे की इच्छा रखते हो तो (इन पुत्रों में से) योग्य और अयोग्य का विचार करके एक को दे दो ॥ १२ ॥

वृद्ध—ओ क्रूर राक्षस ! दूर हट । क्या मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ।

मैं, एक वृद्ध शास्त्रज्ञ ब्राह्मण अपने गुणशील-सम्पन्न पुत्र को मानवभक्षी

पुरुषादस्य दत्त्वाहं कथं निर्वृतिमाप्नुयाम् ॥ १३ ॥

घटोत्कचः—

यद्यर्थितो द्विजश्रेष्ठ ! पुत्रमेकं न मुञ्चसि ।
सकुटुम्बः क्षणेनैव विनाशमुपयास्यसि ॥ १४ ॥

वृद्धः—एष एव मे निश्चयः ।

कृतकृत्यं शरीरं मे परिणामेन जर्जरम् ।
राक्षसाग्नौ सुतापेक्षी होष्यामि विधिसंस्कृतम् ॥ १५ ॥

गुणश्च शीलगुणौ ताभ्यामन्वितः तम् , पित्रोस्सेवकं पुत्रं = तनयम् (आत्मजस्तनयस्सूनुः सुतः पुत्र इत्यमरः) पुरुषादस्य पुरुषं = मानुषम् अत्तीति = खादतीति पुरुषादः तस्य राक्षसस्य तुभ्यं दत्त्वा = समर्प्य कथं = केन प्रकारेण अहं = वृद्धः ब्राह्मणः निर्वृतिं नितरां वृतिः निर्वृतिस्ताम् निर्वृतिं = शान्तिम् आप्नुयाम् = लभेय । तुभ्यं पुत्रमेकं समर्प्य कथमपि सुखी न भवामीति भावः । अत्रापि अनुष्टुब् वृत्तम् , परिकरालङ्कारः ॥ १३ ॥

(अन्न) द्विजश्रेष्ठ ! द्विजेषु = ब्राह्मणादिषु श्रेष्ठः = पूज्यतमः तत् सम्बुद्धौ, पूज्यब्राह्मण ! यदि = चेत् अर्थितः = याचितस्सन् एकम् = त्रिषु मध्ये केवलं पुत्रम् = सुतं न मुञ्चसि = नार्पयसि तर्हि सकुटुम्बः कुटुम्बैस्सहितः = परिवारसहितः क्षणेनैव = निमेषमात्रेणैव विनाशं = कथाशेषम् उपयास्यसि = लप्स्यसे । यदि मद्वाचं नाचरिष्यसि तर्हि सपरिवारं विनङ्क्ष्यसीति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥१४॥

सुतापेक्षी सुतस्यापेक्षाऽस्तीति = सुतार्थी (अहं) परिणामेन परिणमयतीति परिणामः तेन = परिपाकेन गतवयसा जर्जरम् = शिथिलीभूतम् अनर्थकमित्यर्थः ।

राक्षस के लिए देकर भला किस प्रकार (प्रसन्नता) शान्ति को प्राप्त करूँगा ॥ १३ ॥

घटोत्कच—हे द्विजोत्तम ! यदि मेरे माँगे हुए एक पुत्र को तुम नहीं दोगे तो शीघ्र ही कुटुम्ब के सहित विनाश को प्राप्त होगे ॥ १४ ॥

वृद्ध—मैंने भी यही निश्चय किया है ।

अपने पुत्र की रक्षा के लिए मैं स्वयं अपने संस्कारयुक्त पवित्र शरीर की राक्षस की क्षुधा-अग्नि में आहुति कर दूँगा । क्योंकि इस शरीर ने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है और अब वृद्धावस्था के कारण जर्जर हो चुका है ॥ १५ ॥

ब्राह्मणी—अय्य ! मा मा एवं । पदिमत्तधम्मिणी पदिव्वदत्ति णाम । गहीदफलेण एदिणा सरीरेण अय्यं कुलं अ रक्खिदुमिच्छामि । [आर्य, मा मैवम् । पतिमात्रधर्मिणी पतिव्रतेति नाम । गृहीतफलेनैतेन शरीरेणार्यं कुलं च रक्षितुमिच्छामि ।]

घटोत्कचः—भवति ! न खलु ! स्त्रीजनोऽभिमतस्तत्रभवत्या ।

वृद्धः—अनुगमिष्यामि भवन्तम् ।

घटोत्कचः—आः वृद्धस्त्वमपसर ।

प्रथमः—भोस्तात् ! ब्रवीमि खलु तावत्किंचित् ।

वृद्धः—ब्रूहि ब्रूहि शीघ्रम् ।

प्रथमः—

मम प्राणैर्गुरुप्राणानिच्छामि परिरक्षितुम् ।

विधिसंस्कृतम् = अनुष्ठानेन पूतं कृतकृत्यं कृतं कृत्यं येन स तम् = कृतार्थं सफलमिति यावत् , मे = मम वृद्धस्य = वाडवस्य शरीरं = विग्रहं (शरीरं वर्ष्म विग्रहः । अमरः) राक्षसाग्नौ—राक्षस एव अग्निः राक्षसाग्निः तस्मिन् राक्षसाग्नौ = राक्षसानलमुखे होष्यामि = प्रक्षेप्स्यामि । पुत्ररक्षायै अनर्थकं जरठम् इदं स्वीयं शरीरमेव तव मुखे पातयिष्यामीति मे निश्चितमिति भावः । अत्रानुष्टुब् वृत्तम् रूपकालङ्कारश्च ॥ १५ ॥

(अहं प्रथमः पुत्रः) मम = मे प्रथमस्य प्राणैः = असुभिः (पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः । अमरः) गुरुप्राणान् गुरूणाम् प्राणाः तान्=मातापित्रोः असून् परिरक्षितुम्–

ब्राह्मणी—आर्य ! ऐसा न कहो । पतिव्रता स्त्री के लिए पति ही धर्म है (उसकी रक्षा हर प्रकार से करनी चाहिए) । इस कृतकार्य शरीर को मैं आर्य और पुत्रों की रक्षा के लिए राक्षस को देना चाहती हूँ ।

घटोत्कच—देवि ! मेरी पूज्या माता को स्त्री की आवश्यकता नहीं है ।

वृद्ध—मैं ही आपके साथ चलूँगा ।

घटोत्कच—अरे बुड्ढे ! तुम दूर हटो ।

प्रथम—ओ पिता ! मैं कुछ कहना चाहता हूँ ।

वृद्ध—कहो, कहो जल्दी ।

प्रथम—अपने प्राण को देकर मैं गुरुजनों के प्राणों की रक्षा करना चाहता हूँ

रक्षणार्थं कुलस्यास्य मोक्तुमर्हति मां भवान् ॥ १६ ॥

द्वितीयः—आर्य ! मा मैवम् ।

ज्येष्ठः श्रेष्ठः कुले लोके पितॄणां च सुसंप्रियः ।
ततोऽहमेव यास्यामि गुरुवृत्तिमनुस्मरन् ॥ १७ ॥

तृतीयः—आर्यो ! मा मैवम् ।

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमः कथितो ब्रह्मवादिभिः ।
ततोऽहं कर्त्तुमस्म्यर्हो गुरूणां प्राणरक्षणम् ॥ १८ ॥

परित्रातुम् इच्छामि = वाञ्छामि, ईहे । (अतः) भवान् = जनकः अस्य कुलस्य = वर्तमानस्य मम वंशस्य रक्षणार्थं = त्राणार्थं माम् = प्रथमं पुत्रं मोक्तुम् = त्यक्तुं अर्हति = क्षमः । माम् परित्यज्य स्वीयं कुलम् रक्षेति भावः ॥ १६ ॥

द्वितीयः वदति—(भो जनक !) कुले = वंशे लोके = आमुष्मिके संसारे पितॄणाञ्च = जनकानाञ्च ज्येष्ठः = ज्यायान् अवस्थाकृत इत्यर्थः, श्रेष्ठः=श्रेयान् गुणकृत इत्यर्थः, 'ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः' (९।१०९ मनुस्मृतिः) सुसम्प्रियः = अत्यनुरागभाक् भवति, ततः = तस्मात् कारणात् गुरुवृत्तिम् गुरूणां वृत्तिः ताम् = जनकव्यवहारं पूर्वजानामादर्शं वा अनुस्मरन् = स्मरणं कुर्वन् अहमेव = मध्यम एव यास्यामि = गमिष्यामि राक्षसबुभुक्षाशान्त्यर्थमिति शेषः । अत्राप्यनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १७ ॥

तृतीयः वदति ज्येष्ठ इति । ज्येष्ठः = अग्रजः भ्राता = सहोदरः ब्रह्मवादिभिः = मन्वादिमहर्षिभिः (पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः । पुत्रवच्चापि

अतः इस शेष कुल की रक्षा के लिए मुझे जाने दीजिए ॥ १६ ॥

द्वितीय—आर्य। ऐसा न कहो ।

ज्येष्ठ पुत्र कुल और लोक में श्रेष्ठ (पूज्य) होता है और पिता को अत्यन्त प्रिय होता है अतः अपने गुरुजनों के प्रति कर्तव्य का स्मरण करता हुआ मैं ही (राक्षस की क्षुधा-शान्ति के लिए) जाऊँगा ॥ १७ ॥

तृतीय—हे आर्यो ! नहीं ऐसा नहीं ।

ज्येष्ठ भाई पिता के समान होता है ऐसा ब्रह्मज्ञ महर्षियों ने कहा है अतः मैं ही अपने पूज्यों की प्राण-रक्षा करने के योग्य हूँ ॥ १८ ॥

प्रथमः—वत्स ! मा मैवम् ।

आपदं हि पिता प्राप्तो ज्येष्ठपुत्रेण तार्यते ।
ततोऽहमेव यास्यामि गुरूणां प्राणरक्षणात् ॥ १९ ॥

वृद्धः—ज्येष्ठमिष्टतमं न शक्नोमि परित्यक्तुम् ।

ब्राह्मणी—जह अय्यो जेट्ठमिच्छदि तह अहं पि कणिट्ठमिच्छामि । [यथार्यो ज्येष्ठमिच्छति तथाहमपि कनिष्ठमिच्छामि ।]

द्वितीयः—पित्रोरनिष्टः कस्येदानीं प्रियः ।

घटोत्कचः—अहं प्रीतोऽस्मि । शीघ्रमागच्छ ।

वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ ९।१०८ मनुस्मृतिः) पितृसमः-पित्रा = जनकेन समः = तुल्यः कथितः = प्रोक्तः ततः = तस्मात् कारणात् गुरूणाम् = श्रेष्ठानां (गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे—इत्यमरः), प्राणरक्षणम् = प्राणानां रक्षणम् अर्थात् जीवनत्राणं कर्तुम् = विधातुम् अहम् = तृतीयः पुत्रः अर्हः=योग्यः अस्मि=भवामि । अनुष्टुप् छन्दः ॥ १८ ॥

प्रथमः वदति—आपदमिति । हि = यतः आपदम् = विपत्तिं प्राप्तः = अनुगतः पिता = जनकः (ततः) ज्येष्ठपुत्रेण— ज्येष्ठश्चासौ पुत्रः = कर्मधारयसमासः तेन= ज्येष्ठात्मजेन तार्यते = विपदः वार्यते ततः = तस्मात् कारणात् गुरूणाम्=जनकानां प्राणरक्षणात्—प्राणानां रक्षणं तस्मात् = जीवनत्राणाद्धेतोः अहमेव = प्रथम एव यास्यामि = गमिष्यामि राक्षसमुखे इति शेषः । अत्रापि अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १९ ॥

प्रथम—वत्स (प्रिय भाई) । ऐसा नहीं ।

पिता जी आपत्ति में पड़े हैं ज्येष्ठ पुत्र को ही उससे (उनकी) रक्षा करनी चाहिए, अतः पूजनीयों की प्राण-रक्षा के लिए मुझे ही जाना चाहिए ॥ १९ ॥

वृद्ध—ज्येष्ठ (पुत्र) बड़ा प्रिय है उसे नहीं छोड़ सकता ।

ब्राह्मणी—जैसे आप ज्येष्ठ पुत्र को चाहते हैं, वैसे मैं भी छोटे पुत्र को चाहती हूँ ।

द्वितीय—माता-पिता का अनिष्ट इस समय किसे प्रिय है ?

घटोत्कच—मैं प्रसन्न हूँ । (मध्यम पुत्र से) शीघ्र आओ ।

द्वितीयः—

धन्योऽस्मि यद् गुरुप्राणाः स्वैः प्राणैः परिरक्षिताः ।
बन्धुस्नेहाद्धि महतः कायस्नेहस्तु दुर्लभः ॥ २० ॥

घटोत्कचः—अहो स्वजनवात्सल्यमस्य ब्राह्मणवटोः ।

द्वितीयः—भोस्तात ! अभिवादये ।

वृद्धः—एह्येहि पुत्र ।

विनिमाय गुरुप्राणान् स्वैः प्राणैर्गुरुवत्सल ।

द्वितीयः वदति धन्य इति । (अहं द्वितीयः) धन्यः = सौभाग्यशाली अस्मि = भवामि यत् = यतः स्वैः = स्वकीयैः प्राणैः जीवनैः गुरुप्राणाः = गुरूणां प्राणाः = श्रेष्ठजीवनानि परिरक्षिताः = परित्राताः हि = यतः महतः = विशिष्टाद् बन्धुस्नेहात्—बन्धूनां स्नेहः तस्मात् = ज्ञातिप्रेमतः (सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः । अमरः ।) कायस्नेहः = शरीरानुरागः दुर्लभः = दुःखेन लब्धुं योग्यः अप्राप्य इति भावः (कालिदासकृतरघुवंशे दिलीपोपि एवमेव वदति—'किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः । एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥' २।५७) अत्रार्थान्तरन्यासालङ्कारः अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २० ॥

आशीर्वादात्मकेऽस्मिन् श्लोके वृद्धः पुत्रं (मध्यमकुमारं) संबोध्य वदति—(हे) गुरुवत्सल—गुरुषु वत्सलस्तत्संबुद्धौ = पूज्यजनानुरागि ! स्वैः = स्वकीयैः प्राणैः = असुभिः गुरुप्राणान् = तातजीवान् विनिमाय = विनिमयित्वेति (आदान-

---

दूसरा कुमार—मैं धन्य हुआ कि अपने जीवन को देकर गुरुजनों के प्राणों की रक्षा की क्योंकि परिवार का प्रेम (तुच्छ) शरीर के प्रेम की अपेक्षा दुर्लभ होता है ॥ २० ॥

घटोत्कच—अहा ! इस ब्राह्मण-कुमार का परिवार-प्रेम धन्य है ।

द्वितीय—हे पिता जी ! अभिवादन करता हूँ ।

वृद्ध—आओ, आओ पुत्र ।

ओ गुरुभक्त पुत्र तुमने अपने प्राणों का विनिमय करके अपने पूज्यों के प्राणों की

अकृतात्मदुरावापं ब्रह्मलोकमवाप्नुहि ॥ २१ ॥

द्वितीयः—अनुगृहीतोऽस्मि । अम्ब ! अभिवादये ।

ब्राह्मणी—जाद ! चिरं जीव । [जात ! चिरं जीव ।]

द्वितीयः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! अभिवादये ।

प्रथमः—एह्येहि वत्स ।

परिष्वजस्व गाढं मां परिष्वक्तः शुभैर्गुणैः ।
कीर्त्या तव परिष्वक्ता भविष्यति वसुन्धरा ॥ २२ ॥

द्वितीयः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

प्रदानं कृत्वा) अकृतात्मदुरावापम्—अकृतात्मभिः = अजितेन्द्रियैः दुःखेन अवाप्तु योग्यम् अर्थात् अप्राप्यं ब्रह्मलोकं = स्वर्गलोकम् अवाप्नुहि = लभस्व । यतस्त्वया स्वप्राणैः स्वीयानां गुरुजनानां प्राणाः परिरक्षिताः ततः सर्वेषामनवाप्यं पदं भुङ्क्ष्वेति भावः । अत्रानुप्रासालङ्कारः अनुष्टुब् वृत्तञ्च ॥ २१ ॥

अग्रजः एवं वदति परिष्वजेति । (हे वत्स) शुभैः = शोभनैः गुणैः = दयादाक्षिण्यादिभिः परिष्वक्तः = आलिङ्गितः त्वम् माम् = अग्रजं गाढं = घनं परिष्वजस्व = आलिङ्गय । (यतः) तव = भवतः कीर्त्या = यशसा (यशः कीर्तिः समज्ञा चेत्यमरः ।) वसुन्धरा = सर्वंसहा (सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा इत्यमरः ।) परिष्वक्ता = आलिङ्गिता भविष्यति । अनुप्रासालङ्कारः अनुष्टुप् छन्दश्च ॥ २२ ॥

रक्षा की है, तुम्हें वह ब्रह्मलोक (सालोक्य मुक्ति) प्राप्त हो जो अजितेन्द्रिय पापात्माओं के लिए सर्वथा दुर्लभ है ॥ २१ ॥

द्वितीय—अनुगृहीत हुआ । माँ ! अभिवादन करता हूँ ।

ब्राह्मणी—बेटा ! चिरकाल तक जिओ ।

द्वितीय—अनुगृहीत हुआ । आर्य ! अभिवादन करता हूँ ।

प्रथम—आओ आओ प्रिय सहोदर !

मुझे अपने घने आलिंगनपाश में बांध लो तुम शुभ गुणों से विभूषित हो । तुम्हारे पुण्य यश से सारी पृथिवी विभूषित (गौरवान्वित) होगी ॥ २२ ॥

द्वितीय—अनुगृहीत हुआ ।

तृतीयः—आर्य ! अभिवादये ।

द्वितीयः—स्वस्ति ।

तृतीयः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

द्वितीयः—भोः पुरुष । किंचिद् ब्रवीमि ।

घटोत्कचः—ब्रूहि ब्रूहि शीघ्रम् ।

द्वितीयः—एतस्मिन्वनान्तरे जलाशय इव दृश्यते । तत्र मे प्रकल्पित-परलोकस्य पिपासाप्रतीकारं करिष्यामि ।

घटोत्कचः—दृढव्यवसायिन् ! गम्यताम् । अतिक्रामति मातुराहार-कालः । शीघ्रमागच्छ ।

द्वितीयः—भोस्तात ! एष गच्छामि । (निष्क्रान्तः ।)

वृद्धः—हा हा परिमुषिताः स्मो भोः ! परिमुषिताः स्मः ।

यस्त्रिशृङ्गो मम त्वासीन्मनोज्ञो वंशपर्वतः ।

वृद्धः मानसिकं परिखेदं व्यञ्जयति यस्त्रिशृङ्ग—इत्यादिना । यस्तु = यो हि मम= वृद्धस्य मनोज्ञः–कान्तः (कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम् इत्यमरः ।) वंशपर्वतः—वंश एव = अन्वय एव (संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ । अमरः ।) पर्वतः = अचलः त्रिशृङ्गः त्रीणि शृङ्गाणि यस्मिन् स तथाभूतः आसीत्=

तृतीय—आर्य ! (आपको) प्रणाम करता हूँ ।

द्वितीय—कल्याण हो ।

तृतीय—अनुगृहीत हुआ ।

द्वितीय—(घटोत्कच से) हे पुरुष ! मैं कुछ कहना चाहता हूँ ।

घटोत्कच—कहो, जल्दी कहो ।

द्वितीय—इस जंगली प्रदेश में कुछ तालाब सा दिखाई देता है । मैं परलोक यात्रा के लिए प्रस्तुत हूँ अतः अपनी प्यास बुझा लूँ ।

घटोत्कच—ओ दृढ़ निश्चय वाले ! जाओ, मेरी माता के भोजन का समय बीत रहा है (अतः) जल्दी चले आना ।

द्वितीय—हे पिता जी ! (अब) यह मैं जाता हूँ ।

वृद्ध—हाय ! हाय !! हम सब ठग लिए गए । लूट लिए गए ।

मेरे पर्वतरूपी (उच्च एवं दृढ़) वंश के परम रमणीय जो तीन शिखर थे,

स मध्यशृङ्गभङ्गेन मनस्तपति मे भृशम् ॥ २३ ॥

हा पुत्रक ! कथं गत एव ।

तरुण ! तरुणतानुरूपकान्ते !
नियमपराध्ययनप्रसक्तबुद्धे ! ।
कथमिव गजराजदन्तभग्न-
स्तरुरिव यास्यसि पुष्पितो विनाशम् ॥ २४ ॥

अभूत् सः = पर्वतः मध्यत्रिशृङ्गभङ्गेन—मध्यश्चासौ शृङ्गः = मध्यमशिखरः (कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गमित्यमरः ।) तस्य भङ्गेन = पातेन मे = मम (वृद्धस्य) मनः = मानसं (चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः । अमरः । भृशं = प्रचुरं तपति = दुःखमनुभवति । अनुष्टुप् छन्दोऽस्मिन् साङ्गरूपकालङ्कारः ॥ २३ ॥

वृद्धः सन्तापं प्रकटयति—तरुणेत्यादिना । (हे) तरुणः युवन् (वयःस्थस्तरुणो युवा । अमरः ।) तरुणतानुरूपकान्ते—तरुणस्य भावः तरुणता तस्याः अनुरूपा कान्तिर्यस्य स ततसम्बुद्धौ = यौवनानुरूपसौन्दर्यसम्पन्न, नियमपराध्ययनप्रसक्तबुद्धे ! नियमपराऽध्ययनप्रसक्ता च बुद्धिर्यस्य स तत्–सम्बुद्धौ = संयमनिरताध्ययनतत्परमते ! (तत्परे प्रसितासक्तावित्यमरः ।), इह = संसारेऽस्मिन् गजराजदन्तभग्नः—गजानां = करिसमूहानां (मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी । अमरः) राजा = ईशः तस्य दन्तः = रदः तेन भग्नः = भञ्जितः पुष्पितः = कुसुमितः तरुरिव = पादप इव (विटपी पादपस्तरुरित्यमरः ।) कथं = केन प्रकारेण विनाशं = नाशभावं यास्यसि = प्राप्स्यसि । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।' इत्यत्र पुष्पिताग्रा वृत्तम्, तरुण–तरुणतेति यमकः तारुण्यसम्पन्नब्राह्मणकुमारस्य पुष्पितवृक्षेण सादृश्यं निरूपितम् अतएव सादृश्यमूलक उपमालङ्कारः ॥ २४ ॥

उसके मध्य शृङ्ग के टूट जाने से मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है ॥ २३ ॥

हा पुत्र, क्या चले ही गए ?

(हे पुत्र) युवावस्था की अपूर्व स्वाभाविक शोभा से मण्डित ! संयमी एवं स्वाध्याय में दत्त-चित्त (युवक) ! तुम सुपुष्पित वृक्ष के समान यहाँ (इस निर्दय संसार में) प्रमत्त मातङ्ग के दन्ताघात से विनष्ट कर दिए गए ॥ २४ ॥

घटोत्कचः—चिरायते खलु ब्राह्मणवटुः । अतिक्रामति मातुराहार-कालः । किं नु खलु करिष्ये । भवतु दृष्टम् । भो ब्राह्मण ! आहूयतां तव पुत्रः ।

वृद्धः—आः अतिराक्षसं खलु ते वचनम् ।

घटोत्कचः—कथं रुष्यति । मर्षयतु भवान्मर्षयतु । अयं मे प्रकृति-दोषः । अथ किंनामा तव पुत्रः ।

वृद्धः—एतदपि न शक्यं श्रोतुम् ।

घटोत्कचः—युक्तम् । भोः ! ब्राह्मणकुमार ! किंनामा ते भ्राता ।

प्रथमः—तपस्वी मध्यमः ।

घटोत्कचः—मध्यम इति सदृशमस्य । अहमेवाह्वयामि । भो मध्यम ! मध्यम ! शीघ्रमागच्छ ।

(ततः प्रविशति भीमसेनः ।)

भीमः—कस्यायं स्वरः ।

घटोत्कच—ब्राह्मणकुमार अवश्य ही देर कर रहा है । माता के आहार का समय बीत रहा है । (मुझे) क्या करना चाहिए ? अच्छा, देखा । (समझा) हे ब्राह्मण ! अपने पुत्र को बुलाओ ।

वृद्ध—आह ! तुम्हारे वचन बड़े राक्षसी (परुष) हैं ।

घटोत्कच—क्यों (आप) क्रुद्ध हो रहे हैं । मुझे क्षमा कीजिए, आप क्षमा कीजिए । यह तो मेरे स्वभाव का ही दोष है । अच्छा, तुम्हारे पुत्र का क्या नाम है ?

वृद्ध—इस (वचन) को भी सुनने में (मैं) असमर्थ हूँ ।

घटोत्कच—ठीक है, हे ब्राह्मण (के) पुत्र ! तुम्हारे भाई का क्या नाम है ?

प्रथम—बेचारा मध्यम ।

घटोत्कच—मध्यम नाम (सर्वथा) उसके उपयुक्त ही है । मैं ही पुकारता हूँ । हे मध्यम ! मध्यम !! शीघ्र आओ ।

(तब भीमसेन आते हैं ।)

भीम—यह किसका स्वर है ?

खगशतविरुते विरौति तारं
द्रुमगहने दृढसंकटे वनेऽस्मिन् ।
जनयति च मनोज्वरं स्वरोऽयं
बहुसदृशो हि धनंजयस्वरस्य ॥ २५ ॥

घटोत्कचः—चिरायते खलु ब्राह्मणवटुः । अतिक्रामति मातुराहार-कालः । किं नु खलु करिष्ये । भवतु दृष्टम् । उच्चैः शब्दापयामि । भो मध्यम ! शीघ्रमागच्छ ।

भीमः—भोः । को नु खल्वेतस्मिन्वनान्तरे मम व्यायामविघ्नमुत्पाद्य

भीमः घटोत्कचस्य शब्दं श्रुत्वा सम्भावयति—खगेति । खगशतविरुते = पक्षिशतस्य (खगे विहङ्गविहगविहङ्गमविहायसः । शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्त-शकुनद्विजाः । अमरः) विरुते = शब्दसहिते, दृढसंकटे = अतिसम्बाधापन्ने (संकटं ना तु सम्बाधः । अमरः ।) अतिसंकटोपस्थिते वा द्रुमाः = वृक्षाः, (वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः । अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रु-द्रुमागमाः । अमरः ।) तैः गहने = व्याप्ते अस्मिन् वने = कानने (अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम् । अमरः) स्वरोऽयम् = अयं शब्दः तारं विरौति = उच्चैः ध्वनति, च = तथा मनोज्वरम् = उत्कण्ठाम् उत्सुकतां वा जनयति = उत्पा-दयति हि = यतः धनञ्जयस्य = अर्जुनस्य स्वरः = शब्दः तस्य बहुसदृशः = अत्यन्तसमानः अयं स्वरः = इयं वाणी अस्तीति शेषः । अत्र पुष्पिताग्रा वृत्तं स्मरणालङ्कारश्च ॥ २५ ॥

शब्दापयामि = (शब्द + आप् + णिच्) आह्वयामि ।

(जो) सैकड़ों पक्षियों की चहचहाहट से युक्त, अनेक वृक्षों से संकुलित, अत्यन्त गहन इस वन में उच्चस्वर से पुकारता है । यह अर्जुन के स्वर से बहुत मिलता है (अतः) मेरे मन में बड़ा कौतूहल है ॥ २५ ॥

घटोत्कच—यह ब्राह्मणकुमार बड़ी देरी कर रहा है । माता जी के भोजन का समय बीत रहा है । क्या करूँ ? अच्छा, और जोर से पुकारूँ । हे मध्यम ? शीघ्र आओ ।

भीम—अरे ! कौन है, इस वन में (जो) मेरे व्यायाम-क्रिया में विघ्न

मध्यम इति मां शब्दापयति। भवतु पश्यामस्तावत्। (परिक्रम्यावलोक्य सविस्मयम्। अहो दर्शनीयोऽयं पुरुषः। अयं हि,

सिंहास्यः सिंहदंष्ट्रो मधुनिभनयनः स्निग्धगम्भीरकण्ठो
बभ्रुभ्रूः श्येननासो द्विरदपतिहनुर्दीर्घविश्लिष्टकेशः।
व्यूढोरा वज्रमध्यो गजवृषभगतिर्लम्बपीनांसबाहुः
सुव्यक्तं राक्षसीजो विपुलबलयुतो लोकवीरस्य पुत्रः॥२६॥

भीमसेनः घटोत्कचस्य अलौकिकशरीरसंघटनां सिंहास्य इत्यादिना वर्णयति। सिंहास्यः—सिंह इव= केसरी इव (सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिरित्यमरः।) आस्यं = मुखं (वक्त्रास्यवदनं तुण्डमाननं लपनं मुखमित्यमरः।) यस्य सः, सिंहदंष्ट्रः—सिंहस्य = मृगेन्द्रस्य दंष्ट्रा = दन्तः इव दंष्ट्रा यस्य सः, मधुनिभनयनः—मधुनिभे नयने यस्य सः = मधुरेक्षणः (लोचनं नयनं नेत्रमित्यमरः। स्निग्ध = मसृणः गम्भीरः = उन्नतः कण्ठः = ग्रीवा यस्य सः बभ्रुभ्रूः = बभ्रू = पिङ्गलवर्णौ भ्रुवौ = भृकुटी यस्य सः, श्येननासः—श्येनस्य = शशादनस्य नासा इव (शशादनः पत्री श्येनः। अमरः।) नासा=घ्रोणा (घ्राणं गन्धवहा घोणा नासा च नासिका। अमरः) द्विरदपतिहनुः—द्वौ रदौ = दन्तौ येषां तेषां पतिः = गजेन्द्रः तस्य हनुरिव हनुः यस्य सः, दीर्घविश्लिष्टकेशः—दीर्घाः = दीर्घाः विश्लिष्टाः = विरलाः शिथिला वा केशाः = कचाः (चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुह इत्यमरः। यस्य सः, व्यूढोरा=व्यूढं=विपुलम् उरः = वक्षः (उरो वत्सं च वक्षश्चेत्यमरः।) यस्य सः, वज्रमध्यः—वज्र इव = कुलिशम्

डालकर 'मध्यम' ऐसा मुझे पुकारता है ? अच्छा तो (चलकर) देखूँ। (मुड़कर देखता है और विस्मय के सहित कहता है) अहा! वह मनुष्य वास्तव में दर्शन करने के योग्य है। यह तो,

सिंह के समान (भयङ्कर) मुँह और दाढ़, शराब सी (मतवाला बनाने वाली) आँखें, चिकना और ऊँचा गला, भूरी भवें, बाज की (नासिका की) तरह नाक, गजेन्द्र के समान ठोढ़ी, लम्बे और बिखरे हुए केश, सुविस्तीर्ण सीना, वज्र सा कठोर कटिप्रदेश, गज और बैल (या गजवृषभ = गजश्रेष्ठ) के समान गति, लम्बे और पृथुल कन्धा और भुजाओं वाला अत्यन्त बलशाली (यह) स्पष्ट ही किसी राक्षसी और विश्वविख्यात योद्धा का पुत्र है॥ २६॥

घटोत्कचः—चिरायते खलु ब्राह्मणबटुः। उच्चैः शब्दापयामि। भो भो ! मध्यम। शीघ्रमागच्छ।

भीमः—भोः ! प्राप्तोऽस्मि।

घटोत्कचः—न खल्वयं ब्राह्मणबटुः। अहो दर्शनीयोऽयं पुरुषः। य एष—

सिंहाकृतिः कनतालसमानबाहु-
र्मध्ये तनुर्गरुडपक्षविलिप्तपक्षः।

इव (वज्रोऽस्त्री कुलिशं पविरित्यमरः) मध्यः = मध्यभागः यस्य सः, गजवृष-भगतिः—गजवृषभयोर्गतिरिव गतिर्यस्य सः = द्विपोक्षगमनः लम्बौ = आयतौ पीनांसबाहू—पीनौ = विशालौ अंसौ = स्कन्धौ (स्कन्धो भुजशिरोंऽसः इत्यमरः।) बाहू = भुजे यस्य सः, विपुलबलयुतः—विपुलं च तद् बलं तेन युतः = महद्बल-संयुतः महाबलवानित्यर्थः। राक्षसीजः—राक्षस्यां=हिडिम्बायां जातः लोकवीरस्य-लोके वीरः तस्य सप्तमीसमासः = जगत्प्रसिद्धबलशालिनः (अयं) पुत्रः = सूनुः—सुव्यक्तं—सुतरां व्यक्तं प्रत्यक्षमित्यर्थः। अत्र परिकरकाव्यलिङ्गोपमानु-मानालङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितवृत्तं तल्लक्षणम्—'सूर्याश्वैर्यदि यः सजौ सततगाः' इति ॥ २६ ॥

घटोत्कचः भीमस्य अद्भुतरूपं वर्णयति—सिंहादिना।

अयं=समागन्ता जनः सिंहाकृतिः–सिंहस्य आकृतिः इव आकृतिर्यस्य सः = मृगेन्द्राकारः (सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्य इत्यमरः।), कनकतालसमानबाहुः–कनकस्य= सुवर्णस्य तालः=तालवृक्षः तेन समानौ=बाहू=भुजे यस्य सः, मध्ये=मध्यभागे तनुः= कृशः गरुडपक्षविलिप्तपक्षः—गरुडस्य = गरुत्मत पक्षाभ्यां = पत्राभ्यां विलिप्तौ =

घटोत्कच—अवश्य ही ब्राह्मणकुमार देरी कर रहा है। माता जी के भोजन का समय बीत रहा है। अब क्या करूँ? अच्छा ऊँचे स्वर से पुकारूँ। हे हे मध्यम! शीघ्र आओ।

भीम—हे ! मैं आ गया।

घटोत्कच—यह तो वास्तविक ब्राह्मणकुमार नहीं है, अहा यह पुरुष तो दर्शन करने के योग्य है। जो यह,

सिंह के समान आकृति (रूप). सोने के ताड़ वृक्ष सी (लम्बी) बाहें, क्षीण कटि, गरुड़ के पङ्ख से चिकने पार्श्वों, प्रफुल्ल कमल दल के समान विशाल

विष्णुर्भवेद्विकसिताम्बुजपत्रनेत्रो
नेत्रे ममाहरति बन्धुरिवागतोऽयम् ॥ २७ ॥

भो मध्यम ! त्वां खल्वहं शब्दापयामि ।

भीमः—अतः खल्वहं प्राप्तः ।

घटोत्कचः—किं भवानपि मध्यमः ।

भीमः—न तावदपरः ।

मध्यमोऽहमवध्यानामुत्सिक्तानां च मध्यमः ।
मध्यमोऽहं क्षितौ भद्र भ्रातॄणामपि मध्यमः ॥ २८ ॥

घृष्टौ पक्षौ = पार्श्वे यस्य सः, विकसिताम्बुजपत्रनेत्रः—विकसिते=प्रफुल्लिते अम्बुजपत्रे = कमलदले इव नेत्रे यस्य सः बन्धुरिव = सुहृदिव आगतः—प्राप्तः विष्णुः = उपेन्द्रः भवेत् = भवितुमर्हति (यतः) मम = घटोत्कचस्य नेत्रे = चक्षुषी आहरति = सम्मोहयति आकर्षयतीत्यर्थः । पक्षविलिप्तपत्ते यमकः अन्तिमयोः चरणयोः सन्देहः तथा बन्धुरिवोत्प्रेक्षा अलङ्काराः वसन्ततिलका वृत्तञ्च ॥ २७ ॥

भीमः नैजं परिचयं ददत् राक्षसं प्रत्याह—मध्यम इत्यादिना ।

(हे) भद्र = सौम्य अहं = भीमः अवध्यानां=हन्तुमयोग्याः तेषाम् अमरणार्हाणां मध्यमः = पाण्डवानां मध्य इति भावः । उत्सिक्तानां = निष्कासितानां शौर्योद्धतानां वा मध्ये मध्यमः, अहं = भीमः क्षितौ-लोके भूलोकत्वेन तत्सम्बन्धादहं मध्यमो मध्यमलोकभवो मानुष इत्यर्थः । भ्रातॄणां = सहोदराणां युधिष्ठिरादीनां मध्ये अहं मध्यमः भीम इत्यर्थः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २८ ॥

नेत्रों वाला बन्धु के समान आया हुआ यह विष्णु हो सकता है जो मेरे नेत्रों को आकृष्ट कर रहा है ॥ २७ ॥

हे मध्यम ! मैं तुम्हें ही बुला रहा हूँ ।

भीम—अतः मैं आ गया ।

घटोत्कच – क्या आप भी मध्यम हैं ?

भीम—तो दूसरा नहीं । (क्योंकि—)

अमृतधर्मात्माओं में मैं मध्यम हूँ और स्वाभिमानियों (वन में निर्वासितों) में भी । हे भद्र ! मैं पृथ्वी पर (त्रिलोकों में) मध्य में हूँ अपने भाइयों में भी (उत्पत्ति क्रम से मझला) मध्यम मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

घटोत्कचः—भवितव्यम् ।

भीमः—अपि च,

मध्यमः पञ्चभूतानां पार्थिवानां च मध्यमः ।
भवे च मध्यमो लोके सर्वकार्येषु मध्यमः ॥ २९ ॥

वृद्धः—

मध्यमस्त्विति संप्रोक्ते नूनं पाण्डवमध्यमः ।
अस्मान्मोक्तुमिहायातो दर्पान्मृत्योरिवोत्थितः ॥ ३२ ॥

(प्रविश्य)

भीमः भङ्ग्यन्तरेण पूर्वोक्तिमेव पुनः स्पष्टयति—पञ्चभूतानां = पृथिव्यादीनां मध्ये अहं मध्यमः = मध्यभूतो पार्थिवानां—पृथिव्या ईश्वराः पार्थिवाः तेषां = राज्ञां मध्ये च अहं मध्यमः भवे = प्रादुर्भावे मध्यमः मम मध्योत्पत्तिरित्यर्थः, लोके—भुवने (लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः ।) सर्वकार्येषु = अशेषव्यापारेषु मध्यमः = मध्यस्थः ॥ २९ ॥

वृद्ध आत्मगतं विचारयति—मध्यमस्त्विति ।

(अहं) मध्यम इति सम्प्रोक्ते = समुच्चारणे नूनं = निश्चितं पाण्डवमध्यमः—पाण्डवेषु मध्यमः (भीमोऽयमिति भावः ।) दर्पात् = गर्वात् मृत्योः = अन्तकादिव उत्थितः = उद्युक्तः अस्मात् = राक्षसात् मोक्तुं=निराकर्तुम् अस्माकमिति शेषः, इह अस्मिन् स्थाने आयातः=आगत इति प्रतिभाति । उत्प्रेक्षालङ्कारः अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३० ॥

घटोत्कच—होंगे ।

भीम—और भी—

पञ्चभूतों (पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश) में मैं मध्यम (वायु) हूँ, राजाओं में भी मैं मध्यम हूँ, इस लोक में उत्पन्न होने वालों में मैं मध्यम हूँ तथा सब कार्यों में भी ॥ २९ ॥

वृद्ध—इसने 'मध्यम' ऐसा कहा है तो अवश्य ही पाण्डवों में मध्यम (भीम) होंगे । यहां हम लोगों को मृत्यु के दर्प से छुड़ाने के ही लिए आए हैं ॥ ३० ॥

(प्रवेश करके)

मध्यमः—

अस्यामाचम्य पद्मिन्यां परलोकेषु दुर्लभम् ।
आत्मनैवात्मनो दत्तं पद्मपत्रोज्ज्वलं जलम् ॥ ३१ ॥

(उपगम्य) भोः पुरुष ! प्राप्तोऽस्मि ।

घटोत्कचः—भवानिदानीं खल्वसि मध्यमः । मध्यम ! इत इतः ।

वृद्धः—(भीमसेनमुपगम्य) भो मध्यम ! परित्रायस्व ब्राह्मणकुलम् ।

भीमः—न भेतव्यम् । न भेतव्यम् । मध्यमोऽहमभिवादये ।

वृद्धः—वायुरिव दीर्घायुर्भव ।

भीमः—अनुगृहीतोऽस्मि । कुतो भयमार्यस्य ।

वृद्धः—श्रूयताम् । अहं खलु कुरुराजेन युधिष्ठिरेणाधिष्ठितपूर्वे कुरु-

---

अस्यामिति । अस्यां = पुरोवर्तिन्यां पद्मिन्यां पद्मानि अस्यां सन्ति इति पद्मिनी तस्यां = वाप्यां परलोकेषु = स्वर्गादिषु दुर्लभं—दुःखेन लब्धुं योग्यम् = अप्राप्यम् पद्मपत्रोज्ज्वलं=पद्मपत्रम्=कमलदलम् इव उज्ज्वलं=स्वच्छं जलं=सलिलं (सलिलं कमलं जलम् । अमरः) आचम्य = पीत्वा आत्मनैव = असहायेन सन्तान-विहीनेन स्वेनैव आत्मनः = स्वस्य दत्तं=प्रदत्तम् । अत्रानुप्रासः अलङ्कारः, अनुष्टुप् छन्दः ॥ ३१ ॥

मध्यम—इस कमलपूरित सरोवर के कमलदल से उज्ज्वल तथा स्वच्छ जल को जो परलोक में दुर्लभ है, स्वयं अपने को ही (पुत्रविहीन होने के कारण भविष्य में तर्पणादि की आशा न रहने से) दे लिया है ॥ ३१ ॥

(समीप जाकर) हे पुरुष ! मैं आ गया ।

घटोत्कच—वास्तव में तुम ही अब मध्यम हो (न कि यह दूसरा) मध्यम ! इधर इधर (आओ) ।

वृद्ध—(भीमसेन के पास जाकर) हे मध्यम ! ब्राह्मण कुल की रक्षा करो ।

भीम—डरना नहीं चाहिए । डरना नहीं चाहिए । मैं मध्यम अभिवादन करता हूँ ।

वृद्ध—वायु के समान चिरञ्जीवी हो ।

भीम—अनुगृहीत हुआ ! आर्य को किस से भय है ।

वृद्ध—सुनिए । मैं वास्तव में कुरुवंश के युधिष्ठिर राजा से पहले शासित

जाङ्गले यूपग्रामवास्तव्यो माठरसगोत्रश्च कल्पशाखाध्वर्युः केशवदासो नाम ब्राह्मणः। तस्य ममोत्तरस्यां दिशि उद्यामकग्रामवासी मातुलः कौशिकसगोत्रो यज्ञबन्धुर्नामास्ति। तस्य पुत्रोपनयनार्थं सकलत्रोऽस्मि प्रस्थितः।

भीमः—अरिष्टोऽस्तु पन्थाः। ततस्ततः।

वृद्धः—ततो मामेष हि।

सजलजलदगात्रः पद्मपत्रायताक्षो
मृगपतिगतिलीलो राक्षसः प्रोग्रदंष्ट्रः।
जगति विगतशङ्कस्त्वद्विधानां समक्षं
ससुतपरिजनं भो! हन्तुकामोऽभ्युपैति॥ ३२॥

सकलत्रः = सपत्नीकः। अरिष्टः=विघ्नरहितः पान्थः = मार्गः अस्तु = भवतु।

वृद्धः अपायस्वरूपोपस्थितं घटोत्कचं वर्णयति—सजलादिना।

भोः! = भद्र! (एष) सजलजलदगात्रः = जलेन सहितः सजलः, जलं ददातीति जलदः, सजलश्चासौ जलदः तस्य गात्रम् इव गात्रं यस्य सः = सनीरमेघ-शरीरः (गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः इत्यमरः।) अर्थात् तद्वत् नीलः, पद्मपत्रायताक्षः—पद्मपत्रे इव आयते अक्षिणी यस्य सः = कमलदलविशालनेत्रः मृगपतिगतिलीलः—मृगाणां पतिः तस्य गतिः तस्याः लीला इव लीला यस्य सः = सिंहगमनविलासः प्रोग्रदंष्ट्रः—प्रोग्रा = समुन्नता दंष्ट्रा=दन्तः यस्य सः = प्रोत्थित-दन्तः जगति = संसारे विगतशङ्कः विगता शङ्का यस्य सः = निर्द्वन्द्वः राक्षसः =

कुरुजाङ्गल (कुरुक्षेत्र) में यूप ग्राम में रहने वाले, माठर के सगोत्र, कल्पशाखा का अध्वर्यु (पुरोहित) केशवदास नामक ब्राह्मण हूँ। उस मेरे गांव से उत्तर दिशा में उद्यामक नामक ग्राम में यज्ञबन्धु नामक मेरे मामा रहते हैं। उन्हीं के पुत्र के उपनयन संस्कार में सम्मिलित होने के लिए मैं सपत्नीक जा रहा हूँ।

भीम—तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न हो। तब और क्या हुआ।

वृद्ध—तब मुझे यह—

जलपूर्ण मेघ के समान (श्याम) शरीर वाला, कमल दल के समान बड़ी-बड़ी आखों और सिंह के दाढ़ों के समान बाहर निकले हुए दांतों वाला, संसार में निर्भय होकर तुम्हारे (ऐसे वीरों के) सामने यह राक्षस स्त्री-पुत्र के सहित मुझे मारने को उद्यत है॥ ३२॥

भीमः—एवम्। अनेन ब्राह्मणजनस्य मार्गविघ्नः कृतः। भवतु निग्रहिष्यामि तावदेनम्। भोः पुरुष! तिष्ठ तिष्ठ।

घटोत्कचः—एष स्थितोऽस्मि।

भीमः—किमर्थं ब्राह्मणजनमपराध्यसि।

पुत्रनक्षत्रकीर्णस्य पत्नीकान्तप्रभस्य च।
वृद्धस्य विप्रचन्द्रस्य भवान् राहुरिवोत्थितः॥ ३३॥

घटोत्कचः—अथ किम्। राहुरेव।

भीमः—आः,

नक्तञ्चरः (नक्तञ्चरो रात्रिचरो कर्बुरो निकषात्मजः। अमरः।) त्वद्विधानां—तव विधा इव विधा येषां = तत्सदृशानां समक्षम्—अक्ष्णः समम्=प्रत्यक्षं ससुतपरिजनं- सुतैः परिजनैश्च सहितं = सपरिवारं हन्तुकामः—अत्तुकामः अभ्युपैति = समायाति। अत्रोपमा स्वभावोक्तिरलंकारौ मालिनीवृत्तम्॥ ३२॥

भीमः वृद्धविप्रस्य स्थितिं प्रकाशयति—पुत्रादिना।

(भो राक्षस!) पुत्रनक्षत्रकीर्णस्य—पुत्राः एव नक्षत्राणि तैः कीर्णः तस्य = सूनूडुगणव्याप्तस्य, पत्नीकान्तप्रभस्य च—पत्नी एव कान्ता प्रभा यस्य तस्य = प्रियामनोज्ञज्योत्स्नस्य, वृद्धस्य = जरठस्य विप्रचन्द्रस्य—विप्र एव चन्द्रः तस्य = ब्राह्मणेन्दोः भवान् = घटोत्कचः राहुरिव = सैंहिकेय इव (तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः। अमरः) उत्थितः = तत्परः किंकारणमत्रेति भावः। अत्र रूपकगर्भितोपमा अलंकारः। अनुष्टुब् वृत्तम्॥ ३३॥

भीम—ऐसा? इसने ब्राह्मण के मार्ग में विघ्न उपस्थित किया है। अच्छा, तो मैं इसे दण्ड दूँगा। हे पुरुष ठहरो, ठहरो।

घटोत्कच—यह मैं रुका हूँ।

भीम—किस लिए ब्राह्मण बेचारे को कष्ट दे रहे हो।

नक्षत्र के समान पुत्रों और सुन्दर ज्योत्स्ना सी पत्नी से युक्त इस बूढ़े (पूर्ण) चन्द्र को तुम राहु के समान ग्रसने आए हो?॥ ३३॥

घटोत्कच—और क्या! राहु ही।

भीम—आह।

निवृत्तव्यवहारोऽयं सदारस्तनयैः सह ।
सर्वापराधेऽवध्यत्वान्मुच्यतां द्विजसत्तमः ॥ ३४ ॥

घटोत्कचः—न मुच्यते ।

भीमः—(आत्मगतम्) भोः ! कस्य पुत्रेणानेन भवितव्यम् ।

भ्रातॄणां मम सर्वेषां कोऽयं भो ! गुणतस्करः ।
दृष्ट्वैतद्बालशौण्डीर्यं सौभद्रस्य स्मराम्यहम् ॥ ३५ ॥

निवृत्तेति । निवृत्तव्यवहारः—निवृत्ताः व्यवहाराः यस्य सः = व्यावृत्तैहिकव्यापारः, सर्वापराधेऽपि—सर्वश्चासौ अपराधः तस्मिन् = दोषसंकुलेऽपि अवध्यत्वात् = प्राणवियोगानुकूलव्यापाराक्षमत्वात् (न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि । तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ (मनुस्मृति ३८०।१ सदारः—दारैस्सह = सपत्नीकः तनयैः = पुत्रैः सह अयं = पुरोवर्त्ती द्विजसत्तमः—द्विजेषु सत्तमः=ब्राह्मणतल्लजः मुच्यतां=परित्यज्यताम् । अत्राप्यनुष्टुब् वृत्तम् ॥३४॥

भीमः सम्भावयति (आत्मगतम्) भ्रातॄणामित्यादिना । भोः ! मम = भीमस्य सर्वेषाम्=अखिलानां भ्रातॄणां = बान्धवानां युधिष्ठिरादीनामित्यर्थः, गुणतस्करः—गुणानां तस्करः = गुणाहरणकारी अयं कः = कोऽसावित्यर्थः । एतस्य पुरोवर्तिनः (घटोत्कचस्य) बालस्य = माणवकस्य (बालस्तु स्यान्माणवकः । अमरः) शौण्डीर्यम् = औद्धत्यं दृष्ट्वा सौभद्रस्य—सुभद्रायाः = कृष्णभगिन्याः अपत्यं तस्य = अभिमन्योः (अर्जुनपुत्रस्य) स्मरामि = स्मरणं करोमि बालशौर्यमितिः शेषः । स्मरणालङ्कारः ॥ ३५ ॥

इस संसार के कर्मों से निवृत्त ब्राह्मणश्रेष्ठ को उसके पत्नी और पुत्रों के सहित छोड़ दो । क्योंकि, ब्राह्मण को अनेक अपराध करने पर भी मारना नहीं चाहिए ॥ ३४ ॥

घटोत्कच—नहीं छोड़ता ।

भीम—(अपने मन में) हे ! यह किसका पुत्र हो सकता है ?

मेरे सब भाइयों के गुणों को चुराने वाला यह कौन है ? इसके कौमारोद्धत दर्प को देखकर मुझे सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु) की याद आती है ॥ ३५ ॥

(प्रकाशम्) भोः पुरुष ! मुच्यताम् ।

घटोत्कचः—न मुच्यते ।

मुच्यतामिति विस्रब्धं ब्रवीति यदि मे पिता ।
न मुच्यते तथा ह्येष गृहीतो मातुराज्ञया ॥ ३६ ॥

भीमः—(आत्मगतम्) कथं मातुराज्ञेति । अहो गुरुशुश्रूषुः खल्वयं तपस्वी ।

माता किल मनुष्याणां देवतानां च दैवतम् ।
मातुराज्ञां पुरस्कृत्य वयमेतां दशां गताः ॥ ३७ ॥

घटोत्कच एवमुत्तरयति—मुच्यतामित्यादिना ।

यदि = चेत् मे = मम (घटोत्कचस्य) पिता = जनकः विश्रब्धं = विश्वस्तं मुच्यताम् = परित्यज्यताम् इति = इत्थं ब्रवीति=कथयति (तथापि) न मुच्यते = न परित्यक्तुमर्हामि । एषः = ब्राह्मणवटुः (मध्यमः) मातुः = जनन्याः आज्ञया = आदेशेन गृहीतः = परिगृहीतो मया । अत्रानुष्टुप् छन्दः ॥ ३६ ॥

भीम आत्मगतं विमर्शयति—मातेति ।

मनुष्याणां—मनोर्जाताः तेषां = मानवानां (मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नरा इत्यमरः ।) देवतानाञ्च–देवस्य भावाः तासां=देवविशेषाणां, दैवतम् = ईश्वरो माता = जननी किल इति नूनं यतः मातुः = जनन्याः (कुन्त्याः) आज्ञाम्= आदेशं पुरस्कृत्य = स्वीकृत्य वयं = युधिष्ठिरादयः एतां = वर्तमानां विपन्नां दशाम्= अवस्थां गताः = प्राप्ताः स्मः । अत्र पूर्वपदे सामान्येन उत्तरपदे विशेषः समर्थितः अतएव अर्थान्तरन्यासालंकारः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३७ ॥

(प्रकाश में) हे पुरुष ! इसे छोड़ दो ।

घटोत्कच—नहीं छोड़ता ।

'छोड़ दो' ऐसा यह मेरा पिता भी विश्वासपूर्वक कहता तो भी माता की आज्ञा से ग्रहण किए गए इसको मैं कदापि न छोड़ता ॥ ३६ ॥

भीम—(अपने मन में) कैसा ? माता की आज्ञा । अहा, यह बेचारा अवश्य ही माता की सेवा करने वाला है ।

मनुष्यों के लिए तो माता अवश्य ही देवताओं की भी देवता है । माता (कुन्ती) की ही आज्ञा मान कर हम लोग (द्यूत-क्रीडा के कारण) इस (वनवास की) दशा को प्राप्त हुए ॥ ३७ ॥

(प्रकाशम्) पुरुष ! प्रष्टव्यं खलु तावदस्ति ।

घटोत्कचः—ब्रूहि ब्रूहि, शीघ्रम् ।

भीमः—का नाम भवतो माता ।

घटोत्कचः—श्रूयतां, हिडिम्बा नाम राक्षसी,

कौरव्यकुलदीपेन पाण्डवेन महात्मना ।
सनाथा या महाभागा पूर्णेन द्यौरिवेन्दुना ॥ ३८ ॥

भीमः—(सहर्षमात्मगतम्) एवं हिडिम्बायाः पुत्रोऽयम् । सदृशो ऽस्य गर्वः ।

रूपं सत्त्वं बलं चैव पितृभिः सदृशं बहु ।

घटोत्कचः स्वमातुः परिचयं ददत् सविशेषणं कौरव्यादिना उद्घाटयति ।

या = मम माता (हिडिम्बा) महाभागा = सौभाग्यशालिनी कौरव्यकुलदीपेन—कुरोः अपत्यं तस्य कुलस्य दीपः तेन = कौरववंशोत्तंसेन महात्मना महांश्चासौ आत्मा तेन = महासत्त्वेन पाण्डवेन—पाण्डोरपत्यं तेन = पाण्डुपुत्रेण पूर्णेन = सकल (षोडश) कालयुक्तेन इन्दुना = चन्द्रमसा युक्ता द्यौरिव = आकाशमण्डलमिव सनाथा = सपतिका जातेति शेषः । कौरव्यकुलदीपे रूपकः तथा सम्पूर्णे श्लोके उपमा अलंकारौ ॥ ३८ ॥

भीमः आत्मगतं घटोत्कचविषये परामृशति—रूपमित्यादिना ।

अस्य = बालकस्य घटोत्कचस्य रूपं=सौन्दर्यं सत्त्वं=पराक्रमः बलं=सामर्थ्यम्

(प्रकाश में) हे पुरुष ! कुछ तुमसे पूछना है ।

घटोत्कच—कहो शीघ्र कहो ।

भीम—आपकी जननी का क्या नाम है ?

घटोत्कच—सुनिए, हिडिम्बा नाम की राक्षसी ।

कौरव कुल के दीपक महात्मा पाण्डव से जो पूर्णचन्द्र से आकाश की भांति सनाथ की गई है ॥ ३८ ॥

भीम—(सहर्ष मन में) इस प्रकार, यह हिडिम्बा का पुत्र है । इसका आत्माभिमान उचित ही है ।

रूप, पराक्रम शक्ति आदि सब इसके माता-पिता के समान ही हैं किन्तु

प्रजासु वीरकारुण्यं मनश्चैवास्य कीदृशम् ॥ ३९ ॥

(प्रकाशम्) भोः पुरुष ! मुच्यताम् ।

घटोत्कचः—न मुच्यते ।

भीमः—भो ब्राह्मण ! गृह्यतां तव पुत्रः । वयमेनमनुगमिष्यामः ।

द्वितीयः—मा मा भवानेवम् ।

त्यक्ताः प्रागेव मे प्राणा गुरुप्राणेष्वपेक्षया ।
युवा रूपगुणोपेतो भवांस्तिष्ठतु भूतले ॥ ४० ॥

बहु = अनल्पं पितृभिः = जनकैः (अस्माभिः) सदृशं = तुल्यं (किन्तु) प्रजासु = जनेषु (प्रजा स्यात् सन्ततौ जने इत्यमरः ।) वीतकारुण्यं वीतं करुणस्य भावः कारुण्यं यस्मिन् तत् = त्यक्तकृपं मनः=चित्तं (चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः । अमरः) कीदृशं = कथं (भिन्नं) जातमिति ॥ ३९ ॥

मध्यमः ब्राह्मणपुत्रः भीमं वारयति—त्यक्ता इति ।

गुरुप्राणेषु—गुरूणां प्राणाः तेषु = पूज्यतमजीवेषु अपेक्षया = तेषां कृते मे = मम (ब्राह्मणवटोः) प्राणाः = असवः प्रागेव = प्रहणदशायामेव त्यक्ताः = मुक्ताः अतः युवा = तरुणः भवान् = भीमः रूपगुणोपेतः—रूपगुणाभ्याम् उपेतः = युक्तः भूतले = पृथिव्यां तिष्ठतु = बहुकालं जीवतु । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ४० ॥

(क्षत्रिय होने के कारण सन्तति के समान) प्राणियों के प्रति कैसे इसका मन इतना दयाविहीन हो गया ॥ ३९ ॥

(प्रकाश में) हे पुरुष ! इसे छोड़ दो ।

घटोत्कच—नहीं छोड़ता ।

भीम—हे ब्राह्मण ! अपने पुत्र को लो । (इसके स्थान पर) मैं ही इसके पीछे जाता हूँ ।

द्वितीय—नहीं ऐसा नहीं ।

गुरुजनों के प्राण के विनिमय में मैंने पहले ही अपने प्राण के त्याग का निश्चय किया है आप सुन्दर और श्रेष्ठ गुणों वाले (हैं, अतः) इस पृथ्वी पर चिरकाल तक रहें ॥ ४० ॥

भीमः—आर्य ! मा मैवम् । क्षत्रियकुलोत्पन्नोऽहम् । पूज्यतमाः खलु ब्राह्मणाः । तस्माच्छरीरेण ब्राह्मणशरीरं विनिमातुमिच्छामि ।

घटोत्कचः—एवं क्षत्रियोऽयं, तेनास्य दर्पः । भवतु, इममेव हत्वा नेष्यामि । अथ केनायं वारितः ।

भीमः—मया ।

घटोत्कचः—किं त्वया ?

भीमः—अथ किम् ।

घटोत्कचः—तेन हि भवानेवागच्छतु ।

भीमः—एवमतिबलवीर्यान्नानुगच्छामि । यदि ते शक्तिरस्ति बलात्कारेण मां नय ।

घटोत्कचः—किं मां प्रत्यभिजानीते भवान् ।

भीमः—मत्पुत्र इति जाने ।

घटोत्कचः—कथं कथं तव पुत्रोऽहम् ।

एवमतिबलवीर्यात्-अतिशयिते बलवीर्ये यस्य तस्मात्—आत्मानमतिपराक्रमशालिनं मन्यमानत्वात् । बलात्कारेण = बलपूर्वकेण ।

भीम—आर्य ! ऐसा नहीं । मैं क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ हूँ । ब्राह्मण तो सबसे पूज्य हैं इसलिए अपने शरीर से ब्राह्मण के शरीर को बदलना चाहता हूँ (अर्थात् अपना शरीर राक्षस को देकर ब्राह्मण के शरीर की रक्षा करना चाहता हूँ) ।

घटोत्कच—ऐसा ? यह क्षत्रिय है इसीसे इसे इतना गर्व है । अच्छा मैं तो इसी (कुमार) को मार कर ले जाऊँगा । फिर किसके द्वारा रोका गया ।

भीम—मुझसे ।

घटोत्कच—क्या तुमसे ?

भीम—और क्या ।

घटोत्कच—तो आपही आइए ।

भीम—इस प्रकार (मैं) अधिक बल-पराक्रमशाली के पीछे नहीं जाऊँगा । यदि तुम में शक्ति है तो मुझे बलपूर्वक ले जाओ ।

घटोत्कच—क्या मुझे जानते हैं आप (मैं कौन हूँ) ?

भीम—मेरे पुत्र ऐसा जानता हूँ ।

घटोत्कच—कैसे-कैसे तुम्हारा मैं पुत्र ?

भीमः—कथं रुष्यति । मर्षयतु भवान् । सर्वाः प्रजाः क्षत्रियाणां पुत्रशब्देनाभिधीयन्ते । अत एवं मयाभिहितम् ।

घटोत्कचः—भीतानामायुधं गृहीतम् ।

भीमः—

शपामि सत्येन भयं न जाने ज्ञातुं तदिच्छामि भवत्समीपे ।
किंरूपमेतद्वद भद्र तस्य गुणागुणज्ञः सदृशं प्रपत्स्ये ॥ ४१ ॥

घटोत्कचः—एष ते भयमुपदिशामि । गृह्यतामायुधम् ।

भीमः—आयुधमिति, गृहीतमेतत् ।

घटोत्कचः—कथमिव ।

भीमः घटोत्कचं प्रति तद्व्यवसायं ज्ञातुमिच्छन् पृच्छति-शपामीत्यादिना । हे भद्र=हे वीर पुरुष अहं भीमः सत्येन=ऋतेन शपामि=शपथं करोमि भयं=भीतिं न जाने=न जानामि । तत् भयं भवत्समीपे=भवतः समीपं तस्मिन्=त्वत्पार्श्वे ज्ञातुम्=अवगन्तुम् इच्छामि=ईहे एतद् रूपं=भयस्य रूपं, किमाकारं तस्य=भयस्य गुणागुणज्ञः=गुणावगुणवेत्ता त्वं वद=ब्रूहि सदृशम्=अनुरूपं त्वां प्रपत्स्ये=प्राप्तः । अतः स्वयं त्वमेव अस्य स्वरूपं वक्तुं शक्नोषीति पृच्छामीति भावः । उपजातिवृत्तम् ॥ ४१ ॥

भीम—(आप) क्यों क्रुद्ध होते हैं । क्षमा करें आप । सारी प्रजा क्षत्रियों के द्वारा पुत्र शब्द से ही पुकारी जाती है ।

घटोत्कच—(आपने) दुर्बलों का शास्त्र (बात बनाना) ग्रहण कर लिया ।

भीम—मैं सत्य शपथ खाता हूँ, भय नहीं जानता । उसी को आपके समीप जानने के लिए आया हूँ । हे भद्र ! उसका क्या रूप है बतलाओ क्योंकि तुम उसके अवगुण और गुणों के ज्ञाता हो ॥ ४१ ॥

घटोत्कच—यह तुम्हें डर की शिक्षा देता हूँ । शस्त्र ग्रहण करो ।

भीम—शस्त्र ? यह इसे ले लिया ।

घटोत्कच—किस तरह ?

भीमः—

काञ्चनस्तम्भसदृशो रिपूणां निग्रहे रतः ।
अयं तु दक्षिणो बाहुरायुधं सहजं मम ॥ ४२ ॥

घटोत्कचः—इदमुपपन्नं पितुर्मे भीमसेनस्य ।

भीमः—अथ कोऽयं भीमो नाम ।

विश्वकर्ता शिवः कृष्णः शक्रः शक्तिधरो यमः ।

आयुधं = शस्त्रं ।

काञ्चनेति—रिपूणां=वैरिणां (रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृद इत्यमरः ।) निग्रहे=पराजये रतः=संलग्नः काञ्चनस्तम्भसदृशः=काञ्चनस्य स्तम्भः तेन सदृशः = सुवर्णस्तम्भोपमः अयं = यत् शरीरवर्ती दक्षिणः = वामेतरः बाहुः = भुजः मम = भीमस्य सहजं—सहजातं स्वाभाविकम् आयुधं = शस्त्रम् अस्तीति शेषः । अतः कुतोऽन्यायुधस्यावश्यकता ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् । काञ्चनस्तम्भसदृशो उपमा अलङ्कारः ॥ ४२ ॥

उपपन्नम् = योग्यम् ।

विश्वेति—विश्वकर्ता- विश्वस्य = जगतः कर्ता = रचयिता निर्माणकर्तेति भावः= ब्रह्मा, शिवः = पशुपतिः (शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः) कृष्णः—कर्षति जनेभ्यः दुःखान् यः सः = विष्णुः (विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टर-श्रवा इत्यमरः ।) शक्रः = दिवस्पतिः (जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः शतमन्युर्दिवस्पतिः । अमरः) शक्तिधरः—धरतीति धरः शक्तेः धरः = कुमारः (षाण्मातुरः शक्ति-धरः कुमारः क्रौञ्चदारणः । अमरः) यमः = शमनः (शमनो यमराड् यमः ।

भीम—

स्वर्ण के खम्भे के समान शत्रु-विनाश में परम संलग्न यह हमारा दक्षिण बाहु ही मेरे अनुरूप शस्त्र है ॥ ४२ ॥

घटोत्कच—यह तो मेरे पिता भीमसेन के ही योग्य (कथन) है ।

भीम—अच्छा, यह भीम नामक कौन (व्यक्ति) है ।

ब्रह्मा (सृष्टि की रचना करने वाले), महेश, विष्णु, इन्द्र, कुमार कार्तिकेय

एतेषु कथ्यतां भद्र केन ते सदृशः पिता ॥ ४३ ॥

घटोत्कचः—सर्वैः ।

भीमः—धिगनृतमेतत् ।

घटोत्कचः—कथं कथमनृतमित्याह । क्षिपसि मे गुरुम् । भवत्विमं स्थूलं वृक्षमुत्पाट्य प्रहरामि । (उत्पाट्य प्रहरति ।) कथमनेनापि न शक्यते हन्तुम् । किं नु खलु करिष्ये नु । भवतु, दृष्टम् । एतद्गिरिकूटमुत्पाट्य प्रहरामि ।

शैलकूटं मयाक्षिप्तं प्राणानादाय यास्यति ।

भीमः—

रुष्टोऽपि कुञ्जरो वन्यो न व्याघ्रं धर्षयेद्वने ॥ ४४ ॥

अमरः) एतेषु = देवेषु (मध्ये) ते = तव पिता = जनकः केन = देवेन सदृशः= तुल्यः वर्तते इति हे भद्र = हे सौम्य कथ्यताम् = व्याहर । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥४३॥

क्षिपसि = निन्दसि । गुरुम् = पूज्यतमम् (जनकम्) ।

मया = घटोत्कचेन आक्षिप्तम् = उत्पाट्य पक्षिप्तम् (इदं) शैलकूटं = पर्वत शिखरम् (अस्य) प्राणान् = असून् आदायसू = गृहीत्वा यास्यति = गमिष्यति ।

वन्यः—वने भवः = आरण्यकः (अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम् । अमरः) कुञ्जरः = हस्ती रुष्टः अपि = क्रुद्धः अपि वने = कानने व्याघ्रं = शार्दूलं (शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्र इत्यमरः ।) न धर्षयेत् = भर्त्सयेत् । अत्रोत्तरार्धश्लोके

(देवताओं के सेनापति) यमराज इन लोगों में से हे सौम्य ! बतलाओ तुम्हारे पिता किसके सदृश हैं ॥ ४३ ॥

घटोत्कच—सब के।

भीम—धिक्कार है। यह झूठ है ।

घटोत्कच—कैसे कैसे झूठ कहा ? तुम मेरे पूज्य की निन्दा करते हो ? अच्छा तो इस विशाल वृक्ष को उखाड़ कर मारूँ।

मेरे द्वारा फेका गया यह पर्वत-शिखर तुम्हारे प्राण को लेकर (ही) जायगा ।

भीम—

क्रुद्ध होकर भी मतवाला जंगली हाथी वन में बाघ की निन्दा नहीं करता है ॥ ४४ ॥

घटोत्कचः—(प्रहृत्य) कथमनेनापि नु शक्यते हन्तुम्। किं नु खलु करिष्ये। भवतु दृष्टम्।

नन्वहं भीमसेनस्य पुत्रः पौत्रो नभस्वतः।
तिष्ठेदानीं सुसन्नद्धो नियुद्धे नास्ति मत्समः॥ ४५॥

(इत्युभौ नियुद्धं कुरुतः।)

घटोत्कचः—(भीमसेनं बद्ध्वा)

व्रजसि कथमिह त्वं वीर्यमुल्लङ्घ्य बाह्वो·

लोकवादानुकारेण लोकोक्त्यलंकारः यतो हि—'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।' अनुष्टुब् वृत्तम्॥ ४४॥

सगर्वः राक्षसः वंशपरिचयं ददत् आह्वयति—नन्वहमिति।

अहं = घटोत्कचः भीमसेनस्य = पाण्डवेयस्य पुत्रः = सूनुः नभस्वतः—नभः अस्ति अस्य तस्य = पवनस्य (नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः। अमरः) पौत्रः ननु = निश्चितम् इदानीं साम्प्रतं सुसन्नद्धः—सु + सं + नह् + क्त = सुसज्जितः तिष्ठ = आजौ स्थिरो भव नियुद्धे=बाहुयुद्धे (नियुद्धं बाहुयुद्धेऽथ। अमरः) मत्समः—मया समः इति = मत्तुल्यः (कश्चिद्) नास्ति = न वर्तते, अतोऽहं त्वाम् पराजये 'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्' अतः अत्र अप्रतिमबलशालित्वं नानाप्रकारेण समर्थितम्। अतः काव्यलिङ्गालङ्कारः। अनुष्टुब् वृत्तम्॥

घटोत्कचः बाहुपाशेन भीमं बद्ध्वा एवं प्रक्षिपति—व्रजसीति।

त्वम् = भीमसेनः बाह्वोः = मम भुजयोः वीर्यं = विक्रमम् उल्लङ्घ्य = लङ्घयित्वा (तिरस्कृत्य) मद्भुजाभ्यां—मम भुजे ताभ्यां = मम बाहुभ्यां पीडितः = घृष्टः

घटोत्कच—(प्रहार करके) कैसे, इससे भी नहीं मार सकता? अब (मैं) क्या करूँ। अच्छा समझा।

मैं निश्चय ही भीम का पुत्र और वायु का पौत्र हूँ, तो ठहरो, इस समय मल्लयुद्ध में मेरे समान वीर योद्धा कोई नहीं॥ ४५॥

(दोनों मल्ल युद्ध करते हैं।)

घटोत्कच—(भीमसेन को [बाहुपाश में] बाँधकर)

मेरी बली भुजाओं की शक्ति का उल्लंघन करके, सुदृढ़ बन्धन में कस कर बँधे

गज इव दृढपाशैः पीडितो मद्भुजाभ्याम् ।

भीमः—(आत्मगतम्) कथं गृहीतोऽस्म्यनेन । भोः सुयोधन ! वर्धते ते शत्रुपक्षः । कृतरक्षो भव । (प्रकाशम्) भोः पुरुष ! अवहितो भव ।

घटोत्कचः—अवहितोऽस्मि ।

भीमः—(नियुद्धबन्धमवधूय)

व्यपनय बलदर्पं दृष्टसारोऽसि वीर !
न हि मम परिखेदो विद्यते बाहुयुद्धे ॥ ४६ ॥

दृढपाशैः—दृढाश्च ते पाशाः तैः = कठिनबन्धनैः (बद्धः) गज इव = करीव इह = अस्मिन् वने कथं = केन प्रकारेण व्रजसि = यासि । गज इवेत्युपमाऽलङ्कारः (उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।) । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

सुयोधनः = दुर्योधनः । अवधूय = तिरस्कृत्य ।

भीमः घटोत्कचस्य बलश्लाघवं प्रकाशयति—व्यपनयेति । हे वीर = हे पराक्रमिन् दृष्टसारः—दृष्टो सारो यस्य सः = प्रकाशितबलः (सारो बले स्थिरांशे च । अमरः (त्वम्) असि = भव ।

बलदर्पं—बलस्य दर्पं = सारगर्वं व्यपनय = दूरीकुरु हि = यतः बाहुयुद्धे—बाह्वोः युद्धं तस्मिन् = मल्लयुद्धे मम = भीमस्य परिखेदः = परिश्रमः खिद्यतेति भावः, न विद्यते = न वर्तते । अतः निकामं युद्धं कुर्विति भावः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

हुए हाथी की भांति तुम कैसे जा सकते हो ।

भीम—(मन में) [मैं] इसके द्वारा कैसे पकड़ लिया गया हूँ ? हे दुर्योधन, तुम्हारा शत्रुपक्ष बढ़ रहा है । अपनी रक्षा में तैयार रहो । (प्रकाश में) हे पुरुष ! तैयार हो जाओ ।

घटोत्कच—तैयार हूँ ।

भीम—(मल्लयुद्ध में बाहुपाश को छुड़ा करके)

हे वीर ! अपने बल का घमण्ड छोड़ दो, तुम्हारी शक्ति देख ली गई । तुमसे बाहु युद्ध करने में मुझे तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ा ॥ ४६ ॥

घटोत्कचः—कथमनेनापि न शक्यते हन्तुम्। किं नु खलु करिष्ये। भवतु, दृष्टम्। अस्ति मातृप्रसादलब्धो मायापाशः। तेन बध्वैनं नेष्यामि। कुतः खल्वापः। भो गिरे! आपस्तावत्। हन्त स्रवति। (आचम्य मन्त्रं जपति।) भोः पुरुष!

मायापाशेन बद्धस्त्वं विवशोऽनुगमिष्यसि।
राजसे रज्जुभिर्बद्धः शक्रध्वज इवोत्सवे॥ ४७॥

(इति मायया बध्नाति।)

भीमः—कथं मायापाशेन बद्धोऽस्मि। किमिदानीं करिष्ये। भवतु दृष्टम्। अस्ति मे महेश्वरप्रसादाल्लब्धो मायापाशमोक्षो मन्त्रः। तं जपामि। कुतः खल्वापः भो ब्राह्मणकुमार! आनय कमण्डलुगता-अपः।

त्वं = भवान् (भीमः) मायापाशेन—मायायाः पाशः तेन = ऐन्द्रजालिकबन्धनेन बद्धः निगडितस्सन् (इदानीं) विवशः—विगतः वशः = स्वातन्त्र्यं यस्य सः = परतन्त्रः अनुगमिष्यसि = मम पश्चाद् गमनं करिष्यसि अतः साम्प्रतम् उत्सवे = सांवत्सरिकोत्सवे शक्रध्वजः—शक्रस्य = इन्द्रस्य ध्वजः = इन्द्रकेतुरिव रज्जुभिः = रशनाभिः बद्धः = नद्धः राजसे = शोभसे। शक्रध्वज इवेत्युपमा अलङ्कारः। अनुष्टुब् वृत्तम्॥ ४७॥

घटोत्कच—क्या, इससे भी (इसे) नहीं मार सकता। अब क्या करूँ? अच्छा, समझा। माता के प्रसाद से मुझे मायापाश प्राप्त हुआ है। तो उससे ही बाँधकर इसे ले जाऊँगा। जल कहां है? हे पर्वत! मुझे जल दो। अहा चू रहा है। (आचमन करके मन्त्र जपता है।) हे पुरुष!

मायापाश से बंधे हुए तुम विवश होकर मेरा अनुगमन करोगे (और) वर्षोत्सव में रस्सियों से बंधे हुए इन्द्र की ध्वजा के समान शोभित होगे॥ ४७॥

(माया से बाँधता है।)

भीम—क्या मायापाश से (मैं) बंध गया। अब क्या करूँ? अच्छा, देखा (समझा) शंकर जी की कृपा से मुझे मायापाश से मुक्ति का मन्त्र भी प्राप्त है। उसी को जपता हूँ। जल कहां है? हे ब्राह्मणकुमार! कमण्डलु का जल ले आओ।

वृद्धः—इमा आपः।

(भीमः आदायाचम्य मन्त्रं जप्त्वा मायामपनयति।)

घटोत्कचः—अये पतितः पाशः। किमिदानीं करिष्ये। भवतु, दृष्टम्। भोः पुरुष ! पूर्वसमयं स्मर।

भीमः—समयमिति। एष स्मरामि। गच्छाग्रतः। (उभौ परिक्रामतः।)

वृद्धः—पुत्रकाः किं कुर्मः। अयं गच्छति वृकोदरः।

आक्रम्य राक्षसमिमं ज्वलदुग्ररूप-
मुग्रेण बाहुबलवीर्यगुणेन युक्तम्।
एष प्रयाति शनकैरवधूय शीघ्र-
मासारवर्षमिव गोवृषभस्सलीलम् ॥ ४८ ॥

गच्छन्तं वृकोदरं वृद्धः पुत्रान्प्रति प्रकटयति आत्मनो व्यथाम्—आक्रम्येति। ज्वलदुग्ररूपं—ज्वलत् उग्रं रूपं यस्य तम् = प्रदीप्तकठोरस्वरूपम् उग्रेण = घोरेण बाहुबलवीर्यगुणेन—बाह्वोः बलवीर्यगुणः तेन = भुजबलशौर्यगुणेन युक्तम् = सहितम् इमं पुरोवर्तिनं राक्षसं = घटोत्कचम् आक्रम्य = विजित्य एषः = भीमः शनकैः = शनैरेव मन्दं मन्दं सलीलम् लीलया सहितम् आसारवर्षम्—आसारस्य वर्षं तत् = धारासंपातवृष्टि (धारासम्पात आसारः। अमरः) शीघ्रं = त्वरितम् अवधूय = तिरस्कृत्य गोवृषभ इव = गोषु वृषभः (वृषभश्रेष्ठो वा) = महोक्ष इव याति = गच्छति। गोवृषभ इवेत्युपमा अलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४८ ॥

वृद्ध—यह जल है।

(भीम आचमन कर मन्त्र जपकर पाश दूर करते हैं)

घटोत्कच—अरे, बन्धन गिर पड़ा। अब क्या करूँ? अच्छा समझा। हे पुरुष अपनी पहले की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण करो।

भीम—प्रतिज्ञा। मैं स्मरण करता हूँ। आगे चलो। (दोनों जाते हैं।)

वृद्ध—हे पुत्रो, हम क्या करें। यह भीमसेन जाता है।

इस अत्यन्त प्रचण्ड राक्षस को अपनी अतुल शक्ति एवं पराक्रम से जीतकर मूसलाधार वृष्टि को धीरे से उपेक्षित करके श्रेष्ठ बैल की भांति लीलापूर्वक (भीम) जा रहा है ॥ ४८ ॥

घटोत्कचः—इह तिष्ठ। त्वदागमनमम्बायै निवेदयामि।

भीमः—बाढम्। गच्छ।

घटोत्कचः—(उपसृत्य) अम्ब ! अयमभिवादये। चिराभिलषितो भवत्या आहारार्थमानीतो मानुषः।

(प्रविश्य)

हिडिम्बा—जाद ! चिरं जीव। [जात! चिरं जीव।]

घटोत्कचः—अनुगृहीतोऽस्मि।

हिडिम्बा—जाद ! कीदिसो माणुसो आणीदो। [जात, कीदृशो मानुष आनीतः।]

घटोत्कचः—भवति रूपमात्रेण मानुषः। न वीर्येण।

हिडिम्बा—किं बम्हणो। [किं ब्राह्मणः।]

रूपमात्रेण मानुषः न वीर्येण—अत्र अधिकार्थवचनमिव प्रतिभाति यतः आकारमात्रेण मानवः न वीर्येण इति कथने मानुषाधिक्यः पराक्रमो वर्तते इति स्तुतिर्गम्यते अथ च रूपमात्रेण मनुष्यः वीर्यं किञ्चिदपि न वर्तते इति निन्दा काकपेया नदीतिवत्। अत्र काकूक्तिरपि गम्यते।

घटोत्कच—यहीं ठहरो। माँ को तुम्हारे आने की सूचना दूँ।

भीम—अच्छा। जाओ।

घटोत्कच—(पास जाकर) माता जी ! यह (मैं) अभिवादन करता हूँ। आप की बहुत दिनों का इच्छित मनुष्य आज (आपके) भोजन के लिए लाया गया है।

(प्रवेश करके)

हिडिम्बा—पुत्र ! चिरञ्जीवी हो।

घटोत्कच—अनुगृहीत हुआ।

हिडिम्बा—पुत्र ! किस प्रकार का मनुष्य लाए हो।

घटोत्कच—माँ ! आकार मात्र से ही वह मनुष्य है बल से नहीं। (अर्थात् बल में तो वह मनुष्यों से बहुत अधिक बलशाली है अथवा बल में तो मनुष्यों से भी कमजोर है।)

हिडिम्बा—क्या ब्राह्मण है ?

घटोत्कचः—न ब्राह्मणः ।

हिडिम्बा—आदु थेरो [अथवा स्थविरः ।]

घटोत्कचः—न वृद्धः ।

हिडिम्बा—किं बालो । [किं बालः ।]

घटोत्कचः—न बालः ।

हिडिम्बा—जइ एव्वं पेक्खामि दाव णं । (उभौ परिक्रामतः ।) [यद्येवं पश्यामि तावदेनम् ।)

हिडिम्बा=किं एसो माणुसो आणीदो । [किमेष मानुष आनीतः ।]

घटोत्कचः—अम्ब ! कोऽयम् ।

हिडिम्बा—उम्मत्तअ द्व्वदं खु अम्हाअं । [उन्मत्तक दैवतं खल्वस्माकम् ।]

घटोत्कचः—आः कस्य दैवतम् ।

हिडिम्बा—तव अ, मम अ । [तव च, मम च ।]

घटोत्कचः—कः प्रत्ययः ।

हिडिम्बा—अअं पच्चओ । जेदु अय्यउत्तो । [अयं प्रत्ययः ! जयत्वार्यपुत्रः ।]

घटोत्कच—ब्राह्मण नहीं ।

हिडिम्बा— अथवा बूढ़ा है ?

घटोत्कच—बुढ्ढा नहीं ।

हिडिम्बा—तो क्या बालक है ?

घटोत्कच—बालक भी नहीं ।

हिडिम्बा—यदि ऐसा है तो इसे मैं देखूँगी (दोनों जाते हैं ।)

हिडिम्बा—क्या यही मनुष्य (तुम्हारे द्वारा) लाया गया है ।

घटोत्कच—मां, यह कौन है ?

हिडिम्बा—पागल ! हम लोगों के देवता हैं ।

घटोत्कच—आह ! किसके देवता ?

हिडिम्बा—तुम्हारे और मेरे भी ।

घटोत्कच—कैसे विश्वास किया जाय ?

हिडिम्बा —यह विश्वास का परिचायक (है)। आर्यपुत्र की जय हो ।

भीमः—(विलोक्य) का पुनरियम् । अये देवी हिडिम्बा ।

अस्माकं भ्रष्टराज्यानां भ्रमतां गहने वने ।
जातकारुण्यया देवि ! संतापो नाशितस्त्वया ॥ ४९ ॥

हिडिम्बे ! किमिदम् ।

हिडिम्बा—(कर्णे) अय्यउत्त ! ईदिसं विअ । [आर्यपुत्र ! ईदृशमिव ।]

भीमः—जात्या राक्षसी, न समुदाचारेण ।

हिडिम्बा—उम्मत्तअ ! अभिवादेहि पिदरं । [उन्मत्तक ! अभिवादयस्व पितरम् ।]

घटोत्कचः—भोस्तात !

अज्ञानात्तु मया पूर्वं यद्भवान्नाभिवादितः ।

(हे) देवि ! = हिडिम्बे ! गहने = कान्तारे वने = विपिने भ्रष्टराज्यानां-भ्रष्टं राज्यं येषां तेषां=विनष्टराज्यविषयाणां भ्रमताम्=इतस्ततः परिभ्रमणं कुर्वताम्= अस्माकम् = युधिष्ठिरादीनां भ्रातृणां जातकारुण्यया करुणस्य भावः कारुण्यम् जातं कारुण्यं यत्र तया = उत्पन्नदयालुतया त्वया = भवत्या हिडिम्बया संतापः = अस्माकं क्लेशः नाशितः = दूरीकृतः, अस्यां विपन्नावस्थायां त्वाम् प्राप्य नितरां प्रमोदमनुभवामि ॥ ४९ ॥

घटोत्कचः उद्धततां क्षमापयन् भीमम् अभिवादयति–अज्ञानादिति । (हे तात!) मया = घटोत्कचेन अज्ञानात् = ज्ञानाभावात् पूर्वं = प्रथमम् यत् भवान् भीमः

भीम—(देखकर) यह कौन ? अरे, देवी हिडिम्बा ।

हम लोगों के राज्य नष्ट हो जाने पर गहन वन में भ्रमण करते हुए हे देवि ! तुमने हमारे कष्ट दूर कर दिए ॥ ४९ ॥

हे हिडिम्बा, यह क्या ?

हिडिम्बा—(कान में) आर्यपुत्र ! ऐसे ही ।

भीम—(तुम) जन्म से ही राक्षसी हो न कि आचरण से ।

हिडिम्बा—अरे उन्मत्त ! (अपने) पिता को प्रणाम कर ।

घटोत्कच—हे पिता !

पहले अज्ञान के कारण जो मैंने आपका अभिवादन नहीं किया (उस) इस

अस्य पुत्रापराधस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ५० ॥

अहं स धार्तराष्ट्रवनदवाग्निर्घटोत्कचोऽभिवादये । पुत्रचापलं क्षन्तुमर्हसि ।

भीमः—एह्येहि पुत्र व्यतिक्रमकृतं क्षान्तमेव । (इति परिष्वज्य) अयं स धार्तराष्ट्रवनदवाग्निः । पुत्रापेक्षीणि खलु पितृहृदयानि । पुत्र, अतिबलपराक्रमो भव ।

घटोत्कचः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

वृद्धः—एवं भीमसेनपुत्रोऽयं घटोत्कचः ।

भीमः— पुत्र ! अभिवादयात्रभवन्तं केशवदासम् ।

घटोत्कचः—भगवन्नभिवादये ।

वृद्धः— पितृसदृशगुणकीर्तिर्भव ।

घटोत्कचः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

नाभिवादितः = न प्रणामविषयीकृतः अस्य–पुत्रेण कृतः अपराधः तस्य = आत्मजागसः (आगोऽपराधो मन्तुश्चेत्यमरः ।) प्रसादं = क्षमापनं कर्तुं = विधातुम् अर्हसि = योग्योसि । ममापराधः क्षन्तव्य इति भावः ॥ ५० ॥

धार्तराष्ट्रवनदवाग्निः धृतराष्ट्रस्यापत्यानि तानि एव वनानि तेषां दावाग्निः–धृतराष्ट्रपुत्रारण्यदावानलः । रूपकालङ्कारः ।

पुत्र के अपराध को आप क्षमा कीजिए ॥ ५० ॥

मैं घटोत्कच धृतराष्ट्र के पुत्ररूपी वन के लिए दावाग्नि, आपको प्रणाम करता हूँ । (अपने) पुत्र की चपलता क्षमा करें ।

भीम—आओ पुत्र आओ । तुम्हारा अपराध पहले ही क्षमा कर दिया गया । (आलिंगन करके) यही वह धृतराष्ट्रवंशरूपी वन का दावाग्नि है । पिता का हृदय हमेशा पुत्र की अपेक्षा रखता है । पुत्र ! अजेय शक्ति एवं वीरता प्राप्त करो ।

घटोत्कच—मैं अनुगृहीत हुआ ।

वृद्ध—ऐसा भीमसेन का पुत्र यह घटोत्कच है ।

भीम— पुत्र ! पूजनीय केशवदास जी को प्रणाम करो ।

घटोत्कच—भगवन् ! आपको प्रणाम करता हूँ ।

वृद्ध—पिता के समान गुण और कीर्ति वाले बनो ।

घटोत्कच—मैं अनुगृहीत हुआ ।

वृद्धः—भोः वृकोदर ! रक्षितमस्मत्कुलं, स्वकुलमुद्धृतं च। गच्छाम-स्तावत्।

भीमः—

अनुग्रहात्तु भवतः सर्वमासीदिदं शुभम्।
आश्रमोऽदूरतोऽस्माकं तत्र विश्रम्य गम्यताम् ॥ ५१ ॥

वृद्धः—कृतमातिथ्यमनेन जीवितप्रदानेन। तस्माद् गच्छामस्तावत्।

भीमः—गच्छतु भवान् सकुटुम्बः पुनर्दर्शनाय।

वृद्धः—बाढम्। प्रथमः कल्पः। (सपुत्रत्रयकलत्रो निष्क्रान्तः केशवदासः।)

भीमः—हिडिम्बे ! इतस्तावत्। वत्स घटोत्कच। इतस्तावत्। तत्र-भवन्तं केशवदासम् आश्रमपदद्वारमात्रमपि संभावयिष्यामः।

भीमः वृद्धं प्रार्थयति—अनुग्रहादिति।

भवतः = केशवदासस्य तव अनुग्रहात् = अनुकम्पातः इदं = स्ववृकोदरणं स्वत्कुलरक्षणञ्च शुभं = माङ्गलिकं सर्वम् = अशेषम् आसीत् = अभवत्। अस्माकं= पाण्डवेयानाम् आश्रमः = निवासभूमिः अदूरतः = अतिनिकटं वर्तते तत्र = आश्रमे विश्रम्य = अध्वश्रममपनीय गम्यतां = (सुखेन) यात्रा क्रियताम्। अनु-ष्टुप् छन्दः ॥ ५१ ॥

सम्भावयिष्यामः = आराधयिष्यामः।

वृद्ध—हे भीम ! हमारे कुल की रक्षा और अपने भी कुल का उद्धार किया। तो हम सब (अब) जाते हैं।

भीम—आपकी ही कृपा से यह सब मांगलिक कृत्य हुए हैं। हमारा आश्रम निकट ही है वहां विश्राम करके तब यात्रा कीजिये ॥ ५१ ॥

वृद्ध—इस जीवन-दान के द्वारा (आपने) पूरा अतिथि-सत्कार कर दिया। इसलिए अब हम जाते हैं।

भीम—आप सकुटुम्ब पुनः दर्शन के लिए जांय।

वृद्ध—अच्छा। अति उत्तम विचार (है)। (केशवदास अपने तीन पुत्र और पत्नी के साथ चला गया।)

भीम—हे हिडिम्बा ! इधर आओ। पुत्र घटोत्कच ! इधर आओ। पूज्य केशव-दास को (इस) आश्रम के द्वार प्रदेश तक तो हम सब पहुँचा आवें।

यथा नदीनां प्रभवः समुद्रो
यथाहुतीनां प्रभवो हुताशनः ।
यथेन्द्रियाणां प्रभवं मनोऽपि
तथा प्रभुर्नो भागवानुपेन्द्रः ॥ ५२ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ मध्यमव्यायोगं नाम नाटकं समाप्तम् ॥



यथा = येन प्रकारेण नदीनां = सरितां समुद्रः = पारावारः (समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिरित्यमरः ।) प्रभवः = प्रभवति इष्टे इति प्रभवः (प्र + भू + अ पचाद्यच्) = इष्टे आश्रय इति भावः । यथा = येन प्रकारेण आहुतीनां = हव्यादीनां हुताशनः—हुतम् अश्नातीति = हव्यभक्षकोऽनलः प्रभवः = आश्रयः यथा = येन प्रकारेण इन्द्रियाणां = वागादीनां मनः = चित्तं प्रभवम् = आश्रयस्थानं तथा = तेनैव प्रकारेण नः = अस्माकं = (नटानां सामाजिकानाञ्च) भगवान=ऐश्वर्यवान (भगः ऐश्वर्यम्) उपेन्द्रः=इन्द्रावरजः विष्णुरित्यर्थः (उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिरित्यमरः ।) प्रभुः = ईश्वरः आश्रयस्थानमित्यर्थः । 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' । इतीदं भरतवाक्यमुपेन्द्रवज्रावृत्ते निबद्धम् । अत्र मालारूपकालङ्कारः ॥ ५२ ॥



जैसे समुद्र नदियों का स्वामी है, अग्नि आहुतियों का मन इन्द्रियों का उसी प्रकार हम लोगों के प्रभु विष्णु भगवान हैं ।

(सब चले जाते हैं ।)

मध्यमव्यायोग नामक नाटक समाप्त ।



श्लोकानुक्रमणिका

(५)

पञ्चरात्रम्

व्याख्याकार :—
आचार्य रामचन्द्र मिश्र

॥ श्रीः ॥

पञ्चरात्रम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्



प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—

द्रोणः पृथिव्यर्जुनभीमदूतो यः कर्णधारः शकुनीश्वरस्य ।

कज्जलाविलगोपालबालानयनवासतः ।
इव श्यामः श्रियं दिश्यान्मम केशीनिषूदनः ॥ १ ॥
श्रद्धानतेन शिरसा पितरं 'मधुसूदनम्' ।
प्रसूं 'जयमणिं' चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥
सन्तो गुणेन तुष्यन्ति स नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ३ ॥

अथ नाटयाचार्यावतारः प्रसिद्धरूपककारो भासः पञ्चरात्राभिधानं समवकारसंज्ञया प्रथमानं रूपकविशेषं निर्मित्सुः प्रथमं प्रारिप्सितप्रबन्धपरिसमाप्तितदभिनयसाफल्यसम्पत्तिपरिपन्थिदुरितप्रशमाय पूर्वरङ्गप्रधानाङ्गं मङ्गलमारचयति—**द्रोण इति** । द्रोणः काकः लक्षणया तत्सदृशश्यामवर्णः, पृथिव्यर्जुनभीमदूतः पृथिव्यै स्वांशभूतायै भुवे अर्जुनभीमयोः पाण्डवयोर्दूतः प्रेष्यभावङ्गतः (अर्जुनभीमयोः लभ्यं भूभागं ताभ्यां दापयितुं यो दूतरूपं धृत्वा दुर्योधनसभाङ्गत इति भावः)

(नान्दीके बाद सूत्रधारका प्रवेश)

सूत्रधार—**जो द्रोण (काकसदृश श्यामवर्ण) हैं, जिन्होंने राज्य प्राप्त करानेके लिये भीम तथा अर्जुनका दूतत्व किया, जो शकुनीश्वर गरुड़के कर्णधार-नियामक**

दुर्योधनो भीष्मयुधिष्ठिरः स पायाद् विराडुत्तरगोऽभिमन्युः ॥१॥

(परिक्रम्य) एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये ! किन्तु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अङ्ग ! पश्यामि ।

शकुनीश्वरस्य पक्षिराजस्य गरुडस्य यः कर्णधारः नियामकः, दुर्योधनः दुःखेन योध्यत इति दुःखं दुःखकरं योधनं येन तादृशो वाऽतिबलतया पराजेतुमशक्य इत्यर्थः, भीष्मयुधिष्ठिरः भीष्मो दुष्टजनभयङ्करो युद्धे स्थिरश्च, उत्तरगः प्रसिद्धमार्गगामी अनिन्द्याचारः, अभिमन्युः मन्युं यज्ञमभिगतः यज्ञैराराधनीय इति यावत्, एतादृशः विराट् आदिपुरुषो भगवान्कृष्णः पायात् प्रेक्षकान्प्रयोक्तॄंश्च मङ्गलेन योजयत्वित्यर्थः । द्रोणशब्दस्य लक्षणया श्यामलार्थपरत्वेन प्रयोगो दृश्यते यथा मृच्छकटिके—'अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघ इवोत्थितः' १०।२६। 'उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः' इत्यमरः । 'शकुनिः पुंसि विहगे सौबले करणान्तरे' इत्यमरटीका । भीष्मयुधिष्ठिरशब्दे रक्तपीतादिशब्द इव विशेषणोभयपदसमासः । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः ।

अत्र 'सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः' इति कुवलयानन्दलक्षितेन मुद्रालङ्कारेण प्रकृतरूपकपात्राणां द्रोणार्जुनभीमशकुनिदुर्योधनभीष्मयुधिष्ठिरविराटोत्तराभिमन्युनामकानां सूचनं कृतं बोध्यम् । इयं द्वादशपदा नान्दी । इन्द्रवज्रावृत्तम् तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥ १ ॥

एवम्—वक्ष्यमाणप्रकारेण आर्यमिश्रान् आदरणीयान् अये इति हृदयचाञ्चल्यकृताविषादकोपयोः सूचकमव्ययम्, तयोश्चात्र परकीयशब्दश्रवणादुदयो बोध्यः । विज्ञापनव्यग्रे स्वाभिमतबोधनायोद्युञ्जाने शब्द इव अनिश्चितरूपः शब्दः श्रूयते-कर्णगोचरीभवति । पश्यामि कुतोयं किमर्थश्च ध्वनिरुज्जिहीत इति परीक्ष्य इत्यर्थः ।

हैं, जो दुर्योधन (युद्धमें दुर्जय) तथा उत्तरग (उत्तम कार्यकर्ता) हैं, जो अभिमन्यु (यज्ञसे आराध्य) हैं, वह विराट् आदिपुरुष श्रीकृष्ण हमारी तथा आपकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(थोड़ा चलकर) इस प्रकार पूज्य आर्योंसे निवेदन करता हूँ । अरे ! मेरे निवेदन करनेको तत्पर होते ही क्या शब्द-सा सुननेमें आ रहा है ? अच्छा,

(नेपथ्ये)

अहो कुरुराजस्य यज्ञसमृद्धिः !

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम्।

सर्वैरन्तःपुरैः सार्धं प्रीत्या प्राप्तेषु राजसु।
यज्ञो दुर्योधनस्यैष कुरुराजस्य वर्तते ॥ २ ॥

(निष्क्रान्तः।)

स्थापना।

नेपथ्ये—रङ्गस्य पृष्ठदेशे (शब्दो जायत इति शेषः, स च वक्ष्यमाणरूपः) अहो आश्चर्यम्, कुरुराजस्य दुर्योधनस्य यज्ञसमृद्धिः यज्ञवैपुल्यम्। न क्वापीदृशो यज्ञविभवो दृष्ट इत्यस्याश्चर्यकरत्वमित्यर्थः।

विज्ञातम्—पूर्वं श्रुतस्य शब्दस्य निमित्तमवधारितमित्यर्थः।

सर्वैरिति—सर्वैः अशेषैः अन्तःपुरैः अवरोधवधूजनैः सार्धं सह राजसु सर्वेषु नृपतिषु प्रीत्या प्रसन्नतया प्राप्तेषु समागतेषु सत्सु कुरुराजस्य दुर्योधनस्य एषः दृश्यमानविभवो यज्ञः मखः वर्त्तते जायते। अयं हि महनीयमहिमशालिनो दुर्योधनस्य यज्ञः प्रवर्त्तते यत्र यज्ञप्रेम्णा दुर्योधनप्रेम्णा वा सर्वेऽपि ते ते भूपालाः सावरोधाः समागताः सन्ति, तन्निमित्त एव शब्दो मया श्रुतपूर्व इति ज्ञातं शब्दकारणमिति भावः। अनुष्टुप्छन्दः ॥ २ ॥

स्थापना—प्रस्तावना, अयं भासकविः स्वकृतरूपकेषु प्रस्तावनाशब्दप्रयोगे प्राप्ते भूयसा स्थापनापदमेव प्रयुङ्क्ते। एतल्लक्षणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

देखता हूँ।

(नेपथ्यमें)

अहा ! कुरुराजकी यज्ञसमृद्धि विलक्षण है !

सूत्रधार—अच्छा, समझ गया।

यह महाराज दुर्योधनका यज्ञ हो रहा है जिसमें देशके समस्त राजागण प्रेमवश अपने सभी बाल-बच्चोंके साथ आये हुए हैं ॥ २ ॥

[प्रस्थान]

(ततः प्रविशन्ति ब्राह्मणास्त्रयः ।)

सर्वे—अहो कुरुराजस्य यज्ञसमृद्धिः !

प्रथमः—इह हि,

द्विजोच्छिष्टैरन्नैः प्रकुसुमितकाशा इव दिशो
हविर्धूमैः सर्वे हृतकुसुमगन्धास्तरुगणाः ।
मृगैस्तुल्या व्याघ्रा वधनिभृतसिंहाश्च गिरयो
नृपे दीक्षां प्राप्ते जगदपि समं दीक्षितमिव ॥ ३ ॥

प्रविशन्ति—रङ्गभूमिमागच्छन्तीत्यर्थः ।

अहो आश्चर्ये । यज्ञसमृद्धिवैपुल्यदर्शनजन्यमत्राश्चर्यं बोध्यम् । यज्ञसमृद्धिः—यज्ञस्य तदीयसाधनस्य वा सामग्री ।

द्विजोच्छिष्टैरिति—द्विजोच्छिष्टैः ब्राह्मणगणभुक्तावशिष्टैः ब्राह्मणगृहीतैरुर्वरितैर्वा अन्नैः सिद्धैर्भक्तादिभिस्तण्डुलादिभिर्वा दिशः आशाः प्रकुसुमितकाशाः फुल्लकाशपुष्पा इव दृश्यन्त इति शेषः । दिशि दिशि ब्राह्मणसम्प्रदानाय राशीकृतानामन्नानां राशिभिस्ताः फुल्लकाशकुसुमा इव प्रतीयन्त इत्याशयः । हविर्धूमैः हूयमानतत्तद्द्रव्यजनितधूमैः तरुगणाः वृक्षा हृतकुसुमगन्धाः अपगतपुष्पसुगन्धा इव जाता इति शेषः । हूयमानागुर्वादिसुगन्धिद्रव्यजनितगन्धाढ्यधूमसम्पर्के पुष्पद्रुमा निर्गन्धकुसुमतामिव नीयन्त इति भावः । व्याघ्राः शार्दूलाः मृगैस्तुल्याः अहिंसकस्वभावाः जाता इत्यर्थः, एवं गिरयः पर्वताः च वधनिभृतसिंहाः परहिंसानिवृत्तकेसरिकाः जाता इति शेषः, तत्र सर्वत्र कारणमुत्प्रेक्षते—**नृप इति**—नृपे राजनि दुर्योधने दीक्षां प्राप्ते यज्ञतत्परे प्रारब्धयागकर्मणि वा समं तेन सहैव जगदपि अखिलोऽपि लोकः दीक्षितम् कृतयज्ञसङ्कल्पम् नियतात्मकमिव जातमिति शेषः । यथा राजा तथा प्रजेति प्राचीनोक्त्यनुसारेण

(तीन ब्राह्मणोंका प्रवेश)

सभी ब्राह्मण—अहा ! कितना सुन्दर है कुरुराजका यज्ञविभव !

पहला—यहां पर ब्राह्मणोच्छिष्ट अन्नोंके बिखरे होनेसे ऐसा लगता है मानो सभी दिशाओंमें काशके फूल खिले हों, होमधूमसे तरुगणके फूलोंकी गन्ध मारी गई है, व्याघ्र और हरिण एकसे हो रहे हैं और पर्वतकी गुहाओंमें रहनेवाले सिंह हिंसासे निवृत्त हो गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि महाराजके साथ सारा संसार ही यज्ञदीक्षित हो रहा है ॥ ३ ॥

द्वितीयः—सम्यग् भवानाह—

तृप्तोऽग्निर्हविषामरोत्तममुखं तृप्ता द्विजेन्द्रा धनै-
स्तृप्ताः पक्षिगणाश्च गोगणयुतास्ते ते नराः सर्वशः ।
हृष्टं सम्प्रति सर्वतो जगदिदं गर्जन्नृपे सद्गुणै-
रेवं लोकमुदारुरोह सकलं देवालयं तद् गुणैः ॥ ४ ॥

राजनि दीक्षिते संसारस्य तत्स्थप्राणिसमूहस्य च दीक्षितत्वमुपपन्नं, तत एव हिंसकानामपि सिंहादिजन्तूनां निभृतत्वमुपपद्यते दीक्षिता हि निवृत्तकामक्रोधाः सर्वात्मना शान्ताः सन्तो यज्ञमारभन्ते, राजनि तथाभूते तदनुरोधात्तद्भयाद्वा सिंहादीनामपि तथाभावो युज्यत इति भावः। हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । अन्नानां धावल्यं भक्ताभिप्रायेण तथा चोच्यते तत्प्रशंसाप्रस्तावे—'भक्तं कुन्दसितप्रसून-धवलम्' इति । शिखरिणीवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'रसै रीशैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥ ३ ॥

सम्यक्—युक्तम् , सत्यादनपेतमित्यर्थः । आह-कथयति ।

तृप्तोऽग्निरिति—अमरोत्तमाः देवश्रेष्ठाः इन्द्रादयः तेषां मुखं हविर्ग्रहणसाधनतया मुखत्वेनोपचरितं बोध्यम् अग्निः पावकः हविषा हव्यद्रव्यगणेन तृप्तः सन्तुष्टः, द्विजेन्द्राः विद्यासम्पन्नाः ब्राह्मणश्रेष्ठाः धनैः दक्षिणाद्रव्यैः तृप्ताः समतुष्यन् , गोगणयुताः गोभिः सहिताः ते ते पक्षिगणाश्चापि यथाभिमताहारलाभेन सर्वशः सर्वात्मना तृप्ताः, ते ते सर्वे नराः मानवा अपि कल्याणाशंसया तृप्ताः । सद्गुणैः प्रशस्तगुणगणैः नृपे राज्ञि गर्जत् नृपविषये प्रोच्चैः प्रतिपादयत्-इदं जगत् भुवनं सम्प्रति हृष्टं प्रीतिपात्रं सत् तत् देवालयं लोकं स्वर्गं सकलं सर्वात्मना उदारुरोह अतिक्रान्तवत् । राजनि वर्त्तमानान् गुणान् प्रशंसदिदं हृष्टं जगत् सर्वस्वर्गमतिक्रान्तवदित्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति ॥ ४ ॥

दूसरा—आपका कथन ठीक है,

हविसे देवताओंके मुख अग्निदेव तृप्त हो गये हैं, यज्ञमें प्राप्त धनसे विप्रगण तृप्त हो गये हैं, गोगण (पशुसमूह) के साथ पक्षिगण भी प्रसन्न हो रहे हैं, सब मानव आनन्दित हैं, इस प्रकार यह समस्त विश्व प्रसन्न दीख रहा है, महाराजके सद्गुणोंसे यह मर्त्यलोक स्वर्गका अतिक्रमण कर रहा है ॥ ४ ॥

तृतीयः—इमेऽत्रभवन्तो द्विजातयः,

राज्ञां वेष्टनपट्टघृष्टचरणाः श्लाघ्यप्रभूतश्रवा
वार्द्धक्येऽप्यभिवर्धमाननियमाः स्वाध्यायशूरैर्मुखैः ।
विप्रा यान्ति वयःप्रकर्षशिथिला यष्टित्रिपादक्रमाः
शिष्यस्कन्धनिवेशिताञ्चितकरा जीर्णा गजेन्द्रा इव ॥ ५ ॥

सर्वे—भो भो माणवकाः ! भो भो माणवकाः !! अनवसितेऽवभृथ-

इमे प्रत्यक्षदृश्याः । अत्रभवन्तः—पूजनीयाः । द्विजातयः ब्राह्मणाः ।

राज्ञामिति—राज्ञां यज्ञे दुर्योधनानुरोधादागतानां भूपतीनाम् वेष्टनपट्टेन उष्णीषवस्त्रेण घृष्टचरणाः प्रणामपरिपाटीभिः स्पृष्टपादाः, श्लाघ्यः प्रशस्तः प्रभूतः बहुविषयः श्रवः शास्त्रश्रवणं येषां ते तथोक्ताः, वार्धक्ये जराभावेऽपि अभिवर्धमाननियमाः अहरहरुपचीयमानव्रतादिविधयः, स्वाध्यायशूरैः वेदाध्ययनतत्परैः मुखैः वदनैः (उपलक्षिताः) वयःप्रकर्षशिथिलाः अवस्थाधिक्यवशाच्छ्लथदेहाः यष्टित्रिपादक्रमाः दण्डावलम्बनेन पादत्रयशालिनः (द्वौ चरणौ तृतीयपादो दण्डः इति त्रिपादत्वमुक्तम्) शिष्यस्य छात्रस्य स्कन्धे अंसदेशे निवेशितः स्थापितः अञ्चितः पूजितो निजः करः यैस्तादृशाः (एकेन हस्तेन दण्डं दधाना अपि चलितुमशक्ततया हस्तान्तराबलम्बितपुरोयायिशिष्यांसदेशाः इत्यर्थः—इमे द्विजाततः) विप्राः जीर्णाः वृद्धाः गजेन्द्राः करिण इव यान्ति गच्छन्ति । राजभिरहमहमिकया प्रणम्यमानाः प्रख्यातशास्त्राध्ययनाः जराजर्जरतनवोऽपि समाश्रीयमाणनियमाः स्वाध्यायतत्पराः परमवृद्धतया पाणिनैकेन दण्डमपरेण च शिष्यस्कन्धमाश्रयन्तोऽमी विप्रा वृद्धगजवत्सञ्चरन्तीति भावः । उपमालङ्कारः स्फुटः । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ५ ॥

माणवकाः बटवः । अनवसिते असमाप्ते । अवभृथस्नाने यज्ञान्तबोधके

तीसरा—ये हैं वे पूजनीय ब्राह्मण,

जिनके चरण राजाओंकी पगड़ीसे घिस रहे हैं (जिन्हें सभी राजा प्रणाम करते हैं), जो श्रुतियोंके ज्ञाता हैं, बुढ़ापेमें भी जिनके व्रतादि नियम कम होनेके बदले बढ़ ही रहे हैं, जो वेदपाठमें प्रवीण हैं, जिनके शरीर वृद्धताके कारण शिथिल हैं और जो दण्डके सहारे अपने शिष्योंके कन्धोंपर हाथ रखकर वृद्धगजों की तरह धीरे धीरे जा रहे हैं ॥ ५ ॥

सभी ब्राह्मण—हे ब्रह्मचारि बालकगण, यज्ञान्त स्नानके समाप्त न होने तक

स्नाने न खलु तावदग्निरुत्स्रष्टव्यो भवद्भिः।

प्रथमः—हा धिग्, दर्शितमेव तावद् बटुचापलम्।

एषा भो! दीप्तयूपा कनकमयभुजेवाभाति वसुधा
चैत्याग्निर्लौकिकाग्निं द्विज इव वृषलं पार्श्वे न सहते।
नात्यर्थं प्लुष्टपृष्ठा हरितकुशतया वेदी परिवृता
प्राग्वंशं चैष धूमो गज इव नलिनीं फुल्लां प्रविशति॥ ६॥

स्नाने। आरब्धेऽपि आपरिसमाप्ते यज्ञान्तस्नाने इत्यर्थः। अग्निः कुण्डवह्निः। उत्स्रष्टव्यः इतस्ततः क्षेप्तव्यः। यद्यपि यज्ञः समाप्तः, परन्त्वधुनापि यजमानस्य यज्ञान्तस्नानं न सम्पन्नं तदधुना बटुभिरग्निर्नेतस्ततः क्षेप्तव्य इत्याशयः।

हा धिगितीह बटुचापलनिन्दायाम्। दर्शितम् प्रकटीकृतम्। बटुचापलम् बालजनोचितं चाञ्चल्यम्। असमयेऽग्निक्षेपणमेवात्र बालानां चापलम्।

एषेति—दीप्तः अग्निसंपर्कवशात्प्रज्वलितावयवः यूपः यज्ञस्तम्भः यस्यां सा तादृशी एषा इयं वसुधा यज्ञभूमिः कनकमयभुजा स्वर्णरचितभुजशालिनी इव आभाति शोभते, यूपानां ज्वलतां भुजाकारतया स्वर्णवर्णतया चेयमुत्प्रेक्षा। चैत्याग्निः यज्ञवेदीगतो वह्निः लौकिकाग्निम् माणवकैर्ज्वालितं संस्काराभावात् लौकिकाग्निम् द्विजः ब्राह्मणो वृषलं शूद्रमिव पार्श्वे स्वसमीपे न सहते न मृष्यति। बालजनक्षिप्तस्याग्नेर्यज्ञाग्नेरपेक्षया न्यूनप्रकाशतया शूद्रोपमा। यथा ब्राह्मणः स्वसमीपस्थं शूद्रमभिभवति, तद्वद्यज्ञाग्निरतिदीपिततया बालजनज्वलितमग्नि-मभिभूय वर्त्तत इत्यर्थः। हरितकुशतया हरितकुशसमूहेन परिवृता वेदी नात्यर्थं प्लुष्टपृष्ठा नाधिकदग्धतलभूमिः, जनतापदवदिह कुशतापदप्रयोगः अथवा परिवृता सर्वतो वर्त्तमानया हरितकुशतया हरितकुशसंयुक्तया वेदी नात्यर्थं प्लुष्टपृष्ठेत्यर्थः।

आप लोग यज्ञशालासे अग्निको बाहर न निकालें।

पहला—हाय, इन लड़कोंने लड़कपन कर ही दिया।

यज्ञस्तम्भों के जल उठनेसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो पृथ्वीके स्वर्णमय हाथ निकल आए हैं, यज्ञाग्नि लौकिकाग्निको वैसे ही अपने पास नहीं आने दे रही है, जैसे ब्राह्मण शूद्रको पास नहीं आने देते, हरित कुशावृत होनेसे वेदी अधिक दग्ध नहीं हो सकी है और जैसे हाथी विकसित नलिनीको नष्ट करने चला हो, वैसे ही यह धूम प्राग्वंश (बाहर बने घर) की ओर बढ़ रहा है॥ ६॥

द्वितीयः—एवमेतद् ,

अग्निरग्निभयादेष भीतैर्निर्वास्यते द्विजैः ।
कुले व्युत्क्रान्तचारित्रे ज्ञातिर्ज्ञातिभयादिव ॥ ७ ॥

तृतीयः—इदमपरं पश्यतां भवन्तौ,

शकटी च घृतापूर्णा सिच्यमानापि वारिणा ।
नारीवोपरतापत्या बालस्नेहेन दह्यते ॥ ८ ॥

यथा च फुल्लां विकसितां नलिनीं कमलिनीं गजो हस्ती विशति तथैव एषः धूमः प्राग्वंशं बहिर्वेदीं प्रविशति । यजमानादिस्थित्यर्थं बहिर्गतं गृहं प्राग्वंशमाचक्षते याज्ञिकाः । 'प्राग्वंशं प्राग्हविर्गेहादि'त्यमरः । उपमालङ्कारः सर्वत्र । सुवदनाच्छन्दः, तल्लक्षणं यथा-'सुवदना म्रौ भ्नौ य्भौ लगावृषिस्वरर्त्तवः' इति ॥ ६ ॥

एवमेतत्—भवदुक्तं सत्यान्नापैतीत्यर्थः ।

अग्निरिति—एषः अयम् अग्निः (प्राग्वंशे रक्षितो गार्हपत्याग्निः) अग्निभयात् लौकिकाग्निनिमित्ताद् भयात् भीतैः त्रस्तैः देहदाहशङ्कितैः द्विजैः निर्वास्यते दूरमपसार्यते, तत्र दृष्टान्तमाह—कुल इति—व्युत्कान्तचारित्रे उल्लङ्घितसदाचारे कुले वंशे ज्ञातिभयात् दुर्जनदायादत्रासात् ज्ञातिः बान्धव इव । यथा ज्ञातिषु दुर्जनभावं गतेषु तत्संसर्गपरिहारेच्छया ज्ञातिविशेषोऽन्यत्र निर्वास्यते तथैवायं गार्हपत्याग्निर्लौकिकाग्निदौर्जन्यसंसर्गापनिनीषया बहिर्नीयत इत्यर्थः । उपमालङ्कारः, अनुष्टुप्छन्दः ॥ ७ ॥

शकटीति—घृतापूर्णा होमावशिष्टेनाज्येन भृता शकटी यज्ञसामग्रीवाहियानम् उपरतापत्या मृतपुत्रा नारी स्त्री इव वारिणा जलेन सिच्यमाना अपि बाल-

---

दूसरा—यह ठीक है—

अग्निके भयसे भीत होकर ब्राह्मणगण प्राग्वंशगृहसे वैसे ही अग्निको बाहर निकाल रहे हैं, जैसे किसी दुराचारीके भयसे असच्चरित कुलसे किसी आत्मीय-जनको अलग कर लिया जाता है ॥ ७ ॥

तीसरा—और आप लोग यह तो देखिये—

आँसूसे तर होनेपर भी जैसे मृतापत्या स्त्री बालकके स्नेहसे भीतर भीतर जलती रहती है, उसी तरह पानीसे सींचे जानेपर भी यह गाड़ी (जिसपर घृतादि लाया गया था) घृतादि-सम्पर्कसे जल रही है ॥ ८ ॥

प्रथमः—सम्यग् भवानाह,

एतां चक्रधरस्य धर्मशकटीं दग्धुं समभ्युद्यतो
दर्भे शुष्यति नीलशाद्वलतया वह्निः शनैर्वामनः ।
वातेनाकुलितः शिखापरिगतश्चक्रं क्रमेणागतो
नेमीमण्डलमण्डलीकृतवपुः सूर्यायते पावकः ॥ ९ ॥

द्वितीयः—इदमपरं पश्यतां भवन्तौ,

स्नेहेन मृतापत्यप्रेम्णा अल्पावशिष्टघृतरूपस्नेहेन च दह्यते ज्वलति सन्तप्यते च । यथा काचन मृतपुत्रा तदपत्यस्नेहेन बलवद् दह्यते तथैवेयं शकटी स्वल्पावशिष्ट-घृतेन हेतुभूतेन दह्यते । उपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

सम्यक्—सत्यम् ।

एतामिति—वह्निः अग्निः नीलशाद्वलतया नीलः श्यामः शाद्वलः बालतृणं तदाश्रयतया वामनः कुब्जीभूतः सन् दर्भे तृणे शनैः मन्दं मन्दं शुष्यति सति चक्रधरस्य दमाचक्रशक्रस्य दुर्योधनस्य एतां धर्मशकटीम् यज्ञसामग्रीवाहकं यानम् दग्धुं समभ्युद्यतः तत्परः सन् वातेन तत्कालवायुना आकुलितः सन्धुक्षितः शिखापरिगतः ज्वालाजालव्याप्तः क्रमेण क्रमशः चक्रम् अरसंज्ञं शकटाङ्गम् आगतः प्राप्तः सन् पावकः वह्निः नेमीमण्डलमण्डलीकृतवपुः नेमीमण्डले मण्डली-कृतशरीरः चक्राकारेण व्याप्नुवन् पावकः सूर्यायते सूर्य इव गोलवपुर्भवतीति । अयमाशयः—दुर्योधनशकटदाहप्रवृत्तोऽयमग्निः बालतृणपूर्णे स्थाने प्रसाराभावाद्-वामनः सन्नपि सन्तापवशाद्दर्भे शुष्यति सति ज्वालाकरालो वातसन्धुक्षितश्च सन् चक्रारभागमुपेत्य मण्डलाकारतामुपगतो भानुबिम्बवद् भासत इति । उप-मालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

पहला—आपका कथन सत्य है—

यह अग्नि पहले हरी घासोंसे स्थानके आवृत होनेके कारण वामन अल्प परिमाण थी, परन्तु धीरे धीरे घासोंके सूखते जानेपर फैलती जा रही है, और महाराजके यज्ञीय यानको जलानेपर तत्पर है, वायुसे प्रेरित हो बढ़ी हुई यह आग क्रमशः पहिये तक पहुँच गई है, अतः नेमीके चारों तरफ लग जानेसे सूर्यकी तरह गोलाकार हो रही है ॥ ९ ॥

दूसरा—आप इधर तो देखें—

वल्मीकमूलाद् दहनेन भीतास्तत्कोटरैः पञ्च समं भुजङ्गाः ।
समं विपन्नस्य नरस्य देहाद् विनिस्सृताः पञ्च यथेन्द्रियाणि ॥ १० ॥

तृतीयः—इदमपरं पश्यतां भवन्तौ,

दह्यमानस्य वृक्षस्य सानिलेन मखाग्निना ।
कोटरान्तरदेहस्थाः खगाः प्राणा इवोद्गताः ॥ ११ ॥

प्रथमः—एवमेतत् ,

शुष्केणैकेन वृक्षेण वनं पुष्पितपादपम् ।
कुलं चारित्रहीनेन पुरुषेणेव दह्यते ॥ १२ ॥

वल्मीकेति—पञ्च तत्संख्यकाः भुजङ्गाः सर्पाः दहनेन वह्निजनितदाहेन हेतुना भीताः भयाक्रान्ताः सन्तः वल्मीकमूलात् वल्मीकाधोदेशात् तत्कोटरैः समं निर्गताः भुजङ्गाः विपन्नस्य मृतस्य नरस्य देहात् विनिःसृताः पञ्चेन्द्रियाणि प्राणादिपञ्चवायवः यथा प्रतीयन्त इति । अग्निदाहेन दह्यमानस्य वल्मीकस्य मूलान्निर्गताः पञ्चसर्पा मृतस्य पुंसो देहान्निःसरन्तः पञ्चप्राणा इव प्रतीयन्त इत्यर्थः । अत्र पञ्चेन्द्रियपदं पञ्चप्राणोपलक्षणम् , नहि मृतस्य पुंस इन्द्रियाणां निर्गमः प्रसिद्धोऽपि । उपमालङ्कारः ॥ १० ॥

दह्यमानस्येति—सानिलेन वायुसहितेन मखाग्निना यज्ञवह्निना दह्यमानस्य वृक्षस्य कोटरान्तरदेहस्थाः खगाः पक्षिणः प्राणा इव उद्गताः । यथा म्रियमाणस्य पुंसो दह्यमानस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तथैव दह्यमानस्य तरोः कोटरस्थाः पक्षिणो निर्यान्तीति भावः ॥ ११ ॥

शुष्केणेति—पुष्पितपादपम् फुल्लसकलद्रुमम् वनम् एकेन शुष्केण नीरसेन पादपेन वृक्षेण चारित्रहीनेन भ्रष्टशीलेन पुरुषेण कुलम् इव दह्यते । यथा कस्यापि

अग्निके भयसे वल्मीकके छिद्रोंसे एक साथ पांच सर्प निकल रहे हैं, जैसे मरे हुए मनुष्यकी देहसे साथ साथ पांच इन्द्रियां निकल रही हों ॥ १० ॥

तीसरा—आपलोग यह देखिये—

वायुप्रेरित यज्ञाग्निसे जलनेवाले वृक्षोंके कोटरसे पक्षीगण उड़ रहे हैं, जैसे मृत्युके समय शरीरसे प्राण निकल रहे हों ॥ ११ ॥

पहला—ठीक है,

जैसे एक दुराचारी पुरुष पवित्र कुलको दूषित कर देता है, वैसे ही यह एक सूखा वृक्ष इस हरे भरे फूले हुए वनको जलाता है ॥ १२ ॥

द्वितीयः—

एते वातोद्धता वंशा दह्यमाना मखाग्निना ।
भाग्यानीव मनुष्याणामुन्नमन्ति नमन्ति च ॥ १३ ॥

तृतीयः—सम्यग् भवानाह,

लतया सक्तया स्कन्धे शुष्कया वेष्टितस्तरुः ।
निविष्टो दुष्कुले साधुः स्त्रीदोषेणेव दह्यते ॥ १४ ॥

प्रथमः—इदमपरं पश्यतां भवन्तौ,

दुश्चरितस्य दोषेण समस्तं कुलं दह्यते तद्वदेकेन शुष्केण वृक्षेण समस्तमपि वनं दह्यते इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ १२ ॥

एते इति—एते पुरोऽवस्थिताः वातोद्धताः वायुचलिताः वंशाः वेणवः मखाग्निना यज्ञवह्निना दह्यमानाः ज्वल्यमानाः मनुष्याणां भाग्यानि इव उन्नमन्ति नमन्ति च ऊर्ध्वमधश्च गच्छन्तीत्यर्थः । यथा कस्यापि पुंसो भाग्यानि कदाचिदुन्नतानि कदाचिदवनतानि च जायन्ते, तद्वदेतानि वंशकदम्बानि वायुवशात् कम्पमानानि कदाचिदूर्ध्वं कदाचिच्चाधो यान्तीति भावः । उपमालङ्कारः ॥ १३ ॥

लतयेति—स्कन्धे शाखामूले सक्तया लग्नया शुष्कया लतया व्रतत्या वेष्टितः परिवृतः तरुः वृक्षः दुष्कुले चारित्रहीने वंशे निविष्टः वर्त्तमानः साधुः सज्जनः पुरुषः स्त्रीदोषेण इव दह्यते ज्वलति । यथा कोपि साधुः पुरुषः स्त्रीकृतेन दोषेण विपन्नो भवति तद्वदयं तरुः शुष्कलतासंसर्गकृतेन ज्वलनेन दह्यते । स्वयं सरसस्याप्यस्य वृक्षस्य शुष्कलतासंसर्ग एव दाहाय जायते, यथा स्वयं गुणिनोऽपि पुंसो दुष्टवनितासम्पर्को विपन्निमित्तं भवतीति भावः । उपमालङ्कारः ॥ १४ ॥

दूसरा—यह वायुकम्पित तथा यज्ञाग्नि-प्रज्वलित बाँस मनुष्योंके भाग्योंकी तरह कभी नीचे और कभी ऊपर आते हैं ॥ १३ ॥

तीसरा—आप ठीक कह रहे हैं—

जैसे दुराचारी वंशमें प्रविष्ट एक भला आदमी स्त्रीके संसर्गदोषसे दूषित हो जाता है, उसी तरह यह वृक्ष अपनी शाखाओंसे संसक्त इन लताओंके दोषसे जल रहा है ॥ १४ ॥

पहला—और आप यह देखें—

वनं सवृक्षक्षुपगुल्ममेतत् प्रकाममाहारमिवोपभुज्य।
कुशानुसारेण हुताशनोऽसौ नदीमुपस्प्रष्टुमिवावतीर्णः ॥१५॥

द्वितीयः—एष, एषः,

गतो वृक्षाद् वृक्षं विततकुशचीरेण दहनः
कदल्या विप्लुष्टं पतति परिणामादिव फलम्।
असौ चाग्रे तालो मधुपटलचक्रेण महता
चिरं मूले दग्धः परशुरिव रुद्रस्य पतति ॥ १६ ॥

वनमिति—असौ एषः हुताशनः अग्निः सवृक्षक्षुपगुल्मम् वृक्षैः तरुभिः क्षुपैः ह्रस्वशाखतरुभिः गुल्मैः स्तम्बैश्च सहितम् एतत् इदं वनम् प्रकामम् पर्याप्तम् आहारम् इव उपभुज्य भक्षयित्वा कुशानुसारेण नदीतटप्ररूढकुशमार्गाश्रयेण नदीम् समीपस्थनदीतटम् उपस्प्रष्टुम् आचमनं कर्तुमिव अवतीर्णः समागतः। यथा कोऽपि कृताहारो जलं पातुं नदीमवतरति तद्वदयं वह्निस्समस्तमपि वनं दग्ध्वा कुशमार्गाश्रयणेन नदीतटमुपेत इति इह उपस्प्रष्टुमिवेति हेतूत्प्रेक्षा। उपेन्द्रवज्रावृत्तम्, 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इति लक्षणात् ॥ १५ ॥

गतो वृक्षादिति—एषः एषः दहनः वह्निः वृक्षात् आश्रितादेकस्मात्तरोः वृक्षम् वृक्षान्तरम् विततकुशचीरेण आस्तीर्णदर्भवस्त्रादिद्वारा गतः, कदल्याः रम्भातरोः फलं विप्लुष्टं दग्धं सत् परिणामात् इव फलपरिपाकात् इव पतति, चिरं बहोः कालाद् मूले दग्धः सन् महता मधुपटलचक्रेण मधुच्छत्रेण युक्तः तालः तालवृक्षः रुद्रस्य शिवस्य परशुः परशुनामास्त्रभेद इव पतति। गतो वृक्षादिति दहनस्य प्रसमरशीलता, कदलीफलं दह्यमानं सत् पक्वमिव पतति, तालतरुश्चायं मधुपटल-

---

यह अग्निदेव वृक्ष, झाड़ी और लताओं समेत इस वनको खाकर (जलाकर) पेटके भर जानेपर, कुशके सहारे नदीमें उतर रहा है, मानो भोजनोपरान्त आचमन करने जा रहा हो ॥ १५ ॥

दूसरा—यह यह—

अग्नि फैले हुए कुश तथा चीरोंके सहारे एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर जा रही है, इस कदली वृक्षका फल वस्तुतः पके फलकी तरह पृथ्वीपर गिर रहा है, यह ताल वृक्ष जिसपर बहुतसे मधुके छत्ते हैं, बहुत देरसे मूलके जलते रहनेसे शिवके परशुकी तरह गिर रहा है ॥ १६ ॥

तृतीयः—हन्त सत्पुरुषरोष इव प्रशान्तो भगवान् हुताशनः ।

एतदग्नेर्बलं नष्टमिन्धनानां परिक्षयात् ।
दानशक्तिरिवार्यस्य विभवानां परिक्षयात् ॥ १७ ॥

प्रथमः—

स्रुग्भाण्डमरणीं दर्भानुपभुङ्क्ते हुताशनः ।
व्यसनित्वान्नरः क्षीणः परिच्छदमिवात्मनः ॥ १८ ॥

युतः कालाद् बह्नेश्छिन्नमूलश्च रुद्रस्य परशुरिव पतति, परशुरिवेत्युपमालङ्कारः । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥१६॥

हन्तेति हर्षे । सत्पुरुषरोषः सज्जनजनकोप इव । हुताशनः अग्निः । प्रशान्तः क्षीणज्वालो जातः ।

एतदिति—अग्नेः यज्ञवह्नेः एतत् प्रकटविशालज्वालम् बलम् दाहसामर्थ्यम् इन्धनानाम् दाह्यकाष्ठानां परिक्षयात् समाप्तेः आर्यस्य धार्मिकपुरुषस्य विभवानां धनसम्पदाम् परिक्षयात् दानशक्तिः दानसामर्थ्यम् इव नष्टम् अवसितम् । यथा कस्यापि साधोर्दानसामर्थ्यमवसितेषु विभवेषु समाप्तिं गच्छति, तथा वह्नेरस्य दाहसामर्थ्यं विभवपरिक्षयादवसितं जातमित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ १७ ॥

स्रुग्भाण्डमिति—व्यसनित्वात् मद्यपानद्यूतादिषु प्रवृत्तत्वात् क्षीणः नष्टविभवः नरः आत्मनः परिच्छदम् आभरणवसनादिकम् इव क्षीणः अल्पज्वालः हुताशनः वह्निः स्रुग्भाण्डम् अरणीम् स्रुक् दारुमयं होमसाधनं, भाण्डं घृतपात्रम्, अरणीम् मन्थनकाष्ठं चेति सर्वमपि होमपरिकरम् दर्भान् कुशान् च उपभुङ्क्ते भक्षयति । यथा मद्यादिना समाप्तविभवो जनोऽनन्तरं वसनाभरणादि सामग्रीजातम् उपभुङ्क्ते तद्वदयं वह्निः स्रुग्भाण्डारणिदर्भादीन् होमसाधनानि भुङ्क्ते । उपमालङ्कारः, अनुष्टुप्छन्दः ॥ १८ ॥

तीसरा—अहा, सत्पुरुषके रोषकी तरह अग्निदेव शान्त हो गये, अग्निका बल यज्ञीय सामग्रियोंके जल जानेसे समाप्त हो रहा है, जैसे किसी धार्मिक पुरुषकी दानशक्ति धनके समाप्त हो जानेसे समाप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

पहला—जैसे द्यूत आदि दुर्व्यसनोंसे निर्धन होकर मनुष्य अपने वसनाभरण भी बेचकर खा जाता है, उसी तरह यह वह्नि मन्दीभूत होकर अब स्रुक्, अरणी तथा कुशोंको जला रहा है ॥ १८ ॥

द्वितीयः—

अवनतविटपो नदीपलाशः पवनवशाच्चलितैकपर्णहस्तः ।

दवदहनविपन्नजीवितानामुदकमिवैष करोति पादपानाम् ॥ १९ ॥

तृतीयः—तदागम्यताम् । वयमपि तावदुपस्पृशामः ।

उभौ—बाढम् ।

(सर्वे उपस्पृश्य)

प्रथमः—अये ! अयमत्रभवता कुरुराजो दुर्योधनो भीष्मद्रोणपुरःसर-सर्वराजमण्डलेनाऽनुगम्यमान इत एवाभिवर्तते । इमे हि,

---

अवनतेति—अवनतविटपः अधोनतशाखः पवनवशात् वायुवेगात् चलितैकपर्णहस्तः चपलीभूतैकपत्ररूपबाहुः एषः नदीपलाशः नदीतीरगतो वृक्षभेदः एषः दवदहनविपन्नजीवितानाम् वनाग्निगतासूनाम् पादपानाम् उदकम् प्रेतोदकदानम् इव करोति । यथा कश्चन मनुष्यो बन्धुषु मृतेषु नदीतीरं गत्वा दक्षिणं करं व्यापारयन् बन्धुभ्यो जलं ददाति तद्वदयं पलाशतरुः पवनवेगाच्चलितैकपत्ररूपबाहुः यदाग्निदग्धतया गतप्राणेभ्यो वृक्षरूपबन्धुभ्यो जलमिव ददातीति । अत्र जलस्पर्शो जलदानतयोत्प्रेक्ष्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम् 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति च तल्लक्षणम् ॥ १९ ॥

उपस्पृशामः—आचमनं कुर्मः ।

बाढम्—अङ्गीकृतं भवदुक्तमिति भावः ।

अत्रभवता—पूजनीयेन (राजमण्डलविशेषणमेतत्) । भीष्मद्रोणपुरस्सरराजमण्डलेन—भीष्मद्रोणप्रभृतिराजन्यकेन । अनुगम्यमानः अनुसृतः । इत

दूसरा—यह नदीके तटपरका पलाश वृक्ष, जिसकी शाखायें झुकी हुई हैं, और जिसका पत्रस्वरूप एक हाथ वायुवेगवश पानीमें हिल रहा है, ऐसा प्रतीत होता है मानो यह आगमें जलकर मरे हुए अपने वृक्ष बन्धुओंको जलाञ्जलि दे रहा है ॥ १९ ॥

तीसरा—अच्छा तो आइये, हम भी आचमन कर लें ।

दोनों—हाँ, ठीक है ।

(सभी आचमन करके)

पहला—अहा ! यह कुरुराज दुर्योधन भीष्मद्रोणप्रधान सकल राजमण्डलके साथ इधर ही आ रहे हैं । यह लोग—

यज्ञेन भोजय, महीं जय विक्रमेण,
रोषं परित्यज, भव स्वजने दयावान्
इत्येवमागतकथामधुरं ब्रुवन्तः
कुर्वन्ति पाण्डवपरिग्रहमेव पौराः ॥ २० ॥

तदागम्यताम् । वयमपि तावत् कुरुराजं सम्भावयामः ।

उभौ—बाढम् ।

सर्वे—जयतु भवान् जयतु ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

विष्कम्भकः ।

एवाभिवर्त्तते इत एवायाति । कृतावभृथस्नानस्य दुर्योधनस्य दर्शनेनेयमुक्तिः ।

यज्ञेनेति— (हे राजन्) यज्ञेन यागानुष्ठानेन भोजय जीवान् तर्पय, विक्रमेण स्वपराक्रमेण महीम् समस्तां धरणीं जय स्वायत्तीकुरु, रोषम् अकारण-कोपम् परित्यज जहिहि, स्वजने आत्मीयपरिजने दयावान् कृपायुक्तः भव, इत्येवम् इत्थम् आगतकथामधुरम् स्वागतवचनरूपं मिष्टभाषणम् ब्रुवन्तः कथयन्तः पौराः पुरवासिनः पाण्डवपरिग्रहम् पाण्डवपक्षपातम् एव कुर्वन्ति, दुर्योधनमागच्छन्तं दृष्ट्वा तत्स्वागते पूर्वोक्तरूपं व्याहरन्तः पुरवासिनो वस्तुगत्यौचित्यव्यवहारप्रार्थ-नया पाण्डवानामनुग्रहार्थं प्रार्थयमानास्तत्पक्षपातमेव कुर्वन्तीत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् , 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणम् ॥ २० ॥

सम्भावयामः—यथोचितसत्कारेणाद्रियामहे ।

विष्कम्भकः—वृत्तवर्त्तिष्यमाणकथाबोधको द्वित्रजनवार्त्तालापः । लक्षणं परि-शिष्टे द्रष्टव्यम् ।

यज्ञसे सारी पृथ्वीको तृप्त करो, आत्मीय जनपर दया करो, समूची पृथ्वीको अपने पराक्रमसे अधिकृत करो, शत्रुतामूलक कोपका परित्याग करो, इस प्रकार समयोपयोगी तथा भले लगनेवाले वचन कह रहे हैं, जिससे उनका पाण्डवोंके प्रति पक्षपात प्रकट होता है ॥ २० ॥

अतः आइये, हम लोग भी कुरुराजके प्रति सम्मान प्रकाशित करें।

दोनों—बहुत अच्छा ।

सभी—आपकी जय हो, जय हो ।

(ततः प्रविशतो भीष्मद्रोणौ ।)

द्रोणः—धर्ममालम्बमानेन दुर्योधनेनाऽहमेवानुगृहीतो नाम । कुतः,

अतीत्य बन्धूनवलङ्घ्य मित्राण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः ।
बालं ह्यपत्यं गुरवे प्रदातुर्नैवापराधोऽस्ति पितुर्न मातुः ॥ २१ ॥

भीष्मः—एष दुर्योधनः,

अवाप्य रूप्यग्रहणात् समुच्छ्रयं रणप्रियत्वादयशो निपीतवान् ।

धर्ममालम्बमानेन—धर्माचरणप्रवृत्तिं प्रकाशयता अहम् द्रोणः । अनुगृहीतः कृपापात्रीकृतः ।

अतीत्येति—शिष्यदोषः शिष्यजने वर्त्तमानोऽधर्माचरणादिरूपो दोषः बन्धून् बान्धवान् अतीत्य अतिक्रम्य मित्राणि सुहृदश्च अवलङ्घ्य उल्लङ्घ्य आचार्यम् गुरुम् आगच्छति । शिष्यदोषेण ह्याचार्यस्यैव निन्दा भवति न बान्धवानां नापि सुहृदाम्, आचार्यस्यैव तद् विनयनाधिकृतत्वादितरेषां पुनस्तदभावादित्यर्थः । ननु जनकयोः पित्रोर्दोषोऽस्तु, तयोस्तज्जननद्वारा दोषाश्रयता योग्यत्वादित्यपेक्षायामाह—बालं शिक्षोपयुक्तावस्थाशालिनमपत्यं पुत्रादि गुरवे आचार्याय प्रदातुः शिक्षादिना मानवीकरणाय समर्पयतः पितुः मातुश्च अपराधः पुत्रापराधद्वारको दोषः नैवास्ति, तयोर्गुरूपसत्तिमात्रपर्यन्तमेव नियोगात्तदनन्तरं तु गुरोरेवाधिकारादित्याशयः । उपजातिर्वृत्तम् , 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।' 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति च तल्लक्षणम् ॥ २१ ॥

अवाप्येति—रूप्यग्रहणात् राजभ्यः प्राप्यस्य अर्थस्य कररूपस्य ग्रहणात्

(भीष्म तथा द्रोणका प्रवेश)

द्रोण—इस धार्मिक कृत्यरूप यज्ञका अनुष्ठान करके दुर्योधनने वस्तुतः मेरा ही सम्मान बढ़ाया है । क्योंकि—

बन्धुओंको तथा मित्रोंको छोड़कर शिष्यका दोष केवल उसके गुरुपर आ पड़ता है, माता-पिताका अपराध तो नहीं ही माना जाता क्योंकि वे तो बाल्यावस्थामें ही अपने बच्चों को गुरुके हाथों समर्पित कर देते हैं ॥ २१ ॥

भीष्म—यह दुर्योधन द्यूतमें धनका हरण करके धनी बना हुआ तथा

निषेव्य धर्मं सुकृतस्य भाजनं स एव रूपेण चिरस्य शोभते ॥ २२ ॥

(ततः प्रविशति दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्च ।)

दुर्योधनः—

कृतश्रद्धो ह्यात्मा वहति परितोषं गुरुजनो
जगद् विश्वस्तं मे निवसति गुणो नष्टमयशः ।
मृतैः प्राप्यः स्वर्गो यदिह कथयत्येतदनृतं
परोक्षो न स्वर्गो बहुगुणमिहैवैष फलति ॥ २३ ॥

समुच्छ्रयम् अभ्युदम् अवाप्य आसाद्य रणप्रियत्वात् युद्धस्नेहात अयशः भीरुत्व-प्रयुक्ताम् अकीर्त्तिम् निपीतवान् निगीर्णवान् निरवशेषं लुप्तवान् स एषः दुर्योधनः धर्मं निषेव्य यज्ञानुष्ठानेन धर्मं कृत्वा सुकृतस्य पुण्यस्य भाजनम् पात्रं सन् रूपेण धार्मिकजनोचितेन वेषेण शोभते प्रकाशते । राजवंशे जायमानस्य कर्मत्रितयमनु-शिष्यते, धनसंग्रहो युद्धोद्यतत्वं धर्माचारश्च, तत्राद्यं द्वितयं प्रागेव सम्पादितवतोऽस्य दुर्योधनस्य सम्प्रति चरमस्याप्यनुष्ठानात्पूर्णतः कृतकार्यतया कापि नवैव शोभाऽऽ-विर्भवतीत्याशयः । वंशस्थं वृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ २२ ॥

कृतश्रद्ध इति—आत्मा मदीयं हृदयम् कृतश्रद्धः विहितास्तिककर्त्तव्ययागा-नुष्ठानः, गुरुजनः आचार्यपितामहादिः पूज्यवर्गः परितोषं मदीययागानुष्ठानेन सन्तोषं वहति प्राप्नोति, जगत् सकललोकः विश्वस्तम् मयि कृतविश्वासम् , मे मम गुणः दयौदार्यादिः निवसति जायते, अयशः कार्पण्यादिकृताकीर्त्तिः नष्टम् समा-प्तम् , (तदित्थम्) स्वर्गः स्वर्गवाससुखम् मृतैः प्राप्यः मरणोत्तरकाललभ्य इति यदिह लोकः कथयति एतत् लोककथनम् अनृतम् मिथ्या (यतः) एषः स्वर्गः

रणप्रिय होनेसे कलङ्कित होकर भी चिरकालपर यज्ञरूप धर्म करनेसे बहुत भला लग रहा है ॥ २२ ॥

(दुर्योधन, कर्ण तथा शकुनिका प्रवेश)

दुर्योधन—आज मेरी आत्मा श्रद्धालु हो रही है, गुरुजन प्रसन्न हो रहे हैं, संसार मुझपर विश्वास कर रहा है, मुझमें दया आदि गुणोंका निवास हो रहा है, मेरे कलङ्क धुल गये, लोगोंका यह कहना कि-स्वर्ग मरने पर मिलता है—गलत है, यहाँ ही मुझे बहुगुण स्वर्ग-आनन्द मिल रहा है ॥ २३ ॥

कर्णः—गान्धारीमातः! न्यायेनागतमर्थमतिसृजता न्याय्यमेव भवता कृतम्। कुतः,

बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी वञ्च्यते सन्निधाता।
विप्रोत्सङ्गे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः ॥ २४ ॥

शकुनिः—सम्यगाह गङ्गोपस्पर्शनाद् धौतकल्मषाङ्गोऽङ्गराजः।

परोक्षः अलभ्यः अप्राप्तो न (भवति) बहुगुणं यथा स्यात्तथा इहैव अत्रैव जन्मनि फलति सम्पद्यते। अयमाशयः—श्रद्धया यज्ञानुष्ठानेन मम मनसः शान्तिरुत्पन्ना, गुरुजनः सन्तोषितः, जगति विश्वासो जनितः, मम गुणानामुदयो जातः, अयशो विनष्टम्, तदेवं यज्ञानुष्ठानजन्मनि दुःखासंपृक्ते सुखे लभ्यमाने लोकानां स्वर्गस्य प्रेत्यलभ्यत्वकथनं मिथ्या मम स्वर्गसुखस्य प्रत्यक्षत्वात्, वस्तुतो मम स्वर्ग इहैव फलित इति। शिखरिणी छन्दः ॥ २३ ॥

गान्धारीमातः—गान्धारी माता यस्य स तत्सम्बोधने, गान्धारीपुत्र, न्यायेन उचितमार्गेण। आगतम् प्राप्तम्। अर्थम् धनराशिम्। अतिसृजता यज्ञरूपे सत्कार्ये नियोजयता त्वया। न्याय्यम् उचितम्।

बाणाधीनेति—क्षत्रियाणाम् राजन्यानाम् समृद्धिः धनसम्पत् बाणाधीना चापबाणसम्पादिता, युद्धार्जितधना भवन्ति राजान इति भावः, सन्निधाता धनस्थापकः यज्ञादिषु धनमनियोज्य तस्य धनस्य पुत्राद्युपभोगाय रक्षणपरायणः क्षत्रियो वञ्च्यते वास्तविककर्त्तव्यच्युतो भवतीत्यर्थः। तत्कार्यमाह—विप्रोत्सङ्गे इति-राज्ञा क्षत्रियेण सर्वं समस्तं वित्तं धनं विप्रोत्सङ्गे ब्राह्मणक्रोडे आवर्ज्य दत्त्वा सुतेभ्यः चापमात्रम् धनुरेव केवलं देयम्। राज्ञा धनं ब्राह्मणेभ्यः प्रतिपादनीयम् चापमात्रं तु पुत्रेभ्यस्ते हि पुत्राः स्वयमेव चापबलेन धनिनो भविष्यन्ति कृतं पितुस्तच्चिन्तयेति भावः। शालिनीवृत्तं तल्लक्षणं यथा—'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' ॥ २४ ॥

कर्ण—न्यायपूर्वक प्राप्त धनका दान करके आपने ठीक ही किया है, क्योंकि—क्षत्रियोंकी संपत्ति उनके बाणोंपर निर्भर है, जो क्षत्रिय अपने पुत्रके लिये धन जोड़ता है वह ठगा जाता है, राजाको तो सारा धन ब्राह्मणोंको देकर पुत्रोंके लिये चापमात्र रख छोड़ना चाहिये ॥ २४ ॥

शकुनि—गङ्गाजल आचमन करनेसे पापरहित अङ्गशाली अङ्गराज कर्णने सर्वथा ठीक कहा है।

कर्णः—

इक्ष्वाकु-शर्य्याति-ययाति-राम मान्धातृ-नाभाग नृगाऽम्बरीषाः ।
एते सकोशाः पुरुषाः सराष्ट्रा नष्टाः शरीरैः क्रतुभिर्धरन्ते ॥ २५ ॥

सर्वे—गान्धारीमातः ! यज्ञसमाप्त्या दिष्ट्या भवान् वर्धते ।

दुर्योधनः—अनुगृहीतोऽस्मि । भो आचार्य ! अभिवादये ।

द्रोणः—एह्येहि पुत्र ! अयमक्रमः ।

दुर्योधनः—अथ कः क्रमः ?

द्रोणः—किं न पश्यति भवान् ?

सम्यक् युक्तियुक्तम् । आह कथयति । गङ्गोपस्पर्शनात् सम्प्रतिकृतात् गङ्गास्नानात् । धौतकल्मषः अपगतपापः । अङ्गराजः दुर्योधनसमर्पितस्याङ्गनामकस्य देशस्य शासयिता कर्णः ।

इक्ष्वाक्विति—इक्ष्वाकुप्रभृतयोऽष्टावपि राजानः स्वनामख्याताः, एते सकोशाः धनैः सहिताः सराष्ट्राः स्वराज्येन सहिताश्च पुरुषाः शरीरैः नष्टाः स्वदेहैः मृताः, क्रतुभिः स्वानुष्ठितयज्ञैः तु धरन्ते ध्रियन्ते जीवन्ति । इक्ष्वाकुप्रभृतीनां धनं राष्ट्रं शरीरं च कालातिपाताद् गतमेव सर्वम् , केवलं नास्ति तेषां यशःकाये जरामरणजं भयम् इति भावः । इन्द्रवज्रावृत्तम् , लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ २५ ॥

दिष्ट्या—सौभाग्येन । वर्धते अभ्युदयभाजनं भवति, प्रशस्यं तव यज्ञानुष्ठानं जातमित्यर्थः ।

एह्येहीति द्विरुक्तिरादरव्यञ्जनाय । अयम् मम प्रथमः प्रणामः अक्रमः न क्रमप्राप्तः, मदपेक्षया प्रथमं भीष्मः प्रणम्यतां ततोऽहमिति युक्तः स्यात्क्रम इत्यर्थः ।

कर्ण - महाराज इक्ष्वाकु, शर्याति, ययाति, भगवान् राम, मान्धाता, नाभाग, नृग तथा अम्बरीष इन सभी नृपगणोंके धनकोश तथा राज्य इनके देहके साथ ही नष्ट हो गये, केवल कीर्त्ति-शरीरसे वे अब भी वर्त्तमान हैं ॥ २५ ॥

सभी—गान्धारीतनय, सौभाग्यसे आपका यज्ञ सम्पन्न हो गया और आप अभ्युदयभाजन बन रहे हैं ।

दुर्योधन—आपकी कृपा है । गुरुदेव मैं प्रणाम करता हूँ ।

द्रोण—आओ बेटा, आओ, यह क्रम ठीक नहीं है ।

दुर्योधन—फिर कौन सा क्रम ठीक होगा ?

दैवतं मानुषीभूतमेष तावन्नमस्यताम् ।
अहं नाचरणं मन्ये भीष्ममुत्क्रम्य वन्दितुम् ॥ २६ ॥

भीष्मः—मा मा भवानेवम् । बहुभिः कारणैरपकृष्टोऽहं भवतः । कुतः,

अहं हि मात्रा जनितो भवान् स्वयं ममायुधं वृत्तिरपह्नवस्तव ।
द्विजो भवान् क्षत्रियवंशजा वयं गुरुर्भवान् शिष्यमहत्तरा वयम् ॥२७॥

दैवतमिति—एषः भीष्मः मानुषीभूतं दैवतम् देवः सन्नपि मनुष्यरूपेणावतीर्णः (वसुरूपतया भीष्मस्यैवमुक्तिः) तावत् प्रथमं नमस्यताम् नमस्क्रियताम् । भीष्ममुत्क्रम्य विहाय वन्दितुम् स्वप्रणामं नाहमाचरणं युक्तं क्रमं मन्ये । अयं वस्ववतारो देवोऽपि मानुषतनुर्भीष्मः प्राक् प्रणम्यः परतोऽहम् , भीष्मतः प्रथमं स्वीयं प्रणाममहमाचरणं न मन्ये युक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥

मा मा भवानेवम्—इत्यस्य वादीदिति शेषः । बहुभिः कारणैः अनेकैः हेतुभिः । अहम् भीष्मः । भवतो द्रोणात् । अपकृष्टः न्यूनः । अतो भवतः प्रथमप्रणम्यत्वं युक्तमेवेत्याशयः ।

अहमिति—अहं भीष्मो मात्रा जनितः (अतो मम जनकवीर्यदूषितत्वसंभवः) भवान् द्रोणः स्वयंजनितः अयोनिजः (भरद्वाजमुनेः कलशादुत्पन्नतया तस्यायोनिजत्वम् , तेन जनकवीर्यदूषणनिरासः) मम आयुधं शस्त्रं वृत्तिः जीवनौपयिकम् , तव तु अपह्नवः सर्वभूतस्नेहः । भवान् द्विजो ब्राह्मणः, वयं क्षत्रियवंशजाः राजकुलोत्पन्नाः, भवान् ब्राह्मणतया सकलस्य गुरुः, वयं तु शिष्यमहत्तराः शिष्येषु ब्राह्मणानुशासनीयेषु क्षत्रियवैश्यशूद्रेषु श्रेष्ठा इत्यर्थः । तदेवं जन्मशुद्धिकर्मशुद्धिजातिशुद्धिभिर्भवान् मदपेक्षया श्रेष्ठ इति भवतो मद्विषयं प्राक्प्रणम्यत्वाभिधानं न युक्तमिति भावः 'अपह्नवौ ह्नुतिस्नेहौ' इति वैजयन्ती ॥ वंशस्थं वृत्तम् ॥ २७ ॥

द्रोण—क्या तुम नहीं देखते ? पहले भीष्मको प्रणाम करो, यह मनुष्यके रूपमें अवतीर्ण देव हैं, मैं भीष्मको छोड़कर पहले अपने प्रणामको धर्मसङ्गत आचरण नहीं मानता हूँ ॥ २६ ॥

भीष्म—नहीं, आप ऐसा न कहें, कई कारणोंसे मैं आपकी अपेक्षा न्यून हूँ, क्योंकि—

मुझे माताने पैदा किया है आप स्वयंभू-अयोनिज हैं, मेरी जीविका आयुध है आपकी जीविका स्नेह करना है, आप ब्राह्मण हैं मैं क्षत्रिय हूँ, आप गुरु हैं और मैं आपके शिष्योंमें बड़ा हूँ ॥ २७ ॥

द्रोणः—नोत्सहन्ते महात्मानो ह्यात्मानमुपस्तोतुम् । एहि पुत्र ! अभिवादयस्व माम् ।

दुर्योधनः—आचार्य ! अभिवादये ।

द्रोणः—एह्येहि पुत्र ! एवमेवावभृथस्नानेषु खेदमवाप्नुहि ।

दुर्योधनः—अनुगृहीतोऽस्मि । पितामह ! अभिवादये ।

भीष्मः—एह्येहि पौत्र ! एवमेव ते बुद्धिप्रशमनं भवतु ।

दुर्योधनः—अनुगृहीतोऽस्मि । मातुल ! अभिवादये ।

शकुनिः—वत्स !

एवमेव क्रतून् सर्वान् समानीयाप्तदक्षिणान् ।
राजसूये नृपाञ्जित्वा जरासन्ध इवानय ॥ २८ ॥

महात्मानः—महान्तः । उपस्तोतुम् प्रशंसितुम् । नोत्सहन्ते नेच्छन्ति । महात्मानो न स्वां प्रशंसां रोचयन्तेऽतो भीष्मोऽपि स्वं मदपेक्षया हीनमाह, तदनुरोध एव पाल्यमानस्तदादरं गमयिष्यति ।

अभिवादये—प्रणमामि ।

अवभृथस्नानेषु—यज्ञान्तस्नानविधिषु । खेदम् आप्नुहि आयासमनुभव । सर्वदेत्थमेव यज्ञसम्प्रवर्त्तनपुण्यभाजनं जायस्वेत्यर्थः ।

बुद्धिप्रशमनम्-बुद्धिगतं नैर्मल्यम् । मनसो रागस्य निवृत्तिर्जायतामित्याशीः ।

एवमेवेति—एवम् एव इत्थमेव आप्तदक्षिणान् दत्तदक्षिणाकान् सर्वान् क्रतून् यज्ञान् समानीय सम्पाद्य राजसूये तन्नामके यागविशेषे जरासन्ध इव

द्रोण– महात्मा लोग अपनी प्रशंसा करनेको तत्पर नहीं होते हैं, आओ बेटा, मुझे ही प्रणाम करो ।

दुर्योधन—आचार्य, मैं प्रणाम करता हूँ ।

द्रोण—आओ बेटा, इसी तरह यज्ञान्तस्नानमें खेद प्राप्त करते रहो ।

दुर्योधन—अनुगृहीत हूँ । पितामह, मैं प्रणाम करता हूँ ।

भीष्म– आओ पौत्र, इसी तरह तुम्हारी बुद्धि प्रशान्त हुआ करे ।

दुर्योधन—अनुगृहीत हूँ मामा, मैं प्रणाम करता हूँ ।

शकुनि—वत्स, इसी प्रकार यज्ञ करते रहो, उन यज्ञोंमें बड़ी-बड़ी दक्षिणायें देते रहो, अन्तमें राजसूय यज्ञ करके जरासन्धकी तरह सभी नृपतिओंको बन्दी बना लो ॥ २८ ॥

द्रोणः—अहो ! आशीर्वचनेऽपि शकुनिरुद्योगं जनयति । अहो ! प्रियविरोधः खल्वयं क्षत्रियकुमारः ।

दुर्योधनः—वयस्य ! कर्ण !! गुरुजनप्रणामावसाने प्राप्तक्रममुपभुज्यतां वयस्यविस्रम्भः ।

कर्णः—गान्धारीमातः !

क्रतुव्रतैस्ते तनु गात्रमेतत् सोढुं बलं शक्ष्यसि पीडयानि ।
अन्तस्त्वनामन्त्र्य न धर्षयामि राजर्षिधीराद् वचनाद् भयं मे ॥ २९ ॥

नृपान् जित्वा आनय । यथा जरासन्धो नाम राजा राजसूये सर्वान्नृपान् कारागारे स्थापितवान् , तथा त्वमपि सर्वान् कुरु इति भावः । अत्र केचित्—युधिष्ठिरेण कृते राजसूये राज्ञां करदीकरणमात्रं विहितं, त्वया तेषां बन्दित्वं कार्यमिति विशेषद्वारा युधिष्ठिरोपहासं कुक्षिगतमावेदयन्ति ॥ २८ ॥

आशीर्वचने—आशीर्वादवाक्येऽपि । उद्योगं जनयति—युद्धार्थं प्रेरयति, प्रियविरोधः वैररसिकः । अयं शकुनिः ।

गुरुजनप्रणामावसाने—गुरुजनप्रणामान्ते । प्राप्तक्रमम् अवसरप्राप्तम् । उपभुज्यताम् अनुभूयताम् । वयस्यविस्रम्भः मित्रस्नेहालिङ्गनम् । गुरुषु प्रणतेषु सम्प्रति मित्रालिङ्गनं कर्त्तुमिच्छन्तं मां तथा कर्तुमनुमन्यस्वेत्यर्थः ।

क्रतुव्रतैरिति—एतत् इदं ते तव गात्रं वपुः क्रतुव्रतैः यज्ञदीक्षायां कृतैरुपवासादिनियमैः तनु कृशं (यदि त्वं) बलम् आलिङ्गनावसरे मदीयां शक्तिं सोढुं शक्ष्यसि समर्थो भविष्यसि तर्हि पीडयानि बलवदालिङ्गानि तव शरीरमिति भावः । अतः तव चित्तं तु अनामन्त्र्य प्रीतिपूर्वकम् अनाभाष्य न धर्षयामि नालिङ्गनमा-

---

द्रोण—आश्चर्य है, आशीर्वचनमें भी शकुनि युद्धके लिये प्रेरित करता है, इस क्षत्रिय-पुत्रको विरोध भला लगा करता है ।

दुर्योधन—वयस्य कर्ण, गुरुजनोंको प्रणाम करनेके बाद अब मित्रोंसे गले लगनेकी बारी आई है, आओ गले लगें ।

कर्ण—गान्धारीतनय, यह तुम्हारा शरीर यज्ञमें किये गये व्रतोंसे अतिकृश हो रहा है, यदि तुम गाढालिङ्गनको सह सको तो मैं आलिङ्गन करूं । पर नहीं, प्रेम-भाषणके अतिरिक्त मैं तुम्हें कष्ट नहीं देना चाहता, मैं तुम्हारे इस महर्षिकी तरह गम्भीर वचनसे डरता हूँ ॥ २९ ॥

दुर्योधनः—एवमेव ते बुद्धिरस्तु ।

द्रोणः—पुत्र ! दुर्योधन !! एष महेन्द्रप्रियसखो भीष्मको नाम भवन्तं सभाजयति ।

दुर्योधनः—स्वागतमार्याय । अभिवादये ।

भीष्मः—पौत्र ! दुर्योधन !! एष दक्षिणापथपरिघभूतो भूरिश्रवा नाम भवन्तं सभाजयिष्यति ।

दुर्योधनः—स्वागतमार्याय ।

द्रोणः—पुत्र ! दुर्योधन !! भवतो यज्ञं सभाजयता वासुभद्रेण प्रेषितोऽभिमन्युर्भवन्तं सभाजयति ।

चरामि । राजर्षिधीरात् राजर्षिवचनवत् अत्यन्तगभीरात् ते वचनात् मे भयं जायते । अयमाशयः—यज्ञानुष्ठाननियमादिना कृशकायस्त्वं मदालिङ्गनजं बलं यदि सोढुं शक्ष्यसि तदाऽहं त्वां दृढमालिङ्ग्य सुखयिष्यामि, परं त्वदीयं हृदयाभिप्रायमज्ञात्वा नाहं प्रवर्त्तिष्ये तवालिङ्गने, त्वं हि राजर्षिरिवातिगभीराणि वचांसि व्याहरसि तदहं तव साधुभावाद् भीतोऽस्मि, साधोस्तव तथालिङ्गनस्य हठधर्मित्वादिति । उपजातिश्छन्दः ॥ २९ ॥

महेन्द्रप्रियसखः—इन्द्रस्य मित्रम् । सभाजयति सत्कारविशेषेण योजयति । यज्ञान्ते राजानं सर्वे सम्मानप्रदर्शनेनाभिनन्दयन्तीति समुदाचारानुरोधादियमुक्तिः ।

दक्षिणापथपरिघभूतः—विन्ध्यदक्षिणदेशस्य अर्गलस्वरूपः, रक्षक इत्यर्थः ।

सभाजयता—बहुमानयता । वासुभद्रेण श्रीकृष्णेन, वासुदेव एव वासुः स

दुर्योधन—तुम्हारी बुद्धि इसी तरहकी रहे ।

द्रोण - बेटा दुर्योधन, इन्द्रके प्रियमित्र यह भीष्मक तुमको बधाई देते हैं ।

दुर्योधन—आपका स्वागत है, मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।

भीष्म—पौत्र दुर्योधन, यह दक्षिण देशके रक्षक भूरिश्रवा आपको बधाई देते हैं ।

दुर्योधन—आपका स्वागत है ।

द्रोण—पुत्र दुर्योधन, यह अभिमन्यु आपको बधाई देता है जिसे वासुदेवने आपको बधाई देनेको भेजा है ।

शकुनिः—वत्स ! दुर्योधन ! एष जरासन्धपुत्रः सहदेवो भवन्तमभिवादयति ।

दुर्योधनः—एह्येहि वत्स ! पितृसदृशपराक्रमो भव ।

सर्वे—एतत् सर्वं राजमण्डलं भवन्तं सभाजयति ।

दुर्योधनः—अनुगृहीतोऽस्मि । भोः ! किन्नु खलु समागते सर्वराजमण्डले विराटो नागच्छति ।

शकुनिः—प्रेषितोऽस्य मया दूतः । शङ्के पथि वर्तते इति ।

दुर्योधनः—भो आचार्य ! धर्मे धनुषि चाचार्य ! प्रतिगृह्यतां दक्षिणा ।

द्रोणः—दक्षिणेति , भवतु भवतु । व्यपश्रयिष्ये तावद् भवन्तम् ।

चासौ भद्र इति रामभद्रादिपदवत्प्रयोगः । अभिमन्युः सौभद्रेयोऽर्जुनपुत्रः । शकुनिकृतं सहदेवप्रणामनिवेदनमत्राभिमन्युप्रत्यभिवादनविस्मारणाय बोध्यम् ।

पितृसदृशपराक्रमः—ताततुल्यबलः ।

सर्वराजमण्डले—सर्वेषु नृपतिषु । विराटो नाम राजा । नागच्छति नागतः सकलराजन्यकमण्डले सभाजनार्थमुपस्थिते सत्यपि विराटस्यानागमनं तदपराधं व्यञ्जयति ।

अस्य—विराटस्य । इतः सन्देशहारकः । शङ्के सम्भावयामि । पथि मार्गे । धर्मे धनुषि चाचार्य–धर्मस्य शस्त्रस्य चोपदेशकः । प्रतिगृह्यताम् स्वीक्रियताम् । दक्षिणा यज्ञे कृतस्याचार्यत्वस्य यथोचितं वेतनम् ।

भवतु भवतु—तिष्ठतु तावद्दक्षिणा । व्यपश्रयिष्ये-कालान्तरे याचिष्ये ।

शकुनि—वत्स दुर्योधन, यह जरासन्धका बेटा सहदेव तुमको बधाई देता है ।

दुर्योधन—आओ वत्स, पिताके सदृश पराक्रमी बनो ।

सभी—यह समस्त राजमण्डल आपको बधाई देता है ।

दुर्योधन—अनुगृहीत हूँ, क्या बात है कि सभी नृपोंके आनेपर भी विराट नहीं आये ?

शकुनि—मैंने उनके पास दूत भेजा था, सम्भव है मार्गमें हों ।

दुर्योधन—हे गुरुदेव, आप मेरे धर्म तथा धनुर्वेदके उपदेष्टा हैं, कृपया अपनी दक्षिणा स्वीकार करें ।

द्रोण—दक्षिणा, रहने दो, कालान्तरमें माँग लूंगा ।

दुर्योधनः—कथमाचार्योऽपि व्यपश्रयिष्यते।

भीष्मः—भोः! किन्नु खलु प्रयोजनं, यदा-

पीतः सोमो बाल्यदत्तो नियोगा-
च्छत्रच्छाया सेव्यते ख्यातिरस्ति।
किं तद् द्रव्यं किं फलं को विशेषः
क्षत्राचार्यो यत्र विप्रो दरिद्रः॥ ३०॥

दुर्योधनः—आज्ञापयतु भवान्, किमिच्छति। किमनुतिष्ठामि।

द्रोणः—पुत्र! दुर्योधन!! कथयामि।

मदीया दक्षिणा तवैव समीपे तिष्ठतु यथावसरं याचिष्ये इति द्रोणाशयः। आचार्योऽपि व्यपश्रयिष्यते-साधारणो हि याचको दातारं समयान्तरे याचते आचार्यस्तु न भवति सामान्ययाचकोऽतो नोचितं तस्य व्यपश्रयणमिति। किन्नु खलु प्रयोजनम्-दक्षिणाग्रहणानुरोधस्य प्रार्थना व्यर्था, द्रोणस्य सर्वथा पूर्णमनोरथत्वादित्यर्थः। तत्र कारणं वक्ष्यत्यग्रेतनश्लोकेन।

पीत इति—(द्रोणेन) बाल्यदत्तः बाल्यावस्थया दत्तः सोमः सोमाख्ययज्ञलतारसः नियोगात् शास्त्रोक्तप्रकारमनुसृत्य पीतः आस्वादितः, छत्रच्छाया त्वादृशनृपाश्रयः सेव्यते उपभुज्यते, ख्यातिः प्रसिद्धिः अस्ति। क्षत्राचार्यो निखिलराजगुरुरयं द्रोणो यत्र विषये दरिद्रः हीनः स्यात्, तादृशं किं द्रव्यम् किं फलं को वा विशेषः अस्ति? न कोऽपीत्यर्थः। सोमलतारसोऽनेन बाल्य एव पीतः, भवादृशस्य नृपस्याश्रयो लब्धः, कीर्त्तिरर्जिता, तदयं कुत्रापि विषये नास्ति हीनो यदर्थं दक्षिणाग्रहणानुरोध उपयुज्येतेत्यर्थः। शालिनीवृत्तम् 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' इति तल्लक्षणम्॥ ३०॥

किमनुतिष्ठामि—किमाचरामि?

दुर्योधन—आचार्य होकर आप याचना क्यों करेंगे?

भीष्म—दक्षिणाकी क्या आवश्यकता है? आचार्यने युवावस्थामें विधानपूर्वक सोमपान कर लिया है, तुम्हारी छत्रच्छायामें रहते हैं, पर्याप्त यश प्राप्त किया है, वह कौनसी चीज, फल या विशेषगुण है, जिसे तुम्हारे आचार्यने नहीं प्राप्त किया है॥ ३०॥

दुर्योधन—गुरुदेव, आज्ञा दीजिये, आप क्या चाहते हैं? मैं क्या दूँ?

द्रोण—पुत्र दुर्योधन, कहता हूँ।

दुर्योधनः—किमिदानीं भवता विचार्यते ।

प्राणाधिकोऽस्मि भवता च कृतोपदेशः
शूरेषु यामि गणनां कृतसाहसोऽस्मि ।
स्वच्छन्दतो वद किमिच्छसि किं ददानि
हस्ते स्थिता मम गदा भवतश्च सर्वम् ॥ ३१ ॥

द्रोणः—पुत्र ! ब्रवीमि खलु तावत् । बाष्पवेगस्तु मां बाधते ।

सर्वे—कथमाचार्योऽपि बाष्पमुत्सृजति ।

किमिदानीं भवता विचार्यते ?—मयि दक्षिणां दातुं प्रवृत्ते भवतो विचारो व्यर्थ इति ।

प्राणाधिक इति—प्राणाधिकः प्राणेभ्योऽप्यधिकः स्नेही तवास्मीति शेषः, भवता कृतोपदेशः अनुशासितश्चास्मीति शेषः, शूरेषु गणनां यामि, वीरेषु परिगणितो भवामि, कृतसाहसश्च साहसी चास्मि, (तदेवं सर्वथा दातृत्वयोग्यताशालिनि मयि दक्षिणां दातुमुद्यते सति) स्वच्छन्दतः स्वरुच्यनुसारेण वद कथय किम् इच्छसि ? किं ददानि तुभ्यं दक्षिणारूपेणार्पयाणि ? हस्ते स्थिता मम गदा एव पर्याप्ता ममकृते, मदीयं च सर्वं विभवजातम् भवतः त्वदधीनमतो यस्य कस्याप्यर्थस्य प्रार्थना क्रियतामलं विचारणयेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥

बाष्पवेगः—आनन्दाश्रुप्रवृत्तिः । बाधते वक्तुं प्रतिषेधति । वक्तुमुद्युञ्जानस्य ममानन्दाश्रुप्रवृत्तिर्मां वक्तुमक्षमं करोतीत्यर्थः ।

आचार्योऽपि—धीरतया संभाव्यमानोऽपि । बाष्पमुत्सृजति—रोदिति ।

दुर्योधन—अब आप क्या सोचते हैं ?

मैं आपका प्राणप्रिय हूँ, आपने मुझे शिक्षा दी है, वीरों में मैं प्रथम गिना जाता हूँ, युद्धमें मैंने साहस किया है, आप यथेच्छ कहिये क्या दूँ, केवल गदा मेरे हाथमें रहे, शेष सारा धन आपका है ॥ ३१ ॥

द्रोण—बेटा, अभी बताता हूँ, किन्तु अश्रुप्रवाह मुझे रोकता है ।

सभी—क्यों, गुरुदेव भी रो रहे हैं ।

भीष्मः—पौत्र ! दुर्योधन !! अफलस्ते परिश्रमः ।

दुर्योधनः—कोऽत्र ।

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

दुर्योधनः—आपस्तावत् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । इमा आपः ।

दुर्योधनः—आनय । (कलशं गृहीत्वा) भो आचार्य ! अश्रुपातोच्छिष्टस्य मुखस्य क्रियतां शौचम् ।

द्रोणः—भवतु भवतु । मम कार्यक्रियैव मुखोदकमस्तु ।

दुर्योधनः—हा धिक्,

अफलः—व्यर्थः । इयता परिश्रमेणापि त्वमाचार्यं दक्षिणाग्रहणोद्यतं कर्तुं न प्रभुरभूरित्यर्थः ।

आपः—जलानि । आनीयन्तामिति शेषः ।

अश्रुपातोच्छिष्टस्य—बाष्पपातेनोपहतस्य । शौचं क्रियताम् प्रक्षालनं विधीयताम् ।

कार्यक्रिया—मदीहितकार्यसम्पादनम् । मुखोदकम् मुखप्रक्षालनजलम् । अलमनेन जलेन, मदीहितसंपादनमेव मदीयबाष्पवेगनिरोधाय पर्याप्तमिति तदेव विधातुमर्हसीति भावः ।

भीष्म—पौत्र दुर्योधन, तुम्हारा सब परिश्रम निष्फल है ।

दुर्योधन—कोई है यहाँ ?

[प्रवेश करके]

भट—जय हो महाराजकी ।

दुर्योधन—पानी तो लाओ ।

भट महाजकी जो आज्ञा, (बाहर जाकर फिर आकर) जय हो महाराज-की, यह पानी है ।

दुर्योधन—लाओ । (कलश लेकर) गुरुदेव, आँसुओंसे अपवित्र मुखको धो लें ।

द्रोण—रहने दो, मेरे कार्यकी सिद्धि ही मेरे लिये मुखोदक होगा ।

दुर्योधन—आह, मुझे धिक्कार है ।

यदि विमृशसि पूर्वजिह्मतां मे यदि च समर्थयसे न दास्यतीति ।
शरशतकठिनं प्रयच्छ हस्तं सलिलमिदं करणं प्रतिग्रहाणाम् ॥ ३२ ॥

द्रोणः—हन्त ! लब्धो मे हृदयविश्वासः । पुत्र ! श्रूयतां ।

येषां गतिः क्वापि निराश्रयाणां संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टा ।
त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागमेषा च भिक्षा मम दक्षिणा च ॥ ३३ ॥

यदि विमृशसीति—यदि मे मम दुर्योधनस्य पूर्वजिह्मतां प्राचीनं कुटिलवृत्तित्वं विमृशसि विभावयसि, यदि च न दास्यति इति समर्थयसे चिन्तयसि, तदा शरशतकठिनं बाणाभ्यासकठोरं हस्तं प्रयच्छ मदभिमुखे स्थापय, प्रतिग्रहाणां दानस्वीकरणानाम् करणम् साधनम् इदं सलिलम् जलम् उत्सृज्यते इति शेषः । यदि मया दीयमानायां दक्षिणायां नास्ति विश्वासस्तदा मदभिमुखे स्वकरं प्रसारय, अहं चोपनीतेनानेनैव वारिणा तव संशयं छिनद्मि, तत्कालमेव दक्षिणासम्प्रदानादित्यर्थः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ३२ ॥

हन्तेति—हर्षे । हृदयविश्वासः—मनःप्रत्ययः, स चात्र सर्वेषां राज्ञां समक्षं दुर्योधनः सजलस्पर्शं कृता दक्षिणादानप्रतिज्ञामन्यथा न करिष्यतीति ज्ञानस्वरूपः ।

येषामिति—येषां निराश्रयाणां कुत्राप्याश्वस्तमाश्रयमलभमानानां यत्र तत्र भ्रमतां पाण्डवानां द्वादशभिः संवत्सरैः वर्षैः क्वापि गतिः स्थितिः न दृष्टा नोपलब्धा, त्वं तेषां पाण्डवानां संविभागं राज्यार्धप्रविभागं कुरु एषा त्वया क्रियमाणा पाण्डवभागप्रदानघोषणा एव मम भिक्षा दक्षिणा च भविष्यतीति शेषः । यदि त्वं निराश्रयतया यत्र तत्र भ्रमतां पाण्डवानां लभ्यमेव राज्यार्धं

यदि आप मेरी प्राक्तन कुटिलतापर ध्यान देते हैं, और यदि आपका यह विचार है कि दुर्योधन मेरी इच्छा नहीं पूर्ण करेगा, तो लाइये, अनेकधा बाण-ग्रहणसे कठोर अपना हाथ आगे बढ़ाइये, यह दानवारि ही इस दानका साधन बने ॥ ३२ ॥

द्रोण—बड़ी खुशीकी बात है, मेरे मनमें विश्वास हो गया । सुनो बेटा,

जिन बेचारोंका कोई आश्रय नहीं है, बारह वर्षोंसे जिनका पता नहीं चला है, तुम उन पाण्डवोंको आधा राज्य दे दो, यही मेरी भिक्षा तथा दक्षिणा होगी ॥ ३३ ॥

शकुनिः—(सोद्वेगम्) मा तावद् भोः !

उपन्यस्तस्य शिष्यस्य विश्वस्तस्य च गौरवे।
यज्ञप्रस्तुतमुत्पाद्य युक्तेयं धर्मवञ्चना ? ॥ ३४ ॥

द्रोणः—कथं धर्मवञ्चनेति। तावद् भो गान्धारविषयविस्मित ! शकुने !! त्वदनार्यभावात् सर्वलोकमनार्यमिति मन्यसे। हन्त भोः !

प्रदाय तान्सुखयिष्यति तदाऽहं लब्धदक्षिणं प्राप्तभिक्षं चात्मानमवेक्ष्यामीति भावः। इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ३३ ॥

सोद्वेगम्—आवेगसहितम्, आवेगश्च पाण्डवेभ्यो राज्यप्रदानस्यासह्यतया। मा तावत् द्रोणवाक्यमन्वमानीति शेषः।

उपन्यस्तस्येति—उपन्यस्तस्य दक्षिणादानोपन्यासं कृतवतः गौरवे भवता गुरुत्वे विश्वस्तस्य कृतदृढप्रत्ययस्य च शिष्यस्य आत्मविनेयस्य यज्ञप्रस्तुतम् यागरूपप्रस्तावम् उत्पाद्य कल्पयित्वा इयं प्राप्तकाला धर्मवञ्चना धर्माचरणव्याजेन छलम् युक्ता ? काक्वा तादृशच्छलस्यायुक्तता बोध्यते। यो भवति गुरुत्वप्रयुक्तं विश्वासं बिभर्त्ति यश्च दक्षिणां दातुमुद्यतस्तस्य स्वशिष्यस्य यज्ञप्रस्तावे वञ्चना नितान्तमनुपयुक्तेति भावः। यज्ञमिषेण स्वशिष्यस्त्वया वञ्च्यत इति न युक्तमिति शेषः ॥ ३४ ॥

कथं धर्मवञ्चनेति—त्वयोक्तं धर्मवञ्चनेत्ययुक्तं तथाशयाभावादित्यर्थः। गान्धारविषयविस्मित गान्धारदेशाधिपत्यप्राप्त्या गर्वोद्धत ! शकुने, त्वदनार्यभावात् तव दौर्जन्यात्। सर्वलोकमनार्यमिति मन्यसे—यथा त्वमनार्योऽसि तथैव परानप्यनार्यानुत्प्रेक्षसे, नैतदुपपन्नमिति भावः।

शकुनि—(घबड़ाकर) नहीं जी, नहीं,

जिस शिष्यने तुम्हारे गुरुत्व पर विश्वास करके दक्षिणा देनेका सङ्कल्प किया है, क्या यह उचित है कि यज्ञरूप प्रस्ताव उपस्थित करके उसे धार्मिक वञ्चना द्वारा ठगा जाय ? ॥ ३४ ॥

द्रोण—धर्मवञ्चना कैसी ? ए गान्धार देशके राज्यको प्राप्तकरके गर्व करनेवाले शकुनि, तुम खुद अनार्य हो, अतः संसारको अनार्य समझते हो। खेद !

भ्रातृणां पैतृकं राज्यं दीयतामिति वञ्चना ।
किं परं याचितैर्दत्तं बलात्कारेण तैर्हृतम् ॥ ३५ ॥

सर्वे—कथं बलात्कारेण नाम ।

भीष्मः—पौत्र ! दुर्योधन ! ! अवभृथस्नानमात्रमेव खलु तावत् । मित्रमुखस्य शत्रोः शकुनेर्वचनं न श्रोतव्यम् । पश्य पौत्र !

यत् पाण्डवा द्रुपदराजसुतासहायाः
कान्ताररेणुपरुषाः पृथिवीं भ्रमन्ति ।

भ्रातृणामिति—भ्रातृणां समानवंशजानां पाण्डवानां पैतृकं पित्रंशभुतं राज्यं दीयतामिति वञ्चना छलम् ? नैतच्छलं, तद्राज्यदानस्यौचित्यान्नैषा वञ्चनेति भावः । याचितैर्मया ब्राह्मणेनाचार्येण च प्रार्थितैर्भवद्भिर्दत्तम्, बलात्कारेण बलप्रयोगेण वा तैः पाण्डवैः हृतम्, अनयोः किं परम् उत्कृष्टम् ? मत्प्रार्थनया दीयते, युध्यमानैर्वा पाण्डवैर्ह्रियते, किमनयोः श्रेष्ठं स्यादिति विचारेऽवश्यमेव भवतापि पूर्व एव पक्षः श्रेष्ठो मन्तव्यस्तत्र वञ्चनात्वबुद्धिरतीवायुक्तेति भावः ॥३५॥

कथं बलात्कारेण पाण्डवा राज्यार्धं हरिष्यन्तीति सर्वेषां भीष्मद्रोणातिरिक्तानां गर्वोक्तिः ।

अवभृथस्नानमेव—इदं यज्ञान्तस्नानं, न द्यूतं तदत्र शकुनेर्वचनं विहायाचार्यवचनमादरणीयमिति भावः । मित्रमुखस्य शत्रोः कपटमित्रस्य ।

यत्पाण्डवा इति—यत् द्रुपदराजसुतासहायाः द्रौपदीसहिताः पाण्डवाः युधिष्ठिरादयः पञ्चापि पाण्डुपुत्राः कान्ताररेणुपरुषाः वनधूलिधूसराः सन्तः पृथिवीं

'अपने भाइयों को उनका पैतृक राज्य लौटा दो' यह कहना प्रवञ्चना कैसे हुई ? मांगने से राज्य देना अच्छा होगा या यह अच्छा होगा कि वे बलपूर्वक राज्य छीन लें ? ॥ ३५ ॥

सब—बलात्कारसे क्यों ?

भीष्म—पौत्र दुर्योधन, तुमने अभी-अभी यज्ञान्तस्नान किया है, इस नामके मित्र परन्तु वास्तवमें शत्रुस्वरूप शकुनि की बातपर विश्वास मत करना । देखो पौत्र,

पाण्डवगण द्रौपदीके साथ जङ्गलकी धूलसे धूसर बने हुए जो सारी पृथ्वीपर

यत्त्वं च तेषु विमुखस्त्वयि ते च वामा-
स्तत् सर्वमेव शकुनेः परुषावलेपः ॥ ३६ ॥

दुर्योधनः—भवतु, एवं तावदाचार्य ! पृच्छामि ।

द्रोणः—पुत्र ! कथय ।

दुर्योधनः—

यत् पुरा ते सभामध्ये राज्ये माने च धर्षिताः ।
बलात्कारसमर्थैस्तैः किं रोषो धारितस्तदा ॥ ३७ ॥

द्रोणः—अत्रेदानीं धर्मच्छलेन वञ्चितो द्यूताश्रयवृत्तिर्युधिष्ठिरः प्रष्टव्यः,

---

भ्रमन्ति जगतीं पर्यटन्ति, यत् च त्वं तेषु पाण्डवेषु विमुखः पराङ्मुखः, तत् सर्वम् एव शकुनेः परुषः रूक्षः अवलेपः गर्वः । एतद्रूक्षगर्ववशादेव तव पारुष्यं पाण्डवानां चेयं हीना दशा, तदधुनापि शकुनिवचनास्थया पाण्डवेषु कठोरहृदयो माभूरिति भावः ॥ ३६ ॥

यत्पुरेति—पुरा द्यूतकाले सभामध्ये द्यूतसभायाम् राज्ये राज्यापहारे माने सकलजनसमक्षं पत्न्याः केशाम्बराकर्षणादिना प्रतिष्ठायां च धर्षिताः अपमानिताः तदा तस्मिन्कोपोपयुक्ते समये बलात्कारसमर्थैः बलप्रयोगदक्षैः तैः रोषः कोपः किं किमर्थं धारितः, यदि ते समर्था अभविष्यंस्तदा तस्मिन् राज्यस्य मानस्यापि चापहारस्य समये न तूष्णीमस्थास्यन्नेतेन तेषां वीर्यराहित्यं प्रमापितमिति भावः ॥३७॥

अत्र—पाण्डवानां बलाबलभावे । धर्मच्छलेन सत्यवचनपालनाग्रहेण । वञ्चितः प्रतारितः । **द्यूताश्रयव्यसनी**—अक्षक्रीडारसिकः । पाण्डवा युधिष्ठिरानुरोधेन क्रोधं

घूम रहे हैं, तुम उनसे विमुख हो, और वे तुमसे विमुख हैं, यह सारा अनर्थ शकुनिके क्रूर आचरण द्वारा ही उपस्थित हुआ है ॥ ३६ ॥

दुर्योधन—अच्छा, गुरुदेव, मैं आपसे पूछता हूँ ।

द्रोण—पूछो बेटा,

दुर्योधन – यदि पाण्डव बलात्कार में समर्थ थे तो जब हमने द्यूतसभामें उनके राज्य तथा मानका अपहरण करके उन्हें अपमानित किया था, उस समय उन्होंने अपना रोष क्यों छिपा लिया, क्यों न बल प्रदर्शित किया ? ॥ ३७ ॥

द्रोण—इस विषयमें धर्मके छलसे ठगे गये एवं द्यूतव्यसनी युधिष्ठिर से पूछो ।

येन भीमः सभास्तम्भं तोलयन्नेव वारितः ।
यद्येकस्मिन् विमुक्तः स्यान्नास्माञ्छकुनिराक्षिपेत् ॥ ३८ ॥

भीष्मः—अन्यत् प्रस्तुतमन्यदापतितम् । भो आचार्य ! कार्यमत्र गुरुतरं, न कलहः ।

द्रोणः—माऽत्र कर्दनं कार्यं, कलह एव भवतु ।

भीष्मः—प्रसीदत्वाचार्यः । पश्य पौत्र !

निरुध्य स्थिताः नतु स्वीयासामर्थ्येनेति भावः ।

येनेति—येन युधिष्ठिरेण भीमः सभास्तम्भं सभागृहस्तम्भसमुदायम् तोलयन् मिमानः एतेन स्तम्भेन एतेन वा स्तम्भेन प्रहारमाचराणीति परीक्षमाण एव वारितः, (स युधिष्ठिरोऽत्र बलाबलविषये प्रष्टव्य इति पूर्वेणान्वयः) यदि एकस्मिन् द्यूतसभासंरम्भे (भीमः) युधिष्ठिरेण विमुक्तः स्वेच्छया व्यवहर्त्तुमाज्ञप्तः स्यात् तदा शकुनिः (इदानीम्) अस्मान् न आक्षिपेत् , शकुन्यादीनां सर्वेषां तदैव भीमेन हननात् सम्प्रति शकुनिरस्मानधिक्षेप्तुं नावसरं लभेतेति भावः ॥ ३८ ॥

प्रस्तुतम्—प्रक्रान्तम् । आपतितम्-जातम् , दुर्योधनमनुनीय पाण्डवेभ्यो राज्यार्धदापनं विचारितम् , तत्स्थाने द्रोणदुर्योधनयोः विरोध आपतित इति भावः ।

कार्यम्—पाण्डवराज्यप्रदापनम् । कलहः-शिष्यविरोधः ।

कर्दनम्—भिक्षारूपतया राज्यप्रदानम् दैन्यपूर्वकं राज्ययाच्ञेति भावः । कलह एव भवतु-न्याययुद्धमेव जायतामिति द्रोणस्य गर्वोक्तिः क्रोधसूचिका ।

जिनके इशारेसे सभाके स्तम्भोंको अजमानेवाला भीम रुक गया, भीम सभाके स्तम्भोंसे ही तुम लोगोंपर प्रहार करना चाह रहा था, परन्तु युधिष्ठिरने उसे रोक लिया, यदि वह केवल उसी कार्यमें भीमको छोड़ देते तो आज शकुनि हम लोगोंपर आक्षेप करनेके लिये बचे न रहते ॥ ३८ ॥

भीष्म—कहाँ की बात कहाँ आ पड़ी ? आचार्य, कार्य प्रधान है, झगड़ना लक्ष्य नहीं है ।

द्रोण—यहाँ दीनता दिखलाना ठीक नहीं है, कलह ही ठीक है ।

भीष्म—क्षमा करो आचार्य महाराज, देखो पौत्र,

ये दुर्बलाश्च कृपणाश्च निराश्रयाश्च
त्वत्तश्च साम मृगयन्ति न गर्वयन्ति ।
ज्येष्ठो भवान् प्रणयिनस्त्वयि ते कुटुम्बे
तान् धारयिष्यसि मृगैः सह वर्तयन्तु ॥ ३९ ॥

शकुनिः—वर्तयन्तु वर्तयन्तु ।

कर्णः—भो आचार्य ! अलममर्षेण । दुर्योधनो हि नाम,

हितमपि परुषार्थं रुष्यति श्राव्यमाणो
वरपुरुषविशेषं नेच्छति स्तूयमानम् ।

ये दुर्बलाश्चेति—ये पाण्डवाः दुर्बलाः बलहीनाः कृपणाः दैन्यवन्तश्च सन्तः त्वत्तः त्वया साम सान्त्वनम् मृगयन्ति कामयन्ते न च गर्वयन्ति अभिमन्यन्ते, ज्येष्ठो भवान् त्वं तेभ्यो वयसाऽधिकः, ते च त्वयि प्रणयिनः सस्नेहाः । (तेन) तान् पाण्डवान् कुटुम्बे परिवारे धारयिष्यसि अन्तर्भाव्य पालयिष्यसि ? (अथवा) ते पाण्डवाः मृगैः सह वर्त्तयन्तु यावज्जीवनं हरिणैः सह वासं लब्ध्वा वने तिष्ठन्तु । अनयोः कतरदुपयुक्तं स्यात् ? ये पाण्डवा बलहीनाः त्वत्सकाशात् सामयाचकाः त्वदपेक्षया लघुवयसश्च ते भ्रातरस्तेभ्यो जीविकासाधनप्रदानं युक्तमथवा तदुपेक्षणं युक्तमिति त्वमेव विभाव्य पश्येति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३९ ॥

वर्त्तयन्तु—मृगैः सहैव सदा वने तिष्ठन्तु, इदं दुर्योधनं प्रति शकुनिदुरुपदेशनम् । अलममर्षेण–क्रोधं मा कुरु ।

हितमपीति—(दुर्योधनः) परुषार्थम् निष्ठुराभिधेयम् कठोरम् हितम् परिणामशुभङ्करमपि श्राव्यमाणः उच्यमानः सन् रुष्यति क्रुध्यति । हितमप्यप्रियं

जो पाण्डव निर्बल हैं, दुखी, निराश्रय हैं, जो तेरे साथ साम ही चाहते हैं, कभी गर्व नहीं करते, तुम उनसे बड़े हो, वे तुम्हारे ऊपर प्रेम रखते हैं, इस स्थितिमें तुम उन्हें अपने परिवारमें शरण दोगे या वे वनमें मृगोंके साथ घूमा करेंगे ॥ ३९ ॥

शकुनिः—वनमें मृगोंके साथ रहें, रहें ।

कर्ण—आचार्य, आप क्रोध न करें,

दुर्योधन कठोर शब्दों में कहे गये हितकर वाक्यों को भी सुनकर कोप कर बैठता है, वह अतिमानी होनेपर दूसरे पुरुषकी प्रशंसा नहीं सुन सकता है ।

गतमिदमवसानं रक्ष्यतां शिष्यकार्यं
गज इव बहुदोषो मार्दवेनैव बाह्यः ॥ ४० ॥

द्रोणः—वत्स ! कर्ण !! तेजस्वि ब्राह्मण्यम् । काले सम्बोधितोऽस्मि । एषोऽहं भवच्छन्दमनुवर्ते । पुत्र ! दुर्योधन !! अहं तव प्रभावी ननु ।

सोढुं न क्षमते इति भावः । वरपुरुषविशेषम् कस्यापि श्रेष्ठस्य पुंसो गुणातिशयं कश्चन श्रेष्ठं पुमांसमेव वा स्तूयमानं प्रशस्यमानं नेच्छति, कस्यापि प्रशंसां न श्रोतुं शक्नोतीति भावः । इदम् अवसानं गतं समाप्तम् शिष्यकार्यं यज्ञसम्पादनात्मकं दुर्योधनस्य कृत्यम् रक्ष्यताम् दक्षिणाग्रहणेन समग्रतां नीयताम्, (अयं हि दुर्योधनः) बहुदोषः नानाविधदोषयुक्तः गज इव करीव मार्दवेन सामप्रयोगेणैव बाह्यः कार्यसमाप्तिं गमनीयः । अस्य दुर्योधनस्य स्वभाव एवासहिष्णुस्तद् भवान् शान्तिमवलम्ब्य यज्ञसमाप्तिसाधनं दक्षिणाग्रहणं करोतु, यथा करी सामद्वारैव समीहितस्थानं नीयते, तथैवायमपि सामप्रयोगद्वारैव यज्ञान्तं नीयताम् । उपमालङ्कारः, मालिनीवृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः, इति तल्लक्षणम् ॥ ४० ॥

तेजस्वि—उग्रस्वभावम् । ब्राह्मण्यम्-विप्रत्वम् । ब्राह्मणा हि तेजस्विस्वभावाः भवन्तीति मया तथोक्तमिति भावः । काले उपयुक्तसमये । सम्बोधितः यथार्थविषये ज्ञापितोऽस्मि । भवच्छन्दम्—त्वदीयमभिप्रायम् । अनुवर्ते-अनुसरामि । एषः-द्रोणः । मार्गेण-उपयुक्तप्रकारेण । आरब्धः-कार्यं प्रति प्रवृत्तः । प्रभावी-महत्तरः श्रेष्ठः, त्वयाहं पूज्यः । सान्त्वम्-सामप्रयोगः । दुर्विनीतानाम्-अविनयानाम् । औषधम्-शमनम् । दुर्विनीता हि साम्नैव साध्यन्ते, तदयमुचितो द्रोणस्यो-

---

यह बात समाप्त हो चुकी है, अब आप अपने शिष्य पाण्डवों का कार्य सिद्ध कीजिये, जैसे मतवाले हाथी को फुसलाकर वश में किया जाता है उसी तरह इस दुर्योधन को भी मृदुता से ही मनाइये, झगड़ने से क्या लाभ है ? ॥ ४० ॥

द्रोण—वत्स कर्ण, ब्राह्मण तेजस्वी होते हैं, तुमने समयपर स्मरण दिलाया है, मैं तुम्हारी ही इच्छाका अनुसरण करूंगा । बेटा दुर्योधन, क्या मेरा तुझपर कुछ अधिकार है ?

भीष्मः—एष इदानीं मार्गेणारब्धः। सान्त्वं हि नाम दुर्विनीतानामौषधम् ।
दुर्योधनः—न ममैव, कुलस्यापि मे भवान् प्रभुः ।
द्रोणः—एतत् तवैव युक्तम् । तत् पुत्र !

त्वं वञ्च्यसे यदि मया न तवात्र दोष-
स्त्वां पीडयामि यदि वास्तु तवैष लाभः ।
भेदाः परस्परगता हि महाकुलानां
धर्माधिकारवचनेषु शमीभवन्ति ॥ ४१ ॥

दुर्योधनः—तेन हि समर्थयितुमिच्छामि ।

पक्रम इति । न ममैव न केवलं मम, कुलस्यापि–वंशस्यापि । भवान् प्रभुः, अनुशासनाधिकृतः, तदहं तव प्रभावीति तव कथनं युज्यत एवेत्याशयः ।

एतत्—एतादृशं तव कथनम् ।

त्वं वञ्च्यस इति—यदि त्वं मया वञ्च्यसे प्रतार्यसे अत्र तव दोषः अपराधः न, शिष्यवञ्चनकलङ्को मामेव दूषयेन्नतु त्वामिति भावः । यदि वा त्वां पीडयामि हठात् दक्षिणारूपेण राज्यार्धं पाण्डवेभ्यो दापयामि तदा एषः तवैव लाभः इष्टसम्पत्तिः, भ्रातृसंविभागस्य गुरुवचनानुष्ठानस्य यज्ञदक्षिणाप्रतिग्रहस्य च सहैव सम्पादनादिति भावः । महाकुलानां प्रशस्तवंशोद्भवानां त्वादृशानां परस्परगताः अन्योन्यविषयाः भेदाः धर्माधिकारवचनेषु धर्मोपदेशाधिकृतमादृशगुरुजनवचनेषु शमीभवन्ति शान्तिरूपतां गच्छन्ति भवादृशमहाकुलानां बान्धवविग्रहो गुरुजनोपदेशैरेवमेव शाम्यन्तीति तात्पर्यम् । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ४१ ॥

समर्थयितुम्—अनुमोदनं कारयितुम् । स्वसहायानां सम्मतिं प्राप्तुमित्यर्थः ।

भीष्म—अब यह रास्ते पर चल रहे हैं, दुर्विनीतों की दवा साम-प्रयोग ही है।

दुर्योधन—केवल मुझ पर ही क्यों, हमारे कुल पर आपका अधिकार है ।

द्रोण—यह वचन तुम्हारे ही लायक है, बेटा ।

यदि मैं तुम्हें ठगूँगा तो इसमें तुम्हारा दोष नहीं होगा (संसार मुझे ही दोषी कहेगा), यदि मैं दक्षिणा देने में तुम्हें पीड़ित करता हूँ तो इसमें प्रतिज्ञापालनरूप तुम्हारा ही लाभ है, महाकुलप्रसूत जनों का पारस्परिक विरोध गुरुजनों के वचनों से शान्त हो जाया करता है ॥ ४१ ॥

दुर्योधन—मैं इस पर सम्मति प्राप्त करना चाहता हूँ ।

द्रोणः—पुत्र ! केन समर्थयितुमिच्छसि ?

भीष्मेण कर्णेन कृपेण केन किं सिन्धुराजेन जयद्रथेन ।
किं द्रौणिनाऽऽहो विदुरेण सार्धं पित्रा स्वमात्रा वद पुत्र ! केन ॥४२॥

दुर्योधनः—नहि नहि, मातुलेन ।

द्रोणः—किं शकुनिना ? (स्वगतम्) हन्त ! विपन्नं कार्यम् ।

दुर्योधनः—मातुल ! इतस्तावत् । वयस्य ! कर्ण !! इतस्तावत् ।

द्रोणः—(आत्मगतम्) भवतु, एवं तावत् करिष्ये । (प्रकाशम्) वत्स ! गान्धारराज !! इतस्तावत् ।

शकुनिः—अयमस्मि ।

भीष्मेणेति—केन समर्थयितुमिच्छसि ? भीष्मकर्णकृपजयद्रथानां केन राज्यार्धप्रदानमनुमोद्यमानमिच्छसीति पूर्वार्द्धार्थः । द्रौणिना-अश्वत्थाम्ना । सार्धं सह । विदुरः-प्रसिद्धः, तदेषां केन समर्थ्यमानमिच्छसि मदनुरोधमिति द्रोणस्याशयः ॥ ४२ ॥

मातुलेन—मातुर्भ्रात्रा शकुनिना । समर्थयितुमिच्छामीति शेषः । विपन्नम्-नष्टम् । दुरभिसन्धेः शकुनेः प्रतीक्षायां तेनावश्यं कार्यस्य विनाश्यत्वादित्याशयः ।

द्रोण—बेटा, किसकी सम्मति लेना चाहते हो ?

भीष्मकी, कृपाचार्यकी, सिन्धुराज जयद्रथकी, अश्वत्थामाकी, विदुरकी, अपने माता-पिताकी या किसी अन्य जनकी, बताओ किसकी सम्मति चाहते हो ? ॥ ४२ ॥

दुर्योधन—नहीं, मामा की सम्मति चाहता हूँ ।

द्रोण—क्या शकुनिकी सम्मति चाहते हो ? (स्वगत) हाय सारा काम बिगड़ गया ।

दुर्योधन—मामाजी, जरा इधर आइये, मित्र कर्ण, तुम भी जरा इधर आओ ।

द्रोण—(स्वगत) अच्छा, तबतक ऐसा करता हूँ । (प्रकाश) वत्स गान्धारराज, इधर तो आओ ।

शकुनि—यह आया ।

द्रोणः—वत्स !

क्रोधप्रायं वयो जीर्णं क्षन्तव्यं बटुचापलम्।
अस्य रूक्षस्य वचसः परिष्वङ्गः शमीक्रिया ॥ ४३ ॥

भीष्मः—(आत्मगतम्)

एष शिष्यस्य वात्सल्याच्छकुनिं याचते गुरुः।
एवं सान्त्वीकृतोऽप्येष नैव मुञ्चति जिह्मताम् ॥ ४४ ॥

शकुनिः—(आत्मगतम्) अहो शठः खल्वाचार्यः, स्वकार्यलोभान्मां सान्त्वयति।

क्रोधप्रायमिति—जीर्णं जराग्रस्तं वयः अवस्था वार्धक्यं क्रोधप्रायं कोपबहुलं भवतीति शेषः। तत् बटुचापलम् बालोचितं चाञ्चल्यम् रूक्षभाषणात्मकम् क्षन्तव्यम्। वृद्धा बाला इव चपलस्वभावा भवन्ति, तन्मर्षणीयं मदीयं चापल्यमिति भावः। अस्य पूर्वोक्तस्य मम रूक्षस्य नीरसस्य वचसः परिष्वङ्गः आलिङ्गनम् एव शमीक्रिया शान्तिसाधनं भवतीति शेषः। अतो मया यदुक्तं रूक्षं तच्छमनाय मामालिङ्गेति भावः ॥ ४३ ॥

एष शिष्यस्येति—एषः गुरुः द्रोणाचार्यः शिष्यस्य वात्सल्यात् शिष्यस्नेहात् हेतोः शकुनिं याचते। पाण्डवेषु स्नेहातिशयात् द्वेष्यभूतमपि शकुनिमुपश्लोकयतीत्यर्थः। एवम् सामप्रयोगेण सान्त्वीकृतः अनुनीतोऽपि एषः शकुनिः जिह्मताम् स्वां कुटिलतां नैव मुञ्चति नैव त्यजति। द्रोणाचार्येणानुनीयमानस्यापि शकुनेः कौटिल्यं न शान्तिमेष्यतीति पितामहस्य विश्वासोऽत्र व्यज्यते ॥ ४४ ॥

शठः वञ्चकः—स्वकार्यलोभात्-स्वीयकार्यसाधनव्यग्रत्वात्।

द्रोण—बुढ़ापेमें क्रोध अधिक होता है, इसलिये मैंने बच्चोंकी तरह कठोर वचन कह दिये, उस पर ध्यान मत देना। उस कटु वचनकी दवा यही है कि मैं तुम्हें गले लगा लूँ॥ ४३ ॥

भीष्म—(स्वगत) यह गुरुदेव, शिष्य पाण्डवोंके प्रति प्रेम होनेसे शकुनिको मना रहे हैं। परन्तु यह इस प्रकार मनाये जानेपर भी अपनी कुटिलता नहीं छोड़ता है ॥ ४४ ॥

शकुनि—(स्वगत) अरे, आचार्य तो बड़ा धूर्त्त है ! अपने कामके लिये मुझे मना रहा है।

(सर्वे परिक्रम्योपविशन्ति ।)

दुर्योधनः—मातुल ! पाण्डवानां राज्यार्धं प्रति को निश्चयः ?

शकुनिः—न दातव्यमिति मे निश्चयः ।

दुर्योधनः—दातव्यमिति वक्तुमर्हति मातुलः ।

शकुनिः—यदि दातव्ये राज्ये किमस्माभिः सह मन्त्रयसे । ननु सर्वमेव प्रदीयताम् ।

दुर्योधनः—वयस्य ! अङ्गराज !! भवानिदानीं न किञ्चिदाह ।

कर्णः—इदानीं किमभिधास्यामि,

रामेण भुक्तां परिपालितां च सुभ्रातृतां न प्रतिषेधयामि ।

को निश्चयः—किं तव मतम् ?

दातव्यमिति वक्तुमर्हति— भवतात्र विषये साधनसम्मतिर्दातुमुचिता न बाधा-विमतिः, कार्यस्यावश्यानुष्ठेयत्वादिति दुर्योधनानुरोधः । दातव्ये राज्ये—राज्यं दातुं त्वया निश्चये कृते सति । मन्त्रयसे—विचारविनिमयं करोषि, निर्णयस्य प्रागेव कृतत्वे विचारो व्यर्थ इति भावः । सर्वमेव प्रदीयताम्—राज्यार्धं यदि निश्चितं दातुं, तत्र मदनुमतिर्न गृहीता तर्हि मदनुमतिविरहसामान्यात्सर्वमपि राज्यं दातुमर्हसीति शकुनेरनभिमतिप्रकाशोक्तिः ।

वयस्य—मित्र ! अङ्गराज-अङ्गाख्यदेशशासक कर्ण इदानीम्-अस्मिन् प्रसङ्गे न किञ्चिदाह, युक्तं तु त्वया स्वाभिमतं प्रकाशयितुमिति भावः ।

रामेणेति—रामेण दाशरथिना भुक्ताम् अनुभूताम् परिपालिताम् सर्वा·

(सभी घूमकर बैठते हैं)

दुर्योधन—मामाजी, पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके विषय में आपका क्या विचार है ?

शकुनि—'नहीं देना चाहिये' यही मेरा निश्चित विचार है ।

दुर्योधन—मामाजी, आपको कहना चाहिये कि 'देना उचित है' ।

शकुनि—यदि राज्य देना ही है तो फिर हम लोगोंसे क्यों परामर्श करते हो ? पूरा राज्य दे डालो ।

दुर्योधन—वयस्य कर्ण, आप इस समय कुछ नहीं कहते हैं ?

कर्ण—इस समय मैं क्या कहूँ ?

भगवान् रामने जिस सौभ्रात्रका अनुभव तथा पालन किया, मैं उसका निषेध

क्षमाक्षमत्वे तु भवान् प्रमाणं सङ्ग्रामकालेषु वयं सहायाः ॥ ४५ ॥

दुर्योधनः—मातुल ! बलवत्प्रत्यमित्रोऽनुपजीव्यश्च कश्चित् कुदेशश्चिन्त्यताम् । तत्र वसेयुः पाण्डवाः ।

शकुनिः—हन्त भोः !

शून्यमित्यभिधास्यामि कः पार्थाद् बलवत्तरः ?

त्मना रक्षितां च सुभ्रातृताम् सौभ्रातृभावम् न प्रतिषेधयामि नैव निवारयामि, क्षमाक्षमत्वे राज्यार्धप्रदानस्य युक्तायुक्तत्वविषये तु भवान् प्रमाणम् निर्णयाधिकारी, वयं तव मित्राणि संग्रामकालेषु युद्धावसरेषु सहायाः सपक्षभूताः । भ्रातृप्रेमादर्शो रामेण स्थापितः, तमहं न निन्दामि, राज्यं दीयतां न वेति त्वद्विचाराधीननिर्णयं, कुतोऽपि कारणादुपस्थिते युद्धेऽहं तव पक्षमवलम्बिष्ये इति । एतेन युद्धभयाद्राज्यं न देयं, विचारेण यदि दीयते नाहं तत्र निषेद्धेति भावः ॥ ४५ ॥

बलवत्प्रत्यमित्रः—बलवद्भिः शत्रुभिर्युक्तः, अनुपजीव्यः सस्यसम्पदभूमितया वस्तुमयोग्यः । तादृश एव कुत्सितो देशभेदः पाण्डवेभ्यो दीयतां येन दक्षिणापि दत्ता भवति, पाण्डवाश्चापि नोपकारं लभन्ते इति दुर्योधनस्य द्रोणशकुन्युभयानुनयोपयुक्तं वचनम् ।

शून्यमिति—शून्यम् अभावग्रस्तम् अप्रसिद्धम् इति अभिधास्यामि कथयिष्यामि, त्वया बलवत्प्रत्यमित्रोऽनुपजीव्यश्च देशश्चिन्त्यताम् इति कृतस्यानुरोधस्योत्तरे शून्यमित्यभिधास्यामि, तादृशो देशोऽप्रसिद्ध इत्युत्तरं दास्यामि, यतः (बलवत्प्रत्यमित्रता न संभवति) कः पार्थात् तृतीयपाण्डवात् बलवत्तरः समधिकबलः ? पार्थापेक्षया समधिकबलस्य पुरुषान्तरस्याप्रसिद्धतया बलवत्प्रत्यमित्रता न संभवतीति भावः, एवमेवानुपजीव्यताऽपि नोपपद्यते युधिष्ठिरेण पादन्यासमात्रे कृते कस्यापि देशस्य सस्यसमृद्धिसम्भवात् , धर्ममूर्तेर्युधिष्ठिरस्य

नहीं करता हूँ, राज्य देना चाहिये या नहीं इस विषयमें आपका अधिकार है, युद्ध छिड़ जानेपर हम आपकी सहायता करेंगे ॥ ४५ ॥

दुर्योधन—बलवान् शत्रुओंसे युक्त तथा ऊसर कोई देश ढूँढो, वहीं पाण्डव रहें ।

शकुनि—इस सम्बन्धमें यही कहना होगा कि ऐसा कोई देश नहीं है, क्योंकि

ऊषरेष्वपि सस्यं स्याद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ४६ ॥

दुर्योधनः—अथेदानीं,

गुरुकरतलमध्ये तोयमावर्जितं मे
श्रुतमिह कुलवृद्धैर्यत् प्रमाणं पृथिव्याम् ।
तदिदमपनयो वा वञ्चना वा यथा वा
भवतु नृप ! जलं तत् सत्यमिच्छामि कर्तुम् ॥ ४७ ॥

शकुनिः—अनृतवचनान्मोचयितव्यो भवान् ननु ?

स्वामित्वमात्रेण कस्यापि देशस्योषरत्वाप्रसिद्धेः, तदाह—ऊषरेष्वपि सस्यमिति ऊषरेषु क्षारमृत्तिकाशालिष्वपि क्षेत्रेषु सस्यं धान्यराशिर्जायेत, यत्र युधिष्ठिरो राजा स्यादिति, अतः कोऽपि देशः पाण्डवानां कृते न बलवत्प्रत्यमित्रो न वोषरस्तेन कोऽपि देशस्तेभ्यो न देयः, कस्मिंश्चिदपि देशे दीयमाने तेषां प्रभावातिशयात्स्यादेवोन्नतिरिति मूलमेवच्छेत्तव्यमिति भावः ॥ ४६ ॥

गुरुकरतलेति—गुरुकरतलमध्ये आचार्यस्य पाणितले तोयम् दानजलम् आवर्जितम् दत्तम् , इह मे मम कुलवृद्धैः भीष्मादिभिः श्रुतम् दानजलदानविषये आकर्णितम् , यत् जलदानं पृथिव्यां प्रमाणम् दानस्य सत्यतायां व्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः । तत् तस्मात् इदं जलप्रदानात्मकं कर्म अपनयः अनीतिर्वा वञ्चना द्रोणकृताऽस्मत्प्रतारणा यथा वा अन्य एव वा कोप्यनर्थो भवतु जायताम् , नृप शकुनिनामक गान्धारराज, तत् जलं सत्यं कर्तुमिच्छामि, यद्वा तद्वा भवतु, गुरुकरतले दीयमानस्य जलस्य सत्यतां साधयितुमिच्छता मया राज्यं विभज्य देयमेवेति भावः । मालिनीवृत्तमेतत् ॥ ४७ ॥

अनृतवचनात्—असत्यभाषणात् । मोचयितव्यः—परिहापनीयः, यथाकथंचित् त्वदीयं वचनं सत्यं करणीयमेवेत्यर्थः ।

पार्थसे बढ़कर कोई बलवान् नहीं है, और जहाँ युधिष्ठिर राजा होंगे, वहाँ तो ऊसर भी उपजाऊ हो जायगा ॥ ४६ ॥

दुर्योधन—अच्छा तो अब,

मैंने गुरुदेवके हाथमें जल छोड़ दिया है, वह दानका प्रमाण है ऐसा कुलवृद्धोंने शास्त्रोंसे जाना है तथा मैंने उनसे सुना है, इसलिये हे राजन् , चाहे यह अनीति हो या ठगी हो, मैं इस दानजलको सच्चा करना ही चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

शकुनि—क्या आप मिथ्याभाषणसे मुक्त होना चाहते हैं ?

दुर्योधनः—अथ किम् ।

शकुनिः—तेन हीतस्तावत् । (उपसृत्य) भो आचार्य ! इहात्रभवान् कुरुराजो भवन्तं विज्ञापयति ।

द्रोणः—वत्स ! गान्धारराज !! अभिधीयताम् ।

शकुनिः—यदि पञ्चरात्रेण पाण्डवानां प्रवृत्तिरुपनेतव्या, राज्यस्यार्धं प्रदास्यति किल । समानयतु भवानिदानीम् ।

द्रोणः—मा तावद् भोः ।

ये कर्तुकामैश्छलनं भवद्भिः संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टाः ।
ते पञ्चरात्रेण मयोपनेया वरं ह्यदत्तं विशदाक्षरेण ॥ ४८ ॥

इतस्तावत्—इहागच्छ, राज्यमपि न दीयते, सत्यं च पालितं भवति, तादृश उपायो मयोच्यमान आलम्ब्यताम् इति दुरभिसन्धिसूचनम् ।

पञ्चरात्रेण—रात्रिपञ्चकेन । पाण्डवानाम् अज्ञातवासिनाम् युधिष्ठिरादीनाम् प्रवृत्तिः वार्ता, उपनेतव्या समानीयते । यदि पञ्चभी रात्रिभिर्भवन्तः पाण्डवानां प्रवृत्तिमानीय दास्यन्ति तदा तेभ्यो राज्यार्धं दातुमङ्गीकरोमीत्यर्थः ।

ये कर्त्तुकामैरिति—ये पाण्डवाः छलनं प्रतारणां कर्त्तुकामैः विधातुमीहमानैः भवद्भिः सर्वविधसाधनसम्पन्नैरपि भवद्भिः सर्वैः संवत्सरैर्द्वादशभिः द्वादशभिः वर्षैः न दृष्टाः न साक्षात्कृताः, ते एव पाण्डवा मया ब्राह्मणेनासहायेन पञ्चरात्रेण एतावता स्वल्पकालेन उपनेयाः अन्विष्योपलब्धव्याः । एतस्य प्रपञ्चस्य वरप्रदानवैमुख्यमेव तात्पर्यम् , तदाह—वरमिति० भवता हि विशदा-

---

दुर्योधन—और क्या ?

शकुनि—अच्छा तो इधर आइये । (द्रोणके पास जाकर) आचार्य, कुरुराज आपसे निवेदन करते हैं ।

द्रोण—वत्स गान्धारराज, कहिये ।

शकुनि—यदि आप पाँच रात्रियोंके भीतर पाण्डवोंका पता लगा दें, तो वह पाण्डवोंको आधा राज्य दे देंगे । अब आप पता लगाइये ।

द्रोण—नहीं जी, यह नहीं होगा,

छल करनेकी कामनासे निरन्तर बारह वर्षों तक खोज करके आप लोग जिनका पता नहीं लगा सके, पाँच रातोंमें मैं उनका पता लगा दूँ , स्पष्ट शब्दोंमें यही कह दीजिये कि दक्षिणा नहीं देनी है ॥ ४८ ॥

भीष्मः—पौत्र ! दुर्योधन !! अच्छलो धर्मः । वयमपि तावदस्मिन्नर्थे प्रीताः स्मः । पश्य पौत्र !

वर्षेण वा वर्षशतेन तेषां त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागम् ।
तस्मात् प्रतिज्ञां कुरु वीर ! सत्यां सत्या प्रतिज्ञा हि सदा कुरूणाम् ॥

दुर्योधनः—एष एव मे निश्चयः ।

द्रोणः—(आत्मगतम्)

अद्य मे कार्यलोभेन हनूमत्त्वं गता स्पृहा ।

क्षरेण स्फुटेन शब्देन वरमदत्तमित्येवाभिप्रायोऽस्या भवदुक्तेरित्यर्थः । उपजातिवृत्तम् ॥ ४८ ॥

अच्छलो धर्मः—धर्मे प्रतारणं न युज्यते । **अस्मिन्नर्थे**—त्वया क्रियमाणे राज्यविभागे प्रीताः स्मः सन्तुष्यामः ।

वर्षेणेति—वर्षेण अज्ञातवासावसानवर्षेण वर्षशतेन वा कालाधिक्येन वा त्वं पाण्डवानां स्वभ्रातॄणां संविभागं राज्यार्धप्रविभागं कुरु विधेहि । कालविशेषे मम नाग्रहः, केवलं त्वया प्रतिज्ञासत्यत्वे यतनीयमिति तात्पर्यम् । हे वीर शूर, तस्मात् प्रतिज्ञां कुरु सत्याम् स्ववचनं सत्यापय, इदं हि तव कुलव्रतमतोऽवश्यानुष्ठेयमिति तावदाह—सत्येति० कुरूणां कुरुवंश्यानां प्रतिज्ञा उक्तिः सदा सत्या भवतीति भावः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ४९ ॥

एष मे निश्चयः—सत्येयं मम प्रतिज्ञा, तदत्र भवद्भिर्गतचिन्तैर्भूयतामिति दुर्योधनस्याभिप्रायः ।

अद्येति—अद्य सम्प्रति कार्यलोभेन पाण्डवानां त्वरयान्वेषणे स्पृहोदयेन स्पृहा अभिलाषः हनूमत्त्वं गता मम इच्छा हनूमत इच्छेवातिविशाला जातेत्यर्थः ।

भीष्म—पौत्र दुर्योधन, धर्ममें छलको स्थान देना ठीक नहीं है। हम लोग भी इससे प्रसन्न हैं, देखो,

एक वर्षमें हो या हजार वर्षोंमें, तुम पाण्डवोंको उनका भाग राज्य दे दो और अपनी प्रतिज्ञाको सत्य सिद्ध करो, कुरुओंकी प्रतिज्ञा सदा सत्य होती है ॥ ४९ ॥

दुर्योधन—मेरा भी यही विचार है।

द्रोण—आज कार्यसिद्धिके लोभसे मेरी इच्छा हनूमान् बननेकी हो रही है,

लङ्घयित्वार्णवं येन नष्टा सीता निवेदिता ॥ ५० ॥

तत् कुतो नु खलु पाण्डवानां प्रवृत्तिरुपनेतव्या ।

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः । विराटनगराद् दूतः प्राप्तः ।

सर्वे—शीघ्रं प्रवेश्यताम् ।

भटः—यदाज्ञापयथ । (निष्क्रान्तः ।)

(प्रविश्य)

दूतः—जयतु महाराजः ।

सर्वे—किमागतो विराटेश्वरः ?

दूतः—विषादेनावृतो नोपगच्छति ।

येन हनूमता अर्णवं सागरं लङ्घयित्वा नष्टा लुप्ता सीता निवेदिता अन्विष्य रामाय बोधिता । यथा हनूमान् सागरमुल्लङ्घ्य सीतामन्विष्टवांस्तथाहमपि पाण्डवानन्वेषयितुमिच्छामीति तात्पर्यम् ॥ ५० ॥

प्रवृत्तिः—वार्त्ता, क्व पाण्डवा अन्विष्यन्तामिति चिन्ताध्वनिः ।

विराटेश्वरः—विराटदेशस्याधिपतिः ।

विषादेन—दुःखेन उपगतः युक्तः । नोपगच्छति-नायाति । विराटस्यानागमने तद्दुःखाक्रान्तत्वमेव कारणं नान्यत् किमपि वैमनस्यादिकमित्यर्थः ।

जिन्होंने झट समुद्र पार करके खोई हुई सीताका पता लगा दिया ॥ ५० ॥

तो कहाँसे पाण्डवोंका पता मिले ?

[प्रवेश करके]

भट—जय हो महाराजकी, विराटके यहाँसे दूत आया है ।

सभी—शीघ्र बुला लाइये ।

भट—जो आज्ञा (जाता है)

[प्रवेश करके]

दूत—जय हो महाराजकी ।

सभी—क्या विराट आये हैं ?

दूत—दुःखमें पड़े हैं, अतः नहीं आ रहे हैं ।

सर्वे—कस्तस्य विषादः ?

दूतः—श्रोतुमर्हति महाराजः । यत् तत्सम्बन्धि सन्निकृष्टं कीचकानां भ्रातृशतं,

रात्रौ छन्नेन केनापि बाहुभ्यामेव हिंसितम् ।
दृश्यते हि शरीराणामशस्त्रजनितो वधः ॥ ५१ ॥

सर्वे—कथमशस्त्रजनितो वध इति ।

भीष्मः—कथमशस्त्रेणेति । (अपवार्य) भो आचार्य ! अभ्युपगम्यतां पञ्चरात्रम् ।

कस्तस्य विषादः—कुतो दुःखं तस्येति भावः ।

तत्सम्बन्धीति—विराटस्यात्मीयम् । सन्निकृष्टम्—अत्यासम् (श्यालः) कीचकानां भ्रातृशतम्-शतं कीचकाः ।

रात्राविति—रात्रौ निशि छन्नेन गुप्तेन केनापि अज्ञातपरिचयेन बाहुभ्यामेव करमुष्टयादिताडनद्वारैव हिंसितम् । शतमपि विराटश्यालाः कीचकबन्धवः केवलं मुष्टयाघातेनैव मारिताः, ननु तेषां मुष्टिघातमात्रहतत्वे किं प्रमाणं, तत्राह—दृश्यत इति । शरीराणां मृतकीचकवपुषाम् अशस्त्रजनितः अशस्त्राघातकृतो वधः हिंसा दृश्यते, तदीयदेहेषु शस्त्राघातचिह्नानामुपलब्धिः न दृष्टेति भावः, तेन बाहुभ्यामेव हिंसित इति प्रमाणीकृतम् ॥ ५१ ॥

कथमशस्त्रजनितो वधः—कथं विनैव शस्त्रप्रयोगं हतास्तावन्तः कीचका इति सर्वेषामाश्चर्यस्य विषयः ।

कथमशस्त्रेणेति—भीष्मोऽपि बाह्यमाश्चर्यं प्रकटयति, वस्तुतस्त्वसौ भीमस्य कृत्यं मनसा निश्चिनोति ।

सभी—उनको क्या दुःख है ?

दूत—सुनिये महाराज, उनके निकट सम्बन्धी सौ भाई कीचक,

रातमें किसी छिपे हुए व्यक्ति द्वारा हाथोंसे ही मार दिये गये हैं, क्योंकि उनके शरीरोंपर बिना शस्त्रके ही वधके लक्षण मौजूद थे ॥ ५१ ॥

सभी—क्या, बिना शस्त्रके ही वध कर दिया ?

भीष्म—क्यों, बिना शस्त्रके ही, (एक ओर मुख करके) आचार्य, पञ्चरात्र स्वीकार कर लें (पाँच रातोंके भीतर पाण्डवोंका पता लगा दूँगा, यह स्वीकार कर लें)।

द्रोणः—(अपवार्य) किमर्थम् ?

भीष्मः—

भीमसेनस्य लीलैषा सुव्यक्तं बाहुशालिनः।
योऽस्मिन् भ्रातृशते रोषः स तस्मिन् फलितः शते ॥ ५२ ॥

द्रोणः—कथं भवान् जानाति ?

भीष्मः—

कथं पण्डित ! कूलेषु भ्रान्तानां बालचापलम्।
नाभिजानन्ति वत्सानां शृङ्गस्थानानि गोवृषाः ॥ ५३ ॥

अपवार्य—अन्ये न शृणुयुरिति बुद्ध्या त्रिपताककरेणावृत्य मुखमिति बोध्यम्, अभ्युपगम्यताम्—स्वीक्रियताम्। संभाव्यते पाण्डवप्रवृत्त्युपलब्धिः, तदङ्गीक्रियतां दुर्योधनोक्तं पञ्चरात्रमिति भावः। तत्र कारणं वक्ष्यति भीमेति०।

भीमसेनस्येति—एषा कीचकशतस्याशस्त्रप्रयोगेण हिंसारूपा लीला क्रीडा-वदनायासखेला सुव्यक्तं स्फुटम्। बाहुशालिनः महाबलस्य भीमसेनस्य, निश्चये-नेयं लीला भीमस्यैव महाबलस्येत्यर्थः। अस्मिन् दुर्योधनादौ भ्रातृशते यो रोषः कोपः, स रोषः तस्मिन् शते कीचकादौ फलितः कृतार्थः एषु दुर्योधनादिषु रोषो भीमेन धृतस्तेषु कीचकादिष्वेव सफलीकृतस्तद्वधेन कृतार्थितः। नान्य इदं कष्टं कर्म कर्त्तुमीश इति भावः॥ ५२ ॥

कथं पण्डितेति—हे पण्डित द्रोण, गोवृषाः बलीवर्दाः कूलेषु नदीतटेषु भ्रान्तानां कृतभ्रमणानां वत्सानां बालवृषाणां बालचापलम् पुच्छचालनादिकम् शृङ्गस्थानानि शृङ्गकृतमृत्तिकाखननस्थानानि च नाभिजानन्ति नावगच्छेयुः।

द्रोण—(एक ओरको) क्यों,

भीष्म—निश्चय ही यह उस भीमसेनकी लीला है जो अद्वितीय पराक्रमशाली है। भीमसेनको इन सौ भाई कौरवों पर जो कोप था, वह सौ भाई कीचकों पर ही जाकर फला ॥ ५२ ॥

द्रोण—आप कैसे जानते हैं ?

भीष्म—अजी पण्डित, किनारे पर दौड़ लगानेवाले वत्सोंके बालचापल तथा शृङ्गोंके खनन स्थानोंको वृषराज कैसे नहीं जानेंगे ? ॥ ५३ ॥

द्रोणः—गोवृषा इति। हन्त! सिद्धं कार्यम्। (प्रकाशम्) पुत्र! दुर्योधन!! अस्तु पञ्चरात्रम्।

दुर्योधनः—अथ किम्। अस्तु पञ्चरात्रम्।

द्रोणः—भो भो यज्ञमनुभवितुमागता राजानः! शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः। इहात्रभवान् कुरुराजो दुर्योधनः, न, न, न, मातुलसहितः, यदि पाण्डवानां प्रवृत्तिरुपनेतव्या, राज्यस्यार्धं प्रदास्यति किल, ननु पुत्र।

दुर्योधनः—अथ किम्।

द्रोणः—एतद् द्विस्त्रिः सम्प्रधार्यताम्।

शकुनिः—काले ज्ञास्यामि।

वृषभपतयः कूलेषु भ्रान्तानां वत्सानां पुच्छचापलं शृङ्गखातभूमीश्च कथं न ज्ञास्यन्ति? अवश्यमेव ज्ञास्यन्तीति भावः। अत्र यथा वृषभाः स्ववत्सानां चरित्रमवश्यमेव जानन्ति तद्वदहमपि भीमस्याचरितं कर्म निश्चितं जानामीति अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारव्यङ्ग्यम् ॥ ५२ ॥

सिद्धम् कार्यम्—जातं मम प्रयोजनम्।

अनुभवितुम्—द्रष्टुम्। प्रवृत्तिरुपनेतव्या—समाचारः प्राप्यते।

अथ किम्—सत्यमिदम्।

द्विस्त्रिः—द्विवारं त्रिवारं वा।

काले ज्ञास्यामि—राज्यप्रदानावसरे आयाते विचारं करिष्यामि।

द्रोण—वृषराज, काम बन गया, (प्रकाश) पुत्र दुर्योधन, मुझे पञ्चरात्र स्वीकार है।

दुर्योधन—और क्या, रहे पञ्चरात्र।

द्रोण—ए यज्ञमें आये हुये राजागण, आप सुन लें, आदरणीय कुरुराजने, नहीं-नहीं, मामा समेत कुरुराजने, स्वीकार कर लिया है कि यदि पञ्चरात्रके भीतर पाण्डवोंका पता लग जायगा तो उन्हें राज्यका आधा भाग मिल जायगा। क्यों बेटा?

दुर्योधन—और क्या।

द्रोण—इस बातको दो-तीन बार विचार लो।

शकुनि—समयपर विचार कर लूँगा।

द्रोणः—ननु गाङ्गेय !

भीष्मः—(आत्मगतम्)

आचार्यस्य यदा हर्षो धैर्यमुत्क्रम्य सूचितः ।
शङ्के दुर्योधनेनैष वञ्च्यमानेन वञ्चितः ॥ ५४ ॥

(प्रकाशम्) पौत्र ! दुर्योधन !! अस्ति मम विराटेनाप्रकाशं वैरम् , अथ भवतो यज्ञमनुभवितुमनागता इति । तस्मात् क्रियतां तस्य गोग्रहणम् ।

द्रोणः—(अपवार्य) भो गाङ्गेय ! प्रियशिष्यः खलु मे तत्रभवान् विराटेश्वरः । किमर्थं तस्य गोग्रहणम् ।

गाङ्गेय—भीष्म ।

आचार्यस्येति—यदा यदि आचार्यस्य द्रोणस्य हर्षः प्रसादो धैर्यम् गाम्भीर्यम् उत्क्रम्य अतिक्रम्य सूचितः प्रकटीभूतः, (यदयमाचार्योऽतिगम्भीरभावं हर्षं प्रकाशयति, तेन) शंके सम्भावयामि एषः आचार्यः वञ्च्यमानेन दक्षिणाद्वारा राज्यार्धविभाजने बाध्यमानेन (बलादिव राज्यार्धं दातुं व्यवस्थाप्यमानेन) दुर्योधनेन वञ्चितः समयसापेक्षया प्रतिज्ञया प्रतारितः । अतिहर्षो हि खेदावसानो भवतीति नियमेन द्रोणस्यायं हर्षातिशयः खेदे परिणतः स्यादिति भीष्मस्य शङ्का ॥ ५४ ॥

अप्रकाशम्—प्रच्छन्नम् । वैरम्-विरोधः । यज्ञमनुभवितुमनागतः—यज्ञे न सङ्गतः । तस्मात्-प्राचीनात् साम्प्रतिकाच्च वैरात् । गोग्रहणम्-गोधनहरणम् , विराटो हि गोधनपूर्णः प्रियगोधनश्च, गोषु ह्रियमाणासु तस्य वैरं निर्यातितं भविष्यतीति भावः ।

प्रियशिष्यः—प्रियोऽन्तेवासी । विराटेश्वरः विराटदेशाधिपतिः । किमर्थं तस्य

द्रोण—क्या गाङ्गेय,

भीष्म - (आत्मगत) आचार्यका हर्ष सीमाको पार करके उबल पड़ा है, अतः मेरे हृदयमें शङ्का होती है कि ठगे जानेवाले दुर्योधनसे आचार्य खुद ठगे गये हैं ॥ ५४ ॥

(प्रकाश) पौत्र दुर्योधन, हमलोगोंका विराटके साथ गुप्त शत्रुत्व है ही, तुम्हारे यज्ञमें भी वह सम्मिलित होने नहीं आये, अतः उनका गोधन हरण कर लो ।

द्रोण—(एक ओरको) अजी गाङ्गेय, विराट हमारे प्रिय शिष्योंमें है, उसका गोधन-हरण क्यों किया जायगा ?

भीष्मः—(अपवार्य) ब्राह्मणार्जवबुद्धे !

धर्षिता रथशब्देन रोषमेष्यन्ति पाण्डवाः ।
अस्ति तेषां कृतज्ञत्वमिष्टं गोग्रहणे स्थितम् ॥ ५५ ॥

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः । सज्जाः खलु रथा नगरप्रवेशाभिमुखाय ।

दुर्योधनः—

एभिरेव रथैः शीघ्रं क्रियतां तस्य गोग्रहः ।
गदा यज्ञप्रशान्ता च पुनर्मे करमेष्यति ॥ ५६ ॥

गोग्रहणम्—किमर्थमसौ गोहरणसङ्कटे क्षिप्यते भवतेति भावः ।

ब्राह्मणार्जवबुद्धे—सरलमते, ब्राह्मणतया सरलस्वभाव कपटानभिज्ञ ।

धर्षिता इति—रथशब्देन स्यन्दनघोषेण धर्षिताः आकृष्टकर्णाः पाण्डवाः रोषमेष्यन्ति कोपं भजिष्यन्ते, तत्र कारणमाह—तेषां पाण्डवानां कृतज्ञत्वम् उपकारज्ञत्वम् अस्ति, विराटेनोपकृताः पाण्डवाः विराटे आक्रम्यमाणे कथमपि तटस्थाः स्थातुं न शक्नुवन्ति, तत्प्रत्युपकारप्रवृत्तेर्दुर्दमत्वादिति भावः । एवं हि अस्माकम् इष्टम् पाण्डववार्त्तोपलब्धिरूपम् अत्र गोग्रहणे स्थितम्, अनेन गोग्रहणेन नः समीहितसिद्धिसम्भावना सन्निकृष्यत इति ॥ ५५ ॥

सज्जाः—योजिताश्वाः । नगरप्रवेशाभिमुखाय—हस्तिनापुरं प्रवेष्टुमानीतो रथः, राजा यज्ञे नगराद् बहिः, तन्नेतुं रथ आगत इति ।

एभिरिति—एभिः हस्तिनापुरप्रवेशाय सज्जीकृतैः रथैः एव तस्य विराटस्य गोग्रहः गोहरणं शीघ्रं विना विलम्बं क्रियताम्, यज्ञप्रशान्ता यज्ञावसरे निवृत्त-

---

भीष्म—(एक ओर) अजी सरलमति ब्राह्मणदेवता,

रथके शब्दसे भड़के हुए पाण्डव कुपित हो उठेंगे, उनमें कृतज्ञता है ही, बस, वे प्रकाशमें आ जायेंगे, और आपका काम बन जायगा ॥ ५५ ॥

[प्रवेश करके]

भट—जय हो महाराजकी, नगरकी ओर प्रस्थान करनेको रथ तैयार हैं ।

दुर्योधन—इन्हीं रथों द्वारा शीघ्र विराटके गोधनका हरण किया जाय, यज्ञके कारण शान्त हुई यह हमारी गदा फिर हमारे हाथमें आवेगी ॥ ५६ ॥

द्रोणः—तस्मान्मे रथमानयन्तु पुरुषाः,—

शकुनिः— —हस्ती ममानीयतां,

कर्णः—

भारार्थं भृशमुद्यतैरिह हयैर्युक्तो रथः स्थाप्यताम् ।

भीष्मः—

बुद्धिर्मे त्वरते विराटनगरं गन्तुं धनुस्त्वर्यतां

सर्वे—

मुक्त्वा चापमिहैव तिष्ठतु भवानाज्ञाविधेया वयम् ॥ ५७ ॥

व्यापारा चेयं गदा पुनः मे मम करम् एष्यति । पुनरप्यहं गदां धृत्वा युद्धोद्यतो भवामीति भावः ॥ ५६ ॥

तस्मादिति—पुरुषाः राजभृत्याः तस्मात् विराटाक्रमणस्य कर्त्तव्यत्वात् मे मम रथं सांग्रामिकं यानम् आनयन्तु आहरन्तु । भारार्थं भारं वोढुम् भृशम् अत्यर्थमुद्यतैः सन्नद्धैः हयैः अश्वैः युक्तः रथः इह अत्र स्थाप्यताम् , मे मम भीष्मस्य बुद्धिः विराटनगरं गन्तुं त्वरते शीघ्रतां करोति । धनुः त्वर्यताम् त्वरितमानीयताम् , भवान् भीष्मः चापं धनुर्मुक्त्वा इहैव तिष्ठतु, वयम् आज्ञाविधेया भवदाज्ञानुवर्त्तिनः । वयमेव युद्धे गमिष्यामः, अस्मासु सत्सु पितामहस्य भवतो युद्धयात्रा व्यर्था, तदत्रैव भवन्तस्तिष्ठन्तु इत्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५७ ॥

द्रोण—तो मेरा रथ ले आवें,

शकुनि—मेरा हाथी लाया जाय ।

कर्ण भारवहनमें समर्थ अश्वोंसे युक्त रथ लाये जाँय ।

भीष्म—मेरी बुद्धि विराटपुर जानेको उतावली हो रही है, शीघ्र धनुष ले आवें,

सभी—आप धनुष छोड़कर यहीं रहें, हम आपकी आज्ञाके वशवर्त्ती हैं ॥ ५७ ॥

द्रोणः—पुत्र ! दुर्योधन !! आवां तव युद्धे पराक्रमं द्रष्टुमिच्छावः ।
दुर्योधनः—यदभिरुचितं भवते ।
द्रोणः—वत्स ! गान्धारराज !! अस्मिन् गोग्रहणे तव खलु प्रथमरथः ।
शकुनिः—बाढम् । प्रथमः कल्पः ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति प्रथमोऽङ्कः ।



आवाम्—अहं भीष्मश्च । पराक्रमं द्रष्टुमिच्छावः—अत एव युद्धे यास्यामः इत्याशयः ।

प्रथमरथः—सर्वतोऽग्रे तव रथः ।

बाढम्—स्वीकृतम् । प्रथमः कल्पः—मुख्यो विषयः, प्रथमकर्त्तव्यमिदं ममेति भावः ।

इति पञ्चरात्र'प्रकाशे' प्रथमाङ्कप्रकाशः ॥



द्रोण—पुत्र दुर्योधन, हम तथा भीष्म, युद्धमें तुम्हारा पराक्रम देखना चाहते हैं ।
दुर्योधन—आपकी जो इच्छा ।
द्रोण – वत्स गान्धारराज, इस गोग्रहणमें तुम्हारा रथ पहला रहेगा ।
शकुनि—अच्छी बात, ठीक है ।

[सभी जाते हैं]

प्रथम अङ्क समाप्त



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति वृद्धगोपालकः)

वृद्धगोपालकः—गावो मेऽहीनवत्सा भवन्तु। अविधवाश्च गोपयुवतयो
गावो मे अहीणवच्छा होन्तु। अविहवा अ गोवजुवदीओ
भवन्तु। अस्माकं राजा विराट एकच्छत्रपृथिवीपतिर्भवतु। महा-
होन्तु। णो लाआ विलाडो एक्कच्छतप्पुहुवीपदी होदु। महा-
राजस्य विराटस्य वर्षवर्धनगोप्रदाननिमित्तमस्यां नगरोपवनवीथ्या-
लाअष्ष विलाडष्ष वष्षवड्ढणगोप्पदाणणिमित्तं इमष्षिं णअलोववणवीहीए
मागन्तुं गोधनं सर्वे च कृतमङ्गलामोदा गोपदारका दारिकाश्च
आअन्तुं गोधणं षव्वे अ किदमङ्गलामोदा गोवदालआ दालिआ अ
तावत्। एषु ज्यैष्ठ्यं गत्वानुभविष्यामि (विलोक्य) किंनु खल्वेष वायसः
दाव। एषु ज्जेष्ठं गच्छिअ अणुभविष्षम्। (विलोक्य) किण्णुहु एषो वाअपो

अहीनवत्साः—जीवद्वत्साः। गोपयुवतयः-गोपस्त्रियः। अविधवाः भर्तृमत्यः। एकच्छत्रपृथिवीपतिः-समस्ताया भुवो भर्त्ता।

वर्षवर्धनगोप्रदाननिमित्तम्—वर्षारम्भे गोदानाय। यस्मिन्नक्षत्रे दिने च यस्य जन्म भवति स प्रत्यब्दं तस्मिन्दिने नक्षत्रे च स्वमङ्गलायायुषे च गोदानादिकर्तुं चेष्टते, अत एव विराटोऽपि तस्मिन्दिने गोदानादि करोति।

नगरोपवनवीथ्याम्—नगरोद्यानैकभागे। कृतमङ्गलामोदाः-कृतमङ्गलहर्षाः, गोपदारकाः-गोपबालाः, दारिकाः गोपकन्याश्च। ज्यैष्ठ्यम् वयोधिकत्वकृतं सत्कारम्।

वायसः—काकः। शुष्कवृक्षम्-नीरसतरुम्। आरुह्य-अधिष्ठाय। शुष्क-

[बूढ़े गोपालका प्रवेश]

वृद्ध गोपाल—मेरी गायें सदा सवत्सा रहें। गोपयुवतियाँ सदा सधवायें रहें। हमारे महाराज विराट सार्वभौम हों, महाराज विराटके जन्मगाँठके शुभ अवसरपर गोदानके लिये नगरोद्यानके मार्गपर आनेके लिये गायें सजाई गई हैं, ग्वालोंके बालक तथा बालिकायें नवीन वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आनन्द मनानेमें

शुष्कवृक्षमारुह्य शुष्कशाखानिघट्टिततुण्डमादित्याभिमुखं विस्वरं
सुक्खलुक्खं आलुहिअ सुक्खशाखाणिघट्टिअतुण्डं आदिच्चाहिमुहं विष्षलं
विलपति । शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु अस्माकं गोधनस्य च । याव-
विलवदि । षन्ती होदु षन्ती होदु अह्माणं गोधणष्ष अ । जाव
देषु ज्यैष्ठ्यं गत्वा गोपदारकाणां दारिकाणां व्याहरामि । (परिक्रम्य)
एषु ज्जेष्ठं गच्छिअ गोवदालआणं दालिआणं वाहलामि । (परिक्रम्य)
अरे गोमित्रक ! गोमित्रक !
अले गोमित्तअ ! गोमित्तअ !

(प्रविश्य)

गोमित्रकः—मातुल ! वन्दे ।
मादुल ! वन्दामि ।

वृद्धगोपालकः—शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु अस्माकं गोधनस्य च ।
षन्ती होदु षन्ती होदु अह्माणं गोधणष्ष अ ।
अरे गोमित्रक ! महाराजस्य विराटस्य वर्षवर्धनगोप्रदाननिमित्त-
अले गोमित्तअ ! महालाजष्ष विलाडश्श वष्षवड्ढणगोप्पदाणणिमित्तं

शाखानिघट्टिततुण्डम् शुष्कायां शाखायां तुण्डं घर्षयन्नित्यर्थः । आदित्याभिमुखम् सूर्याभिमुखः सन् । विस्वरम्-विकृतस्वरेण । विलपति-शब्दायते ।

ज्यैष्ठ्यं गत्वा—वयोधिकत्वकृतं सत्कारमासाद्य । व्याहरामि-आह्वयामि ।

वर्षवर्धनगोप्रदाननिमित्तम्—नूतनवर्षप्रवेशकाले करिष्यमाणस्य गोदा-

---

तत्पर हैं, इनमेंसे बड़ा होनेका गौरव प्राप्त करूँगा। (देखकर) क्या बात है कि यह काक शुष्क वृक्षकी शुष्क शाखा पर बैठकर उसपर अपनी चोंच घिसता है और सूर्याभिमुख होकर भयावने स्वरमें काँव काँव कर रहा है। ईश्वर हमारा और हमारे इस गोधनका कल्याण करें। अब मैं इनमें बूढ़ा बनकर गोपाल बालक-बालिकाओंको बुलाऊँगा। (घूमकर) अरे गोमित्रक, अरे गोमित्रक।

[गोमित्रकका प्रवेश]

गोमित्रक—मामाजी, प्रणाम।

वृद्ध गोपाल— शान्ति हो, शान्ति हो, हमारी तथा गोधनकी शान्ति हो।

मस्यां नगरोपवनवीथ्यामागन्तुं गोधनं सर्वं च कृतमङ्गलामोदा गोप-
इमर्षि णअलोववणवीहीए आअन्तुं गोधणं षव्वे च किदमङ्गलामोदआ गोव-
दारका दारिकाश्च । अरे गोमित्रक ! गोपदारकाणां दारिकाणां
दालआ दालिआ अ । अले गोमित्तअ ! गोवदालआणं दालिआणं
व्याहर ।
वाहल ।

गोमित्रकः—यन्मातुल आज्ञापयति । गोरक्षिणिके ! घृतपिण्ड !
जं मादुलो आणवेदि । गोलक्खिणिए ! घिदपिण्ड !
स्वामिनि ! वृषभदत्त ! कुम्भदत्त ! महिषदत्त ! आगच्छतागच्छत
षामिणि ! वषभदत्त ! कुम्भदत्त ! महिषदत्त ! आअच्छह आअच्छह
शीघ्रम् ।
सिग्घं ।

(ततः प्रविशन्ति सर्वे ।)

सर्वे—मातुल ! वन्दामहे ।
मादुल ! वन्दामो ।

वृद्धगोपालकः—शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु अस्माकं गोधनस्य च गोप-
षन्ती होदु षन्ती होदु अह्माणं गोधणष्प अ गोव-
दारकाणां दारिकाणां च । महाराजस्य विराटस्य वर्षवर्धनगोप्रदान-
दालआणं दालिआणं अ ! महालाअष्ष विलाडष्ष वष्षवड्ढणगोप्पदाण-

नस्य सिद्धये गोपदारकाणाम् गोपालानाम् । गोपदारिकाणां—गोपयुवतीनाम् ।
व्याहर-आह्वय, आगन्तुम् गोधनम् अस्तीति शेषः, गोधनमागच्छतीत्यर्थः ।

गोमित्रक—महाराज विराटकी जन्मगांठके अवसरपर गोदानके लिये नगर-वाटिकाके मार्गपर लानेके लिये गायें सजाई गई हैं, गोपालबालक-बालिकायें मंगल मना रही हैं । अरे गोमित्रक, गोपबालक-बालिकाओं को बुलाओ ।

[सबका प्रवेश]

सभी—मामा, प्रणाम करते हैं ।

वृद्ध गोपाल—हमारी, हमारे गोधनकी तथा गोपबालक-बालिकाओं की शान्ति

निमित्तमस्यां नगरोपवनवीथ्यामागन्तुं गोधनम् । तावतीं वेलां
णिमित्तं इमस्सिं णअलोववणवीहीए आअन्तुं गोधणं । तत्तअं वेलं
गायन्तो नृत्यन्तो भवामः ।
गाअन्तो णच्चन्तो होम ।
सर्वे—यन्मातुल आज्ञापयति ।
जं मादुलो आणवेदि । (सर्वे नृत्यन्ति ।)
वृद्धगोपालकः—हीही सुष्ठु नर्तितं, सुष्ठु गीतम् । यावदहमपि
हीही सुट्ठु णच्चिदम्, सुट्ठु गाइदं । जाव अहं पि
नृत्यामि । (नृत्यति)
णच्चेमि ।
सर्वे—हाहा मातुल ! अतिमहान् रेणुरुत्पतितः ।
हाहा मादुल ! अदिमहन्तं लेणुं उप्पदिदो ।
वृद्धगोपालकः—न खलु रेणुरेव, शङ्खदुन्दुभिघोष उत्पतितः ।
ण हु लेणुं एव्व, षक्खुदुन्दुभिघोषं उप्पदिदो ।

तावतीं वेलाम्—यावत् गोधनमायाति तावन्तं कालं यावदित्यर्थः । गायन्तो नृत्यन्तो भवामः—नृत्यगानाभ्यां तावन्तं समयं यापयामः ।

रेणुरुत्पतितः—धूलिरुत्थिता ।

न खलु रेणुरेव—न धूलिमात्रमुत्थितम्, शङ्खदुन्दुभिघोषः—शङ्खस्वनः दुन्दुभिस्वनश्चोत्पतित इत्याशयः ।

हो, महाराज विराटकी वर्षगांठके अवसरपर गोदानके लिये इस नगरोद्यान-मार्ग-पर गायें आयेंगी । तबतक हम लोग नाचें गायें ।

सभी—मामाजीकी जो आज्ञा ।

[सभी नाचते हैं]

वृद्धगोपाल—अहा हा, खूब नाचा, खूब गाया, तबतक मैं भी नाचता हूँ । (नाचता है)

सभी—हाय हाय, मामाजी, बड़ी धूल उड़ रही है ।

वृद्ध गोपाल—केवल धूल ही नहीं उड़ रही है, शङ्खदुन्दुभिकी आवाज भी उठ रही है ।

सर्वे—हाहा मातुल ! दिवाचन्द्रप्रभापण्डुरजोवगुण्ठितमण्डलः
हाहा मादुल ! दिवाचन्दप्पभापण्डुलजोवगुण्ठिदमण्डलु
सूर्योऽस्ति च नास्ति च।
सुय्यो अत्थि अ णत्थि अ।

गोमित्रकः—हाहा मातुल ! एते केऽपि मनुष्या दधिपिण्डपाण्डरै-
हाहा मादुल ! एदे के वि मणुष्षा दहिपिण्डपण्डरेहि
श्छत्रैर्घोटकशकटिकामारुह्य सर्वे घोषं विद्रवन्ति चोराः।
छत्तेहि घोडअषअडिअं आलुहिअ षव्वं घोषुं विद्दवन्ति चोला।

वृद्धगोपालकः—हीही शरसंपाता उत्थिताः। दारकाः ! दारिकाः !
हीही षरषंपादा उठ्ठिदा। दारआ ! दालिआ !
शीघ्रं पक्कणं प्रविशत।
सिग्घं पक्कणं पविषह।

दिवाचन्द्रप्रभापाण्डुररजोऽवगुण्ठितमण्डलः—दिवाचन्द्रस्य दिवसनिशाकरस्य प्रभाकान्तिरिव पाण्डुरं धवलपीतवर्णं यद्रजस्तेनावगुण्ठितं व्याप्तम् छन्नं मण्डलं बिम्बं यस्य तादृशोऽयं सूर्यः। अस्ति च नास्ति च, आकारमात्रेण विद्यते प्रभया पुनर्नास्ति, सन्नपि न प्रकाशते इत्यर्थः।

दधिपिण्डपाण्डरैः—दधिधवलैः। छत्रैः-आतपत्रैः। घोटकशकटिकाम् अश्वयानम्। आरुह्य-अधिष्ठाय। घोषम्-गोष्ठम्। विद्रवन्ति-आक्रामन्ति।

शरसंपाताः—बाणवृष्टयः। पक्कणम्-आलयम्, यद्यपि 'पक्कणः शबरालयः' इति कोशस्वरसात् पक्कणशब्दः शबरालयपरस्तथाप्यत्रालयवाची, प्रक्रमानुरोधात्।

सभी—दिनके चन्द्रमाकी तरह फीका, धूलसे वेष्टितमण्डल इस सूर्यका रहना न रहना बराबर है।

गोमित्रक—हाय मामाजी, यह कुछ लुटेरे घोड़ागाड़ियों पर चढ़कर दधिपिण्डके समान सफेद छाते लगाये घोषको घेर रहे हैं।

वृद्ध गोपाल—अरे, बाण बरसने लगे। लड़कों तथा लड़कियों, शीघ्र घरोंमें घुस जाओ।

सर्वे—यन्मातुल आज्ञापयति ।
जं मादुलो आणवेदि । (निष्क्रान्ताः)

वृद्धगोपालकः—हाहा तिष्ठत तिष्ठत । प्रहरत प्रहरत । गृह्णीत गृह्णीत
हाहा चिट्ठह चिट्ठह । पहरह पहरह । गह्णह गह्णह
इमं वृत्तान्तं महाराजविराटाय निवेदयिष्यामः ।
इमं वुत्तन्तं महालाअबिलाडश्श णिवेदइष्षामो ।

(निष्क्रान्तः ।)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति भटः ।)

भटः—भो भो निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजाय—एता हि दस्युकर्म-
प्रच्छन्नविक्रमैर्धार्तराष्ट्रैर्ह्रियन्ते गाव इति । तत्र हि,

द्रुतैश्च वत्सैर्व्यथितैश्च गोगणैर्निरीक्षणत्रस्तमुखैश्च गोवृषैः ।

इमम् वृत्तान्तम्—घोषे केषाञ्चिदाक्रमणरूपं समाचारम् ।

दस्युकर्मणि—लुण्टाककृत्ये प्रच्छन्नः तिरोहितो विक्रमो येषां तैस्तथाभूतैः पराक्रममप्रदर्श्य दस्युभावमवलम्बमानैः । धार्तराष्ट्रैः-दुर्योधनादिभिधृतराष्ट्रपुत्रैः । ह्रियन्ते-नीयन्ते ।

द्रुतैरिति—द्रुतैः, पलायनपरैर्वत्सैः, व्यथितैः बलाद्ध्रियमाणतया सखेदैः गोगणैः धेनुभिश्च निरीक्षणेन दस्यूनां दर्शनमात्रेण त्रस्तमुखैः भीताकृतिभिः गोवृषैः

सभी—मामाकी जो आज्ञा ।

[जाते हैं]

हाय, ठहरो, ठहरो, मारो, मारो, पकड़ो, पकड़ो, इसकी खबर महाराजको दें

[जाता है]

[प्रवेशक]

[भटका प्रवेश]

भट—अजी, कह दो कह दो महाराजसे—पराक्रम दिखलाना छोड़कर लुटेरे बने हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंने गायोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया है, वहाँपर—
बछड़े भाग रहे हैं, गायें व्यथित हो रही हैं, देख-देखकर वृषोंके मुख सूख

कृतार्तनादाकुलितं समन्ततो गवां कुलं शोच्यमिहाकुलाकुलम् ॥ १ ॥
इति ।

(नेपथ्ये)

किं धार्तराष्ट्रैरिति ?

भटः—आर्य ! अथ किम् ।

(प्रविश्य)

काञ्चुकीयः—सदृशमेतद् भ्रातृजनेष्वपि द्रोहिणाम् । एते हि,
सज्जैश्चापैर्बद्धगोधाङ्गुलित्रा वर्मच्छन्नाः कल्पितस्यन्दनस्थाः ।

बलीवर्दैश्च कृतार्त्तनादाकुलितं कृतेन आर्त्तनादेन व्याप्तम् गवां कुलम् धेनुसमूहः आकुलाकुलम् अतिव्यग्रम् अतश्च समन्ततः सर्वतः शोच्यम् चिन्तनीयं जायते । दस्युकृतेनोपद्रवेण पीडिताः वत्साः द्रवन्ति, गोगणाः व्यथामनुभवन्ति, बलीवर्दाश्च दस्यूनां दर्शनमात्रेण त्रस्ताननना जायन्ते, गवामार्त्तनादः सर्वतो विजृम्भते, तदित्थमिदं गोकुलं शोच्यां दशामनुप्रपन्नमिति भावः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ १ ॥

सदृशमेतत्—युक्तमिदम् । भ्रातृजनेष्वपि—स्वपितृव्यपुत्रेष्वपि पाण्डवेषु । द्रोहिणाम्-द्रोहं कुर्वताम् धार्तराष्ट्राणामिति शेषः । ये धार्तराष्ट्राः स्वपितृव्यपुत्रेषु पाण्डवेष्वपि द्रोहमाचरन्ति, ते मित्रस्य विराटस्य गोधनं हरेयुरिति युक्तमेवेत्याशयः ।

सज्जैरिति—सज्जैः युद्धायोद्यतैः चापैः धनुर्भिः (उपलक्षिताः) बद्धं धृते गोधा ज्याघातवारणम् अङ्गुलित्रम् अङ्गुलित्राणं च यैस्ते तथोक्ताः धृतगोधा-

---

गये हैं, इस भाँति चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है, इस समय गोसमूहकी दशा बड़ी शोचनीय हो रही है, गायोंका समुदाय अतिव्याकुल हो रहा है ॥ १ ॥

[नेपथ्यमें]

क्या कौरवोंने उपद्रव मचा रखा है ?

भट—आर्य, और क्या ।

[प्रवेश करके]

काञ्चुकीय—अपने भाइयोंपर भी द्वेष रखनेवाले कौरवोंके लिए यह उचित ही है । यह कौरव—

धनुष ताने हुए, ज्याघात-वारण और अङ्गुलित्राण पहने हुए हैं, कवच लगाये हुए हैं और सजाये गये रथोंपर सवार हैं, अपने बाहुबलका गर्व

वीर्योत्सिक्ता युद्धसज्जाः कृतास्त्रा राज्ञो वैरं गोषु निर्यातयन्ति ॥ २ ॥

जयसेन ! जन्मनक्षत्रक्रियाव्यापृतस्य महाराजस्य तावदकालनिवेदनं मन्युमुत्पादयति । तस्मात् पुण्याहावसाने निवेदयिष्ये ।

भटः—आर्य अतिपाति कार्यमिदं, शीघ्रं निवेद्यताम् ।

काञ्चुकीयः—इदं निवेद्यते ।

(ततः प्रविशति राजा ।)

राजा—

मा तावद् व्यथितविकीर्णबालवत्सा गावो मे रथरवशङ्कया ह्रियन्ते ।

क्षुलित्राः वर्मच्छन्नाः धृतकवचाः कवचावृतदेहाः कल्पितस्यन्दनस्थाः युद्धार्थं सज्जीकृते रथे निषण्णाः वीर्योत्सिक्ताः पराक्रमगर्वोद्धताः युद्धसज्जाः संग्रामार्थमुत्सुकाः अत एव च कृतास्त्राः गृहीतप्रहरणाः एते अकृतज्ञाः दुर्योधनादयः राज्ञो विराटस्य वैरं विरोधिभावम् गोषु मूकेषु गोधनेषु निर्यातयन्ति प्रतिशोधयन्ति । सर्वथा युद्धोद्यता इमे कौरवाः विराटकोपेन गा उपद्रवन्तीति भावः । प्रत्यनीकमलङ्कारः । शालिनीवृत्तम् ॥ २ ॥

जन्मनक्षत्रक्रियाव्यापृतस्य—जन्मकालिकनक्षत्रपूजातत्परस्य जन्मदिवसविधिलग्नस्य, अकालविनिवेदनम् = पूजाकाले युद्धसूचनमनवसरप्राप्तम् । मन्युमुत्पादयति- कोपं जनयति । पुण्याहावसाने—स्वस्तिवाचनसमाप्तौ ।

अतिपाति—विलम्बासहिष्णु । इदं कार्यम्—दुर्योधनकृतगोग्रहणस्य राज्ञे सूचनम् ।

मा तावदिति—रथरवशङ्कया स्यन्दनध्वनिभिया व्यथितविकीर्णबालवत्साः

रखते हैं, युद्धके लिये तैयार हैं, अस्त्र लिये हुए हैं और विराटके साथ शत्रुताका बदला गायोंसे ले रहे हैं ॥ २ ॥

जयसेन, जन्मनक्षत्रक्रियामें लगे हुए महाराजको असमयमें सूचना देंगे तो वह कुपित होंगे, अतः पुण्याहावसानमें सूचना देंगे ।

भट—आर्य, यह कार्य जल्दीका है, शीघ्र निवेदन किया जाय ।

काञ्चुकीय—अभी निवेदन किया जा रहा है ।

[राजाका प्रवेश]

राजा—धिक्कार है मुझको, धेनुओंके बछड़े रथके शब्दसे डरकर इधर-उधर

पीनांसश्चलवलयः सचन्दनार्द्रो निर्लज्जो मम च करः कराणि भुङ्क्ते ॥

जयसेन ! जयसेन !

(प्रविश्य)

भटः—जयतु जयतु महाराजः ।

राजा—अलं महाराजशब्देन । अवधूतं मे क्षत्रियत्वम् । उच्यतां रण-विस्तरः ।

भटः—महाराज ! न विस्तरार्हाणि विप्रियाणि । एष समासः,

व्यथिताः पीडिताः अत एव च विकीर्णाः इतस्ततश्चलिताः बालवत्साः स्तनन्धयवत्साः यासां तास्तथोक्ताः मे गावः धेनवः ह्रियन्ते परैर्नीयन्ते, मा तावत् इति गर्हायाम् । अतिनिन्दनीयमिदं यन्मम गावो रथध्वनिभीततया यत्र तत्र धावद्वत्साः सत्यः परैरपह्रियन्त इति पूर्वार्द्धार्थः । पीनांसः स्थूलस्कन्धः चलवलयः चञ्चलकटकः सचन्दनार्द्रः चन्दनलिप्तः मे मम करः हस्तश्च कराणि नानाभोज्यवस्तूनि निर्लज्जः सन् भुङ्क्ते । गोषु ह्रियमाणास्वपि मम भोज्यवस्तूनि समास्वादयन्करो निर्लज्ज इति । उचितशस्त्रग्रहणेऽपि काले भोजनप्रवृत्तिर्मम लज्जाजननीति तात्पर्यम् । 'पुन्नपुंसकयोश्चोरं करमाहार्यमित्यपि इति वैजयन्ती । प्रहर्षिणी वृत्तम् , 'म्नौज्रौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति तल्लक्षणात् ॥ ३ ॥

अलं महाराजशब्देन—मयि महाराजशब्दप्रयोगो न युक्त', उचितशस्त्रग्रहणेऽपि समये उदासीनभावावलम्बनान्न युज्यते मयि महाराजशब्दप्रयोग इति भावः । अवधूतं मे क्षत्रियत्वम्—अपगतो मे क्षत्रभावः, तिरस्कृतं मम क्षत्रियत्वं यन्मम गावः परैरपह्रियन्ते इत्यर्थः । रणविस्तरः—विस्तरेण रणवृत्तान्तः ।

विस्ताराहार्णि—विस्तारेण निवेदयितुं युक्तानि । विप्रियाणि—अप्रियवृत्तानि । समासः-संक्षेपः ।

भाग खड़े हुए हैं, प्यारी गायोंको लुटेरे चुरा रहे हैं और मेरा यह पीनस्कन्ध, चन्दनचर्चित एवं निर्लज्ज हाथ नाना प्रकारका भोजन चख रहा है ॥ ३ ॥

जयसेन, जयसेन !

भट—जय हो महाराजकी, जय हो ।

राजा—महाराज कहना व्यर्थ है, मेरा क्षत्रियत्व अपमानित हो रहा है, रणका विस्तृत समाचार बताओ ।

भट—महाराज, अप्रिय वृत्त विस्तारसे कहा जाय यह ठीक नहीं है, संक्षेप यह है :—

एकवर्णेषु गात्रेषु गवां स्यन्दनरेणुना ।
कशापातेषु दृश्यन्ते नानावर्णविभक्तयः ॥ ४ ॥

राजा—तेन हि,

धनुरुपनय शीघ्रं कल्प्यतां स्यन्दनो मे
मम गतिमनुयातुच्छन्दतो यस्य भक्तिः ।
रणशिरसि गवार्थे नास्ति मोघः प्रयत्नो
निधनमपि यशः स्यान्मोक्षयित्वा तु धर्मः ॥ ५ ॥

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

एकवर्णेष्विति—गवां गात्रेषु शरीरेषु स्यन्दनरेणुना रथरजोभिः एकवर्णेषु सत्सु समरूपतां गतेषु सत्सु कशापातेषु कशाघातेषु अपहर्तृदस्युकृतकशाताडनेषु क्रियमाणेषु नानावर्णविभक्तयः बहुविधाकृतिप्रविभागाः दृश्यन्ते । गावो भिन्नवर्णाः सत्योऽपि रथोत्थापितरजोधूसरतया समाकृतयो जातास्तासां शरीरेषु कशाघातेषु जायमानेषु विभक्ताः वर्णरेखाः स्फुटीभवन्तीति भावः । तद्गुणालङ्कारः ॥ ४ ॥

धनुरिति—धनुः मदीयं चापम् शीघ्रम् उपनय मत्समीपं प्रापय, मे मम स्यन्दनः रथः कल्प्यताम् , यस्य भक्तिः मयि गोषु वा श्रद्धा स स्वच्छन्दतः निजेच्छया मम गतिम् अनुयातु मामनुगच्छतु, रणशिरसि युद्धस्थाने गवार्थे गवां मोक्षणार्थम् (कृतः) प्रयत्नः मोघः निष्फलो नास्ति, निधनं मृत्युरपि यशः कीर्त्तिः स्यात् , मोक्षयित्वा दस्युहस्तात् गाः मोचयित्वा तु धर्मः स्यादिति शेषः । अहं गा मोचयितुं प्रतिष्ठे, यो यो मयि श्रद्धाशाली गवां विषये वा दृढभक्तिधरः स सर्वोऽपि युद्धे मम सहायो भवतु, रणे गवार्थं प्रयस्यतो मम यत्नस्य वैफल्यं कथमपि

रथ से उड़ी हुई धूलसे सभी गायें एकवर्ण हो गई थीं, उनपर चाबुकके आघातोंसे रेखाओंके बन जानेसे नानावर्णोंकी लकीरें पड़ गई हैं ॥ ४ ॥

राजा—तब तो—

धनुष लाओ, मेरा रथ शीघ्र तैयार कराओ, जिसके दिलमें गायोंपर भक्ति हो अपनी इच्छासे वह मेरे साथ चले, गायोंके लिये रणक्षेत्रमें किया गया प्रयास कभी भी व्यर्थ नहीं होगा, यदि युद्धमें मृत्यु हुई तो यश मिलेगा और यदि गायोंको छुड़ा सका तो धर्म होगा ॥ ५ ॥

भट—महाराजकी जो आज्ञा ।

[जाता है]

राजा—भोः! किन्नु खलु दुर्योधनस्य मामन्तरेण वैरम्। आ यज्ञमनुभवितुमनागत इति। कथमनुभवामि। कीचकानां विनाशेन वयमुन्नीतसन्तापाः संवृत्ताः। अथवा परोक्षमपि पाण्डवानां स्निग्ध इति। सर्वथा योद्धव्यम्। हास्तिनपुरनिवासाच्छीलज्ञो भगवान् दुर्योधनस्य। अथवा,

कामं दुर्योधनस्यैष न दोषमभिधास्यति।
अर्थित्वादपरिश्रान्तः पृच्छत्येव हि कार्यवान्॥ ६॥

नास्ति, यदि म्रिये तदा रणे मरणलाभेन यश एव जायते, अथ यदि गा मोचयितुं क्षमेय तदा तु धर्म एव लभ्यते इत्युभयतः शुभोदर्केयं रणयात्रेति भावः। मालिनीवृत्तम्॥ ५॥

मामन्तरेण—माम् उद्दिश्य, अनुभवितुम् साक्षात्कर्त्तुम्। कीचकानां तन्नामकानां शतस्य श्यालकानाम्। उन्नीतसन्तापाः प्राप्तदुःखाः। संवृत्ताः—जाताः। परोक्षम् प्रच्छन्नभावेन। स्निग्धः प्रीतिशाली। सर्वथा योद्धव्यम्-यत्किमपि तदाक्रमणकारणं भवतु, युद्धं तु प्रतिकारबुद्धया कर्त्तव्यमेवेति तदाशयः। हास्तिनपुरनिवासात् हस्तिनापुरे पूर्वं कृतवासत्वात्। शीलज्ञः स्वभावतः परिचितः। भगवान् युधिष्ठिरः, अत्र सर्वत्र भगवत्पदेन युधिष्ठिर एव गृह्यते, विराटाश्रये तस्य तेनैव नाम्ना प्रथितत्वात्।

काममिति—एषः भगवान् कामं निश्चयेन दुर्योधनस्य दोषं पराजयसाधनं किमपि छिद्रम् न अभिधास्यति (परकीयं छिद्रं प्रकाश्य तदीयपराजयसम्पादनस्य अशोभनकार्यत्वात् कल्याणबुद्धिरयं तथा न करिष्यति इत्यर्थः) नन्वेवं भगवतः परदोषानभिधायकत्वस्य निश्चये तत्सकाशे जिज्ञासाप्रकाशनमनुचितमिति चेत्तत्राह—

राजा—अजी, दुर्योधनका मेरे साथ क्या वैर है? ओ, यज्ञमें भाग लेने नहीं गया, मैं जाता किस तरह? कीचकोंके विनाशसे हम सन्तप्त हो गये थे, अथवा परोक्ष कारण यह हो सकता है कि हमें पाण्डवोंसे स्नेह है। सभी भाँति लड़ना ही होगा, हस्तिनापुरमें रह चुकनेके कारण भगवान् दुर्योधनके स्वभावसे परिचित होंगे, अथवा—

भले ही भगवान् दुर्योधनका दोष न कहें, परन्तु जिसे कार्य है वह तो प्रार्थना करनेसे थकेगा नहीं, पूछेगा ही॥ ६॥

कोऽत्र ? (प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

राजा—भगवांस्तावदाहूयताम् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति भगवान् ।)

भगवान्—(सर्वतो विलोक्य) भोः ! किन्नु खल्विदम् ।

गजेन्द्राः कल्प्यन्ते तुरगपतयो वर्मरचिता
रथाः सानूकर्षाः कृतपरिकरा योधपुरुषाः ।
समुद्योगं दृष्ट्वा भयमननुभूतं स्पृशति मां
न खल्वात्मन्यस्तं कृतमतिरहं ते तु चपलाः ॥ ७ ॥

अर्थित्वादिति—अर्थित्वात् प्रयोजनशालित्वात् अपरिश्रान्तः अखिन्नः कार्यवान् प्रयोजनापेक्षी पृच्छति एव । वैफल्यनिश्चयेऽपि कार्यवान् यं कमपि जनं स्वेष्टसाधनं वस्तु पृच्छत्येवेत्याशयः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

गजेन्द्रा इति—गजेन्द्राः युद्धकरिणः कल्प्यन्ते युद्धोपयुक्तसन्नाहवन्तो विधीयन्ते, तुरगपतयः अश्वश्रेष्ठाः वर्मरचिताः कवचभृतः क्रियन्ते इति शेषः । रथाः सानूकर्षाः अधोधरकाष्ठयुक्ताः क्रियन्त इत्यत्रापि योज्यम् । योधपुरुषाः योद्धारः कृतपरिकराः युद्धसन्नद्धाः, समुद्योगं दृष्ट्वा युद्धोपक्रमं विलोक्य अननुभूतं प्राक्कदाप्य-

---

कोई है यहाँ ?

[प्रविष्ट होकर]

भट—जय हो महाराजकी ।

राजा—भगवान्‌को बुलाओ तो ।

भट—महाराजकी जो आज्ञा ।

[जाता है]

[अनन्तर भगवान्‌का प्रवेश]

भगवान्—(चारों ओर देखकर) अरे, यह क्या हो रहा है ?

हाथी सजाये जा रहे हैं, घोड़ोंको कवच पहनाये गये हैं, रथोंपर जुए डाल दिये गये हैं, बहादुर लोग युद्ध के लिये तैयार हो रहे हैं, इस युद्धोद्योगको देखकर मुझे अभूतपूर्व भय छू रहा है, मुझे अपने लिये भय नहीं हो रहा है क्योंकि मैं गम्भीर हूँ, किन्तु मेरे भाई तो चञ्चल हैं । (कहीं ऐसा न हो कि हमारे भाई इस युद्धमें प्रकट हो जाँय) ॥ ७ ॥

(उपगम्य) जयतु भवान् जयतु।

राजा—विराटो भगवन्! अभिवादये।

भगवान्—स्वस्ति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि। भगवन्! एतदासनम्। आस्यताम्।

भगवान्—बाढम्। (उपविश्य) भो राजन्!

उद्योगः प्रस्तुतः कस्माच्छ्रीर्न सन्तोषमिच्छति।
पीडयिष्यति सोत्सेकान् पीडितान् मोक्षयिष्यति ॥ ८ ॥

ननुभूतं भयं (कदाचिदात्मप्रकाशो जायेत, मदज्ञातवासः परैर्ज्ञायेतेत्येवं रूपम्) माम् स्पृशति चुम्बति, मदीयं भयं न स्वविषयकं मम दृढमतित्वात् किन्तु मम भयं भ्रातृविषयकं तेषां चपलत्वादित्याह—न खल्विति० ममात्मप्रकाशभयं न आत्मन्यस्तं स्वसम्बन्धि, यतोऽहं कृतमतिः दृढनिश्चयः, ते मम भ्रातरो भीमादयस्तु चपलाः, अतः कदाचिदुपस्थिते युद्धे ते स्वं प्रकाश्याज्ञातवासं विघटयेयुरिति भीतोऽस्मीति भावः ॥ ७ ॥

उद्योग इति—कस्मात् कुतः कारणात् उद्योगः प्रस्तुतः अयं युद्धोद्यमः प्रक्रान्तः? किं श्रीः सम्पत्तिः सन्तोषम् तृप्तिम् न इच्छति, (किं प्राप्तादधिकं धन-मीहमानः परानाक्रमितुमिच्छसीति भावः) युद्धोद्यमे द्वयी विधा, क्वचित् गर्वोद्धत-जनगर्वहरणमुद्देश्यम्, क्वचन पीडाग्रस्तजनपीडाहरणमुद्देश्यं, तदत्र प्रस्तुते युद्धे किमुद्देश्यं तवेति पृच्छति—पीडयिष्यतीति० सोत्सेकान् सगर्वान्। मोक्षयिष्यति आपदस्त्राणं कारयिष्यति, भवानिति शेषः ॥ ८ ॥

[समीप जाकर]

जय हो महाराजकी, जय हो।

राजा—भगवन्, मैं विराट आपको प्रणाम करता हूँ।

भगवान्—कल्याण हो।

राजा—अनुगृहीत हूँ। भगवन्, इस आसनपर विराजिये।

भगवान्—अच्छा (बैठकर) महाराज,

यह युद्धका उद्योग क्यों किया जाता है, क्या लक्ष्मी से सन्तोष नहीं हुआ है? क्या किसी घमण्डोको पीडित कीजियेगा या किसी पीडितको मुक्त दिलाइयेगा? ॥ ८ ॥

राजा—भगवन् ! गोग्रहणादवमानितोऽस्मि ।

भगवान्—केन ?

राजा—धार्तराष्ट्रैः ।

भगवान्—धार्तराष्ट्रैरिति । (आत्मगतम्) भोः ! कष्टम् ,

एकोदकत्वं खलु नाम लोके मनस्विनां कम्पयते मनांसि ।
वैरप्रियैस्तैर्हि कृतेऽपराधे यत्सत्यमस्माभिरिवापराद्धम् ॥ ९ ॥

राजा—भगवन् ! किमिदानीं विचार्यते ।

भगवान्—न खलु किञ्चित् । तेषामुत्सुकः ।

गोग्रहणात्—दस्युभिर्गा हृत्वा कृतापमानोऽस्मीति भावः ।

एकोदकत्वमिति—लोके संसारे एकोदकत्वं समानकुलप्रसूतत्वं खलु नाम निश्चयेन मनस्विनां चेतनाशालिनाम् मनांसि कम्पयते खेदयति । हि यतः वैरप्रियैः विरोधरसिकैः तैः धार्त्तराष्ट्रैः कृते अपराधे गोग्रहणरूपे अकार्ये अनुष्ठिते यत् सत्यम् अस्माभिः इव अपराद्धम् । दुर्योधनादयो वैररसिका यद्गोहरणरूपमपराधमकुर्षत, तेन तत्सकुलतया वयमप्यात्मान इवापराधं भावयामः, तत्कारणं केवलं समानोदकत्वम् , समानोदकभावे सति सत्यपि विरोधे सम्बन्धो न निवर्त्तते, सम्बन्धिष्वन्यतमस्यापराधोऽपरानपि सम्बन्धिनो ह्रेपयति, तेन समानोदकत्वसम्बन्धो मनस्विनां कष्टकर इति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ९ ॥

तेषाम्—अपहरणपराणाम् दुर्योधनादीनाम् । उत्सुकः चिन्तायुक्तः । नाहं किमपि चिन्तयामि किन्तु केवलं दुर्योधनादीनां भावि दुःखं शोचामीति भावः ।

राजा—भगवन् , गायोंके अपहरणसे मैं अपमानित किया गया हूँ ।

भगवान्—किससे ?

राजा—धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे ।

भगवान्—धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे ? (स्वगत) बुरी बात हुई,

समानोदकभाव (एकवंशज होना) मनस्वियोंके हृदयोंको भी कम्पित कर देता है, शत्रुतासे प्रेम करनेवाले धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अपराध किया है परन्तु मुझे ऐसा लग रहा है मानो सचमुच मैंने ही अपराध किया हो यह एकवंशज होनेका ही तो दण्ड है ॥ ९ ॥

राजा—भगवन् , आप क्या सोच रहे हैं ?

भगवान्—कुछ तो नहीं, मैं उनके लिये दुखी हूँ ।

राजा—अद्यप्रभृति निभृता भविष्यन्ति । यदि शक्तोऽपि युधिष्ठिरो मर्षयति, अहं न मर्षयामि ।

भगवान्—एवमेतत् । (आत्मगतम्)

अद्येदानीं पर्णशय्या च भूमौ राज्यभ्रंशो द्रौपदीधर्षणं वा ।
वेषान्यत्वं संश्रितानां निवासः सर्वं श्लाघ्यं यत् क्षमा ज्ञायते मे ॥१०॥

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

राजा—अथ किं चेष्टते दुर्योधनः ?

निभृताः शान्ताः, युद्धे मर्दिताः सन्तः शान्तगर्वा इत्यर्थः । शक्तः-सामर्थ्य-युक्तः । मर्षयति- क्षमते (क्षमतां नाम) मर्षयामि-क्षमे ('वर्तमानसामीप्ये वर्त्त-मानवद्वा' क्षमिष्ये इत्यर्थः)

अद्येति—अद्य इदानीम् अस्मिन् वनवासाज्ञातवाससमये भूमौ वनभुवि पर्णशय्या पत्रकृतं शयनीयम् , राज्यभ्रंशः सम्राट्पदतश्च्युतिः, द्रौपदीधर्षणम् द्रौपद्याः अवमाननम् केशाम्बराकर्षणात्मकम् , वेषान्यत्वम् रूपान्तरग्रहणम् (सन्न्यासिसूदबृहन्नलामन्दुरापालगोरक्षिरूपैर्भ्रातॄणां सैरन्ध्रीभावेन द्रौपद्याश्च विराटराजधान्यामाश्रयग्रहणम्) संश्रितानाम् परकीयसेवाधिकृतानां निवासः सर्वं प्रागुक्तरूपं मे सकलमपि कष्टजातम् (साधुभिरमीभिः) क्षमा तितिक्षा ज्ञायते बुध्यते । विराटादयः सद्बुद्धयो ममाखिलमपि विपत्तिजातं मदीयां क्षमां वदन्ति, वस्तुतस्तु मम तत् सत्यपारवश्यमिति । शालिनीवृत्तम् ॥ १० ॥

किं चेष्टते—किं करोति, गोग्रहणे कियद्दूरं व्याप्रियत इत्यर्थः ।

राजा—आजसे ठंढे हो जायेंगे, समर्थ होकर भी युधिष्ठिर ही सह सकते हैं, मैं नहीं सहूँगा ।

भगवान्—यह ठीक है । (स्वगत)

आज मेरा यह जमीनपर पत्ते बिछाकर सोना, राज्यसे च्युत होना, द्रौपदीका अपमान, रूपान्तर ग्रहण करके दूसरेके आश्रयमें रहना, सब प्रशंसनीय हो रहा है क्योंकि विराट उसे मेरी क्षमा मान रहे हैं ॥ १० ॥

(प्रवेश करके)

भट—जय हो महाराजकी ।

राजा—दुर्योधन क्या कर रहा है ?

भटः—न खलु दुर्योधन एव, पृथिव्यां राजानः सर्वे प्राप्ताः ।

द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथश्च शल्योऽङ्गराजः शकुनिः कृपश्च ।
तेषां रथोत्कम्पचलत्पताकैर्भग्ना ध्वजैरेव वयं न बाणैः ॥ ११ ॥

राजा—(उत्थाय कृताञ्जलिः) कथं तत्रभवान् गाङ्गेयोऽपि प्राप्तः ।

भगवान्—(आत्मगतम्) साधु धर्षितेनापि नातिक्रान्तः समुदाचारः । भोः !

किमर्थं खलु सम्प्राप्तः कुरूणां गुरुरुत्तमः ।
शङ्के तीर्णा प्रतिज्ञेति स्मारणं क्रियते मम ॥ १२ ॥

द्रोणश्चेति—द्रोणः, भीष्मः, जयद्रथः सिन्धुराजः, शल्यः, अङ्गराजः कर्णः, शकुनिः दुर्योधनमातुलः, कृपः कृपाचार्यो द्रोणश्यालः, इमे सर्वेऽपि प्राप्ता इति पूर्वोक्तेनान्वयः । तेषां पूर्वोक्तनामकानां योधानां रथोत्कम्पचलत्पताकैः रथप्रचारकम्पमानैः ध्वजैः ध्वजदण्डैः एव वयं भग्नाः अपमताः, बाणैः शरैः न भग्नाः, सम्प्रति यावत् तेषां ध्वजदर्शनमेवास्मन्मानभङ्गकरमजनि न बाणसम्पातः प्रवृत्त इति भावः ॥ इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११ ॥

तत्रभवान्—पूज्यः । गाङ्गेयः भीष्मः । (उत्थाय कृताञ्जलिरिति भीष्मं प्रत्यादरप्रकाशाय) साधु-युक्तम् । धर्षितेन गवाहरणेनापमानितेनापि विराटेन । नातिक्रान्तः-न परित्यक्तः । समुदाचारः पूज्ये स्वादरप्रकाशः ।

किमर्थमिति—कुरूणाम् कुरुवंश्यानाम् उत्तमो गुरुः पितामहो भीष्मः किमर्थं खलु सम्प्राप्तः किमर्थमत्रायातः ? शङ्के तर्कयामि । प्रतिज्ञा अज्ञातवासनियमः तीर्णा

भट—केवल दुर्योधन ही नहीं, पृथ्वी परके सभी राजा आए हुए हैं—

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, शल्य, कर्ण, शकुनि और कृपाचार्य सभी आये हैं, उनके चलते हुए रथोंके कंपमान ध्वजदण्डोंसे ही हमलोग पराजित हो गये हैं, बाणोंसे नहीं ॥ ११ ॥

राजा—(उठकर, हाथ जोड़कर) क्या आदरणीय गाङ्गेय भी आये हैं ?

भगवान्—(स्वगत) ठीक है, अपमानित होकर भी विराटने औचित्यप्राप्त सत्कारका त्याग नहीं किया ।

कौरवोंके पितामह गाङ्गेय क्यों आये हैं, क्या मैंने अज्ञातवासरूप प्रतिज्ञा पूरी कर ली है, इसीको याद दिलाने आये हैं ? ॥ ११ ॥

राजा—कोऽत्र ।

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

राजा—सूतस्तावदाहूयताम् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

(प्रविश्य)

सूतः—जयत्वायुष्मान् ।

राजा—

रथमानय शीघ्रं मे श्लाघ्यः प्राप्तो रणातिथिः ।
तोषयिष्ये शरैर्भीष्मं जेष्यामीत्यमनोरथः ॥ १३ ॥

सम्यक् समापिता इति मम स्मारणं क्रियते बोध्यते । त्वयाऽज्ञातवासः साधु निरूढः इति मां स्मारयितुमेव भगवान् पितामहोऽत्र समायात इति मम तर्क इति भावः ॥ १२ ॥

सूतः रथवाहकः—आहूयताम् आकार्यताम् ।

रथमानयेति—शीघ्रम् अविलम्बेन स्यन्दनम् मम सांग्रामिकं रथम् आनय मत्समीपे उपस्थापय । श्लाघ्यः प्रशंसनीयः रणातिथिः युद्धेन प्रसादनीयः (भीष्मः) प्राप्तः समायातः, युद्धेन प्रसन्नतां प्रापणीयो भगवान्भीष्मः समायातस्तन्मे रथं शीघ्रमानयेति भावः । भीष्मं शरैः स्वशरक्षेपव्यापारैः तोषयिष्ये प्रसादयिष्यामि, ननु परिपन्थिपराजय एव लक्ष्यतां नीयतां तत्राह—जेष्यामीति० जेष्यामि भीष्मं पराजेष्ये इति तु अमनोरथः नास्ति मनोगतम्, तस्यापराजेयपराक्रमशालित्वादिति भावः ॥ १३ ॥

राजा—कोई है यहाँ ?

(प्रवेश करके)

भट—जय हो महाराजकी ।

राजा—सूतको बुलाओ ।

भट—महाराजकी जैसी आज्ञा । (जाता है)

(प्रवेश करके)

सूत—जय हो महाराजकी ।

राजा—मेरा रथ शीघ्र ले आओ, श्रद्धेय भीष्म रणके अतिथिके रूपमें आये हैं, अपने बाणोंसे उन्हें मैं आज प्रसन्न करूँगा, जीत पाऊँगा यह मनोरथ करना अनुचित है ॥ १३ ॥

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । आयुष्मन् !

रिपूणां सैन्यभेदेषु यस्ते परिचितो रथः ।
रथचर्यां बहिष्कर्तुं तमास्थायोत्तरो गतः ॥ १४ ॥

राजा—कथं निर्यातः कुमारः ।

भगवान—भो राजन् ! संवार्यतां संवार्यतां कुमारः ।

अगणितगुणदोषो युद्धतीक्ष्णश्च बाल्या-
न्न च दहति न कश्चित् सन्निकृष्टो रणाग्निः ।
अथ च परिहरन्ते धार्त्तराष्ट्रा न किञ्चि-
न्न खलु परिभवात् ते युद्धदोषान् ब्रवीमि ॥ १५ ॥

आज्ञापयति—आदिशति । आयुष्मन्निति विराटसम्बोधनं सूतस्य वयोज्येष्ठतां गमयति ।

रिपूणामिति—यः प्रसिद्धः रिपूणाम् सैन्यभेदेषु सेनासमुदायपराभवेषु परिचितः शिक्षितचर्यः रथः, यं रथमारुह्य त्वं शत्रुसेनापराभवानकार्षीरिति भावः, तं रथम् आस्थाय आरुह्य रथचर्यां रथमारुह्य युद्धकौशलं बहिष्कर्तुं प्रकाशयितुम् उत्तरः नाम कुमारः गतः अतो रथोऽसौ नानीत इत्युत्तरं बोध्यम् ॥ १४ ॥

निर्यातः—निर्गतः ।

संवार्यताम्—युद्धे गमनान्निरुध्यताम् ।

अगणितगुणेति—अगणितौ अनिर्णीतौ गुणदोषौ लाभहानी यस्य तादृशः अनिश्चितजयपराजयः अथवा अनिश्चितापराधनिरपराधभावः युद्धतीक्ष्णः संग्रामभीषणः च रणाग्निः सन्निकृष्टः प्राप्तः सन् बाल्यात् बाल्यं दृष्ट्वा कश्चित् न दह-

---

सूत—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा । आयुष्मन्,

आपका जो रथ शत्रुसैन्य विनाशमें अभ्यस्त है, उसे लेकर कुमार उत्तर युद्धमें अपना कौशल दिखलाने चले गये हैं ।

राजा—क्यों, कुमार चले गये ?

भगवान्—महाराज, कुमारको युद्धमें जाने से रोकिये, रोकिये ।

कुमार युद्धके गुण-दोषको नहीं पहचानते हैं, लड़कपनके कारण वह युद्धमें बड़ी तेजी दिखलाते हैं, समीपस्थ रणाग्नि किसी को भी जला देती है, धार्तराष्ट्र युद्धमें किसी प्रकारके सैनिकको बचने नहीं देते हैं, ऐसी बात मैं कुमारकी निन्दाके उद्देश्यसे नहीं, केवल आपके प्रति प्रेमके कारण कह रहा हूँ ॥ १५ ॥

राजा—तेन हि शीघ्रमन्यो रथः कल्प्यताम्।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्।

राजा—अथवा एहि तावत्।

सूतः—आयुष्मान्! अयमस्मि।

राजा—

त्वमिदानीं कुमारस्य किं न वाहितवान् रथम्।
अनुज्ञातोऽसि किं तेन न राज्ञां सारथिर्भवान्॥ १६॥

तीति न, अर्थात् दहत्येव। युद्धे उपस्थिते सति बाल्यात् कोपि ततो न रक्षितो भवतीति भावः। अथ च धार्त्तराष्ट्राः दुर्योधनादयः किञ्चित् किमपि न परिहरन्ते नोपेक्षन्ते, कीदृशमपि सम्मुखागतं बालं वृद्धं वा न विजहतीति भावः। न खलु परिभवात् त्वत्सुतावमानमुद्दिश्य ते तुभ्यं युद्धदोषान् संग्रामसंभविनोऽनर्थान् ब्रवीमि कथयामि (किन्तु सौहार्दादेव तथा कथयामीति भावः)। युद्धे जयपराजयाव्यवस्थौ, बालभावात्कोऽपि रणे न परिहीयते, अथ दुर्योधनादयो रणेऽत्यन्तनिर्दयाः, अत एव मया कुमारस्य युद्धान्निवारणीयता कथिता, नतु तत्र कुमारनिर्वीर्यता प्रयुक्ता गर्हाऽभिप्रेतेति तात्पर्यम्॥ १५॥

कल्प्यताम्—सज्जीक्रियताम्।

त्वमिदानीमिति—इदानीम् अद्यतने युद्धावसरे त्वं कुमारस्य राजकुमारस्योत्तरस्य रथं यानं किं कुतो न वाहितवान् सञ्चालितवान्। अद्य युद्धार्थं गच्छतो रथस्य सूतस्त्वं त्वमात्मनैव किन्नाकृथा इति राज्ञः सूतं प्रति कोपव्यञ्जकं वचनम्। राज्ञां सारथिः राजरथवाहकः त्वं तेन राजकुमारेण किं किमर्थम् न

राजा—तो शीघ्र दूसरा रथ तैयार करो।

सूत—आयुष्मान् की जो आज्ञा।

राजा—अथवा, तनिक इधर आओ।

सूत—आयुष्मन्, यहीं तो हूँ।

राजा—आज तुमने कुमारके रथका सञ्चालन क्यों नहीं किया? तुम तो राजाओंके सारथी हो। तुमको कुमारने रथ चलानेकी अनुमति क्यों नहीं दी॥ १६॥

सूतः—प्रसीदत्वायुष्मान् । रथं सङ्कल्पयित्वा तु सूतसमुदाचारेणोपस्थितः खल्वहम् । कुमारेण,

किन्नु तत् परिहासार्थं किन्नु तत्रास्ति कौशलम् ।
मामतिक्रम्य सारथ्ये विनियुक्ता बृहन्नला ॥ १७ ॥

राजा—कथं बृहन्नलेति ।

भगवान्—राजन् ! अलमलं सम्भ्रमेण ।

यदि स्वचक्रोद्धतरेणुदुर्दिनं रथं समास्थाय गता बृहन्नला ।

अनुज्ञातः तदीयरथचालनायानुमतः असि ? केन हेतुना राजसारथ्येन चतुरतया संभावितस्यापि तव सारथ्यमसौ कुमारो नान्वमंस्तेति जिज्ञासा ॥ १६ ॥

सङ्कल्पयित्वा—सज्जीकृत्य । सूतसमुदाचारेण सूतरूपेण ।

किन्नु तदिति—कुमारेणोत्तरेण मां सदाकृतसारथ्यं रथमादायोपस्थितमपि माम् अतिक्रम्य परित्यज्य बृहन्नला नाम विराटकन्यायास्तौर्यत्रिकाचार्या (नपुंसकभावापन्नोऽज्ञातवासस्थोऽर्जुनः)। सारथ्ये सूतकर्मणि विनियुक्ता योजिता, तत् बृहन्नलायाः सारथ्ये नियोजनम् तत्परिहासार्थम् बृहन्नलाया उपहासाय किन्नु ? किन्नु अथवा तत्र बृहन्नलायाम् कौशलम् सारथिकर्मदक्षत्वम् अस्ति । तदुपहासायैवोत्तरेण बृहन्नला नियुक्ताऽथवा तत्र विद्यते दक्षत्वातिशय इति नाहं वेद्मि इति सूतस्याशयः ॥ १७ ॥

कथं बृहन्नलेति—कथयतो विराटस्य स्त्रीत्वेन बृहन्नलायाः सूतकर्मणि नितान्तमनुपयुक्तत्वेनाश्चर्यं व्यक्तीभवति ।

सम्भ्रमेण—आवेगेन ।

यदीति—यदि बृहन्नला स्वचक्रोद्धृतरेणुदुर्दिनम् स्वरथाङ्गोन्थापितधूलि-

---

सूत—दया करें महाराज, मैं रथ सजाकर सारथिके रूपमें उनके पास गया, परन्तु कुमारने—

न जानें, मेरे परिहासके लिये अथवा बृहन्नलामें किसी प्रकारका कौशल देखकर मुझे छोड़ दिया और सारथिके पदपर बृहन्नलाको नियुक्त किया ॥ १७ ॥

राजा—क्यों, बृहन्नलाको सारथि बनाया ?

भगवान्—महाराज घबड़ाने की कुछ आवश्यकता नहीं है ।

यदि रथचक्रसे उड़ाई गई धूलसे आकाशमें मेघमण्डल की सृष्टि करने वाले

परान् क्षणैर्नेमिरवैर्निवारयन् विनापि बाणान् रथ एव जेष्यति ॥ १८ ॥

राजा—तेन हि शीघ्रमन्यो रथः कल्प्यताम् ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (निष्क्रान्तः) ।

(प्रविश्य)

भटः—भग्नः खलु कुमारस्य रथः ।

राजा—कथं भग्नो नाम ।

भगवान्—कथमिदानीं भग्नो नाम ।

भटः—श्रोतुमर्हति महाराजः ।

बहुभिः समराभिज्ञैरारुद्धनाश्वपथः परैः ।

वर्षाकरम् रथम् समास्थाय आरुह्य बृहन्नला गता तदा, क्षणैः अल्पकालेन नेमिरवैः चक्रप्रान्तध्वनिभिः परान् शत्रून् निवारयन् प्रतिषेधयन् रथः एव बाणान् शरपातान् विनापि जेष्यति विजयमाप्स्यति । यदि बृहन्नला सारथीभूय गता तदा तद्रथचालनकौशलमेव विजयायालम् उत्तरस्य बाणमोक्षस्य विजये नास्ति प्रयोजनमिति भावः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ १८ ॥

भग्नः—पराजयं गतः ।

इदानीं भग्नो नाम—अत्र बृहन्नलाकृतसारथ्यस्योत्तररथस्यासंभाव्यपराजयत्वं मनसि कृत्य भगवतेत्थमुक्तमिति बोध्यम् ।

बहुभिरिति—बहुभिः प्रचुरसंख्यकैः समराभिज्ञैः युद्धकलाप्रवीणैः परैः

रथपर बैठकर बृहन्नला गई है, तो निश्चय जानिये, रथनेमि-शब्दसे ही कुछ ही क्षणोंमें शत्रुओंको परास्त करके रथ लौट आवेगा, कुमारको बाण चलाने की आवश्यकता नहीं होगी ॥ १८ ॥

राजा—तो शीघ्र दूसरा रथ तैयार करो ।

सूत—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा । (जाता है)

(प्रवेश करके)

भट—कुमारका रथ परास्त हो गया ।

राजा—क्यों, कुमारका रथ परास्त हो गया ?

भगवान्—इस समय कैसे परास्त हो गया ?

भट—सुनिये महाराज, युद्धचतुर बहुतसे शत्रुओंने घोड़ोंका मार्ग घेर लिया,

भग्नो गहनलोभेन श्मशानाभिमुखो रथः ॥ १९ ॥

भगवान्—(आत्मगतम्) आ अत्र खलु गाण्डीवम् । (प्रकाशम्) भो राजन् !

निमित्तं किञ्चिदुत्पन्नं श्मशानाभिमुखे रथे ।
धार्तराष्ट्राः स्थिता यत्र श्मशानं तद् भविष्यति ॥ २० ॥

राजा—भगवन् ! अकाले स्वस्थवाक्यं मन्युमुत्पादयति ।

शत्रुभिः आच्छन्नाश्वपथः आवृतरथगमनमार्गः निरुद्धः रथः कुमारस्य रथः गहनलोभेन आत्मरक्षार्थं वनप्राप्तीच्छया श्मशानाभिमुखो रथः भग्नः प्रतिनिवृत्तः । यदा बहुभिर्युद्धनिपुणैः शत्रुभी रथो निरुद्धप्रसरो जातस्तदा पलायनमेव प्रतीकारमुत्प्रेक्ष्य श्मशानकाननाभिमुखं पलायित इति भावः । उत्तरे युद्धेऽशक्ते सति बृहन्नलारूपोऽर्जुनो गहनश्मशाने गोपितं निजं गाण्डीवं नेतुं श्मशानाभिमुखं रथमवाहयत् , परं तत्तत्त्वानभिज्ञस्य भटस्योत्तरपलायनज्ञानेनेयं कथा ॥ १९ ॥

आ इति स्मरणव्यञ्जने । अत्र गहनश्मशाने ।

निमित्तमिति—रथे उत्तराधिष्ठिते स्यन्दने श्मशानाभिमुखे श्मशानगामिनि सति किञ्चित् निमित्तम् शुभशकुनम् उत्पन्नम् , किं तच्छुभशकुनं बोधयतीत्यपेक्षायामाह—धार्तेति० यत्र स्थाने स्थिताः धार्तराष्ट्राः दुर्योधनादयः तत् स्थानं श्मशानं भविष्यतीति । श्मशानाभिमुखो रथः शुभशकुनतया शत्रून् पराजेष्यत इति प्रकाशोऽर्थः, हृदयस्थोऽर्थस्तु श्मशानकाननगोपितगाण्डीवयुक्तोऽर्जुनोऽवश्यं तान् मारयिष्यतीति ॥ २० ॥

अकाले असमये, तादृशानृतकथानुपयुक्ते काले । स्वस्थवाक्यम्—अनुद्वेगिनो वाक्यम् मन्युम् उत्पादयति कोपयति । पुत्रो मम पलाय्य श्मशानगहनं प्रविष्टस्त्वं

अतः जङ्गलमें भाग जानेके लोभसे रथ श्मशानकी ओर चल पड़ा ॥ १९ ॥

भगवान्—(स्वगत) अहा, यहीं पर तो गाण्डीव रखा है । (प्रकाश) महाराज, कुछ ऐसा लक्षण दीखता है कि जब रथ श्मशानभूमिकी ओर गया है तब वह स्थान श्मशान बनकर रहेगा जहाँ धृतराष्ट्रके पुत्र अभी हैं ॥ २० ॥

राजा—भगवन् , असमय में कहा गया शकुनादि स्वस्थ वाक्य कोप पैदा करता है ।

भगवान्—अलं मन्युना । कदाचिदनृतं नोक्तपूर्वम् ।
राजा—आ अस्त्येतत् । गच्छ भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः ।
भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः)
राजा—

को नु खल्वेष सहसा कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
नदीस्रोत इवाविद्धः क्षणात् संवर्तते ध्वनिः ॥ २१ ॥

ज्ञायतां शब्दः ।

पुनस्तस्य तत्र गमनं स्वस्थमनसा शुभशकुनमात्थ तदिदं तव कथनं मे न रोचत इत्यर्थः ।

अलं मन्युना—कोपस्य किमपि प्रयोजनं नास्ति । अनृतम् मिथ्या । मया कदापि पूर्वं मिथ्या नोक्तं तदधुनापि मम वचोऽवश्यं सत्यं भविष्यतीति विश्वस्य कोपं विजहीहीति भावः ।

अस्त्येतत्—भवता कदापि मिथ्या नोक्तमिति सत्यमित्यर्थः ।

वृत्तान्तः युद्धसमाचारः । उत्तरार्धं भटं प्रति पूर्वार्द्धं तु युधिष्ठिरं प्रति बोध्यम् ।

को नु खल्विति—को नु खलु एषः ध्वनिः शब्दः सहसा हठात् मेदिनीम् पृथिवीम् कम्पयन् चालयन्निव आविद्धः वक्रीभूतो नदीस्रोतः नदीप्रवाह इव संवर्तते प्रादुर्भवति, यथा नदीप्रवाहः क्वचन पथि स्थितेन प्रतिबन्धभूतेन शिलाखण्डादिना वक्रीकृतः सन् यथा प्रोच्चैः शब्दायते, तथा महीं कम्पयन्निव कोयं ध्वनिरुत्पद्यत इति भावः ॥ २१ ॥

भगवान्—कोप करने की आवश्यकता नहीं है । मैंने इस से पहले कभी मिथ्या नहीं कहा ।

राजा—हाँ यह तो है । जाओ फिर समाचार का पता लगाओ ।

भट—महाराजकी जो आज्ञा । (जाता है)

राजा—सहसा पृथ्वीको कम्पायमान करता हुआ यह शब्द कहाँसे आ रहा है, ऐसा लगता है मानो नदीप्रवाह उलट गया हो (और वही गरज रहा हो) ॥ २१ ॥

देखो, यह शब्द कैसा है ?

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः । श्मशानान्मुहूर्तविश्रान्ततुरगेण कुमारेण तु,

भगवान्—एष मामनृतवादिनं न कुर्यात् ।

राजा— किं कृतं कुमारेण ?

भटः—

कृता नीला नागाः शरशतनिपातेन कपिला
हयो वा योधो वा न वहति न कश्चिच्छरशतम् ।
शरैः स्तम्भीभूताः शरपरिकराः स्यन्दनवराः
शरैश्छन्ना मार्गाः स्रवति धनुरुग्रां शरनदीम् ॥ २२ ॥

मुहूर्त्तविश्रान्ततुरगेण—कियन्तं कालं यावत् स्वरथ्येभ्यो विश्रामावसरं प्रदाय ।

अनृतवादिनं न कुर्यात्—कदाचिदयं मां मिथ्यावादिनं न साधयेत्, अर्थात् यद्ययं संवाददाता परतोऽपि कुमारस्य पलायनादिकमेवाभिधास्यति तदाहं शुभशकुनाभिधायी मिथ्यावक्ता प्रत्यायितो भविष्यामीति भावः ।

कृता इति—नीलाः नीलवर्णाः नागाः गजाः शरशतनिपातेन बहुबाणवर्षणेन कपिलाः रक्तवर्णाः कृताः (बहुबाणक्षतकायस्रवद्रक्तरञ्जिततनवो व्यधीयन्तेति भाव)। कश्चित् (अपि) हयः अश्वः योधो योद्धा वा शरशतं बाणशतक्षतानि न वहति इति न (सर्वेऽपि अश्वाः योद्धारश्च शरशतक्षता अभूवन्नेवेति भावः)। शरपरिकराः बाणच्छन्नाः स्यन्दनवराः रथमुख्याः शरैः कुमारविसृष्टबाणैः स्तम्भीभूताः स्थाणुभावमापादिताः निश्चलीकृता इत्यर्थः, मार्गाः युद्धस्थलपथाः शरैश्छन्नाः बाणैर्व्याप्ताः, धनुः कुमारचापः उग्राम् भीषणाम् शरनदीम् बाणवृष्टिं स्रवति प्रवाहयति । तदित्थं वीरायितं कुमारेणेति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

(प्रवेश करके)

भट—जय हो महाराज की, कुमारने श्मशानमें कुछ देरतक घोड़ोंको विश्राम देकर—

भगवान्—कदाचित् यह मुझे मिथ्यावादी न सिद्ध कर दे ।

राजा—कुमार ने क्या किया?

भट—सैंकड़ों बाणों के प्रहार से काले हाथियों को लाल बना डाला है। ऐसा कोई भी घोड़ा या योद्धा नहीं है जिसे बाण न लगे हों, शरों से घिरे हुए रथ स्तब्ध होकर खड़े हैं, धनुष भयङ्कर शरधारा प्रवाहित कर रहा है ॥ २२ ॥

भगवान्—(आत्मगतम्)

एतदक्षयतूणित्वं येन शक्रस्य खाण्डवे ।
यावत्यः पतिता धारास्तावन्तः प्रेषिताः शराः ॥ २३ ॥

राजा—अथ परेष्विदानीं को वृत्तान्तः ।

भटः—अप्रत्यक्षं हि तत्र मे । प्रवृत्तिपुरुषाः कथयन्ति—

धनुर्घोषं द्रोणस्तदिदमिति बुद्ध्वा प्रतिगतो
ध्वजे बाणं दृष्ट्वा कृतमिति न भीष्मः प्रहरति ।

एतदिति—एतत् अविरलशरवर्षित्वम् धनुषः अक्षयतूणित्वम् बाणक्षयरहिततूणीरभावः (अर्थात् एतादृशी शरधारा तस्यैव धनुषः संभवति यदक्षयतूणीरं स्यात्, तादृशञ्च गाण्डीवमेव, तदवश्यं कृत्यमिदं तस्यैव गाण्डीवस्य धनुषः), येन गाण्डीवेन खाण्डवे खाण्डवनामकस्य वनस्य दाहावसरे यावत्यः यत्संख्याकाः शक्रस्य इन्द्रस्य धाराः जलवृष्टयः पतिताः तावन्तः शराः प्रेषिताः । यद्गाण्डीवं खाण्डववनदाहावसरे शक्रकृतजलधारापातसमसङ्ख्यकबाणवृष्टिकरं, तदेवेदं शरधारावर्षणमकृत, तस्यैवाक्षयतूणीरत्वकृतेयं शरवृष्टिरिति भावः ॥ २३ ॥

परेषु-शत्रुषु । को वृत्तान्तः- कीदृशः समाचारः । शत्रव इदानीं किमाचरन्तीति बाणवृष्टिफलजिज्ञासा ।

तत्र—शत्रुवृत्तान्तविषये । अप्रत्यक्षम्—साक्षात्काराभावः, शत्रूणां वृत्तमहं स्वचक्षुषा नैक्षिषि, केवलं दूताः कथयन्ति, प्रवृत्तिपुरुषाः वार्त्ताहरा दूताः ।

धनुर्घोषमिति—द्रोणः द्रोणाचार्यः धनुर्घोषम् धनुष्टङ्कारम् तत् इदम् इति तस्यामुकस्य धनुषः अयं टङ्कार इति बुद्ध्वा ज्ञात्वा प्रतिगतः परावृत्तः, ध्वजे

भगवान्—(स्वगत) यह प्रभाव उन अक्षय तूणीरों का ही है, जिन्होंने इन्द्र के प्रिय खाण्डव वन को जलाने के समय इन्द्र की जलधारा के समान बाण छोड़े थे ॥ २७ ॥

राजा—अब शत्रुपक्ष का क्या समाचार है ?

भट—उनके विषयमें मेरी प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है, समाचार लानेवालों का कहना है कि—

यह उसी धनुषकी टङ्कार है ऐसा समझकर द्रोणाचार्यने लड़ना छोड़ दिया है, भीष्मने ध्वजामें लगे बाणको देखकर—लड़ना व्यर्थ है—समझकर प्रहार

शरैर्भग्नः कर्णः किमिदमिति चान्ये नृपतयो
भयेऽप्येको बाल्यान्न भयमभिमन्युर्गणयति ॥ २४ ॥

भगवान्—कथमभिमन्युः प्राप्तः। भो राजन् !

युध्यते यदि सौभद्रस्तेजोऽग्निर्वंशयोर्द्वयोः ।
सारथिः प्रेष्यतामन्यो विक्लवात्र बृहन्नला ॥ २५ ॥

स्वकेतौ बाणं परप्रहृतं शरं दृष्ट्वा कृतमिति युद्धं वृथेति बुद्ध्या भीष्मः न प्रहरति परप्रहृतबाणं दृष्ट्वैव भीष्मो निवृत्तबाणव्यापारो जात इत्यर्थः, कर्णः अङ्गराजः शरैः कुमाररथक्षिप्तबाणैः भग्नः पराजितः, अन्ये च ते ते नृपतयः किमिदमिति आश्चर्यचकिता अजायन्तेति भावः, तदित्थं सर्वेऽपि महावीरा आश्चर्यचकितीकृताः श्मशाननिवृत्तेन कुमाररथेनेत्याद्यपादत्रयार्थः । केवलम् एकोऽभिमन्युः बाल्यात् बालचापलेन परिणामचिन्ताशून्यत्वात् भये अपि भयकारणे तादृशे बाणसंपाते पुरो जायमानेऽपि भयं न गणयति निर्भीकभावेन युद्ध्यते । यज्ञसङ्गतस्याभिमन्यो-रत्र गोग्रहणे कौरवसहायकत्वं बोध्यम् ॥ २४ ॥

युद्ध्यत इति—यदि द्वयोः वंशयोः स्वमातृकुलपितृकुलयोः यादवपाण्डव-वंशयोः तेजोऽग्निः प्रतापाग्निसदृशः अभिमन्युः यदि युद्ध्यते तदा तेन प्रसक्ते कोऽपि अन्यः सारथिः प्रेष्यताम् , अत्र तादृशमहावीरयुद्धे बृहन्नला विक्लवा भय-विह्वला स्यात् (षण्ढप्रकृतेस्तस्यास्तादृशयुद्धे भयग्रस्तत्वमेकान्तसंभवि, तेन कश्चिद-परः सारथिः प्रेष्यतामिति राजानं प्रत्युक्तिः, निगूढार्थस्तु अर्जुनोऽभिमन्युना युद्ध्यते, स च पुत्रवात्सल्यविक्लवोऽभिमन्यु न जेष्यति, तेन कोऽपि परः कुमारत्रा-ताऽन्विष्य विसृज्यताम् इति) ॥ २५

करना छोड़ दिया है, बाणोंके प्रहारोंसे कर्ण पराभूत हो रहे हैं, दूसरे नृपगण यह क्या हो गया ऐसा सोचकर चकरा रहे हैं, भयके कारण के सामने आनेपर भी केवल अभिमन्यु निर्भय भावसे लड़ता जा रहा है ॥ २४ ॥

भगवान्—क्यों, अभिमन्यु आया है ? महाराज,

यादव और पाण्डवोंका तेजस्वी वीर अभिमन्यु यदि लड़ रहा है, तब आप कुमारके रथपर किसी और सारथीको भेजें, इसमें बृहन्नला विवश हो जायगी ॥ २५ ॥

राजा—मा मा भवानेवम्।

भीष्मं रामशरैरभिन्नकवचं द्रोणं च मन्त्रायुधं
कृत्वा कर्णजयद्रथौ च विमुखौ शेषांश्च तांस्तान् नृपान्।
सौभद्रं स्वशरैर्न घर्षयति किं भीतः पितुः प्रत्ययात्
संसृष्टोऽपि वयस्यभावसदृशं तुल्यं वयो रक्षति ॥ २६ ॥

भटः—एष खलु कुमारस्य रथः,

आलम्बितो भ्रमति धावति तेन मुक्तो

भीष्ममिति—रामशरैः परशुरामप्रेरितैः बाणैः अभिन्नकवचम् अविदारितवर्माणम् अक्षतमित्यर्थः मन्त्रायुधं मन्त्रप्रहरणम् द्रोणं च (विमुखौ कृत्वा) कर्णजयद्रथौ च विमुखौ कृत्वा पराभूय तौंस्तान शेषान् नृपाँश्च विमुखान् कृत्वा (उत्तरः कुमारः) किं स्वशरैः सौभद्रं न घर्षयति अभिमन्युं न पराजयते? अवश्यं जयतीत्यर्थः। पितुः प्रत्ययात अभिमन्युजनकस्य अर्जुनस्य जगदेकवीरताख्यातेः भीतः शङ्कितः सन् संसृष्टोऽपि अभिमन्युना सह कृतमैत्रीकोऽपि तुल्यं सौभद्रवयसा समानम् वयः रक्षति। समानवयसोर्हि तयोर्मैत्रीभावो जायमानो वयःकारणक एव संभवतीति भावः। यो राजकुमार उत्तरः परशुरामेण सह युद्धेऽपि अप्राप्तक्षतं भीष्मं तथा मन्त्रायुधं द्रोणाचार्यमेवं कर्णं जयद्रथं तथाऽन्यान्यान् बहून् नृपतीन् पराभूतवाँस्तस्यैव कुमारस्याभिमन्युना सह जायमानं सख्यं तयोस्तुल्यवयसोर्युक्तमेव, समवयसोर्हि सख्यस्य स्वाभाविकत्वम्, अत एव च सख्यादभिमन्युं नाभिभवति कुमार इति तात्पर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥२६॥

आलम्बित इति—तेन सारथिना जनेन आलम्बितः स्थित्यर्थं गृहीतप्रग्रहः

राजा—भगवन् आप ऐसा न कहें,

परशुरामके बाणोंसे जिनका कवच नहीं छिदा ऐसे भीष्मको और मन्त्रायुध द्रोणको, एवं कर्ण तथा जयद्रथको और अन्यान्य नृपतियों को विमुख करनेवाला कुमार क्या अभिमन्युको अपने बाणोंसे पराभूत नहीं कर देगा? हो सकता है अभिमन्युके पिता अर्जुनके ख्यालसे कुमार अभिमन्युके साथ मैत्री कर ले, यह भी आयु एवं वंशके विचारसे ठीक ही होगा॥ २६॥

भट—कुमारका रथ—

सारथीद्वारा ठहराये जानेपर नाचने लगता है, छोड़ देनेपर जोरोंसे दौड़ता

न प्राप्य धर्षयति नेच्छति विप्रकर्तुम् ।
आसन्नभूमिचपलः परिवर्तमानो
योग्योपदेशमिव तस्य रथः करोति ॥ २७ ॥

राजा—गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । जयतु विराटेश्वरः । प्रियं निवेदये महाराजाय । अवजितं गोग्रहणम् । अपयाता धार्तराष्ट्राः ।

सन् भ्रमति परितो भ्राम्यति नतु तिष्ठति, मुक्तः अग्रे गन्तुं मुक्तप्रग्रहः सन् धावति पलायते नतु यथाभिमतं गच्छति । प्राप्य अवसरं लब्ध्वाऽपि न धर्षयति न प्रतिरथमाक्रामति, विप्रकर्तुम् प्रतिरथमभिमन्युं नाभिभवितुम् इच्छति, आसन्नभूमिचपलः प्रतिरथसमीपदेशे चपलः परिवर्त्तमानः समन्ततः चरन् रथः कुमाररथः तस्य कुमारस्य योग्योपदेशम् रथचर्याभ्यासम् इति करोति । रथस्य सारथिः कुमाराधिष्ठितं रथं तथा चालयति यथा परो नाभिभूतः स्यादिति मन्ये, कुमारस्य रथो रथचर्यामभ्यस्यति, नतु वस्तुतो युध्यते इति भावः । योग्यापदस्याभ्यासार्थे प्रयोगो दृष्टो यथा नैषधीये—'पुनः पुनस्तद्युवयुग्विधाता योग्यामुपास्ते न युवां युयुक्षुः' ॥ २७ ॥

वृत्तान्तः—युद्धवृत्तम् ।

अवजितम्—पराजयं गमितम्, गोग्रहणप्रसक्ते युद्धे कुमारस्य विजयो जात इत्यर्थः । अपयाताः पलायिताः ।

है, समीप पहुँचकर भी अपने प्रतिरथको पराभूत नहीं करता है. समीप पहुँचकर नाँचने लगता है, ऐसा मालूम पड़ता है मानो वह अपने प्रतिद्वन्द्वीको रथचर्याका अभ्यास करा रहा हो ॥ २७ ॥

राजा—जाओ, फिर आगेके समाचारका पता लगाओ ।

भट—महाराजकी जो आज्ञा । (जाकर, फिर लौट कर) जय हो, जय हो महाराजको । विराटेश्वरकी जय हो । खुशखबरी सुनाता हूँ. गोहरणमें अपनी विजय हुई । दुर्योधनका पक्ष भाग गया ।

भगवान्—दिष्ट्या भवान् वर्धते ।

राजा—न न । भगवतो वृद्धिरेषा । अथ कुमार इदानीं क्व ?

भटः—दृष्टपरिस्पन्दानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः ।

राजा—अहो श्लाघनीयव्यापारः खल्वयं कुमारः ।

ताडितस्य हि योधस्य श्लाघनीयेन कर्मणा ।
अकालान्तरिता पूजा नाशयत्येव वेदनाम् ॥ २८ ॥

अथ बृहन्नलेदानीं क्व ?

दिष्ट्येत्यव्ययं हर्षप्रकाशकम् । वर्धते—गोग्रहणयुद्धे कुमारविजयेनाभ्युदयं यातीत्यर्थः ।

भगवतः—विराटाश्रये भगवत्पदेन प्रसिद्धस्य युधिष्ठिरस्य ।

दृष्टपरिस्पन्दानाम्—कृतपरिश्रमाणाम् साहसं दर्शितवतामित्यर्थः । **कर्माणि**-युद्धव्यापारविशेषान् । पुस्तकमारोपयति-पुस्तके लिखति ।

श्लाघनीयव्यापारः—प्रशंसनीयकार्यकरः ।

ताडितस्येति—श्लाघनीयेन प्रशंसायोग्येन-साहसरूपेण कर्मणा ताडितस्य शत्रुसकाशात् प्रहारं प्राप्तस्य योधस्य सैनिकस्य अकालान्तरिता सद्यः कृता पूजा आदरविशेषः वेदनां ताडनव्यथाम् नाशयत्येव शमयत्येव । साहसमाचरन् योधो यद्युद्धे प्रहारमनुभवति, तस्य कृतः सत्कारस्तत्प्रहारव्यथां शमयति, तेन स्वयोधाना साहसानि लिखन् कुमारस्तत्सत्कारविधानद्वारा साधुकर्म करोतीति श्लाघनीयव्यापारत्वमुपपद्यते कुमारस्येति भावः ॥ २८ ॥

भगवान्—सौभाग्यसे आपकी वृद्धि हुई ।

राजा—नहीं नहीं, आपकी ही वृद्धि है यह । अच्छा, अभी कुमार कहाँ है ?

भट—कुमार युद्धमें कुशलता दिखानेवाले वीरोंके काम (रण-कौशलादि) पुस्तकमें अंकित कर रहे हैं ।

राजा—कुमारका यह कार्य प्रशंसनीय है—

प्रशंसनीय कार्योंके लिये यदि तत्काल युद्धमें आहत होनेवाले वीरोंकी पूजा सत्कार-क्रिया कर दी जाय तो उनके लड़ाईके सारे कष्ट भूल जाते हैं ॥ २८ ॥

और बृहन्नला इस समय कहाँ है ?

भटः—प्रियनिवेदनार्थमभ्यन्तरं प्रविष्टा ।

राजा—बृहन्नला तावदाहूयताम् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति बृहन्नला ।)

बृहन्नला—(निरूप्य सविमर्शम्)

गाण्डीवेन मुहूर्तमाततगुणेनासीत् प्रतिस्पर्धितं
बाणानां परिवर्तनेऽष्वविशदा मुष्टिर्न मे संहता ।
गोधास्थानगता न चास्ति पटुता स्थाने हृतं सौष्ठवं
स्त्रीभावाच्छिथिलीकृतः परिचयादात्मा तु पश्चात् स्मृतः ॥२९॥

प्रियनिवेदनार्थम्—युद्धविजयरूपमिष्टमर्थं सूचयितुम् । अभ्यन्तरम् अन्तःपुरम् ।

गाण्डीवेनेति—आततगुणेन बद्धमौर्वीकेण गाण्डीवेन मम धनुषा मुहूर्तं क्षणद्वयात्मककालपर्यन्तम् । प्रतिस्पर्द्धितम् आसीत् क्षणद्वयं यावदहं गाण्डीवं साधु विकष्टुं न प्रभुरभूवमित्यर्थः । अविशदा त्यक्ताभ्यासा मे मम मुष्टिः बाणानां परिवर्त्तनेषु मोक्षणग्रहणात्मकव्यापारेषु न संहता दृढा आसीदिति शेषः । गोधास्थानगता ज्याघातवारणस्थानगामिनी च पटुता बाणप्रयोगदक्षता नास्ति न प्रकटीभूता, स्थाने धानुष्कजनसाध्ये क्वचन कर्मणि सौष्ठवं नैपुण्यं हृतम् अपनीतम् तदेवं स्त्रीभावात् स्त्रीरूपधारणात् शिथिलीकृतः निरस्ताभ्यासः आत्मा युद्धाभ्यासः

भट—खुशखबरी सुनानेके लिये भीतर गई है ।

राजा—बृहन्नलाको बुलाओ तो ।

भट—महाराजकी जो आज्ञा । (जाता है)

(बृहन्नला का प्रवेश)

बृहन्नला—(विचारपूर्वक देखकर)

गाण्डीव धनुषपर मौर्वी चढ़ानेमें मुझे कुछ देरतक अधिक प्रयत्न करना पड़ा, क्षण भर बाणोंको पकड़ने तथा छोड़ने में मेरे हाथ ढीले तथा सङ्कुचित रहे, कुछ देरतक गोधा स्थान में पटुता नहीं रही, कुछ कालतक धानुष्क की स्थितिमें पटुता नहीं मालूम पड़ी, क्योंकि मैं स्त्रीवेशमें रहने के कारण सब वस्तुओंको नया सा समझ रहा था, परन्तु कुछ ही क्षणोंमें मेरा पुरुष स्वभाव अच्छी तरह स्मरण हो आया ॥ २९ ॥

मया हि,

अनेन वेषेण नरेन्द्रमध्ये लज्जायमानेन धनुर्विकृष्टम्।
यात्रा तु तावच्छरदुर्दिनेषु शीघ्रं निमग्नः कलुषश्च रेणुः॥ ३०॥

भोः,

जित्वापि गां विजयमप्युपलभ्य राज्ञो
नैवास्ति मे जयगतो मनसि प्रहर्षः।

परिचयात् चिराभ्यासात् हेतोः पश्चात् क्षणद्वयानन्तरं मया स्मृतः। अयमर्थः—गाण्डीवमादाय तत्र गुणस्थापने मया कियत्कष्टमिवान्वभावि, बाणानां ग्रहणमोक्षणयोः मम मुष्टिरनभ्यस्तेव प्रतीयतेस्म, गोधास्थानस्य पाटवमपहृतमिव ज्ञायतेस्म, स्त्रीभावात् चिरमकृतबाणमोक्षस्य मम क्षणं जाड्यमिव प्रत्यभासत, परं क्षणादेव चिराभ्यस्तं तद्युद्धपाटवं मम स्मृतिमारूढमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ २९॥

अनेनेति—नरेन्द्रमध्ये युद्धागतराजसमाजमध्ये अनेन स्त्रैणेन वेषेण हेतुना लज्जायमानेन लज्जामनुभवता मया धनुर्विकृष्टम् गाण्डीवं व्यापारितम्। (लज्जामनुभवता स्त्रीवेषेण मया युद्धे गाण्डीवं व्यापारितम् अथापि) यात्रा सञ्चारस्तु तावत् शरदुर्दिनेषु बाणवर्षेषु आसीत्, कलुषः मलिनवर्णश्च रेणुः भूपरागः शीघ्रं निमग्नः क्षणेनैव क्षतराजशरीरस्रवद्रक्तसम्पर्कात् कीचत्वमापदित्यर्थः। उपजातिर्वृत्तम्॥ ३०॥

जित्वापीति—गाम् विराटसम्बन्धिगोधनं जित्वा शत्रुहस्तात् परावर्त्य अपि राज्ञः विराटस्य विजयम् शत्रुपरिभवरूपम् उत्कर्षम् उपलभ्य अपि मे मम मनसि जयगतः विजयसम्भवः प्रहर्षः आनन्दातिरेकः नैवास्ति न सम्भूत एव। तत्र

इस स्त्रीवेश में लज्जा का अनुभव करते हुए भी मैंने राजाओं के सामने धनुष आकृष्ट किया, जिससे शत्रुओं की यात्रा बाणवर्षामें होने लगी, उनके क्षतों से निकली हुई रक्तधारा तथा अङ्गोंमें लगी धूल शीघ्र ही पृथ्वीमें लीन होने लगी॥ ३०॥

अजी,

मैंने गायों को शत्रुओंसे छुड़ा लिया, विजय प्राप्त की परन्तु मेरे मनमें जयका

दुःशासनं समरमूर्धनि सन्निगृह्य
बद्ध्वा यदद्य न विराटपुरं प्रविष्टः ॥ ३१ ॥

उत्तराप्रीतिदत्तालङ्कारेणालङ्कृतो व्रीडित इवास्मि राजानं द्रष्टुम् । तस्माद् विराटेश्वरं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य) अये अयमार्यो युधिष्ठिरः,

सयौवनः श्रेष्ठतपोवने रतो नरेश्वरो ब्राह्मणवृत्तिमाश्रितः ।
विमुक्तराज्योऽप्यभिवर्धितः श्रिया त्रिदण्डधारी न च दण्डधारकः ॥३२॥

कारणमाह—दुःशासनमिति० यत् यस्मात् समरमूर्धनि युद्धक्षेत्रे दुःशासनं सन्निगृह्य गृहीत्वा बद्ध्वा संयतं च कृत्वा अद्य विराटपुरं न प्रविष्टः प्रत्यागतः, प्राप्तेऽपि विजये परावर्त्तितेऽपि च गोधने मम नास्ति हर्षो यदहं दुःशासनं बन्दिनं कृत्वा नानेतुं प्राभवमिति भावः ॥ ३१ ॥

उत्तराप्रीतिदत्तालङ्कारेण—उत्तरया नमा विराटकन्यया प्रीत्या प्रेम्णा दत्तेन अलङ्कारेण भूषणविशेषेण । व्रीडितः-लज्जितः । तस्मात्-बिराटेन साक्षात्कर्त्तुमादिष्टत्वात् ।

सयौवन इति—सयौवनः असमाप्तयुवावस्थः अपि श्रेष्ठतपोवने रतः वृद्धजनोपयुक्ततपस्यापरायणः, नरेश्वरः राजा अपि ब्राह्मणवृत्तिम् विप्राकारम् आश्रितः अवलम्बमानः विमुक्तराज्यः परित्यक्तराज्याधिकारः अपि श्रिया अभिवर्धितः सम्पन्नः, त्रिदण्डधारी सन्न्यासिधार्यदण्डत्रयधारणपरः च दण्डधारकः न इति विरोधः, दुष्टदमनपरश्च न भवतीत्यर्थेन तत्परिहारः । विरोधाभासः स्फुटोऽलङ्कारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ९२ ॥

आनन्द नहीं हुआ, क्योंकि युद्धस्थलमें दुःशासनको बन्दी बनाकर मैं आज विराटपुरमें नहीं प्रवेश कर सका ॥ ३१ ॥

उत्तराके द्वारा प्रेमोपहार दिये गये अलङ्कारोंसे भूषित होकर राजाके सामने जानेमें मुझे लज्जा सी लगती है । अच्छा, विराटके पास जाऊँ । (चारों ओर देखकर) अरे, यही तो आर्य युधिष्ठिर हैं—

यह यौवनमें ही कठोर तप करते हुए तथा राजा होकर ब्राह्मणवृत्तिको अपनाये हुए राज्य छोड़ देनेपरभी श्रीयुक्त हैं, और त्रिदण्डधारी होकर दण्डाधिकारी नहीं रह गये हैं ॥ ३२ ॥

भगवन् ! वन्दे ।
(उपगम्य) भअवं ! वन्दामि ।
भगवान्—स्वस्ति ।
बृहन्नला—जयतु भर्ता ।
जेदु भट्टा ।
राजा—

अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते ।
इदं हि रूपं परिभूतपूर्वकं तदेव भूयो बहुमानमागतम् ॥ ३३ ॥

बृहन्नले ! परिश्रान्तामपि भवतीं भूयः परिश्रमयिष्ये । उच्यतां
णविस्तरः ।

अकारणमिति—रूपम् स्वरूपातिशयः पुंस्त्वादिरूपो वा अकारणम् आद-
ातिशयकारणं नहि, कुलम् वंशगौरवम् अपि अकारणम् आदरहेतुर्न भवति,
हत्सु रूपकुलाधिकेषु नीचेषु रूपकुलाभ्यामपकृष्टेषु च जनेषु कर्म शोभते केवलं
दीयमाचरणमेवादरजनकं भवति न कुलरूपादिकमन्यदिति भावः । इदं हि स्त्रैणं
म परिभूतपूर्वकम् सर्वैरपि जनैः स्त्रीत्वेन हेतुनाऽनादृतम् रूपम् तदेव अविपरीतं
दपि भूयः पुनः कर्मप्रकर्षाद् बहुमानमागतम् अत्यादृतमजनि । यन्मम स्त्रैणं
ूपं प्रागुपेक्षापात्रमभवत्तदेवेदं रूपं युद्धे विजयोपलब्ध्यनन्तरं सर्वैराद्रियत इति
लरूपयोर्मानं प्रत्यकारणत्वं साधितं भवतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः,
शस्थं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

परिश्रान्ताम्—युद्धकर्मणा कृतश्रमाम् । भूयः-पुनः । परिश्रमयिष्ये-श्रमं

(समीप जाकर)
भगवन्, प्रणाम करता हूँ ।
भगवान्—कल्याण हो ।
बृहन्नला—जय हो महाराज की ।
राजा—न रूप गौरवका कारण होता है और न कुल, नीच हो या महान्,
सका कर्महो उसकी शोभा बढ़ाता है । बृहन्नलाका यही वह रूप है जिसे
हले अपमानित किया जाता था, वही आज आदरका पात्र हो रहा है ॥ ३३ ॥
बृहन्नले, तुम यद्यपि श्रान्त हो रही हो, फिर भी मैं तुम्हें कुछ कष्ट दूँगा,
का विस्तृत समाचार सुनाओ ।

बृहन्नला—शृणोतु भर्ता ।

सुणादु भट्टा ।

राजा—ऊर्जितं कर्म । संस्कृतमभिधीयताम् ।

बृहन्नला—श्रोतुमर्हति महाराजः ।

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

राजा—

अपूर्व इव ते हर्षो ब्रूहि केनासि विस्मितः ।

भटः—

अश्रद्धेयं प्रियं प्राप्तं सौभद्रो ग्रहणं गतः ॥ ३४ ॥

कारयिष्यामि । रणे कृतश्रमामपि भवतीं पुना रणवृत्तश्रावणे व्यापार्य श्रमं गमयिष्यामीति भावः ।

ऊर्जितम्—ओजस्वि । संस्कृतम् अभिधीयताम्-ऊर्जस्विनोर्थस्य प्राकृतभाषाभिधेयत्वासम्भवेन संस्कृतभाषैव प्रयुज्यतामिति भावः ।

अपूर्व इवेति—ते तव भटस्य हर्षः सम्प्रतिभवः प्रसादः अपूर्व इव अन्यकालिकानन्दविलक्षण इव, (तद् ब्रूहि) केन कारणेन विस्मितः आनन्दहेतुं विस्मप्राप्तवानसीति भावः ।

अश्रद्धेयमिति—सौभद्रः अर्जुनात्सुभद्रायामुत्पन्नोऽभिमन्युः ग्रहणं गत युद्धे बन्दीभूत इति अश्रद्धेयम् विश्वासानर्हम् अपि प्रियं प्राप्तम् अस्तीति शेष तेनातिदुर्लभप्रियप्राप्त्यैव ममानन्दातिशय इत्याशयः ॥ ३४ ॥

बृहन्नला—सुनिये महाराज ।

राजा—ओजस्वी वस्तुका वर्णन करना है, संस्कृतमें कहो ।

बृहन्नला—महाराज सुनें ।

(प्रवेश करके)

भट—जय हो महाराज की ।

राजा—तुम्हारा हर्ष अपूर्वसा मालूम पड़ता है, किस कारणसे इतने प्रसन्न हो

भट—अविश्वसनीय प्रिय प्राप्त हो गया है, अभिमन्यु युद्धमें बन्दी गया है ॥ ३४ ॥

बृहन्नला—कथं गृहीतः। (आत्मगतम्)

तुलितबलमिदं मयाद्य सैन्यं परिगणितं च रणेऽद्य मे स दृष्टः।
सदृश इह तु तेन नास्ति कश्चित् क इह भवेन्निहतेषु कीचकेषु॥३५॥

भगवान्—बृहन्नले ! किमेतत्।

बृहन्नला—भगवन् !

न जाने तस्य जेतारं बलवाञ्छिक्षितस्तु सः।
पितॄणां भाग्यदोषेण प्राप्नुयादपि धर्षणम्॥ ३६ ॥

कथं गृहीतम्—अतिशयबलशालिनस्तस्याभिमन्योर्बन्दीभावः कथमापतित इत्यर्थः।

तुलितबलमिति—अद्य मया इदं विराटसम्बन्धिसैन्यम् तुलितबलम् परीक्षितशक्तिकम् परिगणितं सङ्ख्यातञ्च, स च अभिमन्युः मयाऽर्जुनेन अद्य रणे दृष्टः पराक्रमप्रदर्शनपरायणः साक्षात्कृतः, इह अस्मिन् विराटसेनायाम् तेन सदृशः अभिमन्युना तुल्यः कश्चित् नास्ति, कीचकेषु निहतेषु इह को भवेत् तत्तुल्य इति·शेषः। सत्सु कीचकेषु कदाचित्स्यादपि तत्तुलनेति भावः। एवं च तत्तुल्यवीरान्तराभावे कथमसौ गृहीत इति पिताऽर्जुनश्चिन्तयामासेति बोध्यम्। पुष्पिताग्रा वृत्तम्॥ ३५ ॥

न जान इति—सः अभिमन्युः बलवान् महाबलः शिक्षितः रणकौशले प्राप्तगुरूपदेशश्च विद्यत इति शेषः, (अतः) तस्याभिमन्योर्जेतारम् परिभवितारम् पुरुषं न जाने नावगच्छामि। पितॄणाम् अस्माकं पाण्डवानां भाग्यदोषेण दैवप्रातिकूल्येन कदाचित् धर्षणं परिभवं प्राप्नुयात् लभेतापि, सम्भाव्यत इदं यदसौ

बृहन्नला—क्या पकड़ लिया गया ? (स्वगत)

मैंने आज सैन्यका बल तौल लिया था, उसकी गणना भी की थी, और रणमें उस (अभिमन्यु) को भी देखा था, इस सैन्यमें तो उसके जोड़का कोई था नहीं, कीचकों के मारे जानेके बाद उसके बराबर हो ही कौन सकता है ? ॥ ३५ ॥

भगवान्—बृहन्नले, यह क्या बात है ?

बृहन्नला—भगवन्, मैं अभिमन्युके जेताको नहीं जानती हूँ, अभिमन्यु बलवान् तथा रणकुशल भी है। हो सकता है अपने पिता पाण्डवों के भाग्यदोषसे अपमानको प्राप्त हो गया हो ॥ ३६ ॥

राजा—कथमिदानीं गृहीतः।

भटः—

रथमामाद्य निःशङ्कं बाहुभ्यामवतारितः।

राजा—केन।

भटः—

यः किलैष नरेन्द्रेण विनियुक्तो महानसे ॥ ३७ ॥

बृहन्नला—(अपवार्य) एवम् आर्यभीमेन परिष्वक्तः, न गृहीतः।

दूरस्था दर्शनादेव वयं सन्तोषमागताः।
पुत्रस्नेहस्तु निर्विष्टस्तेन सुव्यक्तकारिणा ॥ ३८ ॥

सर्वथा बलशाली सन्नपि सर्वविधविपदुपस्थापकपैतृकदुरदृष्टवशात् पराभवं प्राप्तः स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

रथमास्थायेति—निःशङ्कम् निर्भयभावेन रथम् अभिमन्युरथम् आसाद्य प्राप्य बाहुभ्याम् आत्मबाहुभ्याम् अवतारितः रथादधो नीतः,

यः किलेति—यः किल एषः नरेन्द्रेण भवता राज्ञा महानसे पाकशालायां विनियुक्तः अधिकृतः (तेनैव बलशालिनाऽभिमन्युः बाहुभ्यामेव गृहीत इति शेषः) ॥ ३७ ॥

एवम्—रथादवतारणव्याजेन। परिष्वक्तः—आलिङ्गितोऽभिमन्युरिति शेषः।

दूरस्था इति—वयं सर्वे युद्धगता भीमातिरिक्ताः पाण्डवाः दूरस्था विप्रकृष्ट-देशे स्थिताः सन्तः दर्शनात् सुतस्याभिमन्योर्विलोकनात् एव सन्तोषं तृप्तिम्

राजा—अब वह किस प्रकार पकड़ लिया गया है ?

भट—रथपर चढ़कर निःशङ्क भावसे हाथों द्वारा रथपर से उतार लिया गया।

राजा—किसके द्वारा ?

भट—जिसे महाराजने पाकशालामें नियुक्त कर रखा है ॥ ३७ ॥

बृहन्नला—(एक ओरको) इस प्रकार आर्य भीमने उसे आलिङ्गित किया है, पकड़ा नहीं है।

दूरमें रहकर हमलोगों ने अभिमन्युके दर्शनमात्रसे सन्तोष कर लिया, परन्तु सभी लोगोंके सामने आर्य भीमने अपने पुत्र-प्रेमको कृतार्थ कर लिया ॥ ३८ ॥

राजा—तेन हि सत्कृत्य प्रवेश्यतामभिमन्युः।

भगवान्—भो राजन्! वृष्णिपाण्डवनाथस्याभिमन्योः पूजां भयादिति लोको ज्ञास्यति। तदवधीरणमस्य न्याय्यम्।

राजा—नावधीरणमर्हति यादवीपुत्रः।

कुतः—

पुत्रो ह्येष युधिष्ठिरस्य तु वयस्तुल्यं हि नः सूनुना
सम्बन्धो द्रुपदेन नः कुलगतो नप्ता हि तस्माद् भवेत्।

आगताः, तेन सुव्यक्तकारिणा सर्वजनसमक्षं पुत्रमभिमन्युं बाहुभ्यां रथादवतारयतार्यभीमेन तु पुत्रस्नेहः निर्विष्टः। अपत्यालिङ्गनजन्यं सुखं लब्धमित्यर्थः॥ ३८॥

सत्कृत्य—आदरपूर्वकम्। प्रवेश्यताम्-मत्पुरंत आनीयताम्।

वृष्णिपाण्डवनाथस्य—वृष्णयो यादवाः पाण्डवाश्च नाथा यस्य तादृशस्य। भयादिति लोको ज्ञास्यति—यदि भवान् अभिमन्युं प्रति बहुमानं दर्शयिष्यति तदा लोकाः कथयिष्यन्ति यदसौ विराटो वृष्णेः पाण्डवाच्च भीतस्सन्नेव तद्रक्षितमभिमन्युमादृतवानिति भावः। अवधीरणम्-अनादरः। न्याय्यम्-युक्तम्, तदनादरे लोकदृष्टौ भवान् वीतभयः प्रतीतः स्यादिति भावः।

अवधीरणम्—अनादरम्। अर्हति-युज्यते। यादवीपुत्रः=यदुवंशोत्पन्नायाः सुभद्राया आत्मजः अभिमन्युरिति शेषः॥

पुत्रो ह्येष इति—एषः अयं अभिमन्युः युधिष्ठिरस्य पुत्रः, तु पुनः अस्याभिमन्योः वयः आयुः नः अस्माकं सूनुना पुत्रेण उत्तरेण तुल्यम् समानम्, द्रुपदेन तन्नामकेन राज्ञा सह नः अस्माकम् कुलगतः वंशक्रमागतः सम्बन्धः सख्यरूपो भावः, तस्मात् द्रुपदसम्बन्धात् हि नः अस्माकं नप्ता दौहित्रोऽपि भवेत्। अदूरतः

राजा—अतः आदरके साथ अभिमन्युको यहाँ बुला लाओ।

भगवान्—यदि आप यादव तथा पाण्डवोंसे रक्षित अभिमन्युका आदर करेंगे तो लोग समझेंगे कि विराट डरकर उसका सत्कार कर रहे हैं। इसलिये उसका अनादर करना होगा।

राजा—सुभद्राका पुत्र अपमानके योग्य नहीं है, क्योंकि—

क्या वह युधिष्ठिरका पुत्र नहीं है? क्या वह हमारे पुत्रकी अवस्थाका नहीं है? द्रुपदके साथ हमारा दूरका संबन्ध है अतः वह हमारा नाती होता है।

जामातृत्वमदूरतोऽपि च भवेत् कन्यापितृत्वं हि नः
पूजार्होऽप्यतिथिर्भवेत् स्वविभवैरिष्टा हि नः पाण्डवाः ॥३९॥

भगवान्—एवमेतत् ! वक्तव्यं परिहर्तव्यं च ।

राजा—अथ केनायं प्रवेशयितव्यः ।

भगवान्—बृहन्नलया प्रवेशितव्यः ।

राजा—बृहन्नले ! प्रवेश्यतामभिमन्युः ।

बृहन्नला—यदाज्ञापयति महाराजः । (आत्मगतम्) चिरस्य खल्वाकाङ्क्षितोऽयं नियोगो लब्धः । (निष्क्रान्ता ।)

अनतिचिरकालेन जामातृत्वं दुहितृपतित्वं चापि भवेत् , हि यतः नः कन्यापितृत्वं कन्याऽपत्यजनकत्वम् अस्तीति शेषः, अतिथिः आगन्तुकश्च पूजार्हः सत्कार्यः भवेत् , पाण्डवाः नः अस्माकं स्वविभवैः आत्मधनैः इष्टाः अभिमन्योरादरणीयतायां बहवो हेतवः सन्ति, तत्र प्रथममसौ युधिष्ठिरस्य पुत्रः ततो मम पुत्रस्य वयसा तुल्यः सखा, द्रुपदसम्बन्धेन दौहित्रः भावी जामाता, अतिथिः पाण्डवानां पुत्रश्चेति सर्वैरेभिः कारणैर्व्यस्तैरप्यभिमन्युरादरमर्हति, किम्पुनः समस्तैः, तदादरेणैव प्रवेश्यतामिति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

एवमेतत्—त्वदुक्तं युक्तमेवेत्यर्थः, वक्तव्यं परिहर्त्तव्यं च—निन्दाप्रसङ्गो दूरीकरणीयः येन निन्दा न भवेत्तथा करणीयमेव भवतेत्यर्थः ।

प्रवेशयितव्यः—अत्रानेतव्यः ।

चिरस्य खल्वाकाङ्क्षितः—सुचिरप्रतीक्षितः । नियोगः-आज्ञा । अभिमन्योरानयनायादिष्टः स्यामिति चिरात्प्रत्यैक्षिषि, तथा सति तत्साक्षात्कारावसरप्राप्तेः सम्भवात् , तदधुना जातमिति सन्तोषाभिव्यक्तिरत्र कृता ।

हमें कन्या है, हो सकता है निकट भविष्यमें वह हमारा दामाद हो, अतिथि का सत्कार करना ही चाहिये, पाण्डव अपनी समृद्धिके कारण हमारे इष्ट भी हैं ॥ ३९ ॥

भगवान्—आपका कहना ठीक है, हमारा कथन न भी माना जा सकता है ।

राजा—अच्छा, अभिमन्युको कौन बुला लायेगा ।

भगवान्—बृहन्नला अभिमन्युको बुला लायेगी ।

बृहन्नला—महाराज की जो आज्ञा । (स्वगत) बहुत दिनोंके बाद अभीष्ट आदेश मिला है । (जाती है)

भगवान्—(आत्मगतम्)

अद्येदानीं यातु सन्दर्शनं वा शून्ये दृष्ट्वा गाढमालिङ्गनं वा।
स्वैरं तावद् यातु मुद्बाष्पतां वा मत्प्रत्यक्षं लज्जते ह्येष पुत्रम्॥

राजा—पश्यतु भवान् कुमारस्य कर्म।

नृपा भीष्मादयो भग्नाः सौभद्रो ग्रहणं गतः।
उत्तरेणाद्य संक्षेपादर्थतः पृथिवी जिता॥४१॥

(ततः प्रविशति भीमसेनः।)

भीमसेनः—

आदीपिते जतुगृहे स्वभुजावसक्ता मद्भ्रातरश्च जननी च मयोपनीताः।

अद्येदानीमिति—अद्य इदानीम् अस्मिन्प्रवेशनावसरे सन्दर्शनं पुत्रसाक्षात्कारं यातु शून्ये एकान्तस्थाने दृष्ट्वा पुत्रमालोक्य गाढमालिङ्गनं वा गाढं पुत्राश्लेषं वा यातु। वा तावत् स्वैरं यथेच्छं मुद्बाष्पताम् आनन्दाश्रु वा यातु, एषः हि अर्जुनः मत्प्रत्यक्षम् मम समक्षं पुत्रं लज्जते पुत्रालिङ्गनादौ जिहेति। अधुनायमभिमन्योः प्रवेशनेऽधिकृतोऽर्जुनो यथेच्छं पुत्रदर्शनस्पर्शनयोः सुखमनुभवतु, मम पुरस्तु तथा कर्त्तुमर्जुनः शालीनतया लज्जेतेत्यर्थः॥ ४०॥

कुमारस्य—उत्तरस्य। कर्म-रणकौशलम्।

नृपा इति—भीष्मादयः नृपाः राजानः भग्नाः पराजिताः, सौभद्रः अभिमन्युः ग्रहणं गतः गृहीतः बन्दीकृतः, अद्य उत्तरेण कुमारेण सङ्क्षेपात् समासेन अर्थतः वस्तुतः पृथिवी जिता। जगद्वीराणां भीष्मादीनां पराजये जगदेव पराजितमिति भावः॥ ४१॥

आदीपित इति—जतुगृहे दुर्योधनकारिते लाक्षाभवने आदीपिते अग्निदी-

---

भगवान्-(स्वागत) अब आज अर्जुन अपने पुत्रका दर्शन पायेगा, अथवा शून्यमें देखकर गलेसे लगा लेगा। अथवा यथेच्छ आनन्दाश्रु विसर्जन करेगा, मेरे सामने वह पुत्रसे लिपटनेमें लज्जाका अनुभव करता है॥ ४०॥

राजा—आप कुमारके कार्य देखें—

भीष्मादि नृपोंका पराजय किया गया, सौभद्रको बन्दी कर लिया गया, उत्तरने संक्षेपमें आज समस्त पृथ्वीको फलतः जीत लिया है॥ ४१॥

(भीमसेनका प्रवेश)

भीमसेन–लाक्षागृहमें आग लग जानेपर मैंने अपने हाथोंसे उठाकर अपने

सौभद्रमेकमवतार्य रथात्तु बालं तं च श्रमं प्रथममद्य समं हि मन्ये ॥

इत इतः कुमारः ।

(ततः प्रविशत्यभिमन्युर्बृहन्नला च ।)

अभिमन्युः—भोः ! को नु खल्वेषः,

विशालवक्षास्तनिमार्जितोदरः स्थिरोन्नतांसोरुमहान् कटीकृशः ।
इहाहृतो येन भुजैकयन्त्रितो बलाधिकेनापि न चास्मि पीडितः ॥ ४३ ॥

पिते सति स्वभुजावसक्ताः आत्मनो भुजयोः स्थापिताः मद्भ्रातरो युधिष्ठिरादयश्चत्वारः जननी कुन्ती माता च मया भीमेन उपनीताः स्थानान्तरं प्रापिताः लाक्षागृहे ज्वलति सति मया बाह्वोरारोप्य भ्रातरो माता च स्थानान्तरप्रापणद्वारा रक्षिता इत्यर्थः । अद्य तु एकं सौभद्रं नामाभिमन्युम् रथात् अवतार्य अवरोप्य तं चाद्यतनं प्रथमं प्राक्तनं च श्रमम् हि समं तुल्यं मन्ये अवैमि । पञ्चानामपि समातृकाणां भ्रातृणां वहने यावान् परिश्रमो जातस्तावानेवाद्य केवलस्याभिमन्यो रथादवरोपणमात्रे जात इत्यहो सारवत्ताऽस्य वपुष इत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

विशालेति—विशालवक्षाः विस्तृतोरस्कः, तनिमार्जितोदरः कृशतारमणीयमध्यः, स्थिरोन्नतांसः दृढविपुलस्कन्धश्च ऊरुमहांश्च सक्थिस्थूलश्चेति विशेषणयोः कर्मधारयः नीलपीतवत् , कटीकृशः कृशमध्यः, 'को नु खल्वेषः' इति पूर्वेणान्वयः । येन अनेन भुजैकयन्त्रितः एकेनैव बाहुना संयतः इह अत्र आहृतः आनीतः अस्मि (किन्तु) बलाधिकेनापि समधिकसामर्थ्यशालिनापि सता पीडितः च नास्मि । कोयं विपुलोरस्को मध्ये कृशश्च जनो यो मामेकेनैव

भाइयों तथा माता को उठा लाया था, आज अभिमन्यु को रथसे उतार लाया हूँ, उस समयके परिश्रम तथा आजके परिश्रमको तुल्य ही समझता हूँ ॥ ४२ ॥

(अभिमन्यु तथा बृहन्नलाका प्रवेश)

अभिमन्यु—अरे यह कौन ?

चौड़ी छातीवाला, कृश उदरसे युक्त, उन्नतस्कन्ध तथा लम्बा दीख रहा है, एक हाथसे जिसे यहाँ लाया, परन्तु अधिक बलशाली होकर भी मुझे पीड़ित नहीं किया ॥ ४३ ॥

बृहन्नला—इत इतः कुमारः।

अभिमन्युः—अये अयमपरः कः,

अयुज्यमानैः प्रमदाविभूषणैः करेणुशोभाभिरिवार्पितो गजः।
लघुश्च वेषेण महानिवौजसा विभात्युमावेषमिवाश्रितो हरः॥ ४४॥

बृहन्नला—(अपवार्य) इममिहानयता किमिदानीमार्येण कृतम्।

अवजित इति तावद् दूषितः पूर्वयुद्धे
दयितसुतवियुक्ता शोचनीया सुभद्रा।
जित इति पुनरेनं रुष्यते वासुभद्रो
भवतु बहु किमुक्त्वा दूषितो हस्तसारः॥ ४५॥

बाहुनादायात्रानीतवान्, परं बलाधिकः सन्नपि मां नापीडयदिति भावः। वंशस्थं वृत्तम्॥ ४३॥

इमम्—अभिमन्युम्। इह–विराटगृहे। आर्येण–पूज्येन भवता। नात्रास्या· नयनं युक्तमासीत्, तत्कथमयं भवतात्रानीत इति जिज्ञासा।

अवजित इति—पूर्वयुद्धे प्रथमे संग्रामे अवजितः पराजयं गत इति (अभिमन्युः) तावत् दूषितः दोषं गमितः, दयितसुतवियुक्ता दयितेन मया पत्या सुतेन पुत्रेण अभिमन्युना च वियुक्ता सुभद्रा अभिमन्युजननी शोचनीया चिन्तनीया (जाता) जितः प्रथमे युद्धे पराजित इति हेतोः अभिमन्युमेनं प्रति वासुभद्रः श्रीकृष्णः रुष्यते कुप्यति (कोपं प्रकाशयिष्यति) भवतु दूरे तिष्ठतु

बृहन्नला—कुमार इधर चलें।

अभिमन्यु—और यह दूसरा कौन है?

स्त्रीका भूषण उसे भला नहीं लग रहा है, यह ऐसा लग रहा है जैसे हथिनीकी शोभासे युक्त गजराज हो, इसका वेष साधारण है, परन्तु परा· क्रम महान् है। ऐसा लगता है मानो महादेवने उमाका वेष ग्रहण किया हो॥४४॥

बृहन्नला—(एक ओरको) अभिमन्युको यहाँ लाकर आपने क्या किया? प्रथम युद्धमें ही पराजित होनेका कलङ्क लग गया, पति और पुत्रसे वियुक्ता सुभद्रा शोचनीय अवस्थामें पड़ गई, इसके जीते जानेसे वासुदेव रुष्ट होंगे अधिक क्या कहें, आपने अपने हस्तबलको कलङ्कित किया है॥ ४५॥

भीमसेनः—अर्जुन !

बृहन्नला—अथकिम अथकिम् अर्जुनपुत्रोऽयम् ।

भीमसेनः—(अपवार्य)

जानाम्येतान् निग्रहादस्य दोषान् को वा पुत्रं मर्षयेच्छत्रुहस्ते ।
इष्टापत्त्या किन्तु दुःखे हि मग्ना पश्यत्वेनं द्रौपदीत्याहृतोऽयम् ॥ ४६ ॥

बृहन्नला—(अपवार्य) आर्य अभिभाषणकौतूहलं मे महत् । वाचालयत्वेनमार्यः ।

तावदिदं दोषत्रयं बहु उक्त्वा किम् (भवताऽभिमन्युं निगृह्णता) बाहुसारः आत्मभुजबलं दूषितः दोषं गमितः । अभिमन्युपराजये तस्य प्रथमे युद्धे पराजयलक्षण एको दोषः, पतिपुत्रवियुक्तायाः सुभद्रायाः शोच्यता द्वितीयो दोषः, अभिमन्युं प्रति कृष्णस्य कोपस्तृतीयो दोषः, दूरेऽस्त्विदं दोषत्रयम्—सर्वतो महाँस्त्वयं दोषः कृतो यदात्मपुत्रस्य पराजयो घोषित इति भावः ॥ ४५ ॥

'अर्जुनपुत्रोऽयम्' इत्यनेनाभिमन्योः पराभवं प्रति तत्पित्रा रोषो व्यञ्जितः ।

जानामीति—अस्याभिमन्योः निग्रहात् हठग्रहणरूपादपमानात् एतान् त्वदुक्तान् दोषान् जानामि (अजानन्नपि पिता) कः वा स्वपुत्रम् शत्रुहस्ते मर्षयेत् , ताँस्तान् दोषान् अजानन्नपि कः पिता स्वपुत्रं शत्रुहस्ते क्षिप्तं क्षमेतेत्यर्थः । इष्टापत्त्या इदं सर्वमभ्युपेत्यैव दुःखे मग्ना द्रौपदी इमं पश्यतु इति हेतोर्मया अयम् अत्रानीत इत्याशयः ॥ ४६ ॥

अभिभाषणकौतूहलम्—अभिमन्युवचनश्रवणोत्कण्ठा । वाचालयतु–वक्तुं प्रेरयतु—

भीमसेन—अर्जुन !

बृहन्नला—और क्या, यह अर्जुनका बेटा है ।

भीमसेन—अभिमन्युके पकड़े जानेसे होनेवाले इन दोषोंको जानता हूँ, कौन ऐसा होगा जो अपने पुत्रका शत्रुहस्तमें पड़ना पसन्द करे, परन्तु जानकर ही मैंने ऐसा किया, यह इसलिये किया कि दुःखमें पड़ी द्रौपदी इसे देख सके ॥ ४६ ॥

बृहन्नला—(एक ओरको) आर्य, मुझे इससे बातें करनेकी बड़ी उत्कण्ठा है, आप इसे बोलनेके लिये प्रेरित करें ।

भीमसेनः—(अपवार्य) बाढम्! अभिमन्यो!

अभिमन्युः—अभिमन्युर्नाम।

भीमसेनः—रुष्यत्येष मया। त्वमेवैनमभिभाषय।

बृहन्नला—अभिमन्यो!

अभिमन्युः—कथं कथम्। अभिमन्युर्नामाहम्। भोः—

नीचैरप्यभिभाष्यन्ते नामभिः क्षत्रियान्वयाः।
इहायं समुदाचारो ग्रहणं परिभूयते॥ ४७॥

बृहन्नला—अभिमन्यो! सुखमास्ते ते जननी।

अभिमन्युः—कथं कथम्। जननी नाम।

रुष्यति—कुप्यति।

नीचैरिति—नीचैः नीचकार्येषु स्त्रीप्रसाधनपाकादिषु लग्नैः त्वादृशैः क्षत्रियान्वयाः क्षत्रियवंशोद्भूताः मादृशाः नामभिः अभिभाष्यन्ते नामग्राहं सम्बोध्यन्ते? इह विराटनगरे अयम् एतादृशः समुदाचारः व्यवहारः? किमत्र राज्ये नीचा अपि राजकुमारान्नामग्राहमेव सम्बोधयन्तीति व्यवहारो विद्यत इति प्रश्न उपहासाय। (अथवा) मम ग्रहणं शत्रुवशप्राप्तिः परिभूयते?. अहं शत्रुवशं गत इत्यत एव तथाऽपमन्ये इत्यर्थः॥ ४७॥

सुखमास्ते—कुशलिनी विद्यते। जननी माता सुभद्रा।

जननी नाम—कथं मम मातुः कुशलमयं पृच्छतीति कोपाभिव्यक्तिः।

भीमसेन—अच्छा, अभिमन्यु,

अभिमन्यु—अभिमन्यु,

भीमसेन—यह मुझसे चिढ़ता है, तुमही इसे बातें करनेको प्रेरित करो।

बृहन्नला—अभिमन्यु,

अभिमन्यु—क्यों, मेरा नाम अभिमन्यु है,

क्षत्रिय कुमारोंको यहाँ नीच जन भी नाम लेकर पुकारते हैं, क्या यहाँका यही व्यवहार है, अथवा बन्दी होनेके कारण मुझे अपमानित करते हैं॥ ४७॥

बृहन्नला—अभिमन्यु, तुम्हारी माता सकुशल है?

अभिमन्यु—क्यों, माताके सम्बन्धमें पूछता है,

किं भवान् धर्मराजो मे भीमसेनो धनञ्जयः ।
यन्मां पितृवदाक्रम्य स्त्रीगतां पृच्छसे कथाम् ॥ ४८ ॥

बृहन्नला—अभिमन्यो ! अपि कुशली देवकीपुत्रः केशवः ।

अभिमन्युः—कथं तत्रभवन्तमपि नाम्ना । अथकिम् अथकिम् । कुशली भवतः संसृष्टः ।

(उभौ परस्परमवलोकयतः ।)

अभिमन्युः—कथमिदानीं सावज्ञमिव मां हस्यते ।

बृहन्नला—न खलु किञ्चित् ।

पार्थं पितरमुद्दिश्य मातुलं च जनार्दनम् ।

किं भवानिति—यत्–यस्मात् कारणात् माम् अभिमन्युम् पितृवत् पिता इव आक्रम्य लघूकृत्य स्त्रीगताम् स्त्रीविषयाम् कथाम् कुशलादिवार्त्ताम् पृच्छसे जिज्ञाससे (तत्) किं भवान् मे मम धर्मराजः ज्येष्ठस्तातो युधिष्ठिरः, किं वा भीमसेनः, किमथवा धनञ्जयः अर्जुनः, त एव तादृशं प्रश्नं कर्त्तुमधिकुर्वते न च त्वादृशा नीचाः, अतो धिग्युष्मानिति भावः ॥ ४८ ॥

केशवः—कृष्णः ।

तत्रभवन्तम्—पूज्यं मम मातुलं कृष्णम् । नाम्ना व्याहरति, नतु भगवदाद्यादरसूचकोपपदैरिति भावः ।

संसृष्टः—सम्बन्धी ।

सावज्ञम्—तिरस्कारपूर्वकम् । माम् उद्दिश्य हस्यत इति योजनीयम् ।

पार्थमिति—पार्थम् अर्जुनम् पितरम् जनकम् जनार्दनम् वासुदेवं नाम

आप क्या हमारे युधिष्ठिर, भीमसेन या धनञ्जय हैं, जो मुझपर पिताके समान अधिकार दिखाकर माताके संबन्धमें प्रश्न कर रहे हैं ? ॥ ४८ ॥

बृहन्नला—अभिमन्यु, देवकीपुत्र केशव सकुशल हैं ?

अभिमन्यु—क्या भगवान्को भी नाम लेकर पूछ रहा है ? और क्या, और क्या, आपके संबन्धी वह सकुशल हैं ।

(दोनों एक दूसरे की तरफ देखते हैं)

अभिमन्यु—क्यों अब यह मेरी तरफ तिरस्कारके साथ देखकर हँस रहे हैं ?

बृहन्नला—कुछ नहीं, पिता पार्थ तथा मामा श्रीकृष्णको याद करके

तरुणस्य कृतास्त्रस्य युक्तो युद्धपराजयः ॥ ४९ ॥

अभिमन्युः—अलं स्वच्छन्दप्रलापेन।

अलमात्मस्तवं कर्तुं नास्माकमुचितं कुले।
हतेषु हि शरान् पश्य नाम नान्यद् भविष्यति ॥ ५० ॥

बृहन्नला—(आत्मगतम्) सम्यगाह कुमारः।

सरथतुरगदृप्तनागयोधे शरनिपुणेन न कश्चिदप्यविद्धः।
अहमपि च परिक्षतो भवेयं यदि न मया परिवर्तितो रथः स्यात् ॥५१॥

मातुलं च उद्दिश्य ज्ञात्वा तरुणस्य नवयुवकस्य कृतास्त्रस्य अधीतधनुर्विद्यस्य तव युद्धपराजयो युद्धे पराभवोऽर्हः किम्। पितरमर्जुनं मातुलं कृष्णं च ध्यायतो यूनः साधितास्त्रस्य च तव न युक्तो रणे पराजयः, स कथं जात इति भावः ॥ ४९ ॥

अलं स्वच्छन्दप्रलापेन—व्यर्थमेवात्मेच्छया व्याहरसि।

अलमिति—आत्मस्तवम् स्वप्रशंसां कर्तुमलम् कृत्वा वृथा, अस्माकं कुले न उचितम् नाभ्यस्तम्, न मम कुले कोपि स्वयं निजां प्रशंसां करोतीत्यर्थः, नन्वेवं कथं तव शौर्यं प्रमापितं भवेदित्यत्राह—हतेष्विति॰ हतेषु बाणपात-निहतेषु सैन्येषु शरान् तदङ्गलग्नान् बाणान् पश्य निपुणं निरीक्षस्व, अन्यत् मन्नामातिरिक्तं नाम न भविष्यति। यावन्तः सैनिकाः युद्धे मृतास्तावन्तो मयैव मारिताः, तत्र प्रमाणं च तदङ्गसङ्गिनी मन्नामाङ्किता बाणावल्येवेति प्रमितमेताव-तैव मम शौर्यमलमात्मस्तवं कृत्वेति भावः ॥ ५० ॥

सरथतुरगेति—रथाः स्यन्दनानि तुरगाः अश्वाः दृप्ताः गर्वोद्धताः नागाः करिणः योधाः युद्धनिपुणाः सैनिकवीराश्च तैः सहिते सरथतुरगदृप्तनागयोधे सैन्य-

---

जवान तथा युद्धविशारद होकर आपको युद्धमें परास्त होना चाहिये ? ॥ ४९ ॥

अभिमन्यु—स्वच्छन्द प्रलाप करना बन्द करो,

अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, इसकी रीति हमारे वंशमें नहीं है, मरे हुए सैनिकोंके शरीरको देखिये, बाणोंपर दूसरा नाम नहीं पाइयेगा ॥ ५० ॥

बृहन्नला—(स्वगत) कुमार ठीक कहते हैं।

रथतुरग, मदमत्त हस्ती तथा शूरोंसे युक्त सैन्यमें कोई ऐसा नहीं रहा जिसे इस कुशल तीरन्दाजने विद्ध नहीं किया हो, मैं भी घायल हो ही जाता, यदि मैं अपना रथ घुमा न लेता ॥ ५१ ॥

(प्रकाशम्) एवं वाक्यशौण्डीर्यम् । किमर्थं तेन पदातिना गृहीतः ।

अभिमन्युः—

अशस्त्रो मामभिगतस्ततोऽस्मि ग्रहणं गतः ।
न्यस्तशस्त्रं हि को हन्यादर्जुनं पितरं स्मरन् ॥ ५२ ॥

भीमसेनः—(आत्मगतम्)

धन्यः खल्वर्जुनो येन प्रत्यक्षमुभयं श्रुतम् ।
पुत्रस्य च पितुः श्लाघ्यं संग्रामेषु पराक्रमः ॥ ५३ ॥

समुदाये शरनिपुणेन बाणप्रयोगचतुरेणानेन कुमारेण कश्चित् अपि अविद्धः अक्षतः न, सर्वोपि विद्ध इत्यर्थः, अहमपि च परिक्षतो विद्धः भवेयं जायेय, यदि मया रथः स्वयानं परिवर्त्तितः अन्याभिमुखो न कृतः स्यात् । सत्यमनेन कुमारेण सर्वेऽपि सेनासु स्थिताः रथतुरगपदातयो बाणैर्विद्धाः, अहमपि न मुच्येय यदि रथमन्यतो न चालयेयमिति सत्यमयं कुमारो बहु विक्रान्तवानिति भावः ॥ ५१ ॥

वाक्यशौण्डीर्यम्—वाचनिकं वीरत्वम् , वचसा स्ववीरत्वप्रख्यापनम् । पदातिना-पादचारिणा । यदीदृशं तव युद्धकौशलं तत्कथं पदातिरयं त्वामगृह्णा-दिति बृहन्नलाभिमन्युमुपहसति ।

अशस्त्र इति—अशस्त्रः प्रहरणशून्यकरोऽयं माम् अभिगतः मदभिमुखं प्राप्तस्ततः अहं ग्रहणं गतोस्मि, अर्जुनं नाम पितरं जनकं स्मरन् मादृशः कः न्यस्तशस्त्रं त्यक्तायुधं हन्यात् , अशस्त्रेषु न मादृशा अर्जुनपुत्रत्वधन्याः प्रहर्त्तु-मिच्छन्ति, अतोऽशस्त्रोऽयं मां गृहीतवानिति वञ्चितोऽस्म्यनेन, नतु न्यायतो गृहीतोऽस्मीति भावः ॥ ५२ ॥

धन्य इति—येन अर्जुनेन पुत्रस्य अभिमन्योः युद्धेषु पराक्रमः, पितुः स्वस्य च पराक्रमः इत्युभयं श्लाघ्यं प्रशंसायोग्यं प्रत्यक्षं श्रुतम् स्वयमाकर्णितम् ,

---

(प्रकाश) बोलनेमें तो खूब दक्ष हो, फिर पैदलहो उन्होंने तुम्हें क्यों पकड़ लिया ?

अभिमन्यु—अशस्त्र होकर मेरे सामने गये, इसलिये मैं पकड़ा गया, पिता अर्जुन को याद करके कौन निहत्थे पर प्रहार करे ॥ ५२ ॥

भीमसेन—(स्वगत) अर्जुन धन्य है जिसने दोनों बातें—पुत्र तथा पिता (स्वयं) के युद्धकौशल के प्रशंसावचन—प्रत्यक्ष सुन लीं ॥ ५३ ॥

राजा—त्वर्यतां त्वर्यतामभिमन्युः ।

बृहन्नला—इत इतः कुमारः । एष महाराजः । उपसर्पतु कुमारः ।

अभिमन्युः—आः कस्य महाराजः ।

बृहन्नला—न, न, ब्राह्मणेन सहास्ते ।

अभिमन्युः—ब्राह्मणेनेति । (उपगम्य) भगवन् ! अभिवादये ।

भगवान्—एह्येहि वत्स !

शौण्डीर्यं धृतिविनयं दयां स्वपक्षे माधुर्यं धनुषि जयं पराक्रमं च ।
एकस्मिन् पितरि गुणानवाप्नुहि त्वं शेषाणां यदपि च रोचते चतुर्णाम् ॥

सः अर्जुनः धन्यः खलु । येनार्जुनेन स्वस्य स्वपुत्रस्य च युद्धकौशलं स्वयमाकर्णितं धन्यभावं भजतेऽसाविति भावः ॥ ५३ ॥

त्वर्यताम्—त्वरया राजसमीपमानीयताम् ।

आः इति क्रोधाभिव्यञ्जकमव्ययम् । कस्य महाराज इत्युक्त्वा स्वस्य तदाज्ञानुवर्त्तित्वविरहं व्यञ्जयति ।

अभिवादये—प्रणमामि । अयं च प्रणामो ब्राह्मणं प्रति, न राजानं प्रति, तेनाभिमन्योर्गर्वातिशयप्रतीतिः ।

शौण्डीर्यमिति—शौण्डीर्यम् शूरत्वम् धृतिविनयम् धैर्यनम्रतयोः समाहारम् स्वपक्षे आत्मीयजने दयां कृपाम् माधुर्यम् मिष्टभाषित्वं च, धनुषि जयं पराक्रमं च इति एकस्मिन् पितरि धनञ्जये (स्थितान्) गुणान् त्वम् अवाप्नुहि अधिगच्छ, शेषाणां धनञ्जयातिरिक्तानां चतुर्णां पितॄणां च गुणेषु यत्ते रोचते स्वदते तदप्यवाप्नुहीति भावः । पितृसदृशगुणो भवेति भावः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ५४ ॥

राजा—अभिमन्युको शीघ्र बुला लाइये ।

बृहन्नला—कुमार इधर चलिये । यही महाराज हैं, आप उनके पास चलें ।

अभिमन्यु—आः, किसके महाराज ?

बृहन्नला—नहीं नहीं, ब्राह्मणके साथ हैं ।

अभिमन्यु—ब्राह्मणके साथ । (समीप जाकर) भगवन्, प्रणाम करता हूँ ।

भगवान्—आओ वत्स, आओ ।

तुम्हारे एक पिता अर्जुनमें जो शूरता, धीरता, नम्रता, कृपालुता, बन्धुओंके प्रति मिष्टभाषिता आदि गुण हैं, उन्हें तथा अन्य पिताओंमें वर्त्तमान गुणोंमें से तुम्हें जो अच्छे लगें उसे प्राप्त करो ॥ ५४ ॥

अभिमन्युः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

राजा—एह्येहि पुत्र ! कथं न मामभिवादयसि । अहो उत्सिक्तः खल्वयं क्षत्रियकुमारः । अहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि । अथ केनायं गृहीतः ।

भीमसेनः—महाराज ! मया ।

अभिमन्युः—अशस्त्रेणेत्यभिधीयताम् ।

भीमसेनः—शान्तं शान्तं पापम् ।

सहजौ मे प्रहरणं भुजौ पीनांसकोमलौ ।
तावाश्रित्य प्रयुध्येयं दुर्बलैर्गृह्यते धनुः ॥ ५५ ॥

अभिमन्युः—मा तावद् भोः,

बाहुरक्षौहिणी यस्य निर्व्याजो यस्य विक्रमः ।

उत्सिक्तः—गर्वोद्धतः । दर्पप्रशमनम् मिष्टभाषितैः सान्त्वनम् ।

सहजाविति—पीनांसकोमलौ स्थूलस्कन्धौ कोमलौ च इमौ भुजौ एव मम सहजौ स्वाभाविकौ प्रहरणम् शस्त्रम् , तौ भुजौ एव आश्रित्य साधनीकृत्य प्रयुध्येयं युद्धं कुर्याम् , धनुः दुर्बलैः गृह्यते, येषां स्वाभाविकं बाहुबलं न भवति ते कृत्रिमं साधनं शस्त्रमुपाददतेऽहं तु बाहुभ्यामेव युध्ये, तेनाशस्त्रेणेति कथनं मद्विषये नोपयुक्तमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

बाहुरिति—यस्य बाहुः एव अक्षौहिणी महापरिमाणा सेना, यस्य विक्रमः

अभिमन्यु—अनुगृहीत हूँ ।

राजा—आओ बेटा आओ, तुम मुझे प्रणाम क्यों नहीं करते ? अहो, यह क्षत्रियकुमार बड़ा घमण्डी है, इसके घमण्डको मैं दूर करता हूँ, अच्छा इसे किसने पकड़ा ?

भीमसेन—महाराज, मैंने ।

अभिमन्यु—'शस्त्रहीन होकर पकड़ा' यह कहिये ।

भीमसेन—बस करो, बस करो,

स्थूल मांसल यह हमारे हाथही स्वाभाविक अस्त्र हैं, मैं इन हाथोंसे ही लड़ सकता हूँ, धनुष तो दुर्बलोंके अस्त्र हैं ॥ ५५ ॥

अभिमन्यु—नहीं, जिनकी बाहु ही अक्षौहिणी सेनाके बराबर है, और जिनका

किं भवान् मध्यमस्तातस्तस्यैतत् सदृशं वचः ॥ ५६ ॥

भगवान्—पुत्र ! कोऽयं मध्यमो नाम।

अभिमन्युः—श्रूयताम्। अथवा, नन्वनुत्तरा वयं ब्राह्मणेषु, साध्वन्यो ब्रूयात्।

राजा—भवतु भवतु। मद्वचनात् पुत्र ! कोऽयं मध्यमो नाम ?

अभिमन्युः—श्रूयताम्। येन,

योक्त्रयित्वा जरासन्धं कण्ठश्लिष्टेन बाहुना।
असह्यं कर्म तत् कृत्वा नीतः कृष्णोऽतदर्हताम् ॥ ५७ ॥

पराक्रमः निर्व्याजः अकपटः, (एतादृशः) किं भवान् मध्यमस्तातः भीमसेनः ? एतद्वचः पूर्वोक्तं वचनं तस्य सदृशं तस्यैवोपयुक्तम् नतु भवतः, स एव हि बाहुभ्यां योद्धुं क्षमो, न भवानिति भावः ॥ ५६ ॥

अनुत्तराः—अप्रतिवचनाः, ब्राह्मणवचनं वयं न विरुन्ध्मः, ब्राह्मणानां पूज्यत्वात्तदुक्तं नाक्षिपाम इत्यर्थः। साधु अन्यो ब्रूयात्—यदीदं ब्राह्मणभिन्नः कोऽपि कथयेत्तदा तदुत्तरदानावसरः स्यादित्याशयः।

योक्त्रयित्वेति—(येन भीमसेनेन) कण्ठाश्लिष्टेन तत्कण्ठासक्तेन बाहुना निजभुजेन जरासन्धं नाम बृहद्रथपुत्रं मगधेशं योक्त्रयित्वा बद्धं विधाय तत् अनिर्वर्णनीयम् असह्यम् अनितरसम्पाद्यम् कर्म जरासन्धवधात्मकं कार्यं कृत्वा कृष्णः अतदर्हताम् तादृशकार्याक्षमतां नीतः प्रापितः। यो निजबाहुना कण्ठे

पराक्रम निष्कपट है, क्या आप हमारे मध्यम तात भीमसेन हैं, ऐसा कथन उन्हींको शोभता है ॥ ५६ ॥

भगवान् पुत्र, तुम्हारे यह मध्यम तात कौन हैं ?

अभिमन्यु—सुनिये, अथवा—हमलोग ब्राह्मणों के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं किया करते हैं। अच्छा होता कि कोई दूसरा बातें करता।

राजा—अच्छी बात है, बेटा मेरे प्रश्नका प्रत्युत्तर दो, तुम्हारे यह मध्यम तात कौन हैं ?

अभिमन्यु—सुनिये, जिसने अपनी भुजासे जरासन्धके कण्ठको बांधकर वह असाध्य कार्य (जरासन्धवध) कर कृष्ण की तद्विषयक असमर्थता सिद्ध कर दी ॥ ५७ ॥

राजा—

न ते क्षेपेण रुष्यामि रुष्यता भवता रमे ।
किमुक्त्वा नापराद्धोऽहं कथं तिष्ठति यात्विति ॥ ५८ ॥

अभिमन्युः—यद्यहमनुग्राह्यः,

पादयोः समुदाचारः क्रियतां निग्रहोचितः ।
बाहुभ्यामाहृतं भीमो बाहुभ्यामेव नेष्यति ॥ ५९ ॥

(ततः प्रविशत्युत्तरः ।)

धृत्वाऽमितबलं जरासन्धं हत्वा कृष्णमपि तादृशवीरहननाक्षमं प्रमाणयामास, यः कृष्णेनापि न हतस्तमप्यवधीदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

न ते क्षेपेणेति—ते तव अभिमन्योः क्षेपेण निन्दावचनेन न रुष्यामि न कुपितो भवामि, रुष्यता कुप्यता त्वया रमे प्रीतो भवामि । कथं वर्त्तते किमर्थमत्र तिष्ठतु, यातु यथेच्छं गच्छतु इति उक्त्वा किमहं नापराद्धः नापराधी स्याम् ? त्वद्गमनानुज्ञां दत्त्वाऽप्यहमपराधी भवेयमतस्तथा नाचरामीति भावः ॥ ५८ ॥

यद्यहमनुग्राह्यः—यदि मयि कृपा करणीया, तदा मम पादयोर्निगडबन्धनं कार्यताम् , युद्धे गृहीतस्य बन्धनौचित्यादित्याशयः ।

पादयोरिति—पादयोः मदीयचरणयोः निग्रहोचितः बन्दिजनोपयुक्तः समुदाचारो विधिः निगडबन्धनस्वरूपः क्रियताम् बन्दीभूते मयि बन्दिजनोपयुक्तो विधिर्विधाप्यतामिति भावः । (त्वदीयेन भटेन) बाहुभ्याम् भुजाभ्याम् आहृतम् गृहीत्वात्रानीतं माम् भीमो मम मध्यमस्तातः बाहुभ्याम् शस्त्रनिरपेक्षाभ्यां भुजाभ्याम् एव नेष्यति मोचयित्वा स्वगृहं प्रापयिष्यतीति यावत् ॥ ५९ ॥

राजा—तुम्हारे निन्दा-वचनोंसे मैं चिढ़ता नहीं हूँ, तुम्हारे चिढ़नेसे मुझे आनन्द मिलता है । तुम क्यों खड़े हो जाओ, यहाँसे, यदि मैं ऐसा कहूँ तो क्या हम तुम्हारे विषयमें अपराधी नहीं साबित होंगे ? ॥ ५८ ॥

अभिमन्यु—आप यदि मुझपर कृपा करना चाहते हैं तो बन्दिजनके योग्य बेड़ियाँ हमारे पैरोंमें डलवा दीजिये, मुझे कोई हाथोंसे पकड़ लाया है, मेरे मध्यम तात भीम मुझे हाथोंसे ही छुड़ा ले जायेंगे । ५९ ॥

(उत्तरका प्रवेश)

उत्तरः—

मिथ्याप्रशंसा खलु नाम कष्टा येषां तु मिथ्यावचनेषु भक्तिः।
अहं हि युद्धाश्रयमुच्यमानो वाचानुवर्ती हृदयेन लज्जे ॥ ६० ॥

(उपसृत्य) भगवन्! अभिवादये।

भगवान्—स्वस्ति।

उत्तरः—तात! अभिवादये।

राजा—एह्येहि पुत्र! आयुष्मान् भव। पुत्र! पूजिताः कृतकर्माणो योधपुरुषाः?

उत्तरः—पूजिताः। पूज्यतमस्य क्रियतां पूजा।

राजा—पुत्र! कस्मै?

मिथ्येति—येषाम् वन्दिचारणादीनाम् मिथ्यावचनेषु असत्यभूतप्रशंसाभिधानेषु भक्तिः (तेषां) मिथ्या प्रशंसा अतिशयोक्तिभूताऽसत्या स्तुतिः कष्टा नाम खलु दुःखदा, अहम् हि युद्धाश्रयम् उत्तरेण कौरवा जिता इत्यादि युद्धगतं प्रशंसावचनमभिधीयमानः सन् वाचानुवर्त्ती मुखशब्देन तानभिनन्दन्नपि हृदयेन (असत्यप्रशंसास्वीकारविमुखेन) लज्जे जिहेमि। नास्ति ममासत्यप्रशंसायां मानसिकी तृप्तिरिति भावः ॥ ६० ॥

कृतकर्माणः—युद्धे प्रदर्शितपुरुषकाराः। योधपुरुषाः—योद्धारः।

पूज्यतमस्य—सातिशयपूजार्हस्य।

उत्तर—मिथ्या प्रशंसा बहुत कष्टप्रद होती है, इन बन्दियोंको मिथ्या भाषणका अभ्यास रहता है। ये युद्धके संबन्धमें मेरी बड़ाई करते हैं, मैं भी मुखतः उनकी प्रशंसा करता हूँ, परन्तु हृदयसे अति लज्जित हो रहा हूँ ॥ ६० ॥

(समीप जाकर) भगवन्, प्रणाम करता हूँ।

भगवान्—कल्याण हो।

उत्तर—पिताजी, मैं प्रणाम करता हूँ।

राजा—आओ बेटा, आओ, चिरजीवी होओ, बेटा! युद्धमें बहादुरी दिखलानेवाले वीरोंका सत्कार सम्पन्न हो गया?

उत्तर—सम्पन्न हो गया, अब सर्वाधिक पूज्यकी पूजा कीजिये।

राजा—किसकी पूजा करनेको कहते हो?

उत्तरः—इहात्रभवते धनञ्जयाय।

राजा—कथं धनञ्जयायेति।

उत्तरः—अथ किम्। अत्रभवता,

श्मशानाद्धनुरादाय तूणी चाक्षयसायके।
नृपा भीष्मादयो भग्ना वयं च परिरक्षिताः॥ ६१॥

राजा—एवमेतत्।

बृहन्नला—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः।

अयं बाल्यात्तु सम्भ्रान्तो न वेत्ति प्रहरन्नपि।
कृत्स्नं कर्म स्वयं कृत्वा परस्येत्यवगच्छति॥ ६२॥

श्मशानादिति—अत्रभवता पूज्येन धनञ्जयेन श्मशानात् धनुः निजं गाण्डीवम् अक्षयसायके अक्षीणबाणे तूणी तूणीरयुगलञ्च आदाय गृहीत्वा भीष्मादयो नृपाः भग्नाः पराजिताः, वयं च परिरक्षिताः त्राताः। अतोऽयं धनञ्जय एव पूजामर्हतीति भावः॥ ६१॥

अयमिति। अयम् उत्तरः बाल्यात् शिशुत्वात् हेतोः संभ्रान्तः अतिव्यग्रः सन् प्रहरन् अपि शत्रुषु प्रहारं कुर्वन् अपि न वेत्ति आत्मना कृतान् प्रहारान् न जानाति। कृत्स्नं सकलं युद्धे विजयरूपं कर्म स्वयं निजद्वारा कृत्वा (स्वयं विजयमासाद्य) परस्य इत्यवगच्छति, परेणैव विजयः कृत इत्यवस्यति, तदयं कुमारस्य बाल्यभावकृतः संभ्रम एव केवलः, परमार्थतस्त्वयमेव परान् प्रहृत्य विजयमाप्तवानिति भावः॥ ६२॥

उत्तर—इन पूजनीय धनञ्जयकी।

राजा—क्या? धनञ्जयकी?

उत्तर—और क्या? इन पूज्य धनञ्जयने—

श्मशानसे अपना धनुष तथा अक्षय तरकस ले आकर भीष्म आदि नृपतियों को परास्त किया तथा हमलोगोंकी रक्षा की॥ ६१॥

राजा—ऐसी बात है?

बृहन्नला—दया करें, महाराज दया करें,

यह उत्तर कुमार लड़कपनके कारण घबड़ा गये हैं, खुद शत्रुओंपर प्रहार करके भी समझ नहीं रहे हैं, सारी लड़ाई खुद लड़ आये हैं, परन्तु समझते हैं कि कोई दूसरा लड़ता रहा है॥ ६२॥

उत्तरः—व्यपनयतु भवाञ्छङ्काम् । इदमाख्यास्यते,

प्रकोष्ठान्तरसंगूढं गाण्डीवज्याहतं किणम् ।
यत्तद् द्वादशवर्षान्ते नैव याति सवर्णताम् ॥ ६३ ॥

बृहन्नला—

एतन्मे पारिहार्याणां व्यावर्तनकृतं किणम् ।
सन्निरोधविवर्णत्वाद् गोधास्थानमिहागतम् ॥ ६४ ॥

व्यपनयतु—दूरीकरोतु । शङ्काम्-सन्देहम् । सत्यं भूतार्थमाख्याय तातस्य सन्देहं व्यावर्त्तयतु, स्वरूपं प्रकाशयत्विति यावत् । अथवा मा भवान् वदीत, इदं भवत्करस्थं व्रणचिह्नमेव भवदीयं स्वरूपं प्रकाशयिष्यति-तदाह—इदमाख्यास्यते इति ।

प्रकोष्ठान्तरेति—इदं प्रकोष्ठान्तरसङ्गूढम् मणिबन्धमध्ये समुत्पन्नम् गाण्डीवज्याहतं गाण्डीवनामकधनुषो मौर्व्या आघातेन जातं किणं रूढव्रणम् यत् (दृश्यते) तत् द्वादशवर्षान्ते बहुवत्सरापगमे अपि सवर्णताम् प्रकोष्ठतुल्यवर्णताम् नैव याति । इदमस्य प्रकोष्ठान्तरं पश्यतु तातो यत्र गाण्डीवज्याघातचिह्नमधुनापि विद्यते, कियद्भ्यो वत्सरेभ्यो विरतेऽपि धनुरास्फालनकर्मणि नाधुनापि प्रकोष्ठस्य चिह्नराहित्यं जातं, तदयमसावर्जुन एवेति भावः ॥ ६३ ॥

एतदिति—इह मम हस्ते पारिहार्याणां वलयानां सन्निरोधविवर्णत्वात् सम्यग्बन्धनकृतवर्णभेदात् गोधास्थानम् ज्याघातवारणस्थलम् प्रकोष्ठदेशमागतम् व्यावर्त्तनकृतम् विविधपरिवर्त्तनजन्यं चिह्नं विद्यते, नतु धनुश्चालनमिदम् , इदं हि वलयविवर्त्तनजं किणं यदयं गाण्डीवचालनचिह्नं मन्यते इत्याशयः । 'पारिहार्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ॥ ६४ ॥

उत्तर—आप सन्देह दूर करें,

इनके कलाई पर का यह गाण्डीव की प्रत्यञ्चा के आघात से उत्पन्न किण (शुष्कव्रणचिह्न) ही बता रहा है कि यह धनञ्जय हैं, इनका यह चिह्न बारह वर्षके बीत जाने पर भी भिन्नवर्ण का ही है, एकवर्ण नहीं हो सका है ॥ ६३ ॥

बृहन्नला—यह तो मेरे वलयों के संसर्ग से उत्पन्न चिह्न है। वलयोंके बार-बार हिलते-डुलते रहनेसे प्रकोष्ठ स्थानतक आ गये हैं ॥ ६४ ॥

राजा—पश्यामस्तावत् ।

बृहन्नला—

रुद्रबाणावलीढाङ्गो यद्यहं भारतोऽर्जुनः ।
सुव्यक्तं भीमसेनोऽयमयं राजा युधिष्ठिरः ॥ ६५ ॥

राजा—भो धर्मराज ! वृकोदर ! धनञ्जय ! कथं न मां विश्वसिथ । भवतु भवतु प्राप्तकाले । बृहन्नले ! प्रविश त्वमभ्यन्तरम् ।

बृहन्नला—यदाज्ञापयति महाराजः ।

भगवान्—अर्जुन ! न खलु न खलु प्रवेष्टव्यम् । तीर्णप्रतिज्ञा वयम् ।

अर्जुनः—यदाज्ञापयत्यार्यः ।

पश्यामः—निपुणं निरीक्ष्य कीदृशमिदं किणमिति निरूपयाम इत्यर्थः ।

रुद्रबाणेति—यदि अहं बृहन्नला रुद्रबाणावलीढाङ्गः महादेवशरक्षतगात्रः भारतः भरतवंश्यः अर्जुनः मध्यमः पार्थः, (तदा) सुव्यक्तं स्फुटम् अयं भीमसेनः तथा अयम् राजा युधिष्ठिरः । यदि किरातयुद्धे शिवबाणक्षतवपुषं मां भरतवंशीयं पार्थमवगच्छसि, तदाऽमुमपि भीमं युधिष्ठिरं चावगच्छेति भावः ॥ ६५ ॥

कथं न मां विश्वसिथ—आत्मगोपनं कृत्वा मयि अविश्वासं प्रकटयथ, यदि मयि भवतां विश्वासः स्यात्तदा भवन्तो नात्मानं प्रकाशयेयुरिति भवतां व्यवहारेण मयि भवतामविश्वासो व्यज्यत इत्याशयः ।

तीर्णप्रतिज्ञाः—समाप्ताज्ञातवासकालाः, अतोऽवसरोऽयमात्मप्रकाशनस्य, तदधुना न युक्तोऽभ्यन्तरप्रवेश इत्यर्थः ।

राजा—हम देखें तो,

बृहन्नला—महादेवके बाणोंसे क्षताङ्ग मैं यदि भरतवंशी अर्जुन हूँ तो निश्चय रूपसे यह भीमसेन हैं तथा यह राजा युधिष्ठिर हैं ॥ ६५ ॥

राजा—अजी धर्मराज, वृकोदर, धनञ्जय, मुझपर विश्वास क्यों नहीं करते अच्छी बात हैं, समय प्राप्त हो गया है, बृहन्नले ! तुम अन्दर जाओ ।

बृहन्नला—महाराजकी जो आज्ञा ।

भगवान्—अर्जुन, अन्दर मत जाओ, हम लोग अज्ञातवास पूर्ण कर चुके ।

अर्जुन—आपकी जैसी आज्ञा ।

राजा—

शूराणां सत्यसन्धानां प्रतिज्ञां परिरक्षताम्।
पाण्डवानां निवासेन कुलं मे नष्टकल्मषम्॥ ६६॥

अभिमन्युः—इहात्रभवन्तो मे पितरः। तेन खलु,

न रुष्यन्ति मया क्षिप्ता हसन्तश्च क्षिपन्ति माम्।
दिष्ट्या गोग्रहणं स्वन्तं पितरो येन दर्शिताः॥ ६७॥

(भीमसेनमुद्दिश्य) भोस्तात!

अज्ञानात्तु मया पूर्वं यद् भवान् नाभिवादितः।

शूराणामिति—शूराणाम् वीर्यशालिनाम् सत्यसन्धानाम् सत्यपरायणानाम् प्रतिज्ञां निश्चयम् अज्ञातवासरूपम परिरक्षताम् प्राणपणेन पालयताम् पाण्डवानाम् भवताम् निवासेन मे मम विराटस्य कुलं नष्टकल्मषम् पवित्रं जातमित्यर्थः अनुष्टुप् छन्दः॥ ६६॥

न रुष्यन्तीति—मया क्षिप्ताः मया आक्षिप्यमाणाः अपि न रुष्यन्ति न कोपं कुर्वन्ति, हसन्तः उपहसन्तश्च मां क्षिपन्ति निन्दन्ति। दिष्ट्या भाग्येन मे मम गोग्रहणम् विराटसंबन्धिगोहरणम् स्वन्तम् शुभावसानं जातं येन गोग्रहणेन पितरो दर्शिताः प्रत्यक्षं प्रापिताः। इमे मम तातपादा एव सन्ति, यन्मयाऽऽक्षिप्यमाणा अपि न कोपभाजो भवन्ति, हासपूर्वकं च लालनपरा इव मां कोपयन्ति, इदं गोहरणं मद्भाग्योपचयेन शुभावसानं जातं येन तातपादानां दर्शनावसरो दत्त इति भावः॥

अज्ञानात्तु इति—मया अभिमन्युना भवान् भीमः यत् अज्ञानात् तातोऽ-

---

राजा—वीर, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रतिज्ञापालनमें लगे इन पाण्डवोंके यहाँ निवास से मेरे कुलका पाप धुल गया॥ ६६॥

अभिमन्यु—यह तो हमारे पूज्य पितागण हैं, इसीलिये—

मेरे निन्दावचनोंसे यह कुपित नहीं होते हैं, और हँसते हुए मुझे चिढ़ाते हैं, सौभाग्यसे यह गोग्रहण परिणाममें भला हुआ, जिससे मुझे इनके दर्शन मिल गये॥ ६७॥

(भीमसेनकी ओर देखकर)

अज्ञानवश मैंने पहले जो आपका अभिवादन नहीं किया, उस पुत्रापराधको

तस्य पुत्रापराधस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

(इति प्रणमति)

भीमसेनः—एह्येहि पुत्र ! पितृसदृशपराक्रमो भव ।

अभिमन्युः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

भीमसेनः—पुत्र ! अभिवादयस्व पितरम् ।

अभिमन्युः—भोस्तात ! अभिवादये ।

अर्जुनः—एह्येहि वत्स ! (आलिङ्ग्य)

अयं स हृदयाह्लादी पुत्रगात्रसमागमः ।
यस्त्रयोदशवर्षान्ते प्रोषितः पुनरागतः ॥ ६९ ॥

यमिति परिचयविरहात् पूर्वं प्राक् न अभिवादितः प्रणामादिना न सत्कृतः, तस्य पुत्रापराधस्य पुत्रकृतस्यागसः प्रसादम् अनुग्रहं कर्तुम् अर्हसि। क्षाम्यतु तं पुत्रापराधं भवानिति शेषः ॥ ६८ ॥

पितृसदृशपराक्रमः—पित्रा तुल्यवीर्यः ।

अयमिति—अयम् इदानीं मयानुभूयमानः सः पूर्वमनुभूतः हृदयाह्लादी मनः-प्रहर्षजननः पुत्रगात्रसमागमः पुत्रस्पर्शः अस्तीति शेषः। यः प्रोषितः दूरंगतः अलभ्यमानः पुत्रस्पर्शः मया त्रयोदशवर्षान्ते पुनः आगतः प्राप्तः स एवायं पूर्वानुभूतः पुत्रस्पर्शो यमहं बहोः कालात् परतः प्राप्तवानिति भावः ॥ ६९ ॥

आप क्षमा करें ॥ ६८ ॥

(प्रणाम करता है)

भीमसेन—आओ बेटा आओ, पिताके समान पराक्रमी होओ ।

अभिमन्यु—मैं अनुगृहीत हुआ ।

भीमसेन—बेटा, पिताको प्रणाम करो ।

अभिमन्यु—पिताजी, मैं अभिमन्यु प्रणाम करता हूँ ।

अर्जुन—आओ बेटा आओ, (गले लगाकर)

यह वही हृदयको आनन्दित कर देने वाला पुत्र-गात्र संपर्क है, जो तेरह वर्षों के बाद बिछुड़कर फिर प्राप्त हो रहा है ॥ ६९ ॥

पुत्र ! अभिवाद्यतां विराटेश्वरः ।

अभिमन्युः—अभिवादये ।

राजा—एह्येहि वत्स !

यौधिष्ठिरं धैर्यमवाप्नुहि त्वं भैमं बलं नैपुणमर्जुनस्य ।
माद्रीजयोः कान्तिमथाभिरूप्यं कीर्त्तिं च कृष्णस्य जगत्प्रियस्य ॥७०॥

(आत्मगतम्) उत्तरासन्निकर्षस्तु मां बाधते । किमिदानीं करिष्ये । भवतु, दृष्टम् । कोऽत्र । (प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

राजा—आपस्तावत् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) इमा आपः ।

यौधिष्ठिरमिति—त्वम् अभिमन्युः यौधिष्ठिरं धैर्यं गम्भीरताम्, भैमं भीमसम्बन्धि बलम् कायिकं सामर्थ्यम्, अर्जुनस्य नैपुणम् युद्धचातुर्यम्, माद्रीजयोः नकुलसहदेवयोः कान्तिं सौन्दर्यम् आभिरूप्यम् बुद्धिमत्त्वञ्च जगत्प्रियस्य विश्वमनोहरस्य कृष्णस्य कीर्तिं यशश्च आप्नुहि आसादय । युधिष्ठिर इव धीरो भीम इव बली अर्जुन इव युद्धचतुरो नकुल इव रूपवान् सहदेव इव विद्वान् कृष्ण इव यशस्वी च जायस्वेत्यर्थः ॥ ७० ॥

आपः—जलानि, आनयेति शेषः ।

बेटा, विराटेश्वर को प्रणाम करो ।

अभिमन्यु—प्रणाम करता हूँ ।

राजा—आओ बेटा, आओ ।

तुम युधिष्ठिरका धैर्य, भीमका बल, अर्जुनका रणकौशल एवं माद्रीपुत्र-नकुल-सहदेव की सुन्दरता और बुद्धिमत्ता, तथा जगत्प्रिय भगवान् कृष्णकी कीर्त्ति प्राप्त करो ॥ ७० ॥

(स्वगत) उत्तराके साथ अर्जुनका संबन्ध मुझे बाधित करता है । ऐसी दशामें मैं क्या कर सकता हूँ । अच्छी बात है, निर्णय कर लिया, कोई है ?

(प्रवेश करके)

भट—जय हो महाराजकी ।

राजा—पानी ले आओ ।

भट—महाराजकी जो आज्ञा । (बाहर जाकर-प्रवेश करके) यह है जल,

राजा—(प्रतिगृह्य) अर्जुन ! गोग्रहणविजयशुल्कार्थं प्रतिगृह्यतामुत्तरा ।

युधिष्ठिरः—एतदवनतं शिरः ।

अर्जुनः—(आत्मगतम्) कथं चारित्रं मे तुलयति । (प्रकाशम्) भो राजन् !

इष्टमन्तःपुरं सर्वं मातृवत् पूजितं मया ।
उत्तरैषा त्वया दत्ता पुत्रार्थे प्रतिगृह्यते ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिरः—एतदुन्नतं शिरः ।

गोग्रहणविजयशुल्कार्थम्—गोहरणे लब्धेन विजयेन क्रीता, (कन्या हि किमपि शुल्कमादाय दीयते, विजयेन दत्तेन कन्येयं भवता क्रीता, सा गृह्यतामिति भावः)

अवनतम्—अधोभूतम् (अर्जुनाय स्वकन्यां वितरन्नयं-तस्य चारित्रं दूषितं घोषयति, लोको हि राजान्तःपुरचरस्यार्जुनस्योत्तरायामासक्तिं संभावयिष्यतीति भावः) ।

तुलयति—कन्याग्रहणप्रार्थनया मम परीक्षां करोतीत्यर्थः ।

इष्टमिति—इष्टं प्रियतरम् सर्वम् अन्तःपुरं स्त्रीवर्गः मया अर्जुनेन मातृवत् पूजितम् , सर्वा अपि भवदवरोधगता वनिता मया मातर इवाराधिता अतो न शक्यते मया भवत्कन्यास्वीकरणमिति भावः । ननु तर्हि भवदुपेक्षा क्रियत इत्यत्राह—उत्तरेति एषा त्वया दत्ता उत्तरा नाम तव कन्या मया पुत्रार्थे स्वपुत्रस्याभिमन्योः कृते (पुत्रेणाभिमन्युना विवाहयितुम्) प्रतिगृह्यते स्वीक्रियते ॥ ७१ ॥

राजा—(हाथमें जल लेकर) अर्जुन ! गोहरण-युद्धके बदले आप उत्तराको स्वीकार करें ।

युधिष्ठिर—यह तो शिर झुक गया ।

अर्जुन—(स्वगत) क्यों, यह हमारे चरित्रकी परीक्षा कर रहे हैं, (प्रकाशमें) राजन् ,

मैंने प्रिय अन्तःपुरको माता समझकर पूजित किया है, अतः आपके द्वारा दी गई उत्तराको मैं पुत्र अभिमन्युकी स्त्रीके रूपमें ग्रहण करता हूँ ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर—अब शिर उन्नत हो गया ।

राजा—इदानीं युद्धशूराणां चारित्रेषु व्यवस्थितः।

अन्तःपुरनिवासस्य सदृशीं कृतवान् क्रियाम्॥ ७२॥

अद्यैव खलु गुणवन्नक्षत्रम्। अद्यैव विवाहोऽस्य प्रवर्तताम्।

युधिष्ठिरः—भवतु भवतु। पितामहसकाशमुत्तरं प्रेषयामः।

राजा—यदभिरुचितं भवद्भ्यः। धर्मराज-वृकोदर-धनञ्जयाः! इत इतो भवन्तः। अनेनैव प्रहर्षेणाभ्यन्तरं प्रविशामः।

सर्वे—बाढम्। (निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति द्वितीयोऽङ्कः।



उन्नतम्—चारित्रोत्कर्षसूचनया ऊर्ध्वं नीतम्।

इदानीम् इति—इदानीम् अधुना युद्धशूराणाम् सङ्ग्रामवीराणाम् चारित्रेषु सदाचारेषु व्यवस्थितः स्थिरः (अयमर्जुनः) अन्तःपुरनिवासस्य अवरोधस्थितेः सदृशीं तुल्यां योग्यां क्रियां कृतवान्। वीरोऽयमर्जुनोऽवरोधवासोपयुक्तमेव स्वसदाचारं प्रमापितवानित्यर्थः॥ ७२॥

गुणवत्—प्रशस्तगुणोपपन्नम्।

पितामहसकाशम्—भीष्मस्य पार्श्वे। उत्तरम्—विराटपुत्रम्। भीष्मपितामहं कुलश्रेष्ठं निमन्त्रयितुमुत्तरं कुमारं प्रेषयाम इत्यर्थः।

अनेनैव प्रहर्षेण—विवाहसम्बन्धदृढीकारजन्येनानन्देन।

इति पञ्चरात्र 'प्रकाशे' द्वितीयाङ्क 'प्रकाशः'



राजा—अब युद्धवीरोंके चरित्रमें प्रख्यात इस अर्जुनने अन्तःपुर-निवासके योग्य कार्य किया है॥ ७२॥

आज सभी गुणोंसे युक्त नक्षत्र है, अतः आज ही इनका विवाह सम्पन्न करें।

युधिष्ठिर—अच्छी बात है, पितामह भीष्मके पास कुमार उत्तरको भेजते हैं।

राजा—जैसी आपकी इच्छा। धर्मराज, वृकोदर, धनञ्जय, आपलोग आइये, इसी आनन्दके साथ भीतर चलें। (सबका प्रस्थान)

द्वितीय अङ्क समाप्त



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सूतः)

सूतः—भो भोः! निवेद्यतां निवेद्यतां सर्वक्षत्राचार्यपुरोगाणां क्षत्रियाणाम्। एष हि,

अपास्य नारायणचक्रजं भयं चिरप्रनष्टान् परिभूय पाण्डवान्।
धनुस्सहायैः कुरुभिर्न रक्षितो हृतोऽभिमन्युः क्रियतां व्यपत्रपा॥ १॥

इति।

(ततः प्रविशतो भीष्मद्रोणौ)

द्रोणः—सूत! कथय कथय।

सर्वक्षत्राचार्यपुरोगाणाम्—सर्वेषां क्षत्राणाम् क्षत्रियाणाम् आचार्यः गुरुः द्रोणः पुरोगोऽग्रगण्यो येषां तेषाम् द्रोणमुख्यानामित्यर्थः।

अपास्येति—एषः हि अभिमन्युः धनुःसहायैः धनुर्धारिभिः अपि कुरुभिः कौरवैः न रक्षितः रक्षितुमपारितः सन् नारायणचक्रजं भगवतो विष्णोः श्रीकृष्णस्य चक्रात् तन्नामकादस्त्राद् भयम् अपास्य विहाय चिरप्रनष्टान् बहोः कालात् अज्ञातवृत्तान् पाण्डवान् परिभूय अनादृत्य हृतः विराटपक्षगेन केनचिद्भटेन अपनीतः, व्यपत्रपा लज्जा क्रियताम्। चापधारिभिरपि कौरवै रक्षितुमशक्तोऽभिमन्युस्तन्मातुलस्य श्रीकृष्णस्य सुदर्शनचक्रात्तथा तत्पितृभ्योऽज्ञातवासिभ्यः पाण्डवेभ्यश्च भयमकृत्वा विराटयोधान्यतमेन ह्रियते, लज्जन्तां द्रोणादयो दुर्योधनवीरा इत्यर्थः। वंशस्थं वृत्तम्॥ १॥

(सूत का प्रवेश)

सूत—अरे, सूचित कर दो, सकल क्षत्राचार्यप्रधान सभी क्षत्रियोंको, यह—

नारायणके चक्रका भय त्यागकर, बहुत दिनोंसे खोये हुए पाण्डवोंका तिरस्कारकर, शत्रुओंने अभिमन्युका हरण कर लिया, कौरव उसे नहीं बचा सके, लज्जा करनी चाहिये॥ १॥

(भीष्म और द्रोण का प्रवेश)

द्रोण—सूत, कहो कहो,

रणपटुरपनीतः केन मे शिष्यपुत्रः
क इह मम शरैस्तैर्दैवतैर्योद्धुकामः।
कथय पुरुषसारं यावदस्त्रं बलं वा
बलवत इषुदूतांस्तत्र सम्प्रेषयामि ॥ २ ॥

भीष्मः—सूत ! कथय कथय।

भग्नापयानेष्वनभिज्ञदोषस्तारुण्यभावेन विलम्बमानः।
केनैष हस्तिग्रहणोद्यतेन यूथेऽपयाते कलभो गृहीतः ॥ ३ ॥

रणपटुरिति—रणपटुः युद्धक्रियाप्रवीणः मे मम शिष्यस्य अर्जुनस्य पुत्रोऽभिमन्युः केनापनीतः अपहृतः, तैः मम दैवतैः दिव्यैः शरैः कः इह योद्धुकामः युद्धाभिलाषी वर्त्तत इति शेषः। यावत् अस्त्रं प्रहरणं बलं कायिकं सामर्थ्यम् पुरुषसारं च (अभिमन्युहर्त्तः) कथय आख्याहि, तत्र तस्मिन्नभिमन्युहर्त्तरि शत्रौ बलवतः अतिशयितबलशालिनः इषुदूतान् बाणानेव दूतभूतान् प्रेषयामि प्रेरयामि। एतादृशः को यो मम प्रियशिष्यस्यार्जुनस्य पुत्रमभिमन्युं हृतवान् स हि तादृगपकारकर्त्ता मम दिव्यैर्बाणैर्योद्धुमिच्छति किम् ? तस्य पौरुषमस्त्रं वीर्यं च ब्रूहि, तस्मिन्नहं बलवतो बाणान् प्रहित्य तं विपादयामीति भावः। मालिनी वृत्तम् ॥ २ ॥

भग्नेति—भग्नानां युद्धपराङ्मुखानाम् अपयानेषु पलायनेषु अनभिज्ञदोषः अनभिज्ञत्वरूपदूषणवान् (पलायनानभिज्ञः) तारुण्यभावेन यौवनदर्पेण विलम्बमानः अपलायित्वा स्थिरीभूतः एषः कलभः करिशावकोऽभिमन्युः हस्तिग्रहणोद्यतेन करिग्रहणसन्नद्धेन सता यूथे गजवृन्दे अपयाते सति कलभो हस्तिशिशुर्गृहीतः। पलायनानभिज्ञो यौवनदर्पोद्धतश्चाभिमन्युः केन गणग्रहणोद्यतेन पुंसा यूथेऽपयाते कलभ इव गृहीत इत्याशयः। अप्रस्तुतप्रशंसा रूपकश्चालङ्कारौ। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३ ॥

मेरे शिष्य अर्जुन के पुत्र, युद्धकुशल अभिमन्यु का किसने हरण किया है ? कौन मेरे इन दिव्य बाणोंसे लड़ना चाह रहा है ? उसके पौरुष तथा शस्त्रको कहो मैं अभी अपने बलवान् बाण रूप दूतोंको उसके पास भेजता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म—सूत, कहो कहो,

हारकर युद्ध से भागना नहीं जानता है यही जिसमें दोष है, जवानी के कारण जो अड़ा रहा, उस अभिमन्यु रूप गजबालक को यूथपतियों के भाग जानेपर किसने पकड़ लिया है ?

(ततः प्रविशति दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्च ।)

दुर्योधनः—सूत ! कथय कथय । केनापनीतोऽभिमन्युः । अहमेवैनं मोक्षयामि । कुतः,

मम हि पितृभिरस्य प्रस्तुतो ज्ञातिभेद-
स्तदिह मयि तु दोषो वक्तृभिः पातनीयः ।
अथ च मम स पुत्रः पाण्डवानां तु पश्चात्
सति च कुलविरोधे नापराध्यन्ति बालाः ॥ ४ ॥

कर्णः—अतिस्निग्धमनुरूपं चाभिहितं भवता । गान्धारीमातः !

मा तावत् स्वजनभयात् तु बालभावाद्
व्यापन्नः समरमुखे तव प्रियार्थम् ।

अपनीतः—अपहृतः । मोक्षयामि-ग्रहणान्मोचयामि ।

मम हीति—अस्य अभिमन्योः पितृभिः युधिष्ठिरादिपाण्डवैः सह मम दुर्योधनस्य ज्ञातिभेदः दायादभावकृतं वैरम् प्रस्तुतः, तत् तस्मात् इह अभिमन्यु-ग्रहणविषये वक्तृभिः स्फुटाभिधानरसिकैः लोकैः मयि दोषः (पितृवैरादेव दुर्योधनेनाभिमन्युर्ग्राहितः शक्नुवताऽपि च न मोचितः) पातनीयः अर्पणीयः, (लोको मामेव दोषभाजनमभिधास्यतीति भावः ।) अथ च सोऽभिमन्युर्मम दुर्योधनस्य पुत्रः स्नेहशीलतया पुत्र इव, पाण्डवानां तु पुत्रः पश्चात् स हि पाण्डवापेक्षयाऽपि मयि सविशेषस्नेहशील इत्यर्थः । किञ्च कुलविरोधे सत्यपि बाला नापराध्यन्ति, सत्यपि कुलवृद्धानां विरोधे बाला न स्नेहाच्च्यवन्ते इत्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४ ॥

अतिस्निग्धम्—प्रीतिपूर्णम् । अनुरूपम्- स्वयोग्यम् । गान्धारीमातः !—गान्धारीतनय ! गान्धारीमाता यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ गान्धारीमातः इति रूपम् ॥

मा तावदिति—स्वजनभयात् आत्मीयजनकृतलोकापवादभीतेः मा तावत् न,

(दुर्योधन, कर्ण एवं शकुनि का प्रवेश)

दुर्योधन—सूत, कहो कहो, किसने अभिमन्युका अपहरण किया, मैं ही उसे छुड़ाऊँगा, क्योंकि—मुझसे उसके पितासे वैर ठना हुआ है, जो दायाद का वैर है, इसलिये उसके पकड़े जाने पर लोग मुझे ही दोषी कहेंगे, इसके अतिरिक्त पहले वह मेरा लड़का है, बादमें पाण्डवों का, कौलिक विरोध होने पर बालकों का, अपराध नहीं माना जाता है ॥ ४ ॥

कर्ण—आपने अत्यन्त प्रेमपूर्ण तथा योग्य वचन कहे हैं, ऐ गान्धारीतनय !

अस्माभिर्न च परिरक्षितोऽभिमन्यु-
गृह्यन्तां धनुरपनीय वल्कलानि ॥ ५ ॥

शकुनिः—बहुनाथः खलु सौभद्रः। मुक्त एवेति सम्प्रधार्यताम्।

कुतः—

मुञ्चेदर्जुनपुत्र इत्यवगतो राजा विराटः स्वयं
स्मृत्वा चाद्य रणाजिरादवजितं मुञ्चेत् स दामोदरम्।

(अभिमन्युर्मोच्यताम्) बालभावात् अप्राप्तयौवनावस्थत्वात् समरमुखे युद्धस्थले तव दुर्योधनस्य प्रियार्थम् हितसाधनाय व्यापन्नः बन्दीभूतः, अभिमन्युः च अस्माभिः (यदि) न परिरक्षितः, तदा धनुः अपनीय दूरीकृत्य वल्कलानि मुनिधार्यवृक्षत्वचः गृह्यन्ताम् धार्यन्ताम्। लोकापवादभीत्या नाभिमन्योर्मोचनीयता, किन्तु त्वदर्थे विपन्नत्वादेव, अथ यदि वयं तथाविधमपि बालमभिमन्युं न मोचयितुमीश्महे तदाऽस्माभिर्धनुरपहाय तपश्चरणीयमिति भावः। प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ५ ॥

बहुनाथः—बहुरक्षकयुतः, (कृष्णार्जुनभीमादयो बहवोऽभिमन्यो रक्षकाः सन्तीति भावः) संप्रधार्यताम्—निश्चीयताम्।

मुञ्चेदिति—अयम् अर्जुनपुत्र इत्यवगतः प्रतीतः सन् राजा विराटः स्वयम् आत्मना एव मुञ्चेत् अभिमन्युं बन्धनान्मुक्तं कुर्यादित्यर्थः। अद्य रणाजिरात् युद्धाङ्गणात् अवजितम् पराजित्य गृहीतम् अभिमन्युम् स विराटः दामोदरम्

अपने जनों द्वारा दिये जाने वाले अपवादके भयसे नहीं, स्नेहके कारण नहीं, उसे तो इसलिये छुड़ाना है कि वह आपके प्रिय कार्यको सम्पन्न करने में पकड़ा गया है, और हमने उसे नहीं बचाया, ऐसी स्थितिमें हमको धनुष छोड़कर वल्कल पहन लेना चाहिये ॥ ५ ॥

शकुनि—अभिमन्युके बहुतसे रक्षक हैं, ऐसा समझिये कि वह छूटा ही है। क्योंकि—अर्जुनपुत्र समझकर अभिमन्युको विराट स्वयं छोड़ देंगे, दामोदर को याद करके युद्धस्थलसे हराकर लाये गये अभिमन्युको वह छोड़ ही देंगे, अथवा

क्रोधोद्धूतहलात् प्रलम्बमथनाद् भीतेन मुच्येत वा
भीमस्त्वेनमिहानयेद् बलमहान् हत्वा रिपूनूर्जितान् ॥ ६ ॥

द्रोणः—सूत ! कथय कथय । कथमिदानीं गृहीतः ।

पर्यस्तोऽस्य रथो हया नु चपलाश्चक्राक्षमा मेदिनी
तूणी क्षीणशरे त्वमस्य विगुणो ज्याच्छेदवन्ध्यं धनुः ।

श्रीकृष्णं स्मृत्वा ध्यात्वा मुञ्चेत् त्यजेत् , वा अथवा क्रोधोद्धूतहलात् कोपकम्पितहलरूपस्वप्रहरणात् प्रलम्बमथनात् बलभद्रात् भीतेन भयं प्राप्तेन विराटेन सः अभिमन्युः स्वयम् आत्मनैव मुच्येत मुक्तः स्यात् , अथवा बलमहान् महाबलः भीमः ऊर्जितान् दर्पितान् रिपून् विराटादीन् हत्वा एनम् अभिमन्युम् इह आनयेत् । अतस्तदर्थं चिन्ता वृथेति भावः । अर्जुनपुत्रत्वेन ज्ञातमात्र एवाभिमन्युर्मुक्तः स्यात् , युद्धे गृहीतं वा तं भगवतः श्रीकृष्णस्य भागिनेयोऽयमिति श्रीकृष्णस्मरणमात्रेणैव विराटो मुञ्चेत् , वा हलप्रहरणं कम्पयतो बलभद्राद् भीत्वा तं जह्यात् , मा वाभूदिदं किमपि, महाबलो भीमः सर्वानपि तान् विजित्याभिमन्युं मोचयित्वाऽवश्यमानयेदतोऽस्माभिरभिमन्युमोचनार्थं प्रयासो नैव कार्य इत्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

पर्यस्त इति—अस्य अभिमन्योः रथः पर्यस्तः पतितः नु, मेदिनी तत्रत्या भूमिः चक्राक्षमा रथचक्रभ्रमणानर्हा नु किम् ? तूणी तूणीरे क्षीणशरे बाणशून्ये नु जाते ? किं त्वम् सूतः विगुणः अयोग्यः रथसञ्चारणानर्हः जातः ? किं धनुः

कोपसे हल हिलाने वाले बलरामसे डर कर उसे छोड़ देंगे, अथवा अतिबली भीम गर्वित शत्रुओंको मारकर उसे यहाँ ले आवेगा ॥ ६ ॥

द्रोण—सूत ! कहो कहो, वह पकड़ा कैसे गया ?

क्या उसका रथ उलट गया ? या घोड़े भड़क गये ? अथवा पृथ्वी रथसञ्चारके अयोग्य थी ? या तरकसमें के बाण समाप्त हो गये अथवा तुमने प्रतिकूलता दिखाई ? अथवा प्रत्यञ्चाके खण्डित हो जानेसे धनुष बेकार हो गया ? युद्धक्षेत्रमें रथियों के यही दैवकृत निग्रहके कारण होते हैं, हाँ, शत्रुलोग बाणों

एता दैवकृता भवन्ति रथिनां युद्धाश्रया व्यापदो
बाणैरप्यवकृष्यते खलु परैः स्वाधीनशिक्षस्तु सः ॥ ७ ॥

सूतः—आयुष्मन्! पुरुषमयो धनुर्वेदः। किमायुष्मता न ज्ञायते।

न चापि दोषा भवताभिभाषिताः
स चापि बाणौघमयो महारथः।
अलातचक्रप्रतिमस्तु मे रथो
गृहीत एवापतता पदातिना ॥ ८ ॥

ज्याच्छेदवन्ध्यम् मौर्वीत्रुटनाद् विफलम् जातम् ? एताः पूर्वोक्ताः (रथपतनपङ्किलादिभूमिप्राप्तितूणीरस्थशरक्षयसारथिप्रमादधनुस्त्रुटनात्मिकाः) रथिनां योधानां युद्धाश्रयाः रणगताः दैवकृताः भाग्यप्रापिताः व्यापदः विपत्तयः भवन्ति, स्वाधीनशिक्षः यथेच्छाचरणक्षमयुद्धाभ्यासशाली सः अभिमन्युः खलु परैः बाणैः अपि अवकृष्यते गृह्यते, यदि पूर्वोक्तासु व्यापत्तिषु कापि व्यापत्तिर्न घटिता स्यात्तदा युद्धे यथेच्छमाचरितुं कृताभ्यासं तमभिमन्युं किं परे बाणैरपि प्रहीतुमीशीरन्निति भावः ॥ ७ ॥

पुरुषमयः—पुरुषमूर्त्तिः, आयुष्मता अभिमन्युना। अभिमन्युः सर्वमपि धनुर्वेदं जानातीत्यर्थः।

न चापीति—भवता द्रोणेन अभिभाषिताः उक्ताः दोषाः रथपतनादयः च न आसन्निति शेषः, स च महारथः युद्धवीरोऽभिमन्युः अपि बाणौघमयः बाणराशिवर्षी आसीदेवेत्यर्थः। अलातचक्रप्रतिमः भ्रमदुल्मुकतुल्यः मे मम रथः

द्वारा खींच करभी किसी किसीको पकड़ लेते हैं परन्तु अभिमन्युतो धनुषविद्यामें बड़ा निपुण है ॥ ७ ॥

सूत—आयुष्मन्, अभिमन्यु तो पुरुषाकारधारी धनुर्वेदही है, क्या आप यह नहीं जानते हैं?

आपके बताये गये दोषोंमें कोई दोष नहीं था, और अभिमन्यु महारथपर आरूढ होकर बाणकी वृष्टि भी कर ही रहा था, मेरा रथ अलातचक्रकी तरह चमक रहा था, फिरभी एक पैदल वीर ने ही आकर मेरे रथको पकड़ लिया। ८ ॥

सर्वे—कथं पदातिनेति ?

द्रोणः—अथ कीदृशः पदातिः ?

सूतः—किमभिधास्यामि रूपं वा पराक्रमं वा ?

भीष्मः—रूपेण स्त्रियः कथ्यन्ते । पराक्रमेण तु पुरुषाः । तत् पराक्रमोऽस्याभिधीयताम् ।

सूतः—आयुष्मन् !

दुर्योधनः—

किमर्थं स्तूयते कोऽपि भवता गर्विताक्षरैः ।

(सर्वतो नृत्यन् मम रथः) आपतता तत्काले सम्मुखमागच्छता पदातिना पादचारिणा केनापि गृहीत एव (अभिमन्युर्बलाद् गृहीतः) भवदुक्तेषु दोषेष्वसत्स्वपि महारथेऽभिमन्यौ बाणान्मुञ्चत्यपि रथे सर्वतो भ्रमत्यपि तेन पदातिना प्रसभमभिमन्युर्गृहीत इति भावः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ८ ॥

कथं पदातिनेति—पादचारिणा तादृशवीराध्युषितरथावस्कन्दनं कथं कृतमिति वक्तुराश्चर्यं प्रकाशते ।

रूपं वा पराक्रमं वा—तस्य रूपं कथयामि पराक्रमं वेति प्रश्नः ।

स्त्रियः कथ्यन्ते—स्त्रीणां रूपं वर्ण्यते, पुरुषाणां तु पराक्रमो वर्ण्यते, तत्तस्य पराक्रमः प्रकाश्यतां येन तथा पराक्रान्तमित्यर्थः ।

किमर्थमिति—भवता सूतेन गर्विताक्षरैः प्रौढताशालिभिर्वचनैः कोऽपि किमर्थम् किंप्रयोजनमभिप्रेत्य स्तूयते प्रशस्यते, भवानेभिः प्रौढैरक्षरैः किमर्थं कमपि स्तौति, मां भीषयितुं स्तौतीति चेदलं तथा कृत्वा—मम भयोदयस्या-

---

सभी—क्या पैदल ने ?

द्रोण—अच्छा, वह पदाति कैसा था ?

सूत—मैं उसका रूप बताऊँ अथवा पराक्रम ?

भीष्म—स्त्रियोंके रूपका वर्णन किया जाता है, पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन किया जाता है । इसलिये उसका पराक्रम बताइये ।

सूत—आयुष्मन्,

दुर्योधन—क्यों आप साभिमान शब्दोंमें किसीकी स्तुति कर रहे हैं, साफ

कथ्यतां नास्ति मे त्रासो यद्येष पवनो जवे ॥ ९ ॥

सूतः—श्रोतुमर्हति महाराजः । तेन खलु,

लङ्घयित्वा जवेनाश्वान् न्युस्तश्चापस्करे करः ।
प्रसारितहयग्रीवो निष्कम्पश्च रथः स्थितः ॥ १० ॥

भीष्मः—तेन हि न्यस्यन्तामायुधानि ।

सर्वे—किमर्थम् ?

संभवित्वात्, तदाह—कथ्यतामिति० मे मम त्रासो नास्ति, यदि एषः भवता वर्ण्यमानो जवे वेगे पवनः वायुः अपि स्यात्, तथापि मम त्रासो नास्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

लङ्घयित्वेति—(तेन हि पदातिना) जवेन अश्वान् रथ्यान् लङ्घयित्वा अतिक्रम्य अपस्करे योधासनस्थाने रथावयवे करः निजहस्तो न्यस्तः स्थापितः, प्रसारितहयग्रीवः तदीयभारेणाश्वानां ग्रीवाभागान् प्रसारयन् च रथः निष्कम्पः अचलः स्थितः, रथारूढे तस्मिन्पदातौ भाराक्रान्तरथवहने लम्बमानग्रीवा अश्वा जाताः, रथश्चाचलो जात इत्यर्थः ॥ १० ॥

न्यस्यन्ताम्—मुच्यन्ताम्, आयुधानि अस्त्राणि । यद्येवं तदा युद्धमनावश्यकं, तादृशस्य पदातेरजेयत्वादित्यर्थः ।

साफ बताइये, मुझे किसी प्रकारका भय नहीं है, चाहे वह वेगमें पवन ही क्यों न हो ॥ ९ ॥

सूत—सुनिये महाराज ! उस पदातिने—

वेगसे घोड़ोंका अतिक्रमण कर रथके अगले भागको हाथसे पकड़ लिया, घोड़ोंने पूरा जोर लगाया, उनकी ग्रीवायें लम्बी हो गई, फिर भी रथ निष्कम्प खड़ा रहा ॥ १० ॥

भीष्म—तब अस्त्र रख दिया जाय ।

सभी—क्यों रख दिया जाय ?

भीष्मः—

हृतप्रवेगो यदि बाहुना रथो
वृकोदरस्याङ्कगतः स चिन्त्यताम् ।
पुरा हि तेन द्रुपदात्मजां हरन्
पदातिनैवावजितो जयद्रथः ॥ ११ ॥

द्रोणः—सम्यगाह गाङ्गेयः । बाल्योपदेशात् प्रभृत्यहं तस्य जवमवगच्छामि । इष्वस्त्रशालायां हि,

कर्णायते तेन शरे विमुक्ते
विकम्पितं तस्य शिरो मयोक्तम् ।

हृतप्रवेग इति—यदि बाहुना एकेन भुजेन रथः हृतप्रवेगः निरुद्धवेगप्रकर्षः कृतः तर्हि सः अभिमन्युः वृकोदरस्य भीमस्य अङ्कगतः क्रोडस्थितः इति चिन्त्यताम् विभाव्यताम्, यदि एकभुजावस्कन्दितो रथोऽचलोऽजायत तदाऽसौ भीमादपरो न भवत्यभिमन्युहरो जन इत्यर्थः । एतादृशं कर्म तस्य दृष्टपूर्वमपीत्याह—तेन पदातिना पादचारिणा एव भीमेन द्रुपदात्मजां द्रौपदीं (वनवासकाले वनात्) हरन् रथमारोप्य नयन् जयद्रथः पुरा अवजितः रथाद् उत्थाप्यानीतः । अत इदमपि रथादभिमन्योर्ग्रहणं तस्यैव भीमस्य कृत्यं, तदलं तस्य मोक्षणाय चिन्तयेति तात्पर्यम् ॥ ११ ॥

गाङ्गेयः—भीष्मः । बाल्योपदेशात्—बाल्यावस्थायां क्रियमाणात् शिक्षणात् । तस्य भीमस्य । जवम्—वेगं सामर्थ्यम् । इष्वस्त्रशालायाम्—आयुधाभ्यासशालायाम् ।

कर्णायत इति—तेन भीमसेनेन कर्णायते आकर्णकृष्ट शरे बाणे विमुक्ते

भीष्म—यदि हाथसे रथके वेगको समाप्त कर दिया तो समझिये कि अभिमन्यु भीमके अङ्कमें पड़ गया है, पूर्वसमयमें द्रौपदीका हरण करते समय जयद्रथको भी भीमने पैदलही जीत लिया था ॥ ११ ॥

द्रोण—भीष्म ठीक कहते हैं, पढ़नेके समयसे ही मैं उसके वेगको जानता हूँ, अस्त्र-शिक्षा-विद्यालयमें—

भीमने कानतक खींचकर बाण छोड़ा, मैंने कहा कि तुम्हारा शिर हिल गया

गत्वा तदा तेन च बाणतुल्य
मप्राप्तलक्षः स शरो गृहीतः ॥ १२ ॥

शकुनिः—अहो हास्यमभिधानम्। भोः ! पृच्छामि तावद् भवन्तम्।

नास्त्यन्यो बलवाँल्लोके सर्वमिष्टेषु कथ्यते।
जगद्व्याप्तान् भवन्तः किं सर्वे पश्यन्ति पाण्डवान् ॥ १३ ॥

सति मया तस्य शिरः मस्तकम् विकम्पितमुक्तम्, शिरःकम्पो हि धानुष्कस्य दोषः, भीमेन शरे विमुच्यमाने सति शिरःकम्पस्तदीयो दोष उद्भावितो मयेति भावः। तदा तस्मिन्नेव क्षणे तेन भीमेन बाणतुल्यम् बाणवच्छीघ्रम् गत्वा अप्राप्तलक्षः लक्ष्यदेशमप्राप्त एव सः शरो गृहीतः मध्येमार्गमेव गत्वा गृहीत इत्यर्थः। एतेन भीमस्य बाणापेक्षयापि शीघ्रगामित्वमुक्तम्। उपजातिवृत्तम् ॥ १२ ॥

हास्यम्—हसितुं योग्यम्, अभिधानम् उक्तिः।

नास्त्यन्य इति—लोके संसारे अन्यः पाण्डवेभ्यो भिन्नः बलवान् नास्ति, अपितु अस्ति, संसारे केवलं पाण्डवा एव न बलशालिनः, परमन्येऽपि सन्ति तथा, तथापि परान् विहाय पाण्डवप्रशंसनमात्मीयत्वनिमित्तकमेवेत्यर्थः। तदाह—इष्टेषु प्रियजनेषु सर्वं कथ्यते—आत्मीयेषु सर्वविधमपि प्रशंसावचनं प्रयुज्यत इत्याशयः। किं सर्वे भवन्तो द्रोणादयः पाण्डवान् जगद्व्याप्तान् पश्यन्ति, किं भवतां मते पाण्डवाः सर्वत्र व्याप्ता येनाभिमन्युर्भीमसेनगृहीतत्वेनैव संभाव्यत इत्यहो भवतां पाण्डवपक्षपात इत्यर्थः ॥ १३ ॥

जो बाण चलानेमें दोष है, बस झट वह बाणकी तरह दौड़ गया और लक्ष्य तक पहुँचनेसे पहलेही उसने अपने छोड़े गये बाणको पकड़ किया ॥ १२ ॥

शकुनि—अहा, कैसी हँसीकी बात है ? मैं आपसे पूछता हूँ,

क्या इस संसारमें कोई दूसरा बलवान् नहीं है ? अपने प्रियजनके लिये सब कुछ कहा जाता है। आप सभी क्या पाण्डवोंको जगत्में व्याप्त समझते हैं ? ॥ १३ ॥

भीष्मः—गान्धारराज ! सर्वमनुमानात् कथ्यते ।

वयं व्यपाश्रित्य रणं प्रयामः
शस्त्राणि चापानि रथाधिरूढाः ।
द्वावेव दोर्भ्यां समरे प्रयातो
हलायुधश्चैव वृकोदरश्च ॥ १४ ॥

शकुनिः—

एकेनैव वयं भग्नाः सहसा साहसप्रियाः ।
उत्तरं च तमप्येके कथयिष्यन्ति फाल्गुनम् ॥ १५ ॥

अनुमानात् कथ्यते—अनुमापकेन हेतुनानुमाय प्रोच्यते ।

वयमिति—वयं भवन्तश्च सर्वे युद्धसज्जाः रथाधिरूढाः रथमारूढाः सन्तः चापानि धनूंषि शस्त्राणि नानाविधान्यायुधानि च व्यपाश्रित्य अवलम्ब्य रणं युद्धस्थलं प्रयामः गच्छामः, सर्वेषामेवास्माकं युद्धयात्रा शस्त्रभृतामेव भवति, हलायुधः बलरामः वृकोदरः भीमश्चैव इति द्वौ एव दोर्भ्यां बाहुभ्याम् समरे युद्धे प्रयातः गच्छतः । केवलं द्वावेव बाहुमात्रप्रहरणौ युद्धक्षेत्रे गच्छतः इति शक्यतेऽनुमातुमिदं यद्भीमेनैवाभिमन्युर्गृहीत इति ॥ १४ ॥

एकेनैवेति—एकेन सहायान्तररहितेन अशस्त्रेण चैव साहसप्रियाः बलवन्तः वयं सर्वेऽपि सहसा हठात् भग्नाः पराजिताः, तमुत्तरम् अपि एके त्वादृशाः केचन फाल्गुनम् अर्जुनम् कथयिष्यन्ति । यद्यभिमन्युग्रहीता भीमो भवति भवतां मते, तदाऽस्मत्पराजेतोत्तरोऽप्यर्जुन एव वक्तव्यः स्यादिति शकुनेररुन्तुदः पक्षपाताधिक्षेपपरश्चाभिप्रायः ॥ १५ ॥

भीष्म—गान्धारराज, सब कुछ अनुमानसे कहा जाता है,

हमलोग शस्त्र चाप लेकर तथा रथमें बैठकर युद्ध करने जाते हैं, दोही आदमी ऐसे हैं—बलराम तथा भीम, जो केवल बाहुसे लड़ने जाते हैं ॥ १४ ॥

शकुनि—हम साहसी वीरोंको जिसने अकेले परास्त कर दिया, उस उत्तरको भी कुछ लोग अर्जुनही कहेंगे ॥ १५ ॥

द्रोणः—भो गान्धारराज ! अत्रापि तावद् भवतः सन्देहः।

किमुत्तरेणापि रणे विकृष्यते
निसृष्टशुष्काशनिगर्जितं धनुः।
किमुत्तरस्यापि शरैर्हृतातपः
कृतो मुहूर्तास्तमितो दिवाकरः ॥ १६ ॥

भीष्मः—गान्धारीमातः ! विस्पष्टं खलु कथ्यते। ननु जानीते भवान्।

बाणपुङ्खाक्षरैर्वाक्यैर्ज्याजिह्वापरिवर्तिभिः।
विकृष्टं खलु पार्थेन न च श्रोत्रं प्रयच्छति ॥ १७ ॥

गान्धारराज—शकुने, अत्रापि—अस्माकं पराजेतुरर्जुनत्वेऽपि।

किमुत्तरेणापीति०—उत्तरेण विराटपुत्रेण अपि रणे युद्धे निसृष्टशुष्काशनिगर्जितम् कृतशुष्कवज्रध्वनि धनुः कार्मुकम् विकृष्यते किम् ? नहि कदाचिदुत्तरस्तादृशमवृष्टिवज्रध्वनिशब्दकरं धनुराक्रष्टुमीष्ट इत्यर्थः। उत्तरस्यापि शरैः बाणैः हृतातपः वारितातपः मुहूर्तास्तमितः कियतः कालस्य कृतेऽस्तंगत इव दिवाकरः कृतः किम् ? किमुत्तरोपि स्वाविद्धैर्बाणैर्भास्करमाच्छाद्यास्तंगतमिव प्रत्याययितुं प्रभवतीति, अतश्च तादृग्भीमधनुर्धरोऽवश्यमसावर्जुन एवेति भावः ॥ १६ ॥

बाणपुङ्खेति—बाणपुङ्खाक्षरैः बाणमूललिखितनामाक्षरैः ज्या मौर्वी शरासनगता रसना तत्र परिवर्तिभिः वाक्यैः (धनुर्ध्वनिभिः) (स्पष्टं कथ्यते—विकृष्टं) खलु पार्थेन इति, न च श्रोत्रं प्रयच्छति किं भवांस्तत्र कर्णं न दत्तवान् ? बाणमूल-

---

द्रोण—अजी गान्धारराज, क्या आपको इसमें भी सन्देह है,

क्या उत्तरभी सूखे वज्रपातकी तरह गर्जन करनेवाला धनुष आकृष्ट करता है, क्या उत्तरके बाणोंसे भी क्षण भरके लिये सूर्यका आतप छिप गया, और सूर्य अस्तंगतसे दीखने लगे थे ? ॥ १६ ॥

भीष्म—गान्धारीतनय, मैं साफ कहूँगा, आप जानते हैं—

बाणपुंखपर लिखे हुए वर्णको ज्यारूप जिह्वासे दुहरानेवाले धनुषके शब्दने स्पष्ट कह दिया कि पार्थ धनुष आकृष्ट करते हैं, क्या आपने उधर कान नहीं दिया ? ॥ १७ ॥

(प्रविश्य)

सूतः— जयत्वायुष्मान् । शान्तिकर्मानुष्ठीयताम् ।

भीष्मः—किमर्थम् ?

सूतः—

उचितं ते पुरा कर्तुं ध्वजे बाणप्रधर्षिते ।
अयं हि बाणः कस्यापि पुङ्खे नामाभिधीयते ॥ १८ ॥

भीष्मः— आनय ।

(सूत उपनयति ।)

लिखिता नामवर्णाः ज्यापरिवर्त्तिनः सन्तः धनुर्ध्वनिवाक्यभावमापन्नाः पार्थे-नेवेदं धनुराकृष्यत इति स्पष्टमाख्यातवन्तः, किं तत्र भवतः श्रुतिर्न सावधानासीदिति भावः ॥ १७ ॥

शान्तिकर्म—युद्धे जातस्य पराजयस्य मूलभूतं किमपि दुरदृष्टं शमयितुं दानपुण्यादिमङ्गलकृत्यम् । अनुष्ठीयताम्—क्रियताम् ।

उचितमिति—ध्वजे रथकेतौ बाणप्रधर्षिते परकीयशरविद्धे सति पुरा पूर्वम् ते तव कर्त्तुमुचितम् शान्तिकर्मेति शेषः । अयं हि असौ बाणः, येन ध्वजः प्रधर्षितः, अस्य बाणस्य पुंखे मूले कस्यापि नाम अभिधीयते उच्यते वाचयितृभिरिति शेषः ॥ १८ ॥

(प्रवेश करके)

सूत—जय हो महाराजकी । शान्तिकर्म कीजिये ।

भीष्म – क्यों ?

सूत—दूसरेके बाणसे अपनी ध्वजाके विद्ध हो जानेपर आपको पहलेही शान्तिकर्म करना चाहिये, जिस बाणने आपकी ध्वजाको विद्ध किया है, उसके पुंखपर किसीका नाम कहा जाता है ॥ १८ ॥

भीष्म—लाओ तो बाण।

भीष्मः—(गृहीत्वा निरीक्ष्य) वत्स ! गान्धारराज ! ! जराशिथिलं मे चक्षुः। वाच्यतामयं शरः।

शकुनिः—(गृहीत्वानुवाच्य च) अर्जुनस्य । (इति क्षिपति । द्रोणस्य पादयोः पतति ।)

द्रोणः—(शरं गृहीत्वा) एह्येहि वत्स !

एष शिष्येण मे क्षिप्तो गाङ्गेयं वन्दितुं शरः।
पादयोः पतितो भूमौ मां क्रमेणाभिवन्दितुम् ॥ १९ ॥

शकुनिः—मा तावद् भोः ! शरप्रत्यय इदानीं श्रद्धातव्यम्।

योधः स्यादर्जुनो नाम तेनायं चोज्झितः शरः।

जराशिथिलम्—वार्धकेनाक्षरग्रहणापटु, वाच्यताम्—पठ्यताम् । क्षिपतीत्यस्य शरमिति शेषः। पततीत्यस्य च शर इति शेषः।

एष शिष्येणेति—एषः शरः मे मम द्रोणस्य शिष्येण अर्जुनेन गाङ्गेयम् भीष्मम् वन्दितुम् प्रणन्तुम् क्षिप्तः प्रेरितः, क्रमेण पर्यायक्रमेण (भीष्मानन्तरम्) माम् अभिवन्दितुम् प्रणन्तुं च भूमौ पादयोः मम चरणयोः पतित इत्यर्थः, शरोऽयमर्जुनेन भीष्मं प्रणन्तुं क्षिप्तस्तं प्रणम्य क्रमप्राप्तं मत्प्रणाममाचरितुमिव मत्पादमूलं प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

शरप्रत्यये—बाणाक्षरकृतेऽर्जुनानुमाने। श्रद्धातव्यम्—असंशयविश्वास कार्यः।

योधः स्यादिति—कश्चन पाण्डवार्जुनातिरिक्तोऽर्जुनो नाम योधः वीरः

भीष्म—(लेकर और देखकर)

वत्स गान्धारराज, वृद्धत्वके कारण मेरी आँखें मन्द पड़ गई हैं, पढ़िये तो इस बाण पर क्या लिखा है ?

शकुनि—(लेकर और पढ़कर) अर्जुनका यह बाण है। (फेंकता है, बाण द्रोणके पैरोंपर गिरता है।)

द्रोण—(बाण लेकर) वत्स, इस बाणको मेरे शिष्य अर्जुनने भीष्मको प्रणाम करनेके लिये चलाया था, और यह बाण क्रमशः मुझे प्रणाम करनेके लिये मेरे पैरों पर आ पड़ा है ॥ १९ ॥

शकुनि—नहीं जी, बाणपर विश्वास नहीं करना चाहिये।

लिखितं चोत्तरेणापि प्रकाशमुपनीयताम् ॥ २० ॥

दुर्योधनः—

तेषां राज्यप्रदानार्थमनृतं कथ्यते यदि ।
राज्यस्यार्धं प्रदास्यामि यावद् दृष्टे युधिष्ठिरे ॥ २१ ॥

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः । विराटनगराद् दूतः प्राप्तः ।

दुर्योधनः—प्रवेश्यताम् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

स्यात् , तेन चायम् अस्माभिर्दृश्यमानः शरः उज्झितः विसृष्टः स्यात् । तथा चैतद्बाणगताक्षरदर्शनेन न पाण्डवार्जुनप्रत्ययोऽसन्दिग्धः शक्यते मन्तुम् इति भावः ।

उत्तरेण विराटपुत्रेण लिखितम्—पाण्डवार्जुन एवैतद्बाणप्रहर्त्तेति लिख्यमानमर्जुनस्योपलब्धिं सूचयत् प्रमाणम् प्रकाशमुपनीयताम् प्रकाश्यताम् , ततः शक्यते पाण्डवार्जुनत्वं विश्वसितुमिति भावः ॥ २० ॥

तेषामिति—तेषां राज्यप्रदानार्थम् पाण्डवेभ्यो राज्यं प्रदापयितुम् यदि उत्तरेण अनृतं कथ्यते मिथ्योच्यते, इदमपि सम्भवति यदुत्तरः पाण्डवेभ्यो राज्यं दापयितुमसत्यमभिदध्यादतो न तदुक्तिरप्यस्माभिः प्रमाणनीयेति भावः, स्वनिश्चयमाह—राजस्येति० युधिष्ठिरे साक्षात्कृते सत्येव राज्यस्यार्धं प्रदास्यामि, नतु केनापि प्रमाणान्तरेण तदुपलम्भानुमान इति ॥ २१ ॥

प्रवेश्यताम्—विराटनगरादागतो दूतो मत्समीपमानीयताम् ।

कोई अर्जुन नामका दूसरा योद्धा होगा, उसीने यह बाण चलाया होगा, उत्तर द्वारा लिखा गया प्रमाण प्रस्तुत कीजिये कि वह अर्जुन पाण्डव अर्जुन ही था ॥ २० ॥

दुर्योधन—यदि उत्तरने पाण्डवोंको राज्य दिलानेके लिये मिथ्या कह दिया तो ? मैं राज्यका आधा भाग तभी दूंगा जब युधिष्ठिरके साक्षात् दर्शन हो जायँ ॥ २१ ॥ (प्रवेश करके)

भट—जय हो, महाराजकी जय हो । विराट नगरसे दूत आया है ।

दुर्योधन—बुला लाओ ।

भट—महाराजकी जैसी आज्ञा । (जाता है)

(ततः प्रविशत्युत्तरः।)

उत्तरः—

अध्वानमल्पमतिमुक्तजवैस्तुरङ्गै-
रागच्छता पथि रथेन विलम्बितं मे।
कौन्तेयबाणनिहतैर्द्विरदैः समन्ताद्
दुःखेन यान्ति तुरगा विषमा हि भूमिः॥ २२॥

(प्रविश्य कृताञ्जलिः) भो भोः ! आचार्यपितामहपुरोगं सर्वराजमभिवादये।

सर्वे—आयुष्मान् भव।

अध्वानमिति—अतिमुक्तजवैः पराङ्कोटिंगतवेगैः अपि तुरङ्गैः अश्वैः अल्पम् अदूरम् अध्वानम् मार्गम् आगच्छता मे मम रथेन पथि मार्गे विलम्बितम् विलम्बः कृतः, यद्यपि अश्वानां वेगः परांकोटिङ्गतो मार्गोऽपि नाधिकस्तथापि ममाश्वाः पथि व्यलम्बन्तेत्यर्थः, तत्र विलम्बे कारणमाह—कौन्तेयबाणनिहतैः अर्जुनशरभिन्नैः द्विरदैः गजैः भूमिः समन्ततः सर्वतो विषमा उद्घातिनी (जातास्ति) तेन तुरगाः रथाश्वाः दुःखेन यान्ति चलन्ति, इदमेव विलम्बकारणं यदधिपथं धरणी पार्थशरहतगजैर्विषमतां गता, येन रथसञ्चारो दुष्करत्वं प्रपन्न इति॥ २२॥

आचार्यपितामहपुरोगम्—द्रोणभीष्मप्रधानम्। सर्वराजं—सर्वान् राजन्यान्।

(उत्तर का प्रवेश)

उत्तर—मार्ग बहुत लम्बा नहीं था, घोड़ों को भी वेगसे चलाया गया, फिर भी आनेमें हमारे रथको विलम्ब हो गया, क्योंकि अर्जुन द्वारा मारे गये हस्तियोंके शवोंसे रास्ते की भूमि विषम हो गई है॥ २२॥

(प्रवेश करके, हाथ जोड़कर)

हे आचार्य पितामह प्रभृति राजगण, मैं उत्तर प्रणाम करताहूँ।

सब—आयुष्मान् होओ।

द्रोणः—किमाह तत्रभवान् विराटेश्वरः ?

उत्तरः—नाहं तत्रभवता प्रेषितः ।

द्रोणः—अथ केन त्वं प्रेषितः ?

उत्तरः—तत्रभवता युधिष्ठिरेण ।

द्रोणः—किमाह धर्मराजः ?

उत्तरः—श्रूयताम् ,

उत्तरा मे स्नुषा लब्धा प्रतीक्षे राजमण्डलम् ।
तत्रव किमिहैवास्तु विवाहः क प्रवर्तताम् ॥ २३ ॥

शकुनिः—तत्रैव तत्रैव ।

नाहं तत्रभवता प्रेषितः—विराटेन नाहं प्रहितः ।

उत्तरेति—मे मम युधिष्ठरस्य स्नुषा पुत्रवधूः उत्तरा नाम विराटपुत्री लब्धा प्राप्ता, राजमण्डलं प्रतीक्षे तद्विवाहोत्सवार्थं प्रतिपालयामि । तत्र कौरवाणां पैतृके गृहे हस्तिनापुरे इह विराटपुरे एव वा विवाहः अस्तु, क प्रवर्त्तताम् जायताम विवाह इति शेषः, विवाहस्थानं भवद्भिरेव निर्णीय स्वोपस्थित्या सनाथीक्रियतां विवाहोत्सव इति भावः ॥ २३ ॥

तत्रैव—विराटगृह एव ।

द्रोण—विराटराजने क्या कहा है ?

उत्तर—मुझे उन्होंने नहीं भेजा है ।

द्रोण—फिर आपको किसने भेजा है ?

उत्तर—पूज्य युधिष्ठिरने ।

द्रोण—धर्मराजने क्या कहा है ?

उत्तर—सुनिये,

उत्तरा मुझे पुत्रवधूके रूपमें प्राप्त हुई है, मैं आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, विवाह वहाँ हो या यहाँ, इसका आप लोग निर्णय करें ॥ २३ ॥

शकुनि—वहीं वहीं,

द्रोणः—

इत्यर्थं वयमानीताः पञ्चरात्रोऽपि वर्तते।
धर्मेणावर्जिता भिक्षा धर्मेणैव प्रदीयताम्॥ २४॥

दुर्योधनः—

बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम्।
मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति॥ २५॥

द्रोणः—

हन्त सर्वे प्रसन्नाः स्मः प्रवृद्धकुलसंग्रहाः।

इत्यर्थमिति—इति एवम् वयम् द्रोणादयः सर्वेपि अर्थम् पाण्डवोपलब्धिरूपं आनीताः प्रापिताः, सर्वैरस्माभिः पाण्डवानां स्थितिर्ज्ञातेत्यर्थः, पञ्चरात्रः पञ्चरात्र्यात्मकः अवधित्वेन नियतः कालोऽपि वर्त्तते न तु व्यतीत इत्यर्थः, धर्मेण गुरवे दक्षिणा दीयते इति सत्यसङ्कल्पेन आवर्जिता स्वीकृता भिक्षा मया याचितं पाण्डवानां राज्यार्धम् धर्मेण स्वप्रतिज्ञापालनात्मना सदाचारेणैव प्रदीयताम्॥ २४॥

बाढमिति—बाढं भवदुक्तं स्वीकृतम्, मया यथापुरं पूर्वमिव राज्यं पाण्डवेभ्यः दत्तम्, पाण्डवानां यावद्राज्यं प्रागासीत् तावद्दीयत इति भावः, नराः मृतेऽपि मरणानन्तरमपि सत्ये तिष्ठन्ति अक्षते सति तिष्ठन्ति यशःकायेन तिष्ठन्ति, तेन सत्यपालनाय मया पाण्डवेभ्यो राज्यं प्रदीयत इति॥ २५॥

हन्तेति—हन्त इति हर्षे, प्रवृद्धकुलसंग्रहाः समुपचितकुलद्वयसङ्गमाः

द्रोण—इस प्रकार हमनें पाण्डवोंका पता पा लिया, पञ्चरात्र भी अभी विद्यमान है, व्यतीत नहीं हुआ है, इसलिये धर्मपूर्वक देनेको स्वीकार की गई गुरुदक्षिणा धर्मपूर्वक ही दे दी जाय॥ २४॥

दुर्योधन—अस्तु, मैंने पाण्डवोंको पूर्ववत् आधा राज्य दिया, यदि सत्य निरपाय रहता है तो लोग मरनेके बाद भी यशःशरीरसे जीवित रहते हैं॥ २५॥

द्रोण—

अहा, आज यह दोनों वंश पारस्परिक विरोधके शान्त हो जानेसे उन्नत

इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥ २६ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति तृतीयोऽङ्कः ।



(विग्रहप्रशमेन राज्यार्धविभागेन चोभयोः कुलयोः सङ्गमे सति) वयं सर्वे प्रसन्नाः स्मः मोदामहे, इमां कृत्स्नाम् अखण्डां महीं च नः अस्माकं राजसिंहो नाम नृपतिः प्रशास्तु पालयतु ॥ २६ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तःपाति'पकडी'ग्रामवासिना रांचीस्थराजकीयसंस्कृत-महाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्युपाधि-प्रसाधिना मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायां पञ्च-रात्रसमवकारस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां तृतीयाङ्कप्रकाशः ।



हो रहे हैं, हम सभी इससे प्रसन्न हैं, इस समूची पृथ्वीका भी हमारे राजसिंह पालन करें ॥ २६ ॥

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त



सम्पूर्ण पञ्चरात्रम्



(६)

ऊरुभङ्गम्

व्याख्याकार :—
आचार्य कपिलदेव गिरि

॥ श्रीः ॥

ऊरुभङ्गम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः—

भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गान्धारराजह्रदां
कर्णद्रौणिकृपोर्मिनक्रमकरां दुर्योधनस्रोतसम् ।

ऊरुभङ्गमिति । ऊर्वोर्भङ्गः यस्यां कथायान्तामधिकृत्य कृतं रूपकमूरुभङ्गम् ॥

नान्द्यन्ते तत इत्यादि । नान्दी = गीतावाद्यवादनादिरूपा क्रिया । अथवा नन्दयति हर्षयति देवादीनिति नान्दी स्तुतिरूपेत्यर्थः । तस्याः अन्ते = समाप्तौ ततः = तस्मात् स्थानात् , नेपथ्यादिति भावः । प्रविशति = रङ्गमञ्चं समागच्छति इत्यर्थः ॥

सूत्रधार इति । सूत्रम् = नाटकबीजं तद् धारयति उपस्थापयतीत्यर्थः । सूत्रधारः = नाटकीयपदार्थानुष्ठानसंविधानकादिकार्यनिर्वाहचतुरः प्रधाननट इत्यर्थः ॥

भीष्मेति । भीष्मद्रोणतटाम्—भीष्मश्च = शन्तनुपुत्रश्च द्रोणश्च = द्रोणाचार्यश्च भीष्मद्रोणौ तौ एव तटे = तीरे यस्याः = शत्रुनद्याः स्तः इति भावः, सा ताम् , जयद्रथजलाम्—जयद्रथः=सिन्धुदेशीयः नृपतिः जलम् यस्याः सा ताम् , गान्धारराज-

---

(नान्दी तथा मंगलदान के बाद सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—भीष्म और द्रोण जिसके दोनों तट हैं, जयद्रथ जिसमें जल है, गान्धारराज (शकुनि) जिसमें ह्रद (गढा) है, कर्ण, द्रौणि (अश्वत्थामा) और कृपाचार्य ये तीनों क्रमशः जिसमें तरंग, घड़ियाल तथा मगरमच्छ के

तीर्णः शत्रुनदीं शरासिसिकतां येन प्लवेनार्जुनः
शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि । अये ! किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे

ह्रदाम्, गान्धारराजः=शकुनिः 'दुर्योधनस्य मातुलः'एव ह्रदः=अगाधजलयुक्तसरोवरः यत्र ताम्, कर्णद्रौणिकृपोर्मिनक्रमकराम्—कर्णः = राधापुत्रः, सूतपुत्रो वा द्रौणिः = द्रोणपुत्रः अश्वत्थामा, कृपः = कृपाचार्यः एते एव अनुक्रमशः ऊर्मिः = जलवीचिः, नक्रः = कुम्भीरः, ग्राहस्य उपजातिः इत्यर्थः । मकरश्च = 'मगरमच्छ' इति लोकभाषायाम् यत्र तद्वतीम् कर्णद्रौणिकृपोर्मिनक्रमकराम्, दुर्योधनस्रोतसम्—दुर्योधन एव स्रोतः = नद्याः मुख्यप्रवाह इति भावः, यत्र ताम्, शरासिसिकतां—शराः = बाणाः असयश्च = खड्गाश्च शरासयस्ते एव सिकताः = बालुका यस्याः सा ताम्, शत्रुनदीम्—शत्रवः एव नदी इति शत्रुनदी ताम्, येन प्लवेन = उडुपेन, नौकया इत्यर्थः 'उडुपं तु प्लवः कोलः' इत्यमरः । अर्जुनः तीर्णः = पारं गतवान् स भगवान् केशवः = श्रीकृष्णः शत्रूणाम् तरणेषु = संतरणेषु वः = युष्माकम् प्लवः अस्तु = भवतु ॥ १ ॥

एवमिति । एवम् = इत्थम् आर्यमिश्रान्—आर्यान् = मान्यान् मिश्रान् = नानाविधशास्त्रभिज्ञान्, गौरवितानित्यर्थः ।' गौरवितास्त्वार्यमिश्रा' इति त्रिकाण्डकोषः, अथवा आर्येषु = कुलीनेषु मिश्राः = श्रेष्ठास्तान् सामाजिकानित्यर्थः । विज्ञापयामि = निवेदयामि अर्थात् अभिनयावलोकनोत्कण्ठया उपस्थितानां सभ्यसहृदयानाम् अभिधास्यमानरीत्या मनोऽनुरञ्जयामीत्याशयः । 'अये' इति विस्मयाभिनयबोधकमव्ययपदम् । किन्नु खलु = किं कारणमित्यर्थः । मयि = सूत्रधारे विज्ञापनव्यग्रे = विज्ञापनव्याकुले सति, अर्थात् दर्शकान् प्रति कथावस्तु निवेदयितुं चेतसि

समान हैं, दुर्योधन जिसमें महान् स्रोत (सोता) की तरह है, बाण और तलवार जिसमें बालू की भाँति हैं—ऐसी शत्रुरूपी नदी को जिस नौका के सहारे अर्जुन ने पार किया, वही भगवान् श्रीकृष्ण शत्रुओं को पार करने में (अर्थात् शत्रुओं पर विजय पाने में) आप लोगों के लिए नौका (प्लव) स्वरूप बनें ॥ १ ॥

आप सभ्य पुरुषों से मेरा यह निवेदन है । अरे ! क्या कारण है जब कि मैं

शब्द इव श्रूयते ? अङ्ग ! पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

एते स्मो भोः ! एते स्मः ।

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम् ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्विकः—भाव कुतो नु खल्वेते,

स्वर्गार्थमाहवमुखोद्यतगात्रहोमा
नाराचतोमरशतैर्विषमीकृताङ्गाः ।

कृतनिश्चये सतीत्यर्थः । शब्द इव = कुतोऽपि कोऽपि ध्वनिरिव श्रूयते = आकर्ण्यते । अङ्ग ! = भोः ! पश्यामि = जानामि, अर्थात् अयं शब्दः कीदृशः इति निश्चिनोमि इति भावः ।

पारिपार्श्विकः । परिपार्श्वं व्याप्य वर्त्तते इति पारिपार्श्विकः = सूत्रधारस्य सहायक इति भावः ।

स्वर्गेति । स्वर्गार्थम् = स्वर्गलाभाय, आहवमुखोद्यतगात्रहोमाः—आहवस्य = संग्रामस्य 'संग्रामाभ्यागमाहवाः' इत्यमरः । मुखे उद्यतः गात्राणाम् = शरीराणाम् होमः = आहुतिः येषां ते, नाराचतोमरशतैः—नाराचानाम्-तोमराणाम् शतैः, अगणितनाराचादिभिरित्यर्थः, विषमीकृताङ्गाः—विषमीकृतानि = नानाविधैः व्रणैः नतोन्नतानि अङ्गानि = शरीराव-

---

आप लोगों से कुछ कहने जा रहा हूँ, ठीक इसी समय यह कुछ शब्द-सा सुनाई पड़ रहा है ? अच्छा, देखता हूँ ।

[नेपथ्य में]

अरे ! हम हैं हम हैं ।

सूत्रधार—अच्छा, मैं समझ लिया ।

(प्रवेश कर)

पारिपार्श्विक—महाशय, ये (महापुरुष) ऐसा क्यों कर रहे हैं ?

स्वर्ग पाने के लिए युद्धरूपी आग में अपने शरीर की आहुति देनेवाले, नाराच, तोमर आदि सैकड़ों हथियारों से घायल शरीरवाले, एवं मदोन्मत्त

मत्तद्विपेन्द्रदशनोल्लिखितैः शरीरै-
रन्योन्यवीर्यनिकषाः पुरुषा भ्रमन्ति ॥ २ ॥

सूत्रधारः—मार्ष ! किं नावगच्छसि । तनयशतनयनशून्ये दुर्योधनावशेषे धृतराष्ट्रपक्षे, पाण्डवजनार्दनावशेषे युधिष्ठिरपक्षे, राज्ञां शरीरसमाकीर्णे समन्तपञ्चके,

---

यथा येषां ते, मत्तद्विपेन्द्रदशनोल्लिखितैः शरीरैः—मत्तानां = मदोन्मत्तानां द्विपेन्द्राणाम् = गजेन्द्राणाम् दशनैः = दन्तैः उल्लिखितैः = चिह्नितैः, विदारितैरिति भावः । शरीरैः 'परिलक्षिताः सन्तः' अन्योन्यवीर्यनिकषाः—अन्योन्यस्य = परस्परस्य वीर्यमेव = बलमेव निकषः = शाणः 'शाणस्तु निकषः' इत्यमरः । येषां ते, पुरुषाः = वीरपुरुषाः भ्रमन्ति = इतस्ततः परिभ्रमन्ति ॥ २ ॥

सूत्रेति । अवगच्छसि = जानासि । तनयशतनयनशून्ये—तनयानां = पुत्राणाम् शतम् तदेव नयने ताभ्यां शून्ये = रहिते इति भावः, अथवा तनयशतस्य नयनेन = द्यूतच्छलनादिकपटव्यवहारेण शून्ये । दुर्योधनावशेषे—दुर्योधनः एव अवशेषः = शेषरूपेण स्थितः यत्र तस्मिन्, एवंभूते धृतराष्ट्रपक्षे इति शेषः, पाण्डवजनार्दनावशेषे—पाण्डवाः = युधिष्ठिरादिपञ्चभ्रातरः जनार्दनः = श्रीकृष्णः इमे एव अवशेषाः यत्र तस्मिन् एवंभूते युधिष्ठिरपक्षे, समन्तपञ्चके = कुरुक्षेत्रे राज्ञां = नृपाणम् शरीरसमाकीर्णे—शरीरैः = शवभूतैः शरीरैः समाकीर्णे = समन्तात् आकीर्णे सति ।

हाथियों के दाँतों से क्षत-विक्षत शरीरवाले, आपस में एक दूसरे के बल एवं पौरुष की परख करने में उद्यत (ये वीर) पुरुष क्यों इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं ? ॥ २ ॥

सूत्रधार—मारिष ! क्या तुम नहीं जानते हो कि धृतराष्ट्र के पक्ष में उसके सौ पुत्रों के (जो उसके लिए सैकड़ों नेता एवं आखों के तारे स्वरूप थे ऐसे) कालकवलित हो जाने पर तथा एकमात्र दुर्योधन के ही जीवित बच जाने पर और युधिष्ठिर के पक्ष में पाण्डव और श्रीकृष्ण के अवशेष रहजाने पर तथा कुरुक्षेत्र (समन्तपंचक) का मैदान राजाओं के (मृत) देह से भर जाने पर,

एतद्रणं हतगजाश्वनरेन्द्रयोधं
संकीर्णलेख्यमिव चित्रपटं प्रविद्धम् ।
युद्धे वृकोदरसुयोधनयोः प्रवृत्ते
योधा नरेन्द्रनिधनैकगृहं प्रविष्टाः ॥ ३ ॥

(निष्क्रान्तौ)

स्थापना



(ततः प्रविशन्ति भटास्त्रयः ।)

एतदिति । वृकोदरसुयोधनयोः—वृकस्य 'भेड़िया' इत्याख्यहिन्दीभाषाप्रसिद्धस्य जन्तुविशेषस्य उदरमिव उदरं यस्य, अथवा वृकः = वृकनामा अग्निः उदरे यस्य तस्मात् भीमस्य 'वृकोदर' इति संज्ञा । वृकोदरश्च = भीमश्च सुयोधनश्च = दुर्योधनश्च तयोः युद्धे = गदायुद्धे प्रवृत्ते = प्रारब्धे सति योधाः = भटाः हतगजाश्वनरेन्द्रयोधम्—रणे = युद्धक्षेत्रे हताः गजाश्वनरेन्द्रयोधाः यत्र तत्, नरेन्द्रनिधनैकगृहम्—नरेन्द्राणाम् = नृपतीनाम् निधनस्य = मरणस्य एकम् = एकमात्रम् गृहम् = निलयः प्रविद्धम् = प्रकर्षेण विद्धम् = वेधितम् संकीर्णलेख्यम्—संकीर्णानि = मिथः साङ्कर्यभावेन मिलितानि लेख्यानि = आलेख्यानि रेखाङ्कितचित्राणि वा यस्मिन् एवंभूतम् चित्रपटम् = चित्रफलकमिव एतद्रणम् = इदं युद्धस्थलम् । प्रविष्टाः = प्रवेशं कृतवन्तः इति भावः ॥ ३ ॥

दुर्योधन और भीम के (गदा) युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर योद्धा लोग इस युद्धभूमि में प्रवेश कर रहे हैं यह समरभूमि मानो राजाओं के संहार का एकमात्र घर है और यहाँ हाथी, घोड़े तथा राजा और सैनिकसमूह आहत होकर पड़े हुए हैं ऐसी हालत में यह उस चित्रपट की भांति भासित हो रहा है जहाँ असंख्य छिद्र हो गए हों और जिसके सब रंग या चित्र आपस में घुलमिल गए हों ॥ ३ ॥

(दोनों चले जाते हैं ।)

स्थापना

(इसके बाद तीन सैनिक प्रवेश करते हैं ।)

सर्वे—एते स्मो भोः ! एते स्मः ।

प्रथमः—

वैरस्यायतनं बलस्य निकषं मानप्रतिष्ठागृहं
युद्धेष्वप्सरसां स्वयंवरसभां शौर्यप्रतिष्ठां नृणाम् ।
राज्ञां पश्चिमकालवीरशयनं प्राणाग्निहोमक्रतुं
संप्राप्ता रणसंज्ञमाश्रमपदं राज्ञां नभःसंक्रमम् ॥ ४ ॥

द्वितीयः—सम्यग्भवानाह ।

स्थापना = प्रस्तावना । आरभ्यमाणस्य कथावस्तुनः स्थापनात् 'स्थापना' इति व्यवह्रियते महाकविना भासेन । परन्तु अन्यनाटके अत्र स्थले 'आमुखं,' 'प्रस्तावना' इत्यादिपदेन अभिधीयते नाट्याचार्यैः ।

वैरस्येति । वैरस्यायतनम्—वैरस्य आयतनम् = आवासः, बलस्य = वीरतायाः निकषम् = शाणम् 'कसौटी' इति भाषायाम्, मानप्रतिष्ठागृहम्—मानश्च प्रतिष्ठा च इति मानप्रतिष्ठे तयोः गृहम्, युद्धेषु=युद्धभूमिषु अप्सरसाम्=देवाङ्गनानाम् स्वयंवरसभाम्, नृणाम्=मानवानाम् शौर्यप्रतिष्ठाम्, राज्ञाम् पश्चिमकालवीरशयनम्—पश्चिमकाले = प्राणान्तसमये वीरशयनम् = वीरशय्याम् प्राणाग्निहोमक्रतुम्—प्राणानाम् 'अग्निहोम' नामकं क्रतुम् = यज्ञम्, राज्ञाम्, नभःसंक्रमम्—संक्रमति येन स संक्रमः तम्, अर्थात् नभःस्थसूर्यलोकोपलब्धिसाधनमित्याशयः, रणसंज्ञम् = 'संग्राम' नामकम् आश्रमपदम् = आश्रमस्थानम् सम्प्राप्ताः वयमिति शेषः ॥ ४ ॥

सब—अरे; भाइयो ! हम वहाँ हैं, यह यहाँ हैं ।

पहला—यह रणांगण वैर का स्थान है, बल की कसौटी, मान और प्रतिष्ठा का घर, युद्ध में देवाङ्गनाओं का स्वयंवरमंडप, पुरुषों की वीरता की प्रतिष्ठा, राजाओं के अंतकाल में (मरण समय में) सोने योग्य वीरशय्या, प्राणों की आहुति देने के लिए 'अग्निहोत्र' नामक यज्ञ तथा (मृत) राजाओं के स्वर्गलोक (अर्थात् सूर्यलोक) जाने के लिए मानो सेतु है—ऐसे 'रण' नामक आश्रम में हम सब आये हुए हैं ॥ ४ ॥

दूसरा—यह आपने उचित कहा ।

उपलविषमा नागेन्द्राणां शरीरधराधरा
दिशि दिशि कृता गृध्रावासा हतातिरथा रथाः ।
अवनिपतयः स्वर्गं प्राप्ताः क्रियामरणे रणे
प्रतिमुखमिमे तत्तत्कृत्वा चिरं निहताहताः ॥ ५ ॥

तृतीयः—एवमेतत् ।

करिवरकरयूपो बाणविन्यस्तदर्भो

उपलेति । क्रियामरणे—क्रियया = शुद्धक्रियया मरणं यस्मिन् तस्मिन् क्रियामरणे, अथवा क्रिया = परस्परशस्त्राघातरूपक्रिया च मरणं च यस्मिन् तस्मिन् एवंभूते रणे = संग्रामे नागेन्द्राणाम् = गजेन्द्राणाम् शरीरधराधराः = शरीराणि एव धराधराः = धरायाः = पृथिव्याः धराः = पर्वता इत्यर्थः, उपलविषमाः—उपलैः = पाषाणैः विषमाः = नतोन्नताः दिशि दिशि गृध्रावासाः = गृध्राणाम् आवासाः = निवासस्थानानि कृताः, रथाः हतातिरथाः—हताः = मृत्युं प्राप्ता अति॰रथाः = विशिष्टयोद्धारः येषां ते एवंभूता रथाः अवनिपतयः = पृथिवीपतयः स्वर्गं प्राप्ताः इमे प्रतिमुखम् = सम्मुखम् तत् तत् = शस्त्रास्त्रयुद्धं चिरम् = बहुकाल-पर्यन्तम् कृत्वा निहताहताः—निहताश्च ते आहताश्च इति निहताहताः, अर्थात् ये खलु निहताः सन्तः ते एव आहता इति भावः ॥ ५ ॥

करिवरेति । करिवरकरयूपः—करिवराणाम् = श्रेष्ठगजानाम् कराः शुण्डा-दण्डा एव यूपाः = यज्ञस्तम्भः यत्र स करिवरयूपः, बाणविन्यस्तदर्भः—बाणा एव

(इस युद्धभूमि में) मदोन्मत्त हाथियों की (मृत) देह ऊबड़-खाबड़ पत्थर-वाले पर्वतों की भाँति लग रहे हैं, हर एक दिशा में गिद्धों ने अपना आवास (घर) बना लिया है, रथ (आज) खाली पड़े हुए हैं, क्योंकि महारथी योद्धा (युद्ध में) मार डाले गये हैं । राजा लोग स्वर्ग लोक में चले गये और ये वीर योद्धा एक दूसरे के साथ चिरकाल तक शस्त्रों का वार करते हुए (स्वयं) चोट खाकर काल के गाल में चले गये ॥ ५ ॥

तीसरा—यह ऐसा ही है ।

युद्धरूपी यज्ञ, समाप्त हो गया—जिसमें बड़े-बड़े हाथियों के सूड़ यज्ञस्तम्भ हैं, जहाँ पर इधर-उधर बिखरे पड़े हुए बाण कुश हैं, मृत हाथियों की झुण्ड

हतगजचयनोच्चो वैरवह्निप्रदीप्तः ।
ध्वजविततवितानः सिंहनादोच्चमन्त्रः
पतितपशुमनुष्यः संस्थितो युद्धयज्ञः ॥ ६ ॥

प्रथमः—इदमपरं पश्येतां भवन्तौ ।
एते परस्परशरैर्हतजीवितानां
देहे रणाजिरमहीं समुपाश्रितानाम् ।
कुर्वन्ति चात्र पिशिताद्रमुखा विहङ्गा
राज्ञां शरीरशिथिलानि विभूषणानि ॥ ७ ॥

विन्यस्ताः = स्थापिता दर्भाः = कुशा यत्र सः, हतगजचयनोच्चः—हताः = मृताः गजाः = हस्तिनः एव चयनानि = कुसुमराशयः तैः उच्चः = उन्नतः वैरवह्निप्रदीप्तः—वैरवह्निना प्रदीप्तः = प्रज्वलितः इत्यर्थः, ध्वजविततवितानः—ध्वजा एव वितताः = विस्तृता वितानाः 'चंदोवा' इति लोकभाषायाम् यत्र सः, सिंहनादोच्चमन्त्रः—सिंहनादः = सैनिकानाम् उच्चरवः एव उच्चमन्त्रः = उच्चस्वरेण पठितो मन्त्रो यत्र सः, पतितपशुमनुष्यः पतिताः = भूमौ पतिताः मनुष्या एव पशवः = बलिकर्मणि पशुरूपेण स्थिताः यत्र स एवंभूतः युद्धयज्ञः = संग्रामरूपी यज्ञः संस्थितः = परिसमाप्तः इति भावः ॥ ६ ॥

एते इति । अत्र = अस्मिन् युद्धस्थले एते पिशिताद्रमुखाः—पिशितेन = मांसेन आर्द्रं = तरलं मुखम् = मुखमण्डलम् येषां ते पिशिताद्रमुखाः, अर्थात् मांसभक्षणेन तरलचञ्चवः इति भावः । विहङ्गाः = पक्षिणः परस्परशरैः—परस्परस्य शरैः = बाणैः हतजीवितानाम्—हतानि जीवितानि येषां ते हतजीविताः तेषां

ही मानों फूलों की ऊँची-ऊँची ढेर है, जहाँ (कौरव और पाण्डवों की) वैररूपी आग जल रही है, (सेना की) पताकाएँ, जिसमें फैले हुए वितान (चंदोबा) है, जहाँ पर योद्धाओं की जोर-जोर की आवाज (शब्द) ही मन्त्र हैं और मृत मनुष्य ही जहाँ पर बलिस्वरूप हैं। (ऐसा युद्धरूपी यज्ञ समाप्त हो गया) ॥ ६ ॥

पहला—आप दोनों यह और देखें—

यह पक्षिसमूह, जिनकी चोंच मांस से भींगी हुई है राजाओं के शरीर से अलंकारों को खींच रहा है; जो एक दूसरे के बाणों के प्रहार से मृत्यु के घाट उतार दिए गये हैं और जिनकी लाशें इस रणक्षेत्र के प्रांगण में पड़ी हुई हैं ॥ ७ ॥

द्वितीयः—

प्रसक्तनाराचनिपातपातितः समग्रयुद्धोद्यतकल्पितो गजः ।
विशीर्णवर्मा सशरः सकार्मुको नृपायुधागारमिवावसीदति ॥८॥

तृतीयः—इदमपरं पश्येतां भवन्तौ ।

माल्यैर्ध्वजाग्रपतितैः कृतमुण्डमालं
लग्नैकसायकवरं रथिनं विपन्नम् ।

हृतजीवितानाम् = मृतानाम् देहैः रणाजिरमहीम् = युद्धक्षेत्रप्राङ्गणभूमिमित्यर्थः, समुपाश्रितानाम् = आगतानाम् राज्ञाम् विभूषणानि = आभूषणानि शरीरशिथिलानि—शरीरेभ्यः शिथिलानि कुर्वन्ति, अर्थात् पक्षिणः स्वकीयचञ्चुभिः राज्ञां मृतशरीरेभ्यः आभूषणानि कर्षन्ति इत्याशयः ॥ ७ ॥

प्रसक्तेति । प्रसक्तनाराचनिपातपातितः—प्रसक्तानाम् = प्रक्षिप्तानाम् नाराचानां = बाणानां निपातैः, अर्थात् सततबाणवृष्टिभिरित्यर्थः । पातितः = भूमौ पातितः, समग्रयुद्धोद्यतकल्पितः = समग्राय = विभिन्नप्रकाराय युद्धाय उद्यतश्चासौ कल्पितश्च = सज्जीभूतः विशीर्णवर्मा—विशीर्णम् = विच्छिन्नम्, विनष्टम् वा वर्म= कवचः यस्य सः सशरः—शरैः सह वर्तते सशरः = बाणयुक्त इत्यर्थः, सकार्मुकः—कार्मुकेण = धनुषा सहितः इत्यर्थः । गजः = हस्ती नृपायुधागारमिव = नृपाणामायुधागारम् = शस्त्रागारम् इव अवसीदति = विषीदति, दुःखानुभवं करोतीत्याशयः । अर्थात् यथा अनुवेलं युद्धेन शस्त्रगृहं क्षयं लभते तथैवायं गजोऽपि ॥ ८ ॥

माल्यैरिति । हृष्टाः = प्रसन्नवदनाः, हर्षिताः । शिवाः = शृगाल्यः ध्वजाग्रपतितैः = ध्वजानाम् अग्रतः पतितैः = स्खलितैः माल्यैः = पुष्पमालाभिः 'माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि' इत्यमरः । कृतमुण्डमालम्—कृता = रचिता, धारिता वा मुण्डमाला येन तम्, लग्नैकसायकवरम्—सायकेषु = खड्गेषु 'शरे खड्गे च सायकः'

दूसरा—युद्ध के लिए सब भाँति सुसज्जित एवं तत्पर यह हाथी, जिसके ऊपर बाणों की निरन्तर वर्षा की गई है, जिसका कवच टूट गया है, जिस पर बाण लगे हैं तथा धनुष पड़े हैं, राजाओं के शस्त्रागार की भाँति विनाश दशा को प्राप्त हो रहा है ॥ ८ ॥

तीसरा—आप लोग यह और भी देखें—

आनंदित शृगालियाँ—ध्वजा के अग्रभाग से गिरी हुई मालाओं से अपने शिर

जामातरं प्रवहणादिव बन्धुनार्यो
हृष्टाः शिवा रथमुखादवतारयन्ति ॥ ९ ॥

सर्वे—अहो नु खलु निहतपतितगजतुरगनररुधिरकलिलभूमिप्रदेशस्य विक्षिप्तवर्मचर्मातपत्रचामरतोमरशरकुन्तकवचकबन्धादिपर्याकुलस्य शक्तिप्रासपरशुभिण्डिपालशूलमुसलमुद्गरवराहकर्णकणपकर्पणशङ्कुत्रासिगदादिभिरायुधैरवकीर्णस्य समन्तपञ्चकस्य प्रतिभयता ।

इत्यमरः । वरः = श्रेष्ठः इति सायकवरः एकश्चासौ सायकवरश्च इति एकसायकवरः, लग्नः = विद्धः सायकवरः यस्मिन् सः तम् विपन्नम् = खिन्नं, मृतं वा रथिनम् बन्धुनार्यः = कुटुम्बस्त्रियः प्रवहणात् = कर्णीरथात्, शिबिकातः जामातरम् इव रथमुखात् = रथमध्यात् अवतारयन्ति = अधः कर्षन्ति इति भावः, यथा कुलस्त्रियः स्नेहेन जामातरम् स्वागतार्थं शिबिकातः अवतारयन्ति तथैव इति भावः ॥ ९ ॥

सर्वे इति । अहो इति आश्चर्ये । निहतपतितगजतुरगनररुधिरकलिलभूमिप्रदेशस्य—निहताः = शस्त्रप्रहारैः आहताः (मृताः) अतएव पतिताः = भूमौ पतिताः ये गजाः = हस्तिनः, तुरगाः = अश्वाः, नराः = मनुष्याश्च तेषां रुधिरेण कलिलः = गहनः 'कलिलं गहनं समम्' इत्यमरः । अर्थात् पङ्किलः भूमिप्रदेशः यत्र तस्य, विक्षिप्तवर्मचर्मातपत्रचामरतोमरशरकुन्तकवचकबन्धादिपर्याकुलस्य—विक्षिप्ताः=इतस्ततः,विकीरिताः ये वर्मचर्मातपत्रचामरतोमरशरकुन्तकवचकबन्धादयः तैः पर्याकुलस्य=परिपूरितस्य इत्यर्थः, शक्त्यादिगदापर्यन्तैः आयुधैः=शस्त्रैः अवकीर्णस्य= व्याप्तस्य एवंभूतस्य समन्तपञ्चकस्य = कुरुक्षेत्रस्य प्रतिभयता = भयङ्करता ॥

को अलंकृत करने वाले तथा तीखे बाणों से विद्ध शरीरवाले रथी को रथ से नीचे वैसे ही खींच रही हैं जैसे कुटुम्बियों की स्त्रियाँ अपने जामाता को पालकी से नीचे उतारती हैं ॥ ९ ॥

सबके सब—अरे ! यह कुरुक्षेत्र का मैदान कैसा भयानक दीख रहा है ! यहाँ की भूमि मृत हाथी, घोड़े और मनुष्यों के रुधिर से भरी पड़ी है, एवं कवच, ढाल, छत्र, चामर, भाला, बाण, कुन्त और मनुष्यों के धड़ से भर गई है और जिसके ऊपर शक्ति, प्रास, परशु, भिण्डिपाल, शूल, मुसल, मुद्गर, वराहकर्ण, कणप, कर्पण, शंकु और भयंकर गदा आदि बिखरे हुए हैं ।

प्रथमः—इह हि,

रुधिरसरितो निस्तीर्यन्ते हतद्विपसंक्रमा
नृपतिरहितैः स्रस्तैः सूतैर्वहन्ति रथान् हयाः ।
पतितशिरसः पूर्वाभ्यासाद् द्रवन्ति कबन्धकाः
पुरुषरहिता मत्ता नागा भ्रमन्ति यतस्ततः ॥ १० ॥

द्वितीयः—इदमपरं पश्येतां भवन्तौ । एते,

गृध्रा मधूकमुकुलोन्नतपिङ्गलाक्षा
दैत्येन्द्रकुञ्जरनताङ्कुशतीक्ष्णतुण्डाः ।

रुधिरेति । हतद्विपसंक्रमाः—हताः = मृताः द्विपाः = हस्तिनः एव संक्रमाः = सेतवः यत्र (एवंभूताः) रुधिरसरितः = रक्तनद्यः निस्तीर्यन्ते = उत्तीर्यन्ते (वीरपुरुषैरिति शेषः), नृपतिरहितैः = नृपतिभिः = भूपतिभिः रहितैः (तथा) स्रस्तैः = रथात् अधः पातितैः सूतैः = रथसंचालकैः उपलक्षितान् रथान्=स्यन्दनान् हयाः = अश्वाः वहन्ति = इतस्ततः कर्षन्ति, पतितशिरसः—पतितानि = शस्त्रैः छिन्नानि शिरांसि येषां ते कबन्धकाः पूर्वाभ्यासाद् द्रवन्ति = धावन्ति । पुरुष-रहिताः = पुरुषैः हस्तिपकैः 'महावत' इति लोकभाषायाम् । सैनिकैश्च रहिताः, मत्ताः=मदविह्वलाः नागाः=हस्तिनः यतस्ततः=इतस्ततः भ्रमन्ति=विचरन्ति ॥ १० ॥

गृध्रेति । मधूकमुकुलोन्नतपिङ्गलाक्षाः – मधूकस्य = मधुद्रुमस्य 'महुआ' इति लोकभाषायां, मुकुलवत्=कुड्मलवत् 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । उन्नतानि तथा पिङ्गलानि = पीतवर्णानि अक्षीणि = लोचनानि येषां ते, दैत्येन्द्रकुञ्जरनताङ्-

---

पहला—यहीं पर तो,

मृत हाथियों के (शरीररूपी) पुल के द्वारा खून की नदियाँ पार की जा रही हैं, सारथी और राजा से रहित रथ को घोड़े खींच रहे हैं, शिर के बिना कबन्ध (धड़) अपनी पुरानी आदत होने के नाते दौड़ रहे हैं, महावतों के बिना मदमाते हाथी भी इधर-उधर भटक रहे हैं ॥ १० ॥

दूसरा—आप लोग यह और भी देखें—

ये महुए की कलियों की तरह बड़ी और पीली आँखवाले, दैत्यराज बलि के हाथी के मुड़े हुए अंकुशकी भाँति तीखे चोंचवाले, फैले हुए लंबे और

भान्त्यम्बरे विततलम्बविकीर्णपक्षा
मांसैः प्रवालरचिता इव तालवृन्ताः ॥ ११ ॥

तृतीयः—

एषा निरस्तहयनागनरेन्द्रयोधा
व्यक्तीकृता दिनकरोग्रकरैः समन्तात् ।
नाराचकुन्तशरतोमरखड्गकीर्णा
तारागणं पतितमुद्वहतीव भूमिः ॥ १२ ॥

तीक्ष्णतुण्डाः—दैत्येन्द्रः = बलिस्तस्य यः कुञ्जरः = हस्ती तस्य यो नतः अङ्कुशः तद्वत् तीक्ष्णानि तुण्डानि = मुखानि 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः, येषां ते, विततलम्बविकीर्णपक्षाः—वितताः = विस्तृता लम्बाः विकीर्णाः पक्षाः येषां ते, गृध्राः = गृद्धाः मांसैः = मांसखण्डैः अम्बरे = गगने प्रवालरचिताः —प्रवालैः = प्रवालमणिभिः रचिताः = निष्पादिताः तालवृन्ता इव = तालपत्र-निर्मितव्यजनानि इव 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः, भान्ति = प्रतीयन्ते, शोभन्ते इति भावः ॥ ११ ॥

एषा इति । निरस्तहयनागनरेन्द्रयोधा—निरस्याः = मृताः हयाः = अश्वाः नागाः = हस्तिनः नरेन्द्राः = अवनीपतयः योधाः = भटाः यस्यां सा, दिनकरोग्रकरैः—दिनकरस्य = सूर्यस्य उग्रकरैः = प्रचण्डकिरणैः समन्तात् व्यक्तीकृता = स्पष्टं प्रतिभासिता, नाराचकुन्तशरतोमरखड्गकीर्णा—नाराचाश्च कुन्ताश्च शराश्च तोमराश्च खड्गाश्च इति नाराचकुन्तशरतोमरखड्गाः तैः कीर्णा = व्याप्ता भूमिः = रणभूमिः पतितम् तारागणम् उद्वहति इव = धारयतीव ॥ १२ ॥

डोलते हुए पंख वाले गिद्ध, आकाश में मांस के टुकड़े लेकर उड़ते हुए ऐसे लग रहे हैं जैसे प्रवाल (लालमूँगा) के बने (जड़ित) ताड़ के पंखे हों ॥ ११ ॥

तीसरा—मृत अश्व, गज, नृपति और वीर योद्धाओं से भरी हुई, एवं सूर्य की प्रखर किरणों (रोशनी) से स्पष्ट दिखाई पड़नेवाली यह (युद्ध) भूमि, जहाँ पर नाराच, कुन्त, शर, तोमर और खड्ग बिखरे पड़े हैं; ऐसी प्रतीत हो रही है मानो (आकाश से गिरे हुए) ताराओं के समूह को धारण कर रही हो ॥१२॥

प्रथमः—अहो ईदृश्यामप्यवस्थायामविमुक्तशोभा विराजन्ते क्षत्रियाः । इह हि,

स्रस्तोद्वर्तितनेत्रषट्पदगणा ताम्रोष्ठपत्रोत्करा
भ्रूभेदाञ्चितकेसरा स्वमुकुटव्याविद्धसंवर्तिका ।
वीर्यादित्यविबोधिता रणमुखे नाराचनालोन्नता
निष्कम्पा स्थलपद्मिनीव रचिता राज्ञामभीतैर्मुखैः ॥१३॥

प्रथम इति । अहो इति विस्मयसूचकमव्ययम् । ईदृश्यामपि = मरणासन्नदशायामपि, अविमुक्तशोभाः- विमुक्ता चासौ शोभा, विमुक्तशोभा न विमुक्ता शोभा येषां ते अविमुक्तशोभाः = अपरित्यक्तशरीरकान्तयः क्षत्रियाः विराजन्ते = शोभन्ते इत्यर्थः ॥

स्रस्तेति । राज्ञाम् अभीतैः=भयरहितैः मुखैः एषा=युद्धभूमिः स्रस्तोद्वर्तितनेत्रषट्पदगणा—स्रस्तानि च = स्वस्थानात् स्खलितानि, शिथिलानि च तानि अतएव उद्वर्तितानि=विपरीतं यथा स्यात्तथा स्थितानि नेत्राणि=नयनानि एव षट्पदानाम्= मधुकराणाम् गणा यत्र सा, ताम्रोष्ठपत्रोत्करा—ताम्राः = रक्तवर्णा ओष्ठाः = अधरोष्ठाः एव पत्रोत्कराः = पत्रराशयः (पत्राणि) यत्र सा, भ्रूभेदाञ्चितकेसरा—भ्रूभेद एव अञ्चिताः=संकुचिताः, कुटिला वा, केसराः = परागाः यस्यां सा, स्वमुकुटव्याविद्धसंवर्तिका—स्वमुकुटानि = राज्ञां मुकुटानि एव व्याविद्धाः = अर्धविकसिताः संवर्तिकाः = नूतनदलानि यस्यां सा, वीर्यादित्यविबोधिता—वीर्यमेव = पराक्रमः

पहला—अरे ! ऐसी अवस्था में (मरणावस्था में) भी क्षत्रियों के शरीर की कांति ज्यों की त्यों बनी हुई है ! क्योंकि यहाँ :—

यह युद्धभूमि, राजाओं के निर्भीक मुखों से पृथ्वी पर खिली हुई निष्कम्प कमलिनी की भाँति प्रतीत हो रही है, जिसमें ढीली (स्रस्त) तथा उलटी (उद्वर्तित) हुई आँखें, मधुमक्खियों की टोली जैसी लग रही हैं, लाल-लाल होठ कमल के पत्तों की तरह लग रहे हैं, नानाविध (टेढ़ी) भौंहें सुन्दर केसर (पराग) का स्थान ले रही हैं, राजाओं के शिर का मुकुट ही अधखिले नवीन कोपल के समान प्रतीत हो रहे हैं और यह (भूमि) वीर्यरूपी सूर्य के द्वारा विकसित हो रही है और बाणरूपी कमलनाल के सहारे जो ऊपर की ओर उठी हुई है ॥ १३ ॥

द्वितीयः—ईदृशानामपि क्षत्रियाणां मृत्युः प्रभवतीति न शक्यं खलु विषमस्थैः पुरुषैरात्मबलाधानं कर्तुम् ।

तृतीयः—मृत्युरेव प्रभवति क्षत्रियाणामिति ।

प्रथमः—कः संशयः ।

द्वितीयः—मा मा भवानेवम् ।

स्पृष्ट्वा खाण्डवधूमरञ्जितगुणं संशप्तकोत्सादनं
स्वर्गाक्रन्दहरं निवातकवचप्राणोपहारं धनुः ।

एव आदित्यः इति वीर्यादित्यः तेन वीर्यादित्येन = पराक्रमरूपिणा सूर्येण विबोधिता = प्रफुल्लिता, विकासिता इत्यर्थः । रणमुखे नाराचनालोन्नता—नाराचाः शरा एव नालानि = कमलनालानि तैः उन्नता, निष्कम्पा = निश्चला स्थलपद्मिनीव = स्थलकमलिनी इव रचिता = संपादिता ॥ १२ ॥

द्वितीय इति । विषमस्थैः=आपद्ग्रस्तैः पुरुषैः आत्मबलाधानम्—आत्मबलस्य = राजकीयशक्तेः आधानम् = नियोजनम् कर्तुम् न शक्यम् खलु = निश्चयेन ॥

स्पृष्ट्वा इति । पार्थेन = अर्जुनेन खाण्डवधूमरञ्जितगुणम्—खाण्डवस्य = खाण्डववनस्य दाहसमये उत्थितेन धूमेन रञ्जितः = कज्जलीभूतः गुणः = प्रत्यञ्चा यस्य तत् , संशप्तकोत्सादनम्—संशप्तकानाम् उत्सादनम् = मूलोच्छेदनम्, संहारकम् वा, स्वर्गाक्रन्दहरम्—स्वर्गस्या=स्वर्गस्थदेवस्य यः आक्रन्दः=आक्रोशः, उच्चस्वरेण रोदनम् तस्य हरम् = हर्त्तारम् निवातकवचप्राणोपहारम्—निवातक-

---

दूसरा—ऐसे वीरक्षत्रियों को भी (मृत्यु) मौत के घाट उतार देती है ! निःसंदेह, आपत्ति में पड़े हुए पुरुष अपने बल का प्रदर्शन करने में असमर्थ हैं ।

तीसरा—क्या मृत्यु क्षत्रियों के ऊपर अपना असर दिखाती है ?

पहला—इसमें क्या शक ?

दूसरा—नहीं, नहीं, आप ऐसा न कहें ।

अर्जुन एकमात्र (ऐसा वीर) है जो आज खाण्डववन के धूएँ से मटमैली डोरीवाले, (त्रिगर्त देश के) संशप्तकों का विनाश करने वाले, स्वर्ग के देवताओं की व्यथा को शांत करने वाले, निवातकवच नामक राक्षसों के प्राणों को हरने वाले (गाण्डीव) धनुष को स्पर्श कर (हाथ में लेकर) अस्त्र-

पार्थेनास्त्रबलान्महेश्वररणक्षेपावशिष्टैः शरै-
र्दर्पोत्सिक्तवशा नृपा रणमुखे मृत्योः प्रतिग्राहिताः ॥

सर्वे—अये शब्दः ।

किं मेघा निनदन्ति वज्रपतनैश्चूर्णीकृताः पर्वता
निर्घातैस्तुमुलस्वनप्रतिभयैः किं दार्यते वा मही ।
किं मुञ्चत्यनिलावधूतचपलक्षुब्धोर्मिमालाकुलं
शब्दं मन्दरकन्दरोदरदरीः संहृत्य वा सागरः ॥ १५ ॥

वचानाम् = कुबेरस्य राजकोषस्य रक्षकाणाम् यक्षविशेषाणामित्यर्थः, प्राणाः एव उपहारः यस्य तत्, एवंभूतं धनुः = गाण्डीवधनुः स्पृष्ट्वा महेश्वररणक्षेपावशिष्टैः—महेश्वरेण = किरातवेषधारिणा भगवता शंकरेण सह रणे = युद्धे क्षेपात् अवशिष्टैः शरैः = बाणैः दर्पोत्सिक्तवशाः—दर्पस्य = अभिमानस्य उत्सिक्तम् = अतिरेकः तस्य वशाः = वशीभूताः नृपाः = राजानः रणमुखे = रणमध्ये मृत्योः प्रतिग्राहिताः = यमपुरं प्रेषिता इत्याशयः ॥ १४ ॥

किमिति । किं मेघाः निनदन्ति = गर्जन्ति, वज्रपतनैः = वज्रस्य पतनैः = पातैः चूर्णीकृताः पर्वताः, किं वा = अथवा तुमुलस्वनप्रतिभयैः—तुमुलम् = घोरयुद्धम् 'तुमुलं रणसंकुले' इत्यमरः । तुमुलस्वनेन = प्रचण्डशब्देन प्रतिभयैः = भयोत्पादकैः निर्घातैः मही = पृथ्वी दार्यते = विदार्यते, किं वा सागरः क्षीरसमुद्रः मन्दरकन्दरोदरदरीः—मन्दरस्य = मन्दरपर्वतस्य याः कन्दराः तासाम् उदरस्य = मध्यप्रदेशस्य दरीः=कन्दराः, 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । संहृत्य=उद्भिद्य

बल के द्वारा किरात-वेशधारी भगवान शंकर के साथ हुए युद्ध से अवशिष्ट बाणों के द्वारा गर्व एवं मद से भरे हुए राजाओं को इस लड़ाई में मृत्यु के हाथ सौंप दिया ॥ १४ ॥

सब—अरे ! यह शब्द कैसा है !

क्या बादलों की गर्जना है या वज्र के गिरने से पर्वत चूर-चूर हो रहे हैं ? या प्रचंड आवाज के कारण भय उत्पन्न करने वाले बवंडर से पृथ्वी फट रही है; अथवा मंदर पर्वत की गुफा के अंदर की कंदराओं को भेदन करके पवन के द्वारा कंपित अतएव चंचल एवं क्षुभित लहरों से आकुल सागर शब्द कर रहा है ? ॥ १५ ॥

भवतु, पश्यामस्तावत्। (सर्वे परिक्रामन्ति।)

प्रथमः—अये एतत्खलु द्रौपदीकेशधर्षणावमर्षितस्य पाण्डवमध्यमस्य भीमसेनस्य भ्रातृशतवधक्रुद्धस्य महाराजदुर्योधनस्य च द्वैपायनहलायुधकृष्णविदुरप्रमुखानां कुरुयदुकुलदैवतानां प्रत्यक्षं प्रवृत्तं गदायुद्धम्।

द्वितीयः—

भीमस्योरसि चारुकाञ्चनशिलापीने प्रतिस्फालिते

अनिलावधूतचपलक्षुब्धोर्मिमालाकुलम्—अनिलेन = वायुना अवधूताः = प्रकम्पिता अतएव चपलाः = चञ्चला या ऊर्मयः = जलतरङ्गास्तासाम् मालाभिः अविच्छिन्नश्रेणिभिः आकुलम् = क्षुब्धम् यथा स्यात्तथा शब्दं मुञ्चति = घोरगर्जनां करोतीति भावः ॥ १५ ॥

प्रथमः—द्रौपदीकेशधर्षणावमर्षितस्य—द्रौपद्याः केशानां धर्षणेन = बलात् = आकर्षणेन अवमर्षितस्य = कुपितस्य (भीमस्येति शेषः) भ्रातृशतवधक्रुद्धस्य = भ्रातृशतस्य वधेन क्रुद्धस्य (दुर्योधनस्येति शेषः) द्वैपायनः = द्वीपमेव अयनम् = जन्मस्थानम् यस्य सः द्वीपायनः एव द्वैपायनः = व्यासः उक्तं च यथा महाभारते (आदिपर्वे) 'न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः।' हलायुधः = बलरामः, कुरुयदुकुलदैवतानाम् = कुरुयदुवंशयोः दैवतानाम् = पूज्यानामिति भावः। प्रत्यक्षम् = संमुखमेव प्रवृत्तम् = प्रारब्धम् इत्यर्थः।

भीमस्येति। चारुकाञ्चनशिलापीने = चारुकाञ्चनशिला = रम्यसुवर्णशिला इव पीने = स्थूले भीमस्य उरसि = वक्षःस्थले प्रतिस्फालिते = प्रताडिते, वासव-

---

अच्छा, तब तक देखें तो।

(सब परिक्रमा करते हैं।)

पहला—अरे! यह तो द्रौपदी के बालों को खींचने के कारण क्रोधी पाण्डवों का मध्यम भाई भीमसेन और सौ भाइयों के वध से अत्यन्त कुपित सम्राट् दुर्योधन दोनों, कौरव और यदुकुल के परमपूजनीय व्यास, बलराम, श्रीकृष्ण तथा विदुर के समक्ष गदायुद्ध आरंभ कर रहे हैं।

दूसरा—रमणीय सुवर्ण की शिला की भाँति विशाल भीम के वक्षःस्थल के

भिन्ने वासवहस्तिहस्तकठिने दुर्योधनांसस्थले।
अन्योन्यस्य भुजद्वयान्तरतटेष्वासज्यमानायुधे
यस्मिंश्चण्डगदाभिघातजनितः शब्दः समुत्तिष्ठति ॥१६॥

तृतीयः—एष महाराजः,

शीर्षोत्कम्पनवल्गमानमुकुटः क्रोधाग्निकाक्षाननः
स्थानाक्रामणवामनीकृततनुः प्रत्यग्रहस्तोच्छ्रयः।

हस्तिहस्तकठिने—वासवस्य = इन्द्रस्य हस्तिनः = ऐरावतस्य हस्तः = शुण्डादण्डः इव कठिने दुर्योधनांसस्थले—दुर्योधनस्य अंसस्थले = स्कन्धे भिन्ने = प्रत्याहते अन्योन्यस्य = परस्परस्य भुजद्वयान्तरतटेषु—भुजद्वयस्य = बाहुयुगलस्य अन्तर-तटेषु = मध्यभागतटेषु इत्यर्थः। आसज्यमानायुधे—आसज्यमानानि आयुधानि यत्र तस्मिन् युद्धे चण्डाभिघातजनितः—चण्डश्चासौ गदाभिघातश्च इति चण्डगदा-भिघातः = प्रचण्डगदाप्रहारः तेन जनितः = प्रादुर्भूतः शब्दः = भयंकरशब्दः समु-त्तिष्ठति = दिशि दिशि प्रसरति इत्याशयः ॥ १६ ॥

शीर्षोत्कम्पेति। शीर्षोत्कम्पनवल्गमानमुकुटः—शीर्षस्य उत्कम्पनेन = प्रक-म्पनेन वल्गमानं = उत्प्लवमानं मुकुटं यस्य सः, क्रोधाग्निकाक्षाननः—क्रोधाग्निः= कोपाग्निः काक्षे = कटाक्षे 'श्रीदेवधरः' यस्य एवंभूतम् आननं = मुखमण्डलम् यस्य सः अथवा क्रोध एव अग्निः यस्मिन् तत् क्रोधाग्निकम् (अक्ष्णोः विशेषणम्) अक्षि यस्मिन् तत् (आननस्य विशेषणम्) क्रोधाग्निकाक्षम् आननं यस्य सः (इति आथेवलभटौ)। स्थानाक्रामणवामनीकृततनुः—स्थानाय आक्रमणम् तस्मै वामनीकृता = वक्रीकृता तनुः येन सः, प्रत्यग्रहस्तोच्छ्रयः—प्रत्यग्र एव

ऊपर प्रहार होने से, इन्द्र के (ऐरावत) हाथी के सूँड के समान कठोर दुर्योधन के कंधे पर आघात करने के कारण और एक दूसरे की भुजाओं के बीच (छाती पर) प्रचण्ड गदा के प्रहार से उत्पन्न शब्द दिशाओं में व्याप्त हो रहा है ॥ १६ ॥

तीसरा—यह महाराज (दुर्योधन), जिनका मुकुट सिर के कांपने से डोल रहा है, जिनकी आखों में (क्रोध की आग जल रही है) क्रोध भरी अग्नि की ज्वाला है ऐसा मुखमण्डल है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर छलांग भरते हुए अपने शरीर को समेट लेता है, जो प्रतिक्षण अपने हाथ को

यस्यैषा रिपुशोणितार्द्रकलिला भात्यग्रहस्ते गदा
कैलासस्य गिरेरिवाग्ररचिता सोल्का महेन्द्राशनिः ॥१७॥

प्रथमः—एष संप्रहाररुधिरसिक्ताङ्गस्तावद् दृश्यतां पाण्डवः ।

निर्भिन्नाग्रललाटवान्तरुधिरो भग्नांसकूटद्वयः
सान्द्रैर्निर्गलितप्रहाररुधिरैरार्द्रीकृतोरःस्थलः ।
भीमो भाति गदाभिघातरुधिरक्लिन्नावगाढव्रणः

तत्क्षण एव हस्तः उच्छ्रयः ऊर्ध्वीकृतः येन सः, यस्य एषा रिपुशोणितार्द्रकलिला—रिपोः = वैरिणः शोणितेन = रुधिरेण आर्द्रा = तरला अतएव कलिला = सर्वांगेण व्याप्ता इत्यर्थः, गदा अग्रहस्ते कैलासस्य गिरेः अग्ररचिता सोल्का = उल्कया सहिता इत्यर्थः । महेन्द्राशनिः—महेन्द्रस्य = इन्द्रस्य अशनिः = वज्रमिव भाति = प्रतिभाति ॥ १७ ॥

प्रथम इति । संप्रहाररुधिरसिक्ताङ्गः—सम्प्रहारेण = गदाप्रहारेण रुधिरेण सिक्तानि—आर्द्रितानि अङ्गानि = शरीरावयवाः यस्य सः एतादृशः पाण्डवः दृश्यतामिति शेषः ।

निर्भिन्नेति । निर्भिन्नाग्रललाटवान्तरुधिरः—निर्भिन्नम् = विदीर्णम् , गदाप्रहारेण भग्नमिति यावत् । अग्रम् = अग्रभागमित्यर्थः, यस्य एतादृशं यत् ललाटम्= मस्तकम् तस्मात् वान्तम् = निर्गलितम् रुधिरं यस्य सः, भग्नांसकूटद्वयः = भग्नम् अंसकूटद्वयम्=अंस=स्कन्धः कूट इव = पर्वतशृङ्ग इव स्कन्धद्वयमिति, भावः यस्य सः, सान्द्रैः = सघनैः, प्रचुरैः निर्गलितैः प्रहाररुधिरैः = गदाप्रहाररुधिरैरित्यर्थः, आर्द्रीकृतोरःस्थलः = आर्द्रीकृतम् उरःस्थलं वक्षःस्थलम् यस्य सः गदाभिघात-

---

ऊँचा कर रहा है, शत्रु के खून से लथपथ यह गदा दाहिने हाथ में कैलास पर्वत के अग्रभाग से रचित इन्द्र के प्रज्वलित वज्र की भांति सुशोभित हो रही है ॥ १७ ॥

पहला—(गदा) के प्रहार के कारण रुधिर से भीगे शरीरवाले इस पाण्डव (भीम) की ओर जरा दृष्टि तो डालो ।

गदा के प्रहार के कारण फटे मस्तक से रुधिर बह रहा है, पर्वत की चोटी की भाँति दोनों कंधे टूट-टूट गए हैं अत्यधिक मात्रा में बहते हुए रक्त से जिसका उरःस्थल (छाती) आर्द्र हो गया है और गदा के आघात के कारण निकलते हुए रुधिर से जिसका व्रण (घाव) तर हो गया है, ऐसी

शैलो मेरुरिवैष धातुसलिलासारोपदिग्धोपलः ॥ १८ ॥

द्वितीयः—भीमां गदां क्षिपति गर्जति वल्गमानः
शीघ्रं भुजं हरति तस्य कृतं भिनत्ति ।
चारीं गतिं प्रचरति प्रहरत्यभीक्ष्णं
शिक्षान्वितो नरपतिर्बलवांस्तु भीमः ॥ १६ ॥

तृतीयः—एष वृकोदरः,

रुधिरक्लिन्नावगाढव्रणः—गदाभिघातेन रुधिरक्लिन्नाः अवगाढा व्रणा यस्य सः, एवंभूतः एषः भीमः धातुसलिलासारोपदिग्धोपलः = धातूनां = पर्वतस्यगैरिकादिधातूनामिति शेषः । सलिलासारैः=जलधाराभिः उपदिग्धाः = अवलिप्ताः उपलाः = प्रस्ताराः यस्य सः, मेरुः = सुमेरुः शैल इव = पर्वत इव भाति = शोभते इति भावः ॥ १८ ॥

भीमामिति । नरपतिः = महाराजदुर्योधनः भीमां = भयङ्कराम् गदां क्षिपति = प्रक्षिपति, चालयति इति यावत । वल्गमानः सन् = उच्छलन् सन् गर्जति शीघ्रं भुजं हरति = संकोचयति अपसारयति वा तस्य = भीमसेनस्य कृतम् = उद्योगम् भिनत्ति—भेदनं करोति, विफलीकरोति इति भावः, चारीं गतिम् = वर्तुलाकारगतिम् इत्याशयः, प्रचरति अभीक्ष्णम् = बारंवारम् प्रहरति 'अस्यां स्थितौ नरपतिः' शिक्षान्वितः तु = किन्तु भीमः बलवान् अस्ति इति शेषः ॥ १९ ॥

अवस्था में यह भीम, गैरिकादि धातुओं से मिश्रित जलधारा को बहाते हुए सुमेरु पर्वत की भाँति सुशोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

दूसरा—महाराज दुर्योधन भयंकर गदा को फेंकता है, छलांग भरते हुए गर्जना करता है, (चोटों से बचने के लिए) अपनी भुजाओं को खैंच लेता है, अपने शत्रु (भीम) के विधान (आशय) को असफल कर डालता है, वह वर्तुलाकार गति को प्रयोग में लाता है और बार-बार प्रहार करता है; क्योंकि राजा (दुर्योधन) एक ओर गदा-युद्ध में सुशिक्षित तो है, किन्तु भीम, दूसरी ओर अपने तईं उतना ही बलशाली है ॥ १९ ॥

तीसरा—यह भीम है,

शिरसि गुरुनिखातस्रस्तरक्तार्द्रगात्रो
धरणिधरनिकाशः संयुगेष्वप्रमेयः ।
प्रविशति गिरिराजो मेदिनीं वज्रदग्धः
शिथिलविसृतधातुर्हेमकूटो यथाद्रिः ॥ २० ॥

प्रथमः—एष गाढप्रहारशिथिलीकृताङ्गं निपतन्तं भीमसेनं दृष्ट्वा,
एकाग्राङ्गुलिधारितोन्नतमुखो व्यासः स्थितो विस्मितः

द्वितीयः—
दैन्यं याति युधिष्ठिरोऽत्र विदुरो बाष्पाकुलाक्षः स्थितः ।

शिरसीति । शिरसि गुरुनिखातस्रस्तरक्तार्द्रगात्रः—शिरसि = मस्तके गुरु-निखातात् = अतिगभीराघातात् स्रस्तेन = प्रवहता रक्तेन = रुधिरेण आर्द्राणि गात्राणि = शरीराणि यस्य सः, धरणिधरनिकाशः = धरणिधरस्य = पर्वतस्य निकाशः = सदृशः संयुगेषु = समरेषु अप्रमेयः = अनुपमः शिथिलविसृतधातुः—शिथिलाः विसृता धातवः यस्य सः, वज्रदग्धः—वज्रेण दग्धः गिरिराजः हेमकूटः= सुमेरुः अद्रिः = पर्वतः यथा मेदिनीम् = महीम् प्रविशतीत्यर्थः ॥ २० ॥

प्रथम इति । गाढप्रहारशिथिलीकृताङ्गम्—गाढप्रहारेण = कठोराघातेन शिथिलीकृतानि अङ्गानि यस्य सः तम् , एकाग्राङ्गुलिधारितोन्नतमुखः—एका अग्राङ्गुलिः धारिता = स्थापिता यस्मिन् तत् एकाग्राङ्गुलिधारितम् एतादृशम् उन्नतम् मुखम् यस्य सः, विस्मितः = आश्चर्यितः व्यास इति शेषः ॥

द्वितीय इति । बाष्पाकुलाक्षः = बाष्पैः = अश्रुकणैः आकुले अक्षिणी = लोचने यस्य सः एतादृशः विदुर इति भावः ।

सिर में गहरी चोट लगने के कारण बहते हुए खून से जिसका शरीर तर हो गया है, जो पर्वत की भाँति प्रतीत हो रहा है, वह युद्ध में अनुपम भीम पर्वतराज सुमेरु की तरह जिसकी गैरिकादि धातुशिला वज्र के द्वारा दग्ध होकर ढीली होने से चारो ओर बह रही है, जमीन पर गिर रहा है ॥ २० ॥

पहला—गहरी चोट के कारण शिथिल शरीरवाले, भीमसेन को गिरते हुए देखकर व्यास (सिर ऊँचा कर) मुखपर एक उँगली रखे हुए विस्मित मुद्रा में खड़े हैं ।

दूसरा—धर्मराज दुःखी हो रहे हैं, आखों में आँसू भरे विदुर खड़े हैं ।

तृतीयः—

स्पृष्टं गाण्डिवमर्जुनेन गगनं कृष्णः समुद्वीक्षते

सर्वे—

शिष्यप्रीततया हलं भ्रमयते रामो रणप्रेक्षकः ॥ २१ ॥

प्रथमः—एष महाराजः,

वीर्यालयो विविधरत्नविचित्रमौलि-
युक्तोऽभिमानविनयद्युतिसाहसैश्च ।
वाक्यं वदत्युपहसन्न तु भीम ! दीनं
वीरो निहन्ति समरेषु भयं त्यजेति ॥ २२ ॥

तृतीय इति । गगनम् = आकाशमण्डलम् समुद्वीक्षते = पश्यतीत्यर्थः ॥

सर्वे इति । शिष्यप्रीततया = शिष्यं प्रति अनुरागेण इति भावः । रणप्रेक्षकः = गदायुद्धदर्शकः रामः = बलरामः ॥ २१ ॥

वीर्येति । वीर्यालयः—वीर्यस्य = शौर्यस्य आलयः = स्थानम् महाशक्तिशालीति भावः, विविधरत्नविचित्रमौलिः—विविधरत्नैः = नानाविधमणिभिः विचित्रः चित्रितः मौलिः = मुकुटः यस्य सः, अभिमानविनयद्युतिसाहसैः = अभिमानश्च विनयश्च द्युतिश्च = शरीरकान्तिश्च साहसश्च ते अभिमानविनयद्युतिसाहसाः तैः युक्तः उपहसन् = उपहासं कुर्वन् वाक्यं वदति (भीमं प्रति महाराजदुर्योधनः इति शेषः), हे भीम ! वीरः = वीरपुरुषः दीनम् = विपद्ग्रस्तम् अस्त्रशस्त्रेण शून्यमिति भावः, समरेषु = संग्रामेषु न तु निहन्ति (अतः) भयं त्यज, 'अर्थात् निःशङ्को भूत्वा पुनरपि युद्धाय प्रवृत्तो भव इत्याशयः' ॥ २२ ॥

तीसरा—अर्जुन गांडीव धनुष को हाथ में ले चुके हैं कृष्ण आकाश की ओर दृष्टि डाले हुए हैं ।

सब के सब—युद्धदर्शक बलराम अपने शिष्य (दुर्योधन) में प्रीति होने के नाते हल को घुमा रहे हैं ॥ २१ ॥

पहला—यह महाराज दुर्योधन,

बल का स्थान, नानाविध मणियों से सुसज्जित मुकुटवाले, अहंकार, विनम्रता, कांति और साहस से युक्त मुस्कुराते हुए कह रहे हैं कि हे भीम ! वीरपुरुष दीनपुरुष को युद्ध में कभी नहीं मारता इसलिये तुम भय छोड़ दो ॥२२॥

द्वितीयः—एष इदानीमपहास्यमानं भीमसेनं दृष्ट्वा स्वमूरुमभिहत्य कामपि संज्ञां प्रयच्छति जनार्दनः ।

तृतीयः—एष संज्ञया समाश्वासितो मारुतिः,

संहृत्य भ्रुकुटीर्ललाटविवरे स्वेदं करेणाक्षिपन्
बाहुभ्यां परिगृह्य भीमवदनश्चित्राङ्गदां स्वां गदाम् ।
पुत्रं दीनमुदीक्ष्य सर्वगतिना लब्ध्वेव दत्तं बलं
गर्जन् सिंहवृषेक्षणः क्षितितलाद् भूयः समुत्तिष्ठति ॥ २३ ॥

प्रथमः—हन्त पुनः प्रवृत्तं गदायुद्धम् । अनेन हि,

द्वितीय इति । स्वमूरुम् = स्वकीयजङ्घामित्यर्थः, अभिहत्य = ताडयित्वा संज्ञाम् = गूढसंकेतम् प्रयच्छति = करोति जनार्दनः = श्रीकृष्णः मारुतिः = वायुपुत्रः भीमः ।

संहृत्येति । भृकुटीः संहृत्य = संकोच्य ललाटविवरे स्वेदं करेण=हस्ते आक्षिपन्=परिमार्जन् चित्राङ्गदाम्='चित्राङ्गदा' नाम्नीं स्वाम्=स्वकीयाम् गदाम् बाहुभ्याम् प्रतिगृह्य = आदाय पुत्रम् दीनम् = असहायम् , निर्बलम् वा उदीक्ष्य = अवलोक्य सर्वगतिना = पवनदेवेन दत्तम् बलम् लब्ध्वा इव गर्जन् भीमवदनः—भीमम् = भयोत्पादकं मुखम् = मुखमण्डलम् यस्य सः, सिंहवृषेक्षणः—'वृषः'=अतिपराक्रमी, सिंहवृषस्य = मृगेन्द्रस्य ईक्षणे = नयने इव नयने यस्य सः, मारुतिः = भीमः क्षितितलात् = समरभूमेः भूयः = पुनरपि समुत्तिष्ठति ॥ २३ ॥

हन्त = हा ! दुःखव्यञ्जकमव्ययम् ।

दूसरा श्रीकृष्ण, उपहास के योग्य बन रहे भीम को देखकर अपनी जाँघ को थपथपाते हुए कोई गुप्त संकेत कर रहे हैं ।

तीसरा—यह भीम गुप्त संकेत के कारण आशान्वित हो गया है ।

अपनी भौंहों को संकुचित करके, ललाट के ऊपर के पसीने को हाथ से पोंछता हुआ, भयंकर मुखवाला अपने हाथों में चित्रांगदा नामक गदा को लेकर, अपने पुत्र, (भीम) को दीन देखकर मानो (अपने पिता) वायुदेव के द्वारा विरासत के रूप में शक्ति पाए हुए; गरजते हुए सिंह की तरह बड़ी-बड़ी आखों वाला यह भीम जमीन पर से पुनः उठ रहा है ॥ २३ ॥

पहला—ओह ! फिर से गदायुद्ध शुरू हो गया ।

भूमौ पाणितले निघृष्य तरसा बाहू प्रमृज्याधिकं
सन्दष्टोष्ठपुटेन विक्रमबलात् क्रोधाधिकं गर्जता।
त्यक्त्वा धर्मघृणां विहाय समयं कृष्णस्य संज्ञासमं
गान्धारीतनयस्य पाण्डुतनयेनोर्वोर्विमुक्ता गदा ॥ २४ ॥

सर्वे—हा धिक् पतितो महाराजः।

तृतीयः—एष रुधिरपतनद्योतिताङ्गं निपतन्तं कुरुराजं दृष्ट्वा खमुत्पतितो भगवान् द्वैपायनः। य एषः,

---

भूमाविति। पाणितले = करतले भूमौ निघृष्य = सन्घर्ष्य तरसा = वेगेन अधिकं यथा स्यात्तथा बाहू प्रमृज्य = मर्दयित्वा धर्मघृणाम् = धर्मप्रतिपादित-घृणाम् = करुणाम् 'कारुण्यं करुणा घृणा' इत्यमरः। त्यक्त्वा = परित्यज्य (तथा) समयम् = (युद्धसम्बन्धिनम्) शपथम्, कालम्, मर्यादां वा, 'समयाः शपथाचार-कालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। विहाय = त्यक्त्वा कृष्णस्य संज्ञासमम् = सङ्केतेन सहैव इत्याशयः। सन्दष्टोष्ठपुटेन—संदष्टः = चर्वितः ओष्ठपुटः = अधरोष्ठः येन असौ विक्रमबलात् = पराक्रमात् क्रोधाधिकम् = अतिक्रोधितमित्यर्थः, गर्जता पाण्डुतनयेन = भीमेन गान्धारीतनयस्य = दुर्योधनस्य ऊर्वोः = जङ्घयोः (उपरि) विमुक्ता = पातिता, आघातिता वा ॥ २४ ॥

तृतीयः—रुधिरपतनद्योतिताङ्गम्—रुधिरस्य पतनेन=निर्गलितेन द्योतितम् = प्रकाशितम् अङ्गम् यस्य तम्। खम् = आकाशम् ॥

पाण्डुपुत्र भीम, अपनी दोनों हथेलियों को जमीन पर रगड़ कर तथा अति वेग से अपनी भुजाओं को थपथपा कर, धर्मसंबंधी उदारता एवं युद्ध के सभी शर्तों को अतिक्रमण करके श्रीकृष्ण का संकेत मिलते हुए होठों को चबाते हुए पराक्रम के नाते क्रोधभरी गर्जना करते हुए पाण्डुपुत्र भीमसेन ने गांधारीपुत्र (दुर्योधन) की जंघा के ऊपर गदा का प्रहार किया ॥ २४ ॥

सब लोग—हाय, महाराज गिर पड़े।

तीसरा—खून निकलने से चमकीले शरीर वाले दुर्योधन को गिरते हुए देख कर भगवान व्यास आकाश में चले गए। जो यह।

मालासंवृतलोचनेन हलिना नेत्रोपरोधः कृतो
दृष्ट्वा क्रोधनिमीलितं हलधरं दुर्योधनापेक्षया।
संभ्रान्तैः करपञ्जरान्तरगतो द्वैपायनज्ञापितो
भीमः कृष्णभुजावलम्बितगतिर्निर्वाह्यते पाण्डवैः ॥२५॥

प्रथमः—अये अयमप्यमर्षोन्मीलितरभसलोचनो भीमसेनापक्रमणमुद्वीक्षमाणः इत एवाभिवर्तते भगवान् हलायुधः। य एषः,

चलविलुलितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो

मालेति। मालासंवृतलोचनेन—मालया संवृते = निमीलिते लोचने यस्य सः तेन, हलिना = बलरामेण, नेत्रोपरोधः—नेत्रयोः उपरोधः = संवरणम्, निमीलनं वा कृतः दुर्योधनापेक्षया क्रोधनिमीलितम्—क्रोधेन निमीलितम् हलधरम्=बलदेवम् दृष्ट्वा सम्भ्रान्तैः = भयातुरैः, शङ्कितैर्वा, पाण्डवैः द्वैपायनज्ञापितः—द्वैपायनेन = व्यासेन ज्ञापितः = सूचितः कृष्णकरावलम्बितगतिः—कृष्णस्य कराभ्याम् = हस्ताभ्याम् अवलम्बिता = आधारिता गतिः = शरीररक्षणस्थितिः यस्य सः, करपञ्जरान्तरगतः = हस्तमध्यगतः भीमः निर्वाह्यते = परित्रायते अर्थात् त्रातुम् इतस्ततः नीयते इति भावः ॥ २५ ॥

प्रथमः—अमर्षोन्मीलितरभसलोचनः—अमर्षेण = रोषेण उन्मीलिते रभसलोचने = उद्विग्नलोचने यस्य सः, 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः। भीमसेनापक्रमणम्—भीमसेनस्य अपक्रमणम् = बहिर्निर्गमनमिति भावः, उद्वीक्षमाणः = प्रतीक्षमाणः, अभिवर्तते = प्रत्यावर्तते हलायुधः = बलरामः ॥

चलेति। चलविलुलितमौलिः = चलः = चञ्चलः विलुलितः = कम्पितः

अपमान की भावना से बलदेवजी ने अपनी आँखें मूद लीं और दुर्योधन के प्रति पक्षपात के कारण क्रोध में आए हुए बलरामको देख कर भयभीत पाण्डवलोग भगवान् व्यास के द्वारा सूचित भीम को, जिसे श्रीकृष्णने अपने हाथों का सहारा दे रखा है अपने-अपने हाथों के पंजर (घेरे) में करके ले जा रहे हैं ॥ २५ ॥

पहला—अरे! क्रोध के कारण बंद एवं उत्तेजित नयन वाले बलराम भी भीमसेन के बाहर निकलने की प्रतीक्षा में इधर ही आ रहे हैं। जो यह,

जिनका मुकुट चंचल एवं कंपित हो रहा है, जिनके नेत्र क्रोध के कारण लाल

भ्रमरमुखविदष्टां किंचिदुत्कृष्य मालाम् ।
असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी
क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः ॥ २६ ॥

द्वितीयः—तदागम्यतां वयमपि तावन्महाराजस्य प्रत्यनन्तरीभवामः ।

उभौ—बाढम् । प्रथमः कल्पः ।

(निष्क्रान्ताः ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति बलदेवः ।)

मौलिः = मुकुटः यस्य सः, क्रोधताम्रायताक्षः—क्रोधेन ताम्रे = अरुणे आयते = विशाले अक्षिणी=लोचने यस्य सः, भ्रमरमुखविदष्टां—भ्रमराणाम् मुखैः विदष्टाम्= दशनैः खण्डिताम् , अर्थात् पीतपरागाम् (रसाम्) मालाम् किंचित् उत्कृष्य = आकृष्य असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी—असितं च = श्यामवर्णं च 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः' 'इत्यमरः । तनुविलम्बि च = अर्थात् शरीरस्य उपरि लम्बमानम् स्रस्तम् च = स्वस्थानात् स्खलितं च शिथिलीभूतं च यत् वस्त्रम् तस्य अनुकर्षी = अनुकर्षकः तथा, क्षितितलम् = अर्थात् भूमण्डलम् , युद्धभूमिम् वा अवतीर्णः पारिवेषी = परिवेषः = परिधिः, मण्डलं वा एव पारिवेषः सोऽस्यास्ति इति पारिवेषी 'अर्थात् मेघैः परिवेष्टितः इत्याशयः ।' 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः । चन्द्र इव प्रतीयते इति शेषः ॥ २६ ॥

द्वितीयः—प्रत्यनन्तरीभवामः = निकटम् गच्छामः ॥

और विशाल हो गए हैं ; भ्रमरों के द्वारा जिसका रस चूस लिया गया है ऐसी माला को कुछ खींच कर और शरीर पर लटकते हुए नीले एवं ढीले वस्त्र को (संभालते) खींचते हुए बलदेव जी पृथ्वी पर उतरे हुए मंडल के बीच स्थित चन्द्रमा की भांति प्रतीत हो रहे हैं ॥ २६ ॥

दूसरा— तब आओ, हमलोग भी महाराज दुर्योधन के समीप चलें ।

दोनों—हाँ, यह तो उत्तम विचार है ।

(सब निकल जाते हैं ।)

(तब बलदेव का प्रवेश)

बलदेवः— भो भोः पार्थिवाः ! न युक्तमिदम् ।

मम रिपुबलकालं लाङ्गलं लङ्घयित्वा
रणकृतमतिसन्धिं मां च नावेक्ष्य दर्पात् ।
रणशिरसि गदां तां तेन दुर्योधनोर्वोः
कुलविनयसमृद्ध्या पातितः पातयित्वा ॥ २७ ॥

भो दुर्योधन ! मुहूर्तं तावदात्मा धार्यताम् ।

सौभोच्छिष्टमुखं महासुरपुरप्राकारकूटाङ्कुशं
कालिन्दीजलदेशिकं रिपुबलप्राणोपहारार्चितम् ।

ममेति । तेन = भीमेन मम रिपुबलकालम्—रिपुबलस्य = शत्रुशक्तेः कालम् = अन्तकम् लाङ्गलम् = 'हल' नामकम् अस्त्रम् लङ्घयित्वा = तिरस्कृत्य दर्पात् = अभिमानात् रणकृतम् अतिसन्धिम्—सन्धिम् अतिक्रम्य वर्तते इति अतिसन्धिम् मां च न अवेक्ष्य = मामपि च उपेक्ष्य रणशिरसि = समरभूमौ तां गदाम् दुर्योधनोर्वोः=दुर्योधनस्य जङ्घयोः पातयित्वा=त्रोटयित्वा कुलविनयसमृद्ध्या—कुलस्य = कुरुवंशस्य विनयः = नम्रतादिशिष्टाचारः एव समृद्धिः तया (सहैव) पातितः दुर्योधनः इति शेषः ॥ २७ ॥

सौभोच्छिष्टेति । सौभोच्छिष्टमुखम्—सौभस्य = 'सौभ' नगरस्य उच्छिष्टम् = ध्वंसावशिष्टं 'तदेव' मुखे = अग्रभागे (हलस्य) यस्य तम्, महासुरपुरप्राकारकूटाङ्कुशम्—महासुरस्य = 'शाल्व' इति नामधारिणः दानवराजस्य पुरस्य = नगरस्य यत् प्राकारकूटम् = तस्य अंकुशम्, कालिन्दीजलदेशिकम्—

बलदेव—अरे राजाओ ! यह उचित नहीं हुआ ।

शत्रुओं की सैन्यशक्ति का विनाश करने वाले कालरूप मेरे हल की अवहेलना करके और युद्ध में तटस्थ रहनेवाले मेरी कुछ भी परवाह न कर अभिमान के कारण भीम ने लड़ाई में दुर्योधन की जांघ पर गदा का प्रहार करके कुल की विनय-समृद्धि (अर्थात् महत्ता एवं सभ्यता) के साथ ही दुर्योधन को धूल में मिला दिया ॥ २७ ॥

अरे, दुर्योधन, क्षणभर के लिये प्राण को संभाले रखो ।

सौभ नगर के द्वार के छिन्न-भिन्न करने वाले, महासुर के नगर की चहारदिवारी को अंकुश की भांति विदीर्ण करने वाले, यमुनाजी के जल की धारा

हस्तोत्क्षिप्तहलं करोमि रुधिरस्वेदार्द्रपङ्कोत्तरं
भीमस्योरसि यावदद्य विपुले केदारमार्गाकुलम् ॥ २८ ॥

(नेपथ्ये)

प्रसीदतु प्रसीदतु भगवान् हलायुधः ।

बलदेवः—अये एवंगतोऽप्यनुगच्छति मां तपस्वी दुर्योधनः ! य एषः,

श्रीमान् संयुगचन्दनेन रुधिरेणार्द्रानुलिप्तच्छवि-
र्भूसंसर्पणरेणुपाटलभुजो बालव्रतं ग्राहितः ।

कालिन्दी = यमुना तस्य जलस्य = जलप्रवाहस्य देशिकम् = निर्देशकम् , प्रवर्तकं वा, रिपुबलप्राणोपहारार्चितम्—रिपूणाम् बलस्य=सैनिकस्य प्राणाः एव उपहारः= उपायनम् तेन अर्चितम् = आराधितम , सत्कृतम् वा, हस्तोत्क्षिप्तम् = हस्तेन उत्क्षिप्तम् एवम्भूतम् हलम् भीमस्य विपुले = विस्तृते, विशाले उरसि = वक्षःस्थले अद्य यावत् = अधुनैव रुधिरस्वेदार्द्रपङ्कोत्तरम्—रुधिरं च स्वेदश्च = स्वेदकणश्च तदेव आर्द्रपङ्कः तेन उत्तरम् , केदारमार्गाकुलम्—केदारस्य = क्षेत्रस्य 'केदारः क्षेत्रमस्य तु' इत्यमरः । मार्गे = कर्षणे इति भावः, आकुलम् = व्यस्तम् , उद्यतं वा करोमि ॥ २८ ॥

श्रीमानिति । श्रीमान = श्रीसम्पन्नः संयुगचन्दनेन संयुगस्य = युद्धस्य चन्दनेन तद्रूपेण रुधिरेण आर्द्रानुलिप्तच्छविः—आर्द्रा = तरला च अनुलिप्ता च छविः = शरीरकान्तिः यस्य सः, भूसंसर्पणरेणुपाटलभुजः—भुवि संसर्पणेन यो रेणुः = रजः तेन पाटलौ भुजौ यस्य सः, बालव्रतम्—बालस्य = शिशोः व्रतम्

को मोड़ने वाले, शत्रुओं के प्राणों के उपहार से संमानित हल को भीम के रक्त तथा पसीने से पंकिल विशाल छाती पर प्रहार कर आज क्यारियाँ बनाने में व्यग्र कर डालूँगा ॥ २८ ॥

(नेपथ्य में)

भगवान् बलदेव प्रसन्न हों।

बलदेव—अरे ! ऐसी हालत में भी तपस्वी दुर्योधन मेरा अनुसरण कर रहा है ।

इस भग्न पुरुष का शरीर युद्ध के चन्दन रूपी रक्त से आर्द्र एवं अनुलिप्त है जमीन पर (पेट के बल) सरकने के कारण धूलि से धूसरित भुजावाले ये बालक

निर्वृत्तेऽमृतमन्थने क्षितिधरान्मुक्तः सुरैः सासुरै-
राकर्षन्निव भोगमर्णवजले श्रान्तोज्झितो वासुकिः ॥२९॥

(ततः प्रविशति भग्नोरुयुगलो दुर्योधनः ।)

दुर्योधनः—एष भोः !

भीमेन भित्त्वा समयव्यवस्थां गदाभिघातक्षतजर्जरोरुः ।
भूमौ भुजाभ्यां परिकृष्यमाणं स्वं देहमर्धोपरतं वहामि ॥ ३० ॥

प्रसीदतु प्रसीदतु भगवान् हलायुधः ।

त्वत्पादयोर्निपतितं पतितस्य भूमा-

ग्राहितः अमृतमन्थने निर्वृत्ते सति सासुरैः = असुरवर्गेण सहितैरित्यर्थः । सुरैः = देवैः, क्षितिधरात्=मन्दरपर्वतात् मुक्तः=बन्धनमुक्तः श्रान्तोज्झितः—श्रान्तश्चासौ—उज्झितश्च = परित्याजितः इति भावः, अर्णवजले = अर्णवस्य = समुद्रस्य जले भोगम् = (स्वकीय) शरीरम् आकर्षन् वासुकिः इव प्रतीयत इति शेषः ॥ २९ ॥

भीमेनेति । भीमेन समयव्यवस्थाम्=युद्धनियमम् भित्त्वा=उल्लङ्घ्य गदाभिघातक्षतजर्जरोरुः—गदाया अभिघातेन = प्रहारेण क्षतौ = छिन्नभिन्नौ (तथा) जर्जरौ ऊरू यस्य सः (एषोऽहम्) भुजाभ्याम् परिकृष्यमाणम् अर्धोपरतम् = अर्धमृतम् स्वम् देहम् वहामि = धारयामि, इतस्ततः नयामि इत्याशयः ॥ ३० ॥

त्वदिति । भूमौ पतितस्य दुर्योधनस्येति शेषः ? एतत् शिरः त्वत्पादयोः =

की भूमिका अदा कर रहे हों ऐसा लग रहा है, अमृत-मंथन के बाद सुर और असुरों द्वारा मंदर पर्वत से मुक्त अपने शरीर को समुद्र के जलमें धीरे-धीरे खींचते हुए श्रान्त वासुकि की भांति (दुर्योधन) दिखाई पड रहे हैं ॥ २९ ॥

(इसके बाद टूटी हुई जंघा वाले दुर्योधन का प्रवेश)

दुर्योधन—अरे ! मैं यहाँ हूँ !

भीम ने युद्ध के नियमों का अतिक्रमण कर गदा के प्रहार से मेरी जंघाओं को घायल और जर्जर बना दिया है । इसीलिये मैं अपने अधमरे शरीर को जमीन पर इन हाथों से खींचता हुआ परिवहण (धारण) कर रहा हूँ ॥ ३० ॥

जमीन पर गिरा हुआ मेरा यह सिर आपके युगल चरणों पर पड़ा है । (ऐसी

वेतच्छिरः प्रथममद्य विमुञ्च रोषम् ।
जीवन्तु ते कुरुकुलस्य निवापमेघा
वैरं च विग्रहकथाश्च वयं च नष्टाः ॥ ३१ ॥

बलदेवः—भोः दुर्योधन ! मुहूर्तं तावदात्मा धार्यताम् ।

दुर्योधनः—किं भवान्करिष्यति ।

बलदेवः—भोः श्रूयताम् ,

आक्षिप्तलाङ्गलमुखोल्लिखितैः शरीरै-
निर्दारितांसहृदयान्मुसलप्रहारैः ।
दास्यामि संयुगहतान्सरथाश्वनागान्

त्वदीययुगलचरणयोः निपतितम् अद्य प्रथमम् = अर्थात् सर्वप्रथमम् मधुनैव (अतः) रोषम् = कोपम् विमुञ्च = त्यज येन ते = पाण्डवाः कुरुकुलस्य = कुरुवंशस्य निवापमेघाः—निवापस्य = पितृदानस्य अर्थात् पितृनुद्दिश्य प्रदत्तस्य जलाञ्जलेरित्याशयः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः । मेघाः = मेघतुल्याः जीवन्तु, वैरं च = वैरभावं च विग्रहकथा च—विग्रहस्य = युद्धस्य कथा च वयं च नष्टाः = नष्टप्रायाः ॥ ३१ ॥

आक्षिप्तेति । आक्षिप्तलाङ्गलमुखोल्लिखितैः—आक्षिप्तस्य = हन्तुं प्रक्षिप्तस्य लाङ्गलस्य = हलस्य मुखेन=अग्रभागेन उल्लिखितैः=विदीर्णैः शरीरैः मुसलप्रहारैः—मुसलस्य प्रहारैः = आघातैः निर्दारितांसहृदयान्—निर्दारितानि = विदारितानि अंसहृदयानि = स्कन्धवक्षःस्थलानि येषां तान् , सरथाश्वनागान् = रथाश्वगजैः

अवस्था में) आज सर्वप्रथम अपने रोष को त्याग दें ताकि कुरुवंश (के पितरों) को जलाञ्जलि प्रदान करने वाले पाण्डवरूपी मेघ जीवित रहें, क्योंकि सारी शत्रुता, विग्रहसम्बन्धी कथाएँ और हमलोग स्वयं विनष्ट हो चुके हैं ॥ ३१ ॥

बलदेव—ओ दुर्योधन ! क्षणमात्र के लिए आत्मा को थामे रखो ।

दुर्योधन—आप क्या कीजिएगा ?

बलदेव—सुनो !

संचालित हल के मुख (तोड़) से क्षत-विक्षत (छिन्न-भिन्न) शरीर वाले और मूसल के प्रहार के कारण जिनका कंधा और हृदयस्थान चकनाचूर

स्वर्गानुयात्रपुरुषांस्तव पाण्डुपुत्रान् ॥ ३२ ॥

दुर्योधनः—मा मा भवानेवम् ।

प्रतिज्ञावसिते भीमे गते भ्रातृशते दिवम् ।
मयि चैवं गते राम ! विग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

बलदेवः—मत्प्रत्यक्षं वञ्चितो भवानित्युत्पन्नो मे रोषः ।

दुर्योधनः—वञ्चित इति मां भवान् मन्यते ।

बलदेवः—कः संशयः ।

दुर्योधनः—हन्त भोः ! दत्तमूल्या इव मे प्राणाः । कुतः—

सहितानित्यर्थः । संयुगहतान्—संयुगे = समरभूमौ हतान्, स्वर्गानुयात्रपुरुषान्—स्वर्गम् = स्वर्गलोकं गन्तुम् अनुयात्रा = प्रस्थानम् येषां ते एतादृशाः पुरुषाः=सहायकाः वीरयोद्धारः येषां तान् (एवम्भूतान्) पाण्डुपुत्रान् तव दास्यामि ॥ ३२ ॥

प्रतिज्ञेति । हे राम ! भीमे प्रतिज्ञावसिते—प्रतिज्ञा = 'ऊरुभङ्ग' रूपा प्रतिज्ञा अवसिता = पूर्त्ति गता यस्य सः तस्मिन्, पूर्णमनोरथे इति भावः, भ्रातृशते = बन्धुशते दिवं गते = स्वर्गलोकं गते मयि च एवं गते विग्रहः किं करिष्यति अतः अलमतियुद्धेन इत्याशयः ॥ ३३ ॥

हो गया है ऐसे रथ, अश्व और हाथियों के साथ पाण्डुपुत्रों को युद्ध में विनष्ट करके इनके अनुयायियों को स्वर्ग का यात्री बनाकर मैं उन्हें तेरे लिये समर्पण कर दूँगा ॥ ३२ ॥

दुर्योधन— नहीं, नहीं, आप ऐसा न कहें ।

जबकि भीमसेन की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी है, मेरे सौ भाई (मरकर) स्वर्ग पहुँच गए हैं और मैं (स्वयं) इस दीन अवस्था में डाल दिया गया हूँ, तब हे राम ! (इस) युद्ध से क्या सरेगा ॥ ३३ ॥

बलदेव—मेरे समक्ष तुम्हें धोखा दिया गया इसीलिए मुझे भी रोष चढ़ आया है ।

दुर्योधन—मुझे धोखा दिया गया इस बात को आप मानते हैं ?

बलदेव—इसमें क्या शक ?

दुर्योधन—अहो ! तब तो मेरे प्राणों की कीमत अच्छी लगी है (ऐसा मैं मानता हूँ) । क्योंकि—

आदीप्तानलदारुणाज्जतुगृहाद् बुद्ध्यात्मनिर्वाहिणा
युद्धे वैश्रवणालयेऽचलशिलावेगप्रतिस्फालिना ।
भीमेनाद्य हिडिम्बराक्षसपतिप्राणप्रतिग्राहिणा
यद्येवं समवैषि मां छलजितं भो राम ! नाहं जितः ॥ ३४ ॥

बलदेवः—भीमसेन इदानीं तव युद्धवञ्चनामुत्पाद्य स्थास्यति ।

दुर्योधनः—किं चाहं भीमसेनेन वञ्चितः ।

बलदेवः—अथ केन भवानेवंविधः कृतः ।

दुर्योधनः—श्रूयताम्,

आदीप्तेति । भो राम ! आदीप्तानलदारुणात्—आदीप्तानलेन = प्रज्वल्यमानाग्निना अतएव दारुणात् = भयानकात् जतुगृहात् = लाक्षाभवनात् बुद्ध्या = प्रत्युत्पन्नमत्या आत्मनिर्वाहिणा = स्वकीयजीवनसंरक्षकेण इत्यर्थः । वैश्रवणालये = कुबेरभवने युद्धे अचलशिलावेगप्रतिस्फालिना—अचलशिलानाम् = पर्वतशिलानाम् वेगेन प्रतिस्फालिना=अत्याघातकारिणा, हिडिम्बराक्षसपतिप्राणप्रतिग्राहिणा—हिडिम्बराक्षसपतेः=दानवराजहिडिम्बस्य प्राणानाम् प्रतिग्राहिणा=संहारिणा भीमेन यदि माम् एवं छलजितम् = कपटेन पराजितमित्यर्थः, समवैषि = जानासि (तदा) अहम् अद्य = इदानीमपि न जितः = न पराभूतः, न छलितः इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

चारों तरफ से धधकती हुई आग से भयावह लाक्षा गृह से अपने को बुद्धिमानी से बचाने वाले, कुबेर के घर निवास करते हुए युद्ध में जोरों से पत्थर की वर्षा करने वाले और हिडिम्ब नामक दैत्यराज के प्राणों का हनन करने वाले इस भीम के द्वारा यदि आप मुझे छल से पराजित समझ रहे हैं तो, हे राम ! निश्चय ही मैं आज भी परास्त नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

बलदेव– इस समय भीमसेन तुम्हें युद्ध में धोखा देकर क्या जीवित रह सकता है ?

दुर्योधन—क्या मैं भीमसेन के द्वारा छला गया हूँ ।

बलदेव—(यदि ऐसा नहीं है) तब तुम्हारी यह दशा किसने की है ?

दुर्योधन—सुनें ।

येनेन्द्रस्य स पारिजातकतरुर्मानेन तुल्यं हृतो
दिव्यं वर्षसहस्रमर्णवजले सुप्तश्च यो लीलया।
तीव्रां भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजयुद्धप्रिय-
स्तेनाहं जगतः प्रियेण हरिणा मृत्योः प्रतिग्राहितः ॥३५॥

(नेपथ्ये)

उस्सरह उस्सरह अय्या ! उस्सरह। [उत्सरतोत्सरतार्याः ! उत्सरत।]

बलदेवः—(विलोक्य) अये अयमत्रभवान् धृतराष्ट्रः गान्धारी च दुर्जयेनादेशितमार्गोऽन्तःपुरानुबन्धः शोकाभिभूतहृदयश्चकितगतिरित एवाभिवर्तते। य एषः,

---

येनेति। येन इन्द्रस्य पारिजातकतरुः = कल्पवृक्षः मानेन तुल्यम् = मानेन सहैव हृतः, यश्च दिव्यम् वर्षसहस्रम् अर्णवजले = क्षीरसागरजले लीलया = कौतूहलेन योगमायया वा, सुप्तः तेन जगतः प्रियेण = कल्याणकारिणा इति भावः। हरिणा = विष्णुना, श्रीकृष्णेन वा तीव्राम् = अतिकठोराम् भीमगदाम् = भीमस्य गदायाम् सहसा प्रविश्य निर्व्याजयुद्धप्रियः—निर्व्याजम्=छलरहितम् युद्धम् प्रियम्= इष्टम् यस्य सः अर्थात् धर्मयुद्धप्रियः इत्यर्थः। अहम् मृत्योः = कालस्य प्रतिग्राहितः = हस्ते समर्पित इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

बलदेवः। आदेशितमार्गः—आदेशितः = निर्देशितः मार्गः यस्य सः, दुर्जयेन = दुर्योधनपुत्रेणेति शेषः। अन्तःपुरानुबन्धः = अन्तःपुरस्य अनुबन्धो यत्र

जिसने इन्द्र के पारिजात (कल्पतरु) वृक्ष को उसके (इन्द्र के) मानके साथ ही अपहरण कर लिया और जिसने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त क्षीरसागर के जल में कौतुकी माया के द्वारा शयन किया उसी जगत् के प्रिय श्रीकृष्ण ने भीम की गदा में प्रविष्ट होकर छलरहित युद्ध (अर्थात् धर्मयुद्ध) के अभिलाषी मुझको अचानक मृत्यु के हाथ सौंप दिया ॥ ३५ ॥

(नेपथ्य में)

आर्य ! दूर हटें, दूर हटें ! दूर हटें !

बलदेव—(देखकर) अरे ! यह तो (पुत्र-मरणादि) शोक से संतप्त महाराज धृतराष्ट्र, जिसका मार्ग दुर्जय द्वारा निर्देशित किया जा रहा है तथा अन्तःपुरवासी स्त्रियाँ भी जिनके पीछे-पीछे हैं, गान्धारी के साथ इधर ही आरहे हैं। जो यह,

वीर्याकरः सुतशतप्रविभक्तचक्षु-
दर्पोद्यतः कनकयूपविलम्बबाहुः ।
सृष्टो ध्रुवं त्रिदिवरक्षणजातशङ्कै-
र्देवैररातितिमिराञ्जलिताडिताक्षः ॥ ३६ ॥

(ततः प्रविशति धृतराष्ट्रो गान्धारी देव्यौ दुर्जयश्च ।)

धृतराष्ट्रः—पुत्र क्वासि ।

गान्धारी—पुत्तअ ! कहिं सि । [पुत्रक ! क्वासि ।]

देव्यौ—महाराज ! कहिं सि । [महाराज ! क्वासि ।]

सः, अर्थात् अन्तःपुरसहितः इत्यर्थः । शोकाभिभूतहृदयः—शोकेन = पुत्रादि-विनाशदुःखेन अभिभूतम् = आकुलं, त्रोटितं वा हृदयं यस्य सः, अभिवर्तते = आगच्छतीत्यर्थः ॥

वीर्याकर इति । वीर्याकरः सुतशतप्रविभक्तचक्षुः—सुतशतेषु प्रविभक्ते = विभाजिते संलग्ने वा चक्षुषी=नेत्रे यस्य सः, अर्थात शतपुत्रवियोगातुर इत्याशयः, दर्पोद्यतः दर्पेण उद्यतः = तत्परः साभिमान इत्यर्थः । कनकयूपविलम्बबाहु—कनकयूपवत् = सुवर्णनिर्मितयज्ञवध्यपशुबन्धनकाष्ठवत् विलम्बौ=लम्बमानौ बाहू = भुजौ यस्य सः, त्रिदिवरक्षणजातशङ्कैः—त्रिदिवस्य = स्वर्गलोकस्य रक्षणे जाता = प्रादुर्भूता शंका येषां तैः देवैः, अरातितिमिराञ्जलिताडिताक्षः—अरातितिमिराञ्जलिना = शत्रुरूपिणा गाढान्धकारेण ताडिते = आहते, अक्षिणी=लोचने यस्य सः, अर्थात् 'नेत्रहीन' इत्येवं कृत्वा ध्रुवं = निश्चितमेव सृष्टः = सर्जितवान् ॥ ३६ ॥

जो पराक्रम की खान हैं, जिनकी आखें अपने सौ पुत्रों में लगी हैं, जो अभिमान से भरे हुए हैं, सोने के यज्ञ स्तम्भ (यज्ञपुरुष) की भांति जिनकी भुजाएँ लम्बी हैं; निःसन्देह स्वर्ग की रक्षा के विषय में शंकित देवोंने शत्रुरूपी मुट्ठीभर अंधकार के द्वारा आखों को मार कर इन्हें उत्पन्न किया है ॥ ३६ ॥

(इसके बाद धृतराष्ट्र, गान्धारी, दोनों रानियाँ और दुर्जय का प्रवेश ।)

धृतराष्ट्र—पुत्र ! तुम कहाँ हो ?

गान्धारी—पुत्र ! कहाँ हो ?

दोनों रानियाँ—महाराज ! आप कहाँ हो ?

धृतराष्ट्रः—भोः ! कष्टम् ।

वञ्चनानिहतं श्रुत्वा सुतमद्याहवे मम ।
मुखमन्तर्गतास्राक्षमन्धमन्धतरं कृतम् ॥ ३७ ॥

गान्धारि ! किं धरसे ।

गान्धारी—जीवाविदम्हि मन्दभाआ । [जीवितास्मि मन्दभागा ।]

देव्यौ—महाराअ ! महाराअ ! [महाराज ! महाराज !]

राजा—भोः ! कष्टम् । यन्ममापि स्त्रियो रुदन्ति ।

पूर्वं न जानामि गदाभिघातरुजामिदानीं तु समर्थयामि ।
यन्मे प्रकाशीकृतमूर्धजानि रणं प्रविष्टान्यवरोधनानि ॥ ३८ ॥

वञ्चनेति । अद्य आहवे = युद्धे वञ्चनानिहतम्—वञ्चनया = छलेन निहतम् = मारितम् मम सुतं श्रुत्वा अन्धं मुखम् = मुखमण्डलम् अन्तर्गतास्राक्षम्—अन्तर्गतानि अस्राणि = अश्रूणि 'रोदनं चास्रमश्रु च' इत्यमरः, ययोस्ते अन्तर्गतास्ते (एवंभूते) अक्षिणी = लोचने यस्य तत् (मुखमिति शेषः), अन्धतरम् , अतिशयेन अन्धम् इति भावः । कृतम् ॥ ३७ ॥

पूर्वमिति । पूर्वम् = प्रथमम् गदाभिघातरुजाम् = गदाप्रहरजनितव्यथाम् न जानामि तु = किन्तु इदानीं समर्थयामि = अनुमोदयामि यत् प्रकाशीकृतमूर्धजानि—

धृतराष्ट्र—अरे रे ! अफसोस !

जब मैंने यह सुना कि मेरे पुत्र (गदा) युद्ध में छल से मारे गए तो मेरा अंधा चेहरा (मुँह, जो पहले ही अंधा था) आँसू भरी आँखों से और अंधा हो गया है ॥ ३७ ॥

गान्धारी ! क्या तुम (अब भी) जीवित हो ?

गान्धारी—मैं अभागिनी हूँ तभी तो जी रही हूँ ।

दोनों रानियाँ—महाराज ! महाराज !

राजा—अरे ! अफसोस की बात है कि मेरी भी रानियाँ रो रहीं हैं !

पहले तो गदा के प्रहार की पीड़ा को जाना भी नहीं था, परन्तु अब उसका अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि खुली बालवाली मेरे अन्तःपुरः की रानियाँ रणक्षेत्र में चली आई हैं ॥ ३८ ॥

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ! किं दृश्यन्ते दुर्योधननामधेयः कुलमानी।

गन्धारी—महाराअ ! ण दिस्सदि। [महाराज ! न दृश्यते।]

धृतराष्ट्रः—कथं न दृश्यते। हन्त भो! अद्यास्म्यहमन्धो योऽहमन्वेष्टव्ये काले पुत्रं न पश्यामि। भो कृतान्तहतक !

रिपुसमरविमर्दं मानवीर्यप्रदीप्तं
सुतशतमतिधीरं वीरमुत्पाद्य मानम्।
धरणितलविकीर्णं किं स योग्यो न भोक्तुं
सकृदपि धृतराष्ट्रः पुत्रदत्तं निवापम्॥ ३९॥

प्रकाशीकृतानि = बन्धनात् निर्मुक्तानि इति भावः। मूर्धजानि = स्वस्वालकाः यैस्तानि, मम अवरोधनानि = अन्तःपुरस्त्रियः 'अन्तःपुरं स्यादवरोधनम्' इत्यमरः। रणम् = समरभूमिम् प्रविष्टानि = समागतानि इत्यर्थः॥ ३८॥

रिपुसमरेति। रिपुसमरविमर्दम्—रिपूणाम् = वैरिणाम् समरे = युद्धे विमर्दम्—विमर्दयतीति विमर्दम्=संहारकम् अतिधीरम्=वीरम् मानवीर्यप्रदीप्तम् = मानेन (तथा) वीर्येण = पराक्रमेण प्रदीप्तम् = देदीप्यमानम् धरणितलविकीर्णम् मानम् = मानयुक्तम् सुतशतम् = दुर्योधनादिपुत्रशतम् उत्पाद्य = जनयित्वा स धृतराष्ट्रः पुत्रदत्तम् निवापम् = जलाञ्जलिम् सकृत् अपि = एकवारमपि भोक्तुम् किं न योग्यः = समर्थः॥ ३९॥

धृतराष्ट्र—गान्धारी ! अपने कुलका अभिमानी दुर्योधन क्या तुम्हें दिखाई दे रहा है ?

गान्धारी—महाराज, नहीं दिख रहें हैं।

धृतराष्ट्र—क्यों नहीं दिखाई दे रहा है ? अरे ! अफसोस ! क्या मैं आज सचमुच अन्धा हूँ जो पुत्र के खोजने के समय में भी नहीं देख रहा हूँ। अरे ! अधम यमराज !

शत्रुओं को संग्राम-क्षेत्र में मसल देने वाले, वीर, (परन्तु इस समय युद्ध की) भूमि पर मरे पड़े हुए हैं ऐसे सौ पुत्रों को पैदा कर के भी वह मानी धृतराष्ट्र क्या (एक भी) पुत्र द्वारा प्रदत्त तर्पण के जलको एक वक्त भी उपभोग के लायक नहीं रहा ?॥ ३९॥

गान्धारी—जाद सुयोधण ! देहि मे पडिवअणं। पुत्तसदविणास दुत्थिदं समस्सासेहि महाराअं। [जात सुयोधन। देहि मे प्रतिवचनम् पुत्रशतविनाशदुःस्थितं समाश्वासय महाराजम्।]

बलदेवः—अये ! इयमत्रभवती गान्धारी।

या पुत्रपौत्रवदनेष्वकुतूहलाक्षी
दुर्योधनास्तमितशोकनिपीतधैर्या।
अस्रैरजस्रमधुना पतिधर्मचिह्न-
मार्द्रीकृतं नयनबन्धमिदं दधाति ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रः—पुत्र दुर्योधन ! अष्टादशाक्षौहिणीमहाराज ! कासि।

राजा—अद्यास्मि महाराजः।

धृतराष्ट्रः—एहि पुत्रशतज्येष्ठ ! देहि मे प्रतिवचनम्।

या पुत्रेति। या = गान्धारी पुत्रपौत्रवदनेषु—पुत्रपौत्राणाम् वदनेषु मुख मण्डलेषु अकुतूहलाक्षी—नास्ति कुतूहलम् = दर्शनकौतूहलम् ययोस्ते एवंभूते अक्षि णी = नयने यस्याः सा, दुर्योधनास्तमितशोकनिपीतधैर्या—दुर्योधनस्यास्तमितेन = पराभूतेन यः शोकः = संतापः तेन निपीतम् = नाशितम् धैर्यं यस्याः सा' अधुन अजस्रम्=निरन्तरम् अस्रैः = नेत्राम्बुभिः आर्द्रीकृतम् इदम् पतिधर्मचिह्नम्—पति व्रतायाः चिह्नम् नयनबन्धनम् दधाति = धारयति ॥ ४० ॥

गान्धारी—पुत्र सुयोधन ! मुझे जबाब दो ! सौ पुत्रों के विनाश से व्यथि महाराज को आश्वासन दो।

बलदेव—अरे ! यह तो महारानी गान्धारी हैं।

पुत्र और पौत्रों के मुख को देखने के लिए जिनकी आखें कभी लालायि नहीं हुई, वही गान्धारी आज दुर्योधन के पराजय के पश्चात्ताप से अपने धै को खो चुकी हैं, (तथापि) इस समय निरंतर आसुओं के बहने के कार भींगे हुए, एवं पतिव्रत धर्म के चिह्न रूप आखों की पट्टी को धारण क रही है ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्र—पुत्र दुर्योधन ! अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाओं के राजा तुम कहाँ हो

राजा—क्या सचमुच आज मैं महाराज हूँ !

धृतराष्ट्र—सौपुत्रों में ज्येष्ठ ! आओ, मुझे जबाब दो।

राजा—ददामि खलु प्रतिवचनम्। अनेन वृत्तान्तेन व्रीडितोऽस्मि।

धृतराष्ट्रः—एहि पुत्र ! अभिवादयस्व माम्।

राजा—अयमयमागच्छामि। (उत्थानं रूपयित्वा पतति) हा धिक्! अयं मे द्वितीयः प्रहारः। कष्टं भोः !

हृतं मे भीमसेनेन गदापातकचग्रहे।
सममूरुद्वयेनाद्य गुरोः पादाभिवन्दनम्॥ ४१॥

गान्धारी—एत्थ जादा !। [अत्र जाते !]

देव्यौ—अय्ये ! इमा म्ह। [आर्ये ! इमे स्वः।]

गान्धारी—अण्णेसह भत्तारं। [अन्वेषेथां भर्तारम्।]

देव्यौ—गच्छाम मन्दभाआ [गच्छावः मन्दभागे।]

राजा—व्रीडितः = लज्जितः॥

हृतमिति। गदापातकचग्रहे = गदापातपूर्वककेशाकर्षणे भीमसेनेन अद्य ऊरुद्वयेन समम् = सह मे = मम गुरोः = गुरुजनस्य अत्र धृतराष्ट्रस्य आक्षेपः सूचितः।' पादाभिवन्दनम्—पादयोः = चरणयोः अभिवन्दनम् = अभिवादनम् हृतम् = हृतवान्॥ ४१॥

राज— मैं अवश्य उत्तर देना चाह रहा हूँ पर इस वृत्तान्त से लज्जित हो गया हूँ।

धृतराष्ट्र—मेरे पुत्र आओ ! मेरा अभिवादन करो।

राजा—यह मैं आया। (उठने और गिरने का अभिनय करता है) अरे रे ! अफसोस ! यह मेरे ऊपर दूसरा प्रहार है। हाय ! बड़े कष्ट की बात है।

मेरे बालों को पकड़ तथा मेरे ऊपर गदा का प्रहार करके भीमने मेरी दोनों जंघाओं को ही नहीं बरबाद किया, बल्कि मुझे पिताजी के (गुरुजनों के) चरणों के अभिवादन से भी वंचित कर दिया॥ ४१॥

गान्धारी—पुत्रियो ! आओ।

देवियाँ—आर्ये ! हमलोग यहाँ हैं।

गान्धारी—अपने पतिदेव की तलाश करो।

देवियाँ—हमदोनों अभागिनी जा रही हैं।

धृतराष्ट्रः—क एष भो ! मम वस्त्रान्तमाकर्षन् मार्गमादेशयति ।

दुर्जयः—ताद ! अहं दुज्जओ । [तात ! अहं दुर्जयः)]

धृतराष्ट्रः—पौत्र दुर्जय ! पितरमन्विच्छ ।

दुर्जयः— ताद ! परिस्संतो खु अहं । [तात ! परिश्रान्तः खल्वहम् ।]

धृतराष्ट्रः—गच्छ, पितुरङ्के विश्रमस्य ।

दुर्जयः = ताद ! अहं गच्छामि । (उपसृत्य) ताद ! कहिं सि [तात ! अहं गच्छामि । तात क्वासि ।]

राजा—अयमप्यागतः । भोः ! सर्वावस्थायां हृदयसंनिहितः पुत्रस्नेहो मां दहति । कुतः,

> दुःखानामनभिज्ञो यो ममाङ्कशयनोचितः ।
> निर्जितं दुर्जयो दृष्ट्वा किन्नु मामभिधास्यति ॥ ४२ ॥

दुर्जयः—अअं महाराओ भूमीए उवविट्ठो । [अयं महाराजो भूम्यामुपविष्टः ।]

दुःखेति । यः दुःखानाम् अनभिज्ञः = अपरिचितः मम अङ्कशयनोचितः—अङ्कशयनस्य उचितः = अभ्यासी दुर्जयः मां निर्जितम् = पराजितम् दृष्ट्वा किन्नु अभिधास्यति = कथयिष्यति ॥ ४२ ॥

धृतराष्ट्र—अरे ! यह कौन है जो मेरे वस्त्र को खींचते हुए मार्ग दिखा रहा है ।

दुर्जय—दादाजी, मैं दुर्जय हूँ ।

धृतराष्ट्र—पौत्र दुर्जय ! पिताजी का पता लगाओ ।

दुर्जय—दादाजी, मैं सचमुच में थक गया हूँ ।

धृतराष्ट्र—जाओ, पिताजी की गोद में आराम करो ।

दुर्जय—दादाजी, मैं जा रहा हूँ (समीप जाकर) पिता जी, कहाँ हैं ?

राजा—यह भी आ गया । अफसोस !

सभी अवस्थाओं में हृदय में रहने वाला पुत्र के प्रति प्रेम मुझे जला रहा है । क्योंकि :—

दुःखों से अनभिज्ञ, मेरी गोद में शयन करने के योग्य दुर्जय मुझे पराजित देख अपने मन में क्या कहता होगा ? ॥ ४२ ॥

दुर्जय—ये महाराज तो भूमि पर बैठे हुए हैं ।

राजा—पुत्र किमर्थमिहागतः !

दुर्जयः—तुवं चिरायसि त्ति। [त्वं चिरासीति।]

राजा—अहो अस्यामवस्थायामपि पुत्रस्नेहो हृदयं दहति।

दुर्जयः—अहं पि खुदे अङ्के उववि‌सामि। (अङ्कमारोहति) [अहमपि खलु ते अङ्के उपविशामि।]

राजा—(निवार्य) दुर्जय ! दुर्जय ! भोः ! कष्टम्।

हृदयप्रीतिजननो यो मे नेत्रोत्सवः स्वयम्।
सोऽयं कालविपर्यासाच्चन्द्रो वह्नित्वमागतः॥ ४२॥

दुर्जयः—अङ्के उववेसं किण्णिमित्तं तुवं वारेसि। [अङ्क उपवेशं किन्निमित्तं त्वं वारयसि।]

राजा—

त्यक्त्वा परिचितं पुत्र ! यत्र तत्र त्वयास्यताम्।

हृदयेति। यः = दुर्जयः मे = मम हृदयप्रीतिजननः = हृदयस्य प्रीतिजननः = प्रेमजनकः, स्नेहवर्धको वा स्वयं नेत्रोत्सवः = नयनानन्दः स अयं चन्द्रः = चन्द्रवत् आनन्ददायकः कालविपर्यासात् = कालविपर्ययात् वह्नित्वम् = अग्निभावम् आगतः, अर्थात् अग्निरिव प्रदाहकारी संजातः इत्याशयः॥ ४२॥

त्यक्त्वेति। हे पुत्र पूर्वभुक्तम् परिचितम् 'मदीयम् अङ्कम्' त्यक्त्वा त्वया

राजा—बेटा, तुम यहाँ क्यों आए ?

दुर्जय—(क्योंकि) तुम देर कर रहे हो।

राजा—अहो ! इस दशा में भी पुत्र का स्नेह हृदय को जला रहा है।

दुर्जय—निःसंदेह मैं भी तुम्हारी गोद में बैठूँगा।

(गोद में बैठता है।)

राजा—(उसे दूर हटाकर) दुर्जय ! दुर्जय ! अरे रे ! अफसोस ! मेरे हृदय को जो आनंदित कर देता था और इन आँखों के लिए जो स्वयं उत्सव स्वरूप था वही यह चन्द्रमा आज समय के फेर से आग की तरह लग रहा है ! ।।

दुर्जय—क्यों आप गोद में बैठने से मुझे रोक रहे हो ?

राजा—हे पुत्र ! तू पहले का उपभोग किया हुआ और परिचित आसन को

अद्यप्रभृति नास्तीदं पूर्वमुक्तं तवासनम् ॥ ४४ ॥

दुर्जयः—कहिं णु हु महाराओ गमिस्सदि । [कुत्र नु खलु महाराजो गमिष्यति ।]

राजा—भ्रातृशतमनुगच्छामि ।

दुर्जयः—मं पि· तहिं णेहि । [मामपि तत्र नय ।]

राजा—गच्छ पुत्र ! एवं वृकोदरं ब्रूहि ।

दुर्जयः—एहि महाराअ ! अण्णसीअसि । [एहि महाराज ! अन्विष्यसे ।]

राजा—पुत्र केन ।

दुर्जयः—अय्याए अय्येण सव्वेण अन्तेउरेण अ । [आर्ययार्येण सर्वेणान्तःपुरेण च ।]

राजा—गच्छ पुत्र ! नाहमागन्तुं समर्थः ।

दुर्जयः—अहं तुमं णइस्सं । [अहं त्वां नेष्यामि ।]

राजा—बालस्तावदसि पुत्र !

यत्र तत्र आस्यताम् = उपविश्यताम् (यतः) अद्यप्रभृति = अद्यारभ्य इदम् आसनम् = अङ्कम् तव योग्यं नास्ति = तव अनुरूपं नास्तीति भावः ॥ ४४ ॥

छोड़ कर जहाँ कहीं चाहो वहाँ बैठ जा, क्योंकि आज से यह (गोद रूप आसन) तुम्हारे लायक नहीं रहा ॥ ४४ ॥

दुर्जय—महाराज कहाँ जाओगे ?

राजा—मैं अपने सौ भाइयों का अनुसरण करूँगा ।

दुर्जय—मुझे भी वहीं ले चलो ।

राजा—जा बेटा, भीम से ऐसा कहो ।

दुर्जय—आइये महाराज, आपकी तलाश हो रही है ।

राजा—कौन खोज कर रहा है बेटा ?

दुर्जय—पितामही, पितामह और अन्तःपुर का सारा स्त्रीसमाज ।

राजा—जाओ बेटा, मैं वहाँ तक जाने में असमर्थ हूँ ।

दुर्जय—मैं आपको ले चलूँगा ।

राजा—तुम तो निछक्के बालक हो बेटा ।

दुर्जयः—(परिक्रम्य) अय्या ! अअं महाराओ । [आर्याः ! अयं महाराजः ।]

देव्यौ—हा हा ! महाराओ ! [हा हा ! महाराजः ।]

धृतराष्ट्रः—क्वासौ महाराजः ।

गान्धारी—कहिं मे पुत्तओ । [कुत्र मे पुत्रकः ।]

दुर्जयः—अअं महाराओ भूमीए उवविट्ठो । [अयं महाराजो भूम्यामुपविष्टः ।]

धृतराष्ट्रः—हन्त भोः ! किमयं महाराजः ।

यः काञ्चनस्तम्भसमप्रमाणो लोके किलैको वसुधाधिपेन्द्रः ।
कृतः स मे भूमिगतस्तपस्वी द्वारेन्द्रकीलार्धसमप्रमाणः ॥ ४५ ॥

गान्धारी—जाद सुयोधण ! परिस्संतोसि । [जात सुयोधन ! परिश्रान्तोऽसि ।]

यः काञ्चनेति । यः - दुर्योधनः काञ्चनस्तम्भसमप्रमाणः—काञ्चनस्य = स्वर्णस्य स्तम्भसमम् = स्तम्भतुल्यम् प्रमाणम् यस्य सः अर्थात् सुवर्णनिर्मित स्तम्भतुल्य इत्यर्थः, लोके = भूमण्डले किलं = निश्चयेन एकः वसुधाधिपेन्द्रः = चक्रवर्ती राजा (आसीत्) स मे (पुत्रः) भूमिगतः = धराशायी, तपस्वी = वराकः, द्वारेन्द्रकीलार्धसमप्रमाणः—द्वारेन्द्रस्य = नगरस्य, गृहस्य वा प्रमुखद्वारस्य इत्याशयः, यः कीलः अर्गला तस्य अर्धम् = अर्धभागः तेन समम् प्रमाणं = परिमाणं यस्य सः (एवं) कृतः = संजातः ॥ ४५ ॥

दुर्जय—(घूमकर) माताओ ! महाराज यहाँ हैं ।

दोनों रानियाँ—हाय रे, हाय ! महाराज !

धृतराष्ट्र—महाराज कहाँ हैं ?

गान्धारी—मेरा पुत्र कहाँ है ?

दुर्जय—महाराज यहाँ हैं, जो भूमि पर पड़े हुए हैं ।

धृतराष्ट्र—अरे रे ! क्या यही महाराज हैं ? जो सोने के खम्भे की तरह नपे तुले शरीर वाला (मेरा पुत्र) निःसंदेह इस संसार में एक महान चक्रवर्ती राजा था, वही मेरा पुत्र आज तपस्वीरूप में भूमि पर पड़ा हुआ बड़े दरवाजे के कीले के अर्धभाग की तरह बना दिया गया है ॥ ४५ ॥

गान्धारी—पुत्र सुयोधन ! क्या तुम थक गए हो ?

राजा—भवत्याः खल्वहं पुत्रः ।

धृतराष्ट्रः—केयं भोः ! ।

गान्धारी—महाराज ! अहमभीदपुत्तप्पसविणी । [महाराज ! अहमभीतपुत्रप्रसविनी ।]

राजा—अद्योत्पन्नमिवात्मानमवगच्छामि । भोस्तात किमिदानीं वैक्लव्येन ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र कथमविक्लवो भविष्यामि ।

यस्य वीर्यबलोत्सिक्तं संयुगाध्वरदीक्षितम् ।
पूर्वं भ्रातृशतं नष्टं त्वय्येकस्मिन्हते हतम् ॥ ४६ ॥

गान्धारी—अभीतपुत्रप्रसविनी—अभीतपुत्राणाम् = भयशून्यपुत्राणाम् प्रसविनी = उत्पादिका इत्यर्थः ॥

राजा—वैक्लव्येन-विक्लवः = विह्वलः, शोकाभिभूत इत्यर्थः । 'विक्लवो विह्वलः स्यात्' इत्यमरः । विक्लवस्य भावः वैक्लव्यम् तेन वैक्लव्येन किम् ? अर्थात् न किमपि प्रयोजनं शोकेनेति भावः ।

यस्येति । यस्य वीर्यबलोत्सिक्तम्—वीर्यबलाभ्याम् उत्सिक्तम् = उद्धतम् संयुगाध्वरदीक्षितम्—संयुगः = संग्राम एव अध्वरः = यज्ञः तस्मिन् दीक्षितम् = प्रवीणम् भ्रातृशतम् पूर्वम् = त्वत् प्राक् नष्टम् एकस्मिन् त्वयि हते सर्वम् = सर्वस्वम् हतम् = विनष्टम् इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

राजा—मैं सचमुच में तुम्हारा पुत्र हूँ ।

धृतराष्ट्र—यह कौन है?

गान्धारी—महाराज ! निडर संतान को जन्म देनेवाली मैं गान्धारी हूँ ।

राजा—आज ही मेरा जन्म हुआ है ऐसा मैं समझ रहा हूँ । पिताजी, अब इस समय आप क्यों पाश्चात्ताप कर रहे हैं ?

धृतराष्ट्र—पुत्र ! मैं अपने क्लेशों को कैसे दूर करूँ ।

वीर्य तथा पराक्रम से उद्धत और संग्रामरूपी यज्ञ में दीक्षित जिसके सौ भाई पहले मृत्यु के मुख में डाल दिए गए हैं, किन्तु इस समय एक तुम्हारे ही मृत्यु से मेरा सब कुछ खो गया है ॥ ४६ ॥

(पतति ।)

राजा—हा धिक् । पतितोऽत्रभवान् । तात ! समाश्वासयात्रभवतीम् ।

धृतराष्ट्रः—पुत्र ! किमिति समाश्वासयामि ।

राजा—अपराङ्मुखो युधि हत इति । भोस्तात ! शोकनिग्रहेण क्रियतां ममानुग्रहः ।

त्वत्पादमात्रप्रणताग्रमौलिर्ज्वलन्तमप्यग्निमचिन्तयित्वा ।
येनैव मानेन समं प्रसूतस्तेनैव मानेन दिवं प्रयामि ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रः—

वृद्धस्य मे जीवितनिःस्पृहस्य निसर्गसंमीलितलोचनस्य ।

राजा—शोकनिग्रहेण—शोकस्य निग्रहेण = परित्यागेन इत्यर्थः ।

त्वदिति । त्वत्पादमात्रप्रणताग्रमौलिः—त्वत्पादमात्रे = त्वदीययुगलचरण-मात्रे प्रणतः = नतः अग्रमौलिः यस्य सः, येन एव मानेन समम् = सह प्रसूतः = प्रादुर्भूतः तेनैव मानेन (समम्) ज्वलन्तमपि अग्निम् अचिन्तयित्वा दिवम् = स्वर्गलोकम् प्रयामि = प्रयाणं करोमि ॥ ४७ ॥

वृद्धस्येति । जीवितनिःस्पृहस्य—जीविते = पुनरपि जीवनधारणे निःस्पृहस्य = निरभिलाषस्य, निसर्गसम्मीलितलोचनस्य—निसर्गेण = जन्मना सम्मीलिते

(गिर जाता है ।)

राजा—अरे ! आप गिर पड़े ! हे तात ! माताजी को सान्त्वना दें ।

धृतराष्ट्र—पुत्र ! मैं कैसे सान्त्वना दूँ ?

राजा—युद्ध से सबके सामने मारा गया हूँ (ऐसा जानकर) पिताजी, आप अपना शोक त्याग दें और मेरे ऊपर दया करें ।

आपके चरणों पर माथा टेकनेवाला मैं जिस मान के साथ पैदा हुआ उसी मान के साथ धधकती हुई अग्नि की भी परवाह किए बिना मैं स्वर्ग जा रहा हूँ ॥ ४७ ॥

धृतराष्ट्र—मैं वृद्ध हो गया हूँ, जिसमें जीवन की लालसा से हाथ धो बैठा हूँ और कुदरत ने जिसे जन्म से ही अन्धा बना रखता है, किन्तु अपने पुत्रों के प्रति

धृतिं निगृह्यात्मनि संप्रवृत्तस्तीव्रस्समाक्रामति पुत्रशोकः ॥ ४८ ॥

बलदेवः—भोः ! कष्टम् ।

दुर्योधननिराशस्य नित्यास्तमितचक्षुषः ।
न शक्नोम्यत्रभवतः कर्तुमात्मनिवेदनम् ॥ ४९ ॥

राजा—विज्ञापयाम्यत्रभवतीम् ।

गान्धारी—भणाहि जाद ! । [भण जात !]

राजा—नमस्कृत्य वदामि त्वां यदि पुण्यं मया कृतम् ।
अन्यस्यामपि जात्यां मे त्वमेव जननी भव ॥ ५० ॥

= उन्मीलिते लोचने = नयने यस्य तस्य, एवंभूतस्य वृद्धस्य मे = मम धृतिं = धैर्यं निगृह्य = प्रणाश्य आत्मनि संप्रवृत्तः = हृदये जनितः तीव्रः = प्रबलः पुत्रशोकः = पुत्रमरणवियोगः समाक्रामति = समन्तात् आक्रमणं करोति = संतापयति ॥४८॥

दुर्योधनेति । दुर्योधननिराशस्य दुर्योधनस्य जीवनं प्रति निराशस्य = आशारहितस्य नित्यास्तमितचक्षुषः—नित्यम् अस्तमिते निमीलिते चक्षुषी = लोचने यस्य तस्य अत्रभवतः = पूज्यधृतराष्ट्रस्येति भावः । आत्मनिवेदनम् कर्तुं न शक्नोमि = न समर्थोऽस्मि ॥ ४९ ॥

नमस्कृत्येति । त्वां नमस्कृत्य = प्रणम्य वदामि = निवेदयामि यदि मया पुण्यं कृतम् (तदा) अन्यस्यामपि = अन्यस्मिन्नपि जात्याम् = जन्मनि त्वम् मे मम जननी = माता भव ॥ ५० ॥

तीव्र शोक हृदय में उत्पन्न हो गया है, जो मेरी वीरता को विनष्ट कर के चारों ओर से आक्रमण कर रहा है ॥ ४८ ॥

बलदेव—अरे ! कितने दुःख की बात है !

दुर्योधन के जीवन से निराश और जन्म से अंधा पूज्य धृतराष्ट्र को मैं आत्मनिवेदन नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

राजा—अम्बा, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ ।

गान्धारी—कहो बेटा !

राजा—मैं प्रणाम करके तुमसे कहता हूँ कि यदि मेरा कुछ भी पुण्य हो तो, अगले जन्म में तू ही मेरी माँ बनो ॥ ५० ॥

गान्धारी—मम मणोरहो खु तुए भणिदो। [मम मनोरथः खलु त्वया भणितः ।]

राजा—मालवि ! त्वमपि श्रुणु ।

भिन्ना मे भ्रुकुटी गदानिपतितैर्व्यायुद्धकालोत्थितै-
वक्षस्युत्पतितैः प्रहाररुधिरैर्हारावकाशो हृतः ।
पश्येमौ व्रणकाञ्चनाङ्गदधरौ पर्याप्तशोभौ भुजौ
भर्ता ते नपराङ्मुखो युधि हतः किं क्षत्रिये ! रोदिषि ॥५१॥

देवी—बाला एसा सहधर्मचारिणी रोदामि। [बाला एषा सहधर्मचारिणी रोदिमि ।]

राजा—पौरवि ! त्वमपि शृणु !

भिन्नेति । मे = मम भृकुटी व्यायुद्धकालोत्थितैः-व्यायुद्धस्य=मल्लयुद्धस्य द्वन्द्व-युद्धस्य वा काले=समये उत्थितैः गदानिपतितैः=गदाप्रहारैः भिन्ना=विदारिता वक्षसि उत्पतितैः प्रहाररुधिरैः = गदाघातजनितरक्तैः हारावकाश—हारस्य अवकाशः स्थानं हृतः = अपहृतः, अर्थात् सर्ववक्षःस्थलं रक्ताप्लावितम् अस्तीति भावः, व्रण-काञ्चनाङ्गदधरैः—व्रण एव काञ्चनाङ्गदम् = सुवर्णनिर्मितकेयूरम् तस्य धरौ, पर्याप्तशोभौ = अतिसुशोभितौ इमौ भुजौ पश्य, ते = तव भर्ता युधि पराङ्मुखः सन् न हतः = मृत्युं प्राप्तः (अतः) हे क्षत्रिये ! किम् = कथं रोदिषि = विलपसि ॥५१॥

गान्धारी—निःसन्देह तुमने मेरे मन की जो बात कही।

राजा—मालवि! तुम भी सुनो ।

द्वन्द्व युद्ध के समय हुए गदा के प्रहार के कारण मेरी भौंहें छिन्न-भिन्न हो गई हैं, वक्षस्थल पर प्रहार होने से रुधिर का इतना संचार हो गया है कि हार के लिए कोई जगह नहीं है। व्रणरूपी सोना के बाजूबन्द को धारण करने से अत्यन्त सुशोभित इन दोनों भुजाओं को देखो। तुम्हारा पति युद्ध में पीठ दिखा कर नहीं मारा गया है, फिर भी हे क्षत्रियाणी ! तू क्यों रो रही है ? ॥ ५१ ॥

देवी—मैं फिर भी आपकी धर्मपत्नी हूँ, अभी अबोध बाला हूँ इसीलिए रो रही हूँ।

राजा—हे पौरवि ! तुम भी सुनो।'

वेदोक्तैर्विविधैर्मखैरभिमतैरिष्टं धृता बान्धवाः
शत्रूणामुपरि स्थितं प्रियशतं न व्यंसिताः संश्रिताः ।
युद्धेऽष्टादशवाहिनीनृपतयः संतापिता निग्रहे
मानं मानिनि ! वीक्ष्य मे न हि रुदन्त्येवंविधानां स्त्रियः ॥५२॥

पौरवी—एक्ककिदप्पवेसणिच्चआ ण रोदामि । [एककृतप्रवेशनिश्चया न रोदिमि ।]

राजा—दुर्जय ! त्वमपि श्रणु ।

धृतराष्ट्रः—गान्धारि ; किं नु खलु वक्ष्यति ।

वेदोक्तैरिति । वेदोक्तैः अभिमतैः = अभिलषितैः विविधैः मखैः = यज्ञैः इष्टम् = पूजितम् , बान्धवाः = सम्बन्धिनः धृताः = परिपोषिताः, आश्रिता वा, प्रियशतम्—प्रियाणाम्=दुःशासनादिभ्रातॄणां शतम् शत्रूणाम् उपरि स्थितम्=अधिकृतम् शासितं वा, अर्थात् शत्रवः पराभूता इति भावः । संश्रिताः—मदीयाश्रयीभूताः जनाः न व्यंसिताः = न परित्याजिताः युद्धे अष्टादशवाहिनीनृपतयः = अष्टादशानाम् (अक्षौहिणी) सैन्यानां संचालका भूपतयः इत्याशयः । निग्रहे = वन्दीगृहे संतापिताः (अतः) हे मानिनि ! एवंविधानाम्=मादृशानाम् वीरपुरुषाणाम् मानम् = अभिमानम् , गौरवम् वा वीक्ष्य = अवलोक्य, संस्मृत्य वा मे = मम स्त्रियः नहि रुदन्ति ॥ ५२ ॥

मैंने वेद में कहे हुए एवं शास्त्रों से अनुमोदित अनेकों यज्ञों के द्वारा देवताओं के द्वारा देवताओं की अर्चना की है, सगे सम्बन्धियों को आश्रय दिया, मेरे सौ भाइयों ने शत्रुओं पर अपना अधिकार कायम किया, तथा जो आश्रितों को हमेशा अपने पास रखा; अट्ठारह अक्षौहिणी सेना के अधिनायकों को बन्दी बनाकर उन्हें कष्ट पहुँचाया है, हे मानिनि ! इस प्रकार के गौरव को देखकर मेरे जैसे व्यक्ति के लिए तुम जैसी मानिनियों का विलाप करना उचित नहीं है ॥ ५२ ॥

पौरवी—(मैं आपके साथ) चिता की अग्नि में प्रवेश करने के लिए दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ इसलिये मैं रोती नहीं ।

राजा—दुर्जन, तुम भी सुनो ।

धृतराष्ट्र—गांधारि ! वास्तव में वह क्या कहेगा ।

गान्धारी—अहं पि तं एव्व चिन्तेमि । [अहमपि तदेव चिन्तयामि ।]

राजा—अहमिव पाण्डवाः शुश्रूषयितव्याः तत्रभवत्याश्चाम्बायाः कुन्त्या निदेशो वर्तयितव्यः । अभिमन्योर्जननी द्रौपदी चोभे मातृवत्पूजयितव्ये । पश्य यत्र !

श्लाघ्यश्रीरभिमानदीप्तहृदयो दुर्योधनो मे पिता
तुल्येनाभिमुखं रणे हत इति त्वं शोकमेवं त्यज ।
स्पृष्ट्वा चैवं युधिष्ठिरस्य विपुलं क्षौमापसव्यं भुजं
देयं पाण्डुसुतैस्त्वया मम समं नामावसाने जलम् ॥५३॥

पौरवीति । एककृतप्रवेशनिश्चया—एकः = समानः कृतः प्रवेशनिश्चयः = अग्निप्रवेशनिश्चयः, चितारोहणनिश्चयो वा यया सा ।

राजा—निदेशः = निर्देशः, शासनं वा वर्तयितव्यः = शिरोधार्यः, अनुपालनीयो वा ॥

श्लाघ्येति । श्लाघ्यश्रीः—श्लाघ्या श्रीः = शरीरशोभा (संपत् वा) यस्य सः, अभिमानदीप्तहृदयः—अभिमानेन = आत्मगौरवेण दीप्तम् = देदीप्यमानम् हृदयं यस्य सः, (एवंभूतः) मे = मम पिता दुर्योधनः रणे = समराङ्गणे तुल्येन = समानबलेन (भीमेनेति शेषः) अभिमुखं हतः इति त्वम् एवं (मनसि संस्मृत्य) शोकं त्यज । युधिष्ठिरस्य विपुलं क्षौमापसव्यम् = क्षौमेण = दुकूलेन 'दुपट्टा' इति भाषायम् 'क्षौमं दुकूलं स्यात्' इत्यमरः । आच्छादितम् अपसव्यम् = दक्षिणशरीरभागम् इत्यर्थः । एतादृशं भुजं च एवं स्पृष्ट्वा त्वया पाण्डुसुतैः समम् = सह मम

गान्धारी—मैं भी ऐसा ही सोच रही हूँ ।

राजा—मेरे समान ही पाण्डवों की भी तू सेवा करना, पूजनीया माता कुन्ती की आज्ञा मानना; अभिमन्यु की माता और द्रौपदी को अपनी माँ की तरह पूजन करना । देखो बेटा !

प्रशंसनीय वैभव वाला, अभिमान से देदीप्यमान हृदय वाला मेरा पिता दुर्योधन युद्ध में अपनी बराबरी वाले (भीम) के साथ सब के समक्ष मार दिया गया—यह विचार कर तू शोक त्याग दे । मेरी मृत्यु के बाद युधिष्ठिर के विशाल रेशमी वस्त्र से ढँके हुए दाहिने हाथ को स्पर्श कर के तू पाण्डु के पुत्रों के साथ तर्पण के समय मेरे नामोच्चरण बाद जलाञ्जलि अर्पण करना ॥ ५३ ॥

बलदेवः—अहो वैरं पश्चात्तापः संवृत्तः। अये शब्द इव।

सन्नाहदुन्दुभिनिनादवियोगमूके
विक्षिप्तबाणकवचव्यजनातपत्रे।
कस्यैष कार्मुकरवो हतसूतयोधे
विभ्रान्तवायसगणं गगनं करोति॥ ५४॥

(नेपथ्ये)

दुर्योधनेनाततकार्मुकेण यो युद्धयज्ञः सहितः प्रविष्टः।
तमेव भूयः प्रविशामि शून्यमध्वर्युणा वृत्तमिवाश्वमेधम्॥ ५५॥

नामावसाने = पितृनुद्दिश्य नामोच्चारणसमये इत्यर्थः। जलम् = तर्पणजलम् देयम्॥

सन्नाहेति। सन्नाहदुन्दुभिनिनादवियोगमूके—सन्नाहाश्च पटहाश्च दुन्दुभयश्च तेषां निनादस्य = शब्दस्य वियोगेन = अभावेन मूके = निःस्तब्धे, विक्षिप्तबाणकवचव्यजनातपत्रे = विक्षिप्तानि बाणश्च कवचश्च चामरञ्च=आतपत्रं च=छत्रं च तानि बाणकवचव्यजनातपत्राणि यत्र तस्मिन्, हतसूतयोधे = विनष्टसारथिसैनिके कस्य एषः कार्मुकरवः—कार्मुकस्य = धनुषः रवः = टङ्कारः गगनम् = आकाशमण्डलम् विभ्रान्तवायसगणम्—विभ्रान्तः = भयभीतः वायसगणः = काकसमूहः यस्मिन् तत्, करोति॥ ५४॥

दुर्योधनेनेति। आततकार्मुकेण—आततम् = सज्जीकृतं कार्मुकम् = धनुः येन सः तेन दुर्योधनेन सहितः यः युद्धयज्ञः = युद्धरूपी यज्ञः प्रविष्टः = प्रवेशितवान्

बलदेव—अहो! शत्रुता तो पश्चात्ताप में परिणत हो गई! अरे! कुछ शब्द सा हो रहा है!

युद्ध कवच (नगाड़ा ?) और दुन्दुभी की आवाज बन्द हो जाने के कारण (युद्ध क्षेत्र) शान्त हो जाने पर, बाण, कवच, छत्र और चामरों के चारो ओर बिखर जाने और, सारथी तथा योद्धाओं के विनष्ट हो जाने पर किसके धनुष का रव (आवाज) आकाश-मण्डल कौरवों से त्रस्त बना रहा है॥ ५४॥

(नेपथ्य में)

धनुष पर डोरी चढ़ाए हुए दुर्योधन के साथ जिस युद्ध रूप यज्ञ में प्रवेश किया था आज फिर उसी युद्ध में ठीक वैसे ही प्रवेश करता हूँ जैसे कोई व्यक्ति अध्वर्यु (पुरोहित) के द्वारा पूर्ण किए गए यज्ञ में पदार्पण करता है॥ ५५॥

बलदेवः—अये अयं गुरुपुत्रोऽश्वत्थामेत एवाभिवर्तते। य एषः,

स्फुटितकमलपत्रस्पष्टविस्तीर्णदृष्टी
रुचिरकनकयूपव्यायतालम्बबाहुः।
सरभसमयमुग्रं कार्मुकं कर्षमाणः
सदहन इव मेरुः शृङ्गलग्नेन्द्रचापः॥ ५६॥

(ततः प्रविशत्यश्वत्थामा।)

अश्वत्थामा—(पूर्वोक्तमेव पठित्वा) भो भोः! समरसंरम्भोभयबल-

तमेव, शून्यम् भूयः अध्वर्युणा = पुरोहितेन वृत्तम् = परिसमाप्तम् अश्वमेधमिव प्रविशामि॥ ५५॥

स्फुटितेति। स्फुटितकमलपत्रस्पष्टविस्तीर्णदृष्टिः—स्फुटितानि = विकसितानि कमलपत्राणि तद्वत् स्पष्टे विस्तीर्णे च दृष्टी = लोचने यस्य सः, रुचिरकनयूपव्यायतालम्बबाहुः— रुचिरौ = रमणीयौ कनकयूप इव = सुवर्णनिर्मितयज्ञस्तम्भ इव व्यायतौ = विशालौ आलम्बौ बाहू यस्य सः, उग्रं = भयंकरम् कार्मुकम् सरभसम = वेगपूर्वकम् यथा स्यात्तथा कर्षमाणः शृङ्गलग्नेन्द्रचापः—शृङ्गे=शिखरे लग्नः इन्द्रचापः = इन्द्रधनुः यस्य सः, सदहनः = प्रज्वलयमानः मेरुः इव = सुमेरुपर्वत इव अयम् (प्रतीयते इति शेषः)॥ ५६॥

अश्वत्थामा। समरसंरम्भोभयबलजलधिसंगमसमयमुत्थितशत्रुनक्रकृत्त-विग्रहाः—समराय = संग्रामाय समरे वा संरम्भः ययोस्ते उभयबले = कौरव-

---

बलदेव—अरे ! यह गुरुपुत्र अश्वत्थामा इधर ही आ रहे हैं। जो यह (अश्वत्थामा)।

विकसित कमल की पंखुड़ियों की भाँति जिनकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, रुचिर सुवर्ण के यज्ञस्तम्भ की तरह जिनकी बाहें मजबूत एवं लम्बी हैं; जो अपना कठोर धनुष बड़ी तेजी से खैंच रहा है, जिनके शिखर पर इन्द्रधनुष स्थित है ऐसे जलते हुए सुमेरु पर्वत की भाँति लग रहा है॥ ५६॥

(इसके बाद अश्वत्थामा का प्रवेश)

अश्वत्थामा—(दुर्योधन''''''इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक को ही पढ़कर) भो, भो ! अरे ! युद्ध की उत्कंठा रखने वाले राजाओं ! तुम्हारी देह युद्ध के उत्साह से

जलधिसङ्गमसमयसमुत्थितशस्त्रनक्रकृत्तविग्रहाः स्तोकावशेषश्वासानुबद्धमन्दप्राणाः समरश्लाघिनो राजानः शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः।

छलबलदलितोरुः कौरवेन्द्रो न चाहं
शिथिलविफलशस्त्रः सूतपुत्रो न चाहम्।
इह तु विजयभूमौ द्रष्टुमद्योद्यतास्त्रः
सरभसमहमेको द्रोणपुत्रः स्थितोऽस्मि॥ ५७॥

पाण्डवयोः सैन्यबले एव जलधी = सागरौ तयोः संगमस्य समये = अर्थात् परस्परसंमिलनसमये समुत्थितानि शस्त्राणि = आयुधानि एव नक्राः = जलचरजीवविशेषाः तैः कृताः = विदारिताः विग्रहाः = शरीरावयवाः येषां ते तथा, स्तोकावशेषश्वासानुबद्धमन्दप्राणाः— स्तोकावशेषाः = अल्पमात्रावशेषाः श्वासेन अनुबद्धाः मन्दप्राणाः येषां ते, समरश्लाघिनः— समरं समरे वा श्लाघिनः = प्रशंसनीयाः॥

छलबलेति। अहम् छलबलदलितोरुः— छलबलेन = कपटेन दलितौ ऊरू = जङ्घे यस्य सः, एवंभूतः कौरवेन्द्रः = दुर्योधनः न (अस्मि), अहम् शिथिलविफलशस्त्रः— शिथिलानि (तथा) विफलानि = निष्फलानि (शत्रुसंहरणे इति शेषः) शस्त्राणि यस्य सः, अर्थात् परशुरामशापवशेन कुण्ठितास्त्र इति भावः। एतादृशः सूतपुत्रः = कर्णश्च न (अस्मि), तु = किन्तु अहम् अद्य इह = अस्मिन् विजयभूमौ उद्यतास्त्रः = अस्त्रशस्त्रेण सुसज्जितः इत्यर्थः। द्रोणपुत्रः = अश्वत्थामा सरभसम् द्रष्टुम् = कमपि योद्धारमन्वेष्टुमिति भावः। एकः = एकाकी स्थितः (अस्मि)॥ ५७॥

(भरे हुए) दोनों दल (कौरव तथा पाण्डव) के सैन्यरूपी समुद्र के संगम (मुठभेड़) के समय ऊपर की ओर उछलते हुए शस्त्ररूपी मगरमच्छ से छिन्न-भिन्न कर दी गई है और श्वास बहुत थोड़े बचे रहने के कारण तुम्हारे प्राण मंद हो गए हैं। (ऐसी स्थिति में) आप लोग सुनें।

जिसकी जंघा छल से तोड़ दी गई है ऐसा मैं दुर्योधन नहीं हूँ, ढीले और निष्फल शस्त्रवाला मैं सूतपुत्र (कर्ण) नहीं हूँ, बल्कि इस विजयभूमि पर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित मैं द्रोणपुत्र (अश्वत्थामा) हूँ, जो किसी लड़ाकू योद्धा की खोज में आज अकेले खड़ा हूँ॥ ५७॥

किमनया ममाप्यप्रतिलाभविजयश्लाघया समरश्रिया । (परिक्रम्य) मा तावत् । मयि गुरुनिवपनव्यग्रे वञ्चितः किल कुरुकुलतिलकभूतः कुरुराजः । क एतच्छ्रद्धास्यति । कुतः,

उद्यत्प्राञ्जलयो रथद्विपगताश्चापद्वितीयैः करै-
र्यस्यैकादशवाहिनीनृपतयस्तिष्ठन्ति वाक्योन्मुखाः ।
भीष्मो रामशरावलीढकवचस्तातश्च योद्धा रणे
व्यक्तं निर्जित एव सोऽप्यतिरथः कालेन दुर्योधनः ॥५८॥

अप्रतिलाभविजयश्लाघया—अविद्यमानः प्रतिलापः यस्यां सा एवंभूता विजयश्लाघा = विजयप्रशंसा यस्याः सा तया (समरश्रिया इति शेषः)। गुरुनिवपनव्यग्रे—गुरवे = मृतपित्रे द्रोणाचार्याय निवपने = तिलाञ्जलिप्रदाने, पिण्डदाने वा व्यग्रे सति कुरुकुलतिलकभूतः = कुरुवंशशिरोभूषणः कुरुराजः=दुर्योधनः वञ्चितः= प्रतारितः ॥

उद्यदिति । रथद्विपगताः—रथद्विपेषु = रथगजेषु गताः = आरूढाः, चापद्वितीयैः चापः = धनुः द्वितीयः = सहायः येषां तैः एतादृशैः । करैः = हस्तैः उद्यत्प्राञ्जलयः—उद्यन्तः = उत्थापितवन्तः प्रांजलयः = पाणिपुटाः येषां ते एकादशवाहिनीनृपतयः यस्य = दुर्योधनस्य वाक्योन्मुखाः—आज्ञापालने तत्परा इत्यर्थः तिष्ठन्ति, रामशरावलीढकवचः—रामस्य = परशुरामस्य शरैः = बाणैः अवलीढः = जर्जरितः विद्धो वा कवचः यस्य सः, भीष्मः योद्धा तातश्च = मदीयपिता च रणे = संग्रामे (यस्य पक्षे इमौ द्वौ संरक्षकौ भूत्वा

लाभरहित विजय की प्रशंसावाली मेरी इस समर-लक्ष्मी से क्या फल ? (घूमकर) नहीं, ऐसा नहीं । जब कि मैं श्रीपिताजी को तिलाञ्जलि देने में व्यग्र था तभी कुरुकुलभूषण महाराज (दुर्योधन) को धोखा दिया गया, लेकिन इसे कौन मानेगा ? क्योंकि :—

रथ और हाथियों पर चढ़े हुए, हाथ में धनुष लिए हुए ग्यारह अक्षौहिणी (सेना) वाले राजालोग जिसकी आज्ञा को पालन करने के लिए हाथ जोड़कर तत्पर रहते थे, परशुराम के बाणों से जिनका कवच जर्जरित हो गया है ऐसा भीष्म और महाबली श्री पिताजी (जिनकी ओर से लड़ रहे थे) ऐसा महान वीर दुर्योधन भी वास्तव में काल के प्रभाव से जीता गया। ॥ ५८ ॥

तत् क नु खलु गतो गान्धारीपुत्रः । (परिक्रम्यावलोक्य) अये अयमभिहतगजतुरगनररथप्राकारमध्यगतः समरपयोधिपारगः कुरुराजः । य एषः,

मौलीनिपातचलकेशमयूखजालै-
र्गात्रैर्गदानिपतनक्षतशोणिताद्रैंः ।
भात्यस्तमस्तकशिलातलसंनिविष्टः
सन्ध्यावगाढ इव पश्चिमकालसूर्यः ॥ ५९ ॥

आस्ताम्) सोऽपि अतिरथः=अतिक्रान्ताः रथिनः येन सः, दुर्योधनः अपि कालेन =कालप्रभावेण, समयवैपरीत्येन वा व्यक्तमेव = सुनिश्चितमेव निर्जितः = पराजितः ॥ ५८ ॥

तदिति । गान्धारीपुत्रः = दुर्योधनः समरपयोधिपारगः—समरः = समरभूमिः एव पयोधिः = समुद्रः तस्य पारगः = पारं गच्छतीत्यर्थः ॥

मौलीति । मौलीनिपातचलकेशमयूखजालैः—मौल्याः = मुकुटस्य निपातेन चलाः = चंचला विकीर्णाः केशा एव मयूखजालानि = किरणसमूहाः तैः । गदानिपतनक्षतशोणिताद्रैंः—गदायाः निपतनेन = प्रहारेण यानि क्षतानि = व्रणस्थानानि तेभ्यः निस्सृतं यत् शोणितम्=रक्तम् तेन आर्द्रैः गात्रैः=शरीरैः । अस्तमस्तकशिलातलसन्निविष्टः—अस्तमस्तकस्य = अस्ताचलस्य शिलातलेषु सन्निविष्टः = संश्लिष्टः इत्यर्थः । संध्यावगाढः = संध्यया = संध्याकालीनरागेण इत्यर्थः । अवगाढः = अवलिप्तः पश्चिमकालसूर्यः—दिवान्तसूर्य इव, अस्तकालीन सूर्य इव वा । भाति = प्रकाशीभवतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

तब गान्धारीपुत्र (दुर्योधन) कहाँ चला गया । (घूमकर और देखकर) अरे ! मरे हुए हाथी, घोड़े, मनुष्य और रथों की चहारदीवारी के बीच में, समररूपी समुद्र को पार करने वाला यह दुर्योधन स्थित है । जो यह,

मुकुट के गिरने से चंचल केश सूर्य की किरणों की तरह लग रहे हैं, गदा के प्रहार के कारण (जिखमी बने) घावों के बहते खून से लथपथ शरीर, अस्ताचलपर्वत के शिखर के ऊपरी भाग पर आधारित, संध्या के रंग में डूबते हुए सूर्य की भांति दिखाई पड़ रहा है ॥ ५९ ॥

(उपसृत्य) भोः कुरुराज ! किमिदम् ।

राजा—गुरुपुत्र ! फलमपरितोषस्य !

अश्वत्थामा—भोः कुरुराज ! सत्कारमूलमावर्जयिष्यामि ।

राजा—किं भवान् करिष्यति ।

अश्वत्थामा—श्रूयताम् ।

युद्धोद्यतं गरुडपृष्ठनिविष्टदेह-
मष्टार्धभीमभुजमुद्यतशार्ङ्गचक्रम् ।
कृष्णं सपाण्डुतनयं युधि शस्त्रजालैः
संकीर्णलेख्यमिव चित्रपटं क्षिपामि ॥ ६० ॥

अपरितोषस्य = असंतोषस्य ।

सत्कारमूलम्—सत्कारस्य मूलमेव । आवर्जयिष्यामि = उपहारेण समर्पयामि इत्याशयः ।

युद्धोद्यतमिति । युद्धोद्यतम् गरुडपृष्ठनिविष्टदेहम्—गरुडस्य पृष्ठे निविष्टो देहः येन तम् , अष्टार्धभीमभुजम्—अष्टार्धाः = चत्वारः भीमाः = भयोत्पादकाः भुजा यस्य तम् , उद्यतशार्ङ्गचक्रम्—शार्ङ्गम् च = धनुश्च चक्रम् च = चक्रसुदर्शनं च इति शार्ङ्गचक्रे उद्यते शार्ङ्गचक्रे यस्य तम् , सपाण्डुतनयम्—पाण्डुपुत्रसहितमित्यर्थः, कृष्णम् सङ्कीर्णलेख्यम् चित्रपटम् इव युधि क्षिपामि = प्रक्षिपामि ॥ ६० ॥

(पास में जाकर)

हे कुरुराज ! यह क्या ?

राजा—आचार्यपुत्र ! यह तो मेरे असंतोष का फल है ।

अश्वत्थामा—हे कुरुराज ! मैं आपके सत्कार के लिए अपेक्षित सामग्री प्रस्तुत करूँगा ।

राजा—आप क्या करेंगे ?

अश्वत्थामा—सुनिये ।

युद्ध के लिए तत्पर गरुड की पीठ पर चढ़े हुए, भयंकर चार भुजावाले धनुष और चक्र को धारण करनेवाले, पाण्डुपुत्रों के साथ कृष्ण को, युद्ध में शस्त्र के समूह से संकीर्ण चित्र वाले चित्रपट की भाँति नष्ट कर डालूँगा ॥ ६० ॥

राजा—मा मा भवानेवम् ।

गतं धात्र्युत्संगे सकलमभिषिक्तं नृपकुलं
गतः कर्णः स्वर्गं निपतिततनुः शन्तनुसुतः ।
गतं भ्रातॄणां मे शतमभिमुखं संयुगमुखे
वयं चैवंभूता गुरुसुत ! धनुर्मुञ्चतु भवान् ॥ ६१ ॥

अश्वत्थामा—भोः कुरुराज !

संयुगे पाण्डुपुत्रेण गदापातकचग्रहे ।
सममूरुद्वयेनाद्य दर्पोऽपि भवतो हृतः ॥ ६२ ॥

राजा—मा मैवम् । मानशरीरा राजानः । मानार्थमेव मया निग्रहो गृहीतः । पश्य गुरुपुत्र !

गतमिति । अभिषिक्तम् = युवराजपदे प्रतिष्ठितमित्यर्थः । सकलम् = सर्वनृपकुलम् = राजवंशः, धात्र्युत्संगे = पृथिवीतले, रसातले वा गतम्, कर्णः स्वर्गं गतः, शंतनुसुतः = भीष्मपितामहः । निपतिततनुः = भूमौ पतितशरीरः, शरशय्यारूढः मे = मम भ्रातॄणाम् शतम् = बन्धुशतम् अभिमुखम् = प्रत्यक्षमेव संयुगमुखे = रणमध्ये गतम् = मृत्युं प्राप्तम् वयं च एवंभूताः (अतएव) हे गुरुसुत ! हे गुरुपुत्र भवान् धनुः मुञ्चतु = त्यजतु ॥ ६१-६२ ॥

निग्रहः = संग्रामः, गृहीतः = रचितः इति भावः ।

राजा—नहीं, ऐसा न कहें ।

सम्पूर्ण राजवंश, जिनका अभिषेक हो चुका था पृथ्वी की गोद में सो गया है, कर्ण स्वर्ग चला गया, शन्तनुपुत्र (भीष्म) का शरीर भी पृथ्वी पर पड़ा है; मेरे सौ भाई युद्ध में सबके सामने ही मार डाले गये और हम स्वयं इस हालत में गुजर रहे हैं । आचार्यपुत्र ! अब आप धनुष को त्याग दें ॥ ६१ ॥

अश्वत्थामा—हे कुरुराज !

आज पाण्डुपुत्र भीमसेन ने जिस संग्राम में गदा की वार करने के साथ ही साथ तुम्हारे केशों को पकड़ा और तुम्हारी दोनों जंघाओं के साथ ही तुम्हारा गर्व भी हर लिया (अर्थात् चूर-चूर कर दिया) ॥ ६२ ॥

राजा—नहीं, नहीं । मान ही तो राजाओं का शरीर कहलाता है और एक मात्र मान के लिए ही मैंने युद्ध ठाना; देखो आर्यपुत्र —

यत्कृष्टा करनिग्रहाञ्चितकचा द्यूते तदा द्रौपदी
यद्बालोऽपि हतस्तदा रणमुखे पुत्रोऽभिमन्युः पुनः ।
अक्षव्याजजिता वनं वनमृगैर्यत्पाण्डवाः संश्रिता
नन्वल्पं मयि तैः कृतं विमृश भो ! दर्पाहतं दीक्षितैः ॥६३॥

अश्वत्थामा—सर्वथा कृतप्रतिज्ञोऽस्मि ।

भवता चात्मना चैव वीरलोकैः शपाम्यहम् ।
निशासमरमुत्पाद्य रणे धक्ष्यामि पाण्डवान् ॥ ६४ ॥

यदिति । यत् करनिग्रहाञ्चितकचाः—कराभ्यां = हस्ताभ्यां निग्रहः = बलपूर्वकं यथा स्यात्तथा आकर्षणं येषां ते, अंचिताश्च = कुटिलाश्च रमणीयाश्च वा ते कचाश्च = अलकाश्च करनिग्रहाः अंचितकचाः यस्याः सा एतादृशी द्रौपदी द्यूते कृष्टा = आनीता, पुत्रः अभिमन्युः तदा रणमुखे = युद्धमध्ये यत् हतः, अक्षव्याजजिताः = द्यूतक्रीडाव्याजेन पराभूताः पाण्डवाः, वनमृगैः = वन्य-जन्तुभिः (सह) वनं यत् संश्रिताः, भो ! तैः दीक्षितैः = रणयज्ञे दीक्षितैः, अर्थात युद्धप्रवीणैरित्यर्थः, मयि दर्पाहतम्—दर्पस्य आहतम् = आहरणम् मानभंगो वा कृतम् (तत्) ननु = निश्चयेन अल्पमेव (कृतम्) एवं विमृश = (त्वं) विचारय ॥ ६३ ॥

भवतेति । भवता आत्मना वीरलोकैश्च = महाभटैश्च एव शपामि = शपथं करोमि (यत्) अहम् निशासमरम् = रात्रियुद्धम् उत्पाद्य = कृत्वा, पाण्डवान् धक्ष्यामि = संहरिष्यामि, ज्वलयिष्यामि इति वा ॥ ६४ ॥

मैंने दोनों हाथों से बालों को पकड़े हुए द्रौपदी को द्यूत-सभा में घसीट कर लाया, युद्ध में अभिमन्यु के प्राणों का संहार किया और जुआ में पाण्डवों को छल से जीत कर उन्हें जंगल में वनैले पशुओं के साथ आश्रय दिया, इतना होने पर भी रणविद्या में दीक्षित पाण्डवों ने मेरा जो मान-मर्दन किया वह अपेक्षाकृत थोड़ा ही है । इसे आप (स्वयं) विचार कीजिए ॥ ६३ ॥

अश्वत्थामा—मैं सब प्रकार से दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ ।

मैं अपना, आपकी और वीर पुरुषों की सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैं रात्रि-युद्ध करके पाण्डवों का विध्वंस कर डालूँगा ॥ ६४ ॥

बलदेवः—एतद्भविष्यत्युदाहृतं गुरुपुत्रेण ।

अश्वत्थामा—हलायुधोऽत्रभवान् ।

धृतराष्ट्रः—हन्त ! साक्षिमती खलु वञ्चना ।

अश्वत्थामा—दुर्जय ! इतस्तावत् ।

पितृविक्रमदायाद्ये राज्ये भुजबलार्जिते ।
विनाभिषेकं राजा त्वं विप्रोक्तैर्वचनैर्भव ॥ ६५ ॥

राजा—हन्त ! कृतं मे हृदयानुज्ञातम् । परित्यजन्तीव मे प्राणाः । इमेऽत्रभवन्तः शन्तनुप्रभृतयो मे पितृपितामहाः । एतत्कर्णमग्रतः कृत्वा समुत्थितं भ्रातृशतम् । अयमप्यैरावतशिरोविषक्तः काकपक्षधरो महेन्द्रकरतलमवलम्ब्य क्रुद्धोऽभिभाषते मामभिमन्युः । उर्वश्यादयोऽ-

---

उदाहृतम् = उक्तम् ।

पितृविक्रमेति । त्वं पितृविक्रमदायाद्ये—पितुः विक्रमः = पराक्रमः एव दायाद्यः = दायभागः यस्मिन् तस्मिन् , भुजबलार्जिते = बाहुबलोपार्जिते राज्ये अभिषेकं विना विप्रोक्तैः वचनैः राजा भव ॥ ६५ ॥

राजेति । ऐरावतशिरोविषक्तः—ऐरावतस्य शिरसि विषक्तः = उपारूढः इत्यर्थः । महेन्द्रकरतलम् = इन्द्रकरतलम् महार्णवाः = महासागराः । सहस्र-

---

बलदेव—जो कुछ आर्यपुत्र ने कहा है निःसंदेह वही होगा।

अश्वत्थामा—यही तो पूज्य बलदेवजी हैं।

धृतराष्ट्र—हाय ! वंचना (धोखाबाजी) भी बलदेव जी के समक्ष ही की गई है।

अश्वत्थामा—दुर्जय, यहाँ आओ।

तू पिता के पुरुषार्थ से उपलब्ध पैतृक संपत्ति तथा बाहुबल से अर्जित इस राज्य में अभिषेक के बिना विप्र (मुझ अश्वत्थामा) के वचनों से राजा होवो (अर्थात् राज्य का अधिकारी बनो।) ॥ ६५ ॥

राजा—वाह ! मेरे मन की बात पूरी हुई। मेरे प्राण मानों अब निकलने ही वाले हैं। ये शन्तनु आदि मेरे परमपूज्य पितामह हैं। ये मेरे सौ भाई हैं, जो कि कर्ण को आगे करके खड़े हुए हैं। ऐरावत हाथी के ऊपर बैठा हुआ, काकपक्ष धारण करने वाला, इन्द्र के हाथों का सहारा लेकर क्रोधी अभिमन्यु मुझ से

प्सरसो मामभिगताः। इमे महार्णवा मूर्तिमन्तः। एता गंगाप्रभृतयो महानद्यः। एष सहस्रहंसप्रयुक्तो मां नेतुं वीरवाही विमानः कालेन प्रेषितः। अयमयमागच्छामि। (स्वर्गं गतः।)

(यवनिकास्तरणं करोति।)

धृतराष्ट्रः—

यामि्येष सज्जनधनानि तपोवनानि
पुत्रप्रणाशविफलं हि धिगस्तु राज्यम्।

अश्वत्थामा—

यातोऽद्य सौप्तिकवधोद्यतबाणपाणिः

हंसप्रयुक्तः—सहस्रहंसैः प्रयुक्तः = युक्तः वीरवाही = वीरवहनयोग्यः। कालेन = यमराजेन॥

यामीति। एषः (अहम्) सज्जनधनानि = सज्जनानां धनानि, अथवा सज्जनाः = सत्पुरुषा एव धनानि येषु तानि (एवंभूतानि) तपोवनानि यामि, हि = यतः पुत्रप्रणाशविफलम्—पुत्राणां प्रणाशेन = विनाशेन विफलम् = निष्फलम् राज्यम् धिक् अस्तु॥

यात इति। अद्य = अधुना एव सौप्तिकवधोद्यतबाणपाणिः—सुप्तौ =

कुछ कह रहा है। उर्वशी आदि अप्सराएँ मुझे चारों ओर से घेर ली हैं। ये शरीरधारी महासागर; ये गंगा आदि महानदियाँ। यह सहस्र हंस से युक्त, वीरों को वहन करने वाला धर्मराज के द्वारा पठाया हुआ विमान मुझे लेने के लिये (प्रस्तुत) है। यह, यह मैं आया।

(स्वर्ग को जाता है।)

(परदा गिर जाता है।)

धृतराष्ट्र—मैं सज्जनों के धनरूप तपोवन को जा रहा हूँ, क्योंकि पुत्रों के विनाश से निष्फल मेरे इस राज्य को धिक्कार है।

अश्वत्थामा—आज ही शयन किए हुए पाण्डुपुत्रों के वध के लिये सुसज्जित बाणों को हाथ में लेकर जा रहा हूँ।

(भरतवाक्यम्)

बलदेवः—गां पातु नो नरपतिः शमितारिपक्षः ॥ ६६ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

ऊरुभङ्गं नाम नाटकं समाप्तम् ॥



-सुप्तिकाले भवः, अथवा सुप्तिकाले = रात्रौ कृतः सौप्तिकः, सौप्तिकानाम् = शयन-गतानां पाण्डुपुत्राणाम् वधाय उद्यतः बाणः पाणौ = हस्ते यस्य सः तथा ।

गामिति । शमितारिपक्षः—शमितः = विनाशितः अरिपक्षः = शत्रुवर्गः, (बलम्) येन असौ नः = अस्माकम् नरपतिः = राजा गाम् = पृथिवीमण्डलम् , पातु = रक्षतु, शास्तु वा ॥ ६६ ॥

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः



(भरत वाक्य)

बलदेव—शत्रु-पक्ष का विनाश करने वाला हमारा राजा पृथ्वी का पालन करे ॥ ६६ ॥

(सब के सब चले जाते हैं ।)

ऊरुभंग नामक नाटक समाप्त ।



(७)

अभिषेकनाटकम्

व्याख्याकार :—

आचार्य रामचन्द्र मिश्र

भासनाटकचक्रे

अभिषेकनाटकम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

(नान्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः—

यो गाधिपुत्रमखविघ्नकराभिहन्ता
युद्धे विराधखरदूषणवीर्यहन्ता ।

भूतेशे नियमाय मौनिनि गते दूरं क्वचिन्नन्दिनि
म्लाने बालविधौ तथामृतभुजां सिन्धौ भजन्त्यां क्रुधम् ।
यस्मिन् हेमवती बबन्ध विविधां भावानुबन्धोद्धुरां
चेतोवृत्तिमसौ कृषीष्ट कुशलं देवो द्विपेन्द्राननः' ॥
श्रद्धानतेन शिरसा पितरं मधुसूदनम् ।
प्रसूं जयमणिं चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥

रूपकरचनाचतुरो महाकविर्भासो निजकृतेरविघ्नभावेन समाप्तये विद्वत्समुदयप्रतिपत्तये च सूत्रधारमुखेन स्वेष्टदेवतां स्मरति—**यो गाधिपुत्रेति**—यो रामः गाधिपुत्रस्य विश्वामित्रस्य मखे यागे विघ्नकराणाम् प्रतिबन्धमाचरताम् अभिहन्ता नाशकरः, युद्धे संग्रामे विराध-खर-दूषणानां वीर्यस्य पराक्रमस्य हन्ता

(नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—**जिन्हों ने विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न करने वाले राक्षसों का वध किया, युद्ध में विराध, खर, दूषण आदि राक्षसों के पराक्रम का अन्त किया, एवं**

दर्पोद्धतोल्बणकबन्धकपीन्द्रहन्ता
पायात् स वो निशिचरेन्द्रकुलाभिहन्ता ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । (परिक्रम्यावलोक्य) अये किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते ! अङ्ग ! पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

सुग्रीव ! इत इतः ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्विकः—भाव !

कुतो नु खल्वेष समुत्थितो ध्वनिः
प्रवर्तते श्रोत्रविदारणो महान् ।

समाप्तिकरः, किञ्च दर्पोद्धृतयोः अतिगर्वशालिनोऽहम् उल्बणयोः उग्रयोः कबन्धकवीन्द्रयोः कबन्धनामकराक्षसान्यतमबालिनोः हन्ता मारकः सः प्रसिद्धः निशिचरेन्द्रकुलाभिहन्ता राक्षसराजरावणवंशसमाप्तिकरो रामः वः युष्मान् सामाजिकान् पातु रक्षतु । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १ ॥

आर्यमिश्रान्—आदरणीयान्सामाजिकान् । विज्ञापयामि—सूचयामि । अङ्गेति सम्बोधनेऽव्ययम् , 'स्युः पाट् प्याडङ्गहेहेभोः' इत्यमरः ।

कुतो नु खल्विति—अयं प्रत्यक्षश्रव्यः श्रोत्रविदारणः कर्णविवरभेदकः महान् तारः ध्वनिः शब्दः कुतो नु समुत्थितः कुतो नु सञ्जातः सन् प्रवर्त्तते श्रुतिविषयो भवति योऽयं भीषणः शब्दोऽस्माभिराकर्ण्यते स कुत उत्थित इति जिज्ञासा

अतिगर्वी कबन्ध तथा बाली का बध किया, वह भगवान् रावणान्तक आप का कल्याण करें ॥ १ ॥

आप आदरणीय सज्जनों से मैं यह निवेदन करता हूँ-(चलकर तथा देखकर) अरे, मैं विज्ञापन में लगा हूँ और यह कैसा शब्द सुनाई देरहा है ? देखूँ तो ।

(नेपथ्य में)

सुग्रीव, इधर आओ इधर ।

(प्रवेश करके)

पारिपार्श्विक—महाशय, कानों को फाड़ता हुआ सा यह महान् शब्द कहाँ से

प्रचण्डवातोद्धतभीमगामिनां
बलाहकानामिव खेऽभिगर्जताम् ॥ २ ॥

सूत्रधारः—मार्ष ! किं नावगच्छसि । एष खलु सीतापहरणजनित-सन्तापस्य रघुकुलप्रदीपस्य सर्वलोकनयनाभिरामस्य रामस्य च, दाराभिमर्शननिर्विषयीकृतस्य सर्वहर्यृक्षराजस्य सुविपुलमहाग्रीवस्य सुग्रीवस्य च परस्परोपकारकृतप्रतिज्ञयोः सर्ववानराधिपतिं हेममालिनं वालिनं हन्तुं समुद्योगः प्रवर्तते । तत एतौ हि,

---

वाक्यार्थः । प्रचण्डवातोद्धृताः प्रबलप्रभञ्जनप्रेरिताः अतएव भीमगामिनः भीषणगतयो ये तेषां तथोक्तानाम् अतएव खे व्योम्नि अभिगर्जताम् शब्दायमानानाम् बलाहकानाम् मेघानामिव अयं श्रोत्रविदारकः शब्दः कुतः प्रवर्त्तत इत्यर्थः, यथा वातचालितानां मेघानां खे भीषणो ध्वनिर्भवति तत्समोऽयं शब्दः कुत इति तात्पर्यम् ॥ २ ॥

सीतापहरणजनितसन्तापस्य—सीताया अपहरणेन खिद्यमानस्य । रघुकुलप्रदीपस्य रघुकुलभूषणस्य । सर्वलोकनयनाभिरामस्य—सकललोकप्रियस्य । दाराभिमर्शननिर्विषयीकृतस्य—स्त्रियाः अपहरणं कृत्वा देशान्निष्कासितस्य । सर्वहर्यृक्षराजस्य—सर्वेषां हरीणां वानराणाम् ऋक्षाणां भल्लूकानाञ्च स्वामिनः । सुविपुलमहाग्रीवस्य—विशालोन्नतकन्धरस्य । परस्परोपकारकृतप्रतिज्ञयोः—अन्योन्यमुपकारं साधयिष्याम इति प्रतिज्ञां कृतवतोः । सर्ववानराधिपतिम्—समस्तवानरराजम् । हेममालिनम्—इन्द्रप्रदत्तसुवर्णमाल्यधरम् । परस्परमुपकारं करिष्यावो येन द्वयोरपि दाराणामवाप्तिर्भविष्यतीति प्रतिज्ञां कृतवतोः समदशयो रामसुग्रीवयोर्वालिवधायोद्यमं कुर्वतोरयं भीषणो ध्वनिरिति प्रघट्टकार्थः ।

आ रहा है, यह ऐसा लगता है मानों प्रबल आंधी से प्रेरित होकर आकाश में दौड़ने वाले-मेघों का गर्जन हो ॥ २ ॥

सूत्रधार—अजी, नहीं जानते हो ? सीताहरण से सन्तप्त रघुवंशावतंस सर्वलोकप्रिय भगवान् राम एवं स्त्री-हरण पूर्वक देश से निष्कासित सकलवानराधीश सुग्रीव के बीच परस्पर उपकार करने की प्रतिज्ञा हुई है, तदनुसार स्वर्णमालाधारी वाली को मारने का प्रयत्न हो रहा है । इसी लिये यह—

इदानीं राज्यविभ्रष्टं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ।
पुनः स्थापयितुं प्राप्ताविन्द्रं हरिहराविव ॥ ३ ॥

(निष्क्रान्तौ)

स्थापना ।

(ततः प्रविशति रामो, लक्ष्मणसुग्रीवौ, हनुमांश्च ।)

रामः—सुग्रीव ! इत इतः ।

मत्सायकान्निहतभिन्नविकीर्णदेहं
शत्रुं तवाद्य सहसा भुवि पातयामि ।
राजन् ! भयं त्यज ममापि समीपवर्ती
दृष्टस्त्वया च समरे निहतः स वाली ॥ ४ ॥

इदानीमिति—राज्यविभ्रष्टं राज्यच्युतम् इन्द्रम् हरिहरौ विष्णुशिवौ इव राज्यविभ्रष्टम् सुग्रीवम् पुनः स्थापयितुं राज्यं लम्भयितुम् इदानीम् रामलक्ष्मणौ प्राप्तौ आगतौ इत्यर्थः । राज्यच्युतस्येन्द्रस्य पुना राज्यप्राप्तये यथा विष्णुशिवौ समागतौ स्यातां तथा राज्यच्युतस्य सुग्रीवस्य पुनस्तत्पदप्रापणाय रामलक्ष्मणौ समागतौ स्त इति भावः ॥ ३ ॥

मत्सायकादिति—मत्सायकात् निहतभिन्नः खण्डितविदीर्णः विकीर्णश्च देहो यस्य तं तथोक्तं मदीयबाणभिन्नगात्रं तव शत्रुं बालिनमद्य सहसा हठात् भुवि पृथिव्यां पातयामि, हे राजन् , ममापि समीपवर्त्ती मत्पार्श्वस्थितः भयं त्यज भयं माकार्षीर्बाली तव किमप्यनिष्टं करिष्यतीति भयं मा कृथा इत्यर्थः । स बाली

राम लक्ष्मण राज्यच्युत सुग्रीव को पुनः राज दिलाने आये हैं जैसे राज्यच्युत इन्द्र को पुनः राज्य स्थापित करने के लिये आये हुए विष्णु तथा शिव हों ॥ ३ ॥

(अनन्तर राम, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा हनुमान का प्रवेश)

राम—सुग्रीव, इधर आइये,

अपने बाणों द्वारा तुम्हारे शत्रु वाली की देह को छिन्न-भिन्न करके मैं अभी उसे धराशायी बना रहा हूँ, राजन् आप मेरे पास रहिये, डरने की कोई बात नहीं है, अभी आप बाली को युद्ध में मरा देखिये ॥ ४ ॥

सुग्रीवः—देव ! अहं खल्वार्यस्य प्रसादाद् देवानामपि राज्यमाशङ्के, किं पुनर्वानराणाम् । कुतः,

मुक्तो देव ! तवाद्य वालिहृदयं भेत्तुं न मे संशयः
साला‌न् सप्त महावने हिमगिरेः श्रृङ्गोपमाञ्छ्रीधर ! ।
भित्त्वा वेगवशात् प्रविश्य धरणीं गत्वा च नागालयं
मज्जन् वीर ! पयोनिधौ पुनरयं सम्प्राप्तवान् सायकः ॥५॥

त्वया सुग्रीवेण समरे युद्धे निहतः मारितो दृष्टः अचिरेणैव त्वं बालिनं समरे निहन्यमानं द्रक्ष्यसीति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

आर्यस्य—पूज्यस्य भवतो रामस्य । प्रसादात्—अनुग्रहात् । आशङ्के—संभावयामि, आशंसे इति पाठो युक्तः । बानराणां राज्यं मया प्राप्स्यते इति तु लघ्वी कथा, देवानामपि राज्यमहं भवदनुग्रहात्प्राप्तुं शक्नोमीति तात्पर्यम् ।

मुक्तो देवेति—हे देव श्रीधर लक्ष्मीनाथ विष्णो, मुक्तः धनुष्यारोप्य विसृष्टः तव सायकः हिमगिरेः श्रृङ्गोपमान् हिमालयशिखरसदृशान् महावने सप्तसालान् सप्तसंख्यान् सालवृक्षान् वेगवशात् भित्त्वा विदार्य धरणीं प्रविश्य पृथिव्यां प्रवेशं कृत्वा नागालयं गत्वा पातालं प्रविश्य पयोनिधौ सागरे मज्जन् पुनः संप्राप्तवान् पुनरपि भवदन्तिकमागतः अद्य बालिहृदयं भेत्तुं मे संशयः सन्देहो न । तवानेन शरेण सप्तसालान् भित्त्वा पातालं प्रविश्य समुद्रे मज्जनं कृत्वा च पुनस्तव धनुरासादितं तदयं भीमकर्मा तव शरोऽवश्यं बालिनो हृदयं भेत्स्यतीति मम दृढो विश्वास इति भावः ॥ ५ ॥

सुग्रीव—देव, मैं आपकी कृपा से देवों के राजा के पद की भी आशा करता हूँ बानरों के राजा होने की क्या बात है ? क्योंकि—

आप का बाण पर्वतश्रृङ्गोपम सात साल वृक्षों को भेदकर वेग से पाताल में पैठा, नागलोक गया, फिर समुद्र में मज्जन करके इस समय वाली के हृदय का भेदन करने के लिये आप के पास आगया है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

हनुमान्—

तव नृप ! मुखनिःसृतैर्वचोभि-
विगतभया हि वयं विनष्टशोकाः ।
रघुवर ! हरये जयं प्रदातुं
गिरिमभिगच्छ सनीरनीरदाभम् ॥ ६ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! सोपस्नेहतया वनान्तरस्याभितः खलु किष्किन्धया भवितव्यम् ।

सुग्रीवः—सम्यगाह कुमारः ।

सम्प्राप्ता हरिवरबाहुसम्प्रगुप्ता
किष्किन्धा तव नृप ! बाहुसम्प्रगुप्ता ।

तव नृपेति—हे नृप राजन्, तव मुखानिःसृतैः त्वद्वदननिर्गतैः वचोभिर्वचनैः वयं विनष्टशोकाः निवृत्तखेदाः विगतभयाः निवृत्ताशङ्काश्च जाताः स्मः । हे रघुवर, हरये सुग्रीवाय वानराय जयं प्रदातुं सनीरनीरदाभम् सजलजलधरोपमानम् गिरिम् पर्वतम् अभिगच्छ प्रतिष्ठस्व । हे नृप भवद्वचसि वयं विश्वस्ताः, सुग्रीवो यथा बालिनं जयेत्तथा प्रयासं कर्त्तुं त्वं सम्प्रति सजलजलदश्यामं बालिनाऽध्युष्यमाणश्च गिरिं चलेति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

सोपस्नेहतया—निर्मलतया । यथेदं वनान्तरं निर्मलं प्रतिभाति तथा मन्ये वनान्तरस्यास्य समीपे किष्किन्धा भविष्यति, पुरीसन्निकृष्टस्यैव वनस्य निर्मलत्वौचित्यादिति भावः, सम्यक्—युक्तम् ।

सम्प्राप्तेति—हरिवरस्य वानरश्रेष्ठस्य बालिनो बाहुभ्यां सम्प्रगुप्ता साधुरक्षिता, हे नृप राजन्, तव बाहुसम्प्रगुप्ता सम्प्रति तव भुजाभ्यां पालिता

हनुमान्—रघुनाथ, आप के वचनों से हमारे शोक नष्ट हो गये हैं, हम अब निर्भय हैं । आप सुग्रीव को विजय प्राप्त कराने के लिये जलपूर्ण मेघ के सदृश इस पर्वत पर चलें ॥ ६ ॥

लक्ष्मण—आर्य, यहाँ के जङ्गल कुछ साफ हैं, इसी के पास किष्किन्धा होगी ।

सुग्रीव—कुमार ने ठीक कहा है,

पूर्व में बाली के बाहुओं द्वारा पालित, अब आप के अधीन, किष्किन्धा

तिष्ठ त्वं नृवर ! करोम्यहं विसंज्ञं
नादेन प्रचलमहीधरं नृलोकम् ॥ ७ ॥

रामः—भवतु, गच्छ ।

सुग्रीवः—यदाज्ञापयति देवः । (परिक्रम्य) भोः !

अपराधमनुद्दिश्य परित्यक्तस्त्वया विभो ! ।
युद्धे त्वत्पादशुश्रूषां सुग्रीवः कर्तुमिच्छति ॥ ८ ॥

(नेपथ्ये)

कथं कथं सुग्रीव इति ।

किष्किन्धा नाम नगरी सम्प्राप्ता समायाता, त्वं तिष्ठ क्षणं विरम, हे नृवर नरश्रेष्ठ, अहं नादेन स्वगर्जितेन प्रचलमहीधरं चलायमानपर्वतगणम् नृलोकम् सकलमपि भूलोकम् विसंज्ञम् गतचेतनम् करोमि । इयमेव किष्किन्धा नाम नगरी, त्वं क्षणं तिष्ठ, अहं तथा गर्जामि यन्मम गर्जितं श्रुत्वा समस्तोऽपि भूलोको मूर्च्छित इव संपत्स्यत इति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

भवतु गच्छ—अस्तु, त्वं गत्वा गर्जितेन भुवं पूरय ।

अपराधमिति—अपराधं मम कमपि दोषम् अनुद्दिश्य अकथयित्वा, विभो प्रभो, परित्यक्तः नगरान्निष्कासितः सुग्रीवः युद्धे संमुखसमरे त्वत्पादशुश्रूषां त्वदीयपादसेवां कर्तुमिच्छति कामयते । हे प्रभो वालिन्—योऽहं सुग्रीवस्त्वया कारणमनभिधायैव नगराद्बहिष्कृतः स सम्प्रति युद्धे भवदीयं चरणं सेवितुमुत्कः समागतोऽस्मिस्तद् देहि मह्यं युद्धमिति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

आगई । आप ठहरिये, मैं अपने गर्जन से पर्वत को कम्पित तथा मनुष्यलोक को गतचैतन्य किये दे रहा हूँ ॥ ७ ॥

राम—एवमस्तु, जाइये ।

सुग्रीव—आप की जैसी आज्ञा । (चलकर)

महाराज, आपने बिना अपराध बताये मुझे देश-निकाला दे दिया है, अब मैं सुग्रीव युद्ध में आप के चरणों की सेवा करना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

(नेपथ्य में)

क्यों, सुग्रीव आया है ।

(ततः प्रविशति वाली, गृहीतवस्त्रया तारया सह ।)

वाली—कथं कथं सुग्रीव इति ।

तारे ! विमुञ्च मम वस्त्रमनिन्दिताङ्गि !
प्रस्रस्तवक्त्रनयने ! किमसि प्रवृत्ता ।
सुग्रीवमद्य समरे विनिपात्यमानं
तं पश्य शोणितपरिप्लुतसर्वगात्रम् ॥ ९ ॥

तारा—पसीअउ पसीअउ महाराओ । अप्पेण कारणेण ण आगमिस्सइ सुग्गीओ । ता अमच्चवग्गेण सह सम्मन्तिअ गन्तव्वं । [प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः । अल्पेन कारणेन नागमिष्यति सुग्रीवः । तदमात्यवर्गेण सह संमन्त्र्य गन्तव्यम् ।]

तारे विमुञ्चेति—हे अनिन्दिताङ्गि प्रशंसनीयसर्वावयवे तारे, हे प्रशस्तवक्त्रनयने प्रशंसनीयमुखनेत्रशालिनि तारे, मम वस्त्रं विमुञ्च|त्यज, किं प्रवृत्ता किमिदमकार्यं मदवरोधं कर्त्तुमुद्यतासि । अद्य अधुना समरे युद्धे विनिपात्यमानम् व्यापाद्यमानम् शोणितपरिप्लुतसर्वगात्रम् रुधिराक्तवपुषं सुग्रीवं पश्य अवलोकस्व । वृथा मद्वस्त्रमवलम्ब्य मां मा रुन्धि, निश्चयेन मया सुग्रीवो युद्धे मारयिष्यत इत्याशयः ॥ ९ ॥

प्रसीदतु—अनुग्रहं करोतु । अल्पेन कारणेन नागमिष्यति सुग्रीवो नागतो भविष्यति । अमात्यवर्गेण—मन्त्रिसमूहेन । सम्मन्त्र्य—विचार्य ।

(वाली तथा वाली के वस्त्र को पकड़ती हुई तारा का प्रवेश)

वाली—क्यों, सुग्रीव आया है ।

हे अनिन्दिताङ्गि तारे, मेरे कपड़े छोड़ो, तुम्हारा मुख तथा नयन क्यों उदास है यह तुम क्या कर रही हो, अभी तुम देखोगी कि शोणित से लथपथ यह सुग्रीव मेरे हाथों युद्ध में मारा जाता है ॥ ९ ॥

तारा—महाराज, कृपा कीजिये । साधारण कारण से सुग्रीव नहीं आयेगा, अतः मन्त्रियों से राय करके जाना चाहिए ।

वाली—आः,

शक्रो वा भवतु गतिः शशाङ्कवक्त्रे !
शत्रोर्मे निशितपरश्वधः शिवो वा ।
नालं मामभिमुखमेत्य सम्प्रहर्तुं
विष्णुर्वा विकसितपुण्डरीकनेत्रः ॥ १० ॥

तारा—पसीअउ पसीअउ महाराओ । इमस्स जणस्स अणुग्गहं दाव करेउं अरिहदि महाराओ । [प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः । अस्य जनस्यानुग्रहं तावत् कर्तुमर्हति महाराजः ।]

वाली—श्रूयतां मत्पराक्रमः ।

तारे ! मया खलु पुरामृतमन्थनेऽपि
गत्वा प्रहस्य सुरदानवदैत्यसङ्घान् ।

शक्रो वेति—हे शशाङ्कवक्त्रे चन्द्रमुखि, शक्रः इन्द्रः शत्रुर्भवतु, निशितपरश्वधः करधृतपरमतीक्ष्णपरशुः शिवो वा शत्रुर्भवतु, मे मम गतिः पराक्रमोऽस्तीति शेषः, इन्द्रेण शिवेन वा शत्रुणा सहाहं योद्धुं शक्त इत्यर्थः । विकसितपुण्डरीकनेत्रः प्रफुल्लकमलोपमनयनः विष्णुर्वा अभिमुखं सम्मुखस्थितं मां बालिनमेत्य प्राप्य संप्रहर्तुं युद्धं कर्तुं नालम् न शक्तः । सम्मुखयुद्धे मम प्रतिपक्षी न संभवति, का कथा सुग्रीवस्य, तन्मा भैषीरित्यर्थः ॥ १० ॥

अस्य जनस्य—मम तारायाः । अनुग्रहम्—कृपाम् ।

तारे मयेति—पुरा पूर्वकाले अमृतमन्थने सुधाप्राप्तये समुद्रमन्थनकाले मया बालिना गत्वा तत्रोपस्थाय सुरदानवदैत्यसङ्घान् देवदनुजराक्षससमू-

---

वाली—आः, हे चन्द्रमुखि, मेरे शत्रु के रक्षक इन्द्र हों अथवा परशुधारी शिव हों, या विकसित कमल समान नयनवाले विष्णु हों, मेरे सामने आकर वह भी मुझपर प्रहार नहीं कर सकते हैं ॥ १० ॥

तारा—कृपा कीजिए महाराज, आपको मुझपर कृपा करनी चाहिए ।

वाली—तारे, मेरा पराक्रम सुनो—

पूर्वकाल में अमृत-मन्थन के समय मैं गया, देव-दानवगणों का उपहास

उत्फुल्लनेत्रमुरगेन्द्रमुदग्ररूप-
माकृष्यमाणमवलोक्य सुविस्मितास्ते ॥ ११ ॥

तारा—पसीअउ पसीअउ महाराओ । [प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः ।]

वाली—आः, मम वशानुवर्तिनी भव । प्रविश्य त्वमभ्यन्तरम् ।

तारा—एसा गच्छामि मन्दभाआ । (निष्क्रान्ता) [एषा गच्छामि मन्दभागा ।]

वाली—हन्त प्रविष्टा तारा । यावदहं सुग्रीवं भग्नग्रीवं करोमि । (द्रुतमुपगम्य) सुग्रीव ! तिष्ठ तिष्ठ ।

इन्द्रो वा शरणं तेऽस्तु प्रभुर्वा मधुसूदनः ।

हान् प्रहस्य हसित्वा उत्फुल्लनेत्रम् कर्षणश्रमवशाद् बहिर्निर्गच्छदक्षम् उदग्ररूपम् भीषणस्वरूपम् उरगेन्द्रम् वासुकिनागम् आकृष्यमाणम् अवलोक्य दृष्ट्वा ते देव-दानवराक्षसाः सुविस्मिताः आश्चर्यचकिताः अजायन्त । पूर्वममृतप्राप्तये समुद्रे मथ्यमानेऽहं मन्दप्रवृत्त्या वासुकिनागरूपां रज्जुमाकर्षतो देवादीनुपहस्य यदा बलपूर्वकं वेगेन वासुकिमाक्रष्टुं प्रावर्त्तिषि तदा वासुकेरक्षिणी फुल्ले जाते, मम तादृशं प्रौढं पराक्रमं दृष्ट्वा च सर्वे विस्मिता जाता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

वशानुवर्त्तिनी—आज्ञाकारिणी । अभ्यन्तरम् गृहमध्यम् ।

भग्नग्रीवम्—त्रोटितकन्धरम् ।

इन्द्रो वेति—हे सुग्रीव, इन्द्रः प्रभुः समर्थो मधुसूदनो विष्णुर्वा ते तव शर-

---

करके मैं बासुकी नाग स्वरूप रस्सी खींचने लगा जिससे वासुकी नाग की आँखें निकल आईं और उनका रूप भयङ्कर हो उठा, सभी मेरे इस कार्य पर आश्चर्य करने लगे ॥ ११ ॥

तारा—महाराज कृपा कीजिये ।

बाली—आः, मेरी बात मानो, जाओ तुम भीतर जाओ ।

तारा—जाती हूँ मैं अभागी । (जाती है)

बाली—तारा तो भीतर गई, अब मैं सुग्रीव की गरदन तोड़ता हूँ । (वेग से जाकर) ठहर, सुग्रीव ठहर—

चाहे तुम्हारे रक्षक इन्द्र हों या भगवान् विष्णु हों, तू हमारे सामने से

मच्चक्षुष्पथमासाद्य सजीवो नैव यास्यसि ॥ १२ ॥

इत इतः ।

सुग्रीवः—यदाज्ञापयति महाराजः ।

(उभौ नियुद्धं कुरुतः ।)

रामः—एष एष वाली,

सन्दष्टोष्ठश्चण्डसंरक्तनेत्रो
मुष्टिं कृत्वा गाढमुद्वृत्तदंष्ट्रः ।
गर्जन् भीमं वानरो भाति युद्धे
संवर्त्ताग्निः सन्दिधक्षुर्यथैव ॥ १३ ॥

लक्ष्मणः—सुग्रीवमपि पश्यत्वार्यः,

णम् रक्षकः अस्तु, मच्चक्षुष्पथमासाद्य मदक्षिगोचरो भूत्वा त्वं सजीवः प्राणैः सह नैव यास्यसि बहिर्गमिष्यसि । इन्द्रे विष्णौ वा रक्षके सत्यपि मया दृश्यमानस्य तव नास्ति त्राणमवश्यं त्वया मर्त्तव्यमिति भावः ॥ १२ ॥

सन्दष्टेति—सन्दष्टः दन्तेन धृतः ओष्ठः अधरो येन तादृशः, चण्डे भीषणे संरक्ते अरुणे च नेत्रे नयने यस्य तादृशः, मुष्टिं कृत्वा बद्ध्वा गाढमुद्वृत्तदंष्ट्रः ऊर्ध्वमुखप्रकटदशनः, भीमं भयङ्करं गर्जन् शब्दायमानः वानरो बाली युद्धे भाति शोभते यथैव यथा सन्दिधक्षुः दग्धुं प्रवृत्तः संवर्त्ताग्निः प्रलयवह्निः स्वभावोक्तिः ॥ १३ ॥

जिन्दा नहीं लौट सकता है ॥ १२ ॥

इधर आओ इधर ।

सुग्रीव—महाराज की जैसी आज्ञा । (दोनो लड़ते हैं)

राम—यह बाली ओठ चबा रहा है, इसकी आँखें लाल तथा भयङ्कर हैं, मुक्का बाँधकर दाँत निकाल रहा है, भयङ्कर शब्द करके गरजता हुआ यह बाली युद्ध में ऐसा लगता है मानों संसार को दग्ध करने की इच्छा रखने वाला प्रलयाग्नि हो ॥ १३ ॥

लक्ष्मण—आप कृपया सुग्रीव को भी देखें—

विकसितशतपत्ररक्तनेत्रः
कनकमयाङ्गदनद्धपीनबाहुः ।
हरिवरमुपयाति वानरत्वाद्
गुरुमभिभूय सतां विहाय वृत्तम् ॥ १४ ॥

वालिना ताडितः पतितः सुग्रीवः ।

हनुमान्—हा ! धिक् । (ससम्भ्रमं राममुपगम्य) जयतु देवः । अस्यैषावस्था ।

बलवान् वानरेन्द्रस्तु दुर्बलश्च पतिर्मम ।
अवस्था शपथश्चैव सर्वमार्येण चिन्त्यताम् ॥ १५ ॥

विकसितेति—विकसितशतपत्रवत् प्रफुल्लकमलवत् रक्तं नेत्रं नयनं यस्य स तथोक्तः, कनकमयेन स्वर्णनिर्मितेन अङ्गदेन केयूरेण नद्धः युक्तो बाहुर्भुजो यस्य तादृशश्चायं सुग्रीवः सतां वृत्तं सज्जनमर्यादां विहाय त्यक्त्वा गुरुं ज्येष्ठं भ्रातरं वालिनम् अभिभूय अनादृत्य हरिवरम् वालिनम् उपयाति युद्धार्थमुपतिष्ठति ॥ १४ ॥

ताडितः—आहतः ।

अस्य—सुग्रीवस्य । एषावस्था—इयं स्थितिः, सुग्रीवो वालिना ताडितः पतितश्च, तदयं विषमदशायां वर्त्तते, तदाशु रक्षैनमिति तात्पर्यम् ॥

बलवानिति—वानरेन्द्रो वाली बलवान् अधिकबलः, मम पतिः स्वामी राजा सुग्रीवश्च दुर्बलः, वालिनोऽपेक्षया क्षीणशक्तिकः । अवस्था सुग्रीवस्य पति-

---

इसके नेत्र विकसित कमल के समान हैं, इसके हाथ में केयूर है। वानर होने के कारण यह अपने श्रेष्ठ भ्राता बाली का अपमान करके उसके साथ युद्ध कर रहा है, इसने सज्जनों के आचार का त्याग कर दिया है ॥ १४ ॥

बाली से ताडित सुग्रीव गिर गया।

हनुमान—हाय, (घबड़ाहट के साथ, राम के पास आकर) इसकी यह अवस्था !

बाली बड़ा बलवान् है, मेरे स्वामी उससे दुर्बल हैं, आप मेरे स्वामी की अवस्था तथा अपनी प्रतिज्ञा सब पर ध्यान दीजिये ॥ १५ ॥

रामः—हनूमन्! अलमलं सम्भ्रमेण। एतदनुष्ठीयते। (शरं मुक्त्वा) हन्त पतितो वाली।

लक्ष्मणः—एष एष वाली,

रुधिरकलितगात्रः स्रस्तसंरक्तनेत्रः
कठिनविपुलबाहुः काललोकं विविक्षुः।
अभिपतति कथञ्चिद् धीरमाकर्षमाणः
शरवरपरिवीतं शान्तवेगं शरीरम् ॥ १६ ॥

वाली—(मोहमुपगम्य पुनः समाश्वस्य शरे नामाक्षराणि वाचयित्वा राममुद्दिश्य)

तत्त्वरूपा स्थितिः शपथः बालिवधविषया स्वप्रतिज्ञा चेति सर्वम् आर्येण भवता चिन्त्यताम् विचार्यताम् ॥ १५ ॥

संभ्रमेण—चिन्तया आवेगेन। एतदनुष्ठीयते—इदमस्य वचनं स्वं सार्थकयितुं प्रयते।

रुधिरेति—रुधिरकलितगात्रः शोणिताप्लुतदेहः, स्रस्ते बहिर्निर्गते रक्ते रक्तवर्णे नेत्रे यस्य तादृशः, कठिनौ कर्कशौ विपुलौ विशालौ बाहू यस्य तथोक्तश्च काललोकं विविक्षुः यमलोकं गन्तुमिच्छुः शरवरपरिवीतं रामस्य बाणमुख्येन क्षतं शान्तवेगं शिथिल-व्यापारम् शरीरम् कथञ्चित् केनापि प्रकारेण धीरम् मन्दम् आकर्षमाणः पातयन् अभिपतति भूमौ निपतति। शोणितव्याप्तो रक्तबहिर्गताक्षो मुमूर्षुश्चायं बाली रामबाणविद्धं स्वमङ्गं मन्दं भूमौ पातयन् स्वयमपि पततीति तात्पर्यम् ॥ १६ ॥

मोहमुपगम्य—मूर्च्छां प्राप्य।

राम—हनूमन्, घबड़ाने की जरूरत नहीं है। यही कर रहा हूँ। (बाण छोड़कर) हाय, बाली गिर गया।

लक्ष्मण—यही है बाली।

शरीर रुधिराक्त है, आँखें शिथिल तथा लाल हैं, कठोर तथा विशाल इसके हाथ हैं, अब यह यमलोक जाने की इच्छा लिए बाण से विद्ध शान्त वेग अपने शरीर के साथ धीरे धीरे पृथ्वी पर गिर रहा है ॥ १६ ॥

वाली—(मूर्च्छित होकर, फिर होश में आकर, बाण पर खुदे हुए अक्षरों को

युक्तं भो ! नरपतिधर्ममास्थितेन
युद्धे मां छलयितुमक्रमेण राम ! ।
वीरेण व्यपगतधर्मसंशयेन
लोकानां छलमपनेतुमुद्यतेन ॥ १७ ॥

हन्त भोः ।

भवता सौम्यरूपेण यशसो भाजनेन च ।
छलेन मां प्रहरता प्ररूढमयशः कृतम् ॥ १८ ॥

भो राघव ! चीरवल्कलधारिणा वेषविपर्यस्तचित्तेन मम भ्रात्रा सह युद्धव्यग्रस्याधर्म्यः खलु प्रच्छन्नो वधः ।

युक्तमिति—भोराम, नरपतिधर्ममास्थितेन राजमर्यादां पालयता व्यपगतधर्मसंशयेन धर्मस्वरूपविषये निवृत्तसर्वसंशयेन लोकानां छलम् वञ्चकताम् अपनेतुं दण्डादिना दूरीकर्त्तुम् उद्यतेन प्रवृत्तेन भवता अक्रमेण अनुचितमार्गेण युद्धे माम् छलयितुम् वञ्चयितुं युक्तम् ? राजवृत्तमनुवर्त्तमानेनासन्दिग्धधर्मस्वरूपं जानतां लोकानां वञ्चकतावृत्तिं शमयितुं प्रवृत्तेन त्वया यदहमिह युद्धे छलेन हन्ये, तदिदं किं युक्तम् ? इत्यर्थः ॥ १७ ॥

भवतेति—सौम्यरूपेण अक्रूरस्वरूपेण यशसः कीर्त्तेः भाजनेन पात्रेण भवता रामेण मां बालिनं छलेन असमक्षं छन्नरूपेण प्रहरता बाणेन विध्यता अयशः स्वीया अकीर्त्तिः प्ररूढं कृतम्, स्वमयशः प्रख्यापितम् इति भावः ॥ १८ ॥

चीरवल्कलधारिणा—वृक्षत्वचं वसानेन साधुमूर्त्तिधारिणा । वेषविपर्यस्त-

---

पड़कर राम से—)

हे राम, आप राजा के धर्म पर आरूढ हैं, आप को धर्म के स्वरूप का असन्दिग्ध ज्ञान है, आप संसार का छलप्रयत्न दूर करने चले हैं, आप वीर भी हैं, क्या आप के लिये यही उचित था कि आप मुझे इस तरह अन्याय से मारें ॥ १७ ॥

खेद है, आपने सौम्यरूप तथा यशस्वी होकर भी मुझे छल से मारा, इससे आपको बड़ा अयश प्राप्त हुआ ॥ १८ ॥

अजी राघव, आपने चीरवल्कल धारण कर रखा है परन्तु आपका हृदय ठीक

रामः—कथमधर्म्यः खलु प्रच्छन्नो वध इति ।

वाली—कः संशयः ।

रामः—न खल्वेतत् । पश्य,

वागुराच्छन्नमाश्रित्य मृगाणामिष्यते वधः ।
वध्यत्वाच्च मृगत्वाच्च भवाञ्छन्नेन दण्डितः ॥ १९ ॥

वाली—दण्ड्य इति मां भवान् मन्यते ।

चित्तेन वेषाननुरूपहृदयेन, वेषः साधूनां कार्यञ्च व्याधानामिति वेषविपर्यस्तचित्त-तोक्ता । युद्धव्यग्रस्य-संग्रामनिरतस्य । अधर्म्यः-धर्मादपेतः । प्रच्छन्नः-आत्मानं प्रच्छाद्य क्रियमाणः ।

कथमधर्म्यः प्रच्छन्नो वधः ?—नहि सर्वः प्रच्छन्नो वधोऽधर्मः, क्वचित्तादृशस्यापि वधस्य मृगयादौ शास्त्रसमर्थितत्वात् इत्यर्थः ।

वागुरेति—वागुरा जालं तत्र च्छन्नम् धृतं मृगम् आश्रित्य प्राप्य मृगाणाम् आखेटपशूनां वध इष्यते शास्त्रेण समर्थ्यते वागुरायां पतितं मृगं हन्यादिति शास्त्रं वक्ति, वध्यत्वात् हन्तुं योग्यत्वात् च मृगत्वात् शाखामृगत्वाच्च भवान् मया च्छन्नेन वृक्षादौ गुप्तकायेन दण्डितः मृत्युदण्डेन दण्डितः । मृगाणां वागुराच्छन्नानामपि वधो न निन्दितोऽतो भवन्तमपि च्छन्नभावेन दण्डयन्नहं न वाच्य इति भावः ॥ १९ ॥

भवान् मां दण्ड्य इति मन्यते—भवद्विचारेणाहं किं दण्डयोग्यः ?

इसके उलटा है, मैं अपने भाई से लड़ने में व्यस्त था, आपने छिपकर मुझे मारा, यह आपने अधर्म किया है ।

राम—छिपकर मारना कैसे अधर्म है ?

वाली—इसमें क्या संदेह है ?

राम—यह नहीं है, देखो,

जाल में बसे हुए हरिण छिपकर ही मारे जाते हैं, तुम वध्य हो, मृग हो, अतः मैंने छिपकर तुझे दण्ड दिया है ॥ १९ ॥

वाली—आप मुझे दण्डनीय समझते हैं ।

रामः—कः संशयः ।

वाली—केन कारणेन ।

रामः—अगम्यागमनेन ।

वाली—अगम्यागमनेनेति । एषोऽस्माकं धर्मः ।

रामः—ननु युक्तं भोः !

भवता वानरेन्द्रेण धर्माधर्मौ विजानता ।
आत्मानं मृगमुद्दिश्य भ्रातृदाराभिमर्शनम् ॥ २० ॥

वाली—भ्रातृदाराभिमर्शनेन तुल्यदोषयोरहमेव दण्डितो, न सुग्रीवः ।

रामः—दण्डितस्त्वं हि दण्डयत्वाद् , अदण्डयो नैव दण्डयते ।

अगम्यागमनेन—यस्याः स्त्रियो गमनं शास्त्रनिषिद्धं तस्या गमनेन ।

एषः—अगम्यागमनरूपः । अस्माकम्—वानराणाम् ।

भवतेति—धर्माधर्मौ पापपुण्ये विजानता परिचिन्वता भवता वानरेन्द्रेण बालिना आत्मानं स्वं मृगमुद्दिश्य साधारणं मृगं मत्वा किं भ्रातृदाराभिमर्शनम् स्वानुजस्त्रियं रमयित्वा तस्या दूषणं किम् युक्तमिति पूर्वेणान्वयः । साधारणस्य मृगस्य भ्रातृदाराभिमर्शनं मा नाम भूदधर्मः, परं धर्मज्ञस्य वानरराजस्य च भवतोऽवश्यमेव भ्रातृदाराभिमर्शनं पापमेव, धर्मस्य ज्ञाननियम्यत्वादिति भावः ॥२०॥

तुल्यदोषयोः—समानापराधयोः ।

राम—इसमें क्या सन्देह है ?

वाली—क्यों आप मुझे दण्डनीय समझते हैं ?

राम—अगम्यागमन के कारण मैं तुझे दण्डनीय मानता हूँ ।

वाली—अगम्यागमन, यह तो हमारा धर्म है ।

राम—क्या ठीक कहा ? आप वानरराज हैं, धर्माधर्म का ज्ञान रखते हैं, आप अपने को मृग कहें और भाई की स्त्री को दूषित करें, यह कैसे ठीक होगा ॥२०॥

वाली—भाई की स्त्री को दूषित करने के अपराधी हम तथा सुग्रीव दोनों ही थे, फिर मुझे ही क्यों ताडित किया, सुग्रीव को क्यों नहीं दण्ड दिया गया ?

राम—तुम दण्डनीय थे अतः दण्ड दिया गया, सुग्रीव दण्डनीय नहीं था, उसे क्यों दण्ड दिया जाता ॥

वाली—

सुग्रीवेणाभिमृष्टाऽभूद् धर्मपत्नी गुरोर्मम ।
तस्य दाराभिमर्शेन कथं दण्ड्योऽस्मि राघव ! ॥ २१ ॥

रामः—न त्वेवं हि कदाचिज्ज्येष्ठस्य यवीयसो दाराभिमर्शनम् ।

वाली—हन्त अनुत्तरा वयम् । भवता दण्डितत्वाद् विगतपापोऽहं ननु ।

रामः—एवमस्तु ।

सुग्रीवः—हा धिक् ।

करिकरसदृशौ गजेन्द्रगामिं-
स्तव रिपुशस्त्रपरिक्षताङ्गदौ च ।

सुग्रीवेणेति—गुरोः ज्येष्ठभ्रातुः मम बालिनः धर्मपत्नी स्त्री सुग्रीवेण अभिमृष्टा रमयित्वा दूषिताऽभूत् , तस्य सुग्रीवस्य दाराभिमर्शेन स्त्रीसंभोगेन अहं कथं दण्ड्यः अस्मि । य एव सुग्रीवस्यापराधः स एव ममापि, अथापि सुग्रीवोऽदण्ड्योऽहं च दण्ड्य इति विचित्रस्तव निर्णय इत्याशयः ॥ २१ ॥

ज्येष्ठस्य यवीयसो दाराभिमर्शनम्—यवीयसः कनिष्ठस्य । यदि कनीयान् भ्राता ज्येष्ठस्य स्त्रियं गच्छति तदा नासौ पापेन लिप्यते, तस्य देवरतया द्वितीयवररूपत्वात् , ज्येष्ठस्तु कनिष्ठस्य स्त्रियं गत्वा प्रत्यवैत्येवेति भावः, अनुत्तराः—उत्तरं दातुमशक्ताः ।

एवमस्तु—मया हतस्य तव समस्तमपि पापं नश्यत्वित्यर्थः ।

करिकरेति—हे गजेन्द्रगामिन्-गजवरसमानगते, तव करिकरसदृशौ

वाली—सुग्रीव ने मुझ बड़े भाई की स्त्री को दूषित किया, फिर भी वह अपराधी नहीं हुआ , उसकी स्त्री को दूषित करके मैं हां तब क्यों दण्डनीय मान लिया गया ॥ २१ ॥

राम—छोटे भाई के संसर्ग से बड़े भाई की स्त्री दूषित नहीं होती है ॥

वाली—आपने मुझे निरुत्तर कर दिया, आप से दण्डित होकर मैं निष्पाप हो गया ।

राम—एवमस्तु ।

सुग्रीव—हाय,

हे गजेन्द्र की तरह चलने वाले, हाथी के शुण्डादण्ड के समान आपके बाहुओं को

अवनितलगतौ समीक्ष्य बाहू
हरिवर ! हा पततीव मेऽद्य चित्तम् ॥ २२ ॥

वाली—सुग्रीव ! अलमलं विषादेन । ईदृशो लोकधर्मः ।

(नेपथ्ये)

हा हा महाराओ ।

वाली—सुग्रीव ! संवार्यतां संवार्यतां स्त्रीजनः । एवंगतं नार्हति मां द्रष्टुम् ।

सुग्रीवः—यदाज्ञापयति महाराजः । हनूमन् ! एवं क्रियताम् ।

हनूमान्—यदाज्ञापयति कुमारः । (निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशत्यङ्गदो हनूमांश्च)

हस्तिशुण्डोपमौ रिपुशस्त्रपरिक्षताङ्गदौ शत्रुबाणत्रुटितकेयूरौ च अवनितलगतौ पृथिव्यां पतितौ बाहू दृष्ट्वा, हे हरिवर, वानरराज, अद्य सम्प्रति मम सुग्रीवस्य चित्तं पततीव पातित्यमिवानुभवति । त्वां शत्रुणा सादितबाहुं दृष्ट्वाऽहमात्मानं पतितमिवानुभवामीति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

विषादेनालम्—खेदं मा कुरु । लोकधर्मः—संसारस्य नियमः, जातस्य मृत्युनियमादलं शोकेनेति तात्पर्यम् ।

संवार्यताम्—अत्रागमनान्निरुध्यताम् । एवं गतम्—ईदृशीं दशां प्राप्तम् ।

शत्रु के बाणों द्वारा क्षत-विक्षत होकर पृथ्वी पर लोटते देख कर मेरा हृदय बैठा जा रहा है ॥ २२ ॥

वाली—सुग्रीव, विषाद करना व्यर्थ है यही तो लोक का नियम है ।

(नेपथ्यमें)

हाय महाराज, हाय,

वाली—सुग्रीव, स्त्रियों को रोको । इस हालत में वे मुझे देखें यह ठीक नहीं है ।

सुग्रीव—महाराज की जो आज्ञा । हनुमान् , ऐसा करो ।

हनुमान्—कुमार की जो आज्ञा । (जाता है)

(अंगद तथा हनुमान् का प्रवेश)

हनूमान्—अङ्गद ! इत इतः ।

अङ्गदः—

श्रुत्वा कालवशं यान्तं हरिमृक्षगणेश्वरम् ।
समापतितसन्तापः प्रयामि शिथिलक्रमः ॥ २३ ॥

हनूमन् ! कुत्र महाराजः ।

हनूमान्—एष महाराजः,

शरनिर्भिन्नहृदयो विभाति धरणीतले ।
गुहशक्तिसमाक्रान्तो यथा क्रौञ्चाचलोत्तमः ॥ २४ ॥

श्रुत्वेति—ऋक्षगणेश्वरम् ऋक्षाणां नायकम् हरिं वानरं वालिनम् कालवशं यान्तं म्रियमाणं श्रुत्वा समापतितसन्तापः प्राप्तखेदः अत एव शिथिलक्रमः मन्दवेगः प्रयामि । बालिनं स्वतातं म्रियमाणं निशम्य मम पादौ न पुरः सरत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

शरनिर्भिन्नेति—शरनिर्भिन्नहृदयः रामस्य शरेण विदारितवक्षःस्थलः एषः महाराजः वानरराजो वाली धरणीतले पृथिव्यां (पतितः) विभाति यथा गुहशक्तिसमाक्रान्तः कार्त्तिकेयद्वारा शक्तिनामकेनास्त्रेण क्षतः क्रौञ्चाचलोत्तमः क्रौञ्चनामकगिरिरिव । पुरा महादेवादस्त्रविद्यामधीयानयोः परशुरामकार्त्तिकेययोः शक्तिमत्तरता विषये विवादः प्रावर्त्तत, तदा बलपरीक्षणाय यः स्वास्त्रेण पर्वतमिमं क्रौञ्चनामानं भिन्द्यात्स बलीति समयं कृत्वा कार्त्तिकेयः स्वशक्त्या तं पर्वतं विव्याधेति पौराणी कथा । उपमा स्फुटा । तया च बालिनो हृदयस्य विशालता कठोरता च ध्वनिता, रामशरस्य शक्तिसमशक्तिकता चेति बोध्यम् ॥

हनुमान्—अङ्गद, इधर आइये इधर ।

अङ्गद—वानर गण के अधिराज को मरते हुए सुना है इससे हमारी आत्मा सन्तप्त हो रही है, मुझे चलने में शिथिलता हो रही है ॥ २३ ॥

हनुमन्, महाराज कहाँ है ?

हनुमान्—यही हैं महाराज,

बाण से इनका हृदय विद्ध हो चुका है, यह धरणी पर लोट रहे हैं, ऐसा लगता है मानो कार्त्तिकेय के बाण से भिन्न क्रौञ्च गिरि हों ॥ २४ ॥

अङ्गदः—(उपसृत्य) हा महाराज !

अतिबलसुखशायी पूर्वमासीर्हरीन्द्रः
क्षितितलपरिवर्ती क्षीणसर्वाङ्गचेष्टः ।
शरवरपरिवीतं व्यक्तमुत्सृज्य देहं
किमभिलषसि वीर स्वर्गमद्याभिगन्तुम् ॥ २५ ॥

(इति भूमौ पतितः ।)

वाली—अङ्गद ! अलमलं विषादेन, भोः सुग्रीव !

मया कृतं दोषमपास्य बुद्ध्या
त्वया हरीणामधिपेन सम्यक् ।

अतिबलेति—अतिबलेन लोकाधिकेन स्वपराक्रमेण सुखशायी अक्लेशशयनशीलः त्वम् पूर्ववत् हरीन्द्रः वानराधिपतिः आसीः अभवः, इदानीं स एव त्वम् क्षितितलपरिवर्त्ती पृथिव्यां लुठन् क्षीणसर्वाङ्गचेष्टः समस्ते शरीरावयवे निश्चेष्टः शरवरपरिवीतं रामशरेण क्षतं देहं व्यक्तम् स्फुटम् उत्सृज्य त्यक्त्वा, हे वीर—अद्य किं किमर्थं स्वर्गम् अभिगन्तुम् अभिलषसि जिगमिषसि । येन त्वया वानरराजेन स्वपराक्रममुपधायात्र भुवि सुखं विहृतम् , सोपि त्वं रामशरविदारितोरःस्थलः स्वर्गं यियाससीति अहो नियत्या बलवत्त्वमिति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

मया कृतमिति—मया बालिना कृतम् आचरितम् दोषम् दाराभिमर्शनदेशनिष्कासनादिकम् दोषम् अपराधम् अपास्य दूरीकृत्य त्वया सुग्रीवेण सम्यक् विधिवत् हरीणामधिपेन वानरराजपदाभिषिक्तेन रोषं मयि कोपं विमुच्य परि-

---

अङ्गद—(समीप जा कर) हा महाराज,

आप अत्यन्त बलपूर्वक आराम से सोने वाले हरीश्वर थे, इस समय आप के अङ्गों में चेष्टा नहीं रह गई है, आप पृथ्वी पर पड़े हुए हैं, क्या आप अपनी इस बाण-विद्ध देह को छोड़कर स्वर्ग जाना चाह रहे हैं ? ॥ २५ ॥

(पृथ्वी पर गिरता है)

वाली—अङ्गद, विषाद मत करो । सुग्रीव,

तुम अब वानरराज हुए, मैंने जो गलतियाँ की हैं उन्हें अपनी बुद्धि से दूर

विमुच्य रोषं परिगृह्य धर्मं
कुलप्रवालं परिगृह्यतां नः ॥ २६ ॥

सुग्रीवः—यदाज्ञापयति महाराजः ।

वाली—भो राघव ! यस्मिन् कस्मिन् वापराधेऽनयोर्वानरचापलं क्षन्तुमर्हसि ।

रामः—बाढम् ।

वाली—सुग्रीव ! प्रतिगृह्यतामस्मत्कुलधनं हेममाला ।

सुग्रीवः—अनुगृहीतोऽस्मि । (प्रतिगृह्णाति)

वाली—हनूमन् ! आपस्तावत् ।

हनूमान्—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) इमा आपः ।

त्यज्य बुद्धया सदसद्विवेकिन्या मत्या धर्मं तत्कालोचितं कर्त्तव्यम् परिगृह्य आश्रित्य नः अस्माकं कुलप्रवालम् वंशप्ररोहः वंशप्रवर्त्तकः पुत्रः परिगृह्यताम् स्वीक्रियताम् , पालनीयतया रक्ष्यताम् इति शेषः ॥ २६ ॥

अनयोः—सुग्रीवाङ्गदयोः ।

अस्मत्कुलधनम्—मदीया पैतृकी सम्पत्तिः, बालिने स्वपुत्रायेन्द्रेण विशिष्टगुणा कापि हेममाला प्रदत्तेति तस्याः कुलधनत्वमुक्तम् । आपः—जलानि । मामभिगताः—मामुद्दिश्य प्राप्ताः । सहस्रहंसप्रयुक्तः-हंससहस्रवाह्यः । वीरवाही—वीरान् वहति तच्छीलः ।

करके तथा क्रोध को भुलाकर तुम हमारे इस वंशाङ्कुर की रक्षा करना ॥ २६ ॥

सुग्रीव—महाराज की जैसी आज्ञा ।

बाली—हे राम, किसी अपराध में आप अङ्गद तथा सुग्रीव का वानर-चापल क्षमा करेंगे ।

राम—अच्छी बात है ।

बाली—सुग्रीव, हमारे कुलधन स्वरूप यह माल्य ग्रहण करो ।

सुग्रीव—बड़ी कृपा हुई । (माला लेता है)

बाली—हनुमन् , पानी लाना ।

हनुमान्—महाराज की जैसी आज्ञा । (जाकर पानी ले आकर) यह पानी लीजिए ।

वाली—(आचम्य) परित्यजन्तीव मां प्राणाः। इमा गङ्गाप्रभृतयो महानद्य एता उर्वश्यादयोऽप्सरसो मामभिगताः। एष सहस्रहंसप्रयुक्तो वीरवाही विमानः कालेन प्रेषितो मां नेतुमागतः। भवतु। अयमयमागच्छामि। (स्वर्यातः।)

सर्वे—हा हा महाराज !।

रामः—हन्त स्वर्गं गतो वाली। सुग्रीव ! क्रियतामस्य संस्कारः।

सुग्रीवः—यदाज्ञापयति देवः।

रामः—लक्ष्मण ! सुग्रीवस्याभिषेकः कल्प्यताम्।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः।

(निष्क्रान्ताः सर्वे।)

प्रथमोऽङ्कः।



कालेन—यमराजेन। मां नेतुम्—स्वर्गं प्रापयितुम्।

संस्कारः—मरणोत्तरकालिकः दाहभूनिक्षेपादिको विधिः।

अभिषेकः—राज्याभिषेकः। कल्प्यताम्—सम्पाद्यताम्।

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक'प्रकाशे' प्रथमाङ्क 'प्रकाशः'।



वाली—(आचमन करके) मुझे मेरे प्राण छोड़ रहे हैं। यह गङ्गा प्रभृति नदियाँ, उर्वशी प्रभृति अप्सरायें मुझे लेने आ रही हैं। यह हजार हंसों द्वारा चालित वीरवाही विमान यमराज द्वारा भेजा गया है जो मुझे लेने आया है। अस्तु, यह आ रहा हूँ। (स्वर्ग गया)

सभी—हाय महाराज, हाय।

राम—हाय, बाली स्वर्ग चला गया, सुग्रीव अब इसका संस्कार करो।

सुग्रीव—आप की जैसी आज्ञा।

राम—लक्ष्मण, सुग्रीव के अभिषेक का प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण—आप की जैसी आज्ञा। (सबका प्रस्थान)

प्रथम अङ्क समाप्त



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति ककुभः)

ककुभः—निष्ठितप्रायत्वात् कार्यस्याहारव्यापृताः सर्वे वानरयूथपाः। तस्मादहमपि किञ्चिदाहारजातं सम्भावयामि। (तथा करोति।)

(प्रविश्य।)

बिलमुखः—पेसिओ म्हि महालाएण सुग्गीवेण-अय्यरामस्स किदोवआरप्पच्चुवआरणिमित्तं सव्वासु दिसासु सीदाविअअणे पेसिआ सव्वे वाणरा आअदा। तेसं दक्खिणापहमुहस्स कुमारस्स अङ्गदस्स पवुत्तिं जाणिअ सिग्घं आअच्छत्ति। ता कहिं णु हु गओ कुमारो। (परिक्रम्याग्रतो विलोक्य) एसो अय्यकउहो। जाव णं पुच्छामि। (उपसृत्य) सुहं अय्यस्स। [प्रेषितोऽस्मि महाराजेन सुग्रीवेण-आर्यरामस्य कृतोपकारप्रत्युपकारनिमित्तं सर्वासु दिशासु सीताविचयने प्रेषिताः सर्वे वानरा आगताः। तेषां दक्षिणापथमुखस्य कुमारस्याङ्गदस्य प्रवृत्तिं ज्ञात्वा शीघ्रमागच्छेति।

निष्ठितप्रायत्वात्—सम्पन्नप्रायत्वात्। आहारव्यापृताः-भोजने प्रवृत्ताः।

वानरयूथपाः—वानरदलपतयः। आहारजातम्-भोजनादिकम्।

कृतोपकारप्रत्युपकारनिमित्तम्—पूर्वं कृतस्य बालिवधपूर्वकराज्याभिषेक पर्यन्तस्य स्वोपकारस्य प्रत्युपकाराय। सीताविचयने-सीताया अन्वेषणे। दक्षि-

---

द्वितीय अङ्क

(ककुभ का प्रवेश)

ककुभ—कार्य समाप्त प्राय है अतः सभी वानरगण भोजन में लगे हुए हैं, अतः मैं भी कुछ भोजन करलूँ। (खाता है)

बिलमुख—राम द्वारा किये गये उपकार के बदले में सारी दिशाओं में सीता की खोज करने को गये हुए समस्त वानरगण लौट आये परन्तु दक्षिण दिशा की ओर गये हुए कुमार अंगद नहीं लौट सके हैं, उन्हीं का पता लेने के लिए

तत् क नु खलु गतः कुमारः। एष आर्यककुभः। यावदेनं पृच्छामि। सुखमार्यस्य।]

ककुभः—अये बिलमुखः। कुतो भवान्।

बिलमुखः—अय्य! महाराअस्स सासणेण कुमारं अङ्गदं पेक्खिदुं आअदो म्हि। [आर्य! महाराजस्य शासनेन कुमारमङ्गदं प्रेक्षितुमागतोऽस्मि।]

ककुभः—अपि कुशली आर्यरामो महाराजश्च।

बिलमुखः—आम्।

ककुभः—कोऽभिप्रायो महाराजस्य।

(बिलमुखः पेसिओ म्हि इति पूर्ववत् पठति)

ककुभः—किं न जानीषे निष्ठितमर्धं कार्यस्य।

बिलमुखः—किं किम्।

ककुभः—श्रूयतां,

लब्ध्वा वृत्तान्तं रामपत्न्याः खगेन्द्राद्

णापथमुखस्य- दक्षिणदिशाभिमुखस्य दक्षिणां दिशं गतस्य। कुमारस्य—अङ्गदस्य। प्रवृत्तिम्-वार्त्ताम्। सुखम्—कुशलम्।

लब्ध्वेति—रामपत्न्याः सीतायाः वृत्तान्तम् रावणगृहावस्थानवार्त्ताम्

सुग्रीव ने हमको भेजा है। न जाने कुमार कहाँ चले गये? यह हैं आर्य ककुभ, तब तक इनसे पूछता हूँ। (समीप जाकर) आप सकुशल तो हैं?

ककुभ—अरे बिलमुख! तुम किधर से आरहे हो?

बिलमुख—महाराज सुग्रीव की आज्ञा से कुमार की खोज करने आया हूँ।

ककुभ—आर्य राम तथा महाराज तो सकुशल हैं?

बिलमुख—हाँ।

ककुभ—महाराज की क्या इच्छा है?

(बिलमुख पहले ही वाली बात को दुहराता है)

ककुभ—क्या तुम नहीं जानते हो कि आधा कार्य हो गया है?

बिलमुख—क्या कहा?

ककुभ—सुनो, जटायु से सीता का समाचार जान कर हाथियों से परिपूर्ण

आरुह्यागेन्द्रं सद्विपेन्द्रं महेन्द्रम् ।
लङ्कामभ्येतुं वायुपुत्रेण शीघ्रं
वीर्यप्राबल्याल्लङ्घितः सागरोऽद्य ॥ १ ॥

तस्मादागच्छ, कुमारपादमूलमेव संश्रयावः ।

(निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति राक्षसीगणपरिवृता सीता ।)

सीता—हद्धि अदिधीरा खु म्हि मन्दभाआ । जा अय्यउत्तविरहिदा रक्खसराअभवणं आणीदा अणिट्ठाणि अणरिहाणि जहमणोरहप्पवुत्ताणि वअणाणि साविअमाणा जीवामि मन्दभाआ । आदु अय्यउत्तसाअअप्पकुचएण कहं वि अत्ताणं पय्यवत्थावेमि । किं णु खु अज्ज पज्जालिअमाणे कम्मआरग्गिमण्डले उदअप्पसेओ विअ किञ्चि हिअअप्पसादो

खगेन्द्रात् पक्षिश्रेष्ठात् जटायुषः लब्ध्वा ज्ञात्वा सद्विपेन्द्रम् हस्तिगणयुक्तम् महेन्द्रं नाम अगेन्द्रम् पर्वतमुख्यम् आरुह्य आक्रम्य वायुपुत्रेण-हनूमता शीघ्रं लङ्काम् अभ्येतुं गन्तुम् अद्य वीर्यप्राबल्यात् पराक्रमप्रकर्षात् सागरः समुद्रः लङ्घितः । जटायुषो मुखात् सीताया रावणकर्तृकं हरणं निशम्य हनूमान् महेन्द्रं नाम पर्वतमारुह्य वीर्यातिशयात् सागरं लङ्घयामासेति भावः ॥ १ ॥

कुमारपादमूलम्—अङ्गदस्य समीपम् । संश्रयावः- गच्छावः ।

महेन्द्र पर्वत पर चढ़कर हनुमान् ने लङ्का जाने के अभिप्राय से अपनी ताकत से आज समुद्र लाँघ लिया है ॥ १ ॥

अतः चलो, हम लोग कुमार के समीप चलें ।

(राक्षसियों से घिरी सीता का प्रवेश)

सीता—मुझे धिक्कार है । मैं अभागी अति कठोर हूँ जिससे प्रियतम से बिछुड़कर लङ्का लाई गई, अप्रिय, अनुचित यथेच्छ कथित वचन कहे गये, फिर भी मैं जीती रही ।

समुप्पण्णो। किं णु खु मं अन्तरेण पसण्णहिअओ अय्यउत्तो भवे। [हा धिग् अतिधीरा खल्वस्मि मन्दभागा। यार्यपुत्रविरहिता राक्षसराजभवनमानीतानिष्टान्यनर्हाणि यथामनोरथप्रवृत्तानि वचनानि श्राव्यमाणा जीवामि मन्दभागा। अथवा आर्यपुत्रसायकप्रत्ययेन कथमप्यात्मानं पर्यवस्थापयामि। किन्तु खल्वद्य प्रज्वाल्यमाने कर्मकाराग्निमण्डले उदकप्रसेक इव किञ्चिद् हृदयप्रसादः समुत्पन्नः। किन्तु खलु मामन्तरेण प्रसन्नहृदय आर्यपुत्रो भवेत्।]

(ततः प्रविशति हनूमान् अङ्गुलीयकहस्तः।)

हनूमान्—(लङ्कां प्रविश्य) अहो रावणभवनस्य विन्यासः।

कनकरचितचित्रतोरणाढ्या

अतिधीरा—अत्यन्तगभीरा। आर्यपुत्रविरहिता–रामवियुक्ता। राक्षसराजभवनम्–रावणगृहम्। आनीता–प्रापिता। अनिष्टानि–श्रोतुमनभिलषितानि। अनर्हाणि–श्रोतुमयोग्यानि। यथामनोरथप्रवृत्तानि–यथेच्छं प्रयुक्तानि। श्राव्यमाणा–श्रोतुं बाध्यमाना। मन्दभागा-हतभाग्या। आर्यपुत्रसायकप्रत्ययेन–रामस्य-बाणे विश्वासेन। पर्यवस्थापयामि—स्थिरीकरोमि। रामबाणा अस्य सर्वस्यापि कष्टस्य विनाशाय भविष्यन्तीति विश्वासेनाश्रव्याण्यपि राक्षसराजवचनानि कथञ्चिदाकर्णयन्ती धैर्यं धारयामीति वाक्यार्थः।

कर्मकाराग्निमण्डले—लौहसन्धुक्षणाय कर्मकारैः प्रज्वालिते वह्नौ। उदकप्रसेकः–जलेनाभ्युक्षणम्। हृदयप्रसादः–मनःसुखम्। मामन्तरेण–मां विना। प्रसन्नहृदयः–सुखी। अङ्गुलीयकहस्तः–करधृताङ्गुलिमुद्रः।

विन्यासः—सज्जा।

कनकरचितेति—कनकरचितः स्वर्णविरचितो यस्तोरणः बहिर्द्वारम् तेना-

---

अथवा—प्रियतम के बाणों पर विश्वास करके किसी प्रकार जीती रही हूँ। न जाने क्यों आज थोड़ी प्रसन्नता हुई जैसे कर्मकार द्वारा प्रज्वलित अग्नि पर जल सींचने से उसमें थोड़ी शीतलता आती है। क्या मेरे बिना मेरे प्रिय प्रसन्न होंगे।

(अँगूठी हाथ में लिये हनुमान् का प्रवेश)

हनुमान्—(लङ्का में आकर) रावण के भवन का विन्यास आश्चर्यंकर है:—इस लंका में सोने के बने विचित्र तोरण हैं, इसका प्रदेश मणियों तथा

मणिवरविद्रुमशोभितप्रदेशा ।
विमलविकृतसञ्चितैर्विमानै-
र्वियति महेन्द्रपुरीव भाति लङ्का ॥ २ ॥

अहो नु खलु,

एतां प्राप्य दशग्रीवो राजलक्ष्मीमनुत्तमाम् ।
विमार्गप्रतिपन्नत्वाद् व्यापादयितुमुद्यतः ॥ ३ ॥

(सर्वतो गत्वा) विचरितप्राया मया लङ्का ।

ब्या समृद्धा मणिवरेण मणिश्रेष्ठेन विद्रुमेण प्रबालेन च शोभितः प्रदेशः प्रान्तभागो यस्यास्तादृशी च लङ्का रावणनगरी विमलानि रम्याणि विकृतानि नानाप्रकारस्थितानि सञ्चितानि राशीकृतानि च यानि विमानानि-यानानि तैः वियति स्वर्गे महेन्द्रपुरीव इन्द्रनगरीव विभाति । इयं स्वर्णविरचिततोरणा मणिरचितप्रान्तभागा च स्वर्णनगरी लङ्का सुन्दरैः सुविन्यस्तैर्विमानैराकाशे द्यौरिव विभातीति भावः । उपमालंकारः ॥ २ ॥

एतामिति—एताम् अनुत्तमाम् असाधारणीम् राजलक्ष्मीम् प्राप्य दशग्रीवः रावणः विमार्गप्रतिपन्नत्वात् कुमार्गप्रचलितचित्तत्वात् व्यापादयितुम् हन्तुम् उद्यतः, इमां शोभातिशयशालिनीम् राजलक्ष्मीम् सीतां प्राप्य रावणो विमार्गगामित्वात् हन्तुमुद्यत इत्याश्चर्यकरम्, तादृशमहालक्ष्मीव्यापादनस्य नितान्तमनुचितत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

विचरितप्राया—अन्विष्टा ।

प्रवाल से शोभित है । निर्मल तथा सञ्चित विमानों से यह नगरी आकाश में अवस्थित स्वर्गपुरी की तरह मालूम पड़ती है ॥ २ ॥

आश्चर्य की बात है—

इस असाधारण राजलक्ष्मी को प्राप्त करके रावण अपनी कुमार्ग-प्रवृत्ति से इसे नष्ट करने पर उतारू हो रहा है ॥ ३ ॥

(चारो ओर घूमकर) मैंने सारी लंका में भ्रमण कर लिया,

गर्भागारविनिष्कुटेषु बहुशः शालाविमानादिषु
स्नानागारनिशाचरेन्द्रभवनप्रासादहर्म्येषु च ।
पानागारनिशान्तदेशविवरेष्वाक्रान्तवानस्म्यहं
सर्वं भो! विचितं न चैव नृपतेः पत्नी मया दृश्यते ॥४॥

अहो व्यर्थो मे परिश्रमः । भवतु, एतद्धर्म्याग्रमारुह्यावलोकयामि । (तथा कृत्वा) अये अयं प्रमदवनराशिः । इमं प्रविश्य परीक्षिष्ये । (प्रविश्यावलोक्य) अहो प्रमदवनसमृद्धिः । इह हि,

कनकरचितविद्रुमेन्द्रनीलै-

गर्भागारेति–गर्भागारेषु गृहमध्यभागेषु, विनिष्कुटेषु गृहारामेषु, बहुशः अनेकविधेषु शालाविमानादिषु गृहेषु यानादिषु, स्नानागारेषु, निशाचरेन्द्रभवनेषु रावणनिवासगृहेषु, प्रासादेषु हर्म्येषु विशालभवनेषु च । पानागारेषु मद्यपानोपयुक्तसदनेषु, निशान्तेषु गृहेषु, देशविवरेषु सूक्ष्मेष्वपि लङ्कायाः स्थानेषु अहं हनूमान् आक्रान्तवान् गतः अस्मि, भोः, मया सर्वं लङ्कायाः स्थानं विचितम् अन्विष्टम्, नृपतेः रामस्य पत्नी सीता च मया नैव दृश्यते ॥ ४ ॥

व्यर्थः—विफलः, परिश्रमः–अन्वेषणश्रमः । हर्म्याग्रम्–प्रासादोपरिभागम् । प्रमदवनराशिः–स्त्रीजनविहारोपयुक्तं वनं प्रमदवनं तस्य राशिः समूहः । इमम्–प्रमदवनराशिम् । परीक्षिष्ये–अन्वेषयिष्यामि ।

प्रमदवनसमृद्धिः—प्रमदवनस्य रमणीयता ।

कनकरचितेति—कनकरचिताः ये विद्रुमाः इन्द्रनीलाश्च स्वर्णखचिताः

गृह मध्यवर्ती उद्यानों, गृहों तथा विमानों में, स्नानागारों, रावण के गृहों तथा प्रासादों में, मद्यशाला तथा अन्यान्य देशों में मैंने सर्वत्र खोज लिया, परन्तु कहीं भी राम की पत्नी सीता को नहीं पा सका ॥ ४ ॥

मेरा सारा श्रम बेकार गया । अस्तु, इस प्रासाद पर चढ़कर भी देख लेता हूँ (प्रासाद पर चढ़कर) अरे यह तो प्रमदवन है । इसमें पैठकर देखूँगा । (पैठकर और देखकर) प्रमदवन की समृद्धि कितनी विशाल है । यहाँ—

सोना से विद्रुम तथा इन्द्रनील से बना हुआ, बड़े वृक्षों की कतार से विचित्र,

विकृतमहाद्रुमपङ्क्तिचित्रदेशा।
रुचिरतरनगा विभाति शुभ्रा
नभसि सुरेन्द्रविहारभूमिकल्पा ॥ ५ ॥

अपि च—

चित्रप्रस्रुतहेमधातुरुचिराः शैलाश्च दृष्टा मया
नानावारिचराण्डजैर्विरचिता दृष्टा मया दीर्घिकाः।
नित्यं पुष्पफलाढ्यपादपयुता देशाश्च दृष्टा मया
सर्वं दृष्टमिदं हि रावणगृहे सीता न दृष्टा मया ॥ ६ ॥

प्रवाला इन्द्रनीलाख्यमणयश्च तैर्विकृता विचित्रा या महाद्रुमपङ्क्तिर्विशालवृक्षपरम्परा तया चित्रो नानावर्णो देशो यस्यां तादृशी, रुचिरतरनगा अतिविचित्रपर्वता शुभ्रा स्वच्छा चेयं प्रमदवनसमृद्धिः नभसि व्योम्नि सुरेन्द्रविहारभूमिकल्पा इन्द्रक्रीडास्थलीतुल्या विभाति। अत्र प्रमदवने कनकखचितैः प्रवालैर्नीलमणिभिश्च चित्रा भूमिः, द्रुमपरम्पराऽद्भुतविन्यासा, नगो नितान्तहृद्यः, सर्वमिदं मिलित्वाऽस्य प्रमदवनस्येन्द्रक्रीडास्थलसादृश्यं गमयतीति भावः ॥ ५ ॥

चित्रप्रस्रुतेति—चित्राः प्रस्रुतं यद् हेम सुवर्णम् प्रस्रुताश्च ये धातवस्तै रुचिराः नानावर्णाः क्षरद्भिः स्वर्णैः धातुभिश्च रम्याः शैलाः पर्वता मया दृष्टाः प्रत्यक्षीकृताः नानावारिचराण्डजैः विविधजलचरपक्षिभिर्हंसकारण्डवादिभिः विरचिताः सनाथीकृताः दीर्घिकाः सरस्यश्च मया दृष्टाः, नित्यं सदा पुष्पफलाढ्यपादपयुताः पुष्पफलसमृद्धवृक्षपूर्णाः देशाश्च मया दृष्टाः, इदं सर्वं दृष्टं परन्तु रावणगृहे मया सीता न दृष्टा। स्रवद्धेमधातुरम्यान् पर्वतान्, विविधपक्षिगणान्विताः सरसीः, पुष्पफलपूर्णवृक्षरम्यान्देशांश्चापि दृष्टवता मया क्वापि रावणगृहे सीता नेक्षिता, तद् व्यर्थो मम सकलः प्रयास इति भावः ॥ ६ ॥

यह स्वच्छ प्रमदवन स्वर्ग में इन्द्र के विहारस्थल के समान प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

जहाँ स्वर्ण तथा अन्यान्य धातु विद्यमान हैं ऐसे पर्वत को मैंने देख लिया, नाना जाति के जलचर पक्षियों से युक्त सरोवर भी मैंने देखे, नित्यपुष्पित-फलित वृक्षों वाले देश भी मैंने देख लिये, रावण के गृह में मैंने सारी चीजें देखलीं, परन्तु सीता को नहीं पाया ॥ ६ ॥

को नु खल्वेतस्मिन् प्रदेशे सप्रभ इव दृश्यते। तत्र तावदवलोकयामि (तथा कृत्वा) अये का नु खल्वियम्।

राक्षसीभिः परिवृता विकृताभिः सुमध्यमा।
नीलजीमूतमध्यस्था विद्युल्लेखेव शोभते ॥ ७॥

यैषा,

असितभुजगकल्पां धारयन्त्येकवेणीं
करपरिमितमध्या कान्तसंसक्तचित्ता।
अनशनकृशदेहा बाष्पसंसिक्तवक्त्रा
सरसिजवनमालेवातपे विप्रविद्धा ॥ ८॥

सप्रभः—कान्तिमान्।

राक्षसीभिरिति—विकृताभिः विकृताकारवाक्चेष्टाभिः राक्षसीभिः राक्षसजातिस्त्रीभिः परिवृता वेष्टिता सुमध्यमा रम्यमध्या (इयं का) नीलजीमूतमध्यस्था श्यामजलदमध्यगता विद्युल्लेखा तडिदिव शोभते भाति, यथा श्यामघनमध्यस्थिता तडिद् भासते तथा केयं राक्षसीनां मध्ये भासत इत्यर्थः। उपमाऽलङ्कारः ॥

असितेति—असितभुजगकल्पाम् कृष्णसर्पसमाम् एकवेणीं मुक्तकेशकलापम् धारयन्ती बिभ्रती, करपरिमितमध्या मुष्टिग्राह्यमध्यदेशा, कान्तसंसक्तचित्ता प्रियलग्नहृदया, अनशनेन आहारत्यागेन कृशः असाधारणदुर्बलो देहो यस्यास्तादृशी, बाष्पसंसिक्तवक्त्रा अश्रुसिक्तमुखी आतपे सूर्यकिरणसम्मुखं विप्रविद्धा सन्तप्यमाना सरसिजवनमाला कमलकाननपरम्परा इव यैषा विभाति सा का ? इति जिज्ञासा ॥ ८ ॥

यहाँ पर यह चमकदार कौन दीख पड़ रहा है। वहाँ तो देखूँ। (देखकर) अरे यह कौन है ?

विकृत आकार वाली राक्षसियों से घिरी यह कौन है जो नवीन मेघमाला के बीच में वर्तमान विजली सी लग रही है ॥ ७॥

काले नाग के सदृश दीखने वाली चोटी को धारण करने वाली, पतली कमर वाली, प्रियतमानुरक्तहृदया, अनाहार के कारण कृशाङ्गी, डबडबाई आँखों वाली, धूप में सूखती हुई कमल माला सरीखी यह कौन है ? ॥ ८ ॥

अये कथं दीपिकावलोकः । (विलोक्य) अये रावणः ।

मणिविरचितमौलिश्चारुताम्रायताक्षो
मदसललितगामी मत्तमातङ्गलीलः ।
युवतिजननिकाये भात्यसौ राक्षसेशो
हरिरिव हरिणीनामन्तरे चेष्टमानः ॥ ९ ॥

किमिदानीं करिष्यते । भवतु, दृष्टम् । एनमशोकपादपमारुह्य कोटरान्तरितो भूत्वा दृढं वृत्तान्तं ज्ञास्यामि । (तथा करोति ।)

(ततः प्रविशति रावणः सपरिवारः ।)

दीपिकावलोकः—दीपकस्य प्रकाशः ।

मणिविरचितेति—मणिविरचितमौलिः मणिगणपूर्णशिराः चारूणि सुन्दराणि ताम्राणि रक्तवर्णानि आयतानि विशालानि च अक्षीणि यस्य तादृशः, मदेन मद्यादुपयोगजन्मना मनोविकारेण सललितं सविलासं गच्छति तच्छीलः, मत्तमातङ्गलीलः मत्तगजसदृशः असौ राक्षसेशो रावणः युवतिजनमध्ये हरिणीनां मृगीणामन्तरे मध्ये चेष्टमानः नानाचेष्टाः कुर्वन् हरिः सिंह इव विभाति, शिरसि विविधरत्नानि धारयन् रम्याणि रक्तवर्णानि विशालानि च लोचनानि वहन् , मदेन सविलासं चलन् , गजगामी चायं रावणो युवतीनां मध्ये तथा शोभते यथा मृगीणाम् मध्ये सिंहः शोभत इत्याशयः ॥ ९ ॥

अशोकपादपम्—अशोकनामकं वृक्षम् । कोटरान्तरितः—क्वचन कोटरे निलीनः । दृढम्—साधु निश्चितं च ।

अरे, क्या यह दीप का प्रकाश है ? (देखकर) अरे, यह तो रावण है ?

इसके शिरपर भूषण के रूप में बहुत से रत्न हैं, इसके नयन रक्त तथा विशाल हैं, मद से यह सविलास तथा मतवाले गज की तरह चल रहा है, यह राक्षसराज स्त्रियों के बीच में ऐसा लगता है मानों हरिणियों के बीच में सिंह हो ॥ ९ ॥

अब क्या करूँगा ? अच्छा, उपाय सूझ गया । इसी अशोक वृक्ष पर चढ़कर कोटर में छिपकर सारे वृत्तान्त को जान लूँगा । (वैसा ही करता है)

(अनन्तर सपरिवार रावण का प्रवेश)

रावणः—

दिव्यास्त्रैः सुरदैत्यदानवचमूविद्रावणं रावणं
युद्धे क्रुद्धसुरेभदन्तकुलिशव्यालीढवक्षःस्थलम् ।
सीता मामविवेकिनी न रमते सक्ता च मुग्धेक्षणा
क्षुद्रे क्षत्रियतापसे ध्रुवमहो दैवस्य विघ्नक्रिया ॥ १० ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य) एष एष चन्द्रमाः,

रजतरचितदर्पणप्रकाशः
करनिकरैर्हृदयं ममाभिपीड्य ।

दिव्यास्त्रैरिति—दिव्यास्त्रैः सुरदैत्यदानवचमूविद्रावणं ब्राह्मादिभिस्तैस्तैरस्त्रैः सुराणां देवानाम् दैत्यानां दानवानाञ्च चमूनाम् सेनानां विद्रावणं पराजयकरम् , युद्धे क्रुद्धः कुपितो यः सुरेभः ऐरावतस्तस्य दन्ता एव कुलिशानि वज्राणि तैर्व्यालीढं क्षतं वक्षःस्थलं यस्य तादृशम् , मां रावणम् इयं मुग्धेक्षणा सीता न रमते स्त्रीभावेन न सेवते, (किन्तु—) क्षुद्रे अशक्ते क्षत्रियतापसे क्षत्रियवंश्ये मिथ्या तपश्चरति च सक्ता बद्धभावा (विद्यते) सेयं ध्रुवं दैवस्य विघ्नक्रिया अन्तरायकरणम् । ब्रह्मास्त्रादिभिः सदा देवदानवसैन्यपराजेतारं कुपितैनैरावतेन वज्रोपमस्वदन्ताघातद्वारा क्षतवक्षःस्थलं च मां विहाय यदियं सीता क्षुद्रे मिथ्यातपस्विनि क्षत्रिये रामे बद्धहृदया विद्यते, तदिदं मदीयं दुर्दैवमेवान्तरायमाचरतीति भावः ॥ १० ॥

रजतरचितेति—रजतरचितदर्पणस्य प्रकाश इव प्रकाशो यस्य तादृशः, कुमुदवनप्रियबान्धवः कुमुदकुलस्य प्रियसुहृत् विजृम्भमाणः स्वसामर्थ्यं प्रथयन्

रावण—दिव्य अस्त्रों द्वारा देव-दानव सैन्य को खदेड़ देने वाले, तथा कुपित ऐरावत के वज्रोपम दन्त-क्षत वक्षःस्थल मुझ रावण पर यह भोली सीता अनुराग नहीं करके अभागे क्षत्रिय तपस्वी पर अनुराग रख रही है, निश्चय यह विघ्न भाग्य करा रहा है ॥ १० ॥

(ऊपर की ओर देखकर) यह चन्द्रमा चाँदी के बने दर्पण की तरह दीख

उदयति गगने विजृम्भमाणः
कुमुदवनप्रियबान्धवः शशाङ्कः ॥ ११ ॥

(परिक्रम्य) एषा सीता पादपमूलमाश्रित्य ध्यानसंवीतहृदयानशनक्षामवदना स्वदेहमिव प्रवेष्टुकामा सङ्गूढस्तनोदरी दुर्दिनान्तर्गता चन्द्रलेखेव राक्षसीगणपरिवृतोपविष्टा । यैषा,

अपास्य भोगान् मां चैव श्रियं च महतीमिमाम् ।
मानुषे न्यस्तहृदया नैव वश्यत्वमागता ॥ १२ ॥

अयं शशाङ्कश्चन्द्रः करनिकरैः स्वप्रभाभिः मां रावणम् अभिपीड्य व्यथयित्वा गगने उदयति उदयं लभते ॥ ११ ॥

पादपमूलम्-वृक्षाधोभागम् । ध्यानसंवीतहृदया—ध्याने स्वप्रियतमध्यानकर्मणि संवीतं लग्नं हृदयं यस्यास्तादृशी । अनशनक्षामवदना-अनाहारशुष्कमुखी । स्वदेहमिव प्रवेष्टुकामा-नम्रीकृततनुः । सङ्गूढस्तनोदरी-प्रच्छादितकुचोदरदेशा दुर्दिनान्तर्गता—वर्षातिरोहिता । चन्द्रलेखा-चन्द्रकला । राक्षसीगणपरिवृता-राक्षसीभिर्वेष्टिता ।

अपास्येति—भोगान् विषयोपभोगजन्यानानन्दान् , मां रावणम् , इमां महतीं विशालाम् श्रियं च अपास्य विहाय (इयं सीता) मानुषे साधारणे मनुजे न्यस्तहृदया बद्धभावा नैव वश्यत्वम् आगता मम वशवर्त्तित्वं नैव प्राप्ता । अनुतापोऽत्र व्यक्तः ॥ १२ ॥

रहा है, अपनी किरणों से मुझे सता रहा है, यह कुमुद-बन्धु चन्द्रमा बड़े वेग से आकाश में उदित हो रहा है ॥ ११ ॥

(चलकर) वृक्ष की जड़ में बैठकर, ध्यानावस्थित हो, अनाहार से कृशाङ्गी अपनी देह में पैठती हुई, स्तनों तथा उदरभाग को ढंके हुई, यह सीता राक्षसियों से घिरी रहकर ऐसी लगती है मानो मेघों से घिरी चन्द्रकला हो ।

इस सीता ने मुझे, इस समस्त भोग-विलास को एवं इस विशाल सम्पत्ति को छोड़कर मनुष्यजन्मा राम पर हृदय न्योछावर किया है, यह मेरे वश में नहीं ही आई ॥ १२ ॥

हनूमान्—हन्त सुविज्ञातम् ।

इयं सा राजतनया पत्नी रामस्य मैथिली ।
सिंहदर्शनवित्रस्ता मृगीव परितप्यते ॥ १३ ॥

रावणः—(उपेत्य)

सीते ! त्यज त्वं व्रतमुग्रचर्यं
भजस्व मां भामिनि ! सर्वगात्रैः ।
अपास्य तं मानुषमद्य भद्रे !
गतायुषं कामपथान्निवृत्तम् ॥ १४ ॥

सीता—हस्सो खु रावणओ, जो वअणगदसिद्धिं वि ण जाणादि ।
[हास्यः खलु रावणकः, यो वचनगतसिद्धिमपि न जानाति ।]

इयं सेति—इयं सा जगत्प्रथिता राजतनया राज्ञो जनकस्य पुत्री रामस्य पत्नी धर्मभार्या मैथिली नाम सिंहदर्शनवित्रस्ता सिंहावलोकनभीता मृगी हरिणीव परितप्यते खेदमनुभवति ॥ १३ ॥

सीते त्यजेति—हे सीते, त्वम् उग्रचर्यम् अतिकष्टसाध्यम् व्रतं पातिव्रत्यलक्षण नियमं त्यज, हे भामिनि कोपने, हे भद्रे कल्याणिनि, कामपथान्निवृत्तम् अकामं गतायुषं मृतं मृतकल्पं वा तं मानुषम् मनुजम् अपास्य परित्यज्य सर्वगात्रैः सकलैरपि स्वाङ्गैः मां रावणं भज सेवस्व, मया सह विहरेत्यर्थः ॥ १४ ॥

हास्यः उपहासपात्रम् । वचनगतसिद्धिम्–वाक्यस्यासंबद्धताम् । रावणो रामं गतायुषं कथयन् स्वोक्तस्यार्थस्यासत्यतयाऽसंबद्धप्रलापित्वेनोपहासस्य पात्रमिति भावः ।

हनूमान्—अहा ! मैं सब समझ गया ।

यही है राम की पत्नी राजकुमारी सीता, जो सिंह दर्शन से डरी हुई हरिणी की तरह दुःखिनी हो रही है ॥ १३ ॥

रावण—(समीप आकर)

सीते, छोड़ो इस कठोर व्रत को, हे कोपने, मुझे अपने समस्त अङ्गों से स्वीकार करो, छोड़ो उस मनुष्य को, वह तो मर चुका सा है, वह अब तुम्हारे काम-मार्ग से दूर हो गया है ॥ १४ ॥

सीता—रावण उपहासास्पद है जिसे बोलने का ढङ्ग भी नहीं है ।

हनूमान्—(सक्रोधम्) अहो रावणस्यावलेपः !

तौ च बाहू न विज्ञाय तच्चापि सुमहद् धनुः ।
सायकं चापि रामस्य गतायुरिति भाषते ॥ १५ ॥

न शक्नोमि रोषं धारयितुम् । भवतु, अहमेवार्यरामस्य कार्यं साधयामि । अथवा,

यद्यहं रावणं हन्मि कार्यसिद्धिर्भविष्यति ।
यदि मां प्रहरेद् रक्षो महत् कार्यं विपद्यते ॥ १६ ॥

रावणः—

वरतनु ! तनुगात्रि ! कान्तनेत्रे !

अवलेपः—गर्वः ।

तौ च बाहू इति—रामस्य तौ जगद्विदितपराक्रमौ बाहू, तत् चापि सुमहत् विशालं धनुः शरासनम् , सायकं बाणं च न विज्ञाय अपरिचित्य (रामं) गतायुः मृतः इति भाषते । सर्वमिदं रावणस्य गर्वविजृम्भितं यदसौ रामस्य बाहुधनुःसायकानज्ञात्वैव तं मृतमभिधत्त इत्याशयः ॥ १५ ॥

रोषं धारयितुम्—कोपं नियमयितुम् । कार्यम्-रावणवधरूपम् ।

यद्यहमिति—यद्यहं हनूमान् रावणं हन्मि मारयामि तदा कार्यसिद्धिः रामस्य कर्त्तव्यपूर्त्तिः भविष्यति, यदि चासौ रक्षो राक्षसः मां प्रहरेत्-मारयेत् तदा कार्यं सीतावृत्तोपलब्धिरूपं विपद्यते नश्यति, अव्यवस्थौ च जयविजयौ, अतः सम्प्रति मयोदासितुमेव युक्तमिति भावः ॥ १६ ॥

वरतन्विति—हे देवि, हे वरतनु सुन्दरि, तनुगात्रि कृशाङ्गि, कान्तनेत्रे

हनूमान्—आश्चर्यजनक है रावण का गर्व,

यह राम के हाथों को तथा उस विशाल धनुष को एवं बाण को बिना जाने ही राम को मरा हुआ सा बता रहा है ॥ १५ ॥

मैं अपने क्रोध को रोकने में असमर्थ हूँ । अस्तु, मैं ही राम का कार्य किये देता हूँ । अथवा—अगर मैंने रावण को मार दिया तब तो काम बन गया, अगर रावण मुझे मार देता है तब यह विशाल कार्य समाप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

रावण—हे सुन्दरि, हे कृशाङ्गि, हे सुनयने, कुवलयमाला सदृश इस वेणी

कुवलयदामनिभां विमुच्य वेणीम् ।
बहुविधमणिरत्नभूषिताङ्गं
दशशिरसं मनसा भजस्व देवि ! ॥ १७ ॥

सीता—हं विपरीओ खु धम्मो, जं जीवदि खु अअं पापरक्खसो ।
[हं, विपरीतः खलु धर्मः, यद् जीवति खल्वयं पापराक्षसः ।]

रावणः—ननु देवि ।

सीता—सत्तो सि । [शप्तोऽसि ।]

रावणः—हहह, अहो पतिव्रतायास्तेजः !

देवाः सेन्द्रादयो भग्ना दानवाश्च मया रणे ।
सोऽहं मोहं गतोऽस्म्यद्य सीतायास्त्रिभिरक्षरैः ॥ १८ ॥

रमणीयलोचने, कुवलयदामनिभां नीलकमलाकृतिं वेणीं विमुच्य संयम्य बहुविधैर्मणिभिः रत्नैश्च भूषिताङ्गं साध्वलङ्कृतं दशशिरसं मां रावणं मनसा भजस्व मया सह रमस्व ॥ १७ ॥

विपरीतः—विपरीतकारी । यदि धर्मो यथोचितकारी स्यात्तदा मां प्रतीत्थं कथयन् रावणो न जीवेद् यतोऽयं जीवत्यतो धर्मस्य विपरीतस्वरूपत्वं समर्थ्यत इत्यर्थः ।

देवाः सेन्द्रादय इति—सेन्द्रादयः इन्द्रादिना सहिताः देवाः दानवाश्च मया रावणेन रणे युद्धे भग्नाः पराजिताः, सोऽहं सर्वविजयी रावणः सीतायाः शप्तोऽस्मीति त्रिभिरक्षरैः स्वल्पैर्वर्णैः अद्य सम्प्रति मोहं गतोऽस्मि, तदिदं पतिव्रतातेज इत्युपहासपरं वचनमिदम् ॥ १८ ॥

को छोड़कर नाना प्रकार के मणियों तथा रत्नों से भूषित इस रावण को स्वीकार करो ॥ १७ ॥

सीता—धर्म भी बड़ा विपरीत है जो यह राक्षस जी रहा है ।

रावण—देवि सीते,

सीता—मैं शाप दे दूंगी ।

रावण—हः हः ! पतिव्रता का तेज तो देखो—

समस्त इन्द्रादि देवों तथा दानवों को मैंने युद्ध में परास्त कर दिया है वही—मैं सीता के इन तीन अक्षरों से मुग्ध होता जा रहा हूँ ॥ १८ ॥

(नेपथ्ये)

जयतु देवः। जयतु लङ्केश्वरः। जयतु स्वामी। जयतु महाराजः। दश नाडिकाः पूर्णाः। अतिक्रामति स्नानवेला। इत इतो महाराजः।

(निष्क्रान्तः सपरिवारो रावणः।)

हनूमान्—हन्त निर्गतो रावणः, सुप्ताश्च राक्षसस्त्रियः। अयं कालो देवीमुपसर्पितुम्। (कोटरादवरुह्य) जयत्वविधवा।

प्रेषितोऽहं नरेन्द्रेण रामेण विदितात्मना।
त्वद्गतस्नेहसन्तापविक्लवीकृतचेतसा ॥ १९ ॥

सीता—(आत्मगतम्) को णु खु अअं, पापरक्खसो अय्यउत्तकेरओ-

निर्गतः—स्थानादस्माद् गतः।

देवीम्—सीताम्। उपसर्पितुम्-समीपं गन्तुम्। अविधवा-भर्तृमती, सीतायाः पुरतो रावणेन रामस्य गतायुष्कमुक्तम्, अविधवेति संबोध्य हनूमान् सीतायाः सर्वमपि तदुत्थं दुःखमपनोदितवानिति बोध्यम्।

प्रेषितोऽहमिति—त्वद्गतस्नेहसन्तापविक्लवीकृतचेतसा त्वद्विषयकेण स्नेहेन प्रेम्णा यः सन्तापः त्वदपहरणजन्यखेदस्तेन विक्लवीकृतं दुःस्थतां गमितं चेतो हृदयं यस्य तेन तथोक्तेन विदितात्मना त्वदीयहृदयज्ञेन नरेन्द्रेण राज्ञा रामेण अहं हनूमान् प्रेषितः अत्र प्रहितोऽस्मीति भावः ॥ १९ ॥

(नेपथ्य में)

जय हो महाराज की, लङ्केश्वर की जय हो, दश बज गया, स्नान का समय बीता जा रहा है। महाराज इधर चलें।

(सपरिवार रावण जाता है)

हनूमान्—रावण चला गया, सारी राक्षस स्त्रियां सो गईं। यही समय है सीता के पास पहुँचने का। (कोटर से उतर कर) जय हो अविधवा का। मुझे आत्मज्ञ, राजा, तथा आप के स्नेह एवं विरह के कारण सन्तप्तहृदय राम ने भेजा है॥१९॥

सीता—यह कौन है? यह कोई पापी राक्षस अपने को राम का आदमी

त्ति अत्ताणं ववदिसिअ वाणररूवेण मं वञ्चिदुकामो भवे । भोदु, तुह्णिआ भविस्सं । [को नु खल्वयं, पापराक्षस आर्यपुत्रसम्बन्धीत्यात्मानं व्यपदिश्य वानररूपेण मां वञ्चयितुकामो भवेत् । भवतु, तूष्णीका भविष्यामि ।]

हनूमान्—कथं न प्रत्येति भवती । अलमन्यशङ्कया । श्रोतुमर्हति भवती ।

इक्ष्वाकुकुलदीपेन सन्धाय हरिणा त्वहम् ।
प्रेषितस्त्वद्विचित्यर्थं हनूमान् नाम वानरः ॥ २० ॥

सीता—(आत्मगतम्) जो वा को वा भोदु । अय्यउत्तणामसङ्कित्तणेण अहं एदेण अभिभासिस्सं । (प्रकाशम्) भद्द ! वुत्तन्तो अय्यउत्तस्स । [यो वा को वा भवतु । आर्यपुत्रनामसंकीर्तनेनाहमेतेनाभिभाषिष्ये । भद्र ! को वृत्तान्त आर्यपुत्रस्य ?]

हनूमान्—भवति ! श्रूयताम् ,

आर्यपुत्रसंबन्धी—रामस्यात्मीयः । आत्मानं व्यपदिश्य—रामसंबन्धिनं स्वं प्रख्याप्य, वञ्चयितुकामः-प्रतारयितुमिच्छुः । तूष्णीका-मौनशालिनी ॥

प्रत्येति—मयि विश्वासं करोति । अन्यशङ्कया—रामसंबन्धिभिन्नोऽयमिति सन्देहेन ।

इक्ष्वाकुकुलेति—इक्ष्वाकुकुलदीपेन इक्ष्वाकुवंशावतंसेन रामेण हरिणा वानरेण सुग्रीवेण सह सन्धाय सन्धिं कृत्वा त्वद्विचित्यर्थम् त्वामन्वेषयितुम् अहम् हनूमान् नाम वानरः प्रेषितः प्रहितः अस्मीति शेषः । अतो मयि विश्वासः कर्त्तुमुचित इत्याशयः ॥ २० ॥

आर्यपुत्रनामसंकीर्त्तनेन—अयं रामस्य नाम कीर्त्तयतीति हेतुना ।

बताकर वानर के रूप में मुझे छलने आया होगा । अस्तु, मैं चुप रहूँगी ।

हनूमान्—क्यों आप विश्वास नहीं करती हैं । दूसरा कुछ सोचना बेकार है ।

सुनिये—इक्ष्वाकुकुल के प्रकाशक भगवान् राम ने वानरों के साथ सन्धि की है, और आपकी खोज करने को मुझे भेजा है, मैं हनूमान् नाम का वानर हूँ ॥२०॥

सीता—(स्वगत) जो कोई रहे, यह मेरे प्रिय राम का नाम लेता है, मैं इस से बातें करूंगी । भद्र, मेरे आर्यपुत्र का क्या समाचार है

हनूमान्—सुनिये आप,

अनशनपरितप्तं पाण्डु स क्षामवक्त्रं
तव वरगुणचिन्तावीतलावण्यलीलम् ।
वहति विगतधैर्यं हीयमानं शरीरं
मनसिजशरदग्धं बाष्पपर्याकुलाक्षम् ॥ २१ ॥

सीता—(आत्मगतम्) हद्धि वीलिआ खु म्हि मन्दभाआ एवं सोअन्तं अय्यउत्तं सुणिअ। अय्यउत्तस्स विरहपरिस्समो वि मे सफलो संवुत्तो त्ति पेक्खामि. जदि खु अअं वाणरो सच्चं मन्तेदि। अय्यउत्तस्स इमस्सि जणे अणुक्कोसं परिस्समं च सुणिअ सुहस्स दुक्खस्स अ अन्तरे डोलाअदि विअ मे हिअअं। (प्रकाशम्) भद्द ! कहं तुम्हेहि अय्यउत्तस्स सङ्गमो जादो। [हा धिग् व्रीडिता खल्वस्मि मन्दभागा एवं शोचन्तमार्यपुत्रं श्रुत्वा। आर्यपुत्रस्य विरहपरिश्रमोऽपि मे सफलः संवृत्त इति पश्यामि, यदि खल्वयं वानरः सत्यं मन्त्रयते। आर्यपुत्रस्यास्मिन् जनेऽनुक्रोशं परिश्रमं च श्रुत्वा

अनशनेति—सः रामः अनशनपरितप्तं भोजनत्यागखिन्नम् क्षामवक्त्रम् कृशाननम् तव वराणां श्रेष्ठानां गुणानां चिन्तया वीता समाप्ता लावण्यलीला सौन्दर्यविभ्रमो यस्य तादृशम् विगतधैर्यम् नष्टधीरभावम् हीयमानम् अनुदिनं क्षीयमाणम् मनसिजशरदग्धं कामपीडितम् बाष्पपर्याकुलाक्षम् साश्रुनयनश्च शरीरं वहति धारयति ॥ २१ ॥

व्रीडिता—लज्जिता। आर्यपुत्रं शोचन्तं श्रुत्वा—आर्यपुत्रकृतं मद्विषयं शोकमाकर्ण्य। विरहपरिश्रमः—विरहे क्लेशः संवृत्तः—जातः । अस्मिन् जने सीतानामनि स्वलक्षणे लोके। अनुक्रोशो दया। परिश्रमः क्लेशः। दयां स्मृत्वा सुखं क्लेशं स्मृत्वा च दुःखं

इन दिनों रामजी का शरीर अनाहार से दुर्बल हो रहा है, मुंह पीला पड़ गया है, आपके गुणों की चिन्ता में उनके शरीर का सारा लावण्य लुप्त हो गया है, उनका धैर्य छूट रहा है, शरीर घटता जाता है, कामबाण से वह दग्ध हो रहा है एवं नयनों से सदा अश्रु प्रवाह होता रहता है ॥ २१ ॥

सीता—(स्वगत) मेरे आर्यपुत्र मेरे लिये शोक कर रहे हैं यह सुन कर मैं लज्जित हो रही हूँ। मेरा प्रिय-विरह-कष्ट आज सफल हो गया, यह वानर यदि ठीक कहता हो। मैं अपने ऊपर आर्यपुत्र के स्नेह को सुनकर इस समय

सुखस्य दुःखस्य चान्तरे दोलायत इव मे हृदयम् । भद्र ! कथं युष्माभिरार्यपुत्रस्य सङ्गमो जातः ?]

हनूमान्—भवति ! श्रूयताम्—

हत्वा वालिनमाहवे कपिवरं त्वत्कारणादग्रजं
सुग्रीवस्य कृतं नरेन्द्रतनये ! राज्यं हरीणां ततः ।
राज्ञा त्वद्विचयाय चापि हरयः सर्वा दिशः प्रेषिता-
स्तेषामस्म्यहमद्य गृध्रवचनात् त्वां देवि ! सम्प्राप्तवान् ॥२२॥

अपि च, ईदृशमिव ।

सीता—अहो अअरुणा क्खु इस्सरा एव्वं सोअन्तं अय्यउत्तं करअन्तो । [अहो अकरुणाः खल्वीश्वरा एवं शोचन्तमार्यपुत्रं कुर्वन्तः ।]

बोध्यम् । सङ्गमः मिलनम् ।

हत्वा वालिनमिति—हे नरेन्द्रतनये राजपुत्रि, देवि सीते, आहवे युद्धे कपिवरं वानरश्रेष्ठं वालिनम् अग्रजं सुग्रीवज्येष्ठभ्रातरं हत्वा हरीणां राज्यं सुग्रीवस्य कृतम् सुग्रीवो वानरराजपदेऽभिषिक्तः । ततस्तदनन्तरम् राज्ञा वानरराजेन सुग्रीवेण त्वद्विचयाय त्वदन्वेषणाय हरयो वानराः सर्वाः दिशः प्रेषिताः सर्वासु दिशासु विसृष्टाः, तेषां सुग्रीवेण सीताऽन्वेषणाय विसृष्टानां वानराणां मध्येऽहमद्य गृध्रवचनात्-जटायुषो वचः प्रतीत्य त्वां सम्प्राप्तवान् समायातोऽस्मीति शेषः ॥ २२ ॥

अकरुणाः खल्वीश्वराः—अतिनिर्दयो हीश्वरः येनार्यपुत्र इत्थं शोचन् कृतः,

---

सुख तथा दुःख के बीच में लटक रही हूँ । (प्रकट) भद्र, यह तो बताओ, तुमको राम से भेंट कैसे हुई ?

हनूमान्—आप सुनें, रामजी ने आपके ही कारण सुग्रीव के बड़े भाई वाली को मार कर सुग्रीव को वानरराज बनाया है । हे राजकुमारि, सुग्रीव ने आपको खोजने के लिये बहुत से वानरों को सभी दिशाओं में भेजा है । उन्हीं में का एक मैं जटायु की बात पर यहाँ आकर आज आपको देख सका हूं ॥ २२ ॥

ऐसी ही बात है ।

सीता—ईश्वर बहुत निर्दय हैं जिन्होंने मेरे प्रिय को इस चिन्ता में डाल दिया है ।

हनूमान्—भवति ! मा विषादेन । रामो हि,

प्रगृहीतमहाचापो वृतो वानरसेनया ।
समुद्धर्तुं दशग्रीवं लङ्कामेवाभियास्यति ॥ २३ ॥

सीता—किण्णु खु सिविणो मए दिट्ठो । भद्द ! अवि सच्चं । ण आणामि । [किन्तु खलु स्वप्नो मया दृष्टः । भद्र ! अपि सत्यम् ? न जानामि ।]

हनूमान्—(स्वगतम्) भोः ! कष्टम् ।

एवं गाढं परिज्ञाय भर्तारं भर्तृवत्सला ।
न प्रत्यायति शोकार्ता यथा देहान्तरं गता ॥ २४ ॥

(प्रकाशम्) भवति ! अयमिदानीं,

यदीश्वरो दयालुरभविष्यत्तदेदृशीं स्थितिमेव नाकरिष्यद् येन रामस्य शोकोऽभविष्य-दित्यर्थः ॥

प्रगृहीतेति—रामः प्रगृहीतमहाचापः धृतविशालशरासनः वानरसेनया वृतः वेष्टितः दशग्रीवं रावणं समुद्धर्त्तुं हन्तुं लङ्काम् अभियास्यति आक्रमणं करिष्यति एव, तदलं तव विषादेनेति योजना ॥ २३ ॥

एवमिति—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भर्त्तारं स्वामिनं रामं गाढं परिज्ञाय निपुणं परि-चित्य शोकार्त्ता इयं सीता न प्रत्यायति न विश्वसिति, मद्वचनात् रामं मया निवेद्य-मानमवधार्य इयं सीता तत्र प्रत्ययं न बध्नाति, इति भावः । अविश्वासकारणमाह—यथा देहान्तरं गता । शरीरान्तरं प्रविष्टा भवेत् । शरीरान्तरे कृतसञ्चारो ह्यात्मा पुरातने शरीरे किञ्चिदुच्यमानेऽपि नाकर्णयति, तस्य तत्रावर्त्तमानत्वात्, तथैवेयं सीता युक्तमपि मयोक्तं न प्रत्येतीति भावः ॥ २४ ॥

हनूमान्—आप शोक न करें, महाचापधारी राम वानर-वाहिनी के साथ रावण को उखाड़ फेंकने के निमित्त लङ्का पर शीघ्र ही चढ़ाई करनेवाले हैं ॥ २३ ॥

सीता—क्या मैंने स्वप्न देखा है ? भद्र, क्या यह सत्य है ? मैं नहीं समझ रही हूँ ।

हनूमान्—(स्वगत) बड़ा कष्ट है—

इस प्रकार भलीभांति जानकर भी यह पतिप्राणा तथा शोकार्त्ता सीता विश्वास नहीं कर रही है, ऐसी लग रही है जैसे यह लोकान्तर गई हुई हो ॥२४॥

समुदितवरचापबाणपाणिं
पतिमिह राजसुते ! तवानयामि ।
भव हि विगतसंशया मयि त्वं
नरवरपार्श्वगता विनीतशोका ॥ २५ ॥

सीता—भद्द ! एदं मे अवत्थं सुणिअ अय्यउत्तो जह सोअपरवसो ण होइ, तह मे उत्तन्तं भणेहि । [भद्र ! एतां मेऽवस्थां श्रुत्वार्यपुत्रो यथा शोकपरवशो न भवति, तथा मे वृत्तान्तं भण ।]

हनूमान्—यदाज्ञापयति भवती ।

सीता—गच्छ, कय्यसिद्धी होदु । [गच्छ, कार्यसिद्धिर्भवतु ।]

हनूमान्—अनुगृहीतोऽस्मि । (परिक्रम्य) कथमिदानीं ममागमनं रावणाय निवेदयामि । भवतु, दृष्टम् ।

समुदितेति—समुदितौ युद्धोद्यतौ वरचापबाणौ धनुःसायकौ पाणौ हस्ते यस्य तं तथोक्तम् तव पतिं रामम् इह लङ्कायाम् आनयामि उपस्थापयामि। हे राजसुते राजपुत्रि सीते, मयि मद्विषये विगतसंशया निःशङ्का सती विनीतशोका अदुःखा नरवरपार्श्वगता रामस्य पार्श्वमुपेता च भव। मयि त्वया प्रतीते त्वदीयं वृत्तं निवेद्याहमिह राममुपस्थाप्य योजयिष्यामि त्वयाऽतस्त्वयाहं शत्रुपक्षीयत्वेन न सन्देग्धव्य इत्याशयः ॥ २५ ॥

शोकपरवशः—शोकाधीनः ।

(प्रकट) हे सीते ! मैं विशाल चाप-धारी तुम्हारे पतिदेव को अभी लङ्का में ला रहा हूँ । तुम निःसन्देह रहो, तुमको मैं राम के समीप पहुँचा रहा हूँ । तुम्हारे सारे शोक मिट जायँगे ॥ २५ ॥

सीता—मेरी यह दशा सुनकर जिससे रामजी शोकाकुल न हो उठें इस तरह मेरी बात उन्हें कहना ।

हनूमान्—आपकी जो आज्ञा ।

सीता—जाओ, तुम्हारे कार्य में सिद्धि हो ।

हनूमान—अनुगृहीत हुआ । (चलकर) अब मैं अपने आगमन की सूचना रावण को कैसे दूँ । अस्तु—

परभृतगणजुष्टं पद्मषण्डाभिरामं
सुरुचिरतरुषण्डं तोयदाभं त्रिकूटम् ।
करचरणविमर्दैः काननं चूर्णयित्वा
विगतविषयदर्पं राक्षसेशं करोमि ॥ २६ ॥

(निष्क्रान्तौ)

द्वितीयोऽङ्कः ।



परभृतेति—परभृतगणेन कोकिलनिवहेन जुष्टं सेवितम्, पद्मषण्डाभिरामं कमलकुलललामं सुरुचिरतरुषण्डं रमणीयवृक्षसमूहम् तोयदाभं मेघतुल्यश्यामलम् त्रिकूटं नाम काननं रावणस्योपवनं करचरणविमर्दैः हस्तपादाघातैः चूर्णयित्वा मर्दयित्वा राक्षसेशं विगतविषयदर्पं नष्टगर्वं करोमि । मया स्वीये वने नाश्यमाने रावणस्य दर्पोऽशतः शाम्येदतस्तथा करोमीति हनूमतोऽभिप्रायः ॥ २६ ॥

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक'प्रकाशे' द्वितीयाङ्क'प्रकाशः' ।



कोकिलों से भरे हुए, कमल-कुल से शोभित, तरु-लताओं से रमणीय, मेघ के सदृश इस त्रिकूट उपवन को हाथ-पैरों के द्वारा विमर्दित—चूर्णित करके मैं रावण के राज्यगर्व को दूर कर डालूँगा ॥ २६ ॥

(जाते हैं)

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक'प्रकाशे'
द्वितीयाङ्क'प्रकाशः' ।



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शङ्कुकर्णः)

शङ्कुकर्णः—क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ?

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—अय्य ! अहं विजआ। किं करीअदु । [आर्य ! अहं विजया । किं क्रियताम् ।]

शङ्कुकर्णः—विजये ! निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजाय लङ्केश्वराय—भग्नप्रायाशोकवनिकेति । कुतः,

यस्यां न प्रियमण्डनापि महिषी देवस्य मन्दोदरी
स्नेहाल्लुम्पति पल्लवान्न च पुनर्वीजन्ति यस्यां भयात् ।

काञ्चनतोरणद्वारम्—सुवर्णविरचितं बहिर्द्वारम् । द्वारम् अशून्यं कुरुते—तत्र सन्निहितो वर्त्तते ।

किं क्रियताम्—किं कर्त्तुमादिशसि ?

भग्नप्राया—भूयसांशेन नष्टा ।

यस्यां नेति—प्रियमण्डना स्वाङ्गमण्डनस्नेहवती अलङ्करणप्रिया अपि देवस्य राक्षसराजस्य महिषी प्रधानस्त्री देवी राज्ञी मन्दोदरी स्नेहात् प्रेमातिशयात् यस्याम् अशोकवाटिकायां पल्लवान् नूतनकिसलयान् न लुम्पति कर्णाभरणादिभावेनो-

---

तृतीय अङ्क

(उसके बाद शंकुकर्ण प्रवेश करता है)

शङ्कुकर्ण—यहाँ काञ्चन-तोरण द्वार पर कौन है ?

(प्रवेश करके)

प्रतिहारी—मैं हूं विजया। क्या आज्ञा होती है।

शङ्कुकर्ण—विजये, महाराज लङ्केश्वर से निवेदन कर दो कि अशोक-वनिका भग्नप्राय हो गई है।

मण्डन को पसन्द करनेवाली महारानी मन्दोदरी स्नेह के कारण जिस

वीजन्तो मलयानिला अपि करैरस्पृष्टबालद्रुमाः
सेयं शक्ररिपोरशोकवनिका भग्नेति विज्ञाप्यताम् ॥ १ ॥

प्रतिहारी—अय्य ! णिच्चं भट्टिपादमूले वत्तमाणस्स जणस्स अदिट्ठ-पुरुवो अअं सम्भमो । किं एदं । [आर्य ! नित्यं भर्तृपादमूले वर्तमानस्य जनस्यादृष्टपूर्वोऽयं संभ्रमः । किमेतद् ।]

शङ्कुकर्णः—भवति ! अतिपाति कार्यमिदम् । शीघ्रं निवेद्यतां निवेद्यताम् ।

पयोक्तुं न त्रोटयति, यस्याश्चाशोकवनिकायां करैः स्वहस्तैः अस्पृष्टबालद्रुमाः हस्तैर्बालपादपान् अस्पृशन्तः मलयानिला अपि भयात् रावणकोपाशङ्कया वीजन्तः मन्दोदरीं व्यजनेन सेवमाना अपि न वीजन्ति न वायुदानेन सेवन्ते, सेयं शक्ररिपोः इन्द्रशत्रोः रावणस्य अशोकवनिका अशोकवृक्षप्रधाना वनी भग्ना त्रोटितवृक्षा जाता इति विज्ञाप्यताम् राज्ञे विशिष्य निवेद्यताम् । यस्यामशोकवनिकायां मण्डनप्रियापि राज्ञी मन्दोदरी स्नेहात्पल्लवान्न त्रोटयति, यस्याश्च मन्दोदरीं सेवमाना अपि दक्षिणवायवो बालद्रुमानस्पृशन्त एव तां वीजयन्ति, साऽशोकवनिका केनापि भग्नेति राज्ञे निवेद्यतामिति भावः ॥ १ ॥

नित्यं भर्त्तृपादमूले वर्त्तमानस्य—सदैव राज्ञः समीपे तिष्ठतः । अदृष्टपूर्वः-पूर्वं कदाऽप्यदृष्टः । संभ्रमः-उपद्रवः ।

अतिपाति—कालविलम्बासहिष्णु, शीघ्रं प्रतिकर्त्तव्यम् ।

अशोक वनिका के पत्ते नहीं तोड़ती हैं, जिस अशोक-वनिका में हवा करने वाले मलयानिल डर के मारे हवा नहीं करते हैं, जिस अशोक-वनिका के बालपादप को कोई भी हाथ से छूने का साहस नहीं करता है, इन्द्ररिपु की वही अशोक वनिका भग्न हो गई, जाकर महाराज को सूचित कर दे ॥ १ ॥

प्रतिहारी—आप सदा महाराज के समीप में ही रहते हैं, फिर इतनी घबराहट क्यों ? क्या बात है ?

शङ्कुकर्ण—अरी, यह बड़ी शीघ्रता का कार्य है, शीघ्र सूचना दे ।

प्रतिहारी—अय्य ! इयं णिवेदेमि। (निष्क्रान्ता) [आर्य ! इयं निवेदयामि।]

शङ्कुकर्णः—(पुरतो विलोक्य) अये अयं महाराजो लङ्केश्वर इत एवाभिवर्तते। य एषः,

अमलकमलसन्निभोग्रनेत्रः
कनकमयोज्ज्वलदीपिकापुरोगः।
त्वरितमभिपतत्यसौ सरोषो
युगपरिणामसमुद्यतो यथार्कः ॥ २ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रावणः।)

रावणः—
कथं कथं भो नववाक्यवादिञ्छृणोमि शीघ्रं वद केन चाद्य।

इत एवाभिवर्त्तते—एतद्देशाभिमुखमेवागच्छति।

अमलकमलेति—अमलकमलसन्निभानि रमणीयसरसिजतुल्यानि नेत्राणि विंशतिर्नयनानि यस्य तादृशः, कनकमयी स्वर्णनिर्मिता या दीपिका प्रदीपः पुरोगा अग्रगामिनी यस्य तादृशश्च सरोषः कुपितोऽसौ रावणः युगपरिणामसमुद्यतः प्रलयप्रवृत्तः अर्कः सूर्यो यथा तथा त्वरितं शीघ्रम् अभिपतति आयाति। रमणीयनेत्रसमूहो दीपिकया मार्गदर्शनाय पुरो नीयमानया दर्शिताध्वा कुपितश्चायं रावणः प्रलयप्रवृत्तार्कवत्प्रतीयमानस्त्वरया दिशमिमामेवायातीति भावः ॥ २ ॥

कथं कथमिति—भोः नववाक्यवादिन् नूतनकथाभिधायक, कथं कथं शृणोमि

प्रतिहारी—आर्य, अभी निवेदन कर रही हूँ। (जाती है)

शङ्कुकर्ण—(आगे की ओर देख कर) अरे, यह तो महाराज लङ्केश्वर इधर ही आ रहे हैं।

इनकी आंखें निर्मल कमल सदृश तथा तेजस्वी हैं, इनके आगे-आगे सोने का प्रदीप चल रहा है। यह कुपित अवस्था में तेजी से जाते हुए प्रलयकालिक सूर्य के सदृश लग रहे हैं ॥ २ ॥

(यथोक्त अवस्था में रावण का प्रवेश)

रावण—अजी नई बात कहनेवाले, कैसी कसी बातें सुन रहा हूँ, शीघ्र

मुमूर्षुणा मुक्तभयेन धृष्टं वनाभिमर्दात् परिधर्षितोऽहम् ॥३॥

शङ्कुकर्णः—(उपसृत्य) जयतु महाराजः। अविदितागमनेन केनचिद् वानरेण ससंरम्भमभिमृदिताशोकवनिका।

रावणः—(सावज्ञम्) कथं वानरेणेति। गच्छ, शीघ्रं निगृह्यानय।

शङ्कुकर्णः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रान्तः।)

रावणः—भवतु भवतु।

युधि जगत्त्रयभीतिकृतोऽपि मे यदि कृतं त्रिदशैरिदमप्रियम्।
अनुभवन्त्वचिरादमृताशिनः फलमतो निजशाठ्यसमुद्भवम् ॥४॥

किमाकर्णयामि, शीघ्रं वद कथय, अथ केन मुक्तभयेन मुमूर्षुणा आसन्नमृत्युना धृष्टं धृष्टभावेन वनाभिमर्दात् अशोकवनिकाविनाशनात् परिधर्षितः तिरस्कृतोऽस्मि। नूतनमिव किमपि वाक्यमाकर्णयामि, शीघ्रं कथय, केन सन्निहितमृत्युना जनेन वनं विनाश्य ममाभिभवः इति भावः ॥ ३ ॥

अविदितागमनेन—कुतः कथं वाऽऽगत इति यस्य विषये न ज्ञायते तेन।

ससंरम्भम्—सकोपम्। अभिमृदिता—ध्वस्ता।

निगृह्य—वशे कृत्वा।

युधि जगत्त्रयेति—यदि त्रिदशैः देवैः युधि युद्धे जगत्त्रयभीतिकृतः लोकत्रयभयङ्करस्यापि रावणस्य इदम् अशोकवनिकाविध्वंसनरूपम् अप्रियम् अनिष्टम् कृतम् आचरितं तदा अतः अस्मादपराधात् अमृताशिनः सुधाभुजो देवाः निजशाठ्यसमुद्भवम् स्वदुष्टताजन्यम् फलम् अचिराद् अतिशीघ्रम् अनुभवन्तु

बताओ, किस मुमूर्षु अतः निर्भय व्यक्ति ने धृष्टता से हमारे वन को तहस-नहस करके हमारा अपमान किया है ? ॥ ३ ॥

शङ्कुकर्ण—(समीप जाकर) जय हो महाराज की, किस प्रकार चला आया, पता नहीं, एक वानर ने शीघ्रता से अशोक-वनिका को उखाड़ डाला है।

रावण—(तिरस्कार के स्वर में) क्या, वानर ने ? जाओ, शीघ्र उसे पकड़ लाओ।

शङ्कुकर्ण—महाराज की जो आज्ञा।

रावण—अस्तु, युद्ध में तीनों लोकों को जीतने वाले रावण का यह अप्रिय कार्य देवों ने किया है तो वह अपनी दुष्टता का फल शीघ्र ही प्राप्त करेंगे ॥ ४ ॥

(प्रविश्य)

शङ्कुकर्णः—जयतु महाराजः। महाराज ! महाबलः खलु स वानरः। तेन खलु मृणालवदुत्पाटिताः सालवृक्षाः, मुष्टिना भग्नो दारुपर्वतकः, पाणितलाभ्यामभिमृदितानि लतागृहाणि, नादेनैव विसंज्ञीकृताः प्रमद-वनपालाः। तस्य ग्रहणसमर्थं बलमाज्ञापयितुमर्हति महाराजः।

रावणः—तेन हि किङ्कराणां सहस्रं बलमाज्ञापय वानरग्रहणाय।

शङ्कुकर्णः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः।

अस्मदीयैर्महावृक्षैरस्मदीया महाबलाः।
क्षिप्रमेव हतास्तेन किङ्करा द्रुमयोधिना ॥ ५ ॥

भुञ्जताम्। यदि देवा ममाशोकवाटिकामुपसृत्य मां कोपितवन्तस्तदाऽविलम्बेनैव ते स्वीयदोषस्य फलमनुभविष्यन्तीति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

महाबलः—अधिकबलशाली। मृणालवत्—कमलदण्डवत्। उत्पाटिताः—उत्खाताः। सालवृक्षाः—महाप्रमाणा वृक्षभेदाः। अभिमृदितानि—विनाशितानि। विसंज्ञीकृताः मूर्च्छां गमिताः। ग्रहणसमर्थम्—धर्त्तुं शक्तम्। बलम्—सैन्यम्।

किङ्कराणाम्—भृत्यानाम्।

अस्मदीयैरिति—तेन द्रुमयोधिना वृक्षैः प्रहरता वानरेण अस्मदीयैः अस्माकं

(प्रवेश करके)

शङ्कुकर्ण—जय हो महाराज की। महाराज, वह वानर बड़ा बलवान है। उसने कमल की तरह सालवृक्षों को उखाड़ डाला है, दारु पर्वत को मुष्टि-प्रहार से तोड़ दिया है, लता-गृहों को हाथ से मसल दिया है, गर्जन से ही वन के रक्षकों को बेहोश कर दिया, उसको पकड़ कर लाने में समर्थ सैनिकों को महाराज आज्ञा प्रदान करें।

रावण—तब हजार सैनिकों का दल उसे पकड़ने जाय, यह आज्ञा दे दो।

शङ्कुकर्ण—महाराज की जैसी आज्ञा। (जाकर, फिर आकर) जय हो महाराज की,

महाराज, वह वानर वृक्ष से प्रहार करता है, उसने हमारे ही वृक्षों से प्रहार करके हमारी सेना को बड़ी शीघ्रता से मार डाला है ॥ ५ ॥

रावणः—कथं हता इति। तेन हि कुमारमक्षमाज्ञापय वानरग्रहणाय।

शङ्कुकर्णः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रान्तः।)

रावणः—(विचिन्त्य)

कुमारो हि कृतास्त्रश्च शूरश्च बलवानपि।
प्रसह्य चापि गृह्णीयाद्धन्याद् वा तं वनौकसम्॥ ६॥

(प्रविश्य)

शङ्कुकर्णः—अनन्तरीयं बलमाज्ञापयितुमर्हति महाराजः।

रावणः—किमर्थम्?

शङ्कुकर्णः—श्रोतुमर्हति महाराजः। कुमारं वानरमभिगच्छन्तं दृष्ट्वा

नगरोद्याने स्थितैर्महावृक्षैः अस्मदीयाः महाबलाः किङ्कराः क्षिप्रम् शीघ्रमेव हताः मारिताः॥ ५॥

कुमारम्—राजपुत्रम्। अक्षम्–तन्नामानम्। आज्ञापय–आदिश।

कुमारो हीति—कुमारः अक्षः कृतास्त्रः अभ्यस्तशस्त्रविद्यः च शूरः साहसी बलवान् कायिकबलशाली च विद्यतेऽतः तं वनौकसम् वानरम् प्रसह्य बलवदाक्रम्य गृह्णीयात् वशी कुर्यात् हन्यात् मारयेद्वा। उभयथाऽपि सिद्ध्यत्यपराधिनो दण्ड इति भावः॥ ६॥

अनन्तरीयम्—सुरक्षितं महाबलं सैन्यम्।

वानरमभिगच्छन्तम्—वानरेण सह योद्धुम् गच्छन्तम्। अनाज्ञापिताः–

रावण—क्यों, मार दिया! अच्छा तो कुमार अक्ष को कहो उस वानर को पकड़ लावे।

शङ्कुकर्ण—महाराज की जो आज्ञा। (जाता है)

रावण—(सोचकर) कुमार ने शस्त्रविद्या सीखी है, वह शूर तथा बलवान् भी है, या तो उस वानर को बलपूर्वक पकड़ लावेगा, या मार ही डालेगा॥ ६॥

(आकर)

शङ्कुकर्ण—महाराज, अपनी सुरक्षित सैन्य को आज्ञा प्रदान करें!

रावण—क्यों?

शङ्कुकर्ण— सुनें महाराज, कुमार अक्ष जब उस वानर पर आक्रमण करने

महाराजेनानाज्ञापिता अप्यनुगताः पञ्च सेनापतयः ।

रावणः—ततस्ततः ?

शङ्कुकर्णः—ततस्तानभिद्रुतान् दृष्ट्वा किञ्चिद् भीतेन इव तोरणमाश्रित्य काञ्चनपरिघमुद्यम्य निपातितास्तेन हरिणा पञ्च सेनापतयः ।

रावणः—ततस्ततः ?

शङ्कुकर्णः—ततः कुमारमक्षं

क्रोधात् संरक्तनेत्रं त्वरिततरहयं स्यन्दनं वाहयन्तं
प्रावृट्कालाभ्रकल्पं परमलघुतरं बाणजालान् वमन्तम् ।
तान् बाणान् निर्विधुन्वन् कपिरपि सहसा तद्रथं लङ्घयित्वा

गन्तुम् अनादिष्टा अपि । अनुगताः—कुमारमनुगतवन्तः ।

तान्—पञ्चापि सेनापतीन । अभिद्रुतान्-आक्रमणायागच्छतः । तोरणम्—वहिर्द्वारम् । काञ्चनपरिघम्—स्वर्णमयं कपाटाङ्गम् ।

क्रोधादिति—क्रोधात् सेनापतिपञ्चकोपमर्दनजन्मनः कोपात् संरक्तनेत्रम् रञ्जितनयनम् त्वरिततरहयं शीघ्रगामिघोटकम् स्यन्दनं रथं वाहयन्तं शीघ्रतया चालयन्तम्, परमलघुतरम् अतिशीघ्रतया बाणजालान् शरान् वमन्तम् वर्षन्तम् कुमारमक्षम् तान् कुमारेणाक्षेण क्षिप्तान् बाणान् शरान् निर्विधुन्वन् निराकुर्वन् कपिः वांनरः अपि सहसा हठात् तद्रथं कुमारस्य स्यन्दनं लङ्घयित्वा प्राप्य धृष्टं धृष्टभावेन

चले तब बिना आज्ञा के ही पांच सेनापति उसके साथ हो लिये ।

रावण— इसके बाद ?

शङ्कुकर्ण—इसके बाद उन सेनापतियों को आते देख उस वानर ने ऐसी चेष्टा की जैसे डर गया हो। तोरणद्वार पर चढ़ गया, फिर उसने स्वर्णमय परिघ के प्रहार से पांचों सेनापतियों को मार गिराया ।

रावण—इसके बाद ?

शङ्कुकर्ण—इसके बाद क्रोध से कुमार के नेत्र लाल हो गये, उन्होंने बड़े वेग से रथ हांकना प्रारम्भ किया, बरसात के मेघ जैसे वेग से वृष्टि करते हैं उसी तरह वह बाण की वर्षा करने लगे। कुमार के बाणों को काटकर तथा सहसा

कण्ठे सङ्गृह्य धृष्टं मुदिततरमुखो मुष्टिना निर्जघान ॥ ७ ॥

रावणः—(सरोषम्) आः, कथं कथं निर्जघानेति !

तिष्ठ त्वमहमेवैनमासाद्य कपिजन्तुकम् ।
एष भस्मीकरोम्यस्मत्क्रोधानलकणैः क्षणात् ॥ ८ ॥

शङ्कुकर्णः—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः । कुमारमक्षं निहतं श्रुत्वा क्रोधाविष्टहृदयः कुमारेन्द्रजिदभिगतवांस्तं वनौकसम् ।

रावणः—तेन हि गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः ।

शङ्कुकर्णः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

कण्ठे संगृह्य गृहीत्वा मुदिततरमुखः अतिप्रसन्नवदनः मुष्टिना निर्जघान व्यापादितवान् ॥ ७ ॥

तिष्ठ त्वमिति—त्वं तिष्ठ, एषः अहम् रावण एव एनम् कपिजन्तुकम् क्षुद्रम् वानराख्यं प्राणिनम् आसाद्य प्राप्य क्षणात् अल्पेनैव कालेन अस्मत्क्रोधानलकणैः स्वीयकोपपावकस्फुलिङ्गैः भस्मीकरोमि नाशयामि ॥ ८ ॥

प्रसीदतु—कोपं माकार्षीत् । निहतं मृतम् । क्रोधाविष्टहृदयः-कोपपराधीनचेताः । कुमारेन्द्रजित्-मेघनादनामा राजकुमारः । अभिगतवान्-योद्धुं गतः । वनौकसम् वानरम् ।

भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः—मेघनादयुद्धे किं जातमिति पुनर्ज्ञायतां समाचारः ।

उन के रथपर धावा बोलकर उस वानर ने कुमार का गला दबा दिया, और प्रसन्नमुख होकर कुमार को मुष्टि प्रहार द्वारा मार गिराया ॥ ७ ॥

रावण—(कोप से) आः, क्या कहा ? मार दिया ?

ठहरो, मैं स्वयं इस क्षुद्र कपि को अपने कोपाग्नि के कणों से एक क्षण में भस्म करता हूँ ॥ ८ ॥

शङ्कुकर्ण—महाराज कृपा करें। कुमार अक्ष का मारा जाना सुनकर क्रोधपूर्ण हृदय वाले कुमार इन्द्रजित् उस वानर को मारने चले गये हैं ।

रावण—तो फिर जाकर खबर लाओ ।

शङ्कुकर्ण—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

रावणः—कुमारो हि कृतास्त्रश्च,

अवश्यं युधि वीराणां वधो वा विजयोऽथवा ।
तथापि क्षुद्रकर्मेदं मह्यमीषन्मनोज्वरः ॥ ९ ॥

(प्रविश्य)

शङ्कुकर्णः—जयतु महाराजः । जयतु लङ्केश्वरः । जयतु भद्रमुखः ।

संवृत्तं तुमुलं युद्धं कुमारस्य च तस्य च ।
ततः स वानरः शीघ्रं बद्धः पाशेन साम्प्रतम् ॥ १० ॥

रावणः—कोऽत्र विस्मय इन्द्रजिता शाखामृगो बद्ध इति । कोऽत्र भोः !

अवश्यमिति—युधि युद्धे वीराणां वधः विजयोथवा अवश्यं भवतीति शेषः । तथापि इदं वानरनिग्रहरूपं क्षुद्रकर्म तुच्छं कार्यम् मह्यं रावणाय ईषन्मनोज्वरः किञ्चित्सन्तापकम् । युद्धे जयपराजयावव्यवस्थौ तत्र यदस्तु तदस्तु, परन्तु वानरनिग्रहायेयान् संरम्भः क्रियत इति मम मनः कियन्तं परितापमनुभवतीवेति भावः ॥९॥

संवृत्तमिति—तस्य वानरस्य कुमारस्य भवत्पुत्रस्य मेघनादस्य च तुमुलं भीषणं युद्धं संवृत्तम् जातम् , ततः स वानरः साम्प्रतम् अधुना शीघ्रम् पाशेन नागपाशाभिधेनास्त्रेण संयमितः ॥ १० ॥

कोऽत्र विस्मयः—किमत्राश्चर्यम् । शाखामृगः वानरः ।

रावण—कुमार ने शस्त्रविद्या सीखी है, युद्ध में वीरों की जीत अथवा मृत्यु होती है, फिर भी यह कार्य बहुत छोटा है, मुझे इसका थोड़ा खेद हो रहा है ॥ ९ ॥

(आकर)

शङ्कुकर्ण—जय हो महाराज की ! जय हो लङ्केश्वर की !

कुमार तथा वानर के बीच घोर युद्ध हुआ, इसके बाद कुमार ने उसे पाश से बांध लिया ॥ १० ॥

रावण—इन्द्रजित् ने वानर को बांध लिया इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? कोई है यहाँ ?

(प्रविश्य)

राक्षसः—जयतु महाराजः ।

रावणः—गच्छ विभीषणस्तावदाहूयताम् ।

राक्षसः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

रावणः—त्वमपि तावद् वानरमानय ।

शङ्कुकर्णः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

रावणः—(विचिन्त्य) भोः ! कष्टम् ।

अचिन्त्या मनसा लङ्का सहितैः सुरदानवैः ।
अभिभूय दशग्रीवं प्रविष्टः किल वानरः ॥ ११ ॥

अपि च,

जित्वा त्रैलोक्यमाजौ ससुरदनुसुतं यन्मया गर्वितेन

आहूयताम्—अत्रागन्तुमादिश्यताम् ।

अचिन्त्येति—सहितैः परस्परमिलितैः सुरदानवैः देवैर्दानवैश्च मनसा चेतसा अचिन्त्या मनस्यपि आक्रमितुमशक्या लङ्का दशग्रीवम् रावणम् अभिभूय वनविनाशनपुत्रमारणादिनाऽपमत्य (तत्र लङ्कायाम्) वानरः प्रविष्ट इति महत्कष्टमिदमिति भावः ॥ ११ ॥

जित्वा त्रैलोक्यमिति—आजौ युद्धे ससुरदनुसुतं देवदानवसमेतं त्रैलोक्यं लोकत्रयं जित्वा स्ववशीकृत्य गर्वितेन त्रैलोक्यविजयदृप्तेन कैलाशं नाम शिव-

---

(आकर)

राक्षस—जय हो महाराज की !

रावण—जाओ, विभीषण को बुला लाओ ।

राक्षस—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

रावण—तुम वानर को भी लेते आना ।

शङ्कुकर्ण—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

रावण—(सोचकर) बड़े खेद की बात है !

जिस लङ्का के विषय में देव तथा दानव मन में भी कुछ नहीं सोच पाते हैं, उसी लङ्का में रावण का अनादर करके एक वानर प्रवेश कर गया ॥११॥

और भी—

युद्ध में देवों और दानवों को जीतकर मैंने गर्व धारण करके कैलासपर्वत

क्रान्त्वा कैलाशमीशं स्वगणपरिवृतं साकमाकम्प्य देव्या।
लब्ध्वा तस्मात् प्रसादं पुनरगसुतया नन्दिनानादृतत्वाद्
दत्तं शप्तं च ताभ्यां यदि कपिविकृतिच्छद्मना तन्मम स्यात् ॥१२॥

(ततः प्रविशति विभीषणः ।)

विभीषणः—(सविमर्शम्) अहो तु खलु महाराजस्य विपरीता बुद्धिः संवृत्ता । कुतः,

मयोक्तो मैथिली तस्मै बहुशो दीयतामिति ।
न मे शृणोति वचनं सुहृदां शोककारणात् ॥ १३ ॥

निवासम् क्रान्त्वा उत्थाप्य स्वगणपरिवृतं प्रमथगणसहितम् ईशं महादेवं देव्या पार्वत्या साकम् आकम्प्य चालयित्वा कम्पयित्वा तस्मात् महादेवात् प्रसादम् वरदानं लब्ध्वा प्राप्य, पुनः नन्दिना महादेवस्य प्रधानसेवकेन अनादृतत्वात् अगसुतया पर्वतराजपुत्र्या (नन्दिना चेति) ताभ्यां पार्वतीनन्दिभ्यां शप्तं दत्तम् शापो दत्तः, यदि मम रावणस्य तत् पार्वतीनन्दिदत्तं शापरूपमेव दुरदृष्टं कपिविकृतिच्छद्मना कपिरूपेण परिणतं स्यात्। त्रैलोक्यं जित्वा गर्वितोऽहं कैलाशमुत्थाप्य पार्वतीं शिवं च कम्पयित्वा शिवाद्वरं प्राप्तवान्, नन्दिनानादृतोहं पार्वत्या नन्दिना च शप्तः, किमसावेव तयोः शापो वानरं रूपमास्थाय समागतः स्यादिति चिन्ताध्वनिः । स्पष्टमन्यत् ॥ १२ ॥

विपरीता—स्वं हितमचिन्तयन्ती । संवृत्ता—जाता ।

मयोक्त इति—बहुशः अनेकधा मैथिली सीता तस्मै रामाय दीयताम् प्रत्यर्प्यताम् इति उक्तोऽपि रावणः सुहृदां शोककारणात् मित्रेभ्यः शोकं दातुम्

उठा लिया, कैलासवासी गणपरिवृत शिव पार्वती प्रभृति सभी कांप उठे। महादेव ने मुझे वरदान भी दिया। पार्वती तथा नन्दी ने अनादृत होकर शाप भी दिया था, वही शाप तो वानर के रूप में नहीं आया है ॥ १२ ॥

(विभीषण का प्रवेश)

विभीषण—(सोचकर) अहा, महाराज की बुद्धि ही विपरीत हो रही है, क्योंकि मैंने अनेक बार कहा कि सीता राम को लौटा दीजिये परन्तु अपने मित्रों को शोक देने की इच्छा से यह उस बात पर ध्यान नहीं देते हैं ॥ १३ ॥

(उपेत्य)

जयतु महाराजः ।

रावणः—विभीषण ! एह्येहि । उपविश ।

विभीषणः—एष एष उपविशामि । (उपविशति)

रावणः—विभीषण ! निर्विण्णमिव त्वां लक्षये ।

विभीषणः—निर्वेद एव खल्वनुक्तग्राहिणं स्वामिनमुपाश्रितस्य भृत्यजनस्य ।

रावणः—छिद्यतामेषा कथा । त्वमपि तावद् वानरमानय ।

विभीषणः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति राक्षसैर्गृहीतो हनूमान् ।)

सर्वे—आः इत इत ।

(रामाय मैथिल्या अप्रदाने विपदो निमन्त्र्य मित्राणि शोकसागरे क्षेप्तुम्) मे मम वचनं नैव शृणोति न किमपि चेतयते ॥ १३ ॥

निर्विण्णम्—खिन्नम् उदासीनम् ।

अनुक्तग्राहिणम्—हितमप्युच्यमानमनाकर्णयतः ।

छिद्यताम्—त्यज्यताम् ।

(समीप आकर)

जय हो महाराज की !

रावण—विभीषण, आओ आओ, बैठो । (बैठता है)

विभीषण— बैठ रहा हूँ, बैठ रहा हूँ ।

रावण—विभीषण, तुमको कुछ उदास सा देख रहा हूँ ।

विभीषण—बात नहीं माननेवाले मालिक की सेवा में रहने वाले भृत्यों को उदास रहना ही पड़ता है ।

रावण— छोड़ो इस कथा को । तुम भी वानर को लेते आओ ।

विभीषण—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

(अनन्तर राक्षसों द्वारा पकड़े गये हनूमान् का प्रवेश)

सभी—अहा, इधर चलो इधर ।

हनूमान्—

नैवाहं धर्षितस्तेन नैर्ऋतेन दुरात्मना।
स्वयं ग्रहणमापन्नो राक्षसेशदिदृक्षया ॥ १४ ॥

(उपगम्य)

भो राजन् ! अपि कुशली भवान् !

रावणः—(सावज्ञम्) विभीषण ! किमस्य तत् कर्म ?

विभीषणः—महाराज ! अतोऽप्यधिकम् ।

रावणः—कथं त्वमवगच्छसि ?

विभीषणः—प्रष्टुमर्हति महाराजः कस्त्वमिति ।

रावणः—भो वानर ! कस्त्वम् ? केन कारणेन धर्षितोऽस्माकमन्तःपुरं प्रविष्टः ।

नैवाहमिति—अहं हनूमान् दुरात्मना दुष्टहृदयेन तेन नैर्ऋतेन राक्षसेन मेघनादेन नैव धर्षितः पाशबन्धेनाभिभूतः, किन्तु राक्षसेशदिदृक्षया रावणं द्रक्ष्यामीति बुद्धया स्वयं ग्रहणम् आपन्नः आत्मनैव बद्धः। यद्यहं बन्धयितुं स्वं नैषिष्यं तदाऽयं वराकः कथं मामबन्धयत् इति गर्वाभिव्यक्तिः ॥ १४ ॥

किमस्य तत्कर्म—किमनेनैव वानरेण सर्वं वनाभिमर्दनकुमारवधादिकार्यं कृतम् ?

अतोऽप्यधिकम्—यावत्कार्यमत्रानेन कृतं ततोऽप्यधिकमयं कर्तुं क्षम इति तदाशयः।

धर्षितः—धृष्टः अविचार्यकारी ।

हनूमान्—उस दुरात्मा राक्षस ने मुझे नहीं पकड़ा है, मैं तो स्वयं रावण को देखने की इच्छा से बँध गया हूँ ॥ १४ ॥

(समीप जाकर) महाराज, आप सकुशल तो हैं ?

रावण—(तिरस्कारपूर्वक) विभीषण, क्या इसीने वह कार्य किया है ?

विभीषण—महाराज, उससे भी अधिक।

रावण—तुम कैसे समझते हो ?

विभीषण—महाराज, इससे पूछें कि यह कौन है ?

रावण—अरे वानर, तू कौन है ? क्यों हमारे अन्तःपुर में ढीठ बनकर पैठ गया ?

हनूमान्—भोः ! श्रूयताम् ,

अञ्जनायां समुत्पन्नो मारुतस्यौरसः सुतः ।
प्रेषितो राघवेणाहं हनूमान् नाम वानरः ॥ १५ ॥

विभीषणः—महाराज ! किं श्रुतम् ?

रावणः—किं श्रुतेन ।

विभीषणः—हनूमन् ! किमाह तत्रभवान् राघवः ।

हनूमान्—भोः ! श्रूयतां रामशासनम् ।

रावणः—कथं कथं रामशासनमित्याह । आः हन्यतामयं वानरः ।

विभीषणः—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः । सर्वापराधेष्ववध्याः खलु दूताः । अथवा रामस्य वचनं श्रुत्वा पश्चाद् यथेष्टं कर्तुमर्हति महाराजः ।

अञ्जनायाम् इति—अञ्जनायां मातरि समुत्पन्नः लब्धजन्मा मारुतस्य वायोः औरसः अकृत्रिमः सुतः अहं हनूमान् नाम वानरः राघवेण रामेण प्रेषितः अत्रागन्तुमाज्ञप्तः ॥ १५ ॥

किं श्रुतेन—नास्ति किमप्यस्य वचनं श्रुत्वा फलमिति भावः ।

रामशासनम्—रामस्याज्ञा ।

सर्वापराधेषु—सर्वविधेपि अपराधे । अवध्याः हन्तुमयोग्याः ।

हनूमान्—सुनिये,

मैं अञ्जना के गर्भ से उत्पन्न वायु देव का औरसपुत्र हनूमान् नाम का वानर हूँ, मुझे रामचन्द्र ने यहाँ भेजा है ॥ १५ ॥

विभीषण—महाराज, सुना आपने ?

रावण—सुनने से क्या ?

विभीषण—हनूमान् ! क्या कहा है रामजी ने ?

हनूमान्—सुनिये रामजी का आदेश ।

रावण—क्या, रामजी का आदेश कहता है, मार दो इस वानर को !

विभीषण—महाराज, कृपा कीजिये । किसी भी अपराध में दूत सदा अवध्य ही हुआ करते हैं । अथवा—रामजी का आदेश सुन लीजिये, पीछे आपको जो अच्छा मालूम पड़े कीजियेगा ।

रावणः—भो वानर ! किमाह स मानुषः ?

हनूमान्—भोः ! श्रूयतां,

वरशरणमुपेहि शङ्करं वा प्रविश च दुर्गतमं रसातलं वा ।
शरवरपरिभिन्नसर्वगात्रं यमसदनं प्रतियापयाम्यहं त्वाम् ॥ १६ ॥

रावणः—ह ह ह

दिव्यास्त्रैस्त्रिदशगणा मयाभिभूता
दैत्येन्द्रा मम वशवर्तिनः समस्ताः ।
पौलस्त्योऽप्यपहृतपुष्पकोऽवसन्नो
भो ! रामः कथमभियाति मानुषो माम् ॥ १७ ॥

वरशरणमिति—त्वं शङ्करं शिवं वरशरणम् उत्तमं रक्षकम् उपेहि याहि, दुर्गतमं नितान्तदुर्गमं रसातलं पातालं वा प्रविश । अहम् रामः त्वां रावणम् । शरवरेण स्वीयबाणेन परिभिन्नानि विदारितानि सर्वाणि गात्राणि यस्य तादृशं तथोक्तम् (त्वाम्) अवश्यं निश्चयेन यमसदनं प्रतियापयामि यमगृहं गमयामि । शङ्करस्य शरणागतौ पातालप्रवेशेऽपि वा तव नास्ति मम शरेभ्यस्त्राणमिति तात्पर्यम् ॥ १६ ॥

दिव्यास्त्रैरिति—त्रिदशगणाः देवाः मया रावणेन दिव्यास्त्रैर्ब्राह्मादिभिर्महाप्रभावैरस्त्रभेदैः अभिभूताः निर्जिताः, समस्ताः सर्वे दैत्येन्द्रा दानवाः मम वशवर्त्तिनः मदाज्ञानुवर्त्तिनः, अपहृतपुष्पकः पुष्पकाख्येन विमानेन वियोजितः पौलस्त्यः कुबेरोऽपि अवसन्नः निरुपायतया खिन्नो भूत्वा स्थितः, (अस्यामपि स्थितौ) भोः, मानुषः साधारणमनुजः रामः मां रावणं कथमभियाति केन प्रकारेण योद्धुं-

---

रावण—क्यों रे वानर, क्या कहा है उस मानुष ने ?

हनूमान्– सुनिये, चाहे शङ्कर की शरण लो या दुर्गम पाताल में प्रवेश करो, मैं अपने बाणों से तुम्हारे अङ्गों को छिन्नभिन्न करके तुमको अवश्य ही यमलोक भेजूंगा ॥ १६ ॥

रावण—हः हः हः ! मैंने अपने दिव्यास्त्रों से देवों को परास्त किया, सभी राक्षस मेरे वशवर्त्ती हैं, मैंने कुबेर का पुष्पक छीनकर उसे भी नत किया है, वह मानुष राम मुझ पर कैसे आक्रमण कर सकता है ॥ १७ ॥

हनूमान्—एवंविधेन भवता किमर्थं प्रच्छन्नं तस्य दारापहरणं कृतम् ?

विभीषणः—सम्यगाह हनूमान् ।

अपास्य मायया रामं त्वया राक्षसपुङ्गव ! ।
भिक्षुवेषं समास्थाय च्छलेनापहृता हि सा ॥ १८ ॥

रावणः—विभीषण ! किं विपक्षपक्षमवलम्बसे ।

विभीषणः—

प्रसीद राजन् ! वचनं हितं मे प्रदीयतां राघवधर्मपत्नी ।

मागच्छेत् अति हि नामासंभाव्यमिदं यत् साधारणो मानवो देवदानवविजयिनं रावणमभियायात्तस्मादत्यलीकं त्वयोक्तमिति भावः ॥ १७ ॥

एवंविधेन—देवदानवजेतृतया परमपराक्रमिणा । प्रच्छन्नम्—गुप्तरूपेण । तस्य रामस्य ।

अपास्येति—त्वया रावणेन मायया मायामृगमारीचद्वारा रामम् अपास्य आश्रमात् दूरं गमयित्वा, हे राक्षसपुङ्गव राक्षसश्रेष्ठ, भिक्षुवेषं समास्थाय संन्यासिनो रूपं धृत्वा छलेन भिक्षाव्याजेन सा सीता हृता, नतु पराक्रमेण हृता, यदि तव पराक्रमः सत्य आसीत्तदा पराक्रमेणैव सा हर्त्तव्याऽऽसीन्न च सा तथा हृताऽतस्तवोक्तिरसत्येत्यर्थः ॥ १८ ॥

विपक्षपक्षम्—शत्रुपक्षम् । अवलम्बसे—आश्रयसि ।

प्रसीदेति—हे राजन् , प्रसीद अनुग्रहं कृत्वा मदुक्तं शृणु । मे मम वचनं हितं त्वदीयहितसाधनम् , राघवधर्मपत्नी राघवस्य भार्या सीता प्रदीयताम्

हनूमान्—जब आप ऐसे थे तो फिर क्यों छिप कर उनकी स्त्री का अपहरण किया ?

विभीषण—हनूमान् ठीक कह रहा है ।

हे राक्षसश्रेष्ठ, आपने माया के द्वारा राम को दूर हटा दिया, और भिक्षु का वेष बना कर छल से सीता का अपहरण किया ॥ १८ ॥

रावण—विभीषण, तू क्यों शत्रु का पक्ष लेता है ?

विभीषण—महाराज, कृपा कीजिये । मैं आप का हित कह रहा हूँ, आप

इदं कुलं राक्षसपुङ्गवेन त्वया हि नेच्छामि विपद्यमानम् ॥ १९ ॥

रावणः—विभीषण ! अलमलं भयेन ।

कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते ।
गजो वा सुमहान् मत्तः शृगालेन निहन्यते ॥ २० ॥

हनूमान्—भो रावण ! विपद्यमानभाग्येन भवता किं युक्तं राघवमेवं वक्तुम् । मा तावद् भोः !

नक्तञ्चरापसद ! रावण ! राघवं तं
वीराग्रगण्यमतुलं त्रिदशेन्द्रकल्पम् ।

रामाय प्रत्यर्प्यताम् । राक्षसपुङ्गवेन सर्वराक्षसमुख्येन त्वया हेतुना इदं कुलं विपद्यमानं कष्टे निपात्यमानं नेच्छामि । तव दोषात्समस्तमपीदं कुलं विपद्येतेति नेच्छामि, अतो मम वचनं तवापि हितकरं श्रोतुमनुकम्पस्वेत्याशयः ॥ १९ ॥

अलमलं भयेन—रामेण त्वदीयं कुलं विपादयिष्यत इति भयं माकार्षीरित्यर्थः ।

कथमिति—लम्बसटः प्रलम्बकेसरः सिंहः मृगेण कथं केन प्रकारेण विनिपात्यते पराजीयते ? सुमहान् विशालः मत्तः मदच्युत् गजो वा शृगालेन कथं निहन्यते । यथा मृगकर्तृकः सिंहस्य पराजयः शृगालकर्तृको मत्तगजस्य वा वधोऽसम्भवी तथैव रामेण मम कुलस्य पराभवोऽसंभवीति मा भयं कृथा इत्याशयः । उपमया वस्तुध्वनिः ॥ २० ॥

विपद्यमानभाग्येन—नष्टशुभादृष्टेन ।

नक्तञ्चरेति—नक्तञ्चरापसद राक्षसाधम, प्रक्षीणपुण्य नष्टसुकृत, गतसार

राम की पत्नी सीता को लौटा दें । मैं नहीं चाहता कि, राक्षसश्रेष्ठ आप के द्वारा इस कुल का विनाश उपस्थित हो ॥ १९ ॥

रावण—डरने की आवश्यकता नहीं,

कैसे केसरवाले सिंह को हरिण मार देगा, अथवा मतवाले हाथी को शृगाल मार सकेगा ॥ २० ॥

हनूमान्—अजी रावण, तुम्हारा भाग्य फूट गया है, क्या तुम्हें राम के विषय में इस प्रकार कहना चाहिये ? नहीं जी ।

राक्षसाधम, अभागे, समाप्तबल, क्या तुमको वीराग्रगण्य इन्द्रतुल्य भुवनैक-

प्रक्षीणपुण्य ! भवता भुवनैकनाथं
वक्तुं किमेवमुचितं गतसार ! नीचैः ॥ २१ ॥

रावणः—कथं कथं नामाभिधत्ते। हन्यतामयं वानरः। अथवा दूतवधः खलु वचनीयः। शङ्कुकर्ण ! लाङ्गूलमादीप्य विसृज्यतामयं वानरः।

शङ्कुकर्णः—यदाज्ञापयति महाराजः। इत इतः।

रावणः—अथवा एहि तावत्।

हनूमान्—अयमस्मि।

रावणः—अभिधीयतां मद्वचनात् स मानुषः।

अभिभूतो मया राम ! दारापहरणादसि।
यदि तेऽस्ति धनुःश्लाघा दीयतां मे रणो महान् ॥ २२ ॥

समाप्तसामर्थ्य रावण, भवता किं तं विश्वविदितपराक्रमं वीराग्रगण्यं सकलवीरप्रधानम् अतुलम् अद्वितीयम् त्रिदशेन्द्रकल्पम् देवराजतुल्यम् राघवम् रामं प्रति एवं नीचैः प्रागुक्तवचनवदसारं वचनम् वक्तुमुचितं कथयितुं योग्यम् ॥ २१ ॥

नाम अभिधत्ते—मदीयं नामोच्चारयति, महाराजस्य नामग्रहणं तन्निन्दाव्यञ्जकमिति कोपकारणम्। वचनीयः—निन्द्यः। आदीप्य—वह्निना प्रज्वाल्य। विसृज्यताम्—त्यज्यताम्।

स मानुषः—रामः।

अभिभूत इति—हे राम, त्वं मया रावणेन दारापहरणात् त्वदीयस्त्रीहरणं कृत्वा अभिभूतः क्लेशितः असि। यदि ते तव धनुःश्लाघा धनुषि आस्था

नाथ रामजी के संबन्ध में इस तरह की छोटी बात कहनी चाहिये ॥ २१ ॥

रावण—क्यों, यह मेरा नाम ले रहा है, मारो इस वानर को, अथवा दूतवध निन्दित है। शङ्कुकर्ण, इसकी पूँछ में आग लगाकर इसे छोड़ दो।

शङ्कुकर्ण—महाराज की जैसी आज्ञा। इधर आओ।

रावण—अथवा-इधर आओ।

हनूमान—यही तो हूँ।

रावण—मेरी ओर से उस मानुष से कहना—

हे राम, मैंने तुम्हारी स्त्री का हरण करके तुम्हारा अनादर किया है, यदि तुम्हें अपने धनुष पर भरोसा हो तो आकर मुझसे युद्ध कर लो ॥ २२ ॥

हनूमान्—अचिराद् द्रक्ष्यसि,

अभिहतवरवप्रगोपुराट्टां
रघुवरकार्मुकनादनिर्जितस्त्वम्।
हरिगणपरिपीडितैः समन्तात्
प्रमदवनैरभिसंवृतां स्वलङ्काम् ॥ २३ ॥

रावणः—आः निर्वास्यतामयं वानरः।

राक्षसाः—इत इतः।

(रक्षोभिः सह निष्क्रान्तो हनूमान्।)

विभीषणः—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः। अस्ति काचिद् विवक्षा महाराजस्य हितमन्तरेण।

युद्धाभिलाषः अस्ति तदा मह्यं रावणाय महान् रणः युद्धं दीयताम् मया युध्यस्व ॥ २२ ॥

अभिहतेति—अभिहताः नाशिताः वप्रः प्राकारः गोपुरम् बहिर्द्वारम् अट्टाः प्रासादाश्च यस्यास्तां तथोक्ताम्, हरिगणपरिपीडितैः वानरयूथमर्दितैः प्रमदवनैः उद्यानैः समन्तात् अभिसंवृताम् स्वलङ्काम् स्वां लङ्कां नगरीम् रघुवरकार्मुकनादनिर्जितः रामधनुःशब्दपराजितः त्वम् अचिराद् द्रक्ष्यसि ॥ २३ ॥

निर्वास्यताम्—इतोऽन्यत्र गन्तुं बाध्यताम्।

महाराजस्य हितमन्तरेण विवक्षा—भवदीयं हितं हृदये कृत्वा किमपि कथयितुमिच्छा।

हनूमान्—तुम शीघ्र ही देखोगे कि—

इस लङ्का के गोपुर, प्राकार, तथा प्रासाद नष्ट हो गये हैं, राम के बाणों ने तुम को पराजित कर दिया है, इस लङ्का के प्रमदवन को वानरों ने ध्वस्त करके छोड़ दिया है ॥ २३ ॥

रावण—आः, भगाओ इस वानर को।

राक्षसगण—इधर चलो इधर।

(राक्षसों के साथ हनूमान् का प्रस्थान)

विभीषण—महाराज, कृपा करें। आप की भलाई की दृष्टि से मुझे कुछ कहना है।

रावणः—उच्यतां, तच्छ्रेयो वयमपि श्रोतारः।

विभीषणः—सर्वथा राक्षसकुलस्य विनाशोऽभ्यागत इति मन्ये।

रावणः—केन कारणेन ?

विभीषणः—महाराजस्य विप्रतिपत्त्या।

रावणः—का मे विप्रतिपत्तिः ?

विभीषणः—ननु सीतापहरणमेव।

रावणः—सीतापहरणेन को दोषः स्यात्।

विभीषणः—अधर्मश्च।

रावणः—चशब्देन सावशेषमिव ते वचनम्। तद् ब्रूहि।

विभीषणः—तदेव ननु।

रावणः—विभीषण ! किं गूहसे। मम खलु प्राणैः शापितः स्याः, यदि सत्यं न ब्रूयाः।

तच्छ्रेयः—भवतोच्यमानं स्वहितम्।

अभ्यागतः—द्वारि समुपस्थितः।

विप्रतिपत्तिः—विरुद्धं ज्ञानम्, अहिते हितत्वज्ञानम्।

सावशेषम्—अपूर्णम्।

रावण—कहो, उस भलाई की बात को हम भी सुनें।

विभीषण—सर्वथा राक्षस के कुल के विनाश का काल आ गया है, ऐसा मैं समझता हूँ।

रावण—कैसे ?

विभीषण—आप की नासमझी से।

रावण—मेरी नासमझी कैसी ?

विभीषण—सीता का अपहरण ही।

रावण—सीता के अपहरण में क्या दोष है ?

विभीषण—अधर्म भी।

रावण—मालूम होता है तुम कुछ और कहना चाहते हो। वह भी कहो।

विभीषण—वही तो।

रावण—विभीषण, क्यों छिपाते हो, तुम्हें मेरे प्राणों की शपथ है, सत्य कहो।

विभीषणः—अभयं दातुमर्हति महाराजः ।

रावणः—दत्तमभयम् । उच्यताम् ।

विभीषणः—बलवद्विग्रहश्च ।

रावणः—(सरोषम्) कथं कथं बलवद्विग्रहो नाम ?

शत्रुपक्षमुपाश्रित्य मामयं राक्षसाधमः ।
क्रोधमाहारयंस्तीव्रमभीरुरभिभाषते ॥ २४ ॥

कोऽत्र ।

ममानवेक्ष्य सौभ्रात्रं शत्रुपक्षमुपाश्रितम् ।
नोत्सहे पुरतो द्रष्टुं तस्मादेष निरस्यताम् ॥ २५ ॥

बलवद्विग्रहः—बलवता रामेण सह विरोधः ।

बलवद्विग्रहो नाम—रामेण विरोधमयं बलवद्विरोधं मन्यमानो रामं बलवन्तं बोधयतीति महदस्य धृष्टत्वमिति रावणस्याशयः ।

शत्रुपक्षमिति—शत्रोः रामस्य पक्षमुपाश्रित्य पक्षं गृहीत्वा अयं राक्षसाधमः नीचो राक्षसः विभीषणः अभीरुः मत्तः प्राप्ताभयवचनः सन् मम तीव्रं क्रोधम् आहारयन् बलादुत्पादयन् माम् (उक्तरूपेण) भाषत इत्यहो साहसमस्येति भावः ॥ २४ ॥

कोऽत्र—मदीयेषु जनेषु कोऽत्र समुपस्थित इति प्रश्नः ।

ममानवेक्ष्येति—मम रावणस्य सौभ्रात्रम् उत्तमं भ्रातृभावं सौमनस्यरूपम् अनवेक्ष्य अविचार्य शत्रुपक्षमुपाश्रितम् शत्रुणा कृतसन्धिम् इमं विभीषणं

विभीषण—महाराज मुझे अभय प्रदान करें ।

रावण—अभय दिया । बोलो ।

विभीषण—बलवान् से विरोध ।

रावण—(क्रोध से) बलवान् से विरोध कैसा ?

यह राक्षसाधम शत्रु का पक्ष लेकर निडर होकर ऐसी बातें कर रहा है जिससे मुझे क्रोध उत्पन्न हो रहा है ॥ २४ ॥

कोई है ?

मेरे सौभ्रात्र की उपेक्षा करके यह विभीषण शत्रुपक्ष में मिल गया है, मैं अब इसे देखना नहीं चाहता हूँ, इसे दूर करो यहाँ से ॥ २५ ॥

विभीषणः—प्रसीदतु महाराजः। अहमेव यास्यामि।

शासितोऽहं त्वया राजन्!
प्रयामि न च दोषवान्।
त्यक्त्वा रोषं च कामं च
यथा कार्यं तथा कुरु॥ २६॥

(परिक्रम्य) अयमिदानीम्—

अद्यैव तं कमललोचनमुग्रचापं
रामं हि रावणवधाय कृतप्रतिज्ञम्।
संश्रित्य संश्रितहितप्रथितं नृदेवं
नष्टं निशाचरकुलं पुनरुद्धरिष्ये॥ २७॥

पुरतो द्रष्टुं नोत्सहे अग्रे स्थितं द्रष्टुं न कामये, तस्मात् कारणादेष विभीषणः निरस्यताम् इतो दूरमपसार्यताम्॥ २५॥

शासितोऽहमिति—राजन्, त्वया शासितः अन्यत्र गन्तुमादिष्टः नच दोषवान् अकृतापराधः प्रयामि यथात्वदादेशमन्यत्र गच्छामि, रोषं मयि कोपं कामं सीताविषयकं स्वमभिलाषं च त्यक्त्वा यथाकार्यं तथा कुरु, कामक्रोधयोः सतोर्विचारबुद्धेरनुदयात्तौ विहाय यथोचितमाचर॥ २६॥

अद्यैवेति—अद्यैव सम्प्रत्येव तम् कमललोचनं सरोजसमनयनम् उग्रचापम् भीषणधन्वानम् रावणवधाय कृतप्रतिज्ञं संश्रितहितप्रथितम् आश्रितजनहितकरणे

विभीषण—कृपा करें महाराज। मैं स्वयं चला जाऊँगा।

महाराज, आपने मुझे आज्ञा दे दी, मैं जाता हूँ, अब मेरा दोष नहीं, क्रोध एवं काम को छोड़कर जो उचित हो वैसा कीजिये॥ २६॥

(चल कर) अब मैं—

आज ही मैं कमललोचन, महाधनुर्धर, रावण के वधार्थ कृतप्रतिज्ञ तथा शरणागतवत्सलता के लिये प्रसिद्ध भगवान् रामकी शरण में पहुँच कर नष्ट राक्षसकुल का उद्धार करूँगा॥ २७॥

(निष्क्रान्तः ।)

रावणः—हन्त निर्गतो विभीषणः। यावदहमपि नगररक्षां सम्पादयामि। (निष्क्रान्तः ।)

तृतीयोऽङ्कः।



ख्यातम् रामं संश्रित्य शरणागतभावेन प्रपद्य नष्टं रावणोपचारेण विपन्नं निशाचरकुलं पुनः उद्धरिष्ये हितेन योजयिष्यामि ॥ २७ ॥

हन्तेति हर्षे।

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक'प्रकाशे' तृतीयाङ्क'प्रकाशः' ।



(जाता है)

रावण—विभीषण चला गया। अब मैं भी नगर की रक्षा करूँगा।

(जाता है)

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक 'प्रकाशे'
तृतीयाङ्क'प्रकाशः'।



अथ चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति वानरकाञ्चुकीयः ।)

काञ्चुकीयः—भो भो बलाध्यक्ष ! सन्नाहमाज्ञापय वानरवाहिनीम् ।

(प्रविश्य)

बलाध्यक्षः—आर्य ! किंकृतोऽयं समुद्योगः ?

काञ्चुकीयः—तत्रभवता हनूमतानीतः खल्वार्यरामस्य देव्याः सीताया वृत्तान्तः

बलाध्यक्षः—किमिति किमिति ?

काञ्चुकीयः—श्रूयतां,

लङ्कायां किल वर्तते नृपसुता शोकाभिभूता भृशं
पौलस्त्येन विहाय धर्मसमयं संक्लेश्यमाना ततः ।

बलाध्यक्ष—सेनापते । सन्नाहमाज्ञापय–सन्नाहं कर्त्तुं सज्जीभवितुम् आदिश । वानरवाहिनीम्–वानरसेनाम् ।

किं कृतोऽयं समुद्योगः—किमर्थोऽयं वानरवाहिन्याः सन्नाहोयदर्थमादेशं कर्त्तुमात्थ । आनीतः–उपलभ्य श्रावितः ।

लङ्कायामिति—भृशं शोकाभिभूता भवद्वियोगजन्यशोकेनात्यर्थं व्यथिता नृपसुता राजपुत्री सीता पौलस्त्येन रावणेन धर्मसमयं धार्मिकीं मर्यादां विहाय-

---

(वानर काञ्चुकीय का प्रवेश)

काञ्चुकीय—हे बलाध्यक्ष, वानर सेना को तैयार होने की आज्ञा दीजिये ।

(प्रवेश करके)

बलाध्यक्ष—आर्य, यह तैयारी क्यों की जा रही है ?

काञ्चुकीय—हनूमान् ने राम की रानी सीता की खबर लाई है ।

बलाध्यक्ष—कैसी क्या खबर है ?

काञ्चुकीय—सुनिये, शोकसन्तप्ता सीता इन दिनों लङ्का में हैं, उन्हें अधर्मी

श्रुत्वैतद् भृशशोकतप्तमनसो रामस्य कार्यार्थिना
राज्ञा वानरवाहिनी प्रतिभया सन्नाहमाज्ञापिता ॥ १ ॥

बलाध्यक्षः—एवम् । यदाज्ञापयति महाराजः ।

काञ्चुकीयः—यावदहमपि सन्नद्धा वानरवाहिनीति महाराजाय निवेदयामि ।

(निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति रामो लक्ष्मणः सुग्रीवो हनूमांश्च)

रामः—

आक्रान्ताः पृथुसानुकुञ्जगहना मेघोपमाः पर्वताः

त्यक्त्वा संक्लेश्यमाना नानाविधैर्दुर्वाक्यश्रावणादिभिरपचारैः कदर्थ्यमाना वर्त्तते किल निश्चयेनास्तीति ततो हनूमतः एतत् पूर्वोक्तम् श्रुत्वा रामस्य कार्यार्थिना सीतोद्धाररूपं कार्यं कर्त्तुं कामयमानेन राज्ञा सुग्रीवेण प्रतिभया प्रतिकूलभटभयप्रदा वानरवाहिनी वानरीसेना सन्नाहमाज्ञापिता सज्जीभवितुमादिष्टा ॥ १ ॥

सन्नद्धा—सज्जा, युद्धाय प्रस्तुता । महाराजाय—सुग्रीवाय ।

आक्रान्ता इति—मया पृथूनि विशालानि सानूनि शिखराणि कुञ्जानि निकुञ्जानि च तैः शिखरैर्निकुञ्जैश्च भीषणाः मेघोपमाः वारिधरोपमाः पर्वताः

रावण नानाप्रकार का कष्ट दिया करता है, इस वृत्तान्त को सुनकर राम के हृदय को बड़ा कष्ट हुआ है। उनकी सहायता के निमित्त हमारे महाराज सुग्रीव ने वानरसेना को तैयार होने की आज्ञा दी है ॥ १ ॥

बलाध्यक्ष—ऐसी बात है ! महाराज की जो आज्ञा ।

काञ्चुकीय—तब तक मैं भी महाराज से निवेदन करता हूँ कि वानर-सेना तैयार है ।

(दोनों जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(राम, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा हनूमान् का प्रवेश)

राम—मैंने बड़े शिखरों पर वर्त्तमान कुञ्जों से भीषण मेघसदृश पर्वत लांघे,

सिंहव्याघ्रगजेन्द्रपीतसलिला नद्यश्च तीर्णा मया ।
क्रान्तं पुष्पफलाढ्यपादपयुतं चित्रं महत् काननं
सम्प्राप्तोऽस्मि कपीन्द्रसैन्यसहितो वेलातटं साम्प्रतम् ॥२॥

लक्ष्मणः—एष एष भगवान् वरुणः,

सजलजलधरेन्द्रनीलनीरो
विलुलितफेनतरङ्गचारुहारः ।
समधिगतनदीसहस्रबाहु-
र्हरिरिव भाति सरित्पतिः शयानः ॥ ३ ॥

आक्रान्ताः पद्भ्यां तीर्णाः, सिंहव्याघ्रगजेन्द्रैः पीतं सलिलं यासां तास्तथोक्ता निर्जना भीषणाश्च नद्यः तीर्णाः नावादिना कृतपाराः, पुष्पैः फलैश्च आढ्याः समृद्धा ये पादपाः वृक्षास्तैर्युतं चित्रम् आश्चर्यजनकं महत् विशालं काननं क्रान्तं लङ्घितम्, अधुनाऽहम् कपीन्द्रसैन्यसहितः वानरराजेन सुग्रीवेण तत्सैन्येन च सहितः वेलातटं समुद्रतीरम् सम्प्राप्तः अस्मि ॥ २ ॥

वरुणः—जलराशिः, अत्र जलाधिष्ठातृदेवतया वरुणस्य जले वरुणत्वारोपः ।

सजलजलधरेति—सजलो जलभृतो यो जलधरेन्द्रो मेघराजस्तद्वत् नीलं श्यामलं नीरं जलं यस्य स तथोक्तः, विलुलितः विकीर्णः फेनतरङ्ग एव चारुः रमणीयो हारो यस्य तथोक्तश्च, समधिगतं मिलितं नदीसहस्रं सहस्रसंख्यिका नद्य एव बाहवो यस्य तथोक्तश्च सरित्पतिः नदीनाथः शयानः स्वपन् हरिः इव

जिनके जल को बाघ, सिंह एवं गजराज पिया करते हैं ऐसी नदियाँ पार कीं, फूल फल से लदे वृक्षों से भरे वन पार किये, इस समय मैं वानरराज की सेना के साथ समुद्र के तट पर उपस्थित हूँ ॥ २ ॥

लक्ष्मण— यही हैं भगवान् वरुण,

जलपूर्ण मेघ की तरह काले जलवाले, हार की तरह दीखनेवाले फेनों से पूर्ण यह वरुण सोते हुए भगवान् के समान दीख रहे हैं जिनके नदीरूप हजार हाथ हैं ॥ ३ ॥

रामः—कथं कथं भोः !

रिपुमुद्धर्तुमुद्यन्तं मामयं सक्तसायकम् ।
सजीवमद्य तं कर्तुं निवारयति सागरः ॥ ४ ॥

सुग्रीवः—अये वियति

सजलजलदसन्निभप्रकाशः
कनकमयामलभूषणोज्ज्वलाङ्गः ।
अभिपतति कुतो नु राक्षसोऽसौ
शलभ इवाशु हुताशनं प्रवेष्टुम् ॥ ५ ॥

भाति । हरेश्श्यामलशरीरत्वं हारवत्त्वं सहस्रबाहुत्वं च शास्त्रोक्तं, सागरोऽपि तथेति हरिणोपमीयते ॥ ३ ॥

रिपुमुद्धर्त्तुमिति—रिपुं रावणं नाम शत्रुम् उद्धर्त्तुं विनाशयितुम् उद्यन्तं चेष्टमानं सक्तसायकं बाणं धनुष्यारोपयन्तम् माम् सागरः अद्य सम्प्रति तं रिपुं सजीवं जीवैः सहितं कर्त्तुं निवारयति ॥ ४ ॥

वियति—आकाशे ।

सजलजलदेति—सजलजलदसन्निभः जलपूर्णमेघतुल्यः प्रकाशः प्रभा यस्य तादृशः, कनकमयैः स्वर्णनिर्मितै रमलैः स्वच्छैः भूषणैरलङ्कारैः उज्ज्वलानि भासमानानि अङ्गानि यस्य तथोक्तश्च असौ राक्षसः हुताशनं प्रवेष्टुं वह्नौ प्रवेशं कर्त्तुम् शलभ इव कुतो नु कस्मात् कारणात् अभिपतति मत्सम्मुखमायाति । श्यामलाङ्गो भूषिततनुश्चायं राक्षसः कुतोहेतोः वह्निं प्रवेष्टुकामः शलभ इव मदभिमुखमायातीति चिन्ता भावध्वनिः । शलभोपमयाचावश्यविनाशित्वप्रतीतिः । स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

राम—क्यों जी, शत्रु (रावण) को सजीव बनाये रखने की इच्छा से ही यह सागर आज शत्रु को समाप्त करने को उद्यत तथा धनुष धारण करनेवाले मुझको मना कर रहा है ॥ ४ ॥

सुग्रीव—जलपूर्ण मेघ के समान कान्तिवाला तथा सोने के आभूषणों से भूषित यह राक्षस आकाश से क्यों उतर रहा है ? यह राक्षस तो आग में प्रवेश करने को उद्यत शलभ के सदृश मालूम पड़ता है ॥ ५ ॥

हनूमान्—भो भो वानरवीराः ! अप्रमत्ता भवन्तु भवन्तः ।

शैलैर्द्रुमैः सम्प्रति मुष्टिबन्धैर्दन्तैर्नखैर्जानुभिरुग्रनादैः ।
रक्षोवधार्थं युधि वानरेन्द्रास्तिष्ठन्तु रक्षन्तु च नो नरेन्द्रम् ॥६॥

रामः—राक्षस इति । हनूमन् ! अलमलं सम्भ्रमेण ।

हनूमान्—यदाज्ञापयति देवः ।

(ततः प्रविशति विभीषणः ।)

विभीषणः—भोः ! प्राप्तोऽस्मि राघवस्य शिबिरसन्निवेशम् । (विचिन्त्य) अकृतदूतसम्प्रेषणमविदितागमनममित्रसम्बन्धिनं कथं नु खलु मामवगच्छेत् तत्रभवान् राघवः । कुतः,

---

अप्रमत्ताः—सावधानाः ।

शैलैर्द्रुमैरिति—शैलैः पर्वतप्रहारैः द्रुमैः वृक्षैः, मुष्टिबन्धैः मुष्टिप्रहारैः, दन्तैः, नखैः, जानुभिः, उग्रनादैः घोरचीत्कारशब्दैः 'वानरेन्द्राः वानरश्रेष्ठाः युधि युद्धे रक्षोवधार्थम् राक्षसस्य वधायोद्यताः तिष्ठन्तु नरेन्द्रं रामं च रक्षन्तु ॥ ६ ॥

संभ्रमेण—त्वरया वेगेन च ।

शिविरसन्निवेशम्—सेनानिवासम् । अकृतदूतसम्प्रेषणम्—पूर्वं दूतम् प्रेषितवन्तम् । अविदितागमनम्—अतर्कितोपनतम् । अमित्रसंबन्धिनम्—शत्रो रावणस्य भ्रातरम् । माम्—विभीषणम् । कथं नु अवगच्छेत्—कथमिव भावयेत कीदृशं जानीयात ।

हनूमान्—अजी वानरवीरगण, आप सावधान रहें ।

पर्वतों, वृक्षों, मुष्टिबन्धों, दन्तों, नखों तथा चीत्कारों के साथ जघनों के प्रहारों द्वारा वानरगण युद्ध में राक्षस के वधार्थ उद्यत रहें और हमारे महाराज की रक्षा करें ॥ ६ ॥

राम—हनूमन् , राक्षस होने से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है ।

हनूमान्—महाराज की जो आज्ञा ।

(विभीषण का प्रवेश)

विभीषण—अहा, मैं राम के शिविर में आया हूँ । (सोचकर

क्रुद्धस्य यस्य पुरतः सहितोऽप्यशक्तः
स्थातुं सुरैः सुररिपोर्युधि वज्रपाणिः ।
तस्यानुजं रघुपतिः शरणागतं मां
किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे ॥ ७ ॥

अथवा,

दृष्टधर्मार्थतत्त्वोऽयं साधुः संश्रितवत्सलः ।
शङ्कनीयः कथं रामो विशुद्धमनसा मया ॥ ८ ॥

(अधोऽवलोक्य) इदं रघुकुलवृषभस्य स्कन्धावारम् । यावदवतरामि । (अवतीर्य) हन्त इह स्थित्वा ममागमनं देवाय निवेदयामि ।

क्रुद्धस्येति—क्रुद्धस्य कुपितस्य यस्य सुररिपोः देवारेः रावणस्य पुरतोऽग्रे सुरैः देवैः सहितः वज्रपाणिः इन्द्रोपि स्थातुम् अशक्तः असमर्थः, रघुपतिः रामः तस्य रावणस्य अनुजं कनिष्ठभ्रातरं मां शरणागतं किं वक्ष्यति इति मे हृदयं परिशङ्कितम् शङ्काकुलम् । यस्य रावणस्य पुरो युद्धे शक्रोपि स्थातुमशक्तस्तस्य भ्रातरं मां शरणागतमालोक्य रामस्य कीदृशो भावो भविष्यति ? किंवा स वक्ष्यतीति चिन्तया व्याप्तमिव मम हृदयमिति ॥ ७ ॥

दृष्टधर्मार्थेति—दृष्टं साधु परिचितं धर्मार्थयोस्तत्त्वं सारांशो येन तादृशः संश्रितवत्सलः आश्रितजनप्रणयी साधुः परोपकारी अयं रामः विशुद्धमनसा निश्छलहृदयेन मया कथं शङ्कनीयः शत्रुत्वेन संभावनीयः । नेदमुचितमिति भावः ॥ ८ ॥

बिना दूत भेजे, अतर्कित भाव से उपस्थित मुझ शत्रुसम्बन्धी को राम क्या समझेंगे । क्योंकि—

जिस रावण के सामने देवों के साथ इन्द्र भी नहीं ठहर पाते हैं, उसी के भाई विभीषण को शरणागतरूप में उपस्थित देखकर राम क्या कहेंगे, यही आशङ्का मेरे हृदय में हो रही है ॥ ७ ॥

अथवा—मेरा हृदय पवित्र है, मैं राम पर संदेह क्यों करूँ ? वह तो धर्म के तत्त्वज्ञ तथा शरणागतवत्सल हैं ॥ ८ ॥

(नीचे की ओर देखकर) यही तो है रघुवंशावतंस का शिबिर । उतरता हूँ । (उतरकर) यहीं रुककर अपने आने की सूचना राम को देता हूँ ।

हनूमान्—(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये कथं तत्रभवान् विभीषणः !

विभीषणः—अये हनूमान् ?, हनूमन् ! ममागमनं देवाय निवेदय ।

हनूमान्—बाढम् । (उपगम्य) जयतु जयतु देवः ।

राजंस्त्वत्कारणादेव भ्रात्रा निर्विषयीकृतः ।
विभीषणोऽयं धर्मात्मा शरणार्थमुपागतः ॥ ९ ॥

रामः—कथं विभीषणः शरणागत इति । वत्स लक्ष्मण ! गच्छ, सत्कृत्य प्रवेश्यतां विभीषणः ।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः ।

रामः—सुग्रीव ! वक्तुकाममिव त्वां लक्षये ।

रघुकुलवृषभस्य—रघुवंशावतंसस्य । स्कन्धावारम्—सेनानिवासः ।

राजंस्त्वदिति—हे राजन्, त्वत्कारणादेव केवलात् त्वत्पक्षपातित्वात् भ्रात्रा रावणेन निर्विषयीकृतः स्वदेशान्निष्कासितः अयं धर्मात्मा विभीषणः शरणार्थं स्वरक्षार्थम् उपागतः इहागतः ॥ ९ ॥

सत्कृत्य—आदरं कृत्वा ।

वक्तुकाममिव—किमपि कथयितुमिच्छन्तमिव ।

हनूमान्—(ऊपर की ओर देखकर) अरे क्या यह महाराज विभीषण हैं ?

विभीषण—अरे, यह तो हनूमान् हैं । हनूमन् , आप हमारे आने की सूचना सरकार को दे दें ।

हनूमान्—अच्छी बात है । (समीप जाकर) जय हो, जय हो महाराज की !

महाराज, यह महात्मा विभीषण आपकी शरण में आये हैं, इनको इनके भाई रावण ने आप की ही वजह से देशनिकाला दे दिया है ॥ ९ ॥

राम—क्यों, विभीषण शरणागत !! वत्स लक्ष्मण, जाओ, सत्कारपूर्वक अविलम्ब विभीषण को ले आओ ।

लक्ष्मण—महाराज की जो आज्ञा ।

राम—सुग्रीव, मालूम पड़ता है जैसे आप कुछ कहना चाहते हों ।

सुग्रीवः—देव ! बहुमायाश्छलयोधिनश्च राक्षसाः। तस्मात् सम्प्रधार्य प्रवेश्यतां विभीषणः।

हनूमान्—महाराज ! मा मैवं,

देवे यथा वयं भक्तास्तथा मन्ये विभीषणम्।
भ्रात्रा विवदमानोऽपि दृष्टः पूर्वं पुरे मया॥ १०॥

रामः—यद्येवं गच्छ, सत्कृत्य प्रवेश्यतां विभीषणः।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः। (परिक्रम्य) अये विभीषणः। विभीषण ! अपि कुशली भवान् !

विभीषणः—अये कुमारो लक्ष्मणः !, कुमार !, अद्य कुशली संवृत्तोऽस्मि।

लक्ष्मणः—विभीषण ! उपसर्पावस्तावदार्यम्।

बहुमायाः—नानाविधमायाप्रवीणाः। छलयोधिनः—व्याजैर्युद्धं कर्तुकामाः।

सम्प्रधार्य—किमस्य वस्तुतः शरणागतत्वमुत मायिकमिति विचार्य निर्णीय च।

देवे यथेति—देवे भवति रामे यथा वयं वानरा भक्ताः भक्तिभाजस्तथा विभीषणं भवति भक्तिभाजं मन्ये। मया हनुमता पूर्वं पुरा पुरे तन्नगरे लङ्कायाम् भ्रात्रा रावणेन सह विवदमानः कलहायमानः अपि दृष्टः। त्वदर्थे भ्रात्रा विवदमानतया दृष्टस्य विभीषणस्य निर्विवादं त्वद्भक्तत्वमिति तत्प्रवेशे विचारो नोपयुक्त इति भावः॥ १०॥

अद्य कुशली संवृत्तः—रामशरणागत्या संप्रति कुशली जातः।

सुग्रीव—महाराज, राक्षस बहुत मायावी तथा छलयुद्धपरायण हुआ करते हैं अतः विचार करके ही विभीषण को आने दिया जाय।

हनूमान्—महाराज, ऐसी बात नहीं है,

जिस प्रकार हम महाराज के भक्त हैं, विभीषण भी वैसा ही है, मैंने देखा है, वह अपने घर पर अपने भाई के साथ (आप के ही लिये) झगड रहा था॥ १०॥

राम—यदि ऐसी बात है तो लक्ष्मण, जाओ, सत्कारपूर्वक उन्हें बुला लाओ।

लक्ष्मण—महाराज की जैसी आज्ञा। (चलकर) अरे विभीषण !! विभीषण, आप सकुशल तो हैं ?

विभीषण—अरे कुमार लक्ष्मण !! कुमार, आज सकुशल हो रहा हूँ।

लक्ष्मण—विभीषण, अब हम लोग महाराज के पास चलें।

विभीषणः—बाढम् ।

(उपसर्पतः ।)

लक्ष्मणः—जयत्वार्यः ।

विभीषणः—प्रसीदतु देवः । जयतु देवः ।

रामः—अये विभीषणः । विभीषण ! अपि कुशली भवान् ?

विभीषणः—देव ! अद्य कुशली संवृत्तोऽस्मि ।

भवन्तं पद्मपत्राक्षं शरण्यं शरणागतः ।
अद्यास्मि कुशली राजंस्त्वद्दर्शनविकल्मषः ॥ ११ ॥

रामः—अद्यप्रभृति मद्वचनाल्लङ्केश्वरो भव ।

विभीषणः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

भवन्तमिति—पद्मपत्राक्षं कमलपत्रसमाननेत्रं शरण्यं शरणागतरक्षकम् भवन्तं रामं शरणागतः प्रपन्नः अहं विभीषणः त्वद्दर्शनविकल्मषः भवद्दर्शन-धूतपापः अद्य सम्प्रति कुशली संवृत्तः जातोऽस्मि ॥ ११ ॥

अद्यप्रभृति—अद्यारभ्य । मद्वचनात्—मम वचने विश्वासं कृत्वा । लङ्केश्वरः—लङ्काधिपतिः । सागरतरणे—समुद्रलङ्घने । उपायः—प्रकारः । नाधिगम्यते—न ज्ञायते ।

विभीषण—अच्छी बात ।

(दोनों आते हैं)

लक्ष्मण—जय हो महाराज की !

विभीषण—महाराज सानन्द रहें, महाराज की जय हो ।

राम—अहा विभीषण ! विभीषण, आप सकुशल तो हैं ?

विभीषण—महाराज, आज सकुशल हो सका हूँ ।

कमलनयन, शरणागतवत्सल श्रीमान् की शरण में आकर तथा आप के दर्शनों से विगतपाप होकर मैं आज सकुशल हो रहा हूँ ॥ ११ ॥

राम—आज से आप हमारी आज्ञा से लङ्का के राजा बनें ।

वीभीषण—बड़ी कृपा हुई ।

रामः—विभीषण ! त्वदागमनादेव सिद्धमस्मत्कार्यम् । सागरतरणे खल्पायो नाधिगम्यते ।

विभीषणः—देव ! किमत्रावगन्तव्यम् । यदि मार्गं न ददाति, समुद्रे दिव्यमस्त्रं तावद् विसृष्टुमर्हति देवः ।

रामः—साधु विभीषण ! साधु । भवतु, एवं तावत् करिष्ये । (सहसोत्तिष्ठन् सरोषम्)

मम शरपरिदग्धतोयपङ्कं हतशतमत्स्यविकीर्णभूमिभागम् ।
यदि मम न ददाति मार्गमेनं प्रतिहतवीचिरयं करोमि शीघ्रम् ॥१२॥

(ततः प्रविशति वरुणः ।)

दिव्यमस्त्रम्—समुद्रशोषणक्षमं किमपि आग्नेयादिशस्त्रम् । विसृष्टुम्-क्षेप्तुम् ।

मम शरपरीति—मम रामस्य शरेण परिदग्धौ शोषितौ तोयपङ्कौ जलकर्दमौ यस्य तादृशं तथा हतैः जलशोषणव्यापादितैः शतमत्स्यैः विकीर्णः व्याप्तः भूमिभागः प्रदेशो यस्य तादृशश्च मार्गं पन्थानं यदि मम मह्यं न ददाति तदा एनम् सागरम् शीघ्रम् अविलम्बेन प्रतिहतवीचिरयं समाप्ततरङ्गप्रचारं करोमि । यद्ययं मे मार्गं न ददाति तदा मम शरेणास्य तरङ्गमाला त्वरितमेव समापितो भविष्यतीति भावः ॥ १२ ॥

राम—आप के आने से ही हमारा कार्य बन गया । केवल समुद्र पार करने का उपाय नहीं समझ में आ रहा है ।

विभीषण—महाराज, इसमें समझना क्या है ? यदि समुद्र रास्ता नहीं देते हैं, आप समुद्र में दिव्यास्त्र छोड़ सकते हैं ।

राम—साधु विभीषण ! ऐसा ही करूँगा । (उठकर सरोष)

यदि सागर मार्ग प्रदान नहीं करते हैं तो मैं अपने बाणों द्वारा इनके पानी और पङ्क को दग्ध कर दूँगा, मरे हुए मत्स्यों से इनकी खाई पट जायगी, और इनकी तरङ्गमाला शीघ्र समाप्त हो जायगी ॥ १२ ॥

(वरुण का प्रवेश)

वरुणः—(ससम्भ्रमम्)

नारायणस्य नररूपमुपाश्रितस्य
कार्यार्थमभ्युपगतस्य कृतापराधः ।
देवस्य देवरिपुदेहहरात् प्रतूर्णं
भीतः शराच्छरणमेनमुपाश्रयामि ॥ १३ ॥

(विलोक्य) अये अयं भगवान्,

मानुषं रूपमास्थाय चक्रशार्ङ्गगदाधरः ।
स्वयं कारणभूतः सन् कार्यार्थी समुपागतः ॥ १४ ॥

नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय ।

नारायणस्येति—नररूपसमाश्रितस्य मनुष्यरूपधारिणो विष्णोः नारायणस्य कार्यार्थम् रावणनिग्रहरूपं कार्यं कर्तुम् अभ्युपगतस्य अत्रायातस्य देवस्य रामस्य कृतापराधः मार्गाप्रदानेन कृतापकारः देवरिपुदेहहरात् राक्षसप्राणहरणक्षमात् शरात् बाणात् भीतः प्राप्तभयः अहं वरुणः एनम् रामम् शरणमुपाश्रयामि त्रातारं प्रपद्ये । अयं रामो मनुष्यरूपधरो विष्णुः कार्यविशेषमुद्दिश्यात्रायातो न च मया तस्मै लङ्कामार्गः दत्तः, तदहमपराधीति भीत एनमेव शरणं प्रपन्नोऽस्मीत्यर्थः ॥ १३ ॥

मानुषमिति—स्वयं कारणभूतः जगतः कारणतां गतः चक्रशार्ङ्गगदाधरः चक्रधनुर्गदाधारी चायं विष्णुरपि मानुषं रूपमास्थाय धृत्वा कार्यार्थी रावणनिग्रहरूपं कार्यमुद्दिश्य समुपागतः अत्रायातः ॥ १४ ॥

वरुण—(घबड़ाहट के साथ) नररूपधारी नारायण कार्यार्थी होकर मेरे तट पर आये हैं, मैंने मार्ग नहीं देकर उनके प्रति अपराध किया है, अतः उनके राक्षससंहारक बाणों से भयभीत हो अब मैं उन्हीं की शरण जा रहा हूँ ॥ १३ ॥

(देखकर) अहा यही हैं भगवान् !

शङ्ख-चक्र-गदाधारी यह भगवान् मनुष्यरूप धारण करके कार्यार्थ हमारे पास आये हैं, यह स्वयं जगत् के कारण हैं ॥ १४ ॥

त्रैलोक्य के आदिकारण भगवान् नारायण को नमस्कार ।

लक्ष्मणः—(विलोक्य) अये को नु खल्वेषः ?

मणिविरचितमौलिश्चारुताम्रायताक्षो
नवकुवलयनीलो मत्तमातङ्गलीलः ।
सलिलनिचयमध्यादुत्थितस्त्वेष शीघ्र-
मवनतमिव कुर्वंस्तेजसा जीवलोकम् ॥ १५ ॥

विभीषणः—देव ! अयं खलु भगवान् वरुणः प्राप्तः ।

रामः—किं वरुणोऽयम् । भगवन् ! वरुण ! नमस्ते ।

वरुणः—न मे नमस्कारं कर्तुमर्हति देवेशः । अथवा,

राजपुत्र ! कुतः कोपो रोषेण किमलं तव ।

त्रैलोक्यकारणाय—लोकत्रयहेतवे ।

मणिविरचितेति—मणिभिः नानामणिगणैः रचितः अलङ्कृतः मौलिः शिरोदेशो यस्य तथोक्तः, चारुताम्रायताक्षः चारुणी सुन्दरे ताम्रे रक्तवर्णे, आयते विशाले च अक्षिणी नयने यस्य तादृशः, नवकुवलयनीलः प्रथमविकसितनीलकमल-श्यामः मत्तमातङ्गलीलः मत्तगजगामी एष पुरोदृश्यमानः शीघ्रम् सम्प्रति एव सलिल-निचयमध्यात् सागरजलराशेः उत्थितः निर्गतः तेजसा प्रभावातिशयेन जीव-लोकम् अवनतं कुर्वन्निव संसारं लघयन्निव (को नु खल्वेषः) । को नु खल्वयं सागरान्निर्गच्छति यस्य शिरो मणिगणैरलङ्कृतम् , नयने विशाले रक्तवर्णे च स्तः, अङ्गं नीलकमलश्यामलम् , गतिर्गजस्येव, यश्च तेजसा जगदधःकुर्वन्निव भासते ॥

देवेशः—सकलदेवमुख्यः ।

राजपुत्रेति—हे राजपुत्र हे नरोत्तम पुरुषोत्तम तव कोपः कुतः किमर्थं

लक्ष्मण—(देखकर) अरे, यह कौन है ? इसके मस्तक पर मणियों का विन्यास है, इसकी आँखें विशाल तथा रक्ताभ हैं, इसका अङ्ग श्याम तथा चाल मत्तगजतुल्य है, यह अभी अभी समुद्र के जल से निकलकर अपने प्रभाव से संसार को अवनत सा कर रहा है ॥ १५ ॥

विभीषण—महाराज, यह वरुणदेव आये हैं ।

राम—क्या यह वरुणदेव हैं ? भगवन् वरुण, नमस्ते ।

वरुण—आप देवेश होकर मुझे नमस्कार करें यह उचित नहीं होगा, अथवा

कर्तव्यं तावदस्माभिर्वद शीघ्रं नरोत्तम ! ॥ १६ ॥

रामः—लङ्कागमने मार्गं दातुमर्हति भवान् ।

वरुणः—एष मार्गः । प्रयातु भवान् । (अन्तर्हितः ।)

रामः—कथमन्तर्हितो भगवान् वरुणः । विभीषण ! पश्य पश्य भगवत्प्रसादान्निष्कम्पवीचिमन्तं सलिलाधिपतिम् ।

विभीषणः—देव ! साम्प्रतं द्विधाभूत इव दृश्यते जलनिधिः ।

रामः—क्व हनूमान् ?

हनूमान्—जयतु देवः ।

रामः—हनूमन् ! गच्छाग्रतः ।

मह्यं कुप्यसि ? तव रोषेण अलम् वृथा तवायं क्रोधः । अस्माभिः किन्तव कर्तव्यम् इति तावद् वद कथय ॥ १६ ॥

प्रयातु—गच्छतु । (अन्तर्हितः-तिरोहितः)

भगवत्प्रसादात्—भगवतो वरुणस्यानुग्रहात् । निष्कम्पवीचिमन्तम्-स्थिर-तरङ्गम् । सलिलाधिपतिम्-समुद्रम् ॥

द्विधाभूतः—विभक्तः ।

क्व हनूमान्—हनूमान् क्वास्ति ? हनूमता पूर्वं लङ्काया दृष्टत्वात्तत्र गमन-कालेऽग्रे मार्गं दर्शयितुमत्र तदन्वेषणं प्राप्तावसरमिति बोध्यम् ॥

हे राजकुमार, आप कुपित क्यों हो रहे हैं ? क्रोध से आप को क्या लाभ ? हे पुरुषोत्तम, आप कृपया शीघ्र यह बताइये कि हमको क्या करना है ॥ १६ ॥

राम—आप मुझे लङ्का जाने का मार्ग दें ।

वरुण—यही मार्ग है, जाइये । (अन्तर्हित हो जाते हैं)

राम—क्या, वरुणदेव अन्तर्हित हो गये ? विभीषण, देखिये वरुणदेव की कृपा से सागर की तरङ्गें निष्कम्प हो रही हैं ।

विभीषण—महाराज, वरुण की कृपा से समुद्र दो भागों में बट सा गया है ।

राम—हनूमान् कहाँ हैं ?

हनूमान्—जय हो महाराज की ।

राम—हनूमन् , आगे चलिये ।

हनूमान्—यदाज्ञापयति देवः।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

रामः—(विलोक्य सविस्मयम्) वत्स लक्ष्मण! वयस्य विभीषण! महाराज सुग्रीव! सखे हनूमन्! पश्यन्तु पश्यन्तु भवन्तः। अहो विचित्रता सागरस्य। इह हि,

क्वचित् फेनोद्गारी क्वचिदपि च मीनाकुलजलः
क्वचिच्छङ्खाकीर्णः क्वचिदपि च नीलाम्बुदनिभः।
क्वचिद् वीचीमालः क्वचिदपि च नक्रप्रतिभयः
क्वचिद् भीमावर्तः क्वचिदपि च निष्कम्पसलिलः॥ १७॥

भगवत्प्रसादादतीतः सागरः।

हनूमान्—देव! इयमियं लङ्का।

विचित्रता—नानारूपता।

क्वचिदिति—क्वचित् क्वापि भागविशेषे फेनोद्गारी फेनाकुलः, क्वचिदपि च मीनाकुलजलः मत्स्यपूर्णपानीयः, क्वचित् शङ्खाकीर्णः शङ्खपूर्णः, क्वचिदपि च भागविशेषे नीलाम्बुदनिभः श्याममेघसमानः, क्वचिद् वीचीमालः तरङ्गयुक्तः, क्वचिदपि च नक्रप्रतिभयः नक्रद्वारकभयजनकः, क्वचिद् भीमावर्त्तः भीषणजलभ्रमिसहितः क्वचिदपि च निष्कम्पसलिलः स्थिरजलः, तदित्थमस्य सागरस्य विचित्रता व्यक्तैव॥ १७॥

हनूमान्—महाराज की जैसी आज्ञा।

(सभी चल देते हैं।)

राम—(देखकर, साश्चर्य) वत्स लक्ष्मण, मित्र विभीषण, महाराज सुग्रीव, सखे हनूमन्, आप लोग देखें, सागर कितना विचित्र लग रहा है? कहीं फेन निकलता है, कहीं मत्स्यगण पानी को मथ रहे हैं, कहीं शङ्ख भरे पड़े हैं, कहीं का जल नील है, कहीं पर तरंगें उठ रही हैं, कहीं भयङ्कर नक्र उलट रहे हैं, कहीं भीषण भंवरें पड़ रही हैं और कहीं का जल स्थिर है॥ १७॥

वरुणदेव की कृपा से मैं समुद्र पार कर गया।

हनूमान्—महाराज, यही है लङ्का।

रामः—(चिरं विलोक्य) अहो राक्षसनगरस्य श्रीरचिराद् विपत्स्यते ।

मम शरवरवातपातभग्ना कपिवरसैन्यतरङ्गताडितान्ता ।
उदधिजलगतेव नौर्विपन्ना निपतति रावणकर्णधारदोषात् ॥ १८ ॥

सुग्रीव ! अस्मिन् सुवेलपर्वते क्रियतां सेनानिवेशः । (उपविशति ।)

सुग्रीवः—यदाज्ञापयति देवः । नील ! एवं क्रियताम् ।

(प्रविश्य)

नीलः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु देवः ।

राक्षसनगरस्य—राक्षसपुर्याः । श्रीः—समृद्धिः । अचिरात्—अल्पकालेन । विपत्स्यते नष्टा भविष्यति ॥

ममशरवरेति—मम रामस्य शरवरः बाण एव वातो वायुस्तेन यः पातः पतनं तेन हेतुना भग्ना नष्टा, कपिवरसैन्यम् सुग्रीवसैन्यमेव तरङ्गस्तेन ताडितः प्रेरितोऽन्तो यस्यास्तादृशी उदधिजलगता सागरमध्यस्थिता नौर्लङ्का रावणकर्णधारदोषात् रावणरूपस्य नाविकस्यापराधात् विपन्ना नष्टा सती निपतति । यथा काचन नौः वातेन पातिता तरङ्गैः स्वान्तर्निर्लीनतां गमिता जलराशिमध्यगता कर्णधारस्य दोषान्नश्यति तथैव लङ्का मम बाणभग्ना वानरसैन्यकृतावसाना च सागरमध्यगता रावणदोषान्नश्यतीति परम्परितं रूपकम् ॥ १८ ॥

सेनानिवेशः—सेनायाः सन्निवेशः स्थापनम् ।

राम—(देरतक देखकर) 'अहा ! इस राक्षसनगरकी समृद्धि अब शीघ्रही समाप्त होगी ।

रावणरूप कर्णधारके अपराधसे यह लङ्का मेरे बाणों से चूर होकर वानरसैन्यों द्वारा नष्ट कर दी जायेगी जैसे समुद्रगत नौका वातचालित होकर तरङ्गों द्वारा नष्टकर दी जाती है ॥ १८ ॥

सुग्रीव, इसी सुवेलपर्वतपर सेनाका पड़ाव ठीक कीजिये ।

सुग्रीव—महाराजकी जो आज्ञा । नील, यही करो । (बैठते हैं)

(आकर)

नील—महाराज की जो आज्ञा । (जाकर-फिर आकर) जय हो महाराज की ।

क्रमान्निवेश्यमानासु सेनासु वृन्दपरिग्रहेषु परीक्ष्यमाणेषु पुस्तकप्रामाण्यात् कुतश्चिदप्यविज्ञायमानौ द्वौ वनौकसौ गृहीतौ। वयं न जानीमः कर्तव्यम्। देवस्तस्मात् प्रमाणम्।

रामः—शीघ्रं प्रवेशयत्वेतौ।

नीलः—यदाज्ञापयति देवः। (निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति नीलो वानरैर्गृह्यमाणौ वानररूपधारिणौ

सम्पुटिकाहस्तौ शुकसारणौ च।)

वानराः—अङ्घो भणथ। के तुम्हे भणथ। [अङ्घो भणतं कौ युवां भणतम्।]

उभौ—भट्टा! अम्हे अय्यकुमुदस्स सेवआ। [भर्तः! आवामार्यकुमुदस्य सेवकौ।]

निवेश्यमानासु—स्थापितासु। वृन्दपरिग्रहेषु–कुत्र कः कथं चेति निश्चित्य ज्ञानेषु।

परीक्ष्यमाणेषु—अनुसन्धाय दृढीक्रियमाणेषु। पुस्तकप्रामाण्यात्- लेखमाधारीकृत्य।

अविज्ञायमानौ—अपरिचितौ। वनौकसौ-वानरौ। प्रमाणम्-निर्णयकर्त्ता। उपदिशतः-कथयतः।

क्रमशः सेनायें बसाई जा रही थीं, उनके वृन्द की गिनतीकी जा रही थी कि लिस्टके मुताबिक जिनका कोई पता नहीं है ऐसे दो वनचर पकड़े गये हैं, उनके प्रति क्या किया जाय, हम नहीं समझते हैं, अतः आप जो कहें।

राम—उन्हें शीघ्र हाजिर करो।

नील—महाराजकी जैसी आज्ञा। (जाता है)

(अनन्तर नील, वानरों द्वारा पकड़े गये वानररूपधारी शुक-सारण आते हैं,

उनके हाथोंमें पेटियाँ हैं)

वानर—बताओ जी, तुम कौन हो?

दोनों—बता तो दिया हम कुमुद के सेवक हैं।

विभीषणः—(सावधानं शुकसारणौ विलोक्य)

स्वसैनिकौ न चाप्येतौ न चाप्येतौ वनौकसौ।
प्रेषितौ रावणेनैतौ राक्षसौ शुकसारणौ ॥ १९ ॥

उभौ—(आत्मगतम्) हन्त कुमारेण विज्ञातौ स्वः। (प्रकाशम्) आर्य ! आवां खलु राक्षसराजस्य विप्रतिपत्त्या विपद्यमानं राक्षसकुलं दृष्ट्वास्पदमलभमानौ आर्यसंश्रयार्थं वानररूपेण सम्प्राप्तौ।

रामः—वयस्य ! विभीषण ! कथमिव भवान् मन्यते।

विभीषणः—देव !

वानराः—भट्टा ! अय्यकुमुदस्स सेवअत्ति अत्ताणं अवदिसन्ति। [भर्तः ! आर्यकुमुदस्य सेवकावित्यात्मानमपदिशतः।]

स्वसैनिकाविति—एतौ सम्प्रति भवतः पुरत आनीतौ वनौकसौ न स्वसैनिकौ, न चापि एतौ वस्तुतः वनौकसौ वानरौ, एतौ शुकसारणौ नाम राक्षसौ रावणेन प्रेषितौ। अतोऽनयोर्वानरत्वं नितान्तं मिथ्येति ॥ १९ ॥

कुमारेण—विभीषणेन। विज्ञातौ-परिचितौ। राक्षसराजस्य-रावणस्य। विप्रतिपत्त्या-दुर्बुद्धया। विपद्यमानम्-नश्यत्। आस्पदमलभमानौ-स्थानमनासादयन्तौ। आर्यसंश्रयार्थम्-भवदीयं शरणमाश्रयितुम्।

कथमिव भवान् मन्यते—अनयोरुक्तौ भवतः कीदृशो विश्वासः ?।

वानर—स्वामिन्, यह कह रहे हैं कि हम कुमुदके सेवक हैं।

विभीषण—(शुक और सारणको स्थिरता से देखकर)
यह न अपने सैनिक हैं और न वानर ही हैं, यह तो रावण द्वारा प्रेषित शुक तथा सारण नामक राक्षस हैं ॥ १९ ॥

दोनों—(स्वगत) हाय, कुमारने हमें पहचान लिया ! (प्रकट)
हम लोगोंने देखा कि रावणकी दुर्बुद्धिके कारण राक्षसकुल विपत्तिमें पड़ रहा है, हम लोगों को कहीं स्थान नहीं मिलेगा, अतः वानररूप धारण करके आपकी शरणमें आगये हैं।

राम—मित्र विभीषण, आप क्या समझते हैं ?

एतौ हि राक्षसेन्द्रस्य सम्मतौ मन्त्रिणौ नृप ! ।
प्राणान्तिकेऽपि व्यसने लङ्केशं नैव मुञ्चतः ॥ २० ॥

तस्माद् यथार्हं दण्डमाज्ञापयतु देवः ।

रामः—विभीषण ! मा मैवम् ।

अनयोः शासनादेव न मे वृद्धिर्भविष्यति ।
क्षयो वा राक्षसेन्द्रस्य तस्मादेतौ विमोचय ॥ २१ ॥

लक्ष्मणः—यदि विमुञ्चेत् , सर्वस्कन्धावारं प्रविश्य परीक्ष्य पुनर्मोक्षमाज्ञापयत्वार्यः ।

एतौ हीति—एतौ शुकसारणौ नाम राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य सम्मतौ अतिप्रियौ मन्त्रिणौ स्तः, हे नृप, एतौ प्राणान्तिकेऽपि व्यसने प्राणहरेऽपि कष्टे लङ्केशं रावणं नैव मुञ्चतस्त्यजतः, अतोऽनयोरुक्तिर्न विश्वसनीयेत्याशयः ॥ २० ॥

यथार्हम्—यथोचितम् ।

मा मैवम्—भवदुक्तं न, नैतौ दण्डमर्हत इत्यर्थः ।

अनयोरिति—अनयोः शुकसारणयोर्नामराक्षसयोः शासनात् मारणादिनिग्रहात् मे मम वृद्धिः कार्यसिद्धिर्न भविष्यति, नवा राक्षसेन्द्रस्य क्षयो भविष्यति, तस्मात् एतौ शुकसारणौ विमुञ्च यथेच्छं गन्तुमादिशेत्यर्थः ॥ २१ ॥

यदि विमुञ्चेत्—यदि भवानिमौ राक्षसौ मुञ्चति तदा स्वं सैनानिवेशं प्रवेश्य दर्शयित्वा च मोचयतु, येन गत्वा रावणाय निवेदयेत् , इति प्रघट्टकस्यास्याशयः ॥

सम्यगभिहितम् – युक्तमुक्तम् ।

विभीषण—यह दोनों ही रावणके सम्मानित मन्त्री हैं, प्राणान्तकर कष्टमें भी रावणको नहीं छोड़ सकते हैं ॥ २० ॥

अतः आप उचित दण्डका आदेश दें ।

राम—विभीषण नहीं-नहीं,

इन दोनों को दण्डित कर देनेसे ही हमारी उन्नति अथवा रावणकी अवनति नहीं हो जायगी, अतः इन दोनोंको मुक्त कर दो ॥ २१ ॥

लक्ष्मण—यदि छोड़ना है तो सेना-सन्निवेशमें घुमाकर सकल सैनिकों का दर्शन कराके छोड़ने की आज्ञा दी जाय ।

रामः—सम्यगभिहितं लक्ष्मणेन । नील ! एवं क्रियताम् ।

नीलः—यदाज्ञापयति देवः ।

रामः—अथवा एहि तावत् ।

उभौ—इमौ स्वः ।

रामः—अभिधीयतां मद्वचनात् स राक्षसेन्द्रः ।

मम दारापहारेण स्वयङ्ग्राहितविग्रहः ।
आगतोऽहं न पश्यामि द्रष्टुकामो रणातिथिः ॥ २२ ॥

इति ।

उभौ—यदाज्ञापयति देवः । (निष्क्रान्तौ ।)

रामः—विभीषण ! वयमपि तावदानन्तरीयं बलं परीक्षिष्यामहे ।

विभीषणः—यदाज्ञापयति देवः ।

मम दारेति—मम रामस्य दारापहारेण स्त्रियं हृत्वा स्वयं ग्राहितविग्रहः आत्मनैव विरोधितां प्रापितः अहं रामः आगतो भवदीयं पुरमुपेतोऽपि रणातिथिः युद्धार्थमागतोऽतिथिः द्रष्टुकामः भवन्तं साक्षात् कर्त्तुमिच्छन्नपि न पश्यामि । रणार्थमागताय मह्यं दर्शनं दातुमर्हति रावण इत्यर्थः ॥ २२ ॥

आनन्तरीयम्—आभ्यन्तरिकम् ।

राम—लक्ष्मणने ठीक कहा है । नील, यही करो ।

नील—महाराजकी जो आज्ञा ।

राम—अथवा तबतक इधर आओ ।

दोनों—यह हूँ ।

राम—मेरी ओरसे रावणको कहना कि :—

आपने मेरी स्त्रीका अपहरण करके स्वयं शत्रुता अर्जितकी है, अतः मैं रणकी इच्छासे यहाँ आया हूँ परन्तु आपको नहीं देख रहा हूँ ॥ २२ ॥

दोनों—महाराजकी जो आज्ञा । (जाते हैं)

राम—विभीषण, तबतक हम भी अपने आन्तरिक सैन्य की जांच कर लें ।

विभीषण—महाराजकी जो आज्ञा ।

रामः—(परिक्रम्य विलोक्य) अये अस्तमितो भगवान् दिवाकरः। सम्प्रति हि,

अस्ताद्रिमस्तकगतः प्रतिसंहृतांशुः
सन्ध्यानुरञ्जितवपुः प्रतिभाति सूर्यः ।
रक्तोज्ज्वलांशुकवृते द्विरदस्य कुम्भे
जाम्बूनदेन रचितः पुलको यथैव ॥ २३ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

चतुर्थोऽङ्कः



अस्ताद्रिमस्तकेति—अस्ताद्रिमस्तकगतः अस्ताचलशिखरं प्राप्तः प्रतिसंहृतांशुः संक्षिप्तकिरणजालः संध्यानुरञ्जितवपुः सायं रागरञ्जिततनुः सूर्यः, रक्तोज्ज्वलांशुकवृते अच्छरक्तवस्त्रवेष्टिते द्विरदस्य गजस्य कुम्भे मस्तके जाम्बूनदेन स्वर्णेन रचितः पुलकः तिलक इव प्रतिभाति भासते। अस्ताद्रिशिखरं गतः सूर्यो रक्ताभश्च रक्तवस्त्रवेष्टिते गजकुम्भे स्वर्णरचितस्तिलक इव प्रतीयत इत्यर्थः ॥२३॥

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक 'प्रकाशे'

चतुर्थाङ्क 'प्रकाशः'



राम—(चलकर तथा देखकर) भगवान् सूर्य डूब रहे हैं, इस समय—

अस्ताचलके शिखरपर पहुँचा हुआ एवं क्षीण किरण तथा संध्यारागरञ्जित भगवान् सूर्य ऐसे दीख रहे हैं जैसे लाल उजले वस्त्रसे आवृत गजकुम्भपर सुवर्ण रचित गोलाकार तिलक हो।

(सबका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति राक्षसकाञ्चुकीयः)

राक्षसकाञ्चुकीयः—क इह भोः ! प्रवालतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ।

(प्रविश्यान्यो राक्षसः)

राक्षसः—आर्य ! अयमस्मि । किं क्रियताम् ।

काञ्चुकीयः—गच्छ, महाराजस्य शासनाद् विद्युज्जिह्वस्तावदाहूयताम् ।

राक्षसः—आर्य ! तथा ! (निष्क्रान्तः)

काञ्चुकीयः—अहो नु खलु विपद्यमानाभ्युदये राक्षसकुले विपन्नसर्वसाधनस्य निहतवीरपुरुषस्य स्वयं च प्राणसंशयं प्राप्तस्येदानीमपि प्रसन्नत्वं नोपगच्छति महाराजस्य बुद्धिः । को हि नाम,

---

प्रवालतोरणद्वारम्—प्रवालैः कृतो यस्तोरणस्तद्द्वारम् । अशून्यं कुरुते—रक्षति । कः प्रवालतोरणद्वारे स्थित इत्याशयः ।

विपद्यमानाभ्युदये—नश्यत्समृद्धौ । विपन्नसर्वसाधनस्य—नष्टसकलोपकरणस्य । निहतवीरपुरुषस्य—हतयोधवीरस्य । स्वयम्—आत्मना । प्राण संशयं प्राप्तस्य-जीविष्यति न वेति सन्दिग्धजीवितस्य । इदानीमपि—अधुनापि-प्रसन्नत्वं नोपगच्छति-निर्मलतां न व्रजति ।

पञ्चम अङ्कः

(राक्षस काञ्चुकीय का प्रवेश)

राक्षस काञ्चुकीय– कौन है इस प्रवल तोरणद्वार पर ?

(आकर दूसरा राक्षस)

राक्षस—आर्य, मैं हूँ, क्या आज्ञा है ?

काञ्चुकीय—जाओ, महाराज के आदेशानुसार विद्युज्जिह्व को बुला लाओ ।

राक्षस—आर्य, जो आज्ञा । (जाता है)

काञ्चुकीय—आश्चर्य है, राक्षसकुल का अभ्युदय चौपट हो गया, सभी साधन समाप्त हो गये, सारे वीरपुरुष मारे गये, महाराज स्वयं प्राणसंशय में हैं, तथापि अभी भी महाराज की बुद्धि ठिकाने नहीं आ रही है । कौन ऐसा होगा जो—

चलत्तरङ्गाहतभीमवेलमुदीर्णनक्राकुलनीलनीरम् ।
समुद्रमाक्रान्तमवेक्ष्य तस्मै दारप्रदानान्न करोति शान्तिम् ॥ १ ॥

अपि, च

प्रहस्तप्रमुखा वीराः कुम्भकर्णपुरस्सराः ।
निहता राघवेणाद्य शक्रजिच्चापि निर्गतः ॥ २ ॥

एवमपि गते,

मदनवशगतो महानयार्थं सचिववचोऽप्यनवेक्ष्य वीरमानी ।

चलत्तरङ्गेति—चलत्तरङ्गाहतभीमवेलम् चलद्भिस्तरङ्गैराहता ताडिता भीमा भीषणा वेला तटदेशो यस्य तादृशम् , उदीर्णैः उच्छलद्भिः नक्रैर्ग्राहैः आकुलं व्याप्तं नीलं श्यामं नीरं जलं यस्य तादृशम् समुद्रम् आक्रान्तम् बलान्निगृहीतं मार्गप्रदानाय प्रेरितं तथा कर्त्तुं बाधितञ्च अवेक्ष्य दृष्ट्वा तस्मै तादृशमहाप्रभावाय रामाय दारप्रदानात् तदीयवनिताप्रत्यर्पणात् को हि शान्तिं न करोति ॥ सागरमपि जितवते रामाय तदीयां वनितां समर्प्य शान्तेः करणं सर्वस्याप्यभीष्टं स्यात् , तदपि येन न क्रियते नूनं तस्य बुद्धिर्विपर्यस्तेति भावः ॥ १ ॥

प्रहस्तप्रमुखा इति—अद्य राघवेण रामेण कुम्भकर्णपुरस्सराः कुम्भकर्णस्य नायकत्वे युध्यमानाः प्रहस्तप्रमुखाः प्रहस्तप्रधानाः वीराः योधा निहताः मारिताः, शक्रजित् मेघनादः अपि निर्गतः युद्धाय चलितः ॥ २ ॥

एवमपि गते—अस्यामपि दशायाम् ।

मदनवशेति—मदनवशगतः कामपराधीनः वीरमानी आत्मानं वीरं मन्यमानः योद्धुकामः युद्धाभिलाषी रावणः महानयार्थं नीतितत्त्वयुक्तं सचिववचः

चलती हुई तरङ्गमाला से तटों को दलित करनेवाले, एवं दुर्दान्त जलचरों से पूर्ण जलशाली समुद्र को विजित देखकर अपहृत रमणी का प्रत्यर्पण करके शान्ति न कायम कर ले ॥ १ ॥

और—आज युद्ध में प्रहस्त वगैरह वीरों के साथ ही कुम्भकर्ण आदि राघव द्वारा मारे गये हैं, इन्द्रजित् भी युद्ध में लड़ने गये हैं ॥ २ ॥

ऐसी दशा में भी—

वीरत्वाभिमानी तथा कामपराभूत हमारे महाराज, मन्त्रियों की अत्यन्त-

रघुकुलवृषभस्य तस्य देवीं जनकसुतां न ददाति योद्धुकामः ॥ ३ ॥

(प्रविश्य)

विद्युज्जिह्वः—अपि सुखमार्यस्य ।

काञ्चुकीयः—विद्युज्जिह्व ! गच्छ, महाराजवचनाद् रामलक्ष्मणयोः शिरःप्रतिकृतिरानीयताम् ।

विद्युज्जिह्वः—यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रान्तः ।)

काञ्चुकीयः—यावदहमपि महाराजस्य प्रत्यन्तरीभविष्यामि ।

(निष्क्रान्तः ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति राक्षसीगणपरिवृता सीता)

मन्त्रिवचनम् अपि अनवेक्ष्य अनाकर्ण्य तस्य रघुकुलवृषभस्य रघुवंशावतंसस्य रामस्य देवीं भार्यां जनकसुतां सीतां न ददाति न प्रत्यर्पयति ॥ ३ ॥

शिरःप्रतिकृतिः—शिरश्छविः, धात्वन्तरनिर्मितं रामलक्ष्मणशिरःसमानं प्रतीयमानं वञ्चनाय निर्मितं किमपि वस्त्वन्तरम् ॥

प्रत्यन्तरीभवामि—समीपस्थो भवामि ।

नीतिपूर्ण बात का आदर नहीं कर रहे हैं, लड़ने को उद्यत हैं, रघुनाथ की प्रिया जनकनन्दिनी को नहीं वापस कर रहे हैं ॥ ३ ॥

(आकर)

विद्युज्जिह्व—आप सकुशल हैं न ?

काञ्चुकीय—विद्युजिह्व, जाओ महाराज के आदेशानुसार राम तथा लक्ष्मण के शिर की प्रतिकृति ले लाओ ।

विद्युजिह्व—महाराज की जो आज्ञा । (जाता है)

काञ्चुकीय—तब तक मैं भी महाराज के पास जाता हूँ ।

(जाता है)

विष्कम्भक

(राक्षसियों से घिरी सीता का प्रवेश)

सीता—किण्णु हु अय्यउत्तस्य आगमणेण पहलादिअस्स हिअअस्स अज्ज आवेओ विअ संवुत्तो। अणिट्ठाणि णिमित्ताणि अ दिस्सन्ति। एवं वि दाणि (अच्चाहिअं ?) हिअअस्स महन्तो अब्भुदओ वड्ढइ। सव्वहा इस्सरा सन्ति करन्तु। [किन्नु खल्वार्यपुत्रस्यागमनेन प्रह्लादितस्य हृदयस्याद्यावेग इव संवृत्तः। अनिष्टानि निमित्तानि च दृश्यन्ते। एवमपीदानीं हृदयस्य महानभ्युदयो वर्धते। सर्वथेश्वराः शान्तिं कुर्वन्तु।]

(ततः प्रविशति रावणः।)

रावणः—मा तावद्,

एषा विहाय भवनं मम सम्प्रयाता
नारी नवामलजलोद्भवलग्नहस्ता।
लङ्का यदा हि समरे वशमागता मे
पौलस्त्यमाशु परिजित्य तदा गृहीता॥ ४॥

आर्यपुत्रस्य—रामस्य। आगमनेन—लङ्कापुरे समागमेन। आह्लादितस्य—प्रसन्नस्य, आवेगः—संभ्रमः। संवृत्तः—जातः। अनिष्टानि—अशुभानि। निमित्तानि—लक्षणानि। अभ्युदयः—प्रसादः।

एषा विहायेति—एषा (लङ्कारूपा) नवामलजलोद्भवलग्नहस्ता नूतननिर्मलकमलयुक्तकरा नारी लङ्का मम भवनं गृहं विहाय सम्प्रयाता गता, यदा हि समरे मे मम वशम् अधीनताम् आगता तदा आशु पौलस्त्यं कुबेरं परिजित्य गृहीता। इमां मम गृहाद्गतां लङ्कां पुराहं पौलस्त्यं कुबेरं पराजित्य

सीता—आर्यपुत्र के आगमन से आह्लादित हमारे हृदय में आज न जानें क्यों कुछ उद्वेग सा हो रहा है। कुछ अपशकुन भी दीख रहे हैं। इस स्थिति में भी हृदय का महान् अभ्युदय सा हो रहा है। ईश्वर सर्वथा शान्ति करेंगे।

(रावण का प्रवेश)

रावण—नहीं तो—

यह नवकमल पुष्प से भूषितहस्ता नारीरूपधरा लक्ष्मी मेरा घर छोड़ कर जा रही है। यह जब मेरे हाथ आई थी तब भी मैंने इसे युद्ध में कुबेर को परास्त करके ही प्राप्त किया था॥ ४॥

भवति ! तिष्ठ तिष्ठ । न खलु न खलु गन्तव्यम् । किं ब्रवीषि—उत्सृज्य त्वां राममुपगच्छामीति । आः अपध्वंस ।

बलादेव गृहीतासि तदा वैश्रवणालये ।
बलादेव ग्रहीष्ये त्वां हत्वा राघवमाहवे ॥ ५ ॥

किमनया । यावदहमपि सीतां विलोभयिष्ये । (मदनावेशं निरूप्य) अहो नु खल्वतुलबलता कुसुमधन्वनः । कुतः,

निद्रां मे निशि विस्मरन्ति नयनान्यालोक्य सीताननं

बलादेव गृहीतवानस्मि, तदधुनापि यदि लङ्काश्रीर्मां विहाय गच्छति तदा पुनरपि युद्धे रामं विजित्य तां लभे इति भावः ॥ ४ ॥

बलादेवेति—तदा तस्मिन् कुबेरपराभवकाले वैश्रवणालये कुबेरगृहे बलादेव गृहीतासि बलपूर्वकमेव मया वशीकृतासि, पुनश्च राघवं राममाहवे युद्धे हत्वा त्वां लङ्काधिष्ठात्रीं बलादेव ग्रहीष्ये । यथा पूर्वं तथाधुनापि बलादेव त्वं मया वशीकरणीयेत्यलं त्वद्गतया चिन्तयेत्यर्थः ॥ ५ ॥

किमनया—नास्ति मम लङ्कया किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । विलोभयिष्ये प्रलोभन-भयदर्शनादिना स्वानुकूलां कर्तुं यतिष्ये । अतुलबलता—असमपराक्रमशालिता । कुसुमधन्वनः—कन्दर्पस्य ।

निद्रां मे निशि इति—सीताननं सीताया मुखम् आलोक्य दृष्ट्वा मम नयनानि विंशतिरपि नेत्राणि निशि रात्रौ निद्रां विस्मरन्ति, जागरेणैव सकलां

भद्रे ! ठहरो ठहरो, आपको नहीं जाना चाहिए । क्या कहती हो—'तुम्हें छोड़ कर राम के पास जा रही हूँ' जाओ भागो ।

पूर्वकाल में मैंने कुबेर के घर में तुम्हें जबर्दस्ती ही वश में किया था, फिर युद्ध में राम को मारकर मैं तुम्हें बलपूर्वक पाऊँगा ॥ ५ ॥

इस लक्ष्मी से क्या ? तब तक मैं सीता को लुभाता हूँ । (कामावेश का अनुभव करके) कन्दर्प आश्चर्य बलशाली होता है, क्योंकि :—

मेरी आंखों ने जब से सीता का मुख देखा है तब से रात में सोना छोड़ दिया है । सीता के आलिङ्गनजन्य आनन्द की प्राप्ति की इच्छा में हमारी देह पीली

तत्संश्लेषसुखार्थिनी तनुतरा याता तनुः पाण्डुताम् ।
सन्तापं रमणीयवस्तुविषये बध्नाति पुष्पेषुणा
कष्टं निर्जितविष्टपत्रयभुजो निर्जीयते रावणः ॥ ६ ॥

(उपेत्य)

सीते ! त्यज त्वमरविन्दपलाशनेत्रे !
चित्तं हि मानुषगतं मम चित्तनाथे ! ।
शस्त्रेण मेऽद्य समरे विनिपात्यमानं
प्रेक्षस्व लक्ष्मणयुतं तव चित्तकान्तम् ॥ ७ ॥

सीता—हं मूढो खु सि रावणओ, जो मन्दरं हत्थेण तुलयिदुकामो । [हं मूढः खल्वसि रावणकः, यो मन्दरं हस्तेन तुलयितुकामः ।]

निशं गमयामीत्यर्थः । तत्संश्लेषसुखार्थिनी सीताऽऽलिङ्गनं प्रार्थयमाना मे तनुः तनुतरा अतिकृशा सती पाण्डुताम् याता पीताभतां गता । किञ्च मम तनुः रमणीयवस्तुविषये कस्मिंश्चिदपि रमणीये वस्तुनि सन्तापं बध्नाति असन्तुष्टतया किमपि रमणीयं दृष्ट्वा तप्यत इत्यर्थः । कष्टम् अतिखेदावहमिदं यत् निर्जितविष्टपत्रयभुजः लोकत्रयविजयिभुजशाली रावणः पुष्पेषुणा कामदेवेन जीयते पराभूयते ॥६॥

सीते त्यजेति—हे अरविन्दपलाशनेत्रे कमलपत्रसमनेत्रे सीते, मम चित्तनाथे हृदयेश्वरि सीते, मानुषगतं चित्तं त्यज, मानवे रामे हृदयासक्तिं परिहर, अद्य समरे युद्धे मे मम शस्त्रेण लक्ष्मणयुतं तव चित्तकान्तं हृदयेश्वरं रामं विनिपात्यमानं हन्यमानं प्रेक्षस्व पश्य । अद्य युद्धे रामः सलक्ष्मणो मया व्यापाद्यते तदलं मानवे तस्मिन्ननुरागेण, तन्मां भजस्वेति भावः ॥ ७ ॥

मन्दरं हस्तेन तुलयितुकामः—मन्दराचलं करेण उत्थापयितुमिच्छुः यथा-

---

पड़ती जा रही है, काम के चलते भुवनत्रयविजयी रावण सभी रमणीय वस्तुओं को देखकर सन्तप्त हुआ करता है ॥ ६ ॥

(समीप आकर)

हे मेरी प्राणेश्वरी, हे कमलपत्र समान आंखोंवाली सीते, मनुष्यजन्मा राम से अपने मन को खींचो । देखोगी—आज ही लक्ष्मण के साथ तुम्हारा प्रियतम राम भी मेरे बाणों द्वारा युद्ध में मारा जायगा ॥ ७ ॥

सीता—हाय, रावण कितना बड़ा मूर्ख है, यह मन्दराचल उठाना चाहता है ।

(प्रविश्य)

राक्षसः—जयतु महाराजः ।

एते तयोर्मानुषयोः शिरसी राजपुत्रयोः ।
युधि हत्वा कुमारेण गृहीते त्वत्प्रियार्थिना ॥ ८ ॥

रावणः—सीते ! पश्य पश्य तयोर्मानुषयोः शिरसी ।

सीता—हा अय्यउत्त ! । (इति मूर्च्छिता पतति) (हा आर्यपुत्र ! ।)

रावणः—

सीते ! भावं परित्यज्य मानुषेऽस्मिन् गतायुषि ।
अद्यैव त्वं विशालाक्षि ! महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ९ ॥

करेण मन्दरतोलनमसंभवं तथैव त्वया रामस्य पराभव इति कन्प्रत्यय उपहासार्थः ।

एते तयोरिति—तयोः राजपुत्रयोः मानुषयोः एते शिरसी मस्तके त्वत्प्रियार्थिना त्वत्प्रियविधानसचेष्टेन कुमारेण युधि हत्वा गृहीते ॥ ८ ॥

सीते भावमिति—हे सीते अस्मिन् गतायुषि मृते मानुषे भावम् हृदयासक्तिं परित्यज्य, हे विशालाक्षि दीर्घनयने, अद्यैव महतीं श्रियं समृद्धिम् आप्नुहि आसादय, मदङ्कशायिनी भूत्वा विशालां मम श्रियमधिकुरुष्वेति भावः। परिमलनवकमलसन्निभे-सुगन्धे विषये प्रत्यप्रविकसितकमलानुकारिणी । परिवृत्तनयने—घूर्णितनेत्रे । एतादृशे अपि निष्प्राणताप्रत्यायके भवदीये नयने पश्यन्त्यहं यज्जीवामि तन्मम धीरत्वं धिगित्याशयः । अलीकम्-मिथ्या । येनासिना-येन खड्गेन । असदृशम्-कर्तुमनर्हं वधरूपम् ।

(आकर)

राक्षस—जय हो महाराज की,

मनुष्यजन्मा उन दोनों राजपुत्रों के यही दोनों शिर हैं, आपके प्रिय की कामना से कुमार ने युद्ध में उन्हें मार कर उनके शिर उतार लिए हैं ॥ ८ ॥

रावण—सीते, देखो उन मनुष्यों के शिर ।

सीता—हा आर्यपुत्र, (कहकर मूर्च्छित हो गिर पड़ती है)

रावण—हे विशालाक्षि सीते, इस गतायु मनुष्य पर से अपना अनुराग हटाकर तुम आज ही विशाल समृद्धि की अधिकारिणी बन जा ॥ ९ ॥

सीता—(प्रत्यभिज्ञाय) हा अय्यउत्त ! परिमलणवकमलसण्णिहे वदणे परिवुत्तणअणे पेक्खन्ती अदिधीरा खु म्हि मन्दभाआ । हा अय्यउत्त ! एदस्सिं दुःखसाअरे मं णिक्खिविअ कहिं गदो सि । जाव ण मरामि । किं णु खु अलिअं एदं भवे । भद्द ! जेण असिणा अय्यउत्तस्स असदिसं किदं, तेण मं वि मारेहि । [हा आर्यपुत्र ! परिमलनवकमलसन्निभे वदने परिवृत्तनयने पश्यन्ती अतिधीरा खल्वस्मि मन्दभागा । हा आर्यपुत्र ! एतस्मिन् दुःखसागरे मां निक्षिप्य कुत्र गतोऽसि । यावन्न म्रिये । किन्तु खल्वलीकमेतद् भवेत् । भद्र ! येनासिनार्यपुत्रस्यासदृशं कृतं तेन मामपि मारय ।]

रावणः—

व्यक्तमिन्द्रजिता युद्धे हते तस्मिन् नराधमे ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा केन त्वं मोक्षयिष्यसे ॥ १० ॥

(नेपथ्ये)

रामेण रामेण ।

व्यक्तमिति—इन्द्रजिता मेघनादेन व्यक्तं सर्वजनसमक्षं युद्धे तस्मिन् नराधमे नीचे मानुषे लक्ष्मणेन नाम्ना भ्रात्रा सह हते व्यापादिते सति केन मोक्षयिष्यसे मम बन्धनान्मुक्ता करिष्यसे, रामो लक्ष्मणश्च मेघनादेन युद्धे हतौ नास्ति च तदन्यः कोऽपि त्राता, तदलं तव निर्बन्धेनेति भावः ॥ १० ॥

सीता—(पहचानकर) हा आर्यपुत्र, सुगन्धित नवकमलसदृश परिवृत्तनयन इन मुखों को देखकर भी जीती रहनेवाली मैं अभागी अतिधीर हूँ। हा आर्यपुत्र, मुझे इस दुःखसागर में छोड़कर आप कहाँ चले गये। मैं मरूँगी नहीं, कहीं यह झूठा हो। भद्र पुरुष, आपने जिस तलवार से मेरे आर्यपुत्र का वध किया है उसी से मुझे भी मार डालिए।

रावण—जब इन्द्रजित ने युद्ध में उसके भाई लछमण के साथ उस नराधम को मार दिया है तब तुमको कौन छुड़ायेगा ? ॥ १० ॥

(नेपथ्य में)

राम ने, राम ने,

सीता—चिरं जीव ।

(प्रविश्य)

राक्षसः—(ससम्भ्रमम्) रामेण रामेण ।

रावणः—कथं कथं रामेणेति ।

राक्षसः—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः । अतिपातिवृत्तान्तनिवेदनत्वरयावस्थान्तरं नावेक्षितम् ।

रावणः—ब्रूहि ब्रूहि । किं कृतं मनुजतापसेन ।

राक्षसः—श्रोतुमर्हति महाराजः । तेन खलु,

उदीर्णसत्त्वेन महाबलेन लङ्केश्वरं त्वामभिभूय शीघ्रम् ।
सलक्ष्मणेनाद्य हि राघवेण प्रसह्य युद्धे निहतः सुतस्ते ॥ ११ ॥

अतिपातिवृत्तान्तः—अवश्यसूचनीयं वृत्तम् । तन्निवेदनत्वरया—तत्कथनशीघ्रतया ।

अवस्थान्तरम्—अन्यादृशी स्थितिः । आवश्यककार्यस्य सूचनीयतया स्त्रीसविधेऽपि भवन्तमुपगतवानस्मीति मम दोषः कार्यगौरवेण क्षन्तव्य इत्यर्थः ।

उदीर्णसत्त्वेनेति—उदीर्णसत्त्वेन प्रवृद्धबलेन महाबलेन महत्या सेनया युक्तेन सलक्ष्मणेन राघवेण शीघ्रं लङ्केश्वरं त्वाम् अभिभूय पराजित्य ते तव सुतः मेघनादः युद्धे निहतः मारितः ॥ ११ ॥

सीता—चिरकाल तक जीते रहो ।

(आकर)

राक्षस—(घबड़ाया हुआ) राम ने राम ने ।

रावण—क्या राम ने, राम ने बक रहा है ।

राक्षस—महाराज मुझ पर दया करें । अत्यावश्यक कार्य की सूचना देने की शीघ्रता के कारण मैंने अवस्था का विचार नहीं किया ।

रावण—बोलो, बोलो क्या किया है उस मनुष्य तपस्वी ने ?

राक्षस—महाराज, सुनिये—उस—

महाबली लक्ष्मण सहित रामने आप लङ्केश्वर की कोई परवाह नहीं करके आज युद्ध में आप के पुत्र का वध कर दिया है ॥ ११ ॥

रावणः—आः दुरात्मन् ! समरभीरो !

देवाः सेन्द्रा जिता येन दैत्याश्चापि पराङ्मुखाः ।
इन्द्रजित् सोऽपि समरे मानुषेण निहन्यते ॥ १२ ॥

राक्षसः—प्रसीदतु महाराजः। महाराजपादमूले कुमारमन्तरेणानृतं नाभिधीयते ।

रावणः—हा वत्स ! मेघनाद ! । (इति मूर्च्छितः पतति ।)

राक्षसः—महाराज ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

रावणः—(प्रत्यभिज्ञाय)

हा वत्स ! सर्वजगतां ज्वरकृत् ! कृतास्त्र !

दुरात्मन्-दुष्टहृदय, समरभीरो—युद्धभीत ।

देवाः सेन्द्रा इति—येन मेघनादेन सेन्द्राः इन्द्रसहिता देवाः सुराः जिताः स्वाधीनीकृताः, दैत्याश्च अपि पराङ्मुखाः पलायिताः सम्मुखसमये स्थातुमशक्ता जाताः, सोऽपि इन्द्रजित् मानुषेण साधारणमनुष्येण समरे युद्धे निहन्यते मार्यते ? नेदं विश्वसनीयमित्यर्थः ॥ १२ ॥

महाराजपादमूले—भवतः समीपे । कुमारमन्तरेण-राजकुमारस्य प्रसङ्गे । अनृतम्-मिथ्या । अभिधीयते-उच्यते ।

समाश्वसिहि-धैर्यं बधान ।

हा वत्सेति—हा वत्स पुत्र, जगतां ज्वरकृत् जगत्त्रयसंतापजनक, कृतास्त्र

रावण—अरे दुरात्मा युद्ध भीरु,

जिसने समस्त देवों तथा दानवों और इन्द्र को जीता, उस इन्द्रजित् को भी मानुष ने मार दिया ॥ १२ ॥

राक्षस—महाराज, मुझपर कृपा करें, कुमार के सम्बन्ध में आप के पास झूठ बात कैसे कहूँगा ।

रावण—हा वत्स मेघनाद, (मूर्च्छित होकर गिरता है)

राक्षस—महाराज, धैर्य धारण करें ।

रावण—(स्मरण करके) हा बेटा, हा जगत्संतापकर, हा शस्त्रविद्याज्ञाता,

हा वत्स ! वासवजिदानतवैरिचक्र ! ।
हा वत्स ! वीर ! गुरुवत्सल ! युद्धशौण्ड !
हा वत्स ! मामिह विहाय गतोऽसि कस्मात् ॥ १३ ॥

(इति मोहमुपगतः ।)

राक्षसः—हा धिक् त्रैलोक्यविजयी लङ्केश्वर एतामवस्थां प्रापितो हतकेन विधिना । महाराज ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

रावणः—(समाश्वस्य) इदानीमनर्थहेतुभूतया सीतया किमनया त्रैलोक्यविजयविफलया चपलया श्रिया च । किं भोः कृतान्तहतक ! अद्यापि भयविह्वलोऽसि ।

शिक्षितास्त्रविद्य, वासवजित् इन्द्रविजयिन्, आनतवैरिचक्र वशीकृतशत्रुमण्डल, वीर युद्धशूर, गुरुवत्सल गुरुजनप्रिय, माम् पितरं रावणम् इह भूलोके विहाय परित्यज्य कस्मात् गतोऽसि कुतः कारणाल्लोकान्तरं प्रस्थितोऽसि ? हेति खेदे ॥ १३ ॥

मोहमुपगतः—मूर्च्छितः ।

त्रैलोक्यविजयी—लोकत्रयजेता । एतामवस्थां प्रापितः-पुत्रशोकं लम्भितः । हतकेन-कुकर्मणा नीचेन । विधिना-भाग्येन ।

अनर्थहेतुभूतया-सकलानर्थकारणतां गतया । त्रैलोक्यविजयविफलया—लोकत्रयविजये कृतेऽपि भोक्तुरभावेन निष्फलया । चपलया-चञ्चलया । श्रिया-लक्ष्म्या । कृतान्तहतक—नीचयमराज । अद्यापि भयविह्वलोऽसि—अधुनापि

हा वत्स, हा इन्द्रजित्, हा शत्रुसंहारक, हा वीर, हा गुरुवत्सल, हा युद्धशूर हाय बेटा, मुझे छोड़ कर तुम कहाँ गये ? ॥ १३ ॥

(मूर्च्छित होता है)

राक्षस—हाय धिक्कार है । त्रैलोक्यविजयी रावण को भाग्य ने इस स्थिति में पहुँचा दिया है । हा महाराज, धैर्य धरें ।

रावण—(आश्वस्त होकर) अब सारे अनर्थों की जड़ इस सीता की तथा त्रैलोक्य विजयलब्ध इस लक्ष्मी की क्या आवश्यकता है ? अजी अभागे यमराज, अब भी मुझ से डरते हो ?

इदानीमपि निःस्नेहो वत्सेनेन्द्रजिता विना ।
कष्टं कठोरहृदयो जीवत्येष दशाननः ॥ १४ ॥

(इति सन्तापात् पतति ।)

राक्षसः—हा भो रजनीचरवीराः ! एवंगते राजन्यन्तः कक्ष्यास्थिता रक्षिणश्चाप्रमत्ता भवन्तु भवन्तः ।

(नेपथ्ये)

भो भो रजनीचरवीराः ! समरमुखनिरस्तप्रहस्तनिकुम्भकुम्भकर्णेन्द्रजिद्विकलबलजलधिजनितभयचकितविमुखाः ! चपलपलायनमनुचितम-

---

रावणाद् भयं प्राप्नोषि, (यदिमं न हंसि, पुत्रे मृते रावणस्य मरणमेव युक्तं तदलं भयेन, उपसर्प रावणं नय तं स्वलोकमिति भावः)

इदानीमपीति—इदानीम् अधुना अपि निःस्नेहः पुत्रगतप्रीतिवर्जितः कठोरहृदयः अतिक्रूरचित्तः एषः दशाननः रावणः वत्सेन पुत्रेण इन्द्रजिता विना जीवति ? अयुक्तं तस्याधुना जीवनमिति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

रजनीचरवीराः—शूरा राक्षसाः । एवं गते राजनि-रावणे ईदृशीं दशां प्राप्ते । कक्ष्यास्थिताः-योद्धुं बद्धकक्षाः । अप्रमत्ताः-सावधानाः ।

समरमुखेति—समरमुखे युद्धे निरस्ताः व्यापादिताः प्रहस्तः, निकुम्भः, कुम्भकर्णः, इन्द्रजित् मेघनादश्च, तैः विकलः विरहितो यो बलजलधिः सैन्यसागरः तत्र जनितं शत्रुणोत्पादितं भयं भीतिः तेन चकिताः विमुखाः पलायनप्रवृत्ताश्च,

---

बेटा इन्द्रजित के नहीं रहने से निःस्नेह तथा कठोर हृदय यह दशानन अभी भी जी रहा है, घोर कष्ट है ॥ १४ ॥

(सन्ताप से गिरता है)

राक्षस—अजी राक्षस वीरगण, महाराज की जब यह दशा है तब भीतर की जगहों पर अवस्थित आप सभी रक्षक सावधान हो जायँ ।

(नेपथ्य में)

अरे राक्षस वीरगण, युद्ध में प्रहस्त, निकुम्भ, कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् आदि के मारे जाने से भागने वालो, युद्ध में देवों को परास्त करने वाले आपलोगों के

विरतममरसमराणि जितवतां भवताम्, अथ च विश्वलोकविजयविख्यातविंशद्बाहुशालिनि भर्तर्यत्र स्थितवति लङ्केश्वरे।

रावणः—(श्रुत्वा सामर्षम्) गच्छ भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः।

राक्षसः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः। एष हि रामः,

धनुषि निहितबाणस्त्वामतिक्रम्य गर्वा-
द्धरिगणपरिवारो हाससम्फुल्लनेत्रः।
रणशिरसि सुतं ते पातयित्वा तु राज-
न्नभिपतति हि लङ्कां सन्दिधक्षुर्यथैव ॥ १५ ॥

रावणः,—(सहसोत्थाय सरोषम्) क्वासौ क्वासौ (असिमुद्यम्य)

चपलपलायनम्-चञ्चलतया युद्धक्षेत्रादपसरणम्। अनुचितम्-अयुक्तम्। अमरसमराणि-देवैस्सह युद्धानि। विश्वलोके समस्तभुवने विख्याताः अमितवीर्यतया प्रसिद्धा विंशतिर्बाहवोभुजास्तैः शालते शोभते तादृशे। स्थितवति वर्तमाने।

भूयः—पुनः।

धनुषीति—धनुषि निहितबाणः सशरं धनुर्दधानः, हरिगणपरिवारः वानरगणवेष्टितः, हाससंफुल्लनेत्रः हासेन विकसन्नयनः रामः गर्वात् दर्पात् त्वाम् अतिक्रम्य अपमत्य रणशिरसि युद्धक्षेत्रे ते तव सुतं मेघनादं पातयित्वा निपात्य, हे राजन् लंकां सन्दिधक्षुः दग्धुमिच्छुरिव अभिपतति आयाति ॥ १५ ॥

लिये भाग खड़ा होना नितान्त अनुचित है, जब कि विश्वविजय विख्यात बीस हाथों वाले महाराज यहाँ वर्त्तमान हैं।

रावण—(सुनकर, सक्रोध) जाओ, फिर समाचार का पता लगाओ।

राक्षस—महाराज की जो आज्ञा। (जाकर फिर आकर) जय हो महाराज की, इस रामने—

गर्व से आप का अनादर करके धनुष ताने हुए वानरों के साथ हासविकसितनेत्र हो युद्धक्षेत्र में आप के पुत्र का वध कर दिया, अब लङ्का में पैठ रहा है ऐसा लगता है मानो वह लङ्का को जलाना चाहता हो ॥ १५ ॥

रावण—(सहसा उठकर सक्रोध) कहाँ है वह, कहाँ है? (तलवार लेकर)

वज्रीभकुम्भतटभेदकठोरधारः
क्रोधोपहारमसिरेष विधास्यति त्वाम् ।
सम्प्रत्यवन्त्वनिमिषा इह मत्करस्थः
क्षुद्र ! क यास्यसि कुतापस ! तिष्ठ तिष्ठ ॥ १६ ॥

राक्षसः—महाराज ! अलमतिसाहसेन ।

सीता—अणिट्ठाणि अणरुहाणि अणिमित्ताणि इदाणिं करअंतस्स रावणस्स अइरेण मरणं भविस्सदि । [अनिष्टान्यनर्हाण्यनिमित्तानीदानीं कुर्वतो रावणस्याचिरेण मरणं भविष्यति ।]

रावणः—अस्याः कारणेन बहवो भ्रातरः सुताः सुहृदश्च मे

वज्रीभेति—वज्रिण इन्द्रस्य इभः हस्ती ऐरावतस्तस्य कुम्भतटः शिरोदेशस्तस्य भेदे भेदने कठोरा धारा यस्य तादृशः ऐरावतकुम्भभेदनक्षमधारः एष मम असिश्चन्द्रहासः त्वां क्रोधोपहारम् निजस्य कोपस्य बलिम् विधास्यति सम्प्रति अनिमिषाः देवाः त्वाम् अवन्तु रक्षन्तु इह सम्प्रति मत्करस्थः मम करे पतितः त्वं क्व यास्यसि हे कुतापस नीचतपस्विन् ॥ १६ ॥

अनिष्टानि—अशुभानि । अनर्हाणि—अयुक्तानि । अनिमित्तानि—अपशकुनानि । कुर्वतः—प्रकटयतः ।

अस्याः सीतायाः । कारणेन—हेतुना । भ्रातरः—कुम्भकर्णादयः । सुताः—

अरे क्षुद्र राम, इन्द्र के हाथी के कुम्भतट को चीरने में कठोर धार यह हमारी तलवार तुझे अपने क्रोध का उपहार बनाती है, अब देवगण तुम्हारी रक्षा तो करें, अरे कुतापस, अब तुम कहाँ जायगा, ठहर ॥ १६ ॥

राक्षस—महाराज, अतिसाहस की क्या आवश्यकता है ?

सीता—अनिष्ट, अयोग्य, एवं अनपेक्षित कार्य करने वाले इस रावण का अ शीघ्र मरण होगा ।

रावण— इसी सीता के चलते हमारे बहुत सारे भाई, पुत्र, तथा मित्र मरे हैं

निहताः। तस्मादमित्रविषयमस्या हृदयं भित्त्वा कृष्टान्त्रमालालङ्कृतः खड्गाशनिपातेन समनुजयुगलं सकलवानरकुलं ध्वंसयामि।

राक्षसः—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः। अलमलमिदानीमरिबलावलेपमन्तरेणानवरतवृथाप्रयासेन। अवश्यं च स्त्रीवधो न कर्तव्यः।

रावणः—तेन हि स्यन्दनमानय।

राक्षसः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः। इदं स्यन्दनम्।

रावणः—(रथमारुह्य)

समावृतं सुरैरद्य सीते ! द्रक्ष्यसि राघवम्।

इन्द्रजिदक्षकुमारादयः। अमित्रविषयम्—शत्रुभूतम्। भित्त्वा—विदार्य। कृष्टान्त्रमालाऽलङ्कृतः—सीतायाः अन्त्रमालां निस्सार्य तया विभूषितः। खड्गाशनिपातेन—वज्रोपमखड्गप्रहारेण। समनुजयुगलम्—रामलक्ष्मणरूपमनुष्यद्वययुक्तम्। ध्वंसयामि—विनाशयामि।

अरिबलावलेपमन्तरेण—शत्रुसामर्थ्यगर्वं विना। अनवरतवृथाप्रयासेन—सदाव्यर्थचेष्टया। स्यन्दनम्—रथम्।

समावृतमिति—सीते, अद्य सम्प्रति मम चापच्युतैः मद्धनुर्निर्गतैः तीक्ष्णैः

अतः मैं इसकी छाती को चीर कर इसकी अंतड़ी की माला पहन कर, तलवार की धार से दोनों मनुष्यों के साथ वानर सैन्य का संहार करता हूँ।

राक्षस—महाराज, कृपा कीजिये, इस समय शत्रु के बल का परिचय पाये विना व्यर्थ का प्रयास नहीं करना चाहिये। स्त्रीवध तो अवश्य नहीं करना चाहिये।

रावण—तो रथ लाओ।

राक्षस—महाराज को जो आज्ञा। (जाकर फिर आकर) जय हो महाराज, यह रथ हाजिर है।

रावण—(रथपर चढ़कर) सीते, तुम अभी देखोगी कि देवगण के साथ

मम चापच्युतैस्तीक्ष्णैर्बाणैराक्रान्तचेतसम् ॥ १७ ॥

(निष्क्रान्तः सपरिवारो रावणः ।)

सीता—इस्सरा ! अत्तणो कुलसदिसेण चारित्तेण जदि अहं अणुसरामि अय्यउत्तं, अय्यउत्तस्स विजओ होदु । [ईश्वराः ! आत्मनः कुलसदृशेन चारित्रेण यद्यहमनुसराम्यार्यपुत्रम् , आर्यपुत्रस्य विजयो भवतु ।]

(निष्क्रान्ता ।)

पञ्चमोऽङ्कः ।



तीव्रैः बाणैः आक्रान्तचेतसम् व्याप्तहृदयं राघवं सुरैः समावृतं देवैः परिवृतं द्रक्ष्यसि ॥ १७ ॥

कुलसदृशेन—कुलोचितेन । चारित्रेण—पातिव्रत्येन । अनुसरामि—अनुवर्ते ।

इति श्रीरामचन्द्रमिश्रकृतेऽभिषेकनाटक 'प्रकाशे' पञ्चमाङ्क 'प्रकाशः' ।



तुम्हारे राम का हृदय मेरे बाणों से विद्ध हो रहा है ॥ १७ ॥

(सपरिवार रावण का प्रस्थान)

सीता—हे ईश्वर, अगर मैं अपने कुल के योग्य पातिव्रत्य से आर्यपुत्र को चाहती होऊं तो उनकी विजय होवे ।

(प्रस्थान)

पञ्चम अङ्क समाप्त



षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशन्ति विद्याधरास्त्रयः ।)

सर्वे—एते स्मो भो ! एते स्मः ।

प्रथमः—

इक्ष्वाकुवंशविपुलोज्ज्वलदीप्तकेतोः

द्वितीयः—

रामस्य रावणवधाय कृतोद्यमस्य ।

तृतीयः—

सङ्ग्रामदर्शनकुतूहलबद्धचित्ताः

सर्वे—

प्राप्ता वयं हिमवतः शिखरात् प्रतूर्णम् ॥ १ ॥

प्रथमः—चित्ररथ ! एते देवदेवर्षिसिद्धविद्याधरादयो निरन्तरं नभः

इक्ष्वाकुवंशेति—इक्ष्वाकुवंशस्य तदाख्यस्य कुलस्य विपुलो विशालः उज्ज्वलः निर्मलः, दीप्तः प्रकाशशाली च केतुस्तस्य इक्ष्वाकुवंशप्रतिष्ठाकरस्य, रावणवधाय कृतोद्यमस्य रावणं हन्तुमुद्यच्छतः रामस्य संग्रामदर्शनकुतूहलेन युद्धावलोकनोत्कण्ठया बद्धं चित्तं येषां ते तथोक्ता रामयुद्धदर्शनोत्कण्ठाचुम्बितचेतसः वयं विद्याधराः हिमवतः शिखरात् हिमालयशृङ्गात् प्रतूर्णम् अतित्वरया प्राप्ताः अत्रागताः स्मः ॥ १ ॥

निरन्तरं नभः कृत्वा—आकाशदेशं व्याप्य । एतेषाम् देवादीनाम् । परि-

---

[तीन विद्याधरों का प्रवेश]

सभी—हम यही हैं, यही हैं।

प्रथम—इक्ष्वाकुवंश के विमल पताकास्वरूप

द्वितीय—रावणवधार्थ उद्योग करने वाले राम के-

तृतीय—युद्ध को देख सकने की उत्कण्ठा से

सभी—हम सभी हिमालय के शिखर से यहाँ आये हैं ॥ १ ॥

प्रथम—चित्ररथ, यह देव, देवर्षि, सिद्ध, तथा विद्याधर प्रभृति आकाश को

कृत्वा स्थिताः। तस्माद् वयमप्येतेषामेतान् गणान् परिहरन्तः स्वैरमेकान्ते स्थित्वा रामरावणयोर्युद्धविशेषं पश्यामः।

उभौ—बाढम्।

(तथा कृत्वा)

प्रथमः—अहो प्रतिभयदर्शनीया खल्वियं युद्धभूमिः। इह हि,

रजनिचरशरीरनीरकीर्णा कपिवरवीचियुता वरासिनक्रा।
उदधिरिव विभाति युद्धभूमी रघुवरचन्द्रशरांशुवृद्धवेगा॥ २॥

द्वितीयः—एवमेतत्।

हरन्तः—दूरे स्थापयन्तः। एकान्ते रहसि। युद्धविशेषम्—युद्धे कौशलम्। प्रतिभयदर्शनीया—प्रतिभया भीषणा दर्शनीया रम्या च।

रजनिचरेति—रजनिचराणां राक्षसानां शरीराण्येव नीराणि जलानि तैः कीर्णा व्याप्ता कपिवराः वानरवीराः एव वीचयस्तरङ्गास्तैर्युता वरासयः श्रेष्ठाः करवालाः एव नक्राः ग्राहा यत्र तादृशी युद्धभूमिः रणस्थली रघुवरः चन्द्र इव तस्य शराः अंशव इव तेन वृद्धः प्रचितः वेगो यस्यास्तादृशी (रणभूमिः) उदधिरिव सागर इव विभाति। सागरे जलम् अत्र रणभूमौ राक्षसानां शरीराण्येव जलानि, तत्र वीचयः अत्र वानरयोधा एव वीचयः, तत्र नक्राः अत्र असय एव नक्राः, सागरश्चन्द्रांशुभिर्वर्द्धते इयञ्च रामशरैर्वेगेन वर्द्धत इति सागरेणोपमिताऽत्र रणभूमिः॥२॥

घेर कर अवस्थित हैं, अतः हम लोग इन्हें छोड़ कर एकान्त में खड़े होकर राम तथा रावण का युद्ध कौशल देखें।

दोनों—बहुत अच्छा।

(एकान्त में खड़े होकर)

प्रथम—अहा, यह युद्धभूमि भय के साथ देखने योग्य है, यहाँ राक्षसों के शरीर स्वरूप जल से व्याप्त, वानर स्वरूप तरङ्ग शालिनी, तलवार रूप ग्राहों से भरी, तथा रामबाण से वेग वती यह युद्धभूमि समुद्र के समान प्रतीत हो रही है॥ २॥

द्वितीय—हाँ, यही बात है।

एते पादपशैलभग्नशिरसो मुष्टिप्रहारैर्हताः
क्रुद्धैर्वानरयूथपैरतिबलैरुत्पुच्छकर्णैर्वृताः ।
कण्ठग्राहविवृत्ततुङ्गनयनैर्दंष्ट्रोष्ठतीव्रैर्मुखैः
शैला वज्रहता इवाशु समरे रक्षोगणाः पातिताः ॥ ३ ॥

तृतीयः—एते चापि द्रष्टव्या भवद्भ्यां,

निशितविमलखड्गाः क्रोधविस्फारिताक्षा
विमलविकृतदंष्ट्रा नीलजीमूतकल्पाः ।
हरिगणपतिसैन्यं हन्तुकामाः समन्ताद्
रभसविवृतवक्त्रा राक्षसाः सम्पतन्ति ॥ ४ ॥

एतेपादपेति—पादपाः वृक्षाः शैलाः पर्वताश्च तैर्भग्नानि शिरांसि येषां ते तथोक्ताः, मुष्टिप्रहारैर्हताः मुष्टिं प्रहृत्य मारिताः, अतिबलैः असाधारणबलशालिभिः क्रुद्धैः कुपितैः वानरयूथपैः वानरसेनानायकैर्वृताः परिवृताः, एते रक्षोगणाः समरे युद्धे कण्ठग्राहे मारणीयराक्षसानां कन्धराग्रहणकर्मणि विवृत्तानि ऊर्ध्वमुखानि तुङ्गानि विशालानि नयनानि येषु तैः दंष्ट्रोष्ठतीव्रैः ओष्ठदंशनेन तीक्ष्णदर्शनैर्मुखैः (उपलक्षिताः) वज्रहताः शैलाः पर्वता इव पातिताः भूमौ शायिताः ॥ ३ ॥

निशितेति—निशिताः तीक्ष्णाः विमलाश्च खड्गा येषां ते तथोक्ताः, क्रोधेन विस्फारितानि दीर्घीभूतानि अक्षीणि येषां ते तादृशाः विमलाः स्वच्छाः विकृताः तैक्ष्ण्यादिविकारभाजश्च दंष्ट्राश्च दशनानि येषां ते तथोक्ताः, नीलजीमूतकल्पाः

पूंछ तथा कान को खड़ा करके ये कुपित वानर गण इन राक्षसों को वृक्षों तथा पर्वतों के प्रहारों से शिर फोड़ कर और मुष्टि प्रहार से मार रहे हैं, कुछ राक्षसों का गला दबा देते हैं जिससे उनकी आंखें बाहर निकल आती हैं, इस प्रकार यह राक्षससमुदाय वज्राहत वृक्ष की तरह शीघ्रता-पूर्वक युद्ध में गिर रहे हैं ॥ ३ ॥

तृतीय—आप इन्हें भी देखें—

तीक्ष्ण तथा चमकदार खड्ग लिये, क्रोधपूर्णनेत्र, विमल तथा विकृत दांतों वाले, कालेमेघ के समान, आनन्द से मुंह बाये हुए ये राक्षस गण चारों ओर से मार करने की इच्छा से वानर सैन्य पर टूट रहे हैं ॥ ४ ॥

प्रथमः—अहो नु खलु,

बाणाः पात्यन्ते राक्षसैर्वानरेषु

द्वितीयः—

शैला क्षिप्यन्ते वानरैर्नैर्ऋतेषु।

तृतीयः—

मुष्टिप्रक्षेपैर्जानुसङ्घट्टनैश्च

सर्वे—

भीमश्चित्रं भोः! सम्प्रमर्दः प्रवृत्तः॥ ५॥

प्रथमः—रावणमपि पश्येतां भवन्तौ,

कनकरचितदण्डां शक्तिमुल्लालयन्तं
विमलविकृतदंष्ट्रं स्यन्दनं वाहयन्तम्।

श्याममेघसमानाः रभसेन युद्धोत्साहेन विवृतानि व्यात्तानि वक्त्राणि मुखानि येषां ते तथोक्ताः हरिगणपतिसैन्यं वानरराजबलं हन्तुकामाः हन्तुमिच्छन्तः राक्षसाः समन्तात् सर्वासु दिक्षु सम्पतन्ति धावन्ति॥ ४॥

बाणा इति—राक्षसैः वानरेषु बाणाः पात्यन्ते प्रहियन्ते, वानरैः नैर्ऋतेषु शैलाः पर्वताः क्षिप्यन्ते पात्यन्ते। मुष्टिप्रक्षेपैः मुष्टिप्रहारैर्जानुसङ्घट्टनैर्जानुद्वारा-मर्दनैश्च चित्रं भोः आश्चर्यम्, भीमः भीषणः सम्प्रमर्दः परस्परप्रहारः प्रवृत्तः प्रारब्धः॥ ५॥

कनकरचितदण्डामिति—कनकरचितदण्डाम् सुवर्णमययष्टिम् शक्तिं नामास्त्रभेदम्, उल्लालयन्तं क्षेप्तुं दधानम्, विमलविकृतदंष्ट्रम् स्वच्छदन्तं स्यन्दनं वाहनं वाहयन्तम् चालयन्तम् उदयशिखरिमध्ये उदयाचले पूर्णबिम्बं सम्पूर्णमण्डलं

प्रथम—राक्षस गण वानरों पर बाणवर्षा कर रहे हैं।
द्वितीय—वानर गण राक्षसों पर पर्वत फेंक रहे हैं।
तृतीय—मुष्टि प्रहार एवं जानुमर्दन के द्वारा।
सभी—यह भयङ्कर युद्ध जारी है। आश्चर्य!!॥ ५॥
प्रथम—आप रावण की ओर भी देखें—
स्वर्णमय दण्ड वाली शक्ति को भांजता हुआ, स्वच्छ विकृत दांतों वाले

उदयशिखरिमध्ये पूर्णबिम्बं शशाङ्कं
ग्रहमिव भगणेशं राममालोक्य रुष्टम् ॥ ६ ॥

द्वितीयः—राममपि पश्येतां भवन्तौ ।

सव्येन चापमवलम्ब्य करेण वीर-
मन्येन सायकवरं परिवर्तयन्तम् ।
भूमौ स्थितं रथगतं रिपुमीक्षमाणं
क्रौञ्चं यथा गिरिवरं युधि कार्त्तिकेयम् ॥ ७ ॥

तृतीयः—हहह !!!

शशाङ्कम् चन्द्रम् आलोक्य रुष्टं कुपितं भगणमिव नक्षत्रराशिमिव राममालोक्य रुष्टं कुपितं रावणं भवन्तौ पश्येताम् । अयमर्थः यथा सम्पूर्णमण्डलं चन्द्रमालोक्य भगणः कुप्येत्तथा राममालोक्य कुपितं रावणं भवन्तौ पश्येताम्, यो रावणः शक्तिं करे दधानो वाहनं चालयतीति, उपमया रामस्य पुरो रावणस्य क्षीयमाणतेजस्कता ध्वनिता ॥ ६ ॥

सव्येनेति—सव्येन वामेन करेण हस्तेन चापं धनुरवलम्ब्य अन्येन सव्येतरेण करेण सायकवरं महाबाणं परिवर्त्तयन्तम् चापोपरि निधातुमितस्ततश्चालयन्तम्, भूमौ स्थितम् अरथम्, रथगतं स्यन्दनस्थं रिपुं शत्रुम् रावणमीक्षमाणम् पश्यन्तम् यथा युधि युद्धे क्रौञ्चं नाम गिरिवरं पश्यन्तम् कार्त्तिकेयं पार्वतीतनयम् । रामं पश्यतामित्यन्वयः । अत्रापि पूर्ववदेवोपमालङ्कारेण कार्त्तिकेयेन यथा क्रौञ्चगिरिर्भिन्नस्तथा रावणमपि रामो भेत्स्यतीति वस्तु व्यज्यते ॥ ७ ॥

वाहन को हांकता हुआ, यह रावण राम पर कोप प्रकट कर रहा है ऐसा लगता है मानो उदयाचल पर पूर्ण मण्डल चन्द्रग्रहों पर कोप प्रकट कर रहा हो ॥ ६ ॥

द्वितीय—आप राम को भी देखें—

बायें हाथ में धनुष लेकर रामजी दाहने हाथ से बाण का परिवर्त्तन कर रहे हैं, वह स्वय भूमि में खड़े हैं और रथगत शत्रु को देख रहे हैं, ऐसा लगता है जैसे कात्तिकेय क्रौञ्च पर्वत को देखते हों ॥ ७ ॥

तृतीय—ह ह ह !!!

रावणेन विमुक्तेयं शक्तिः कालान्तकोपमा ।
रामेण स्मयमानेन द्विधा छिन्ना धनुष्मता ॥ ८ ॥

प्रथमः—

शक्तिं निपातितां दृष्ट्वा क्रोधविस्फारितेक्षणः ।
रामं प्रत्यैषवं वर्षमभिवर्षति रावणः ॥ ९ ॥

द्वितीयः—अहो रामस्य शोभा ।

एता रावणजीमूताद् बाणधारा विनिस्सृताः ।
विभान्ति राममासाद्य वारिधारा वृषं यथा ॥ १० ॥

तृतीयः—एष एषः,

रावणेनेति—इयं कालान्तकोपमा प्रलयकालिकयमसभा रावणेन विमुक्ता प्रहृताशक्तिः धनुष्मता धनुर्धरेण रामेण स्मयमानेन हसता द्विधा छिन्ना खण्डिता ॥ ८ ॥

शक्तिमिति—क्रोधविस्फारितेक्षणः कुपितदृष्टिः रावणः शक्तिं निपातितां रामेण द्विधाकृत्वा भूमौ पातितां शक्तिं नाम स्वमस्त्रं दृष्ट्वा रामं प्रति उद्दिश्य ऐषवं वर्षमभिवर्षति बाणवृष्टिं करोति ॥ ९ ॥

एताइति—रावणजीमूतात् रावणरूपात् मेघात् विनिःसृताः निर्गताः बाणधाराः राममासाद्य वृषम् महोक्षम् आसाद्य वारिधाराः जलधारा यथा तथा विभान्ति । यथा वृषोपरि वारिधारा विफला तथैव रामोपरि रावणबाणधारा वृथेति भावः ॥ १० ॥

रावण ने काले यमराज के सदृश यह शक्ति चलादी थी, धनुर्धारी राम ने हंसते हंसते उसे काट कर दो टुकड़े कर डाले ॥ ८ ॥

प्रथम— शक्ति को खण्डित होकर पतित देख कर कोप से आंखें फैलाये हुए यह रावण राम के ऊपर बाणों की वर्षा कर रहा है ॥ ९ ॥

द्वितीय— राम की शोभा विलक्षण है—

रावण स्वरूप मेघ से बाण की धारा निकल रही है, वह राम पर पड़ रही है, ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों वृषराज पर जल की धारा बरस रही है ॥ १० ॥

तृतीय— यह देखो यह,

कनकरचितचापं तीक्ष्णमुद्यम्य शीघ्रं
रणशिरसि सुघोरं बाणजालं विधुन्वन् ।
रथगतमभियान्तं रावणं याति पद्भ्यां
गजपतिमिव मत्तं तीक्ष्णदंष्ट्रा मृगेन्द्रः ॥ ११ ॥

सर्वे—अये ज्वलित इव प्रभयायं देशः । किन्तु खल्विदम् ।

प्रथमः—आ युद्धसामान्यजनितशङ्केन महेन्द्रेण प्रेषितो मातलिवाहितो रथः ।

द्वितीयः—उपस्थितं मातलिं दृष्ट्वा तस्य वचनाद् रथमारूढवान् रामः ।

कनकरचितचापमिति—तीक्ष्णं कनकरचितचापं सुवर्णमयं धनुः शीघ्रम् त्वरया उद्यम्य उत्थाप्य रणशिरसि युद्धे सुघोरं बाणजालं शरसमुदयं विधुन्वन् निक्षिपन् रथगतम् रथस्थं रावणमभियान्तम् युद्धोद्यतम् पद्भ्याम् पादचारी एव रामः मत्तं गजपतिं मदच्युतं गजराजं तीक्ष्णदंष्ट्रः तीव्रदशनः मृगेन्द्रः सिंहो यथा तथा याति प्रत्याक्रामति ॥ ११ ॥

प्रभया ज्वलितः—दीप्तिप्रकाशितः ।

युद्धसामान्यजनितशङ्केन—सर्वेषु युद्धेषु यथा भवति तथैवात्रापि स्यादिति भीतेन । महेन्द्रेण—शक्रेण ।

मातलिम् इन्द्रसारथिम् । वचनात्—वचनमादृत्य ।

तीक्ष्ण एवं स्वर्ण विरचित धनुष को शीघ्रता से उठाकर—रामजी युद्ध में भयङ्कर बाणवर्षा कर रहे हैं, रथस्थ तथा आक्रमणकारी रावण का सामना यह पैदल ही कर रहे हैं, एसा लगता है जैसे मतवाले हाथी पर तीक्ष्णदंष्ट्राशाली सिंह झपट रहा हो ॥ ११ ॥

सभी—अरे, यह प्रदेश प्रकाश से प्रज्वलित हो रहा है, यह क्या है ?

प्रथम—अहा ! युद्ध की आशङ्का से महेन्द्र ने मातलि सञ्चालित रथ भेजा है,

द्वितीय—मातलिको उपस्थित देखकर उसके कहने पर राम रथ पर बैठ गये हैं ।

तृतीयः—एष हि,

सुरवरजयदर्पदेशिकेऽस्मिन् दितिसुतनाशकरे रथे विभाति ।
रजनिचरविनाशकारणः संस्त्रिपुरवधाय यथा पुरा कपर्दी ॥१२॥

प्रथमः—अहो महत् प्रवृत्तं युद्धम् ।

शरवरपरिपीततीव्रबाणं नरवरनैर्ऋतयोः समीक्ष्य युद्धम् ।
विरतविविधशस्त्रपातमेते हरिवरराक्षससैनिकाः स्थिताश्च ॥१३॥

द्वितीयः—अहो नु खलु,

चारीभिरेतौ परिवर्तमानौ रथे स्थितौ बाणगणान् वमन्तौ ।

सुरवरेति—सुरवरजयदर्पदेशिके इन्द्रस्य विजयगर्वोपदेशके इन्द्राय युद्धे जयं दापयित्वा गर्वं शिक्षितवति, दितिसुतनाशकरे दैत्यदलनप्रथिते रथे स्यन्दने (स्थितो रामः) रजनिचरविनाशकारणः राक्षससंहर्त्ता सन् पुरा पूर्वकाले त्रिपुरवधाय त्रिपुरासुरविनाशाय यथा कपर्दी शिवस्तथा विभातीति भावः ॥ १२ ॥

प्रवृत्तम्—समारब्धम् ।

शरवरेति—नरवरनैर्ऋतयोः पुरुषोत्तमरामराक्षसरावणयोः शरवरैः महाबाणैः परिपीताः साकल्येनसमापिताः तीव्रा बाणा यत्र तादृशम् युद्धं समीक्ष्य एते हरिवराः वानरश्रेष्ठाः राक्षससैनिकाश्च विरतविविधशस्त्रपातं नानाविधशस्त्रप्रहारकर्मणः विरम्य स्थिताः । रामरावणयोर्युद्धे प्रवृत्ते तद्दर्शनसमासक्ताः पक्षद्वयस्यापियोद्धारो बाणवृष्टिं विसस्मरुरिति भावः ॥ १३ ॥

चारीमिति—एतौ रामरावणौ चारिभिः युद्धकालोपयुक्ताभिर्गतिभिः परि-

---

तृतीय—देवगण को विजय दिलाने वाले एवं दैत्यगण विनाशकारी इस रथ पर आरूढ रामचन्द्र ऐसे लगते हैं जैसे पूर्वकाल में त्रिपुरासुर वधार्थ रथारूढ शङ्कर हों ॥ १२ ॥

प्रथम—अहो, भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ हो गया है:—

पुरुषोत्तम राम एवं रावण के इस युद्ध में एक का बाण दूसरे के बाण का संहार कर रहा है, इस भयङ्कर युद्ध को देखकर वानर सैन्य तथा राक्षसगण नाना प्रकार के अस्त्र प्रहार से विरत हो कर केवल देखते हुए खड़े हैं ॥ १३ ॥

द्वितीय—अहा ! यह दोनों क्रमशः घूमते हुए रथों पर अवस्थित हैं, बाण

स्वरश्मिजालैर्धरणिं दहन्तौ सूर्याविव द्वौ नभसि भ्रमन्तौ ॥ १४ ॥

तृतीयः—रावणमपि पश्येतां भवन्तौ।

शरैर्भीमवेगैर्हयान् मर्दयित्वा ध्वजं चापि शीघ्रं बलेनाभिहत्य।
महद् बाणवर्षं सृजन्तं नदन्तं हसन्तं नृदेवं भृशं भीषयन्तम् ॥१५॥

प्रथमः—एष हि रामः,

स्थानाक्रामणवामनीकृततनुः किञ्चित् समाश्वास्य वै
तीव्रं बाणमवेक्ष्य रक्तनयनो मध्याह्नसूर्यप्रभः।

वर्त्तमानौ रथे स्थितौ स्यन्दने तिष्ठन्तौ बाणगणान् शरसम्पातान् वमन्तौ वर्षन्तौ स्वरश्मिजालैः स्वतेजोभिः धरणीं दहन्तौ भुवं प्रज्वालयन्तौ नभसि भ्रमन्तौ आकाशे परिवर्त्तमानौ द्वौ सूर्यौ इव भासेते इति शेषः। उपमालङ्कारः॥१४॥

शरैर्भीमवेगैरिति—भीमवेगैः भीषणवेगशालिभिः शरैर्बाणैः हयान् रामरथाश्वान् मर्दयित्वा विनाश्य बलेन प्रसभं ध्वजं रामरथपताकाञ्चापि अभिहत्य विनाश्य महत् बाणवर्षं शरवृष्टिं सृजन्तं कुर्वाणम् नदन्तं नादं कुर्वन्तम् हसन्तम् (आभिः स्वाक्रयाभिः) नृदेवं नरनाथं रामं भृशमत्यर्थं भीषयन्तं भयं प्रापयन्तम् रावणं भवन्तौ पश्येतामिति पूर्वेणसम्बन्धः॥ १५ ॥

स्थानाक्रामणेति—स्थानाक्रामणेन बाणत्यागाय स्थानमाक्रम्य वामनीकृततनुः खर्वीकृतशरीरः, किञ्चित् समाश्वस्य ईषत् धैर्यमाधाय तीव्रं बाणं स्वं शरम् अवेक्ष्य परीक्षणधिया दृष्ट्वा रक्तनयनः कोपरक्तलोचनः मध्याह्नसूर्यप्रभः मध्याह्न-

---

वर्षा कर रहे हैं, अपनी प्रभा से पृथ्वी को दग्ध कर रहे हैं, मानो आकाश में घूमते हुए दो सूर्य हों ॥ १४ ॥

तृतीय—आप रावण को भी देखें, जो भीमवेग-बाणों द्वारा घोड़ों का संहार करके बलपूर्वक ध्वजा का नाश कर बाणों की वर्षा से हंसते हुए राम को भयान्वित करने का प्रयास कर रहा है ॥ १५ ॥

प्रथम—स्थान पकड़ कर शरीर को वामन बनाकर थोड़ा स्थिर हो रक्तनयन हो कर बाण की ओर देखकर मध्याह्नसूर्य सदृश मातलि द्वारा स्थान के दिये जाने

व्यक्तं मातलिना स्वयं नरपतिर्दत्तास्पदो वीर्यवान्
क्रुद्धः संहितवान् वरास्त्रममितं पैतामहं पार्थिवः ॥१६॥

द्वितीयः—एतदस्त्रं,

रघुवरभुजवेगविप्रमुक्तं ज्वलनदिवाकरयुक्ततीक्ष्णधारम् ।
रजनिचरवरं निहत्य सङ्ख्ये पुनरभिगच्छति राममेव शीघ्रम् ॥१७॥

सर्वे—हन्त निपातितो रावणः ।

प्रथमः—

रावणं निहतं दृष्ट्वा पुष्पवृष्टिर्निपातिता ।
एता नदन्ति गम्भीरं भेर्यस्त्रिदिवसद्मनाम् ॥ १८ ॥

कालिकसूर्यसमानतेजाः, व्यक्तं स्फुटं स्वयं मातलिना इन्द्रसारथिना दत्तास्पदः कृतप्रतिष्ठः प्रशंसितः वीर्यवान् प्रशस्तपराक्रमः पार्थिवो राजारामः क्रुद्धः कुपितः सन् अमितं प्रभूतसामर्थ्यं पैतामहं ब्राह्मं वरास्त्रम् महाशस्त्रम् संहितवान् धनुष्यारोपितवान् ॥ १६ ॥

रघुवरेति—रघुवरस्य रामस्य भुजवेगेन बाहुवेगेन विप्रमुक्तम् प्रयुक्तम् ज्वलनदिवाकरयुक्ततीक्ष्णधारम् अग्निसूर्यसमभास्वरधारम् एतद् अस्त्रम् संख्ये युद्धे रजनिचरवरं राक्षसराजं रावणं निहत्य पुनः शीघ्रं रामम् अभिगच्छति रामस्य समीपमायाति ॥ १७ ॥

निपातितः—रामेण हतः ।

रावणमिति—रावणं निहतं रामेण मारितं दृष्ट्वा (देवैः) पुष्पवृष्टिः रामोपरि पुष्पवर्षा निपातिता कृता । एताः श्रूयमाणाः त्रिदिवसद्मनाम् देवानाम् भेर्यः वाद्यानि नदन्ति शब्दायन्ते ॥ १८ ॥

पर, क्रुद्ध होकर रामने पितामह संबन्धी भीषण शर को धनुष पर आरोपित किया ॥ १६ ॥

द्वितीय—यह राम के भुज-वेग से प्रेरित होकर अग्नि सूर्य युक्त तीक्ष्णधार अस्त्र युद्ध में रावण को मार कर पुनः शीघ्रतापूर्वक राम के पास आ रहा है ॥

सभी—हाय रावण गिर पड़ा ।

प्रथम—रावण को गिरते देख कर ऊपर से पुष्प वृष्टि हो रही है और स्वर्ग में गम्भीर भाव से देववाद्य बजने लगे हैं ॥ १८ ॥

द्वितीयः—भवतु । सिद्धं देवकार्यम् ।

प्रथमः—तदागम्यताम् । वयमपि तावत् सर्वहितं रामं सम्भावयिष्यामः ।

उभौ—बाढम् । प्रथमः कल्पः ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति रामः ।)

रामः—

हत्वा रावणमाहवेऽद्य तरसा मद्बाणवेगार्दितं
कृत्वा चापि विभीषणं शुभमतिं लङ्केश्वरं साम्प्रतम् ।

सर्वहितम्—सर्वजनहितकरम् । संभावयिष्यामः—अभिनन्दयिष्यामः ॥

विष्कम्भकः—'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ इति लक्षितः ॥

हत्वेति—मद्बाणवेगार्दितम् मदीयबाणरयपीडितम् रावणम् अद्य आहवे युद्धे तरसा त्वरया हत्वा निपात्य साम्प्रतम् रावणवधात्परतः शुभमतिं पवित्रबुद्धिं विभीषणम् नाम रावणानुजं चापि लङ्केश्वरं कृत्वा लङ्काराज्येऽभिषिच्य एवम्

द्वितीय—अस्तु । देवकार्य सम्पन्न हुआ ।

प्रथम—अच्छा तो आओ, हम भी सकलकल्याणकारी राम का अभिनन्दन करें ।

दोनों—बहुत अच्छा । सब से उत्तम ।

[सबका प्रस्थान]

विष्कम्भक समाप्त

[राम का प्रवेश]

राम—बाणवेग से पीड़ित रावण को बलात् मारकर, पवित्र-बुद्धि वाले विभीषण को लङ्केश्वर बनाकर एवं अनेक सात्त्विक आचरणों से परिपूर्ण प्रतिज्ञा-

तीर्त्वा चैवमनल्पसत्त्वचरितं दोर्भ्यां प्रतिज्ञार्णवं
लङ्कामभ्युपयामि बन्धुसहितः सीतां समाश्वासितुम् ॥१९॥

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—जयत्वार्यः । आर्य ! एषा ह्यार्यार्यस्य समीपमुपसर्पति ।

रामः—वत्स ! लक्ष्मण !

अपायाच्च हि वैदेह्या उषितायां रिपुक्षये ।
दर्शनात् साम्प्रतं धैर्यं मन्युर्मे वारयिष्यति ॥ २० ॥

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः । (निष्क्रान्तः ।)

(प्रविश्य)

अनेन प्रकारेण अनल्पसत्त्वचरितम् नानाविधसात्त्विकक्रियारूपजन्तुव्याप्तम् प्रतिज्ञार्णवम् प्रतिज्ञारूपं सागरम् दोर्भ्यां भुजाभ्याम् तीर्त्वा उल्लङ्घ्य बन्धुसहितः लक्ष्मणयुक्तः सीतां समाश्वासितुम् समाश्वासयितुं धैर्यं प्रापयितुं लङ्काम् अभ्युपयामि गच्छामि ॥ १९ ॥

आर्या—सीता । आर्यस्य-भवतः । समीपं-पार्श्वम् । उपसर्पति—आगच्छति ।

अपायाच्चेति—वैदेह्याः सीतायाः अपायात् अपहरणकृताददर्शनात् उषितायाः शत्रुगृहे कृतवासायाः साम्प्रतं शत्रुविनाशात्परतः दर्शनात् अवलोकनात् मे मम मन्युः कोपः धैर्यं वारयिष्यति अधः करिष्यति । सीतामवलोक्य मम रावणविषयकः कोपः पुनरुद्दीपितः सन् धैर्यं नाशयिष्यतीति भावः ॥ २० ॥

सागर को बाहुबल से पार कर इस समय में अपने भाई के साथ सीता को आश्वासन प्रदान करने लङ्का में प्रवेश कर रहा हूँ ॥ १९ ॥

[प्रवेश करके]

लक्ष्मण—जय हो महाराज की। आर्य, यही आर्या सीता आप के पास आ रही हैं।

राम—वत्स लक्ष्मण,

वैदेही हरी गई, राक्षसरूप शत्रु के घर में रही, उसे यदि मैं देखूंगा तो मुझे क्रोध अधीर बना देगा ॥ २० ॥

लक्ष्मण—महाराजकी जो आज्ञा। (जाता है)

(प्रवेश करके)

बिभीषणः—जयतु देवः।

एषा हि राजंस्तव धर्मपत्नी त्वद्बाहुवीर्येण विधूतदुःखा।
लक्ष्मीः पुरा दैत्यकुलच्युतेव तव प्रसादात् समुपस्थिता सा ॥२१॥

रामः—विभीषण! तत्रैव तावत् तिष्ठतु रजनिचरावमर्शजातकल्मषा इक्ष्वाकुकुलस्याङ्कभूता। राजानं दशरथं पितरमुद्दिश्य न युक्तं भो लङ्काधिपते! मां द्रष्टुम्। अपि च,

मज्जमानमकार्येषु पुरुषं विषयेषु वै।
निवारयति यो राजन्! स मित्रं रिपुरन्यथा ॥ २२ ॥

एषा हीति—राजन्, एषा सीता तव धर्मपत्नी भार्या त्वद्बाहुवीर्येण तव भुजयोः पराक्रमेण विधूतदुःखा अपगतसकलकष्टा पुरा दैत्यकुलच्युता दैत्यकुलाद् परावृत्यागता लक्ष्मीरिव तव प्रसादात् प्रभावात् समुपागता ॥ २१ ॥

रजनिचरावमर्शजातकल्मषा—राक्षससंसर्गजातपापा। अङ्कभूता- कलङ्कस्वरूपा। दशरथं पितरमुद्दिश्य दशरथं तातं स्मृत्वा।

मज्जमानमिति—अकार्येषु अकर्त्तव्यप्रहणेषु विषयेषु वैषयिकसुखेषु मज्जमानम् आसक्तम् पुरुषं यः निवारयति तत उद्धरति स मित्रम् अन्यथा रिपुरेव। अतस्त्वयापि सीतास्वीकाराय नाहमनुरोद्धव्यः तद्ग्रहणस्य विषयासक्तिस्वरूपत्वात् ॥ २२ ॥

विभीषण—जय हो महाराजकी।

यह हैं आपकी धर्मपत्नी जिनका सारा कष्ट आपके पराक्रमसे मिट चुका है। यह पहले दैत्यकुल में पहुँची लक्ष्मी की तरह आपके प्रसाद से आपके पास आकर उपस्थित हुई हैं ॥ २१ ॥

राम—**विभीषण, तब तक वह वहीं रहे क्योंकि वह राक्षसों के स्पर्श से दूषित हो इक्ष्वाकुवंश के लिये कलङ्कस्वरूप हो चुकी है। पितृदेव राजा दशरथ का ख्याल करके उसका मेरे सामने आना ठीक नहीं होगा।**

जो अकर्त्तव्य विषयों में डूबते हुए पुरुष को उबारता है वही मित्र है अन्यथा वह शत्रु है ॥ २२ ॥

विभीषणः—प्रसीदतु देवः।

रामः—नार्हति भवानतः परं पीडयितुम्।

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—जयत्वार्यः। आर्यस्याभिप्रायं श्रुत्वैवाग्निप्रवेशाय प्रसादं प्रतिपालयत्यार्या।

रामः—लक्ष्मण ! अस्याः पतिव्रतायाश्छन्दमनुतिष्ठ।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः। (परिक्रम्य) भोः ! कष्टम्।

विज्ञाय देव्याः शौचं च श्रुत्वा चार्यस्य शासनम्।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता बुद्धिर्दोलायते मम॥ २३॥

प्रसीदतु—सीतास्वीकारानुग्रहं करोतु।

पीडयितुम्—मयाऽनिष्यमाणे सीताग्रहणे मां बलात्प्रवर्त्तयितुम्।

प्रसादं प्रतिपालयति—भवदीयादेशं प्रतीक्षते।

छन्दमनुतिष्ठ—इच्छामनुवर्त्तस्व। यथेच्छति सा तपस्विनी तथा प्रबन्धं कुरु।

विज्ञायेति—देव्याः सीतायाः शौचं पातिव्रत्यस्वरूपं पवित्रत्वं विज्ञाय ज्ञात्वा आर्यस्य रामस्य शासनम् आदेशम् वह्निप्रवेशप्रबन्धविषयामाज्ञाम् च श्रुत्वा धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता धर्मस्य प्रेम्णश्चान्तराले वर्त्तमाना मम बुद्धिर्दोलायते इतस्ततो भवति किमपि निश्चित्य कर्त्तुं न क्षमा भवति। धर्मो रामस्यादेशस्य पालनम्-

---

विभीषण—महाराज कृपा करें।

राम—इसके आगे आपको मुझे कष्ट नहीं देना चाहिये।

(प्रवेश करके)

लक्ष्मण—जय हो महाराज की, आपके अभिप्राय को जान कर आर्या सीता अग्निप्रवेशार्थ आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रही हैं।

राम—लक्ष्मण, उस पतिव्रता की इच्छा पूर्ण करो।

लक्ष्मण—महाराज की जो आज्ञा। (चलकर) बड़ा कष्ट है।

सीता की पवित्रता तथा राम की आज्ञा को जान कर मेरी बुद्धि धर्म तथा स्नेह के बीच में पड़ कर झूला झूल रही है॥ २३॥

कोऽत्र।

(प्रविश्य)

हनूमान्—जयतु कुमारः।

लक्ष्मणः—हनूमन्! यदि ते शक्तिरस्ति, एवमाज्ञापयत्यार्यः।

हनूमान्—अत्र किं तर्कयति कुमारः।

लक्ष्मणः—निष्फलो मम तर्कः। अथवा वयमार्यस्याभिप्रायमनुवर्तितारः। गच्छामस्तावत्।

हनूमान्—यदाज्ञापयति कुमारः। (निष्क्रान्तौ।)

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—प्रसीदत्वार्यः। आर्य! आश्चर्यमाश्चर्यम्। एषा ह्यार्या,

---

स्नेहश्च सीताया वह्निप्रवेशे तत्प्राणसंशयस्मारकः। तदत्र किं क्रियतामिति नावधारयामीत्याशयः॥ २३॥

यदि ते शक्तिरस्ति—यदि कर्तुं शक्नोषि तदा रामस्यादेशं पालय।

अनुवर्त्तयितारः—पालयिष्यामः, फलमविचार्य रामस्यादेशं करिष्यामः।

विकसितेति—विकसितशतपत्रदामकल्पा प्रफुल्लकमलमालासमाना एषा आर्या सीता विमुक्तजीविताशा परित्यक्तप्राणमोहा सती इह लङ्कायां तव श्रमं रावणवधप्रयासं निष्फलम् व्यर्थं कृत्वा यथा हंसी पद्मवनं प्रविशति तथा ससुखं ज्वलनं प्रविशति वह्नौ प्रवेशं कुरुते। आश्चर्यमिदमित्यर्थः॥ २४॥

कोई है यहाँ?

(प्रवेश करके)

हनूमान्—जय हो कुमार की।

लक्ष्मण—हनूमान्, यदि तुम में शक्ति है, (तो प्रबन्ध करो) महाराज की यही आज्ञा है।

हनूमान्—कुमार इस विषय में क्या सोचते हैं?

लक्ष्मण—मेरा सोचना निरर्थक है, अथवा हम तो आर्य राम की इच्छा का अनुवर्त्तन करनेवाले हैं, तब तक चलते हैं।

हनूमान्—कुमार की जो आज्ञा। (दोनों का प्रस्थान)

(प्रवेश करके)

लक्ष्मण—आप कृपा करें, आर्य, आश्चर्य है आश्चर्य, यह कमलमाल्यसमा आर्या

विकसितशतपत्रदामकल्पा ज्वलनमिहाशु विमुक्तजीविताशा ।
श्रममिह तव निष्फलं च कृत्वा प्रविशति पद्मवनं यथैव हंसी ॥२४॥

रामः—आश्चर्यमाश्चर्यम् । लक्ष्मण ! निवारय निवारय ।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः ।

(प्रविश्य)

हनूमान्—जयतु देवः ।

एषा कनकमालेव ज्वलनाद् वर्धितप्रभा ।
पावना पावकं प्राप्य निर्विकारमुपागता ॥ २५ ॥

रामः—(सविस्मयम्) किमिति किमिति ।

निवारय—सीतामग्निप्रवेशात् वारय ।

एषा कमलेति—कमलमाला इव एषा सीता ज्वलनात् अग्नौ प्रविश्य वर्धितप्रभा समेधितकान्तिः पावना स्वतः पवित्रा पावकं प्राप्य वह्नौ प्रवेशं कृत्वा निर्विकारम् सकलपापसंपर्कराहित्यम् उपागता । अथवा वह्नौ प्रविश्य अक्षतावयवा अदग्धा बहिर्गता ॥ २५ ॥

जीवन की आशा छोड़ कर तथा आपके सारे परिश्रम को व्यर्थ बनाकर तेजी से आग में प्रवेश कर रही हैं जैसे हंसी पद्मवन में प्रवेश करती है ॥ २४ ॥

राम—आश्चर्य है, आश्चर्य, लक्ष्मण, रोको रोको ।

लक्ष्मण—महाराज की जो आज्ञा ।

(प्रवेश करके)

हनूमान्—जय हो महाराज की ।

जैसे सोने की माला आग में रखने पर दीप्त हो उठती है उसी तरह यह पावना सीता आग में प्रवेश करके अधिक प्रभायुक्ता हो निर्विकार रूप में निकल आई है ॥ २५ ॥

राम—(साश्चर्य) क्या कहा ? क्या कहा ?

लक्ष्मणः—अहो, आश्चर्यम् ।

(प्रविश्य)

सुग्रीवः—जयतु देवः ।

को नु खल्वेष जीवन्तीमादाय जनकात्मजाम् ।
प्रणम्यरूपः सम्भूतो ज्वलतो हव्यवाहनात् ॥ २६ ॥

लक्ष्मणः—अये अयमार्यां पुरस्कृत्येत एवाभिवर्तते भगवान् विभावसुः ।

रामः—अये अयं भगवान् हुताशनः । उपसर्पामस्तावत् ।

(सर्वे उपसर्पन्ति)

(ततः प्रविशत्यग्निः सीतां गृहीत्वा ।)

अग्निः—एष भगवान् नारायणः । जयतु देवः ।

को नु खल्विति—जीवन्तीम् पावकप्रवेशेऽपि प्राणान् धारयन्तीम् जनकात्मजाम् सीताम् आदाय गृहीत्वा ज्वलतः प्रज्वलद्रूपात् हव्यवाहनात् अग्नेः संभूतः बहिर्भूतः प्रणम्यरूपः को नु खलु एषः । कोऽयं सीतामादाय वह्नेरुद्गन्नादरणीयस्वरूपः कोऽयं स्यादिति भावः ॥ २६ ॥

आर्यां पुरस्कृत्य—सीतामग्रतः कृत्वा । इत एवाभिवर्त्तते-इत एवागच्छति ।

विभावसुः—अग्निः ॥

हुताशनः—हविर्भुक् अग्निः ।

लक्ष्मण—अहा ! आश्चर्य है ।

(प्रवेश करके)

सुग्रीव—जय हो महाराज की ।

यह कौन प्रणम्यरूप जीती हुई जनकात्मजा को साथ लिये इस धधकती आगमें से निकल रहा है ॥ २६ ॥

लक्ष्मण—अरे आर्या सीता को आगे कर के यह अग्निदेव इधर ही आते हैं ।

राम—अरे, यह तो अग्निदेव हैं, चलें उनके पास ।

(सभी समीप जाते हैं)

(सीता को साथ लिये अग्निदेव का प्रवेश)

अग्नि—यही भगवान् विष्णु हैं । जय हो महाराजकी ।

रामः—भगवन् ! नमस्ते ।

अग्निः—न मे नमस्कारं कर्तुमर्हति देवेशः ।

इमां गृह्णीष्व राजेन्द्र ! सर्वलोकनमस्कृताम् ।
अपापामक्षतां शुद्धां जानकीं पुरुषोत्तम ! ॥ २७ ॥

अपि च,

इमां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि जनकात्मजाम् ।
सा भवन्तमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता ॥ २८ ॥

रामः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

जानतापि च वैदेह्याः शुचितां धूमकेतन ! ।
प्रत्ययार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम् ॥ २९ ॥

इमां गृह्णीष्वेति—हे पुरुषोत्तम नरश्रेष्ठ राजेन्द्र राम, सर्वलोकनमस्कृताम् अपायाम् अक्षताम् वह्निप्रवेशे कृतेऽप्यदग्धाम् शुद्धां निष्कलङ्काम् इमां जानकीं गृह्णीष्व भार्याभावेन स्वीकुरु ॥ २७ ॥

इमामिति—इमां जनकात्मजां सीतां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि । सा लक्ष्मीः मानुषीं तनुमास्थिता मनुष्यशरीरमनुप्रपन्ना भवन्तं रामचन्द्रमनुप्राप्ता ॥ २८ ॥

जानतापीति—हे धूमकेतन वह्ने, वैदेह्याः सीतायाः शुचितां पातिव्रत्य-लक्षणां पवित्रतां जानताऽपि मया लोकानाम् सर्वसाधारणजनानां प्रत्ययार्थं विश्वासाय मया एवम् एव कृतम् । जानामि सीतामनघेति, परन्तु लोका अप्येना-

---

राम—भगवन् नमस्कार करता हूँ ।

अग्नि—आप देवाधिदेव हैं, आप मुझे नमस्कार नहीं करें ।

हे पुरुषोत्तम, हे राजेन्द्र, सर्वलोकवन्दिता, अपापा, अक्षता, तथा शुद्धा इस अपनी सीता को स्वीकार कीजिये ॥ २७ ॥

और—आप जनकात्मजा इस सीता को लक्ष्मी ही समझें, लक्ष्मी ही मनुष्य रूप धर कर आप के पास आई हैं ॥ २८ ॥

राम—यह आपका अनुग्रह है ।

हे अग्निदेव, मैं सीता की पवित्रता को जानता हूँ, लोकों के विश्वासार्थ ही मैंने ऐसा किया है ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये दिव्यगन्धर्वा गायन्ति ।)

नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय ।

ब्रह्मा ते हृदयं जगत्त्रयपते ! रुद्रश्च कोपस्तव
नेत्रे चन्द्रदिवाकरौ सुरपते ! जिह्वा च ते भारती ।
सब्रह्मेन्द्रमरुद्गणं त्रिभुवनं सृष्टं त्वयैव प्रभो !
सीतेयं जलसम्भवालयरता विष्णुर्भवान् गृह्यताम् ॥ ३० ॥

(पुनर्नेपथ्ये अपरे गायन्ति ।)

मग्नेयं हि जले वराहवपुषा भूमिस्त्वयैवोद्धृता

मनघां जानीयुरिति मनसिकृत्य मयाऽस्या वह्निप्रवेशान्ता शुद्धिरपेक्षिताऽऽसीदित्यर्थः ॥ २९ ॥

ब्रह्मा ते हृदयमिति—हे जगत्त्रयपते, लोकत्रयाधीश, ब्रह्मा ते तव हृदयं हृदयस्थानीयः, रुद्रः शिवः तव कोपः क्रोधरूपः, चन्द्रदिवाकरौ सूर्याचन्द्रमसौ तव नेत्रे नयने, हे सुरपते देवाधीश, ते तव जिह्वा भारती सरस्वती । हे प्रभो, ब्रह्मणा-धात्रा, इन्द्रेण देवराजेन, मरुद्गणैः देवसङ्घैः सहितं सब्रह्मेन्द्रमरुद्गणं त्रिभुवनं लोकत्रयं त्वयैव सृष्टम् जनितम् , इयं सीता जलात्संभवः उत्पत्तिर्यस्य तत् जल-संभवम् कमलं तदेव आलयो गृहं तत्र रता अनुरक्ता कमलरूपालयवासनिरता लक्ष्मीः, भवान् विष्णुः, अत इयं भवता गृह्यताम् स्वभार्याभावेन स्वीक्रिय-ताम् ॥ ३० ॥

मग्नेयमिति—जले प्रलयपयोधिजले मग्ना पतिता इयं भूमिः पृथ्वी वराह-

---

(नेपथ्य में दिव्यगन्धर्व गाते हैं)

लोकत्रय के उत्पादक भगवान् नारायण को नमस्कार है ।

हे लोकत्रयाधीश, ब्रह्मा आप के हृदय, रुद्र आप के कोप, चन्द्र-सूर्य आप के नेत्र, और सरस्वती आप की जिह्वा हैं। ब्रह्मा, इन्द्र तथा देवों से युक्त इस त्रिभुवन की सृष्टि आपने ही की है, यह सीता कमलालया लक्ष्मी हैं, आप विष्णु हैं, आप इन्हें स्वीकार करें ॥ ३० ॥

(फिर नेपथ्य में दूसरे लोग गाते हैं)

पृथ्वी जलमें निमग्न थी, वराह रूप धारण करके आपने ही उसे बाहर

विक्रान्तं भुवनत्रयं सुरपते ! पादत्रयेण त्वया ।
स्वैरं रूपमुपस्थितेन भवता देव्या यथा साम्प्रतं
हत्वा रावणमाहवेन हि तथा देवाः समाश्वासिताः ॥ ३१ ॥

अग्निः—भद्रमुख ! एते देवदेवर्षिसिद्धविद्याधरगन्धर्वाप्सरोगणाः स्वविभवैर्भवन्तं वर्धयन्ति ।

रामः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

अग्निः—भद्रमुख ! अभिषेकार्थमित इतो भवान् ।

रामः—यदाज्ञापयति भगवान् ।

(निष्क्रान्तौ)

(नेपथ्ये)

वपुषा वराहरूपधारिणा त्वया रामेण एव उद्धृता उपरि नीता, हे सुरपते देवाधीश, यथा इदं भुवनत्रयं लोकत्रयं त्वया वामनावतारधारिणा पादत्रयेण व्याप्तम् परिच्छिन्नम् । स्वैरं रूपम् उपस्थितेन यदृच्छारूपधारिणा भवता देव्या सीतया सह तथा साम्प्रतम् आहवेन सम्मुखयुद्धेन देवाः समाश्वासिताः धैर्यमनुप्रापिताः ॥ ३१ ॥

स्वविभवैर्भवन्तं वर्धयन्ति—स्वीयान् विभवान् पराक्रमादीन् भवतेऽर्पयन्ति ।

निकाला, हे सुरपते, आपने ही तीन डेगोंसे पृथ्वी को नापा, यथेच्छरूपधारी आपने युद्ध में रावण का वध करके सीता के साथ ही समस्त देवों को आश्वासन प्रदान किया है ॥ ३१ ॥

अग्नि—भद्रमुख, यह देव, देवर्षि, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व, अप्सरागण अपने अपने विभवों से आप की अभ्यर्थना कर रहे हैं ।

राम—अनुग्रह है ।

अग्नि—भद्र, अभिषेकार्थ आप इधर चलें ।

राम—आप की जो आज्ञा ।

(दोनों का प्रस्थान)

(नेपथ्य में)

जयतु देवः। जयतु स्वामी। जयतु भद्रमुखः। जयतु महाराजः। जयतु रावणान्तकः। जयत्वायुष्मान्।

विभीषणः—एष एष महाराजः,

तीर्त्वा प्रतिज्ञार्णवमाहवेऽद्य
सम्प्राप्य देवीं च विधूतपापाम्।
देवैः समस्तैश्च कृताभिषेको
विभाति शुभ्रे नभसीव चन्द्रः॥ ३२॥

लक्ष्मणः—अहो नु खल्वार्यस्य वैष्णवं तेजः।

यमवरुणकुबेरवासवाद्यैस्त्रिदशगणैरभिसंवृतो विभाति।
दशरथवचनात् कृताभिषेकस्त्रिदशपतित्वमवाप्य वृत्रहेव॥३३॥

(ततः प्रविशति कृताभिषेको रामः सीतया सह।)

तीर्त्वा प्रतिज्ञेति—अद्य सम्प्रति प्रतिज्ञार्णवम् रावणवधरूपं प्रतिज्ञासागरं तीर्त्वा उल्लङ्घ्य विधूतपापाम् निष्कलङ्कां देवीं सीतां च संप्राप्य समस्तैः सकलैर्देवैश्च कृताभिषेकः कृताभिषेकसंस्कारः सन् शुभ्रे स्वच्छे नभसि आकाशे चन्द्र इव एष महाराजः रामः विभाति॥ ३२॥

यमवरुणेति—यमेन कालेन वरुणेन जलाधिष्ठातृदेवेन कुबेरेण वासवाद्यैः इन्द्रप्रभृतिभिश्च अभिसंवृतः एषः महाराजः दशरथवचनात् कृताभिषेकः राज्याभिषेकेण संस्कृतः सन् त्रिदशपतित्वम् देवनाथत्वम् अवाप्य वृत्रहा इन्द्र इव विभाति॥ ३३॥

जय हो महाराज की, भद्रमुख की जय हो, रावणान्तक की जय हो। आयुष्मान् की जय हो।

विभीषण—यह हमारे महाराज,

आज युद्ध में प्रतिज्ञा-सागर पार करके निष्पापा सीता को प्राप्त कर, समस्त देवों द्वारा किये गये अभिषेक को पाकर निर्मल आकाश में अवस्थित चन्द्रमा की तरह शोभा पा रहे हैं॥ ३२॥

लक्ष्मण—आश्चर्य है आर्य का वैष्णव तेज।

यम, कुबेर, वरुण तथा इन्द्रादिदेवों से युक्त हमारे आर्य दशरथ-वचनानुसार अभिषिक्त होकर देवाधिप इन्द्र के समान दीख रहे हैं॥ ३३॥

(कृताभिषेक राम का सीता के साथ प्रवेश)

रामः—वत्स ! लक्ष्मण !

येनाहं कृतमङ्गलप्रतिसरो भद्रासनारोपितो-
ऽप्यम्बायाः प्रियमिच्छता नृपतिना भिन्नाभिषेकः कृतः ।
व्यक्तं दैवगतिं गतेन गुरुणा प्रत्यक्षतः साम्प्रतं
तेनैवाद्य पुनः प्रहृष्टमनसा प्राप्ताभिषेकः कृतः ॥ ३४ ॥

अग्निः—भद्रमुख ! एता हि महेन्द्रनियोगाद् भरतशत्रुघ्नपुरःसराः प्रकृतयो भवन्तमुपस्थिताः ।

रामः—भगवान् ! प्रहृष्टोऽस्मि ।

अग्निः—इमे महेन्द्रादयोऽमृतभुजो भवन्तमभिवर्धयन्ति ।

रामः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

येनाहमिति—कृतमङ्गलप्रतिसरः विहितमाङ्गलिकरक्षासूत्रबन्धनः कृतसर्वराज्याभिषेकपूर्वकर्त्तव्यः भद्रासनारोपितः शुभासनोपवेशितः अपि अहं रामः येन नृपतिनाऽस्मत्तातेन दशरथेन अम्बायाः अस्मन्मातुः कैकेय्याः प्रियम् इच्छता वचनं पालयता भिन्नाभिषेकः निषिद्धराज्याभिषेकः कृतः, तेन व्यक्तं दैवगतिं गतेन स्वर्गं गतेन गुरुणा पित्रा दशरथेन एव अद्य प्रहृष्टमनसा रावणवधहृष्टचित्तेन सता पुनः प्राप्ताभिषेकः राज्येऽभिषिक्तः कृत इति पश्य ॥३४॥

महेन्द्रनियोगात्—इन्द्रस्यादेशात् । भरतशत्रुघ्नपुरस्सराः–भरतादयः प्रकृतयः—प्रजाः ।

अमृतभुजः—देवाः । अभिवर्द्धयन्ति—आशीर्भिःसंवर्द्धयन्ति ।

राम—वत्स लक्ष्मण,

मङ्गल सूत्र के बँध जाने पर और भद्रासन पर आरूढ करके भी जिन्होंने अम्बा की इच्छापूर्ति के लिए मेरा अभिषेक रोक दिया, वही हमारे पिता स्वर्गीय होकर आज प्रसन्न हृदय से पुनः मेरा अभिषेक कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

अग्नि—भद्रमुख, इन्द्र के आदेशानुसार भरत-शत्रुघ्न-प्रजाजन आप की सेवा में उपस्थित हैं ।

राम—भगवन्, मैं अति हृष्ट हूँ ।

अग्नि—यह इन्द्र आदि देवगण आप की अभ्यर्थना कर रहे हैं ।

राम—मैं अनुगृहीत हूँ ।

अग्निः—भद्रमुख ! किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ।

रामः—यदि मे भगवान् प्रसन्नः, किमतः परमहमिच्छामि ।

(भरतवाक्यम् ।)

भवन्त्वरजसो गावः परचक्रं प्रशाम्यतु ।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥ ३५ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

षष्ठोऽङ्कः

अभिषेकनाटकं समाप्तम् ।

भवन्त्विति—गावः अस्माकमिन्द्रियाणि अरजसः निवृत्तरजोगुणाः सत्त्व भूयिष्ठा भवन्तु, परचक्रं शत्रुमण्डलम् प्रशाम्यतु, इमाम् कृत्स्नामपि महीं पृथ्वीं नः राजा सिंह इव राजसिंहः प्रशास्तु पालयतु ॥ ३५ ॥

थो जातो धरणीसुरान्वयसरो हंसात्प्रसर्पद्यशो—
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ।
मिश्राख्यान्मधुसूदनाज्जयमणौ सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्याप्रसिद्ध्यादियम् ॥

इति मुजप्फरपुरमण्डलान्तर्गतपकड़ीग्रामवासिना धर्मसमाजसंस्कृत-महाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधिप्रसाधिना मैथिल-पण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायामभिषेकनाटकस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां षष्ठाङ्क प्रकाशः

अग्नि—भद्रमुख, इसके अतिरिक्त आपका क्या प्रिय करूं ?

राम—आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं, तो इससे अधिक मैं क्या चाहूँगा ।

(भरत वाक्य)

हमारी इन्द्रियाँ रजोविकार रहित हों, शत्रुमण्डल का शमन हो, और इस समस्त पृथ्वी का हमारे राजसिंह शासन करें ॥ ३५ ॥

(सभी का प्रस्थान)

षष्ठ अङ्क समाप्त

समाप्तश्चायं ग्रन्थः



श्लोकानुक्रमणिका





(८)

बालचरितम्

व्याख्याकार :—
आचार्य रामजी मिश्र

भासनाटकचक्रे

बालचरितम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्



प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

सूत्रधारः—

शङ्खक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायण-
स्त्रेतायां त्रिपदार्पितत्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः ।

महाकविर्भासो बालचरितन्नाम नाटकं परिचिकीर्षुस्तस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थमाशीर्वादात्मकं मंगलमाचरति–शंखक्षीरवपुरिति ।

पुरा = कदाचित् प्राचीनकाले । कृतयुगे = कृतं सत्यन्नाम च तद् युगं तस्मिन्—सत्ययुगे शङ्खक्षीरवपुः—शंख इव = कम्बुरिव क्षीरम् इव = दुग्धम् इव, वपुः शरीरं यस्य सः नाम्ना = अभिधया तु नारायणः—नरस्यायं नारः, स एव अयनं = स्थानं यस्य सः 'आपो नारा इति प्रोक्ता अयनं स्थानमुच्यते । नारायण इति ख्यातिरि'त्याद्यभियुक्तोक्तेः ॥ त्रेतायां = त्रेतायुगे सुवर्णप्रभः = सुवर्णस्य = हाटकस्य प्रभा = कान्तिरिव प्रभा यस्य सः—काञ्चनच्छविः 'शोभाकान्तिर्द्युतिश्छविरि'त्यमरः । त्रिपदार्पितत्रिभुवनः—त्रिपदा = पादत्रयेण अर्पितं = दत्तं त्रिभुवनं = लोकत्रयं येन स विष्णुः व्यापकः (वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः) =

पहले सतयुग में जो शंख और दूधके समान नारायण नाम से प्रसिद्ध थे, त्रेता युग में कुन्दन की कान्ति वाले जिस विष्णु (वामन) ने तीन पादक्रमों (पगों)

दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे
नित्यं योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये किन्तु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अङ्ग ! पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

अहं गगनसञ्चारी ।

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम् ।

पतत्यसौ पुष्पमयी च वृष्टिर्नदन्ति तूर्याणि च देवतानाम् ।

परमेश्वरः आसीत् स एव द्वापरे—एतन्नामके युगे = काले दूर्वाश्यामनिभः = दूर्वाश्यामसदृशः रावणवधे = दशशीर्षविनाशे रामः = दाशरथिनाम्ना प्रसिद्धः आसीत् । यः = परमेश्वरः कलियुगे=कलिकाले अञ्जनसन्निभः=अञ्जनेन = कज्जलेन सन्निभः = सदृशः सः दामोदरः—दाम = रज्जुरुदरे = कटिप्रदेशे यस्य सः कृष्णः वः = युष्मान् श्रोतॄन् सभासदः नित्यं = सर्वदा पातु = रक्षतु । नामभेदेन एक एव परमेश्वरः युगचतुष्टये युष्मान रक्षतु इति भावः ॥ १ ॥

गगने = आकाशे संचरितुं शीलमस्य, व्योमचारीति भावः ।

असौ = पुरोवर्तिनी पुष्पमयी=सुमनोमयी वृष्टिः=वर्षणं पतति—खात् पुष्पवृष्टिर्भवतीति भावः । देवतानां = सुराणाम् तूर्याणि=दुन्दुभयः नदन्ति=नादं कुर्वन्ति

से तीनों लोकों को नाप लिया था, द्वापर में दूर्वा के समान श्यामल जिस रामचन्द्र ने रावण का बध किया, और जो दामोदर कलियुग में अञ्जन के समान कृष्ण शरीर वाले हैं वे सर्वदा तुम लोगों (नाटक सुनने और देखने वालों) की रक्षा करें ॥ १ ॥

मैं आप महानुभावों को सूचित करता हूँ । अरे, मेरे सूचना देने में व्यग्र होने पर यह कैसा शब्द सुनाई पड़ता है ? अच्छा, देखता हूँ ।

(नेपथ्य में)

मैं आकाश में घूमने वाला हूँ ।

सूत्रधार—अच्छा, समझ गया ।

यह (आकाश से) पुष्पवृष्टि हो रही है । देवताओं की भेरी बज रही है ।

द्रष्टुं हरिं वृष्णिकुले प्रसूतमभ्यागतो नारद एष तूर्णम् ॥ २ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

स्थापना

(ततः प्रविशति नारदः ।)

नारदः—

अहं गगनसञ्चारी त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
ब्रह्मलोकादिह प्राप्तो नारदः कलहप्रियः ॥ ३ ॥

भोः !

क्षीणेषु देवासुरविग्रहेषु नित्यप्रशान्ते न रमेऽन्तरिक्षे ।

वृष्णिकुले = वृष्णीनाम् यादवानां कुलं वंशस्तस्मिन् प्रसूतं-प्रादुर्भूतं हरिं = विष्णुं द्रष्टुम् = अवलोकयितुम् एषः=आगन्ता नारदः=नारं ज्ञानं ददातीति एकन्नामकः देवर्षिः तूर्णं = शीघ्रम् अभ्यागतः = समायातः । इति मया ज्ञातम् ॥ २ ॥

अहं=देवर्षिः गगनसञ्चारी—गगने = आकाशे सञ्चरितुं = गन्तुं शीलमस्य = व्योमयायी त्रिषु लोकेषु=त्रिभुवने 'लोकस्तु भुवने जने ।' अमरः । विश्रुतः = प्रसिद्धः कलहप्रियः—कलहः=विग्रहः प्रियः=रुचिकरः यस्य सः नारदः=एतन्नामकः ऋषिः ब्रह्मलोकात् ब्रह्मणः लोकस्तस्मात् = परमेष्ठिसकाशात् इह = अस्मिन् स्थाने प्राप्तः = समागतः ॥ ३ ॥

देवर्षिः स्वाभिप्रायं प्रकटयति—क्षीणेष्विति । देवासुरविग्रहेषु—देवाश्च असुराश्च तेषां विग्रहाः=कलहाः तेषु = सुरासुरकलहेषु क्षीणेषु=नष्टेषु नित्यप्रशान्ते=

वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए श्री कृष्ण के दर्शन की इच्छा से नारद जी शीघ्रतापूर्वक आ रहे हैं ॥ २ ॥

(चला जाता है ।)

स्थापना

(तत्पश्चात् नारद आते हैं ।)

नारद—मैं अन्तरिक्ष में घूमनेवाला, तीनों लोकों में प्रसिद्ध, कलहप्रिय नारद ब्रह्मलोक से यहाँ आ पहुँचा हूँ ॥ ३ ॥

अरे !

देवताओं और राक्षसों में कलह के नष्टप्राय होने से सर्वदा शान्त अन्तरिक्ष में

अहं हि वेदाध्ययनान्तरेषु तन्त्रीश्च वैराणि च घट्टयामि ॥ ४ ॥

अपि च,

भक्तिः परा मम पितामहभाषितेषु
सर्वाणि मे बहुमतानि तपोवनानि ।
सत्यं ब्रवीमि करजाग्रहता च वीणा
वैराणि भीमकठिनाः कलहाः प्रिया मे ॥ ५ ॥

तद् भगवन्तं लोकादिमनिधनमव्ययं लोकहितार्थे कंसवधार्थं वृष्णिकुले प्रसूतं नारायणं द्रष्टुमिहागतोऽस्मि । अये, इयमत्रभवती

शाश्वतप्रशमोपेते अन्तरिक्षे=गगने (अहं) न रमे=रमणं कर्तुम् अशक्तोस्मि । अहं हि = नारदः वेदाध्ययनान्तरेषु=वेदस्याध्ययनं तस्य अन्तराणि तेषु=वेदाध्ययनान्तरकालेषु तन्त्रीश्च=महतीवीणाऽयःसूत्राणि वैराणि=कलहान् च घट्टयामि= संयोजयामि ॥ ४ ॥

देवर्षिः पुनरपि स्वस्वभावं वर्णयति–भक्तिरिति । मम=नारदस्य पितामहस्य =ब्रह्मणः भाषितानि=लपितानि 'लपितं भाषितं वचनं वचः ।' अमरः । तेषु– परमेष्ठिवचनेषु परा=उत्कृष्टा भक्तिः =श्रद्धा वर्तत इति शेषः । मे=मम सर्वाणि =अशेषाणि तपोवनानि–तपसः=तपश्चर्यायाः वनानि=विपिनानि तानि तपः· काननानि बहुमतानि=अतिसम्मतानि । (अहं) सत्यम्=ऋतं ब्रवीमि=कथयामि करजाग्रः–करेजातः करजः तस्य अग्रः तेन = नखाग्रेण हता=ताडिता वीणा= महती नाम्नी वैराणि=द्वेषाः भीमकठिनाः =अत्यन्तकठिनाः कलहाः=विग्रहाः मे= मम नारदस्य प्रियाः=प्रीतिकराः सन्तीति शेषः ॥ ५ ॥

मैं नहीं रमण करता । मैं वेदाध्ययन के मध्य वीणा का वादन और कलह की सृष्टि भी करता हूँ ॥ ४ ॥

और भी,

मेरी पितामह के वचनों में परम भक्ति है । सब तपोवन मेरे लिए सम्मान करने के योग्य हैं । मैं सत्य कहता हूँ कि उंगलियों से छेड़ी गई वीणा और कठिन से कठिन वैर तथा कलह मुझे प्रिय है ॥ ५ ॥

लोकों के आदि, अमर, अव्यय, लोकहित के लिए कंस को मारने के लिए वृष्णिकुल में उत्पन्न भगवान् नारायण को देखने के लिए आया हूँ । अरे, यह

देवकी। मायया शिशुत्वमुपागतं त्रिलोकेश्वरं प्रगृह्य वसुदेवेन सह शनैः स्वगृहान्निष्क्रामति। यैषा,

लोकानामभयंकरं गुरुं सुराणां
दैत्यानां निधनकरं रथाङ्गपाणिम्।
शोकार्ता शशिवदना निशि प्रशान्ता
बाहुभ्यां गिरिमिव मन्दरं वहन्ती ॥ ६ ॥

एष भगवान् नारायणः,

अनन्तवीर्यः कमलायताक्षः सुरेन्द्रनाथोऽसुरवीर्यहन्ता।

नारदः देवकीं दृष्ट्वा तामुपवर्णयति—लोकानामिति।

लोकानां=त्रयाणां भुवनानाम् अभयंकरम्—करोतीति करः, अभयस्य करः, तम्=भयहर्तारं सुराणां गुरुम्=श्रेष्ठम् रक्षकमिति शेषः। दैत्यानां दानवानां निधनकरं = करोतीति करः निधनस्य करः तं, रथाङ्गपाणिं रथस्याङ्गं = चक्रं पाणौ=करे यस्य तम् = चक्रिणं श्रीकृष्णं शोकार्ता-शोकेन = दुःखेन आर्ता=पीडिता शशिवदना शशी = चन्द्र इव वदनं = मुखं यस्याः सा = चन्द्रमुखी प्रशान्ता = स्थिरा निशि = रात्रौ मन्दरं गिरिमिव = एतन्नामकमचलमिव बाहुभ्यां=कराभ्यां वहन्ती = धारयन्ती एषा देवकी गृहान्निष्क्रामतीति भावः ॥ ६ ॥

भगवन्तं दृष्ट्वा तं वर्णयति नारदः-अनन्तवीर्येति। एषः=भगवान् अनन्तवीर्यः-अनन्तं वीर्यं = पराक्रमो यस्य सः = अपरिमितपराक्रमः कमलायताक्षः-कमले इव आयते अक्षिणी यस्य सः = पद्मनेत्रः सुरेन्द्रनाथः—सुरेष्विन्द्रः तस्य नाथः =

भगवती देवकी हैं। माया से शिशुरूप को प्राप्त त्रिभुवनपति को लेकर वसुदेव के साथ धीरे-धीरे अपने घर से निकल रही हैं।

यह जो,

शोकसंतप्त चन्द्रवदनी सारे संसार को अभय प्रदान करने वाले, देवताओं के गुरु और दानवों को विनाश करने वाले चक्रधर को, रात्रि के सन्नाटे में अपनी भुजाओं से मन्दराचल की तरह धारण किए जा रही हैं ॥ ६ ॥

यह भगवान् नारायण हैं।

इनकी शक्ति का अन्त नहीं, कमल-दल के समान इनके नेत्र विशाल हैं। ये

त्रिलोककेतुर्जगतश्च कर्ता भर्ता जनानां पुरुषः पुराणः ॥ ७ ॥

हन्तैतदुत्पन्नं कलहस्य मूलम्। यावदहमपि भगवन्तं नारायणं प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मलोकमेव यास्यामि। नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय।

नारायणाय नरलोकपरायणाय
लोकाननाय कमलामललोचनाय।
रामाय रावणविरोचनपातनाय
वीराय वीर्यनिलयाय नमो वराय ॥ ८ ॥

अमरस्वामी असुरवीर्यहन्ता-असुराणां वीर्यं तस्य हन्तीति हन्ता = दैत्यबलविघाती त्रिलोककेतुः = त्रयाणां लोकानां केतुरिव = लोकत्रयपताकेव जगतश्च कर्ता = संसारस्य च कर्ता = विधाता जनानां = लोकानाम् भर्त्ता = पालकः पुराणः = सनातनः पुरुषः = पुरुषविशेषः, एष नारायणः अस्तीति शेषः ॥ ७ ॥

नारदः भगवन्तं नारायणं स्तौति-नारायणायेति । नारायणाय = त्रिविक्रमाय अथ च नरावताराय नरलोकपरायणाय-नरलोको मनुष्यलोकः अन्यत्र च जललोकः परम् उत्कृष्टम् अयनं = स्थानं यस्य तस्मै लोकाननाय-लोकः = भुवनम् आननं = मुखं यस्य तस्मै = भुवनमुखाय कमलामल० कमले = पद्मे इव अमले = स्वच्छे लोचने = नेत्रे यस्य तस्मै रावणविरोचनपातनाय-रावणस्य = दशाननस्य विरोचनस्य = एतन्नामकदानवस्य च पातनं = निधनकारणम् तस्मै, वीराय = पराक्रमिणे वराय = श्रेष्ठाय वीर्यनिलयाय-वीर्यं = शौर्यं तस्य निलयः = स्थानं तस्मै रामाय = दाशरथये नमः = प्रह्वीभावः, अस्त्विति शेषः ॥ ८ ॥

देवताओं के भी अधिदेव हैं और राक्षसों की शक्ति के नाशक हैं। तीनों लोकों की पताका हैं, संसार के कर्त्ता हैं, प्राणिमात्र के पोषक और पुराणपुरुष हैं ॥ ७ ॥

अहा, यह कलह का कारण उत्पन्न हो गया। तब तक मैं भगवान नारायण की प्रदक्षिणा करके ब्रह्मलोक को चला जाऊंगा। भगवान तीनों लोकों के आदि कारण को नमस्कार है।

नरावतार, अथवा क्षीरशायी मानव लोक ही जिनका उत्कृष्ट स्थान है अथवा मानव लोक के लिए परम प्राप्य, भुवनमुख, कमलवत् स्वच्छ नेत्रों वाले, रावण का नाश करने वाले, बल के आगार, श्रेष्ठ बलवान राम को नमस्कार है ॥ ८ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति बालहस्ता देवकी ।)

देवकी—हद्धि, पुत्तअस्स मे महाणुभावत्तणं सूअइस्सन्दाणि जम्मसमअसमुब्भूदाणि महाणिमित्ताणि पच्चक्खीकरअन्ती अवि कंसहदअणिसंसत्तणं चिन्तअन्ती सुट्ठु ण पच्चआमि मन्दभाइणी । कहिं णु गदो अय्यउत्तो । (परिक्रम्य अग्रतो विलोक्य) अम्मो, एसो अय्यउत्तो हरिसविम्हअफुल्लणअणो इदो एव्व आअच्छदि । [हा धिक्, पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि महानिमित्तानि प्रत्यक्षीकुर्वन्त्यपि कंसहतकनृशंसत्वं चिन्तयन्ती सुष्ठु न प्रत्येमि मन्दभागिनी । क्व नु गत आर्यपुत्रः । अम्मो, एष आर्यपुत्रो हर्षविस्मयफुल्लनयन इत एवागच्छति ।]

(ततः प्रविशति वसुदेवः) ।

वसुदेवः—(सविमर्शम्) भोः ! किं नु खल्विदम्,

भ्रमति नभसि विद्युच्चण्डवातानुविद्धै-
नवजलदनिनादैर्मेदिनी सप्रकम्पा ।

वसुदेवः जन्मकालीनं निमित्तं पश्यन् भगवदवतारं विमृशति-भ्रमतीत्यादिना । नभसि = खे 'नभः खं श्रावणो नभाः ।' अमरः । विद्युच्चण्डवातानुविद्धैः-विद्युता= चपलया 'तडित् सौदामिनी विद्युचञ्चला चपला अपि ।' अमरः । चण्डवातेन= प्रखरवायुना अनुविद्धाः = अनुस्यूतास्तैः । नव० -नवानां = प्रत्यग्राणां 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः ।' अमरः । जलदानां = मेघानां निनादाः =

(चला जाता है)

(हाथों में बालक को लिये देवकी का प्रवेश)

देवकी—हाय, धिक्कार है, यद्यपि जन्म के समय के शुभ शकुन मेरे बालक की महानता सूचित करते हैं, तथापि मुझ मन्दभाग्य वाली को क्रूर कंस की निर्दयता के कारण पूर्ण विश्वास नहीं होता ।

(वसुदेव का प्रवेश ।)

वसुदेव—(आश्चर्य से) अरे ! यह सब क्या है ?

आकाश में बिजली और तेज हवा से युक्त नए बादलों के गर्जन से पृथ्वी कांप

इह तु जगति नूनं रक्षणार्थं प्रजाना-
मसुरसमितिहन्ता विष्णुरद्यावतीर्णः ॥ ९ ॥

(विलोक्य) एषा देवकी,

अगणितपरिखेदा याति षण्णां सुताना-
मपचयगमनार्थं सप्तमं रक्षमाणा ।
बहुगुणकृतलोभा जन्मकाले निमित्तैः
सुत इति कृतसंज्ञं कंसमृत्युं वहन्ती ॥ १० ॥

गर्जितानि तैः सप्रकम्पा–प्रकम्पेन = वेपथुना सहिता मेदिनी=मही 'क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही ।' अमरः । भ्रमति = भ्रमणं करोति प्रजानां = जनानां 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने ।' अमरः । रक्षणार्थं = पालनार्थम् असुराणां = राक्षसानां समितिः= सभा समूहः इति यावत् । तस्या हन्ता=विनाशकः इह = अस्मिन् जगति = संसारे अद्य = इदानीं विष्णुः = व्यापकः परमेश्वरः नूनं = निश्चितम् अवतीर्णः = प्रादुर्भूतः ॥ ९ ॥

(एषा वसुदेवपत्नी) षण्णाम् = रससंख्यकानां सुतानां=पुत्राणाम् अपचयो = विनाशः तस्य गमनार्थं=प्राप्तिनिमित्तकम् अगणितपरिखेदा–अगणिताः–अनन्ताः परितः खेदाः = दुःखानि यस्याः सा सप्तमम् = एतत्संख्याकं पुत्रं रक्षमाणा = रक्षन्ती जन्मकाले = प्रादुर्भावसमये निमित्तैः = शुभकारणैः बहुगुणकृतलोभा–बहुगुणैः कृतो लोभो यस्याः सा = विशेषगुणलुब्धा सुत इति = पुत्र इति कृतसंज्ञं–कृता संज्ञा यस्य तम् = विहिताभिधं कंसमृत्युं = कंसहन्तारं श्रीकृष्णं वहन्ती = धारयन्ती याति=गच्छति ॥ १० ॥

रही है। आज इस संसार में प्रजा की रक्षा और असुरों का विनाश करनेवाले विष्णु अवश्य ही अवतीर्ण हुए हैं ॥ ९ ॥

(देखकर) यह देवकी हैं।

छः पुत्रों के विनाश से अत्यन्त शोक से सन्तप्त सातवें पुत्र की रक्षा करती हुई। जन्म के शुभ शकुनों से (उसके) अनेक गुणों से लुब्ध होकर 'पुत्र' ऐसा नाम रखकर कंस की मृत्यु को ले जा रही हैं ॥ १० ॥

देवकी—(उपसृत्य) जेदु अय्यउत्तो । [जयत्वार्यपुत्रः ।]

वसुदेवः—देवकि ! अर्धरात्रः खलु वर्तते । प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः । तस्माद् यावन्न कश्चित् पश्यति, तावद् बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि ।

देवकी—कहिं अय्यउत्तो इमं णइस्सदि । [क्वार्यपुत्र इमं नेष्यति ।]

वसुदेवः—देवकि ! सत्यं ब्रवीषि । अहमपि न जाने । किन्तु, एकच्छत्रच्छायां पृथिवीं समाज्ञापयति दुरात्मा कंसः । तत् क नु खल्वयमायुष्मान् नेतव्यो भविष्यति । अथवा यत्र दैवं विधास्यति, तत्र बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि ।

देवकी—अय्यउत्त ! इच्छामि दाव णं सुदिट्ठं कत्तुं । [आर्यपुत्र ! इच्छामि तावदेनं सुदृष्टं कर्तुम् ।]

किं द्रष्टव्यः शशाङ्कोऽयं राहोर्वदनमण्डले ।
त्वयाऽप्यस्य सुदृष्टस्य कंसो मृत्युर्भविष्यति ॥ ११ ॥

वसुदेवः देवकीं सान्त्वयन्नाह—किं द्रष्टव्य इति । राहोः=सैंहिकेयस्य वदनमण्डले =मुखमण्डले अयं = बालः शशाङ्कः=चन्द्रमाः किं द्रष्टव्यः=कथं दर्शनीयः त्वया = देवक्या सुदृष्टस्य = सुप्रेक्षितस्यापि अस्य = बालस्य कंसः=तव भ्राता मृत्युः = निधनकरः भविष्यति = भविता ॥ ११ ॥

देवकी—(समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय ।

वसुदेव—हे देवकी ! यह आधी रात है । मथुरा में सब लोग सोए हुए हैं । तो जब तक कोई दूसरा नहीं देखता तब तक बालक को लेकर मैं चल रहा हूँ ।

देवकी—आर्यपुत्र ! इसे कहाँ ले जाएंगे ?

वसुदेव—देवकी ! सत्य कहती हो । मुझे भी नहीं मालूम । क्योंकि दुरात्मा कंस का सारी पृथ्वी पर एक छत्र-राज्य है । तो इस चिरंजीव को कहां ले जाना चाहिए । अथवा जहां भाग्य हमें ले जाय वहीं बालक को ले जायंगे ।

देवकी—आर्यपुत्र ! तो इसे मैं नजर भरकर देखना चाहती हूँ ।

वसुदेव—अरी अत्यन्त पुत्रवत्सले !

राहु के मुख में स्थित इस चन्द्र को क्या देखना चाहिये । (यद्यपि) तुम्हारे लिए यह सुदर्शन है (पर) कंस इसका मृत्यु बनेगा ॥ ११ ॥

वसुदेवः—अयि अतिपुत्रवत्सले !

देवकी—सव्वहा ण भविस्सदि। [सर्वथा न भविष्यति ।]

वसुदेवः—यद् भवत्याऽभिहितं, तत् सर्वदैवतैरभिहितं भवतु। आनय।

देवकी—गह्णदु अय्यउत्तो। [गृह्णात्वार्यपुत्रः ।]

वसुदेवः—(गृहीत्वा) अहो गुरुत्वं बालस्य। साधु,

विन्ध्यमन्दरसारोऽयं बालः पद्मदलेक्षणः ।
गर्भे यया धृतः श्रीमानहो धैर्यं हि योषितः ॥ १२ ॥

देवकि ! प्रविश त्वमभ्यन्तरम् ।

देवकी—एसा गच्छामि मन्दभाआ। (निष्क्रान्ता।) [एषा गच्छामि मन्दभागा।]

वसुदेवः—एषा देवकी,

वसुदेवः बालं गृहीत्वा तस्य महाभारं सूचयति-विन्ध्येत्यादिना । पद्मदलेक्षणः-पद्मदले=कमलपत्रे इव ईक्षणे = नेत्रे यस्य सः अयं बालः = शिशुः विन्ध्य-मन्दरयोः सार इव सारो यस्य सः = विन्ध्याचलमन्दराचलवद्गुरुः (अयं) श्रीमान्=शोभासम्पन्नः बालः यया=स्त्रिया गर्भे = स्वोदरे धृतः = ऊढः तस्याः = योषितः = अङ्गनायाः अहो=आश्चर्यं धैर्यं = धारणसामर्थ्यं श्लाघ्यमिति भावः ॥ १२ ॥

वसुदेव—अयि अत्यन्त पुत्र में स्नेह रखने वाली !

देवकी—ऐसा कदापि न होगा।

वसुदेव—जो आपने कहा यह सब देवताओं का कथन हो। (बालक को) लाओ।

देवकी—आर्यपुत्र ! (इसे) लें।

वसुदेव—(लेकर) अहा, बालक की गम्भीरता। सत्य ही

यह कमलदल के समान लोचन वाला बालक विन्ध्य व मन्दर पर्वत की भांति सारवान है। इस शोभासम्पन्न (बालक) को जिसने गर्भ में धारण किया उस स्त्री का धैर्य धन्य है ॥ १२ ॥

देवकी ! अन्दर चली जाओ।

देवकी—यह अभागिन जाती हूँ। (जाती है।)

वसुदेव—यह देवकी,

हृदयेनेह तत्राङ्गैर्द्विधाभूतेव गच्छति ।
यथा नभसि तोये च चन्द्रलेखा द्विधाकृता ॥ १३ ॥

हन्त प्रविष्टा देवकी । यावदहमपि नगरद्वारं संश्रयामि । एष भोः,
प्रथमसुतविनाशजातमन्युर्नृपतिभयाकुलितः प्रगृह्य बालम् ।
त्वरिततरमिह प्रयामि मार्गे गिरिमिव मन्दरमुद्वहन्भुजाभ्याम् ॥१४॥

(परिक्रम्य) इदं नगरद्वारम् । यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य) अये प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः । यावदपक्रामामि । (परिक्रम्य) निष्क्रान्तोऽस्मि मधुरायाः । अहो बलवांश्चायमन्धकारः । सम्प्रति हि,

---

वसुदेवः देवकीमुपवर्णयति—हृदयेनेत्यादिना । एषा=देवकी इह=अस्मिन् स्थाने हृदयेन = चेतसा तत्र अङ्गैः = स्वशरीरैः द्विधाकृता = भागद्वयविभक्ता इव गच्छति = याति यथा = येन प्रकारेण चन्द्रलेखा = इन्दुकला द्विधाकृता सती नभसि = आकाशे तोये=जले च याति=गच्छति तथा देवकी याति इति शेषः ॥ १३ ॥

वसुदेवः बालं नयन् स्वाभिप्रायं प्रकटयति—प्रथमेत्यादिना ।

(अहं वसुदेवः) प्रथमसुत०—प्रथमस्य = पूर्वोत्पन्नस्य सुतस्य = पुत्रस्य विनाशेन = निधनेन जातः = उत्पन्नः मन्युः = क्रोधः यस्य सः नृपतिभया०—नृपतेर्भयं तेन आकुलितः = व्याकुलः सन् बालं = शिशुं प्रगृह्य = गृहीत्वा भुजाभ्याम् बाहुभ्याम् 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोरि'त्यमरः । मन्दरम् = एतन्नामकं गिरिमिव उद्वहन् = नयन् इह = अस्मिन् मार्गे = अध्वनि त्वरिततरं = शीघ्रतरं प्रयामि = गच्छामि ॥ १४ ॥

यहां से हृदय और शरीर से दो भागों में बटी हुई जाती है । जैसे आकाश और जल में (प्रतिबिम्ब रूप से) चन्द्रमा की कला दो भागों में बट जाती है ।

हा, देवकी चली गयी । तो मैं भी नगर के द्वार का आश्रय लेता हूँ अरे यह—

मैं पहले के पुत्रों के नाश से क्रुद्ध और राजा के भय से व्याकुल इस बालक को लेकर यहां से शीघ्र ही भुजाओं से मन्दराचल को उठाए हुए रास्ते में जा रहा हूँ ॥

(घूमकर) यह नगर का दरवाजा है । तो इसमें प्रवेश करूं ।

(प्रवेश करके) अरे मथुरा के सब लोग सो गये । तो भागता हूँ । (भागकर) मैं मथुरा से निकल आया हूँ । अरे ! बहुत गाढ़ा अन्धकार है । इस समय—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ १५ ॥

अहो तमसः प्रभुत्वम् ।

अप्रकाशा इव दिशो घनीभूता इव द्रुमाः ।
सुनिविष्टस्य लोकस्य कृतो रूपविपर्ययः ॥ १६ ॥

नाहं गन्तुं समर्थः । अये दीपिकालोकः । किन्नु खलु दुरात्मा कंसो ममापक्रमणं ज्ञात्वा दीपिकाभिः परिवृतो मां ग्रहीतुमागतो भवेत् । भवत्वहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि (खड्गमुत्कोशयति । निवृत्यावलोक्य) अये न कश्चिद् दृश्यते । आ,

---

वसुदेवः नक्तं तमो वर्णयति लिम्पतीवेत्यादिना । तमः=गाढान्धकारः अंगानि= मम शरीराणि लिम्पति = आच्छादयति इव नभः = आकाशम् अञ्जनं = कज्जलं वर्षति = वृष्टिं करोति इव, दृष्टिः=प्रेक्षणमसामर्थ्यम् असत्पुरुषसेवा–असतां=दुष्टानां पुरुषाणां–जनानां सेवा=शुश्रूषा इव निष्फलतां-निर्गतं फलं यस्मात् तस्य भावस्तत्ता ताम्=फलरहिततां गता = प्राप्ता ॥ १५ ॥

दिशः=आशाः अप्रकाशाः इव=प्रकाशरहिताः इव द्रुमाः = वृक्षाः घनीभूता इव=निविडीभूता इव दृश्यन्ते इति शेषः । सुनिविष्टस्य–सुतरां निविष्टस्य = स्थितस्य लोकस्य = भुवनस्य रूपविपर्ययः रूपस्य विपर्ययः=स्वरूपविपर्यासः अनेन तमसा कृतः = विहितः । घनान्धकारेण अन्यथैव प्रतिभाति ॥ १६ ॥

अन्धकार मेरे अङ्गों को पोत रहा है, मानो आकाश से अंजन बरसता है । और दुराचारी पुरुष की सेवा की भांति मेरी दृष्टि निष्फल हो गयी है ॥ १५ ॥

अन्धकार का कितना प्रभाव है ।

दिशायें प्रकाशविहीन सी, वृक्ष सम्पुञ्जित से दीखते हैं । सुन्दर बसे हुए संसार का इसने रूप ही बदल दिया है ॥ १६ ॥

मैं जाने में असमर्थ हूँ । अरे ! दीपक का प्रकाश ! क्या पापी कंस मुझको भगा हुआ जानकर दीपकों (दीपक-वाहकों) से घेर कर पकड़ने आया है । अच्छा, मैं इसका गर्व चूर करूंगा (तलवार खींचता है । घूमकर और देखकर) अरे, कोई नहीं दिखायी देता । ओ,

तमसा संवृते लोके मम मार्गमपश्यतः ।
अपक्रमणहेतोस्तु कुमारेण प्रभा कृता ॥ १७ ॥

एष मार्गः । यावदपक्रामामि । अये इयं भगवती यमुना कालवर्षसम्पूर्णा स्थिता । अहो व्यर्थो मे परिश्रमः । किमिदानीं करिष्ये । भवतु, दृष्टम् ।

इमां नदीं ग्राहभुजङ्गसङ्कुलां
महोर्मिमालां मनसापि दुस्तराम् ।
भुजप्लवेनाशु गतार्थविक्लवो
वहामि सिद्धिं यदि दैवतं स्थितम् ॥ १८ ॥

आलोकाभावेऽपि कुमारप्रभावेण आलोकः प्राप्त इति वर्णयति वसुदेवः–तमसा संवृत इति । लोके=भुवने तमसा=अन्धकारेण संवृते=आच्छादिते मम=वसुदेवस्य मार्गम् = अध्वानम् । 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः ।' अमरः । अपश्यतः=अनवलोकयतः अपक्रमणस्य=पलायनस्य हेतुः = कारणं 'हेतुर्ना कारणं बीजमि'त्यमरः । तस्य, कुमारेण = शिशुना प्रभा = प्रकाशः–कान्तिः कृता = विहिता ॥ १७ ॥

वसुदेवः बालं नयन् मध्येमार्गं कालिन्दीमुपवर्णयति—इमां नदीमित्यादिना । यदि = चेत् दैवतं = प्रारब्धं स्थितं = शुद्धं तर्हि ग्राहभुजङ्गसंकुलां—ग्राहैः = मकरादिभिः भुजङ्गैः = सर्पादिभिश्च संकुलां = व्याप्तां महोर्मिमालाम् ऊर्मीणां = लहरीणां माला = श्रेणी, महती चासौ ऊर्मिमाला तां = बृहदूर्मिश्रेणीं मनसा = चेतसाऽपि दुस्तरां = तर्तुमशक्याम् इमां = पुरोवर्तिनीं नदीं = सरितं कालिन्दीं

चारो ओर अन्धकार की गहनता के कारण मुझे मार्ग नहीं दिखाई देता अतः (मेरे) भागने के लिए कुमार ने प्रकाश कर दिया ॥ १७ ॥

यह मार्ग है । मैं भागता हूँ । अरे, यह भगवती यमुना इस समय वर्षा से भर गई हैं । आः मेरा परिश्रम व्यर्थ गया । इस समय क्या करना चाहिये ! अच्छा, समझा ।

यदि मेरा भाग्य होगा तो मकर, सर्प आदि से व्याप्त और उत्ताल तरंगों वाली मन से भी दुस्तर इस नदी कालिन्दी को मैं धैर्यपूर्वक अपनी भुजा रूपी नौका से (पार करके) कार्य सिद्ध करूंगा ॥ १८ ॥

(तथा कृत्वा सविस्मयम्) हन्त द्विधा छिन्नं जलम् , इतः स्थितम् , इतः प्रधावति । दत्तो मे भगवत्या मार्गः । यावदपक्रामामि । (अवतीर्य) निष्क्रान्तोऽस्मि यमुनायाः । अये हुङ्कारशब्द इव श्रूयते । व्यक्तं घोषसमीपे वर्तते मन्दभाग्यः । आ, अत्र च समीपघोषे मम वयस्यो नन्दगोपः प्रतिवसति । स खलु मया कंसाज्ञया निगलितो न कशाभिहतश्च । यावत् प्रविशामि । अथवा रात्रौ वसुदेवः प्रविष्ट इति शङ्किता गोपालका भविष्यन्ति । तस्मादिह न्यग्रोधपादपस्याधस्तात् प्रभातवेलां रजन्याः प्रतिपालयामि । भो भो न्यग्रोधदेवताः ! यद्ययं बालो लोकहितार्थं कंसवधार्थं वृष्णिकुले प्रसूतश्चेद्, घोषात् कश्चिदिहागच्छतु । न, न, मम वयस्यो नन्दगोप एवागच्छतु ।

(ततः प्रविशति दारिकां गृहीत्वा नन्दगोपः ।)

नन्दगोपः—(सशोकम्) दालिए ! दालिए ! किं दाणि णो गेहलच्छि

भुजप्लवेन—भुजौ=हस्तौ एव प्लवः तेन=करनौकया गतार्थविक्लवः सन्–गतः =नष्टः अर्थस्य=कार्यस्य विक्लवः=वैक्लव्यम् अधैर्यं यस्य सः एवंभूतस्सन् आशु = शीघ्रं सिद्धिं=कार्यसिद्धिं वहामि=प्राप्नोमि ॥ १८ ॥

(वैसा करके आश्चर्य से) अरे ! यह जल दो भागों में बंट गया, इधर ठहरा है उधर बह रहा है । भगवती (यमुना) ने मुझे मार्ग दिया है तो पार करता हूँ । (पार करके) यमुना से निकल आया । अरे हुंकार सा सुनायी पड़ता है । मैं अभागा गोप-बस्ती के पास ही खड़ा हूँ । हाँ, इस पास की गोप-बस्ती में मेरा मित्र नन्द गोप रहता है । कंस की आज्ञा से मैंने उसे जंजीर में बांधा था कोड़े नहीं लगाये थे । तो जाता हूँ, अथवा रात्रि में वसुदेव घुस आया है ग्वालों में ऐसी शंका हो जायेगी । अतएव इस वट वृक्ष के नीचे ही सबेरा होने तक रहूँगा । हे वट देवता यदि यह बालक लोक के लिए, कंस के वध के लिए वृष्णिकुल में पैदा हुआ हो तो गोप ग्राम से कोई यहाँ चला आवे । नहीं नहीं मेरा मित्र नन्द गोप ही आवे ।

(बच्ची को लेकर नन्द गोप का प्रवेश)

नन्द गोप (शोक से)—पुत्रि ! पुत्रि !! आज तुम हमारी गृहलक्ष्मी में रमण न

ण लमिअ तदो णो उज्झिअ णं गच्छसि । षम्पदि हि महिषषदसम्पादषदिषं अहो बलिअं अन्धआलं ।

दुद्दिणविणट्ठजोह्णा लत्ती वट्टइ णिमीलिआआला ।
पब्पाउदप्पसुत्ता णीलणिवषणा जहा गोवी ॥ १९ ॥

अज्ज हि अड्ढलत्ते अम्हाणं कुडम्बिणीए जषोदाए पषूदा इअं च दाली तवष्षिणी जादमत्ता एव्व ओभगदप्पाणा षंवुत्ता । षुवे अम्हाणां घोषष्ष उइदो इन्दयञ्ञो णाम उष्षुवो भविष्षदि । ता मा खु एदं दुक्खं गोवजणाहि अणुहूअमाणं त्ति मए एक्काइणा णिगलगुलुचलणेण इमं दालिअं गह्णिअ णिग्गदो म्हि । जषोदा वि तवष्षिणी णेव जाणादि दालओ वा दालिआ वा पषूद त्ति मोहं गदा । दालिए! दालिए!। [दारिके ! दारिके ! किमिदानीं नो गेहलक्ष्म्यां न रन्त्वा ततो न उज्झित्वा ननु गच्छसि । संप्रति हि महिषशतसंपातसदृशोऽहो बलवानन्धकारः ।

दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना रात्रिर्वर्तते निमीलिताकारा ।
संप्रावृतप्रसुप्ता नीलनिवसना यथा गोपी ॥ १९ ॥

नन्दः बालिकां बहिर्नयन् अन्धकारं विशिनष्टि—दुर्दिनेत्यादिना । एषा = पुरोवर्तिनी रात्रिः = क्षपा दु० दुर्दिनेन=मेघच्छन्नेन दिनेन 'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' । अमरः ॥ विनष्टा=विलुप्ता ज्योत्स्ना=चन्द्रिका 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' अमरः ॥ यस्यां सा निमीलिताकारा—निमीलितः=प्रच्छन्नः आकारः=

करके, हम लोगों को छोड़कर जा रही हो । इस समय तो सैकड़ों भैंसों के समूह की भांति भयंकर अन्धकार है ।

मेघ से आच्छन्न होने के कारण चन्द्रप्रकाश से हीन ज्योत्स्ना सब आकारों को छिपाने वाली यह रात्रि, नीले वस्त्र से अङ्गों को ढँके हुए किसी सोती हुई गोपी की भांति मालूम पड़ती है ॥ १९ ॥

आज रात्रि में मेरी गृहिणी यशोदा की यह बेचारी पुत्री पैदा होते ही मर गई । कल हमारे गोपग्राम के उचित इन्द्रयज्ञ नामक उत्सव होगा । अतएव मैं इसे लेकर (दुख से) बोझिल चरणों से एकाकी निकल आया हूँ जिससे इतर गोपगणों के द्वारा इसका दुःख न अनुभव किया जाए । बेचारी यशोदा भी मूर्च्छा के कारण यह नहीं जानती कि पुत्र उत्पन्न हुआ है अथवा पुत्री । (हा) पुत्री-पुत्री ।

अथ ह्यर्धरात्रेऽस्माकं कुटुम्बिन्या यशोदया प्रसूतेयं च दारी तपस्विनी जातमात्रैवापगतप्राणा संवृत्ता। श्वोऽस्माकं घोषस्योचित इन्द्रयज्ञो नामोत्सवो भविष्यति। तद् मा खल्वेतद् दुःखं गोपजनैरनुभूयमानमिति मयैकाकिना निगलगुरुचरणेनेमां दारिकां गृहीत्वा निर्गतोऽस्मि। यशोदापि तपस्विनी नैव जानाति दारको वा दारिका वा प्रसूत इति मोहं गता। दारिके! दारिके!।]

वसुदेवः—को नु खल्वयं रात्रौ परिदेवयति। अस्मत्सब्रह्मचारी खल्वयं तपस्वी।

नन्दगोपः—किं दाणिं णो गेहलच्छि ण लमिअ तदो णो उज्झिअ णं गच्छषि। [किमिदानीं नो गेहलक्ष्म्यां न रन्त्वा ततो न उज्झित्वा ननु गच्छसि।]

वसुदेवः—स्वरेण प्रत्यभिजानामि। मम वयस्येन नन्दगोपेन भवितव्यम्। यावच्छब्दापयामि। वयस्य! नन्दगोप! इतस्तावत्।

नन्दगोपः—(सभयम्) अविहा को दाणिं मं पुरपुलुवेण विअ षलयोगेण णन्दगोव! णन्दगोव! त्ति मं षद्दावेदि। किण्णु लक्खशा वा, आदु पिषाषो वा। ईदिषीए पदिभअलप्पणीए मदलिआ दालिआ मम

स्वरूपं यस्याः सा = प्रच्छन्नस्वरूपा वर्त्तते यथा काचिद्गोपी नीलनिवसना—नीलं = कृष्णं निवसनं = वस्त्रं यस्याः सा संप्रा०—संप्रावृता = सम्यक् प्रकारेणाच्छादिता चासौ प्रसुप्ता च = कृतशयना च वर्तते तथा इयं रात्रिः वर्तते इति शेषः। अत्रोपमाऽलङ्कारः॥ १९॥

वसुदेव—इस रात्रि में कौन रो रहा है? अवश्य ही यह हमारे समान बेचारा दुःखी है?

नन्दगोप—इस समय हमारी गृहलक्ष्मी में रमण न करके हमें छोड़कर चली जा रही हो।

वसुदेव—स्वर से पहचानता हूँ। यह मेरा मित्र नन्दगोप होना चाहिये। (अच्छा) तो पुकारता हूँ। मित्र नन्दगोप, इधर आओ।

नन्दगोप—(डरकर) कौन इस समय मुझको पहले सुने हुए स्वर वाले के समान नन्दगोप-नन्दगोप ऐसा मुझे पुकारता है? क्या कोई राक्षस अथवा पिशाच है इस

हत्थे। किं णु हु कलिष्षं। [अविहा क इदानीं मां श्रुतपूर्वेणेव स्वरयोगेन नन्दगोप ! नन्दगोप ! इति मां शब्दयति । किं नु राक्षसो वा, उत पिशाचो वा। ईदृश्यां प्रतिभयरजन्यां मृता दारिका मम हस्ते। किं नु खलु करिष्यामि।]

वसुदेवः—वयस्य नन्दगोप ! अलमन्यशङ्कया। इतस्तावत्।

नन्दगोपः—(कर्णं दत्वा। सावधानम्) अम्मो, षलयोगेण भट्टा वषुदेव त्ति जाणामि। जाव उवषप्पिष्षं। अहब तहि मम किं कय्यं। एदिणा कंषष्ष लञ्ञो वअणं षुणिअ अवलद्धो कषाहि तालिअ णिअलेहि बद्धो म्हि। ता ण गमिष्षं। अहव धिक्खु मे णिषंषभावं। मम गुणषहष्षं किदं, दुक्खे दुक्खइ, षुहे षहिणो होदि, तहवि षुमलामि लाअषाषणेण किदं एक्कबन्धणं। जाव उवषप्पिष्षं। इयं दाली। किं कलिष्षं। होदु एवं दाव कलिष्षं। (उपसृत्यावलोक्य च। सविस्मयम्) पभादा लअणी। एषो भट्टा वषुदेवो दालअं गह्णिअ ट्ठिदो। (उपसृत्य) जेदु भट्टा जेदु। [अम्मो, स्वरयोगेन भर्ता वसुदेव इति जानामि। यावदुपसर्प्स्यामि। अथवा तत्र मम किं कार्यम्। एतेन कंसस्य राज्ञो वचनं श्रुत्वाऽपराद्धः कशाभिस्ताडयित्वा निगलैर्बद्धोऽस्मि। तन्न गमिष्यामि। अथवा धिक् खलु मे नृशंसभावम्। मम गुणसहस्रं कृतं, दुःखे दुःखयति, सुखे सुखी भवति, तथापि स्मरामि राजशासनेन कृतमेकबन्धनम्। यावदुपसर्प्स्यामि। इयं दारी। किं करिष्यामि भवत्वेवं तावत् करिष्यामि। प्रभाता रजनी। एष भर्ता वसुदेवो दारकं गृहीत्वा स्थितः। जयतु भर्ता जयतु।]

वसुदेवः—वयस्य नन्दगोप ! अपि भगवतीभ्यो गोभ्यः कुशलम्।

प्रकार की भयंकर रात्रि में यह मरी हुई लड़की मेरे हाथ में है। (अब मैं) क्या करूंगा।

वसुदेव—मित्र नन्दगोप दूसरी शंका न करो। इधर आओ।

नन्दगोप—(कान देकर, सावधानी से) अये, आवाज से तो मैं इन्हें अपना स्वामी वसुदेव मानता हूँ। तो जाऊँ अथवा वहाँ मेरा क्या काम ? राजा कंस की आज्ञा से इसने मुझे अपराधी बनाकर कोड़े लगाये और जञ्जीर में बाँधा था। तो नहीं जाऊंगा यह बेटी, क्या करूं ? अच्छा तो ऐसा ही करूंगा। सवेरा हो गया है। यह स्वामी वसुदेव पुत्र को लेकर खड़े हैं। जय हो स्वामी, जय हो।

वसुदेव—मित्र नन्द गोप, भगवती गौएँ कुशल से तो हैं ?

नन्दगोपः—आम भट्टा । कुषलं । [आम् भर्तः ! कुशलम् ।]

वसुदेवः—अथ भवतः परिजनस्य कुशलम् ।

नन्दगोपः—परिजणमिति आम भट्टा । कुषलं । [परिजनमिति । आम् भर्तः ! कुशलम् ।]

वसुदेवः—वयस्य ! किमिदानीं प्रच्छाद्यते ।

नन्दगोपः—भट्टा ! णत्थि किञ्चि [भर्तः ! नास्ति किंचित् ।]

वसुदेवः—मम खलु प्राणैः शापितः स्याद्, यदि सत्यं न ब्रूयात् ।

नन्दगोपः—का गई । षुणादु भट्टा । अज्ज अड्ढलत्ते अम्हाणं कुडुम्बिणीए, ण हि ण हि, तुम्हाणं दाषीए जषोदाए पषूदा इअं च दाली तवष्षिणी जादमत्ता एव्व ओग्गदप्पाणा षंवुत्ता । षुवे अम्हाणं घोषष्ष उइदो इन्दयञ्ञो णाम उष्षवो भविष्षदि । ता मा खु एदं दुक्खं गोवजणेहि अणुहूअमाणं त्ति मए एक्काइणा णिगलगुलुचलणेण इमं दालिअं गह्णिअ णिग्गदो म्हि । जषोदा वि तवष्षिणी णेव जाणादि दालओ दालिआ वा पषूद त्ति मोहं गदा । [का गतिः । शृणोतु भर्ता । अद्यार्धरात्रेऽस्माकं कुटुम्बिन्या, न हि न हि, युष्माकं दास्या यशोदया प्रसूतेयं च दारी तपस्विनी जातमात्रैवापगतप्राणा संवृत्ता । श्वोऽस्माकं घोषस्योचित इन्द्रयज्ञो नामोत्सवो भविष्यति । तद् मा खल्वेतद् दुःखं गोपजनैरनुभूयमानमिति मयैकाकिना

नन्दगोप—हां स्वामिन् कुशल है ।

वसुदेव—आपका परिवार तो कुशल से है ?

नन्दगोप—परिवार ? हाँ स्वामिन् कुशल है ?

वसुदेव—मित्र इस समय क्या छिपा रहे हो ?

नन्दगोप—स्वामिन् कुछ नहीं है ।

वसुदेव—मेरे प्राणों की शपथ है यदि तुम सत्य नहीं बोलोगे ।

नन्दगोप—क्या उपाय है ? स्वामी सुनें । आधी रात में हमारी गृहणी, नहीं, नहीं आपकी दासी यशोदा से उत्पन्न हुई यह बेचारी पुत्री उत्पन्न होते ही मर गई । कल हमारी बस्ती के उचित इन्द्रयज्ञ नामक महोत्सव होगा तो अन्य गोप जनों के द्वारा यह दुःख न अनुभव किया जाय इसलिये इस पुत्री को लेकर बोझिल पैरों से मैं (बाहर) निकल आया हूँ । बेचारी यशोदा भी मूर्च्छा के कारण पुत्र उत्पन्न हुआ है या पुत्री यह नहीं जानती ।

निगलगुरुचरणेनेमां दारिकां गृहीत्वा निर्गतोऽस्मि । यशोदापि तपस्विनी नैव जानाति दारको दारिका वा प्रसूत इति मोहं गता ।]

वसुदेवः—हन्त भोः ! न शक्यं लोकस्याधिष्ठानभूतं कृतान्तं वञ्चयितुम् । वयस्य ! काष्ठभूतं कलेवरं त्यज्यताम् ।

नन्दगोपः—ण षक्कुणोमि । भट्टा ! ण षक्कुणोमि । [न शक्नोमि भर्तः ! न शक्नोमि ।]

वसुदेवः—ईदृशो लोकधर्मः । त्यज्यताम् ।

नन्दगोपः—जं भट्टा आणवेदि । दालिए ! दालिए ! (इति रोदिति ।) [यद् भर्ताज्ञापयति । दारिके ! दारिके ! ।]

वसुदेवः—वयस्य ! अलमलं रुदितेन । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।

नन्दगोपः—(तथा कृत्वोपगम्य) जेदु भट्टा । इमिणा दाषजणेण किं कत्तव्वं । [जयतु भर्ता । अनेन दासजनेन किं कर्तव्यम् ।]

वसुदेवः—वयस्य ! ननु त्वमपि जानासि दुरात्मना कंसेन मम षट् पुत्रा निधनमुपानीता इति ।

नन्दगोपः—जाणामि भट्टा ! जाणामि । [जानामि भर्तः ! जानामि ।]

वसुदेवः—तत् सप्तमोऽयं दीर्घायुः । नास्ति मम पुत्रेषु भाग्यम् । तव भाग्याज्जीवितुं गृह्यताम् ।

वसुदेव—हाय ! सब भुवनों के स्वामी काल (यमराज) को ठग नहीं सकते । मित्र, इस काठ के समान मृत शरीर को छोड़ दो ।

नन्दगोप—नहीं हो सकता स्वामी नहीं हो सकता ।

वसुदेव—संसार की ऐसी ही रीति है । छोड़ दो ।

नन्दगोप—जैसी श्रीमान् की आज्ञा । बेटी-बेटी । (विलाप करता है ।)

वसुदेव—मित्र मत रोओ । उठो, उठो ।

नन्दगोप—(वैसा करके पास जाकर) जै हो स्वामी ! इस दास को क्या करना चाहिये ?

वसुदेव—मित्र तुम्हीं जानते हो कि पापी कंस के द्वारा मेरे छः पुत्र मार डाले गए ।

नन्दगोप—जानता हूँ, स्वामी, जानता हूँ ।

वसुदेव—तो यह आयुष्मान् सातवाँ (पुत्र) है । मेरे भाग्य में पुत्र नहीं है । यह तुम्हारे भाग्य से जीवित रहे अतः लो ।

नन्दगोपः—भाआमि भट्टा ! भाआमि । जदि कंषो लाआ षुणादि-वषुदेवष्प दालओ णन्दगोवष्ष हत्थे णाषो णिक्खित्तो त्ति, किं बहुणा, गदं एव्व मे षीषं। [बिभेमि भर्तः ! बिभेमि । यदि कंसो राजा शृणोति-वसुदेवस्य दारको नन्दगोपस्य हस्ते न्यासो निक्षिप्त इति, किं बहुना, गतमेव मे शीर्षम् ।]

वसुदेवः—(आत्मगतम्) हन्त विपन्नं कार्यम् । उत्तज्ञाः खलु नृशंसाः । तदेवं कथयामि । (प्रकाशम्) वयस्य नन्दगोप !

यद्यस्मि भवतः किञ्चिन्मया पूर्वकृतं भवेत् ।
तस्य प्रत्युपकारस्य कालस्ते समुपागतः ॥ २० ॥

नन्दगोपः—किं किं पच्चुवकालं त्ति । जदि कंषो वा होदु, कंषष्ष पिदा उग्गषेणो वा होदु । आणेदु भट्टा दालअं । [किं किं प्रत्युपकार इति । यदि कंसो वा भवतु, कंसस्य पितोग्रसेनो वा भवतु । आनयतु भर्ता दारकम् ।]

वसुदेवः नन्दगोपं पूर्वमुपकृतं स्मारयति-यद्यस्मीति । यदि=चेत् भवतः = नन्दगोपस्य मया = वसुदेवेन किञ्चित् = ईषदपि पूर्वकृतं=पूर्वोपकारः । भवेत् = स्यात् तर्हि तस्य = पूर्वकृतस्य इदानीं प्रत्युपकारस्य ते = तव नन्दगोपस्य कालः = समयः समुपागतः = प्राप्तः । एष एव तव प्रत्युपकारसमयः प्रति-भातीति भावः ॥ २० ॥

नन्दगोप—डरता हूँ स्वामी, डरता हूँ । यदि राजा कंस ने सुना कि वसुदेव का लड़का नन्दगोप के हाथ में धरोहर (की भाँति) रखा है तो अधिक क्या कहूँ, मेरा सिर ही चला जायगा ।

वसुदेव (मन में)—हाय कार्य बिगड़ गया । पापीजन अनिष्ट को समझ जाया करते हैं । तो ऐसा कहता हूँ (प्रकट) मित्र नन्दगोप ! ।

यदि मैंने पहले कभी तुम्हारे साथ कोई उपकार किया हो तो यह उसके प्रत्युपकार का समय आ गया है ॥ २० ॥

नन्दगोप—क्या, क्या ? प्रत्युपकार ? यदि कंस हो चाहे, उसका पिता उग्रसेन हो स्वामी पुत्र को लाइए ।

वसुदेवः—वयस्य। गृह्यताम्।

नन्दगोपः—भट्टा! अचोक्खिदम्हि, मदलिआ दालिआ गहीदा। मुहुत्तअं पडिवालेदु भट्टा। जाव जमुणाहलं गच्छिअ चोक्खं कलेमि। [भर्तः! अशौचितोऽस्मि, मृता दारिका गृहीता। मुहूर्तकं प्रतिपालयतु भर्ता, यावद् यमुनाजलं गत्वा शौचं करोमि।]

वसुदेवः—वयस्य। घोषवासात् प्रकृत्या शुचिरेव भवान्।

नन्दगोपः—तेण हि अम्हाणं घोषस्स उइदं पङ्खुणा चोक्खं कलेमि। [तेन ह्यस्माकं घोषस्योचितं पांसुना शौचं करोमि।]

वसुदेवः—कोऽत्र दोषः। क्रियतां शौचम्।

नन्दगोपः—जं भट्टा आणवेदि। (तथा कुर्वन् सविस्मयम्) अच्छलीअं अच्छलीअं भट्टा! अच्छलीअं। पङ्खूणि मग्गमाणस्स धलणीं भिन्दिअ जुगप्पमाणा षलिलधाला उट्ठिदा। [यद् भर्ताज्ञापयति। आश्चर्यमाश्चर्यं भर्तः! आश्चर्यम्। पांसून् मार्गयतो धरणीं भित्वा युगप्रमाणा सलिलधारोत्थिता।]

वसुदेवः—बालस्यैव प्रभावः। क्रियतां शौचम्।

नन्दगोपः—भट्टा! तह। (तथा कृत्वोपसृत्य) भट्टा! अअम्हि। [भर्तः! तथा। भर्तः! अयमस्मि।]

वसुदेव—मित्र लो इसे।

नन्दगोप—थोड़ी देर रुकिए स्वामिन् तब तक मैं जमुना जल में जाकर स्नान कर लूँ।

वसुदेव—मित्र आभीर ग्राम में रहने से तो आप स्वयं ही पवित्र हैं।

नन्दगोप—तो मैं अपनी बस्ती के योग्य मिट्टी से ही अपने को पवित्र कर लूँ।

वसुदेव—इसमें क्या दोष? पवित्र हो जाइए।

नन्दगोप—जैसी आपकी आज्ञा। (वैसा करके, विस्मय के साथ) आश्चर्य है स्वामी आश्चर्य है। धूल खोजते ही पृथ्वी को फोड़ कर पानी की युग (जुवा) के समान मोटी धारा निकली।

वसुदेव—यह बालक का ही प्रभाव है। पवित्र हो लो।

नन्दगोप—अच्छा स्वामी। (वैसा करके, निकट जाकर) स्वामिन्! यह मैं हूँ।

वसुदेवः—गृह्यताम् ।

नन्दगोपः—भट्टा ! अदिदुब्बला मे बाहा मन्दलषदिषं बालअं गह्णिदुं ण षमत्था । [भर्तः ! अतिदुर्बलौ मे बाहू मन्दरसदृशं बालकं ग्रहीतुं न समर्थौ ।]

वसुदेवः—वयस्य ! महाबलपराक्रमः खलु भवान् ।

नन्दगोपः--षुणादु भट्टा मम बलपलक्कमं । षन्दालिअमाणे वषभे षिङ्गं गह्णिअ मोचेमि । पङ्कुणिमग्गाणि भण्डषअडआणि आघट्टआमि । ईदिषो दाणि अहं दालअं गह्णिउं ण षमत्थो म्हि । [शृणोतु भर्ता मम बलपराक्रमं । सन्दारयमाणे वृषभे शृङ्गं गृहीत्वा मोचयामि । पङ्कनिमग्नान् भाण्डशकटकान् आघट्टयामि । ईदृश इदानीमहं दारकं ग्रहीतुं न समर्थोऽस्मि ।]

(ततः प्रविशन्ति पञ्चायुधानि गरुडश्च)

गरुडः--

अहं सुपर्णो गरुडो महाजवः शार्ङ्गायुधस्यास्य रथो ध्वजश्च ।

युगप्रमाणा—युगो नाम यानाङ्गकाष्ठविशेषः तस्य प्रमाणमिव प्रमाणं यस्याः सा युगवत् स्थूला जलधारेत्यर्थः ।

इदानीं प्राप्तः गरुत्मान् पुरातनं स्वकीयं वृत्तं सूचयति--अहमित्यादिना । अहं= गरुडनामा सुपर्णः = सुष्ठु = शोभनं पर्णं = पक्षो यस्य सः महाजवः—महान्=बृहद् जवो = वेगो यस्य सः शार्ङ्गायुधस्य-शार्ङ्गम्=शृंगस्य विकारः । आयुधम् = शस्त्रं

वसुदेव—ले लो ।

नन्दगोप—स्वामिन् ! मेरे अत्यन्त दुबले हाथ मन्दराचल के समान इस बालक को लेने में असमर्थ हैं ।

वसुदेव—मित्र ! आप तो बड़े बलवान हैं ।

नन्दगोप—स्वामी, आप मेरे बल की बात सुनें । यदि कोई बैल पृथ्वी को खोद रहा हो तो उसे सींग पकड़कर छुड़ा सकता हूँ । बर्तनों से लदी बैलगाड़ी को कीचड़ में धँसने पर निकाल सकता हूँ किन्तु इस प्रकार के बालक को लेने में मैं असमर्थ हूँ ।

(पाँचों शस्त्र और गरुड़ का प्रवेश)

गरुड़—

मैं सुन्दर पंखों वाला, अत्यन्त वेगगामी, (भगवान) शार्ङ्गपाणि का रथ

पुरा हि देवासुरविग्रहेषु वहामि भो विष्णुबलेन विष्णुम् ॥ २१ ॥

चक्रः—

चक्रोऽस्मि कृष्णस्य कराग्रशोभी मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजाः ।
त्रिविक्रमे चामृतमन्थने च मया हता दानवदैत्यसङ्घाः ॥ २२ ॥

शार्ङ्गः—

शार्ङ्गोऽस्मि विष्णुकरलग्नसुवृत्तमध्या

यस्य तस्य अस्य = बालस्य रथः = स्यन्दनः ध्वजः=केतुश्चाऽस्मि पुरा = प्राक्काले देवासुरविग्रहेषु = देवानामसुराणाञ्च विग्रहाः तेषु = सुरासुरकलहेषु भोः = अंग ! विष्णुबलेन=भगवच्छक्त्या विष्णुं=भगवन्तं नारायणं वहामि=वहनमकार्षम् ॥ २१ ॥

इदानीं चक्राभिमानी स्वीयं प्राक्कालिकं वृत्तं प्रदर्शयति-चक्रोऽस्मीत्यादिना । अहं = चक्रः कृष्णस्य वासुदेवस्य कराग्रशोभी-करस्य अग्रं तस्मिन् शोभते = हस्ताग्रोपरि शोभादायकः मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजाः-मध्याह्ने=वासरमध्ये यः सूर्यः तस्य प्रतिमं = सदृशं उग्रं = तीक्ष्णं तेजः=प्रतापो यस्य सः अस्मि त्रिविक्रमे—त्रयः= त्रिसंख्याकाः विक्रमाः = विशिष्टपादविक्षेपाः यस्य तस्मिन् वामनावतारे च = पुनः अमृतमन्थने = अमृतस्य = पीयूषस्य मन्थनम्=आलोडनं तस्मिन् दानवदैत्यसङ्घाः- दानवानां = दनुपुत्राणां दैत्यानां = दितिपुत्राणाञ्च संघाः = समूहाः मया = चक्रेण हताः = विनाशिताः ॥ २२ ॥

क्रमागतं शार्ङ्गं धनुरपि तदभिमानि-देवस्वरूपेण स्वीयं पुरातनं वृत्तं प्रदर्शयति- शार्ङ्गोऽस्मीत्यादिना । (अहं) शार्ङ्गः = शृंगविकारः धनुरस्मि विष्णुकरलग्नसुवृत्त-

---

और ध्वजा भी हूँ। पहले देवासुर संग्राम में मैंने भगवान विष्णु को उनकी ही कृपा से धारण किया है ॥ २१ ॥

चक्र—

मैं कृष्ण की उँगलियों पर शोभित होने वाला, दोपहर के सूर्य की भांति तीक्ष्ण तेज वाला चक्र हूँ। मैंने त्रिविक्रम (वामनावतार) के समय और अमृत-मन्थन के समय अनेक दानवों के समूह को मारा है ॥ २२ ॥

शार्ङ्ग—

विष्णु के करस्पर्श से सुन्दर मध्यभाग वाला, स्त्री स्वरूप होने पर भी पुरुष के

स्त्रीविग्रहात् पुरुषवीर्यबलातिदर्पा ।
यस्यार्थमाहवमुखेषु मयारिसङ्घाः
प्रभ्रष्टनागरथवाजिनराः प्रभग्नाः ॥ २३ ॥

कौमोदकी—

कौमोदकी नाम हरेर्गदाहमाज्ञावशात् सर्वरिपून् प्रमथ्य ।
मया हतानां युधि दानवानां प्रक्रीडितं शोणितनिम्नगासु ॥ २४ ॥

मध्या–विष्णोः करे लग्नं सुवृत्तं मध्यं यस्याः सा = हरिहस्तस्पर्शशोभनमध्यभागा-स्त्रीविग्रहात=स्त्रियाः विग्रहस्तस्मात्=अङ्गनाशरीरात् पुरुषवीर्यबलातिदर्पा–पुरुषस्य वीर्यबलयोः दर्पमतिक्रान्ता = पुंशक्तिपराक्रमातिगर्वा यस्य=विष्णोः अर्थं=कार्यसाधनं प्रयोजनम् यत्कृते इत्यर्थः आहवमुखेषु = युद्धभूमिषु प्रभ्रष्टनागरथवाजिनराः–प्रभ्रष्टाः नागाः रथाः वाजिनः नराश्च येषां ते = विनष्टहस्तिस्यन्दनतुरगमनुष्याः अरिसंघाः = शत्रुसमूहाः मया = शार्ङ्गेण (शार्ङ्गेण = धनुषा) प्रभग्नाः = पराजिताः ॥ २३ ॥

इदानीं कौमोदकी नाम्नी गदा स्वीयं परिचयं ददाति–कौमोदकीत्यादिना ।

अहं = कौमोदकी (अत्र) = कौमोदकी नाम = एतदभिधया प्रसिद्धा हरेः = विष्णोः गदा = आयुधविशेषोऽस्मि (भगवतः) आज्ञावशात = आदेशात् सर्व-रिपून्—सर्वे च ते रिपवस्तान् = अशेषारीन् प्रमथ्य = पराजित्य युधि = आहवे हतानां = निधनं गतानां दानवानां = दैत्यानां शोणितनिम्नगासु = शोणितानां निम्नगाः तासु = रुधिरसरित्सु मया = कौमोदकया प्रक्रीडितम्=क्रीडा कृता ॥२४॥

बल और पराक्रम के गर्व को चूर्ण करने वाला मैं शार्ङ्ग हूँ । विष्णु की कार्यसिद्धि के लिए युद्धभूमि में मैंने शत्रुसमूह के हाथी, रथ, घोड़े और (पैदल) मनुष्यों को नष्ट करके (उन्हें) पराजित किया है ॥ २३ ॥

कौमोदकी—

मैं कौमोदकी नामक विष्णु की गदा हूँ । (विष्णु की) आज्ञा से मैंने शत्रुओं का मन्थन करके और युद्धक्षेत्र में अपने द्वारा मारे गए दानवों के रुधिर की नदियों में क्रीडा की है ॥ २४ ॥

शङ्खः—

अहं हि शङ्खः क्षीरोदाद् विष्णुना स्वयमुद्धृतः।
मम शब्देन नश्यन्ति युद्धे ते देवशत्रवः॥ २५॥

नन्दकः—

नन्दकोऽहं न मे कश्चित् सङ्ग्रामेष्वपराङ्मुखः।
गच्छामि स्मृतमात्रेण विष्णुना प्रभविष्णुना॥ २६॥

चक्रः—

चक्रशार्ङ्गगदाशङ्खनन्दका दैत्यमर्दनाः।

सम्प्रति भगवतः पार्श्ववर्ती शङ्खः स्वपराक्रमं प्रदर्शयति—अहमित्यादिना—

अहं हि = शङ्खः = शङ्खनामायुधम् विष्णुकरे वसामि। क्षीरोदात् = दुग्धसागरात विष्णुना = हरिणा स्वयम् = आत्मना उद्धृतः = निष्कासितः युद्धे = आहवे ते = प्रसिद्धाः शत्रवः देवशत्रवः = पुरद्वेषिणः मम = शङ्खस्य शब्देन = रवेण नश्यन्ति = परासवो भवन्ति॥ २५॥

अधुना भगवत्पार्श्ववर्ती खड्गः नन्दकनामा स्वपरिचयं-ददाति-नन्दकोऽहमिति।

अहं = नन्दकनामा खड्गोऽस्मि संग्रामेषु = युद्धेषु कश्चित् = कोपि योद्धा मे = मम अपराङ्मुखः = पुरःस्थितः न = न भवितुमर्हति। प्रभविष्णुना = महाबलवता विष्णुना = हरिणा स्मृतमात्रेण = स्मरणादेव गच्छामि = तमुपसर्पामि॥ २६॥

आयुधानि स्वागमनकारणं प्रदर्शयन्ति—चक्रेत्यादिना।

दैत्यमर्दनाः = दानवविनाशकाः चक्रशार्ङ्गगदाशङ्खनन्दकाः—तत्तदभिधाः

शङ्ख—

मैं क्षीरसागर से स्वयं विष्णु के द्वारा निकाला गया शंख हूँ। मेरे घोष मात्र से युद्ध में देवताओं के शत्रु नष्ट हो जाते हैं॥ २५॥

नन्दक—

मैं नन्दक नामक कृपाण हूँ युद्ध में मेरे सामने कोई परांमुख न होने वाला नहीं हैं। अर्थात् सब भाग जाते हैं। भगवान विष्णु के स्मरण करने मात्र से मैं उनके पास पहुँच जाता हूँ॥ २६॥

चक्र—

चक्र, शार्ङ्ग, गदा, शंख और नन्दक नामक विष्णु के सभासद हम सब उनकी

वासुदेवस्य कार्यार्थं प्राप्ताः परिषदा वयम् ॥ २७ ॥

तस्मादागम्यताम् । वयमपि मनुष्यलोकमवतीर्णस्य भगवतो विष्णोर्बालचरितमनुचरितुं गोपालकवेषप्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः ।

सर्वे—तथास्तु । (विष्णुमुपस्थिताः)

वसुदेवः—वयस्य ! बाल एव नमस्यताम् ।

नन्दगोपः—भट्टा ! तह ! लाअदालअ ! णमो दे णमो दे । ही, होदु, अत्ताणं एव अत्ताणं णिव्वाहेहि । अम्हाणं गोपजणस्स तुमं गह्णिदुं को बलपलक्कमो । [भर्तः ! तथा । राजदारक ! नमस्ते नमस्ते । ही, भवतु, आत्मनैवात्मानं निर्वाहय । अस्माकं गोपजनस्य त्वां ग्रहीतुं को बलपराक्रमः]

चक्रः—नमो भगवते नारायणाय । भगवन् ! महाविष्णो !

कार्याण्यकार्याण्यमरासुराणां
त्वया भविष्यन्ति बहूनि लोके ।

वयं=चक्रादयः पारिषदाः=पार्श्ववर्त्तिनः वासुदेवस्य–वसुदेवस्यापत्यं तस्य=श्रीकृष्णस्य कार्यार्थं=तत्कार्यसाधनार्थं प्राप्ताः=समुपस्थिताः ॥ २७ ॥

चक्रः भगवन्तं नारायणं स्तौति—कार्याणीत्यादिना । (हे) यदुवंशकेतो—यदुवंशस्य केतुः तत्सम्बुद्धौ = यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण लोके=भुवने 'लोकस्तु भुवने जने' । अमरः । अमरासुराणां—अमराश्चासुराश्च तेषां=देवदानवानां बहूनि=

कार्य सिद्धि के लिए पहुँच गए हैं ॥ २७ ॥

तो हम सब चलें, नरलोक में अवतीर्ण हुए भगवान विष्णु के बालचरित का रसास्वादन करने के लिए ग्वालों के वेष में छिपकर हम सब आभीर ग्राम में अवतीर्ण हों।

सब—ऐसा ही हो । (विष्णु के समीप जाते हैं ।)

वसुदेव—मित्र ! बालक को नमस्कार करो ।

नन्दगोप—स्वामिन् ! ऐसा, राजकुमार ! नमस्कार नमस्कार । अच्छा, आप स्वयं ही अपना निर्वाह करें । हम ग्वालों में तुम्हें ग्रहण करने की बल-पराक्रम कहाँ है ?

चक्र—भगवान नारायण को नमस्कार । भगवन् ! महाविष्णु !! संसार में आपके द्वारा अनेकों बार देवों की रक्षा और दानवों का विनाश होगा अतएव हे

तस्माज्जनस्यास्य लघुत्वयोगात्
कुरु प्रसादं यदुवंशकेतो ! ॥ २८ ॥

वसुदेवः—गृह्यताम् ।

नन्दगोपः—जं भट्टा आणवेदि । (गृह्णाति) [यद् भर्ताज्ञापयति ।]

वसुदेवः—वयस्य ! प्रभाता रजनी । प्रतिनिवर्ततां भवान् ।

नन्दगोपः—अच्छलीअं अच्छलीअं भट्टा ! अच्छलीअं इमे बन्धणो पडिदे । [आश्चर्यमाश्चर्यं भर्तः ! आश्चर्यम् । इमे बन्धने पतिते ।]

वसुदेवः—सर्वमेतत् कुमारस्य प्रभावः । प्रतिनिवर्ततां भवान् ।

नन्दगोपः—जं भट्टा आणवेदि । [यद् भर्ताज्ञापयति ।]

वसुदेवः—अथवा एहि तावत् ।

नन्दगोपः—भट्टा ! अअम्हि । [भर्तः ! अयमस्मि ।]

वसुदेवः—

जाने नित्यं वत्सलं त्वां प्रकृत्या

बहुतराणि कार्याण्यकार्याण्यमरासुराणां = देवानां रक्षारूपाणि दानवानाञ्च विनाशरूपाणि कर्माणि त्वया वासुदेवेन भविष्यन्ति = वर्तिष्यन्ते । तस्मात् = तस्मात् कारणात् अस्य = नन्दगोपस्य जनस्य = लोकस्य लघुत्वयोगात् = तुच्छत्वभावात् प्रसादम्=अनुग्रहं कुरु=विधेहि ॥ २८ ॥

वसुदेवः नन्दगोपं प्रबोधयन् न्यासरक्षणे सावधानतया भवितव्यमिति उपदिशति—जाने इत्यादिना ।

यदुवंशियों में श्रेष्ठ इस अकिंचन नन्द गोप पर आप कृपा करें ॥ २८ ॥

वसुदेव—इन्हें लीजिये ।

नन्दगोप—जैसी स्वामी की आज्ञा ।

वसुदेव—मित्र ! रात्रि समाप्त हो गई आप लौट जायँ ।

नन्दगोप—आश्चर्य, आश्चर्य स्वामी आश्चर्य । ये दोनों बन्धन गिर पड़े ।

वसुदेव—यह सब कुमार का प्रभाव है । आप लौट जाँय ।

नन्दगोप—जैसी स्वामी की आज्ञा ।

वसुदेव—अथवा इधर आओ ।

नन्दगोप—स्वामी मैं यह हूँ ।

वसुदेव—(हे गोप !) मैं तुम्हें स्वभाव से ही नित्य वात्सल्यभावयुक्त

स्नेहोऽप्यस्मिन्नर्थ्यते रूढभावः ॥
अस्मिन् काले दग्धभूयिष्ठशेषं
न्यस्तं बीजं रक्षितुं यादवानाम् ॥ २९ ॥

कुमारस्य किं करिष्यति भवान् ।

नन्दगोपः—सुणादु भट्टा । एकस्सिं गेहे गच्छिअ खीरं पिबइ, अण्णस्सिं गेहे गच्छिअ दधि भक्खइ । अपरस्सिं गेहे गच्छिअ णवणीदं गिलइ । अण्णस्सिं गेहे गच्छिअ पाअसं भुञ्जइ । इदलस्सिं गेहे गच्छिअ तक्कघटं पलोअदि । किं बहुणा, अम्हाणं घोषस्स पदी होइ । [शृणोतु भर्ता । एकस्मिन् गेहे गत्वा क्षीरं पिबति । अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति । अपरस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिलति । अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते । इतरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते । किं बहुना, अस्माकं घोषस्य पतिर्भवति ।]

वसुदेव—एवमस्तु । प्रतिनिवर्ततां भवान् ।

(हे गोप) त्वाम् = भवन्तं नन्दगोपं प्रकृत्या = स्वभावेन नित्यं = सर्वदा वत्सलं = सन्तानवत्सलं जाने = जानामि अस्मिन् = एतस्मिन् मम सुते रूढभावः = प्रवर्द्धमानः स्नेहोपि = प्रियतापि 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः ।' अमरः । अर्थ्यते = प्रार्थ्यते दिदृक्षुरस्मीति शेषः । अस्मिन् काले = सम्प्रति दग्धभूयिष्ठशेषं = भृशदाहावशिष्टं न्यस्तं = न्यासरूपेण स्थितं यादवानां = यदुवंशीयानां बीजम् = निदानं श्रीकृष्णं रक्षितुं = पालयितुम् अर्थ्यते = प्राथ्यते ॥ २९ ॥

मानता हूँ । अब इस बालक में तुम्हारे बढ़े हुए स्नेह को देखना चाहता हूँ और इस समय अत्यन्त जलने के बाद बचे हुए यादव वंश के बीजस्वरूप इस धरोहर श्री कृष्ण के पालन की याचना करता हूँ ॥ २९ ॥

कुमार के लिए आप क्या करेंगे ?

नन्दगोप—स्वामी सुनें । एक घर में जाकर दूध पीयेगा, दूसरे घर में जाकर दही खाएगा और अन्य घर में जाकर मक्खन खाएगा, किसी घर में जाकर खीर खाएगा और कहीं मट्ठा टटोलेगा । अधिक क्या कहूँ हमारे आभीर ग्राम का यह स्वामी बनेगा ।

वसुदेव—ऐसा ही हो । आप लौट जाँय ।

नन्दगोपः—जं भट्टा आणवेदि । (निष्क्रान्तः ।) [यद् भर्ताज्ञापयति ।]

वसुदेवः—ननु निर्गतो नन्दगोपः । यावदहमपि मधुरामेव यास्यामि । (परिक्रम्य) रुदितशब्द इव श्रूयते । किं नु खलु कंसभयात् प्रतिनिवृत्तो नन्दगोपः । (परिक्रम्य) अये प्रत्यागतप्राणेयं दारिका । यावदिमां गृहीत्वा देवक्या हस्ते निक्षिप्य दुरात्मानं कंसं वञ्चयामि । (गृहीत्वा) अहो गुरुत्वमस्याः । एतदपि कुमारात् किञ्चिदन्तरं महद् भूतम् । यावदपक्रामामि । अये इयं भगवती यमुना तथैव स्थिता । यावदपक्रामामि । निष्क्रान्तोऽस्मि यमुनायाः । एतन्नगरद्वारम् । तथैव प्रसुप्तो मथुरायां सर्वो जनः । यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य) इदं खलु दुरात्मनः कंसस्य गृहं ज्येष्ठाश्रितमिव दृश्यते । इदमस्मदीयं गृहं श्रियारूढमिव दृश्यते । यावदहमप्यन्तःपुरं प्रविश्य देवकीं समाश्वासयामि । ईश्वराः स्वस्ति कुर्वन्तु । (निष्क्रान्तः ।)

प्रथमोऽङ्कः ।

नन्दगोप—जैसी स्वामी की आज्ञा । (प्रस्थान)

वसुदेव—नन्दगोप चला गया मैं भी मथुरा को जाता हूँ । (लौटकर) रोने का सा शब्द सुनाई पड़ता है । क्या कंस के भय से नन्द गोप लौट आया है ? (घूमकर) अरे ! इस बच्ची के प्राण लौट आए । तो इसे लेकर देवकी के हाथ में डालकर पापी कंस को ठगूँगा । (लेकर) अहा ! यह कितनी भारी है । यह भी कुमार से कुछ अधिक भारी हो गई है । तो जाता हूँ । अरे ! भगवती यमुना वैसे ही रुकी हैं, तो मैं पार करता हूँ । मैं यमुना से निकल आया । यह नगर का (बाहरी) द्वार है । मथुरा में सब लोग वैसे ही सोये हैं । मैं प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके) यह दुरात्मा कंस का घर अलक्ष्मी से युक्त (शोभाहीन) दिखायी देता है । यह हम लोगों का घर शोभा से युक्त दिखाई देता है । मैं भी रनिवास में प्रवेश करके देवकी को धीरज बँधाता हूँ । ईश्वर कल्याण करें ।

(प्रस्थान)

प्रथम अंक समाप्त ।

अथ द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशन्ति चण्डालयुवतयः ।)

सर्वाः—आअच्छ भट्टा ! आअच्छ । अम्हाणं कण्णाणं तुए सह विवाहो होदु । [आगच्छ भर्तः ! आगच्छ । अस्माकं कन्यानां त्वया सह विवाहो भवतु ।]

(ततः प्रविशति राजा ।)

राजा—भोः ! किन्नु खल्विदम् ।

यन्मेदिनी प्रचलिता पतिताग्रहर्म्या
सन्तारनौरिव विकीर्णमहोर्मिमाला ।
सेऽर्थैः प्रधानगुणकर्मफलैर्निमित्तैः

कंसो नृपः अग्रतः चाण्डालकन्यां दृष्ट्वा निमित्तेन शुभमशुभम् वा तर्कयति—यन्मेदिनीत्यादिना ।

विकीर्णमहोर्मिमाला—विकीर्णाः = विस्तृताः महोर्मीणां = बृहत्तरंगाणां मालाः श्रेणयः यस्यां सा सन्तारनौः—सन्तारस्य प्लवनस्य नौः = तरी इव = यथा मेदिनी = अवनिः 'क्षमावनिर्मेदिनी मही' अमरः । यत् = येन कारणेन प्रचलिता= प्रकम्पिता तत = तथा पतिताग्रहर्म्या—पतितानि = निपतितानि अग्रहर्म्याणि = धनिकभवनशिखराणि यस्यां सा 'हर्म्यादि धनिनां वासः' अमरः । प्रधानगुणकर्म

(चाण्डाल कन्याओं का प्रवेश)

सब—आइये स्वामी आइये; हम लोगों की कुमारियों से आपकी शादी हो ।

(राजा का प्रवेश)

राजा—अरे ! यह सब क्या ?

फैली हुई विकराल तरंग श्रेणी की नौका के समान यह पृथ्वी डगमगा रही है तथा ऊँची अट्टालिकाओं के शिखर भाग गिर रहे हैं। श्रेष्ठ गुण, कर्मफल

किं वाग्रतो व्यसनमभ्युदयो नु तन्मे ॥ १ ॥

सर्वाः—आअच्छ भट्टा ! आअच्छ अम्हाणं कण्णआणं तुए सह विवाहो होदु। [आगच्छ। भर्तः ! आगच्छ। अस्माकं कन्यकानां त्वया सह विवाहो भवतु।]

राजा—

यस्मान्न रक्षिपुरुषाः प्रचरन्ति केचिद्
यस्मान्न दीपकधराः प्रमदाश्चरन्ति।
तस्मादिमा मम गृहं समनुप्रविष्टा
नीलोत्पलाञ्जननिभा भयदाः श्वपाक्यः ॥ २ ॥

फलैर्निमित्तैः—प्रधानगुणं कर्मफलं येषां तानि तैः = श्रेष्ठगुणकर्मफलवद्भिः सैव्यैः = सेवनीयैः निमित्तैः = लक्ष्मभिः = 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः'। अमरः। शकुनादिभिरिति यावत् मे=मम अग्रतः=भविष्यकाले व्यसनं=पराभवः किं वा = आहोस्वित् अभ्युदयः = समुन्नतिः किन्नु-स्यादिति भावः ॥ १ ॥

राजा कंसः स्वयमेव दुश्शकुननिरीक्षणकारणं निरूपयति—यस्मान्नेत्यादिना।

केचित् = केपि रक्षिपुरुषाः = रक्षाकार्ये नियुक्ताः पुरुषाः यस्मात्=कारणात् न प्रचरन्ति = न भ्रमन्ति दीपकधराः—दीपकं = प्रकाशं धरन्ति = नयन्तीति सप्रकाशाः प्रमदाः=योषितः यस्मात् = यस्मात् कारणात् न चरन्ति = न गच्छन्ति तस्मात् = तस्मात् कारणात नीलोत्पलाञ्जननिभाः = नीलोत्पलेन = नीलकमलेन अञ्जनेन=कज्जलेन च निभाः = संकाशाः 'निभसंकाशनीकाशाः।' अमरः। भयदाः= भीतिप्रदाः श्वपाक्यः = श्वानम् पाचयन्ति यास्ताः = चण्डालकन्याः मम = राज्ञः (कंसस्य) गृहं = भवनं समनुप्रविष्टाः = समागताः ॥ २ ॥

से उत्पन्न दृश्यमान शकुनों से मेरा भविष्य में पराजय अथवा विजय होने वाली है ? ॥ १ ॥

सब—आइये भर्ता ! आइये। हमारी कन्याओं का तुम्हारे साथ विवाह हो।

राजा—

'यहाँ कोई पहरादेने वाले नहीं घूमते (और) न कोई स्त्रियाँ हाथ में दीपक लेकर खड़ी हैं इसीलिए यह नीलकमल और अंजन के सदृश भय देने वाली चाण्डालिनियाँ मेरे घर में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो गई हैं ॥ २ ॥

सर्वाः—आअच्छ भट्टा ! आअच्छ । अम्हाणं कण्णआणं तुए सह विवाहो होदु । [आगच्छ भर्तः ! आगच्छ । अस्माकं कन्यकानां त्वया सह विवाहो भवतु ।]

राजा—अहो धृष्टाः खल्वेताश्चण्डालयुवतयः-

क्रोधेन नश्यति सदा मम शत्रुपक्षः
सूर्यः शशी हुतवहश्च वशे स्थिता मे ।
योऽहं यमस्य च यमो भयदो भयस्य
तं मापवादवचनैः परिधर्षयन्ति ॥ ३ ॥

सर्वाः—आअच्छ भट्टा ! आअच्छ । [आगच्छ भर्तः ! आगच्छ ।]

राजा—आ अपध्वंस । कथं सहसैव नष्टाः । यावदिदानीमभ्यन्तरमेव प्रविशामि ।

(ततः प्रविशति शापः ।)

कंसः चण्डालकन्यकाभिः स्वधर्षणाकरणं निरूपयति—क्रोधेनेत्यादिना ।

मम = राज्ञः कंसस्य शत्रुपक्षः = वैरिसंघः सदा = सर्वदा क्रोधेन=कोपेन नश्यति = नाशं याति सूर्यः=दिवाकरः शशी = चन्द्रः हुतवहः = विभावसुः इमे सर्वे मे = मम वशे = अधीने स्थिताः = तिष्ठन्ति यः = वर्तमानः अहं=कंसः यमस्य=अन्तकस्यापि यमः=अन्तकः भयस्य = भीतेः भयदः=भीतिप्रदः तम्=तादृशं मा=मां राजानम् अपवादवचनैः=निन्दितवचोभिः परिधर्षयन्ति तिरस्कुर्वन्ति ॥ ३ ॥

सब—आइये भर्ता ! आइये । हमारी कुमारियों का तुम्हारे साथ विवाह हो ।

राजा—अरे यह चाण्डाल कुमारिकाएँ निश्चित ही बड़ी ढीठ हैं ।

मेरे क्रोध मात्र से ही मेरा शत्रु समूह नष्ट हो जाता है । सूर्य, चन्द्र और अग्नि मेरे वश में हैं । मैं जो यम का भी यमराज और भय को भी भय देने वाला हूँ; उस मुझको चण्डाल-युवतियाँ तिरस्कृत कर रही हैं ॥ ३ ॥

सब—आओ भर्ता आओ ।

राजा—अरी नष्ट हो जाओ । कैसे यकायक नष्ट हो गईं ? अच्छा तो मैं अब अन्दर ही जाता हूँ ।

(शाप का प्रवेश)

शापः—हं, क्वेदानीं प्रविशसि। इदं खलु मम गृहं संवृत्तम्।

राजा—

कोऽयं विनिष्पतति गर्भगृहं विगाह्य
उल्कां प्रगृह्य सहसाञ्जनराशिवर्णः।
भीमोग्रदंष्ट्रवदनो ह्यहिपिङ्गलाक्षः
क्रोधो महेश्वरमुखादिव गां प्रपन्नः॥ ४॥

को भवान्।

शापः—किं न जानीषे माम्। अहं खलु मधूकस्य ऋषेः शापो वज्रबाहुर्नाम।

शापः = शापाभिमानी देवता।

सविग्रहं शापं दृष्ट्वा तद्वचनमाकर्ण्य तद्रूपं वर्णयति-कोऽयमित्यादिना।

अयम् = आगन्तुकः कः = अपरिचितजनः गर्भगृहं = सद्ममध्ये विगाह्य = विलोड्य विनिष्पतति = आगच्छति। उल्काम् = अङ्गारं सहसा = झटिति प्रगृह्य = गृहीत्वा अञ्जनराशिवर्णः-अञ्जनस्य = कज्जलस्य राशेः = समूहस्य वर्णः = तत् सदृशः अस्य रूपमिति शेषः। भीमं=भयङ्करम् उग्रदंष्ट्रम्=उन्नतदन्तं वदनं=मुखं यस्य सः अहिपिङ्गलाक्षः-अहेः=सर्पस्य (इव) पिंगले=पिङ्गलवर्णे अक्षिणी=नेत्रे यस्य सः महेश्वर०-महेश्वरस्य = शंकरस्य मुखम् = आननं तस्मात् निःसृतः (साक्षात्) क्रोध इव = कोप इव गां = पृथिवीं प्रपन्नः=समागतः। अत्र उपमालंकारः॥ ४॥

शाप—हम इस समय कहाँ घुस रहे हैं? यह तो निश्चित ही मेरा घर हो गया।

राजा—

यह घर के अन्दर यकायक घुसता हुआ कौन चला आ रहा है? अंगार लिये हुए कज्जल के ढेर की तरह इसका रंग है। भयंकर (बड़े-बड़े) तीखे दाँतों वाला मुख और सर्प के नेत्रों के समान लाल नेत्रों वाला, महेश्वर के मुख से निकला हुआ साक्षात् क्रोध की भाँति पृथ्वी पर आया है॥ ४॥

आप कौन हैं?

शाप—क्या मुझे नहीं जानते? मैं मधूक ऋषि का शाप वज्रबाहु हूं।

श्मशानमध्यादहमागतोऽस्मि चण्डालवेषेण विरूपचण्डम् ।
कपालमालातिविचित्रवेषः कंसस्य राज्ञो हृदयं प्रवेष्टुम् ॥ ५ ॥

कंसः—असम्भाव्यमर्थं प्रार्थयसि ।

सौवर्णकान्ततरकन्दरकूटकुञ्जं
मेरुं न कम्पयति वायसपक्षवातः ।
हास्योऽसि भोः ! समकरक्षुभितोर्मिमालं
पातुं य इच्छसि कराञ्जलिना समुद्रम् ॥ ६ ॥

शापः स्वागमनकारणं स्वयमेव कंसं निरूपयति—श्मशानेत्यादिना । अहं = शापः विरूपचण्डं—विरूपेण = भयङ्कररूपेण चण्डं = भयङ्करं = रूपादपि भयङ्करं चाण्डालवेषेण—चाण्डालस्य = श्वपाकस्य वेषः = रूपं तेन श्मशानमध्यात्—शव-दाहभूमेः आगतोस्मि = प्राप्तोऽस्मि । कपालमालातिविचित्रवेषः—कपालानां माला= नृकरोटिस्रक् तया अतिविचित्रः = अत्यद्भुतः वेषः=स्वरूपं यस्य सः सन् राज्ञः = नृपस्य कंसाभिधस्य हृदयं = चित्तं 'चित्तन्तु चेतो हृदयम् ।' अमरः । प्रवेष्टुं = प्रवेशं कर्तुम् आगतोऽस्मि = समुपस्थितोऽस्मि ॥ ५ ॥

कंसः शापं प्रति असम्भवं स्वहृदयप्रवेशं निरूपयति—सौवर्णेत्यादिना ।

सौवर्णकान्ततरकन्दरकूटकुञ्जम्—सुवर्णस्येदं सौवर्णम् = कनकमयम् अतिशयेन कान्तमिति कान्ततरम् = अतिसुन्दरं कन्दराश्च = गुहाश्च कूटाश्च = शिखराणि च कुञ्जाश्च = लतागृहाणि च योः पक्षयोः एषां समाहारद्वन्द्वः सौवर्णं कान्ततरं कन्दरकूटकुञ्जं यस्य तं मेरुं = सुमेरुपर्वतम् वायसस्य=काकस्य पक्षाभ्यां = पर्णाभ्यां वातः = वायुः न प्रकम्पयति = न प्रचालयति । समकरक्षुभितोर्मिमालं—मकरेण

कंस के हृदय में प्रवेश करने के लिए नरमुण्ड की माला से युक्त बड़ा विचित्र वेष वाला है, चाण्डालका भयंकर रूप धारण करके श्मशान के बीच से मैं आया हूँ ॥

राजा—असम्भव वस्तु की प्रार्थना करते हो ।

कनकमय अत्यन्त सुन्दर गुफाओं से, शिखरों से और लतागृहों से युक्त सुमेरु पर्वत को कौए के पंख की हवा नहीं हिला सकती । अरे ! मकर से मथित तरंग समूहों वाले जलनिधि को जो तुम हाथ की अंजलि से पीना चाहते हो (अतः) हास्यास्पद हो ॥ ६ ॥

शापः—काले ज्ञास्यसि ।

राजा—हं, कथं सहसैव नष्टः । यावदहमपि शयनमुपगम्य नयनव्याक्षेपं करोमि । (स्वपिति ।)

शापः—अये प्रसुप्तः । अलक्ष्मि ! खलति ! कालरात्रि ! महानिद्रे ! पिङ्गलाक्षि ! तदागम्यतामभ्यन्तरं प्रविशामः ।

सर्वाः—एवं होदु । [एवं भवतु ।]

(प्रविश्य)

राजश्रीः—न खलु प्रवेष्टव्यम् ।

शापः—का भवती ।

श्रीः—किं मां न जानीषे । अहं खल्वस्य लक्ष्मीः ।

शापः—एवम् । राजश्रीः ! अपक्रामतु भवती । इदं खलु मम गृहं संवृत्तम् ।

सहितं = सप्रादं क्षुभिता = क्षोभं प्राप्ता ऊर्मीणां = वीचीनां माला = श्रेणिः यस्मिन् सः तं समुद्रं = रत्नाकरं कराञ्जलिना—करस्य=हस्तस्य, अञ्जलिः = अञ्जलिपुटं तेन यः = त्वं शापः पातुम् = पानं कर्तुम् इच्छसि = वाञ्छसि ततः हास्योऽसि = उपहासपात्रमसि । अत्र तुल्ययोगितालङ्कारः ॥ ६ ॥

शाप—समय पर जान जाओगे ।

राजा—हाय ! कैसे एकदम नष्ट हो गया । तो मैं भी शय्या पर जाकर आँखें मूंद लूँ । (सोता है ।)

शाप—अरे ! सो गया । अलक्ष्मि ! खलति ? कालरात्रि ! महानिद्रे ! पिंगलाक्षि ! आओ, आओ अन्दर प्रवेश करें ।

सब—ऐसा ही हो ।

(प्रवेश करके)

राजश्री—अन्दर मत जाओ ।

शाप—आप कौन हैं ?

राजश्री—क्या मुझे नहीं जानते ? मैं इनकी लक्ष्मी हूँ ।

शाप—अच्छा आप राजश्री हैं ! आप चली जाएँ । अब यह मेरा घर हो गया है ।

श्रीः,

लङ्कोपमं मम गृहं न विचिन्त्य मूढ !
कस्याश्रयाद् विशसि मामवधूय रात्रौ ।
किं भाषितेन बहुना न च शक्यमेतद्
द्रष्टुं प्रवेष्टुमिह तेऽद्य मयाऽभिजुष्टम् ॥ ७ ॥

शापः—भगवति पद्मालये ! अपक्रामतु किल कंसशरीरात् । विष्णुराज्ञापयति ।

श्रीः—कथं विष्णुराज्ञापयतीति भोः ? कष्टम् ।

न चाहं चिरसंवासात् त्यक्तुं शक्नोमि पार्थिवम् ।

राजश्रीः शापाभिमानिनं देवं राजभवनप्रवेशं वारयति='लङ्कोपमम्' इत्यादिना । (हे) मूढ=रे अज्ञ न विचिन्त्य किमपि विचारं न कृत्वा रात्रौ=निशि माम्=राजश्रियम् अवधूय = तिरस्कृत्य लङ्कोपमं = लङ्कासदृशं मम = राजश्रियः गृहं = दुर्गं कस्य=बलिनः पुरुषस्य आश्रयात् = संश्रयात् विशसि = प्रवेशं करोषि । बहुना = भृशं भाषितेन=वचसा 'भाषितं लपितं वचः ।' अमरः । किं = व्यर्थं मयाभिजुष्टम्—मया = राजश्रिया अभिजुष्टं = सेवितम् एतद् गृहम् अद्य=इदानीं ते = तव इह = भवने प्रवेष्टुं = प्रवेशं कर्तुं (दूरं) द्रष्टुं = प्रेक्षितुमपि न च शक्यम्= असमर्थोऽसीति भावः ॥ ७ ॥

राजश्रीः विष्णोराज्ञां लब्ध्वा कंसशरीरत्यागे सन्तापं दर्शयति—नचाहमिति । चिरसंवासात्—चिरं = बहुकालं संवासः स्थितिः चिरसंवासस्तस्मात् अहम् = राजश्रीः पार्थिवं = नृपं त्यक्तुं = विहातुं न च शक्नोमि=एतत्कर्तुं न पारयामि ।

श्री—अच्छा, अरे मूर्ख ! बिना विचारे रात्रि में मेरा तिरस्कार करके लङ्का के समान मेरे भवन में किस (बलवान पुरुष) की आज्ञा से प्रवेश कर रहा है ? अधिक बोलने से क्या ! मेरे द्वारा सेवित इस भवन में आज तुम्हारा प्रवेश करना तो दूर, इसे देख भी नहीं सकते ॥ ७ ॥

शाप—भगवती लक्ष्मी ! कंस के शरीर से आप निकल जाएं । विष्णु की यह आज्ञा है ।

श्री—क्या विष्णु की ऐसी आज्ञा है ? अरे, बड़ा कष्ट है । इस बलवान और

बलवान् गुणसङ्ग्राही दृढं तपति मामयम् ॥ ८ ॥

भवतु । अनतिक्रमणीया विष्णोराज्ञा । तस्मादहमपि विष्णुसकाशमेव यास्यामि । (निष्क्रान्ता ।)

शापः—अपक्रान्ता राजश्रीः । हन्तेदानीमिदमस्माकमात्रासः संवृत्तः । अलक्ष्मि ! खलति ! कालरात्रि ! महानिद्रे । पिङ्गलाक्षि ! अभ्यन्तरं प्रविश्य स्वजातिसदृशी क्रीडा क्रियताम् ।

सर्वाः—अज्जप्पहुदि अवणीदधम्मचारित्तो होहि । [अद्यप्रभृत्यपनीतधर्मचारित्रो भव ।]

शापः—

परिष्वजामि गाढं त्वां नित्याधर्मपरायणम् ।

अयं=कंसः गुणसंग्राही—गुणानां = शौर्यादिगुणानां संग्राही=संग्रहकर्ता यावत् बलवान=बलशाली अतः तस्य अयं त्यागः माम्=राजलक्ष्मीं दृढं = भृशं तपति =संतापयतीति भावः ॥ ८ ॥

शापः कंसमालिङ्गय स्वकार्यं साधयति—ब्रवीति च परिष्वजामीति । नित्याधर्मपरायणं —नित्यं=सर्वदा अहर्निशम् अधर्मेषु = अनाचारेषु परायणं=तत्परं संलग्नमिति यावत् त्वां=भवन्तं कंसं गाढं=दृढतरं परिष्वजामि=आलिङ्गनं करोमि ।

गुणग्राही राजा को, इतने अधिक दिन निवास करके पश्चात् सहसा छोड़ना मुझे बहुत ही सन्ताप दे रहा है ॥ ८ ॥

अच्छा, विष्णु की आज्ञा अनुल्लंघनीय है। अतएव मैं भी विष्णु के पास जाऊँगी । चली जाती है ।)

शाप—राजश्री चली गयी। अहा ! अब यह हम लोगों का घर हो गया । अलक्षिम ! खलति ! कालरात्रि ! महानिद्रे ! पिङ्गलाक्षि ! अन्दर प्रवेश करके अपनी जाति-गुण के अनुसार लीला करो ।

सब—आज से लेकर तुम धर्माचार से शून्य हो जाओ ।

शाप—मैं सर्वदा पाप कर्मों में निरत रहने वाले का दृढ़तापूर्वक आलिंगन

प्राप्नोमि मुनिशापस्त्वामचिरान्नाशमेष्यसि ॥ ६ ॥

(अन्तर्हितः ।)

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—जेदु भट्टा । [जयतु भर्ता ।]

राजा—ह !

प्रतिहारी—भट्टा ! जसोधरा खु अहं । [भर्तः ! यशोधरा खल्वहम् ।]

राजा—यशोधरे ? किं त्वया मातङ्गीजनप्रवेशो न दृष्टः ।

प्रतिहारी—हं मादङ्गिजणत्ति । णिच्चं भट्टिपादमूले वत्तमाणस्स व जणस्स, इह प्पवेसो दुल्लहो, किं उण मादङ्गिजणस्स । [हं मातङ्गीजन इति, नित्यं भर्तृपादमूले वर्तमानस्यैव जनस्येह प्रवेशो दुर्लभः, किं पुनर्मातङ्गीजनस्य ।]

राजा—किं स्वप्नो नु मयानुभूतः। यशोधरे ! गच्छ । बालाकिः काञ्चुकीयः प्रवेश्यताम् ।

(अहम्) मुनिशापः—मुनेः=मधूकस्य शापः=बज्रबाहुर्नामास्मीति शेषः । त्वां = कंसं प्राप्नोमि=धारयामि त्वम् अचिरात् = शीघ्रमेव नाशं=निधनं यास्यसि= गमिष्यसि ॥ ९ ॥

करता हूं । मुनि का शाप मैं, तुम्हें पकड़ता हूं । तुम शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगे ॥ ९ ॥

(विलीन हो जाता है ।

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—स्वामी की जय हो ।

राजा—हम्, कौन है ?

प्रतिहारी—स्वामिन् ! मैं यशोधरा हूँ ।

राजा—यशोधरे ! क्या तुमने चाण्डालिनियों को प्रवेश करते नहीं देखा !

प्रतिहारी—हैं ! चाण्डालिनियां ! जो नित्य स्वामी के चरणों में बने रहते हैं उन्हीं का यहाँ प्रवेश दुर्लभ है फिर चाण्डालिनियों की क्या बात ।

राजा—क्या मैंने स्वप्न देखा ! यशोधरे ! जाओ । कञ्चुकी बालाकि को बुलाओ

प्रतिहारी—जं भट्टा आणवेदि । (निष्क्रान्ता ।) [यद् भर्ताज्ञापयति ।]

(ततः प्रविशति काञ्चुकीयः ।)

काञ्चुकीयः—जयतु महाराजः ।

राजा—आर्य बालाके ! प्रष्टव्यौ सांवत्सरिकपुरोहितौ—अद्य रात्रौ वातोद्भ्रामभूमिकम्पोल्कापाता दैवतप्रतिमाश्च प्रतिभासिताः किमर्थमिति ।

काञ्चुकीयः—महाराज ! सांवत्सरिकपुरोहितौ विज्ञापयतः ।

राजा—किमिति ।

काञ्चुकीय--श्रूयताम् ।

भूतं नभस्तलनिवासि नरेन्द्र ! नित्यं
कार्यान्तरेण नरलोकमिह प्रपन्नम् ।

सांवत्सरिकपुरोहितयोः कथनं कञ्चुकी राजानं प्रतिस्तौति-भूतमित्यादिना ।
हे नरेन्द्र = नृपश्रेष्ठ ! नित्यं=सर्वदा नभस्तलनिवासिन्=नभस्तले = अन्तरिक्षे निवसति = निवासं करोति यत् तत् सम्बुद्धौ भूतं = प्राणिनं कार्यान्तरेण = विशेषकार्यवशात् इह = अस्मिन् नरलोकं=मृत्युलोकं = प्रपन्नम् = अवतीर्णं तस्य=

प्रतिहारी—जैसी स्वामी की आज्ञा । (चली जाती है ।)

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज की जय हो ।

राजा—आर्य बालाकि, ज्योतिषी और पुरोहित से पूछना चाहिए—जो आज रात में आँधी, भूकम्प, उल्कापात और देवताओं की मूर्तियाँ दिखायी दी हैं उनका क्या फल है ?

कञ्चुकी—महाराज ! ज्योतिषी और पुरोहित निवेदन करते हैं ।

राजा—क्या ?

कञ्चुकी—सुनिये—

हे राजन् ! जो सर्वदा अन्तरिक्ष में निवास करता है वह प्राणियों के विशेष कार्य से (कल्याण के लिए) इस मृत्यु लोक में उत्पन्न हुआ है । उसके प्रादुर्भाव-

आकाशदुन्दुभिरवैः समहीप्रकम्पै-
स्तस्यैष जन्मनि विशेषकरो विकारः ॥ १० ॥

राजा—

कस्मिञ्जाते सशैलेन्द्रा कम्पितेयं वसुन्धरा ।
ज्ञायतां कस्य पुत्रोऽयं किं वा जन्मप्रयोजनम् ॥ ११ ॥

इति ।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्राम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । प्रसूतवती किल देवकी ।

राजा—किं प्रसूतम् ।

भूतस्य जन्मनि = प्रादुर्भावे समहीप्रकम्पैः—मह्याः पृथिव्याः प्रकम्पेन = वेपथुना सहितास्तैः आकाशदुन्दुभिरवैः—आकाशे = वियति दुन्दुभीनां = देववाद्यविशेषाणां रवैः = शब्दैः एषः = वर्तमानः विकारः = अशुभदर्शनरूपः विशेषकरः—विशेषस्य करः करोतीतिः करः = अधिकहानिप्रदः संजात इति शेषः ॥ १० ॥

कञ्चुकीमादिशति-कंसो नृपः 'कस्मिन् जाते'त्यादिना । कस्मिन्०—कस्मिन् = प्राणभृति जाते = प्रादुर्भूते सशैलेन्द्रा = शैलेन्द्रसहिता = धारधरा । इयं = वर्तमाना वसुन्धरा = मेदिनी कम्पिता = प्रचलिता अयं उत्पन्नः कस्य = नरविशेषस्य पुत्रः = आत्मजः इति ज्ञायतां = बुध्यतां जन्मप्रयोजनमिति उत्पत्तिकारणं वा किम् इति ज्ञायताम् ॥ ११ ।

के समय में पृथ्वी में कम्पन और आकाश में दुन्दुभी का वादन तथा (तुम्हें) ये अशुभ दर्शन हुए हैं ॥ १० ॥

राजा—किसी मनुष्य के जन्म पर पर्वतों के सहित यह पृथ्वी काँप उठी अतएव किस मनुष्य का यह पुत्र है और इसके जन्म का क्या प्रयोजन है ॥ ११ ॥

ऐसा ।

कन्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा । (जाकर और पुनः प्रवेश करके) महाराज की जय हो । देवकी को प्रसव हुआ है ।

राजा—क्या पैदा हुआ ?

काञ्चुकीयः—दारिका प्रसूता ।

राजा—मा तावत् । एतानि महानिमित्तानि दारिकाप्रसूतिमात्रेण उत्पद्यन्ते ।

काञ्चुकीयः—प्रसीदतु महाराजः । अनृतं नाभिहितपूर्वं मया । भवतो भृत्यवर्गपरिवृतायाः धात्र्या हस्ते दृष्टा सा ।

राजा—अथवा ब्राह्मणवचनमनृतमपि सत्यं पश्यामि । गच्छ, वसुदेवस्तावदाहूयताम् ।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

राजा—धर्मशीलः सत्यवादी वसुदेवः । अथ तु मम समीपेऽनृतं न ब्रवीति । भवतु, श्रोष्यामस्तावत् ।

(ततः प्रविशति वसुदेवः ।)

वसुदेवः—

षण्णां सुतानां समुपेत्य नाशं वहन्निदं शोककृशं शरीरम् ।

राज्ञा कंसेनाहूतो वसुदेवः स्वां दशां निरूपयति–षण्णामित्यादिना । षण्णां= षट्संख्यकानां सुतानां = पुत्राणां नाशं = निधनं समुपेत्य = लब्ध्वा इदं = पुरोवर्ति

कञ्चुकी—लड़की उत्पन्न हुई ।

राजा—ऐसा नहीं हो सकता । इतने बड़े शकुन केवल पुत्री के उत्पन्न होने पर हो सकते हैं ?

कञ्चुकी—महाराज प्रसन्न हों । मैंने कभी झूठ नहीं बोला । आपके सेवकसमूह से घिरी हुई धाई के हाथ में उसे देखा गया है ।

राजा—तो सचमुच ब्राह्मण का वचन असत्य देखता हूँ । जाओ; वसुदेव को बुला लाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा ।

(प्रस्थान)

राजा—वसुदेव धर्मशील और सत्य बोलने वाले हैं वे मेरे सम्मुख झूठ कभी न बोलेंगे । अच्छा, तो हम लोग सुनेंगे ।

(वसुदेव का प्रवेश)

वसुदेव—छः पुत्रों के निधन होने से इस शोक से जर्जरित शरीर को धारण

आहूयमानोऽकरुणेन राज्ञा गच्छाम्यहं भृत्य इवास्वतन्त्रः ॥ १२ ॥

भोः ! एवंविधा लोकवृत्तिः ।

स्मरतापि भयं राजा भयं न स्मरतापि वा ।
उभाभ्यामपि गन्तव्यो भयादप्यभयादपि ॥ १३ ॥

(उपसृत्य) शौरसेनीमातः ! आस्यते ।

राजा—यादवीमातः ! आस्यताम् ।

वसुदेवः—बाढम् । (उपविश्य) शौरसेनीमातः ? किमर्थं वयमाहूताः ।

राजा—यादवीमातः ? प्रसूतवती किल देवकी ।

वसुदेवः—अथ किम् , प्रसूतवती ।

शोककृशं = शोकेन=दुःखेन कृशं = जीर्णं शरीरं = विग्रहम् वहन् = धारयन् अहं = वसुदेवः अकरुणेन = निष्कृपेण राज्ञा = नृपेण कंसेन आहूयमानः = आकार्यमाणः अस्वतन्त्रः = पराधीनः भृत्य इव = सेवक इव गच्छामि = यामि ॥ १२ ॥

वसुदेवः लोकवृत्तिं पुनर्दर्शयति—स्मरतापीति । स्मरता=स्मरणं कुर्वताऽपि वा राजा = नृपेण (क्विबन्तराजशब्दात् तृतीयान्तं पदमेतत) न स्मरतापिना = स्मरणमकुर्वताऽपिवा (राजा) भयं = भीतिः भयादभयादपि वा = भीतेरभीतेरपि वा उभाभ्यामपि = हेतुद्वयाभ्यामपि गन्तव्य एव = गमनीय एव ॥ १३ ॥

करता हुआ मैं क्रूर राजा कंस के बुलाने पर परतन्त्र सेवक की भाँति जा रहा हूँ ॥ १२ ॥

अरे ! ऐसी ही संसार की गति है ।

राजा के स्मरण करने पर भी और न स्मरण करने पर भी भय ही है अतएव चाहे भय हो या अभय दोनों स्थितियों में मुझे जाना ही है ॥ १३ ॥

(समीप जाकर) शौरसेनी पुत्र मैं उपस्थित हूँ ।

राजा—यादवीपुत्र ! बैठ जाओ ।

वसुदेव—अच्छा । (बैठकर) शौरसेनी पुत्र हमें किसलिए बुलाया है ।

राजा—यादवीपुत्र ! देवकी को बच्चा पैदा हुआ है ?

वसुदेव—हाँ, उत्पन्न हुआ है ।

राजा—किं प्रसूतम् ।

वसुदेवः—(आत्मगतम्) मयापि नामानृतं वक्तव्यं भविष्यति । अथवा कुमाररक्षणार्थमनृतमपि सत्यं पश्यामि । किमिदानीं करिष्ये भवतु, दृष्टम् । (प्रकाशम्) दारिका प्रसूता तया ।

राजा—

दारिका वा कुमारो वा हन्तव्यः सर्वथा मया ।
दैवं पुरुषकारेण वञ्चयिष्याम्यहं ध्रुवम् ॥ १४ ॥

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—जेदु भट्टा । अम्हाअं भट्टिणी विण्णवेदि-दारिअत्ति बालेत्ति अ करीअदु किल महाराएण अणुक्कासो । [जयतु भर्ता । अस्माकं भट्टिनी विज्ञापयति-दारिकेति बालेति च क्रियतां किल महाराजेनानुक्रोशः]

नृपतिकंसः वसुदेवात् दारिकाजननं श्रुत्वा स्वाभिप्रायं प्रदर्शयति—दारिकेति ।

दारिका वा=कन्यका वा कुमारो वा=बालको वा (योऽपि कोऽपि वा भवेत्) मया कंसेन सर्वथा=सर्वप्रकारेण हन्तव्यः=हननीयः अहं=नृपः पुरुषकारेण = पुरुषार्थेन दैवं=भागधेयं 'दैवं दिष्टं भागधेयम्'इत्यमरः । ध्रुवं=नूनं वञ्चयिष्यामि= प्रतारयिष्यामि पुरुषार्थेन भाग्यं जेष्यामीति भावः ॥ १४ ॥

राजा—क्या उत्पन्न हुआ है ?

वसुदेव—(स्वगत) मुझे भी झूठ बोलना पड़ेगा । अथवा कुमारकी रक्षा के लिए झूठ भी सत्य समझता हूँ । अब क्या करना चाहिए ? अच्छा, समझाना (प्रकट) उसने पुत्री उत्पन्न की है या कन्या ।

राजा—लड़की हो अथवा लड़का मुझे तो उसे सर्वथा मारना ही चाहिए । मैं अपने पुरुषार्थ से अवश्य ही विधाता को ठगूँगा ॥ १४ ॥

(प्रवेश करके)

प्रतिहारी—स्वामी की जय हो । हम लोगों की स्वामिनी निवेदन करती हैं कि इस बार लड़की है अतः महाराज (उस पर) दया करें ।

वसुदेवः—शौरसेनीमातः ? क्रियतां तपस्विन्या देवक्या वाक्यम्। दारिकासु स्त्रीणामधिकतरः स्नेहो भवति।

राजा—किं भवान् स्मरति समयम्।

मधूकस्य ऋषेः शापं श्रुत्वा मे समयस्तदा।
देवक्या धारितान् गर्भान् दास्यामीति त्वया कृतः॥ १५॥

वसुदेवः—समय इति। एष न व्याहरामि।

प्रतिहारी—भट्टा किं त्ति अम्हाअं भट्टिणीए णिवेदिदव्वं। [भर्तः ! किमित्यस्माकं भट्टिन्यै निवेदयितव्यम्।]

राजा—यशोधरे ! उच्यतां देवक्याः-न युक्तमिदानीं निर्बन्धमभिधातुम्। अन्यत् प्रियतरं करिष्यामीति।

प्रतिहारी—जं भट्टा आणवेदि। [यद् भर्ताज्ञापयति।]

कंसः पुरा वसुदेवकृतं शपथं स्मारयति-मधूकस्येति। मधूकस्य=एतत्संज्ञकस्य=ऋषेः=महर्षेः शापम् = अनुक्रोशं त्वया = वसुदेवेन श्रुत्वा=आकर्ण्य तदा=तस्मिन् काले मे=मम पुरत इति शेषः। देवक्या=तद्भगिन्या धारितान्=उदरस्थितान्=गर्भान्=शिशून् (तुभ्यं) दास्यामि=अर्पयामि इति समयः= शपथः 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः।' अमरः। कृतः=विहितः॥१५॥

वसुदेव—शौरसेनी पुत्र ! बेचारी देवकी की प्रार्थना स्वीकार कीजिए स्त्रियों का लड़कियों में अधिक स्नेह होता है।

राजा—क्या आपको प्रतिज्ञा का स्मरण है ? मधूक ऋषि के शाप को सुनकर तुमने मेरे सम्मुख देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने वालों को देने की प्रतिज्ञा की थी॥ १५॥

वसुदेव—प्रतिज्ञा ! अब कुछ नहीं बोलता।

प्रतिहारी—स्वामी ! हमें देवी देवकी से क्या निवेदन करना चाहिए ?

राजा—यशोधरे देवकी से कहो कि इस समय प्रार्थना करना उचित नहीं। दूसरे समय उनके इच्छा अनुसार करूँगा।

प्रतिहारी—जैसी स्वामी की आज्ञा।

राजा—यशोधरे ! एवं क्रियताम् ।

प्रतिहारी—सुहं पविसदु किल भट्टा। [सुखं प्रविशतु किल भर्ता ।]

वसुदेवः—विविक्तमिच्छता मयापि नाम परापत्यं निधनमुपनेतव्यं भवति । किन्तु खलु कुमारमेवानीय प्रयच्छामि । अथवा,

दारिकेयं मृता पूर्वं पुनरेव समुत्थिता ।
अस्य बालस्य माहात्म्यान्नैषा वधमवाप्स्यति ॥ १६ ॥

यावदहमपि देवकीं समाश्वासयामि । (निष्क्रान्तः ।)

राजा--यशोधरे प्रवेश्यतां सा दारिका ।

प्रतिहारी—जं भट्टा आणवेदि । (निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशति दारिकां गृहीत्वा धात्री रक्षिपुरुषाश्च ।)

सर्वे--सणिअं सणिअं अय्या । इदं मज्झमदुवालं । पविसदु अय्या । [शनैः शनैरार्या । इदं मध्यमद्वारम् । प्रविशत्वार्या ।]

वसुदेवः दारिकासमर्पणे हेतुं प्रदर्शयति--दारिकेयमिति । इयं=वर्तमाना दारिका=कन्या पूर्वं=प्राप्तिसमये मृता=निधनीभूता पुनरेव=पश्चात् समुत्थिना = सजीवत्वं गता अतः = अतएव अस्य=एतस्य मम बालस्य=शिशोः माहात्म्यात्=प्रभावेण एषा=दारिका न वधं=न मृत्युम् अवाप्स्यति=लप्स्यते ॥१६॥

राजा—यशोधरे ! ऐसा करो ।

प्रतिहारी—स्वामिन् , सुखसे प्रवेश करें ।

वसुदेव—(आत्मगत ?) स्पष्ट बोलने के कारण मेरे द्वारा दूसरे की सन्तान की हत्या होगी । तो क्या बालक को भी लाकर दे दूँ । अथवा,

यह पुत्री पहले ही मर चुकी थी और पुनः इस बालक के प्रभाव से जीवित हो गई (अतः) यह मृत्यु को नहीं प्राप्त होगी तो मैं भी देवकी को धैर्य बँधाऊँ ।

(प्रस्थान)

राजा—यशोधरे ! उस बालिका को ले आओ ।

प्रतिहारी—स्वामी की जैसी आज्ञा । (जाती है)

(बालिका को लेकर दाई और रक्षा पुरुष आते हैं)

सब—धीरे-धीरे आर्या ! यह बिचला द्वार है । आर्या प्रवेश करें ।

धात्री—(प्रविश्य) जेदु भट्टा। इअं दारिआ अम्हेहि चिरप्पहुदि रक्खिदा। [जयतु भर्ता। इयं दारिकास्माभिश्चिरात् प्रभृति रक्षिता।]

धात्री—सणिअं सणिअं भट्टा!। [शनैः शनैः भर्तः!]

राजा—इयं कंसशिला। यावत् साहसमनुष्ठास्यामि।

अयं हि सप्तमो गर्भ ऋषिशापबलोत्थितः।
अस्मिन् नाशं गते गर्भे मम शान्तिर्भविष्यति ॥ १७ ॥

(गृहीत्वा प्रहृत्य) अये,

एकांशः पतितो भूमावेकांशो दिवमुन्नतः।
मां निहन्तुमिहोद्भूतः करैः शस्त्रसमुज्ज्वलैः ॥ १८ ॥

कंसः दारिकाहनने बीजं प्रदर्शयति—अयं हीति। हि=यतः ऋषिशाप०—ऋषेः=महर्षेः शापः=आक्रोशः। 'शापक्रोशौ=दुरेषणा।' अमरः। तस्य=बलं=पराक्रमः तेन उत्थितः=उत्पन्नः अयं=पुरोवर्ती सप्तमः=अममसंख्याकः गर्भः=गर्भान्निःसृता बालिका अस्तीति शेषः। अस्मिन् गर्भे दारिकारूपे नाशं गते=निधनं प्राप्ते सति मम=कंसस्य शान्तिर्भविष्यति=प्रियता भविष्यति ॥ १७ ॥

कन्याप्रहारं निरूपयति—कंसः—कन्यकायाः=दारिकायाः एकांशः=एको-भागः भूमौ=पृथिव्यां पतितः=निपतितः एकांशः=द्वितीयो भागः दिवम्=अन्तरिक्षम्

धात्री—(प्रवेश करके)—स्वामी की जय हो। मैंने इस बालिका की बड़ी रक्षा की है।

राजा—अरे! यह कुमारी तो राजाओं के दर्शन योग्य है। मैं भी जाति की हत्या करूँगा।

धात्री—स्वामिन्, धीरे-धीरे।

राजा—यह कंस शिला है, तो अब मैं सहसा करता हूँ। यह ऋषि के शाप से पैदा हुआ सातवाँ गर्भ है इस गर्भ के नाश होनेपर मुझे शान्ति हो जाएगी ॥१७॥

(पकड़कर, प्रहार करके) अरे, इसका एक भाग भूमि पर पड़ा है और दूसरा आकाश में। चमकते हुए शस्त्रों से युक्त हाथ से मुझे मारने के लिए यह उत्पन्न हुई है ॥ १८ ॥

अये इयमिदानीं

तीक्ष्णाग्रं शूलमालम्ब्य रौद्रवेषेण जृम्भते ।
विनाशकाले सम्प्राप्ते कालरात्रिरिवोत्थिता ॥ १९ ॥

(ततः प्रविशति कात्यायनी सपरिवारा ।)

कात्यायनी—

शुम्भं निशुम्भं महिषं च हत्वा कृत्वा सुरांस्तान् हतशत्रुपक्षान् ।
अहं प्रसूता वसुदेववंशे कात्यायनी कंसकुलक्षयाय ॥ २० ॥

उन्नतः = ऊर्ध्वं गतः शस्त्र०शस्त्रेण=आयुधेन समुज्ज्वलाः=शोभमानाः तैः करैः= बाहुभिः मां=कंसं निहन्तुं = मारयितुम् इह=पृथिव्याम् उद्भूतः=उत्पन्नः ॥१८॥

कंसः इदानीं दारिकां विशिनष्टि:—तीक्ष्णाग्रमिति—तीक्ष्णं=निशातम् अग्रम्= अग्रभागो यस्य स तम् शूलं=त्रिशूलम् आलम्ब्य=गृहीत्वा रौद्रवेषेण=भयङ्कर-रूपेण जृम्भते=हुंकारं करोति विनाशकाले=संहारसमये सम्प्राप्ते=आगते सति कालरात्रिरिव=कालिका इव उत्थिता=उत्पन्ना ॥ १९ ॥

कात्यायनी निजागमनकारणं प्रदर्शयति--शुम्भमिति । शुम्भम्=एतन्नाम-कम् असुरं हत्वा=विनाश्य तान् सुरान्=असुरपीडितान् देवान् हतशत्रु-पक्षान्—हताः = विनष्टाः शत्रुपक्षाः=रिपुसंघाः येषां ते तान् कृत्वा=विधाय कंसः कुलक्षयाय--कंसस्य नृपस्य कुलं=वंशः तस्य क्षयः=विनाशः तस्मै अहं कात्या-यनी=एतन्नाम्नी देवी वसुदेववंशे=वसुदेवकुले प्रसूता=समुत्पन्ना ॥ २० ॥

अरे ! यह तो इस समय—

तेज फलवाले त्रिशूल को लेकर भयंकर रूप (धारण) करके हुँकार करती है । इस संहार के समय में कालिका के समान उपस्थित हो गई है ॥ १९ ॥

(कात्यायनी का परिवार के सहित प्रवेश)

कात्यायनी—शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुर को मार कर पीड़ित देवताओं के शत्रुओं को नष्ट करके मैं कात्यायनी कंस के वंश के नाश के लिए वसुदेव के कुलमें उत्पन्न हुई हूँ ॥ २० ॥

कुण्डोदरः—

कुण्डोदरोऽहमजितो रणचण्डकर्मा
देव्याः प्रसूतिजनितोग्रमहानिनादः ।
शीघ्रं प्रयामि गगनादवनिं विशालां
हन्तास्म्यजिघांसुरसुरानतिवीर्यदर्पान् ॥ २१ ॥

शूलः—

शूलोऽस्मि भूतमिह भूमितले प्रपन्नो
देव्याः प्रसादजनितोज्ज्वलचारुवेषः ।

कुण्डोदरो नाम कश्चिद् देव्याः सेवकः पृथिव्यां स्वागमनकारणं निर्वक्ति--कुण्डोदर इति !

कुण्डो• अहं कुण्डोदरः=एतन्नामा सेवकः कुण्डमिव उदरं यस्य रणचण्डकर्मा--रणे=संग्रामे चण्डम्=उग्रं कर्म=कृत्यं यस्य सः अजितः=जेतुमशक्योऽस्मीति शेषः । देव्याः कात्यायन्याः प्रसूतिजनितोग्रमहानिनादः--प्रसूत्या=आविर्भावेण जनितः=उत्पन्नः उग्रः=कठोरः महानिनादः=भयङ्करशब्दः यस्य सः अतिवीर्यदर्पान्--वीर्यातिशयेन दर्पः=अवलेपः येषां ते तान् दृप्तान्=गर्वितान् असुरान्=दैतेयान् 'असुरा दैत्यदैतेय० ।' अमरः । जिघांसुः=हन्तुमिच्छुः गगनात्=आकाशमण्डलात् विशालां=महतीम् अवनिं=भूमिं शीघ्रम्=आशु प्रयामि=गच्छामि ॥ २१ ॥

शूलनामा कश्चित् कात्यायन्याः सेवकः स्वागमनप्रवृत्तिं निगमयति--शूलोऽस्मीति ।

देव्याः= कात्यायन्याः प्रसादजनितोज्ज्वलचारुवेषः—प्रसादेन =कृपया

कुण्डोदर—मैं कुण्डोदर नामक सेवक लड़ाई में प्रचण्ड कर्म करने वाला तथा अपराजेय हूँ। मैं देवी की आज्ञा से भयङ्कर गर्जन करता हूँ। मैं अन्तरिक्ष से विशाल पृथ्वी पर, अपने बल पर घमण्ड करनेवाले गर्वित दैत्यों को मारने के लिए शीघ्र ही जा रहा हूँ॥ २१ ॥

शूल--देवी के प्रसाद से मुझे रमणीय उज्ज्वल वेश प्राप्त हुआ है और मैं शूल

कंसं निहत्य समरे परिकर्षयामि
तं पादपं जलनिधेरिव कार्त्तिकेयः ॥ २२ ॥

नीलः—

अहं हि नीलः कलहस्य कर्ता सङ्ग्रामशूरो नपराङ्मुखश्च ।
निहन्मि कंसं युधि दुर्विनीतं क्रौञ्चं यथा शक्तिधरः प्रकृष्टः ॥२३॥

मनोजवः—

मनोजवो मारुततुल्यवेगो देव्यास्तु कार्यार्थमिहोपयातः ।

जनितः=उत्पन्नः उज्ज्वलः=स्वच्छः चारुः=सुन्दरः वेषः=स्वरूपं यस्य स इह=अस्मिन् भूमितले=भूतले प्रपन्नः=अवतीर्णः शूलः=एतन्नामाऽहमस्मि । कार्तिकेयः—कृत्तिकायाः अपत्यम् ॥ २२ ॥

नीलनामा कश्चित् सेवकः स्वाभिप्रायं प्रकटयति—अहमिति । अहम् हि नीलः=नीलनामा वीरोऽस्मि कलहस्य कर्ता=विग्रहस्य कारकः संग्रामशूरः—संग्रामे=आयोधने शूरः=वीरः नपराङ्मुखश्च=कदाचिदपि संग्रामात् पराङ् न कृतम् मुखं येन सः एवंभूतः दुर्विनीतं=दुराचारिणं कंसं=कंसनामानं नृपं युधि=आहवे तथा निहन्मि=हनिष्यामि यथा=येन प्रकारेण प्रकृष्टः=बलिष्ठः शक्तिधरः=एतन्नामकः कुमारः 'षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौञ्चदारणः ।' अमरः । क्रौञ्चं=क्रौञ्चनामानं पर्वतं विदीर्णवान् इति शेषः । अत्रोदाहरणालङ्कारः ॥ २३ ॥

मनोजवनामा देवीभृत्यः स्वकार्यं प्रदर्शयति—मनोजव इति (अहं) मनोजवः—मनः=चित्तं इव जवः=वेगः यस्य सः=एतन्नामा मारुततुल्यवेगः मारुतः=वायुः तत्तुल्यो वेगो=गतिः यस्य स देव्याः=कात्यायन्याः कार्यार्थं=कार्यसाधनार्थम् इह=अस्मिन् स्थाने उपयातः=प्राप्तः यथा=येन प्रकारेण वह्निः=अग्निः नलानां=तृणविशेषाणाम् ('नरकट' इति देशीयनाम) निलयं=विनाशं करोति

पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुआ हूँ । मैं युद्ध में कंस को मारकर वैसे ही घसीटूँगा जैसे कार्तिकेय ने समुद्र के वृक्ष को नष्ट किया था ॥ २२ ॥

नील—मैं नील नामक (योद्धा) कलह उपस्थित करने वाला, संग्राम में शूर और कभी युद्धभूमि से पलायन करने वाला नहीं हूँ । मैं दुराचारी कंस को युद्ध में मारूँगा जैसे कुमार कार्तिकेय ने क्रौंच नामक पर्वत को विदीर्ण किया था ॥२३॥

मनोजव—मैं वायु के समान तीव्रगामी मनोजव कात्यायनी देवी की कार्य-

करोमि सङ्ग्रामशिरःसु दैत्यान् वह्निर्नलानां निलयं यथैव ॥ २४ ॥

कात्यायनी—कुण्डोदर ! शङ्कुकर्ण ! महानील ! मनोजव ! तदागम्यताम् । भगवतो विष्णोर्बालचरितमनुभवितुं गोपालकवेषप्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः ।

सर्वे—यदाज्ञापयति भगवती । (निष्क्रान्ता सपरिवारा कात्यायनी ।)

राजा—अये प्रभाता रजनी

अतः प्रविश्य शान्त्यर्थं शान्तिकर्मोचितं गृहम् ।
करोमि विपुलां शान्तिं मम शान्तिर्भविष्यति ॥ २५ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

तथैव अहं संग्रामशिरसि=रणाङ्गणे=दैत्यान=असुरान करोमि=सम्पादयामि विनष्टानिति शेषः ॥ २४ ॥

राजा च प्रभाते शान्तिं चिकीर्षति—अत इति । अतः = दुश्शकुनदर्शनशान्त्यर्थम्=उपशमनार्थं शान्तिकर्मोचितं—शान्तिकर्मसु उचितं=योग्यं गृहं=भवनं प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा विपुलां=महतीं शान्तिं=शमं करोमि=विदधामि (येन मम कंसस्य शान्तिः=मनश्शान्तिः भविष्यति—यास्यति ॥ २५ ॥

सिद्धि के लिए यहाँ आया हूँ जैसे अग्नि तृण (निकट) के समूह को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार मैं संग्राम में दैत्यों का विनाश करूंगा ॥ २४ ॥

कात्यायनी—कुण्डोदर, शंकुकर्ण, महानील, मनोजव, इधर आओ। भगवान् विष्णु के बालचरित्र का रसास्वादन करने के लिये ग्वालों के वेष में अपने को छिपा कर हम लोग इसी गोप-बस्ती में अवतीर्ण हों।

सब—भगवती की जैसी आज्ञा। (सपरिवार कात्यायनी का प्रस्थान)

राजा—अरे ! सबेरा हो गया।

मैं दुःशकुन की शान्ति के लिए शान्तिकर्म करने के लिए उचित भवन में प्रवेश करता हूं। मैं खूब शान्ति-पाठ-करता हूं जिससे मेरे अनिष्ट की शान्ति होगी ॥ २५ ॥ (सबका प्रस्थान)

(द्वितीय अंक समाप्त ।)

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति वृद्धगोपालकः ।)

वृद्धगोपालः—भो मेघदिण्ण ! क्खु, वषभदिण्ण । क्खु, कुम्भदिण्ण ! क्खु, घोषदिण्ण । क्खु पकालेथ पकालेथ गोधणं । एदेष्षिं वुन्दावणे पकामं पाणीअं पादूणं हुम्भारवं करन्तो आअन्तु गोधणं । एषो गोवज्जहादो णिक्कमिअ परिघट्टिअवम्मीअमूलो भुजङ्गेहि कुवण्णेहि णीलुप्पलादामेहि षिगलग्गेहि विअ वषभो षोभदि । अण्णो वि एषो वषभो उषिदप्पषारिअपुच्छो णिकुञ्चिअजाणू षषीव धवलङ्गो अग्गविषाणेहि महीं उव्वहन्तो विअ षोभदि । जाव दाणि दामअं षद्दावआमि । अले दामअ ! भअवदीणं षुथले ओदालिअ षहवच्छाणं तुवं पि आअच्छ । [भो मेघदत्त ! खलु, वृषभदत्त ! खलु, कुम्भदत्त ! खलु, घोषदत्त ! खलु, प्रकालयत प्रकालयत गोधनम् । एतस्मिन् वृन्दावने प्रकामं पानीयं पीत्वा हुम्भारवं कुर्वदायतु गोधनम् । एष गोव्रजात् (?) निष्क्रम्य परिघट्टितवल्मीकमूलो भुजङ्गैः कुवर्णैः नीलोत्पलदामभिः शृङ्गलग्नैरिव वृषभः शोभते । अन्योऽप्येष वृषभ उच्छ्रितप्रसारितपुच्छो निकुञ्चितजानुः शशीव धवलाङ्गोऽग्रविषाणाभ्यां महीमुद्वहन्निव शोभते । यावदिदानीं, दामकं शब्दयामि । अरे दामक ! भगवतीः सुस्थलेऽवतार्य सहवत्सास्त्वमप्यागच्छ ।]

(वृद्ध गोपालक का प्रवेश)

वृद्ध गोपालक—हे मेघदत्त, वृषभदत्त, कुम्भदत्त और घोषदत्त ! चरने दो, इन गौओं को पेट भर चरने दो । इस वृन्दावन में खूब पानी पीकर हुंकार करती हुई गौओं को आने दो । यह गौओं के झुण्ड से आगे बढ़ता हुआ, वल्मीक को जड़ से खोद डालने के कारण काले लिपटे हुए भुजंगों की भाँति नीले कमल की माला से युक्त सींगों वाला वृषभ शोभित हो रहा है और यह दूसरा वृषभ भी पूँछ को सिकोड़ता और फैलाता (हिलाता) हुआ, जंघाओं को सिकोड़ता हुआ चन्द्रमा की भाँति शुभ्र सींग के अगले भाग से पृथ्वी को धारण करता हुआ सा शोभित हो रहा है; तो मैं दामक को बुलाता हूं । ओ दामक ! सूखे रास्ते से उतार कर बछड़ों सहित भगवती गौओं को इधर लाओ ।

(ततः प्रविशति दामकः ।)

दामकः--अहो महन्तं तिणजालं षामिणो णन्दगोवष्ष । षुदजणणदिणादो आलहिअ अहिअदलं आणन्दुब्भुदं वड्ढइ । भोदु, इह चिट्ठदु गोधणं, जाव मादुलं उवषप्पिष्षं । (उपसृत्य) मादुल ? वन्दामि । [अहो महत् तृणजालं स्वामिनो नन्दगोपस्य । सुतजननदिनादारभ्याधिकतरमानन्दाद्भुतं वर्धते । भवतु, इह तिष्ठतु गोधनं, यावन्मातुलमुपसर्प्स्यामि । मातुल ! वन्दे ।]

वृद्धगोपालकः—षन्ती होदु षन्ती होदु अम्हाणं गोधणष्ष अ। [शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवत्वस्माकं गोधनस्य च ।]

दामकः--मादुल ! जदप्पहुदि नन्दगोवपुत्ते पषूदे, तदप्पहुदि अम्हाणं गोधणं वज्जिअरोअं षंवुत्तं । ण (णं ?) षव्वाणं गोवजणाणं पीदी वड्ढइ । अण्णं च, खादे खादे मूलाणि, फलाणि गुम्हे गुम्हे । मधु केत्तअं दुघ्घदि क्खीरं तत्तअं एव्व घिदं । [मातुल ! यदाप्रभृति नन्दगोपपुत्रः प्रसूतः, तदाप्रभृत्यस्माकं गोधनं वर्जितरोगं संवृत्तम् । ननु सर्वेषां गोपजनानां प्रीतिर्बर्धते, अन्यच्च, खाते खाते मूलानि, फलानि गुल्मे गुल्मे । मधु कियद् दुह्यते क्षीरं तावद् एव घृतम् ।]

वृद्धगोपालकः—अण्णं च इदं अच्छलिअं । दषरत्तप्पषूदे णन्दगोव-

(दामक का प्रवेश)

दामक—स्वामी नन्दगोप का यहाँ पर्याप्त घास है । पुत्र जन्म के बाद से यहाँ विचित्र आनन्द छाया हुआ है । अच्छा, गौओं को यहीं रोक दूँ ! मैं मामा के पास जाऊँगा । (पास जाकर) मामा ! नमस्कार ।

वृद्ध गोपालक—हमारा और हमारी गौओं का कल्याण हो ।

दामक—मामा जब से नन्दगोप को पुत्र हुआ है तब से हम लोगों का गोधन नीरोग हो गया है, सभी गोप-वृन्दों में परस्पर प्रेम बढ़ रहा है । गढ़ों में मूल, लताओं में फल लग गए हैं । कितना मधु है, दूध को दुहते ही ऊपर मक्खन आ जाता है ।

वृद्ध गोपालक—और भी अनेक आश्चर्य हैं । दस दिन का ही जब नन्दगोप-

वुत्ते पूतणा णाम दाणवी विषषम्पूरिदत्थणा णन्दगोवीए रूवं गह्णिअ आअदा। तदो ताए दालअं गह्णिअ तष्ष मुहे त्थणं पक्खित्तं। तदो तं विज्जाणिअ षुविदा पाडिदा चम्मवषेषा दाणवी भविअ तत्तो एव्व मुदा। तदो माषमत्ते णन्दगोववुत्ते षअडो णाम दाणवो षअडवेषं गह्णिअ आअदो। तं पि जाणिअ एकपादप्पहारेण चुण्णीकिदो षो वि दाणवो भविअ तत्तो एव्व मुदो। तदो माषपरिवुत्ते णन्दगोववुत्ते एकष्षिं गेहे गच्छिअ खीरं पिबइ, अण्णष्षिं गेहे गच्छिअ दधिं भक्खइ, एकष्षिं गेहे गच्छिअ णवणीदं गिलदि, अण्णष्षिं गेहे गच्छिअ पाअसं भुञ्जइ, अपरष्षिं गेहे गच्छिअ तक्कघटं पलोअदि। तदो लुट्ठाहि गोवजुवदीहि णन्दगोवीए उत्तं तदो। लुट्ठाए णन्दगोवीए दामं गह्णिअ तष्ष मज्झे बन्धिअ षेषं उलूहले बज्झं। तदा तं पि उलूहलं आघट्टअन्तं पेक्खिअ जमलज्जुणे णाम दाणवे णिक्खित्तं। तदो दुवे एक्कीभूदे। तेषं अन्तलेण गच्छन्तेण णन्दगोववुत्तेण आघट्टअन्तेण षमूलविडवं चुण्णीकिदे ते वि दाणवे भविअ तत्तो एव्व मुदे। तदो गोवजणेहि उत्तं महाबलपलक्कमो अज्जप्पहुदि भट्टिदामोदलो णाम होदु त्ति। तदो आहावणप्पहावणमत्ते

कुमार था तो विष से पूर्ण स्तनों वाली पूतना नामक राक्षसी नन्दगोपी (यशोदा) का वेष बनाकर आई। उसने कुमार को लेकर उसके मुख में स्तन डाल दिया। (कृष्ण ने) उसे सोई हुई जानकर पटक दिया। वह भी दानवी के रूप में आकर वहीं मर गई। एक मास में शकट नामक दानव शकट का वेष धारण करके आया। (कृष्ण ने) उस (के भी असली रूप) को जान कर एक पैर के प्रहार से ही चूर कर दिया। वह भी दानव होकर वहीं मर गया। एक महीने के बाद से नन्दगोप पुत्र एक घर में जाकर दूध पीता, दूसरे में जाकर दही खाता, तीसरे में जाकर मक्खन खाता, इतर में जाकर खीर खाता और अन्येतर में जाकर मट्ठा बिखराता है। तो रुष्ट गोपयुवतियों ने नन्दगोपी से (सब कुछ) कहा। क्रुद्ध नन्दगोपी ने रस्सी लेकर (एक छोर से) उसकी कमर बांध कर शेष को ओखली में बाँध दिया। उसने ओखली को घसीटते हुए यमल और अर्जुन नामक दो दानवों पर फेंक दिया। तब दोनों एक हो गए। तदनन्तर नन्दगोपपुत्र ने समूल विटप को उखाड़ कर चूर कर दिया और वे दोनों दानव होकर वहीं मर गए। तब गोपवृन्दों ने कहा—यह बड़ा पराक्रम किया है अतः आज से लेकर इसका नाम

णन्दगोववुत्ते पलंबो णाम दाणवो णन्दगोववेसं गह्णिअ आअदो। तदो पङ्कलिषणं कण्ठे णिक्खिविअ गच्छन्तं तं विजाणिअ भट्टिणा षङ्कलिषणेण तष्ष दाणवष्ष षीशे मुट्ठिप्पहारो किदो। तेण प्पहारेण उक्खित्तचक्खू षो वि दाणवो भविअ तत्तो एव्व मुदो गोवजणेहि परिवुदो तालहलाणि गह्णिदुं तालवणं गदो। तहिं तालवणे धेणुओ णाम दाणवो गद्दभवेसं गह्णिअ आअदो। तदो तं पि जाणिअ भट्टिदामोदलेण तष्ष भविअ तत्तो एव्व मुदो। तदो केसी णाम दाणवो तुलङ्गवेसं गह्णिअ आअदो। तदो तं पि जाणिअ भट्टिदामोदलेण तष्ष मुहे कोप्परो दिण्णो। तदो तेण दुवी (?) पाडिदो तुलङ्गो। षो वि दाणवो भविअ तत्तो एव मुदो। एदाणि अण्णाणि (अ) कम्माणि किदाणि भट्टिदामोदलेण।

[अन्यच्चेदमाश्चर्यम्। दशरात्रप्रसूते नन्दगोपपुत्रे पूतना नाम दानवी विषसम्पूरितस्तना नन्दगोप्या रूपं गृहीत्वागता। ततस्तया दारकं गृहीत्वा तस्य मुखे स्तनः प्रक्षिप्तः। ततस्तां विज्ञाय सुप्ता पातिता सापि दानवी भूत्वा तत एव मृता। ततो मासमात्रे नन्दगोपपुत्रे शकटो दानवः शकटवेषं गृहीत्वागतः। तमपि ज्ञात्वैकपादप्रहारेण चूर्णीकृतः सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः। ततो मासपरिवृत्तो नन्दगोपपुत्र एकस्मिन् गेहे गत्वा क्षीरं पिबति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति, एकस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिरति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते अपरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते। ततो रुष्टाभिर्गोपयुवतिभिर्नन्दगोप्यै उक्तम्। ततो रुष्टया नन्दगोप्या दाम गृहीत्वा तस्य मध्ये बद्ध्वा शेषमुलूखले बद्धम्। ततस्तदप्युलूखलमाघट्टयत् प्रेक्ष्य यमलार्जुनयोर्नाम दानव-

---

भर्तृ दामोदर होगा। जब कुमार उछलने-कूदने में चतुर हुआ तो प्रलम्ब नामक दानव नन्दगोप का वेष धारण करके आया। संकर्षण को अपने कंठ पर लेकर जाते हुए उसे जानकर भाई संकर्षण ने उस दानव के सिर पर मुक्के से प्रहार किया। उस आघात से उसके नेत्र बाहर निकल आए और वह दानव होकर वहीं मर गया। ग्वालों के साथ तालफलों को लेने तालवन में गया। उस ताल-वन में धेनुक नामक दानव गदहे का वेष धारण करके आया। स्वामी दामोदर ने उसे भी पहचान कर बाएं पैर को पकड़ कर भूमि पर दे पटका और सारे तालफल गिर

योर्निक्षिप्तम् । ततो द्वावेकीभूतौ । तयोरन्तरेण गच्छता नन्दगोपपुत्रेणाघट्टयता समूलविटपं चूर्णीकृतौ तावपि दानवौ भूत्वा तत एव मृतौ । ततो गोपजनैरुक्तं—महाबलपराक्रमोऽद्यप्रभृति भर्तृदामोदरो नाम भवतु इति । तत आधावनप्रधावनमात्रे नन्दगोपपुत्रे प्रलम्बो नाम दानवो नन्दगोपवेषं गृहीत्वागतः ततः संकर्षणं कण्ठे निक्षिप्य गच्छन्तं विज्ञाय भर्त्रा संकर्षणेन तस्य दानवस्य शीर्षे मुष्टिप्रहारः कृतः । तेन प्रहारेणोत्क्षिप्तचक्षुः सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । गोपजनैः परिवृतस्तालफलानि ग्रहीतुं तालवनं गतः । तत्र तालवने धेनुको नाम दानवो गर्दभवेषं गृहीत्वागतः । ततस्तमपि ज्ञात्वा भर्तृदामोदरेण तस्य वामपादं गृहीत्वोत्क्षिप्य पातितानि तालफलानि । सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । ततः केशी नाम दानवः तुरङ्गवेषं गृहीत्वागतः । ततस्तमपि ज्ञात्वा भर्तृदामोदरेण तस्य मुखे कूर्परो दत्तः । ततस्तेन द्विधा पाटितस्तुरङ्गः । सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । एतान्यन्यानि (च) कर्माणि कृतानि भर्तृदामोदरेण ।]

दामकः—मादुल ! षव्वं दाव चिट्ठदु । अज्ज भट्टिदामोदलो इमष्षिं वुन्दावणे गोवकण्णआहिं षह हल्लीषअं णाम पकीलिदुं आअच्छदि । [मातुल ! सर्वं तावत् तिष्ठतु । अद्य भर्तृदामोदरोऽस्मिन् वृन्दावने गोपकन्यकाभिः सह हल्लीसकं नाम प्रक्रीडितुमागच्छति ।]

वृद्धगोपालकः—तेण हि षव्वेहि गोवजणेहि षह भट्टिदामोदलष्ष हल्लीषअं पेक्खम्ह । [तेन हि सर्वैर्गोपजनैः सह भर्तृदामोदरस्य हल्लीसकं पश्यामः]

पड़े । वह भी दानव होकर वहीं मर गया, तब केशी नामक दानव घोड़े का वेश धारण करके आया । भर्तृ दामोदर ने उसे भी जानकर उसके मुख के अन्दर केहुनी डाल दिया जिससे वह घोड़ा दो टुकड़े होकर गिर पड़ा । वह भी दानव होकर वहीं मर गया । इसी तरह भर्ता दामोदर ने अनेक लीलाएँ कीं ।

दामक—मामा ! अच्छा यह सब होने दो । आज भर्ता दामोदर इस वृन्दावन में हल्लीसक नामक नृत्य गोपियों के साथ करने के लिए आएगा ।

वृद्ध गोपालक—तो मैं सभी गोपवृन्दों के साथ भर्ता दामोदर का हल्लीसक नृत्य देखूँगा ।

दामकः— जं मादुलो आणवेदि । [यद् मातुल आज्ञापयति ।]

(निष्क्रान्तौ ।)

प्रवेशकः ।

(प्रविश्य)

वृद्धगोपालकः—

अणुदिअमत्ते सुय्ये पणमह षव्वादलेण षीषेण ।
णिच्चं जगमादूणं गोणाणं अमिदपुण्णाणं ॥ १ ॥

अहो अम्हाणं पक्कणाणं षमिद्धो । आडोवषज्जाओ पडहरूववेसाओ वाहलिदुं गच्छामो । अम्हाअं गोवकण्णआओ ! घोषसुन्दलि ! वणमाले ! चन्दलेहे ! मिअक्खि ! आअच्छह आअच्छह षिग्घं ।

[अनुदितमात्रे सूर्ये प्रणमत सर्वादरेण शीर्षेण ।
नित्यं जगन्मातॄणां गवाममृतपूर्णानाम् ॥ १ ॥

अहो अस्माकं पक्कणानां समृद्धिः । आटोपसज्जाः पटहरूपवेषा व्याहर्तुं

वृद्धगोपालकः स्वकुटुम्बं नमस्कर्तुमुपदिशति—अनुदितेति ।

सूर्ये = दिवाकरे अनुदितमात्रे—न उदितम् अनुदितं तावत्कालम् = अनुदितमात्रं तस्मिन् सूर्योदयात् पूर्वस्मिन् काले सर्वादरेण = परमश्रद्धया शीर्षेण = मस्तकेन अमृतपूर्णानाम्—अमृतेन = दुग्धेन पूर्णाः = पूरिताः तासां जगन्मातॄणाम् = अखिलधात्रीणाम् गवां = धेनूनां नित्यम् = अहरहः प्रणमत = नमस्कारं कुरुत यूयमिति शेषः ॥ १ ॥

दामक—जैसी मामा जी आज्ञा देते हैं ।

(प्रस्थान)

प्रवेशक

(प्रवेश करके)

वृद्ध गोपालक—सूर्योदय के पहले अमृत (दुग्ध) से पूर्ण, जगत की माता गौओं को बड़े आदर के साथ सर्वदा सिर झुकाकर नमस्कार करो ॥ १ ॥

अहः हम लोगों की बस्तियां कितनी सम्पन्न हैं। खूब सज धज कर पटरूपी

गच्छामः। अस्माकं गोपकन्यकाः! घोषसुन्दरि! वनमाले! चन्द्ररेखे! मृगाक्षि! आगच्छतागच्छत शीघ्रम्।]

(ततः प्रविशन्ति सर्वाः।)

सर्वाः—मादुल! वन्दामो। [मातुल! वन्दामहे।]

वृद्धगोपालक—दालिआ! एषो भट्टा दामोदलो गोक्खीरपण्डरेण भट्टिणा षङ्कलिषणेण षह गोवालएहिं अ परिवुदो गुहाणिक्खित्तो षिंहो विअ इदो एव्व आअच्छदि। [दारिकाः! एष भर्ता दामोदरः गोक्षीर-पाण्डरेण भर्त्रा सङ्कर्षणेन सह गोपालकैश्च परिवृतः गुहानिक्षिप्तः सिंह श्वेत एवागच्छति।]

(ततः प्रविशति गोपजनपरिवृतो दामोदरः सङ्कर्षणश्च।)

दामोदरः—(सविस्मयम्) अहो प्रकृत्या रमणीयानां गोपकन्यकानां वेषग्रहणविशेषः।

एताः प्रफुल्लकमलोत्पलवक्त्रनेत्रा
गोपाङ्गनाः कनकचम्पकपुष्पगौराः।

दामोदरः गोपकन्यकानां स्वरूपं वर्णयति—एता इति।

प्रफुल्लकमलोत्पलवक्त्रनेत्राः—प्रफुल्लानां=विकचानां कमलानां=पद्मानाम् उत्पलानां = नीलकमलानामिव वक्त्राणि = मुखानि नेत्राणि = नयनानि यासां ताः,

---

वस्त्रों को धारण करके टहलने जाएँगे। हमारी गोप-कुमारिकायें घोष-सुन्दरी! वन-माला! चन्द्रलेखा! मृगाचि! जल्दी आओ, जल्दी आओ।

(सब का प्रवेश)

सब—मामा! हम नमस्कार करती हैं।

वृद्ध गोपालक—पुत्रियो! यह स्वामी दामोदर गोदुग्ध की भाँति शुभ्र वर्ण वाले भाई बलराम के साथ और ग्वालों से घिरे हुए गुफा में स्थित सिंह की तरह इधर ही आ रहे हैं।

(ग्वालों से घिरे हुए दामोदर और संकर्षण का प्रवेश)

दामोदर (आश्चर्य से)—अहा, स्वभावतः मनोमोहक गोप-कुमारिकाओं का (यह) विशेष वेष-भूषा बड़ा ही रमणीय है।

पुष्पित कमल से मुख, कंज से नेत्र, स्वर्ण चम्पे के फूल की भाँति गोरी, रंग

नानाविरागवसना मधुरप्रलापाः
क्रीडन्ति वन्यकुसुमाकुलकेशहस्ताः ॥ २ ॥

सङ्कर्षणः—एते गोपदारकाः समागताः ।

रक्तैर्वसुकडिण्डिमैः प्रमुदिताः केचिन्नदन्तः स्थिताः
केचित् पङ्कजपत्रनेत्रवदनाः क्रीडन्ति नानाविधम् ।
घोषे जागरिमा (?) गुरुप्रमुदिता हुम्भारशब्दाकुले
वृन्दारण्यगते समप्रमुदिता गायन्ति केचित् स्थिताः ॥३॥

कनकचम्पकपुष्पगौराः—कनकानां हाटकानां चम्पकपुष्पाणां = हेमपुष्पकाणां 'चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः । इव गौराः = गौरवर्णाः नानाविरागवसनाः-नानाविरागं = अनेकवर्णं वसनं = वस्त्रं यासां ताः, मधुरप्रलापाः—मधुरो=मनोहरः प्रलापो = लपनं यासां ताः वन्यकुसुमाकुलकेशहस्ताः—वने भवानि—वन्यानि = आरण्यकानि कुसुमानि = पुष्पाणि तैः आकुलः व्याप्तः = केशहस्तः कचसमूहो यासां ताः एताः गोपाङ्गनाः क्रीडन्ति = विहरन्ति । उपमाऽलंकारः ॥ २ ॥

बलदेवः समागतान् गोपदारकान् विशिनष्टि-रक्तैरित्यादिना ।

केचित् = गोपशिशवः रक्तैर्वसुकडिण्डिमैः—रक्तैः = रञ्जितैः वसुकडिण्डिमैः = पटहैः प्रमुदिताः = प्रसन्नाः नदन्तः = नादं कुर्वन्तः स्थिताः = एकत्रीभूताः केचित् = अन्ये गोपबटवः पङ्कजपत्रनेत्रवदनाः = कमलदलनयनमुखाः नाना-विधाः = विविधप्रकारं क्रीडन्ति = विहारं कुर्वन्ति । केचित् = अपरे गोपशिशवः घोषे=आभीरपल्ल्यां 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । जागरिमाः = विनिद्राः गुरुप्रमुदिताः = बह्वानन्दिताः हुम्भारशब्दाकुले—हुङ्कारशब्दः =

बिरंगे वस्त्रों में, मनोहर बातें करती हुई वन के पुष्पों की भाँति उलझे हुए केश को हाथ से पकड़े हुए ये (गोपकन्याएँ) विहार कर रही हैं ॥ २ ॥

संकर्षण—ये गोपकुमार आ गये। कुछ (गोपकुमार) रंगीन नगाड़ों के साथ प्रसन्न होकर नाच रहे हैं। कुछ लोग (खुश होकर) शोर कर रहे हैं। कुछ कमलदल की भाँति नेत्र और मुख वाले नाना प्रकार से खेल रहे हैं। (संपूर्ण) गाँव में जागरण है तथा कुछ लोग हर्षोल्लासके हुंकार से व्याप्त वृन्दावन में प्रसन्न हो गा रहे हैं ॥ ३ ॥

वृद्धगोपालकः—आम भट्टा। षव्वा षण्णद्धा आअदा। [आम भर्तः! सर्वे सन्नद्धा आगताः!]

दामकः—जेदु भट्टा। [जयतु भर्ता।]

सङ्कर्षणः—दामक! सर्वे गोपदारकाः समागताः।

दामकः—आम भट्टा! षव्वे षण्णद्धा आअदा। [आम भर्तः! सर्वे सन्नद्धा आगताः।]

दामोदरः—घोषसुन्दरि! वनमाले! चन्द्ररेखे। मृगाक्षि! घोषवासस्यानुरूपोऽयं हल्लीसकनृत्तबन्ध उपयुज्यताम्।

सर्वाः—जं भट्टा आणवेदि। [यद् भर्ताज्ञापयति।]

सङ्कर्षणः—दामक! मेघनाद! वाद्यन्तामातोद्यानि।

उभौ—भट्टा! तह। [भर्तः! तथा।]

वृद्धगोपालकः—भटटा! तुम्हे हल्लीसअं पकीलन्ति। अहं एत्थ किं करोमि। [भर्तः! यूयं हल्लीसकं प्रक्रीडय। अहमत्र किं करोमि।]

दामोदरः— प्रेक्षको भवान् ननु।

गवादिकृतः तेन आकुले = व्याप्ते वृन्दारण्यगते-वृन्दावने समप्रमुदिताः=तुल्यानन्दिताः स्थिताः गायन्ति = गानं कुर्वन्ति ॥ ३ ॥

आतोद्यं = वाद्यम्।

वृद्धगोपालक—हाँ स्वामिन्! सब तैयार होकर आ गए हैं।

दामक—स्वामी की जय हो।

सकर्षण—दामक! सब गोपकुमार आ गए हैं?

दामक—हाँ स्वामिन्? सब तैयार होकर आ गए।

दामोदर—घोषसुन्दरी, वनमाला, चन्द्रलेखा, मृगाक्षी आप सब इस आभीर ग्राम के अनुकूल हल्लीसक नृत्य को आरम्भ करें।

सब—जैसी स्वामी की आज्ञा।

संकर्षण—दामक! मेघनाद! नगाड़े बजाओ।

दोनों—अच्छा स्वामी।

वृद्ध गोपालक—तुम सब हल्लीसक नृत्य करोगे पर मैं यहां क्या करूं?

दामोदर—आप दर्शक बनें।

वृद्धगोपालकः—भट्टा ! तह । [भर्तः ! तथा ।]

(सर्वे नृत्यन्ति ।)

वृद्धगोपालकः—ही ही सुट्ठु ईदं । सुट्ठु वाइदं । सुट्ठ णच्चिदं । जाव अहं वि णच्चेमि । परिस्सन्तो खु अहं । [ही ही सुष्ठु गीतम् । सुष्ठु वादितम् । सुष्ठु नर्तितम् । यावदहमपि नृत्यामि । परिश्रान्तः खल्वहम् ।]

(प्रविश्य)

गोपालकः—हा हा भट्टा अवक्कमदु इमादो देसादो । [हा हा भर्ता अपक्रामत्वस्माद् देशाद् ।]

दामोदरः--दामक ! किमसि सम्भ्रान्तः ।

गोपालकः—एषो अलिट्टवसभो णाम दाणवो पिण्डीकिदणिग्घादरूवो भूमिदलं खुरपुडेहि लिहन्तो, जस्स घोषो मेघरवत्ति सङ्किदो जादो । [एषोऽरिष्टवृषभो नाम दानवः पिण्डीकृतनिर्घातरूपो भूमितलं खुरपुटैर्लिखन्, यस्य घोषो मेघरव इति शङ्कितो जातः ।]

दामोदरः—एवं प्राप्तोऽरिष्टर्षभः । इमा नो गोपदारिका दारकांश्च गृहीत्वैतत् पर्वतशिखरमारुह्य दुरात्मनो मम च युद्धविशेषं पश्यत्वार्यः । अहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि ।

वृद्ध गोपालक—अच्छा स्वामी ।

वृद्ध गोपालक—अहा हा ! खूब गाया । खूब बजाया । खूब नाचा । तो मैं भी नाचूँ पर मैं थक गया हूँ ।

(प्रवेश करके)

गोपालक--हा हा, स्वामी ! इस देश से भाग चलें ।

दामोदर—दामक ! तुम क्यों घबड़ाए हो ?

गोपालक--संहार का पुंजीभूतस्वरूप अरिष्ट नामक दानव अपने खुर के अगले भाग से भूमि को खोद रहा है । जिसके रंभाने पर मेघ-गर्जन की शंका होती है ।

दामोदर--ऐसा, अरिष्टर्षभ आ गया । आर्य आप इन गोपकुमारियों और कुमारों को लेकर इस पर्वत के ऊपर चढ़कर पापी दानव और मेरा विशेष युद्ध देखिए । मैं इसके गर्व को चूर करूँगा ।

(सङ्कर्षणस्तैः सह निष्क्रान्तः)

दामोदरः—एष एष दुरात्मारिष्टर्षभः ।

कृत्वा खुरैर्भूमितलं प्रभिन्नं शृङ्गैश्च कूलानि समाक्षिपंश्च ।
भयार्तगोपैः प्रसमीक्ष्यमाणो नदन् समाधावति गोवृषेन्द्रः ॥ ४ ॥

(ततः प्रविशत्यरिष्टर्षभः ।)

अरिष्टर्षभ--एष भोः ?

शृङ्गाग्रकोटिकिरणैः खमिवालिखंश्च
शत्रोर्वधार्थमुपगम्य वृषस्य रूपम् ।
वृन्दावने सललितं प्रतिगर्जमान-

दामोदरः = अरिष्टनामानं वृषभं वर्णयति—कृत्वेति ।

खुरैः=शफैः 'शफं क्लीबे खुरः पुमान् ।' अमरः । भूमितलं = मेदिनीं प्रभिन्नं कृत्वा = विदीर्य शृङ्गैश्च = विषाणैश्च कूलान्=नदीतटान् समाक्षिपन् = पातयन् भयार्तगोपैः = भीरुगोपालकैः प्रसमीक्ष्यमाणः = प्रसमीक्ष्यते असौ इति प्रसमीक्ष्यमाणः = दृश्यमानः गोवृषेन्द्रः = गवेन्द्रः नदन्=नादं कुर्वन् समाधावति = इत एवागच्छति ॥ ४ ॥

अरिष्टवृषभः स्वाभिप्रायं वर्णयति—शृङ्गाग्रेत्यादिना ।

अहं = वृषभोऽरिष्टनामा शत्रोः = विपक्षस्य वधार्थं=नाशार्थं वृषस्य = वृषभस्य रूपं=स्वरूपम् उपगम्य = सम्प्राप्य शृङ्गाग्रकोटिकिरणैः--शृङ्गाग्रं=विषाणाग्रं कोटि-किरणैः = कोटिरश्मिभिः खम् = आकाशम् आलिखन्=विदारयन् इव वृन्दावने = वृन्दारण्ये सललितं=सानन्दं प्रतिगर्ज्यमानं=हुम्मारवं कुर्वन् शत्रुं = रिपुं दामोदरम्

(उनके साथ संकर्षण का प्रस्थान)

दामोदर--यह, यह पापी अरिष्टर्षभ—

अपने खुर से भूतल को विदीर्ण करके और सींघ से (यमुना) तट को गिराता हुआ और गर्जन करता हुआ वृषभश्रेष्ठ आ रहा है। (जिसे) इसे भय-भीत गोपगण बार-बार देख रहे हैं ॥ ४ ॥

(अरिष्टर्षभ का प्रवेश)

अरिष्टर्षभ--अरे हे ! आज मैं सींग के तीक्ष्ण अग्रभाग की किरणों से आकाश को

माक्रम्य शत्रुमहमद्य सुखं चरामि ॥ ५ ॥

हुङ्कारशब्देन ममेह घोषे स्रवन्ति गर्भा वनिताजनस्य ।
खुराग्रपातैर्लिखितार्धचन्द्रा प्रकम्पते सद्रुमकानना भूः ॥ ६ ॥

क नु खलु गतो नन्दगोपपुत्रः । भो नन्दगोपपुत्र ! क्वासि ।

दामोदरः--भो गोवृषाधम ! इत इतः । एष स्थितोऽस्मि ।

अरिष्टर्षभः--(दृष्ट्वा) अहो,

सारवान् खल्वयं बालो यो मां दृष्ट्वा महाबलम् ।

आक्रम्य = आक्रमणं कृत्वा विनाश्येति भावः । अद्य = अस्मिन् दिने सुखं = सुखपूर्वकं चरामि = भक्षयामि शष्पमिति शेषः ॥ ५ ॥

अरिष्टः सगर्वं स्वपराक्रममुद्घोष्यते—हुङ्कारशब्देनेति ।

मम = अरिष्टर्षभस्य हुङ्कारशब्देन = हुङ्कृतेन इह=अस्मिन् घोषे = वसन्तौ वनिताजनस्य=स्त्रीजनस्य गर्भाः = भ्रूणाः स्रवन्ति = स्खलन्ति । खुराग्रपातैः--खुराग्राणां=शफाग्राणां पातैः = पतनैः लिखितम् अर्धचन्द्रं यस्यां सा लिखितार्धचन्द्रा = अर्धचन्द्रलिखिता इव । सद्रुमकानना द्रुमैः = वृक्षैः काननैः = अरण्यैः सहिता = युक्ता भूः = पृथिवी प्रकम्पते = प्रकम्पमनुभवति ॥ ६ ॥

दामोदरं दृष्ट्वा साश्चर्यम् अरिष्टर्षभः मनसि विचारयति--सारवानिति ।

अयं = पुरोवर्ती बालः = श्रीकृष्णः सारवान् सारो=बलमस्ति अस्मिन्निति यः शिशुः महाबलम् = अत्यन्तपराक्रमिणं माम् = वृषभं दृष्ट्वा = अव-

---

खण्डित करता हुआ, शत्रुओं के वध के लिए बैल का रूप धारण करके बृन्दावन में सविलास गर्जन करते हुए शत्रुओं पर आक्रमण करके सुखपूर्वक चरूंगा ॥ ५ ॥

मेरे हुंकार शब्द से इस आभीर-ग्राम की स्त्रियों के गर्भ स्रवित हो रहे हैं । मेरे खुर के अग्र भाग से अर्धचन्द्रचिह्नित वन-वृक्षों से युक्त यह पृथ्वी थरथरा रही है ॥ ६ ॥

वह नन्दगोप का पुत्र कहाँ है ? अरे, नन्दगोप-पुत्र तू कहां है ?

दामोदर—अरे, नीच गोवृषभ इधर-इधर, मैं यहां हूँ

अरिष्टर्षभ (देखकर)—अरे, यह बालक बड़ा पराक्रमी है जो मेरे भयंकर

उग्ररूपं महानादं नैव भीतो न विस्मितः ॥ ७ ॥

दामोदरः—

किमेतद् भो ! भयं नाम भवतोऽद्य मया श्रुतम् ।
भीतानामभयं दातुं समुत्पन्नो महीतले ॥ ८ ॥

अरिष्टर्षभः--भो ! बालस्त्वम् । अतः खलु भयं न जानासि ।

दामोदरः--भो गोवृषाधम ! किं बाल इति मां प्रधर्षयसि ।

किं दष्टः कृष्णसर्पेण बालेन न निहन्यते ।

लोक्य किं च उग्ररूपं=प्रचण्डस्वरूपं महानादं=भीतिप्रदं शब्दं च दृष्ट्वा = श्रुत्वा भीतः न भयमाप = न विस्मितः नाश्चर्यचकितो जात इति ॥ ७ ॥

दामोदरः वृषभमुत्तरयति—किमेतदिति ।

भोः वृषभ एतत् = यत्त्वया उक्तं भयं नाम = भयाभिधं किं = किमाकारकम् अद्य = इदानीं भवतः = त्वत्तः मया = दामोदरेण श्रुतम् = आकर्णितम् इतः पूर्वं कदापि न श्रुतमित्याशयः । (अत्र) महीतले = मेदिन्यां भीतानां = भयभीतानां जनानाम् अभयं दातुं = निर्भयं कर्तुं समुत्पन्नः = प्रादुर्भूतः ॥ ८ ॥

प्रधर्षयसि = निन्दसि ।

बाल इति मत्वा प्रधर्षणं मा कुरु, तत्र बीजं दर्शयति = किं दष्ट इति ।

बालेन = शिशुना कृष्णसर्पेण = कृष्णकाकोदरेण दष्टः = दंशितः किं न निहन्यते = न म्रियते म्रियत एवेत्यर्थः । हि=यथा पुरा = पूर्वस्मिन् काले बालेन =

स्वरूप, भयंकर गर्जन और महापराक्रम को देखकर न डरा और न ही आश्चर्य-चकित हुआ ॥ ७ ॥

दामोदर—अरे, यह क्या आज मैंने भय का नाम तुम्हीं से सुना है। भयभीतों को अभय देने के लिए ही मैं पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हूँ ॥ ८ ॥

अरिष्टर्षभ—तू बालक है ? इसीलिए तू भय नहीं जानता ।

दामोदर—अरे नीच गोवृषभ ! क्या मुझे बालक कहकर मेरी निन्दा करता है ?

बालेन हि पुरा क्रौञ्चः स्कन्देन निधनं गतः ॥ ९ ॥

भवितव्यम् ।

अपीदं शृणु मूर्ख ! त्वं कठिनोपलसञ्चयः ।
किं न पल्लवमात्रेण शैलो वज्रेण पातितः ॥ १० ॥

अरिष्टर्षभः—भो नन्दगोपपुत्र ! किं व्यवसितम् ।

दामोदरः—त्वां निधनमुपनेतुम् ।

अरिष्टर्षभः—समर्थो भवान् ।

दामोदरः—कः संशयः ।

अरिष्टर्षभः—तेन हि गृह्यतां स्वजातिसदृशं प्रहरणम् ।

दामोदरः—प्रहरणमिति । हं भोः !

बालकेन स्कन्धेन = कुमारेण क्रौञ्चः = क्रौञ्चपर्वतः निधनं गतः = विदारितः ॥ ९ ॥

पुनः दामोदरः अरिष्टं भर्त्सयति = अपीदमिति ।

रे मूर्ख–मुह्यतीति मूर्खः (मुहेः खः मूर्चेति उणादिसूत्रात् मुह वैचित्य इति धातोः रूपम् ।)=रे अविवेकिन् इदमपि त्वं = वृषभः शृणु = आकर्णय पल्लवमात्रेण = पल्लवप्रमाणेन वज्रेण = कुलिशेन कठिनोपलसञ्चयः—कठिनानां = कठोराणाम् उपलानां = प्रस्तराणां सञ्चयः = संघः यस्मिन् स शैलः=गिरिः किम पातितः न खण्डितः किम् किन्तु खण्डित एव ॥ १० ॥

क्या काले (विषैले) सर्प शिशु के डसने पर कोई मरता नहीं ? पहले बालक कुमार द्वारा ही क्रौञ्च असुर का वध हुआ था ॥ ९ ॥

ऐसा होना चाहिए । अरे मूर्ख सुन ! कठिन पत्थरों से बने हुए पर्वत को पल्लव (पत्ते) के समान वज्र से नहीं गिराया गया था (क्या) ? ॥ १० ॥

अरिष्टर्षभ--रे नन्दगोप पुत्र ! क्या सोचा है ?

दामोदर--तुम्हें मारने के लिए ।

अरिष्टर्षभ--समर्थ हो तुम ?

दामोदर--(इसमें) शंसय क्या ?

अरिष्टर्षभ--तो अपनी जाति के अनुकूल शस्त्र लो ।

दामोदर--शस्त्र ? अरे हे—

गिरितटकठिनांसावेव बाहू ममैतौ
प्रहरणमपरं तु त्वादृशां दुर्बलानाम् ।
अथ मम भुजदण्डैः पीड्यमानश्च शीघ्रं
यदि न पतसि भूमौ नास्मि दामोदरोऽहम् ॥ ११ ॥

अरिष्टर्षभः—तेन हि प्रवर्ततां युद्धम् ।

दामोदरः—भो गोवृषाधम ! यदि ते शक्तिरस्ति, मां पादेनैकेन स्थितं स्थानात् कम्पय ।

अरिष्टर्षभः--कोऽत्र संशयः (तथा कर्तुं चेष्टयित्वा मूर्च्छितः पतति ।)

दामोदरः--भो गोवृष ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । अनेन वीर्येण भवान् गर्वितः ।

दामोदरः एतौ मम भुजावेव प्रहरणमिति निरूपयति—गिरितयेत्यादिना ।

गिरितटकठिनांसौ—गिरितटयोरिव कठिनौ अंसौ ययोस्तौ = पर्वततट-कठोरस्कन्धौ एव मम एतौ = उभौ बाहू = भुजौ 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः ।' अमरः । त्वादृशानां त्वत्सदृशानां दुर्बलानां = निर्बलानां तु अपरम्=अन्यत् प्रहरणम्=आयुधं मम करावेवेति विशेषः । अथ=अनन्तरम् मम=दामोदरस्य भुजदण्डैः=दोर्दण्डैः पीड्यमानश्च = चूर्णितश्च शीघ्रं = द्राक् यदि = चेत् भूमौ = भूतले न पतसि = पतितो न भवसि (तर्हि) अहं दामोदरः=दामोदरनामा नास्मि=न भवामि ॥ ११ ॥

पर्वत के अधोभाग के समान कठिन दोनों कन्धे वाले ही मेरे भुजा शस्त्र हैं पर तुम जैसे दुर्बलों के लिए दूसरा शस्त्र है । यदि मेरी भुजा से चूर्णित होकर तू शीघ्र ही भूमि पर नहीं गिरेगा तो मेरा नाम दामोदर नहीं ॥ ११ ॥

अरिष्टर्षभ—तो युद्ध प्रारम्भ करो ।

दामोदर—अरे, नीच गोवृषभ ! यदि तुममें शक्ति है तो पृथ्वी पर रखे हुए मेरे एक पैर को हिलादो ।

अरिष्टर्षभ—इसमें क्या संदेह है । (वैसा करने की चेष्टा करके मूर्छित होकर गिर पड़ता है ।)

दामोदर—हे गोवृषभ ! धैर्य धारण करो धैर्य धारण करो ।

इसी पराक्रम पर आप गर्वित थे ?

अरिष्टर्षभः—(आश्वस्य, आत्मगतम्) अहो दुष्प्रसह्योऽयं बालः ।

रुद्रो वाऽयं भवेच्छक्रो विष्णुर्वापि स्वयं भवेत् ।
अमिथ्या खलु मे तर्कः स एव पुरुषोत्तमः ॥ १२ ॥

आ,

यत्र यत्र वयं जातास्तत्र तत्र त्रिलोकधृत् ।
दानवानां वधार्थाय वर्तते मधुसूदनः ॥ १३ ॥

भवतु । विष्णुना हतस्याप्यक्षयो लोको मे भविष्यति । तस्माद् युद्धं

अरिष्टर्षभः बालस्य दुष्प्रसह्यं बलं दृष्ट्वा पुरुषोत्तम इति निश्चिनोति—रुद्रोवायमिति ।

अयम् = बालः रुद्रः = शिवः वा = अथवा शक्रः = इन्द्रो भवेत् = स्यात् वा स्वयं = साक्षात् विष्णुः = व्यापकः हरिः भवेत् = भवितुं शक्नुयात् । मे = मम अरिष्टर्षभस्य तर्कः = विचिकित्सा अमिथ्या = सत्यमेव खलु = निश्चितम् अयं स एव = विख्यातः पुरुषोत्तमः = हरिरेवावतीर्णः ॥ १२ ॥

सर्वत्रैव हरिः वर्तते इत्यरिष्टर्षभः निरूपयति—यत्रेति ।

यत्र यत्र = यस्मिन् यस्मिन् स्थाने वयम् = दानवाः जाताः = उत्पन्नाः तत्र-तत्र = तस्मिन् तस्मिन् स्थाने त्रिलोकधृत्-त्रिलोकान् धरतीति = त्रिभुवनधारकः मधुसूदनः—मधुं = मधुनामानं राक्षसं सूदयति = विनाशयति-विष्णुः दानवानां—दनुवंशीयानां वधार्थाय = विनाशयितुं वर्तते = अस्ति ॥ १३ ॥

अरिष्टर्षभ—(धैर्य धारण करके, स्वगत)—इस बालक का सामना करना बड़ा कठिन है ।

चाहे शंकर हों, इन्द्र हों अथवा स्वयं विष्णु भगवान् हों मेरा तर्क-वितर्क करना व्यर्थ है यह पुरुषोत्तम ही हैं ॥ १२ ॥

अरे ! जहाँ-जहाँ (दानव) लोग उत्पन्न हुए वहाँ हम लोगों के लिए स्वयं त्रिलोकीरक्षक मधुसूदन भी उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

अच्छा विष्णु के द्वारा मारे जाने पर अमर-लोक प्राप्ति होगी । इसलिए

करिष्यामि । (प्रकाशम्) भो नन्दगोपपुत्र ! पुनरपि जातो मे दर्पः ।

दामोदरः—हुम् । तिष्ठ तिष्ठेदानीम् ।

किं गर्जसे भुजगतो मम गोवृषेन्द्र !
पातप्रवृद्ध इव वार्षिककालमेघः ।
एहि क्षिपामि धरणीतलमभ्युपेहि
वज्राहतस्तट इवाञ्जनपर्वतस्य ॥ १४ ॥

(तथा कृत्वा) एष एष दुरात्मारिष्टर्षभः,

विस्रुतरुधिरधाराक्लिन्ननासास्यनेत्रं
चलितककुदवालः प्रस्फुरत्पादकर्णः ।

दामोदरः गोवृषं भर्त्सयन् भूमौ क्षिपति—किं गर्जस इति । हे गोवृषेन्द्र—रे अरिष्टर्षभ ! पातप्रवृद्धः—पातेन=जलवर्षणेन प्रवृद्धः—प्रवर्द्धमानो वार्षिककालमेघः—वर्षायां भवः स चासौ कालश्च तस्मिन् मेघः=अम्बुदः मम=दामोदरस्य भुजगतः=बाहुमध्यगतः किं गर्जसे=कथं गर्जनं करोषि । एहि=आगच्छ क्षिपामि=पातयामि अञ्जनपर्वतस्य=कज्जलगिरेः वज्राहतः=वज्रेणाहतः कुलिशखण्डितः तट इव=खण्ड इव धरणीतलं=भूतलं अभ्युपेहि=प्राप्नुहि ॥ १४ ॥

दामोदरेण विहिताम् अरिष्टर्षभस्य दशां वर्णयति—विस्रुत इति । विस्रुत०—रुधिरस्य धारा=रुधिरधारा विस्रुता=प्रस्रुता या रुधिरधारा=रक्तश्रेणी तया क्लिन्नम्=आर्द्रं नासास्यनेत्रं=नासिकामुखनयनं यथा स्यात्तथा चलितककुद-

---

युद्ध करूँगा । (प्रकाश में) हे नन्दकुमार ! मुझे पुनः अहंकार हो गया है ।
दामोदर—हुंः हुंः ठहरो ठहरो अभी ।

रे अरिष्टर्षभ, वर्षा काल में उमड़ते हुए बादल की तरह मेरी भुजाओं में पड़ा हुआ कैसा गर्जन करता है । आओ तुम्हे मैं पृथ्वीपर गिराकर वज्र से आहत कज्जल पर्वत की भाँति खण्ड कर डालूँ ॥ १४ ॥

(वैसा करके) अरे, यह २ पापी अरिष्टर्षभ !

रुधिर की धारा से इसका मुख, नासिका और नेत्र तर हो रहे हैं । वृषांग के बाल

निपतति विगतात्मा भूतले वज्रभिन्नो
गिरिरिव शिखराग्रैर्गोवृषो दानवेन्द्रः ॥ १५ ॥

(प्रविश्य)

दामकः—जेदु भट्टा । एषो भट्टा षङ्कलिषणो पव्वदादो जमुणाहले कालिओ णाम महाणाओ उट्ठिदो त्ति सुणिअ तं पडिगओ । वालेहि वालेहि भट्टा । षङ्कलिषणं । (जयतु भर्ता । एष भर्ता संकर्षणः पर्वताद् यमुनाह्रदे कालियो नाम महानाग उत्थित इति श्रुत्वा तं प्रति गतः । वारय वारय भर्तः । संकर्षणम् ।)

दामोदरः—कालियो नाम मयापि श्रूयते सदर्पः पन्नगपतिः । भवत्वहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि ।

वालः—चलिताः=प्रकम्पिताः ककुदवालाः = वृषाङ्गकचाः 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् ।' अमरः । यस्य सः प्रस्फुरद्०—प्रस्फुरन्तौ=प्रकम्पितौ पादौ = चरणौ कर्णौ = श्रोत्रे च यस्य सः वज्रभिन्नः—वज्रेण = कुलिशेन भिन्नः = खण्डितः शिखराग्रैः = कूटैः गिरिरिव = पर्वत इव विगतात्मा—विगतः = विनष्टः आत्मा=जीवो यस्य सः गोवृषः=वृषश्रेष्ठः दानवेन्द्रः=दनुजेशः भूतले = पृथिव्यां निपतति=पतितो भवति ॥ १५ ॥

थरथरा रहे हैं । पैर और कान काँप रहे हैं । यह दैत्यराज वृषभश्रेष्ठ वज्र से आहत चोटी वाले पर्वत की भाँति पृथ्वी पर गिरता है ॥ १५ ॥

(प्रवेश करके)

दामक—स्वामी की जय हो । 'यह स्वामी (आपके) भाई संकर्षण 'यमुना नदी में कालिय नामक महानाग उठा है' ऐसा सुनकर पर्वत से वहीं गए हैं । रोकिये स्वामिन् संकर्षण को रोकिये ।

दामोदर—मैंने भी कालिय नामक महा अहंकारी सर्पराज को सुना है । अच्छा मैं इसका दर्प चूर्ण करता हूँ ।

गोब्राह्मणादयस्तेन सुजूष्यन्ते किल प्रजाः ।
अद्यप्रभृति शान्तात्मा निष्प्रभः स भविष्यति ॥ १६ ॥

(निष्क्रान्तौ ।)

तृतीयोऽङ्कः ।

दामोदरः कालियस्य दर्पप्रशमनं चिकीर्षति—गोब्राह्मणादय इति ।

तेन=कालियनागेन गोब्राह्मणादयः--गावः = धेनवः ब्राह्मणाः = द्विजाश्च इत्यादयः प्रजाः = जनाः किल—निश्चयेन । सुजूष्यन्ते=व्यथिता भवन्ति अद्यप्रभृति= अद्यारभ्य निष्प्रभः--प्रभायाः=दीप्तेः निष्क्रान्तः = रहितः-शान्तात्मा—शान्तः= दर्परहितः आत्मा = जीवः यस्य स कालियः भविष्यति=वर्त्तिष्यते ॥ १६ ॥



वह (कालिय नाग) गो, ब्राह्मण आदि लोगों को कष्ट देता है (अतः) आज से प्रभारहित और (दर्परहित) शान्त हो जायगा ॥ १६ ॥



अथ चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति दामोदरः ।)

दामोदरः--

एता मत्तचकोरशावनयनाः प्रोद्भिन्नकम्रस्तनाः
कान्ता प्रस्फुरिताधरोष्ठरुचयो विस्रस्तकेशस्रजः ।
सम्भ्रान्ता गलितोत्तरीयवसनास्त्रासाकुलव्याहृता-
स्त्रस्ता मामनुयान्ति पन्नगपतिं दृष्ट्वैव गोपाङ्गनाः ॥ १ ॥

दामोदरः कालियेनः त्रस्ताः गोपाङ्गना वर्णयति–एता इति ।

मत्तचकोरशावनयनाः--मत्ताः=मदाविष्टाः चकोरशावाः=चक्रवाकशिशवः तेषां नयनानीव नयनानि=नेत्राणि यासां ताः प्रोद्भिन्नकम्रस्तनाः--प्रोद्भिन्नौः= पूर्णोदितौ कम्रौ=सुन्दरौ स्तनौ=कुचौ यासां ताः प्रस्फुटिताधरोष्ठरुचयः-- प्रस्फुटिता--विकसिता अधरोष्ठानाम्=अधरच्छदानां रुचिः=कान्तिः यासां ताः विस्रस्तकेशरचनाः । विस्रस्ताः=विगलिताः केशानां=कचानां पुष्पमाला यासां ताः गलितोत्तरीयवसनाः--गलितं=पतितम् उत्तरीयं वसनम्=उपरिवस्त्रं प्रावार इत्यर्थः यासां ताः त्रासाकुलव्याहृताः--त्रासेन–भयेन आकुलं=व्याकुलं व्याहृतं = व्याहारः--'व्याहार उक्तिर्वचनम् ।' अमरः । यासां ताः एताः= इमाः कान्ताः = मनोहराः संभ्रान्ताः=संक्षुब्धाः गोपाङ्गनाः = गोपवधूटयः । त्रस्ताः = भीताः सत्यः पन्नगपतिं—पन्नगानां=सर्पाणां पतिं = प्रभुं कालियनाग-मिति यावत् दृष्ट्वैव=विलोक्य एव मां=दामोदरम् अनुयान्ति=अनुसरन्ति ॥ १ ॥

(दामोदर का प्रवेश)

दामोदर—मदविह्वल चकोरों के बच्चों की भाँति नेत्रों वाली, प्रस्फुटित सुन्दर कुचों वाली, सुन्दर होठों से विकसित शोभा वाली, गिरते हुए केश की पुष्प मालाओं वाली और जिनके उत्तरीय वस्त्र गिर गए हैं और भय की आकुलता से युक्त वचन वाली ये मनोहारिणी भयभीत गोपवधुएँ कालिय नाग को देखकर मेरे पीछे आ रही हैं ॥ १ ॥

(ततः प्रविशन्ति गोपकन्यकाः ।)

सर्वाः--मा खु मा खु भट्टा ! एद जलासअं पविसिदुं । एसो खु दुट्ठमहोरअकुलावासो । (मा खलु मा खलु भर्तः ! एतं जलाशयं प्रवेष्टुम् । एषः खलु दुष्टमहोरगकुलावासः ।)

दामोदरः--न खलु न खलु विषादः कार्यः । पश्यन्तु भवत्यः ।

निष्पक्षिव्यालयूथं भयचकितकरिव्रातविप्रेक्षिताम्भो-
गम्भीरं स्निग्धनीरं ह्रदमुदधिनिभं क्षोभयन् सम्प्रविश्य ।
गोपीभिः शङ्किताभिः प्रियहितवचनैः पेशलैर्वार्यमाणः
कालिन्दीवासरक्तं भुजगमतिबलं कालियं धर्षयामि ॥ २ ॥

गोपाङ्गनाभिः वार्यमाणोऽपि दामोदरः ह्रदप्रवेशं कालियधर्षणञ्च निगमयति-- निष्पक्षीति ।

निष्पक्षिव्यालयूथं--निर्गतानि पक्षिणां = विहगानां व्यालानां=श्वापदानां 'व्यालः पुंसि श्वापदसर्पयोः' अमरः । यूथानि यस्मिन् तत् भयचकितकरिव्रात-विप्रेक्षिताम्भः--भयचकितेन=भीतिचपलेन करिव्रातेन=हस्तिसमूहेन विप्रेक्षितम्=अवलोकितम् अम्भः = नीरं यस्य तत् गम्भीरम्=अगाधं स्निधनीरं-- स्निग्धं=मसृणं 'चिक्कणं मसृणम् स्निग्धम्' अमरः । नीरं=जलं यस्य तत् उदधिनिभम्--उदधेः = समुद्रस्य निभं=संकाशं 'निभसंकाशनीकाश' अमरः । ह्रदम्=अगाधजलम् 'जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्रदः ।' अमरः । क्षोभयन्=आविलं कुर्वन् संप्रविश्य-अन्तस्तलं गत्वा (यद्यपि) पेशलैः=चारुभिः । 'चारौ दक्षे च पेशलः ।' अमरः । प्रियहितवचनैः--प्रियाणि=मधुराणि हितानि

(गोपकुमारियों का प्रवेश)

सब—ऐसा न करना स्वामिन् , ऐसा न करना । जलाशय में प्रवेश न करना । यह क्रोधी महानाग के कुल का निवास स्थान है ।

दामोदर—नहीं, देखें, आप चिन्ता न करें ।

पक्षी और पशुओं के समूह से रहित, भयचंचल हाथियों के समूह के द्वारा जिसका अगाध और स्वच्छ जल देखा जाता है, समुद्र के समान उस जलाशय में

सर्वाः--भटा। षङ्कलिषण ? बालेहि बालेहि भट्टिहामादलं। (भर्तः। संकर्षण ! वारय वारय भर्तृदामोदरम्।)

(प्रविश्य)

सङ्कर्षणः--अलमलं भयविषादाभ्याम्। दर्शितोऽनुरागः। पश्यन्तु भवत्यः।

विषदहनशिखाभिर्यन्मुखात् प्रोद्गताभिः
कपिशितमशिवाभिश्चक्रवालं दिशानाम्।

हितकराणि वचनानि=वचांसि 'वचनं वचः' अमरः। तैः हेतुभिरित्यर्थः। शङ्किताभिः=विचिकित्सिताभिः 'विचिकित्सा तु संशयः।' अमरः। गोपीभिः= गोपाङ्गनाभिः वार्यमाणः=निषिद्धयमानः तथापि कालिन्दीवासरक्तं--कालिन्द्यां =यमुनायां वासः=वसतिः तस्मिन् रक्तम्=अनुरक्तम्, अतिबलं=बलवन्तं कालियम्=एतदभिधं भुजगं--भुजाभ्यां गच्छतीति भुजगः=सर्पः तं धर्षयामि= हठान्निष्कासयामि ॥ २ ॥

संकर्षणः कृष्णे भीतं गोपीजनं समाश्वासयति--विषदहनेत्यादिना।

यन्मुखात्-यस्य=कालियस्य मुखम्=आननं तस्मात् प्रोद्गताभिः=निःसृताभिः अशिवाभिः=अकल्याणकारिणीभिः विषदहनशिखाभिः--विषं=गरलम् एव दहनः= अनलः तस्य शिखाः=ज्वालाः ताभिः दिशां = काष्ठानां 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः।' अमरः। चक्रवालं=मण्डलं 'चक्रवालं तु मण्डलम्।' अमरः। कपिशितं=कृष्णलोहितम्,

---

प्रवेश करके उसके जल को क्षुब्ध करते हुए भयशंकित गोपियों के द्वारा मधुर कल्याणकारी वचनों से अनेक प्रकार से मना किए जाने पर भी महापराक्रमी यमुना में निवास करने वाले कालिय नाग को (हठात्) निकाल फेकूँगा ॥ २ ॥

सब—स्वामिन् ! संकर्षण ! रोको भाई दामोदर को रोको।

(प्रवेश करके)

संकर्षण—आप लोग भय और दुख न करें। तुम्हारा अमित प्रेम देख लिया गया। आप देखें,

जिसके मुख से निकलने वाले अकल्याणकारी विष की प्रचण्ड ज्वालाओं से

सरभसमभियान्तं कृष्णमालक्ष्य शङ्की
नमयति शिरसान्तर्मण्डलं चण्डनागः ॥ ३ ॥

सर्वाः—हं भट्टिदामोदलो वि तादिसो एव्व । (हं भर्तृदामोदरोऽपि तादृश एव ।)

दामोदरः—सर्वप्रजाहितार्थं द्रुततरं नागं मे वशं करोमि । (इति ह्रदं प्रविष्टः ।)

सर्वाः--हा हा धूमो उट्ठिदो । [हा हा धूम उत्थितः ।)

दामोदरः--अहो ह्रदस्य गाम्भीर्यम् । इह हि,

सितेतराभुग्नदुकूलकान्तिद्रुतेन्द्रनीलप्रतिमानवीचिम् ।

'श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलो कृष्णलोहिते ।' अमरः । शङ्की=शङ्कितः चण्ड-नागः=क्रुद्धसर्प' सरभसं=रभससहितं सवेगमित्यर्थः । आयान्तम्=आगच्छन्तं कृष्णं=दामोदरम् आलक्ष्य=दृष्ट्वा शिरसा=मूर्ध्ना अन्तर्मण्डलम्=आभोगं नमयति=नम्रीकरोति ॥ ३ ॥

दामोदरः यमुनामुपवर्णयति--सितेतरेत्यादिना ।

सान्तर्विषाग्निम् अन्तः=मध्ये विषाग्निना=विशानलेन सहितां तां कालियधूमधूम्रां=कालियेन=सर्पेण निःसृतो यो धूमः तेन धूम्रः वर्णः यस्याः ताम्

सारी दिशाएँ लाल हो रही हैं वह क्रुद्ध सर्प जल्दी,जल्दी आते हुए कृष्ण को देख कर भय की आशंका से अपने फणों को नीचा कर रहा है ॥ ३ ॥

सब—हैं ! भर्ता दामोदर भी वैसा ही है ।

दामोदर—सारे प्राणियों के हित के लिए मैं नाग को शीघ्र ही वश में करता हूँ ।

(तालाब में प्रवेश करता है)

सब—हाय हाय धुआँ उठ रहा है ।

दामोदर—अये, यह तालाब की इतनी गहराई ! यहाँ तो—विष की अग्नि से

इमामहं कालियधूमधूम्रां सान्तविषाग्निं यमुनां करोमि ॥ ४ ॥

(निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति वृद्धगोपालकः ।)

वृद्धगोपालकः—हा भट्टा । एषो कण्णआहि वालिअमाणो जमुणा-हदं पविट्ठो । मा खु मा खु षाहषं कलिअ पविषिदुं । एत्थ वग्घा वराहा हत्थिणो पाणीअं पिबिअ तहिं तहिं एव्व विमरन्ति । कहं ण दिस्सदि । किं दाणि करोमि । होदु, इमं दाव कुम्भवलाअं आलुहिअ णिज्झाआमि । (आरुह्यावलोक्य) हा हा धुमा उट्टिदो । (हा भर्तः ! एष कन्यकाभिर्वार्यमाणो यमुनाह्रदं प्रविष्टः । मा खलु मा खलु साहसं कृत्वा प्रवेष्टुम् । अत्र व्याघ्रा वराहा हस्तिनः पानीयं पीत्वा तत्र तत्रैव विम्रियन्ते । कथं न दृश्यते । किमिदानीं करोमि । भवतु, इमं तावत् कुम्भपलाशमारुह्य निध्यायामि । हा हा धूम उत्थितः ।)

इमां = पुरोवर्तिनीं यमुनाम्=एतन्नाम्नीं सरितम् अहं=दामोदरः सितेतराभुग्न-दुकूलकान्ति०-—सितेतरेण=कृष्णकान्तिना आभुग्नम्=संमिश्रं यद् दुकूलं=क्षौमं तस्य कान्तिरिव कान्तिः रुचिर्यस्याः सा तथा द्रुतस्य=द्रवीभूतस्य इन्द्रनीलस्य= इन्द्रनीलमणेः प्रतिमाना = तुल्या वीचिः=तरंगः यस्याः सा तां यमुनां= कालिन्दीं करोमि=विदधामि ॥ ४ ॥

निध्यायामि=ध्यानं करोमि ।

व्याप्त तथा कालिय के धुएँ से धूमिल रंग वाली इस यमुना को मैं शीघ्र ही इन्द्र-नील मणि के समान नीली छवियुक्त लम्बी तरंगों वाली करूँगा ॥ ४ ॥

(प्रस्थान)

(वृद्ध गोपालक का प्रवेश)

वृद्धगोपालक—हा स्वामी ! गोपकुमारियों के द्वारा बारम्बार मना किये जाने पर भी यह कृष्ण यमुना नद में घुस गया ! नहीं, प्रवेश करने का साहस न करो । बाघ, सुअर और हाथी इसके जल को पीकर वहीं के वहीं मर जाते हैं । क्या देखते नहीं ? इस समय मैं क्या करूं ? अच्छा मैं पलाश के पेड़ पर चढ़कर ध्यान करूँगा । चढ़कर हाय हाय धुआँ उठ रहा है ।

सङ्कर्षणः--पश्यन्तु भवत्यः ।

दामोदरोऽयं परिगृह्य नागं विक्षोभ्य तोयं च समूलमस्य ।
भोगे स्थितो नीलभुजङ्गमस्य मेघे स्थितः शक्र इवावभाति ॥५॥

वृद्धगोपालकः--ही ही षाहु भट्टा ! षाहु । (ही ही साधु भर्तः ! साधु ।)

(ततः प्रविशति कालियं गृहीत्वा दामोदरः ।)

दामोदरः--एष भोः ।

निर्भर्त्स्य कालियमहं परिविस्फुरन्तं
मूर्ध्नाञ्चितैकचरणश्चलबाहुकेतुः ।

बलदेवः आभोगोपरि स्थितं दामोदरं गोपीजनं दर्शयति--दामोदरमिति ।

अयं दामोदरः=श्रीकृष्णः तोयं=जलं विक्षोभ्य=विलोड्य समूलं--मूलेन= सहितं = मूलसहितं परिगृह्य = करे धृत्वा अस्य = कालियस्य नीलभुजङ्गमस्य= कृष्णसर्पस्य भोगे = मस्तके फणे वा स्थितः = उपविष्टः मेघे = बलाहके स्थितः वर्तमानः शक्रः = शतक्रतुरिव अवभाति=प्रतीयते शोभते ॥ ५ ॥

दामोदरः कालये सर्पे स्वकार्यं विवृणोति--निर्भर्त्स्येति ।

अहं = दामोदरः मूर्ध्ना॰ मूर्ध्नि = मस्तके 'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् ।' अमरः । अञ्चितं = धृतम् एकचरणं = पादैकं यस्य सः चलबाहुकेतुः--चलः= चञ्चलः बाहुरेव = प्रवेष्ट एव 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः । अमरः । केतुः = ध्वजा यस्य सः । परिविस्फुरन्तं--परितः=सर्वतः विस्फुरन्तं = देदीप्यमानं कालियम् = एतन्ना-

---

संकर्षण—अये, तुम देखो ।

यह दामोदर नाग को पकड़ कर और इस (नद) के सम्पूर्ण जल को मथकर नीले सर्प के फण पर, विराजमान, बादल पर स्थित इन्द्र की भाँति मालूम पड़ता है ॥ ५ ॥

वृद्धगोपालक—हा, हा ! बहुत ठीक किया स्वामिन् ! बहुत ठीक किया ।

(कालिय को पकड़ कर दामोदर का प्रवेश)

दामोदर—अरे यह—

उग्र कालिय का तिरस्कार करके, मस्तक पर एक पैर रखकर, चञ्चल भुजाओं

भोगे विषोल्बणफणस्य महोरगस्य
हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि ॥ ६ ॥

सर्वाः—अच्छलीअं भटा ! अच्छलीअं । कालिअस्स पञ्च फणाणि अक्कमन्तो हल्लीषअं पकीलदि । (आश्चर्यं भर्तः ! आश्चर्यम् । कालियस्य पञ्च फणानाक्रामन् हल्लीसकं प्रक्रीडति ।)

दामोदरः—यावदहमपि पुष्पाण्यपचिनोमि ।

कालियः—आः,

लोकालोकमहीधरेण भुवनाभोगं यथा मन्दरं
शैलं शर्वधनुर्गुणेन फणिना यद्वच्च यादोनिधौ ।

मानं सर्पं निर्भर्त्स्य=तिरस्कृत्य विषोल्बणफणस्य--विषेण=गरलेन उल्बणाः= उग्राः फणाः=फटाः यस्य तस्य--महोरगस्य--महांश्चासावुरगः तस्य--महा-सर्पस्य भोगे = फणाया उपरि रुचिरं = सुन्दरं सललितं = सविलासं हल्लीसकं = तन्नामकनृत्यं वहामि = करोमि ॥ ६ ॥

कालियः दामोदरं निर्भर्त्सयति–लोकालोकेति ।

यथा=येन प्रकारेण लोकालोकमहीधरेण--लोकश्च अलोकश्च स चासौ मही-धरश्च तेन = लोकालोकचलेन भुवनाभोगं-भुवनस्य=संसारस्य आभोगं=परिपूर्णतां यद्वच=येन प्रकारेण च यादोनिधौ—यादांसि=जलजन्तवः तेषां निधिः= आकरः तस्मिन्=समुद्रे तन्मन्थने इति शेषः । शर्वधनुर्गुणेन शर्वस्य = शङ्करस्य 'ईश्वरः शर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः' इत्यमरः । धनुर्गुणेन धनुषः=चापस्य गुणः = रज्जुः तेन=प्रत्यञ्चाभूतेन इति यावत् । फणिना--फणमस्यास्तीति तेन

को ही ध्वजा बनाकर गरल से उग्र फण वाले इस महासर्प के फणों के ऊपर मैं सविलास, सुन्दर हल्लीसक नृत्य करता हूँ ॥ ६ ॥

सब—आश्चर्य स्वामिन् , आश्चर्य। कालिय के पाँचों फणों पर यह हल्लीसक नृत्य कर रहा है।

दामोदर—मैं अभी पुष्प चुनूँगा।

कालिय—अरे,

जैसे लोकालोक पर्वतों ने सारे भुवनों को घेर रखा है तथा जिस प्रकार से (समुद्रमन्थन के समय) समुद्र में शंकर के धनुषके प्रत्यंचाभूत शेष नाग ने

स्थूलाखण्डलहस्तिहस्तकठिनो भोगेन संवेष्टितं
त्वामेव त्रिदशाधिवासमधुना सम्प्रेषयामि क्षणात् ॥७॥

वृद्धगोपालकः—हा हा भट्टा ! । एसो भट्टिदामोदलो पुप्फकाणुकारेहि पदेहि आआरवन्तं विअ जमुणाहलं महाणाअं पादेण परिघट्टअन्तो पुप्फाणि अवइणोदि । (अवतीर्य) षाहु भट्टा ! षाहु । फल्लेहि फल्लेहि । अहं वि षहाओ होमि । अहो भाआमि भट्टा ! भाआमि । जाव इमं वुत्तन्तं णन्दगोवष्ष णिवेदेमि । (निष्क्रान्तः ।) (हा हा भर्तः ! एष भर्तृदामोदरः पुष्पानुकाराभ्यां पदाभ्यामाकारवन्तमिव यमुनाहृदं महानागं पातेन परिघट्टयन् पुष्पाण्यवचिनोति । साधु भर्तः ! साधु । फालय फालय । अहमपि सहायो भवामि । अहो बिभेमि भर्तः ! बिभेमि । यावदिमं वृत्तान्तं नन्दगोपाय निवेदयामि ।)

दामोदरः—

विध्वस्तमीनमकराद् यमुनाह्रदाग्ताद्

भोगवता = शेषराजेन मन्दरं = तन्नामानं शैलं = गिरिं वेष्टितमिति शेषः तद्वत् (यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्) = तेन प्रकारेण स्थूलः=महान आखण्डलस्य = इन्द्रस्य हस्ती=ऐरावतः तस्य हस्तः = शुण्डः तद्वत् कठिनः = कठोरः एषः = अहं भोगेन=स्वफणेन संवेष्टितं=परिवेष्टितं त्वां=दामोदरम् अधुना = साम्प्रतं क्षणात्=लवानन्तरमेव त्रिदशाधिवासं=त्रिदशस्य=यमस्य अधिवासं = स्थानं यमपुरीमिति यावत् । संप्रेषयामि=संप्रापयिष्यामि ॥ ७ ॥

दामोदरः कालियं न्यक्करोति--विध्वस्तेति ।

मन्दराचल पर्वत को लपेट लिया था उसी प्रकार से आज मैं महान ऐरावत की सूँड़ की भाँति कठिन अपने फण से तुम्हें लपेटकर क्षण भर में ही यम के घर भेज दूँगा ॥ ७ ॥

वृद्धगोपालक-हा, हा स्वामी ! यह भर्ता दामोदर कुसुम के समान कोमल पैरों से मूर्तिमान यमुना नद में महानाग को पैर से कुचलते हुए पुष्प चुन रहे हैं। ठीक है स्वामी, ठीक है, चुनो, चुनो। मैं भी सहायक होता हूँ। अरे ! डरता हूँ स्वामिन् ! डरता हूँ। मैं इस घटना को नन्द गोप से निवेदित करता हूँ।

दामोदर—मछली और मकर विनाशित, यमुना नद के भीतर से बड़े गर्व से

दर्पोच्छ्रयेण महता दृढमुच्छ्वसन्तम् ।
आशीविषं कलुषमायतवृत्तभोग-
मेष प्रसह्य सहसा भुवि विक्षिपामि ॥ ८ ॥

कालियः—एष भोः !

रोषेण धूमायति यस्य देहस्तेनैव दाहं पृथिवी प्रयाति ।
ज्वालावलीभिः प्रदहामि सोऽहं रक्षन्तु लोकाः समरुद्गणास्त्वाम् ॥९॥

दामोदरः--कालिय ! यदि ते शक्तिरस्ति, दह्यतां ममैको भुजः ।

विध्वस्तमीनमकरात्--विध्वस्ताः = विनाशिताः मीनाः = मत्स्याः मकराः= नक्राश्च यस्मात् तस्मात् यमुनाह्रदान्ताद्=यमुनाह्रदान्तात्--यमुनायाः= कालिन्द्याः ह्रदः=अगाधजलः तस्य अन्तः=मध्यं तस्मात् महता=विपुलेन दर्पोच्छ्रयेण—दर्पस्य=अवलेपस्य उच्छ्रयः=आधिक्यं तेन फुंकारेणेति यावत् दृढं=भृशम् उच्छ्वसन्तं = निश्वसन्तम् आयतवृत्तभोगम्--आयतः=प्रसारितः वृत्तः=वर्तुलो भोगः=फटा यस्य तं कलुषं=दुष्टम् आशीविषं=सर्पं कालियमिति यावत् । एषः=अहं प्रसह्य = हठात् सहसा = झटिति भुवि=पृथिव्यां क्षिपामि=प्रक्षिप्तं करोमि ॥ ८ ॥

कालियः त्वां दहामीति श्रीकृष्णं सडिण्डिमं निर्भर्त्सयतीत्याह=रोषेणेति ।

यस्य=कालियस्य रोषेण=कोपेन देहः = विग्रहः धूमायति=धूम इवाचरति--धूमो निस्सरतीति यावत् । तेनैव=धूमेनैव पृथिवी=मेदिनी दाहं= ज्वलनं प्रयाति=प्राप्नोति सोऽहं=स एवाहं ज्वालावलीभिः--ज्वालानाम्= अग्निशिखानाम् आवलयः=श्रेणयः ताभिः त्वां = श्रीकृष्णं प्रदहामि=भस्मसात् करोमि । समरुद्गणः-मरुद्गणेन=देवेन सहिताः लोकाः = जनाः रक्षन्तु = पालयन्तु त्वामिति शेषः ॥ ९ ॥

फुँकार और तेज उच्छ्वास छोड़ने वाले अपने चौड़े फण को फैलाने वाले दुष्ट कालियनाग को मैं हठपूर्वक शीघ्र ही पृथ्वी पर निकाल फेकूँगा ॥ ८ ॥

दामोदर—कालिय यदि तुममें शक्ति हो तो मेरे एक हाथ को जला दो ।

कालियः--हहह,

चतुःसागरपर्यन्तां ससप्तकुलपर्वताम् ।
दहेयं पृथिवीं कृत्स्नां किं भुजं न दहामि ते ॥ १० ॥

हं, तिष्ठेदानीम् । एष त्वां भस्मीकरोमि । (विषाग्निं मुञ्चति)

दामोदरः—हन्त दर्शितं ते वीर्यम् ।

कालियः—प्रसीदतु प्रसीदतु भगवान् नारायणः ।

दामोदरः—अनेन वीर्येण भवान् गर्वितः ।

कालियः--प्रसीदतु भगवान् ।

गोवर्द्धनोद्धरणमप्रतिमप्रभावं

कालियः स्वविषेण कृत्स्नं लोकं दग्धुं शक्नोमीति सगर्वं वक्ति--चतुस्सागरेति ।

ससप्तकुलपर्वतां--सप्तकुलपर्वतेन=सप्तमुख्यगिरिणा सहितां=युक्तां चतुस्सागरपर्यन्तां--चत्वारः सागराः=समुद्राः पर्यन्तः=अवधिः यस्यास्तां=चतुस्समुद्रावधिं कृत्स्नाम्=अशेषां पृथिवीं=महीम् (अहम्) दहेयम्=दग्धुं शक्नुयाम् । ते=तव भुजं=बाहुं किन्न दहामि=दग्धुं न शक्नोमि किं ? दहाम्येवेति भावः ॥ १० ॥

कालियः श्रीकृष्णबाहुदाहेन स्वशक्त्यपचयं प्रकटयति--गोवर्धनेति ।

अप्रतिमप्रभावं-नास्ति=न विद्यते प्रतिमा=उपमा यस्य सः तादृशः प्रभावो यस्य

कालिय—अरे—

सात पर्वतों से युक्त चार समुद्रों तक फैली हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वी को जला सकता हूँ तो फिर क्या तुम्हारी एक भुजा को नहीं जला सकता ? ॥ १० ॥

ठहर तो जरा यह तुझे भस्म करता हूँ । (विषाग्नि छोड़ता है)

दामोदर—ओह, तुम्हारी पराक्रम को देख लिया ।

कालिय—प्रसन्न हो भगवान नारायण प्रसन्न हो ।

दामोदर—इसी पराक्रम पर आपको इतना गर्व था ?

कालिय—भगवान, प्रसन्न हों—

देवेश ! अनुपम प्रभाव वाले, गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले, मन्दराचल

बाहुं सुरेश ? तव मन्दरतुल्यसारम् ।
का शक्तिरस्ति मम दग्धुमिमं सुवीर्यं
यं संश्रितास्त्रिभुवनेश्वर ! सर्वलोकाः ॥ ११ ॥

भगवन् ! अज्ञानादतिक्रान्तवान् , सान्तःपुरः शरणागतोऽस्मि ।

दामोदरः—कालिय ! किमर्थमिदानीं यमुनाह्रदं प्रविष्टोऽस्मि ।

कालियः—भगवतो वरवाहनाद् गरुडाद् भीतोऽहमिह प्रविष्टोऽस्मि । तदिच्छामि गरुडादभयं भगवत्प्रसादात् ।

दामोदरः—भवतु भवतु ।

तम् गोवर्धनोद्धरणं-गोवर्धनस्य = एतन्नामाचलस्य उद्धरणम्=उत्थापनं मन्दरतुल्यसारं—मन्दरेण=मन्दरगिरिणा तुल्यः = सारः=बलः 'सारो बले स्थिरांशे च ।' अमरः । यस्य तम् ते तव=भवतः बाहुं = भुजं हे सुरेश--सुराणाम् ईशः= देवेशः । तत्सम्बुद्धौ इमं = पुरोवर्तिनं सुवीर्यं = शोभनं वीर्यं यस्मिन् तं = महापराक्रमिणं बाहुमिति शेषः । दग्धं कर्तुं मम = कालियस्य का शक्तिरस्ति = किं सामर्थ्यं वर्तते । हे त्रिभुवनेश्वर--त्रिभुवनस्य = लोकत्रयस्य ईश्वरः = प्रभुः = तत्सम्बुद्धौ इमं = बाहुं सर्वलोकाः=अशेषभुवनानि संश्रिताः = आश्रयं प्रापिताः = तं कथं दग्धं कर्तुं शक्नोमीति भावः ॥ ११ ॥

के समान बल से युक्त आपकी भुजा, जिस भुजा पर सभी लोक आश्रित हैं, हे देवेश ! उसे जलाने की शक्ति मुझमें कहाँ है ॥ ११ ॥

हे भगवान अज्ञान के कारण मैंने यह भूल की मैं अपनी रानियों के साथ आपकी शरण में आया हूं ॥ ११ ॥

दामोदर—कालिय किसलिए तुम यमुना नदी में प्रविष्ट हुए हो ?

कालिय—आपके श्रेष्ठ वाहन गरुड से डरकर ही मैं यहाँ घुसा हूँ । तो मैं आपकी कृपा से गरुड के भय से मुक्त होना चाहता हूँ ।

दामोदर—अच्छा ।

मम पादेन नागेन्द्र ! चिह्नितं तव मूर्धनि ।
सुपर्ण एव दृष्ट्वेदमभयं ते प्रदास्यति ॥ १२ ॥

कालियः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

दामोदरः—प्रविशतु भवान् ।

कालियः—यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः ।

दामोदरः—अथवा एहि तावत् ।

कालियः—भगवन् ! अयमस्मि ।

दामोदरः—अद्यप्रभृति गोब्राह्मणपुरोगासु सर्वप्रजास्वप्रमादः कर्तव्यः ।

कालियः—भगवन् ! मद्विषदूषितमिदं जलम् । तदिदानीमेव विषं संहृत्य यमुनाह्रदान्निष्क्रामामि ।

कृष्णः गरुत्मता भीतं नागं स्वचरणचिह्नं दत्त्वा निर्भयं करोतीत्याह—मम पादेनेति ।

हे नागेन्द्र—नागानां = सर्पाणाम् इन्द्रः = श्रेष्ठः तत्सम्बुद्धौ तव = भवतः मूर्धनि = मस्तके 'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् ।' अमरः । (मूर्धनशब्दात् सप्तम्येकवचने 'विभाषा ङिश्योरि'ति सूत्रेण पाक्षिके अकारलोपाभावे एतद्रूपम्) मम = दामोदरस्य पादेन = चरणेन चिह्नितं = लक्षितं 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम् ।' अमरः । इदं = चिह्नं दृष्ट्वा एव = पश्यन्नेव सुपर्णः = गरुडः ते = तुभ्यम् अभयं = निर्भयं प्रदास्यति = अर्पयिष्यति ॥ १२ ॥

हे सर्पराज, मेरे चरणचिह्नों से चिह्नित तुम्हारे सिर को देख करके ही गरुड़ तुम्हें अभय प्रदान करेंगे ।

कालिय—अनुगृहीत हूँ ।

दामोदर—आप प्रवेश करें ।

कालिय—भगवान नारायण की जैसी आज्ञा ।

दामोदर—अच्छा यहाँ आओ ।

कालिय—भगवान मैं यह हूँ ।

दामोदर—आज से लेकर गौ और ब्राह्मण और प्रजाओं से प्रमाद न करना ।

कालिय—भगवन् ! यह जल विष से कलुषित हो गया है तो इस समय ही सारा विष लेकर यमुना नद से निकल जाता हूँ ।

दामोदरः—प्रतिनिवर्ततां भवान्।

कालियः—यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः। (सपरिजनो निष्क्रान्तः।)

दामोदरः—यावदहमपि ह्रदाद् गृहीतानि पुष्पाणि गोपकन्यकाभ्यः प्रयच्छामि।

सर्वाः—एसो भट्टा अम्हाणं हिअआणन्दं करन्तो अक्खदसरीरो इदो एव आअच्छदि। जेदु भट्टा। [एष भर्तास्माकं हृदयानन्दं कुर्वन् अक्षतशरीर इत एवागच्छति। जयतु भर्ता।]

सङ्कर्षणः—दिष्ट्या गोब्राह्मणहितं कृतम्।

दामोदरः—गृह्यन्तां पुष्पाणि।

सर्वाः—भट्टा! एदाणि मुणिसङ्घेहि अणवइदपुव्वाणि पुप्फाणि पलामिट्ठाणि चन्दादिच्चकिरणेहि अपरिमद्दिदाणि। भाआमा भट्टा!। [भर्तः! एतानि मुनिसङ्घैरनवचितपूर्वाणि पुष्पाणि परामृष्टानि चन्द्रादित्यकिरणैरपरिमर्दितानि। बिभीमो भर्तः!।]

दामोदरः—पूर्वं दृष्टभया वित्रस्तास्तपस्विन्यः। न भेतव्यं न भेतव्यम्। तदानीं खलु मत्करस्पर्शनात् सौम्यभावमुपगतानि, गृह्यन्ताम्।

दामोदर—लौट जाओ।

कालिय—जसी भगवान नारायण की इच्छा।

(सपरिवार प्रस्थान)

दामोदर—मैं भी नद से चुने गए पुष्प गोपकुमारियों को देता हूँ।

सब—यह स्वामी हम लोगों के हृदय को आनन्दित करते हुये स्वस्थ शरीर से इधर आ रहे हैं। स्वामी की जय हो।

संकर्षण—भाग्य से गो-ब्राह्मण का कल्याण हुआ।

दामोदर—पुष्पों को ग्रहण करें।

सब—स्वामिन्, पहले कभी मुनियों ने इन पुष्पों को चुना नहीं और सूर्य और चन्द्र की किरणों के अतिरिक्त किसी ने भी इन्हें नहीं छुआ है। डर लगता है स्वामिन्।

दामोदर—पहले से ही ये तपस्विनियाँ भय से त्रस्त थीं। (अब) नहीं डरना चाहिए, नहीं डरना चाहिए। इस समय मेरे हाथ के स्पर्श से ये पुष्प सौम्यता को प्राप्त हो गए हैं, (अतः इन्हें) ले लो।

सर्वाः—जं भट्टा आणवेदि [यद् भर्ताज्ञापयति ।]

(प्रविश्य)

भटः—भो गोपालक ! क्व गतो नन्दगोपपुत्रः ।

गोपालकः—एषो भट्टा कालिअं णाम महाणाअं परिपीडिअ गोवकण्णआहि परिवुदो ट्ठिओ । (एष भर्ता कालियं नाम महानागं परिपीड्य गोपकन्यकाभिः परिवृतः स्थितः ।)

भटः—(उपगम्य) भो नन्दगोपपुत्र ! अनुगतार्थनामधेयस्य महाराजस्योग्रसेनस्य पुत्रः कंसराजो भवन्तमाज्ञापयति ।

दामोदरः—कथमाज्ञापयतीति ।

भटः—मथुरायां धनुर्मखो नाम महोत्सवो भविष्यति । तमनुभवितुं सपरिजनाभ्यां भवद्भ्यामागन्तव्यमिति ।

दामोदरः—आर्य ! अयं ननु देवरहस्यकालः ।

सङ्कर्षणः—शीघ्रमिदानीं गमिष्यावः ।

दामोदरः—बाढम् । प्रथमः कल्पः । एष भोः !

सब—जैसी स्वामी आज्ञा देते हैं ।

(प्रवेश करके)

भट—हे गोपालक ! नन्दगोपपुत्र कहाँ गया ।

गोपालक—यह स्वामी, कालिय नामक नाग का मर्दन करके गोपकुमारियों से घिरा हुआ खड़ा है ।

भट—(पास जाकर) हे नन्दगोपपुत्र ! सार्थक नाम वाले उग्रसेन महाराज के पुत्र राजा कंस ने आपको आज्ञा दी है ।

दामोदर—क्या आज्ञा दे रहा है ।

भट—मथुरा में महाधनु नामक महोत्सव होगा उसमें आप दोनोंको परिवार-सहित उपस्थित होना चाहिए ।

दामोदर—आर्य, यह देवताओं के रहस्य का समय है ।

संकर्षण—हम दोनों अब शीघ्र चलेंगे ।

दामोदर—बहुत ठीक । उत्तम विचार है । अरे यह—जिसका रत्नखचित

प्रभ्रष्टरत्नमुकुटं परिकीर्णकेशं
विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम् ।
आकृष्य कंसमहमद्य दृढं निहन्मि
नागं मृगेन्द्र इव पूर्वकृतावलेपम् ॥ १३ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

चतुर्थोऽङ्कः ।



भटमुखेन कंसादेशमाकर्ण्य कृष्णः कंसहननकालं सूचयति—प्रभ्रष्टेति ।

प्रभ्रष्टरत्नमुकुटं—प्रभ्रष्टं = पतितं रत्नमुकुटं = रत्नखचितं मुकुटं = शिरोभूषणं यस्य तं परिकीर्णकेशं = परिकीर्णाः = विसृताः केशाः = कचाः यस्य तं विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम्—विच्छिन्नो=भग्नो हारो=मुक्तावली यस्य स च पतितं निपतितम् अङ्गदं = केयूरं 'केयूरमङ्गदं तुल्ये अङ्गुलीयकमूर्मिका ।' अमरः । लम्बं सूत्रं यस्य तं कंसं = कंसाभिधं शत्रुम् आकृष्य = मञ्चादपकर्षणं कृत्वा अहं = कृष्णः अद्य = इदानीं पूर्वकृतावलेपं—पूर्वं=प्राक्कृतो = विहितः अवलेपः = गर्वः येन तम् नागं = करिणं मृगेन्द्र इव = सिंह इव 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः ।' अमरः । दृढं = निश्चितं निहन्मि = घातयामि ॥ १३ ॥

मुकुट गिर गया है, जिसके केश बिखर गए हैं, मुक्तावली टूट गई है, केयूर गिर गए हैं, उस कंस को सिंहासन से खींच कर मैं वैसे ही मारूँगा जैसे गर्वीले हाथी को सिंह मारता है ॥ १३ ॥

(सब का प्रस्थान)

चतुर्थ अंक समाप्त



अथ पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति राजा ।)

राजा—

श्रुत्वा व्रजे विपुलविक्रमवीर्यसत्त्वं
दामोदरं सह बलेन समाचरन्तम् ।
आदिश्य कार्मुकमहं तमिहोपनीय
मल्लेन रङ्गगतमद्य तु घातयामि ॥ १ ॥

ध्रुवसेन ! ध्रुवसेन !

(प्रविश्य)

भटः—जयतु महाराजः ।

नृपतिः कंसः बलकेशवौ निहन्तुं व्याजन्निरूपयति—श्रुत्वेति ।

व्रजे=व्रजभूमौ विपुलविक्रमवीर्यसत्त्वं—विपुलं=महत् विक्रमः=पराक्रमः वीर्यं=शौर्यं सत्त्वं=बलं यस्य तं दामोदरं=श्रीकृष्णं बलेन=बलदेवेन सह=साकं समाचरन्तम्=आगच्छन्तं श्रुत्वा=निशम्य तं=श्रीकृष्णं कार्मुकं=धनुर्व्याजेन इह=अस्मिन् स्थाने उपनीय=आहूय रङ्गगतं=मल्लशालाप्राप्तं दामोदरं मल्लेन =चाणूरादिना आदिश्य=आदेशं कृत्वा अहं=कंसः अद्य दामोदरं घातयामि=निधनं प्रापयिष्यामि ॥ १ ॥

(राजा प्रवेश)

राजा—व्रज में अतुल पराक्रमशाली एवं शौर्यवान दामोदर को बलराम के साथ आता हुआ सुनकर उन्हें धनुष के बहाने से यहाँ बुलाकर मल्लशाला में पहलवानों को आदेश देकर मैं कृष्ण को मरवा देता हूँ ॥ १ ॥

ध्रुवसेन, ध्रुवसेन ।

(प्रवेश करके)

भटः—महाराज की जय हो ।

राजा—ध्रुवसेन ! किमागतो नन्दगोपपुत्रः ।

भटः—श्रोतुमर्हति महाराजः—प्रविशन्नेव दामोदरः ससङ्कर्षणो गोपजनपरिवृतो रजकेभ्यो वस्त्राण्याच्छिद्य गृहीतवानिति श्रुत्वा महामात्रेणोत्पलापीडो नाम गन्धहस्ती सञ्चोदितस्तमभिघातयितुम् । ततः,

तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य सभीतगोपालकवृन्दमध्ये ।
बालो बलेनाद्रिनिभं गजेन्द्रं दन्तं समाकृष्य जघान शीघ्रम् ॥ २ ॥

राजा—कथं जघानेति । गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । एष इदानीं नन्दगोपपुत्र उत्सवाधिकारोच्छ्रितध्वजपताकमवसक्तमाल्यदामालङ्कृतमुत्थापितागुरुधूपसमाकुलं राजमहापथं प्रविश्य राजकुलद्वारे

प्रविशन्नेव कुवलयापीडं हतवानिति सूचयति भटो नृपं कंसं—तमापतन्तमिति—सभीतगोपालकवृन्दमध्ये—सभीतानां=भयार्तानां गोपालकानां=गोपदारकाणां वृन्दं=समूहः तस्य मध्ये = अन्तः-आयान्तं—गजेन्द्रं समीक्ष्य=दृष्ट्वा बालः = कृष्णः अद्रिनिभम् अद्रेः = पर्वतस्य निभं = तुल्यं = पर्वताकारम् आपतन्तम् = आगच्छन्तं तं = गजेन्द्रम् उत्पलापीडं सहसा झटिति समीक्ष्य = दृष्ट्वा बलेन = पराक्रमेण शीघ्रं=तूर्णं दन्तं=हस्तिविषाणं समाकृष्य = उत्पाट्य जघान = ममार ॥

राजा—ध्रुवसेन ! क्या, नन्द गोप का पुत्र यहाँ आया है ?

भट—महाराज सुनें, (नगर में) प्रवेश करते ही दामोदर और बलराम ने ग्वालबालों के साथ धोबी से वस्त्र छीन कर ले लिया, यह सुनकर महामात्य ने उत्पालापीड नामक गन्धहस्ती को उन्हें मारने के लिए प्रेरित किया । तब अत्यन्त भयभीत ग्वालबालों के बीच पर्वत के समान गजराज को एकाएक आता हुआ देखकर बालक (कृष्ण) ने बलपूर्वक गजराज के दाँत को तोड़ कर उसे मार डाला ॥ २ ॥

राजा—क्या, मार डाला ? जाओ फिर से खबर की जाँच करो ।

भट—जैसी महाराज की आज्ञा । (जाकर और पुनः आकर) महाराज की जय हो । इस समय दामोदर उत्सव के योग्य ध्वजा और पताका से युक्त, पुष्प और माला से अलंकृत, अगरु और धूप की गन्ध से युक्त विस्तृत राजमार्ग पर पहुँचकर

गन्धसमुद्रावसक्तहस्तां मदनिकां नाम कुब्जिकां दृष्ट्वा तस्या हस्ताद् गन्धमादाय स्वगात्रमनुलिप्य तेनैव हस्तेन कुब्जस्यानुमार्जनेन विगत-कुब्जभावां तां कृत्वा मालाकारापणेभ्यः पुष्पाण्याहृत्यावबध्य धनुः-शालाभिमुखो गतः।

राजा—किन्तु खलु तेन व्यवसितम्। तेन हि शीघ्रं गच्छ। भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः। धनुःशालारक्षकेण सिंहबलेन वार्यमाणस्तं कर्णमूले प्रहृत्य हत्वा धनुः समादाय द्विखण्डं कृत्वा साम्प्रतमुपस्थानाभिमुखो गतः। स हि,

आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः
पीताम्बरः सजलतोयदराशिवर्णः।

कंसं प्रत्यागच्छतो दामोदरस्य भटः स्वरूपं वर्णयति—आपीडदामेत्यादिना।

सजलतोयदराशिवर्णः—तोयं ददातीति तोयदः जलेन सहितः स चासौ तोयदश्च तस्य राशिः = समूहः तस्य वर्ण इव वर्णो = रूपं यस्य सः पीताम्बरः पीतं = कनकाभम् अम्बरं = वस्त्रं यस्य सः आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः—

राजकुल के दरवाजे पर गन्धादि को लिए हुए मदनिका नाम की कुब्जा को देखकर उसके हाथ से सुगन्धित द्रव्य लेकर अपने अंगों पर लेप करके तथा उसी हाथ से कुब्जा का कूबड़ापन दूर करके फूलों के बाजार से पुष्प लेकर और उन्हें (मालियों को) मारकर धनुष-शाला की ओर गया है।

राजा—उसने वहाँ क्या किया, जल्दी जाओ पुनः सब समाचार प्राप्त करो।

भट—जैसी महाराज की आज्ञा। (जाकर और पुनः प्रवेश करके) महाराज की जय हो। धनुष शाला के रक्षक सिंहबल के मना करने पर उसके कान पर प्रहार करके और मारकर धनुष को लेकर उसके दो टुकड़े करके इस समय सभा-मण्डप की ओर गया।

वह तो—

जलपूर्ण मेघसमूह की भाँति श्याम वर्ण वाले, पीले वस्त्र को धारण किए हुए,

अभ्येति रोषपरिवृत्तविशालनेत्रो
रामेण सार्धमिह मृत्युरिवावतीर्णः ॥ ३ ॥

राजा—सावेगमिव मे हृदयम्। गच्छ, यथानिर्दिष्टौ चाणूरमुष्टिकौ प्रवेशय, वृष्णिकुमाराणां सन्नाहमाज्ञापय।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रान्तः।)

राजा—यावदहमपि प्रासादमारुह्य चाणूरमुष्टिकयोर्युद्धं पश्यामि। (आरुह्य) मधुरिके! विघाटयतां द्वारम्।

प्रतिहारी—जं भट्टा आणवेदि। [यद् भर्ताज्ञापयति।]

(राजा प्रविश्योपविशति।)

(ततः प्रविशतश्चाणूरमुष्टिकौ।)

आपीडदाम्ना = शेखरस्रजा शिखिबर्हेण = मयूरपिच्छेन च विचित्रः = अद्भुतो वेषः = स्वरूपं यस्य स रोषपरिवृत्तविशालनेत्रः—रोषेण = क्रुधा परिवृत्ते अन्यथावृत्ते विशाले = विपुले नेत्रे = नयने यस्य सः मृत्युरिव = अन्तक इव अवतीर्णः = आविर्भूतः कृष्णः रामेण = बलरामेण साकं = सार्धम् इह = त्वत्समीपे अभ्येति = आगच्छति। त्वामपि विनाशयिष्यति अतस्त्वं स्वां तनुं रक्षेति भावः॥

पुष्पमालाओं और मयूर-पंखों से अद्भुत वेष बनाए हुए, क्रुद्ध विशाल नेत्रों वाले बलराम के साथ यहाँ (साक्षात) मृत्यु ही उत्पन्न हो गया है॥ ३॥

राजा—मेरा हृदय धड़क रहा है। जाओ, पहले बतलाए चाणूर और मुष्टिक को भेजो। (यादव-कुमारों को) युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दो।

भट—महाराज की जैसी आज्ञा। (प्रस्थान)

राजा—मैं भी भवन पर चढ़ कर चाणूर और मुष्टिक का युद्ध देखता हूँ। (चढ़कर) मधुरिके, दरवाजा खोल दो।

प्रतिहारी—जैसी स्वामी की आज्ञा।

(राजा प्रवेश करके बैठता है)

(चाणूर और मुष्टिक का प्रवेश)

चाणूरः—

एसो म्हि जुद्धसज्जो मत्तो हत्थीव दप्पसम्पुण्णो ।
भञ्जेमि अज्ज बालं दामोदलं लंगमज्झम्मि ॥ ४ ॥

[एषोऽस्मि युद्धसज्जो मत्तो हस्तीव दर्पसंपूर्णः ।
भनज्म्यद्य बालं दामोदरं रङ्गमध्ये ॥]

मुष्टिकः—

लोहमयमुट्ठिहत्थो णामेण अ मुट्ठिओ लुट्ठि ।
पादेमि अज्ज लामं गिलिवलकूटं जहा वज्जो ॥ ५ ॥

[लोहमयमुष्टिहस्तो नाम्ना च मुष्टिको रुष्टः ।
पातयाम्यद्य रामं गिरिवरकूटं यथा वज्रः ॥]

चाणूरः सगर्वं स्वबलं निर्वक्ति—एषोऽस्मीति ।

दर्पसम्पूर्णः—दर्पेण = गर्वेण सम्पूर्णः = पूरितः हस्ती इव = नाग इव मत्तः = मदेनेत्यर्थः । युद्धसज्जः—युद्धाय = मल्लयुद्धाय सज्जः = बद्धपरिकरः एषः चाणूरोऽहमस्मि । अद्य रङ्गमध्ये = मल्लयुद्धभूमौ बालम् = अर्भकं दामोदरं भनज्मि = चूर्णयिष्यामि ॥ ४ ॥

मुष्टिकः स्वकार्यं प्रकटयति—लोहमयमुष्टीत्यादिना ।

लोहमयमुष्टिहस्तः—लोहमयो = अयस्सारमयो मुष्टिः हस्ते = करे यस्य सः नाम्ना च = अभिधया च मुष्टिकः रुष्टः = क्रुद्धस्सन् अद्य = इदानीं गिरिवरकूटं = पर्वतशिखरं यथा = येन प्रकारेण वज्रः = कुलिशं पातयति तथा रामं = बलरामं पातयामि = हनिष्यामि ॥ ५ ॥

चाणूर—यह मैं मदमस्त हाथी की भाँति गर्व से भरा हुआ युद्ध करने के लिए तैयार हूँ । आज मैं बालक दामोदर को मल्लशाला में चूर-चूर कर दूंगा ॥४॥

मुष्टिक—लोहे की भाँति कठिन मुक्कों वाला अत्यन्त क्रुद्ध मैं मुष्टिक नामक योद्धा बलराम को वैसे ही गिरा दूँगा जैसे महान पर्वतों की चोटी को वज्र गिरा देता है ॥ ५ ॥

भटः—एष महाराजः। उपसर्पेतां भवन्तौ।

उभौ—(उपेत्य) जेदु भट्टा। [जयतु भर्ता।]

राजा—चाणूरमुष्टिकौ ! सर्वप्रयत्नेन युवाभ्यामानृण्यं कर्तव्यम्।

उभौ—सुणादु भट्टा। अड्ढिदकरणसन्धाबन्धप्पहारेहि जुद्धविसेसेहि सिद्धिं गच्छामो। हं पेक्खदु भट्टा। [श्रृणोतु भर्ता। (आट्ठिद !) करणसन्धाबन्धप्रहारैर्युद्धविशेषैः सिद्धिं गच्छामः। हं पश्यतु भर्ता।]

राजा—बाढमेवं क्रियताम्। ध्रुवसेन ! प्रवेश्येतां गोपदारकौ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः। (निष्क्रान्तः।)

(ततः प्रविशतो दामोदरसङ्कर्षणौ ध्रुवसेनेन सह।)

दामोदरः—आर्यः !

मर्त्येषु जन्म विफलं मम तानि घोषे
कर्माणि चाद्य नगरे धृतये न तावत्।

दामोदरः स्वभूतलागमनकार्यं स्मरति—मर्त्येषु जन्मेत्यादिना।

मम = दामोदरस्य मर्त्येषु = मनुष्येषु जन्म = आविर्भावः तावत् = तावत्कालिकं विफलं = मोघं घोषे = पल्ल्यां नगरे च = पत्तने च तानि कर्माणि = विहितानि कर्माणि अद्य (तावत) न धृतये = धैर्याय यावत् = यावत्कालं जन्मान्तरा-

---

भट—यह महाराज हैं। तुम दोनों चले जाओ।

दोनों—(जाकर) स्वामी की जय हो।

राजा—चाणूर और मुष्टिक ! सब प्रकार से प्रयत्न करके तुम दोनों मुझे कर्ज से छुटकारा दिलाओ।

दोनों—स्वामी सुनें, हम अनेक करणसंध और आबन्ध प्रहारों से विशेष युद्ध के द्वारा सफलता प्राप्त करेंगे। अच्छा स्वामी, देखें।

राजा—ठीक, ऐसा ही करो। ध्रुवसेन, गोपकुमारों को अन्दर भेजो।

भट—जैसी महाराज की आज्ञा। (प्रस्थान)

(ध्रुवसेन के साथ दामोदर और संकर्षण का प्रवेश)

दामोदर—आर्य !

मनुष्य लोक में मेरा जन्म निष्फल है। उस बस्ती में और इस नगर में मुझे

यावन्न कंसहतकं युधि पातयित्वा
जन्मान्तरासुरमहं परिकर्षयामि ॥ ६ ॥

सङ्कर्षणः—

प्रविश्य रङ्गं कृतलोहमुष्टिं तं मुष्टिना मुष्टिकमद्य रुष्टम् ।
हत्वा चरिष्याम्यनिलप्रचण्डः प्रलम्बमम्भोदमिवान्तरिक्षे ॥ ७ ॥

भटः—एष महाराजः । उपसर्पतां भवन्तौ ।

उभौ—आः कस्य महाराजः ।

भटः—सर्वस्य जगतोऽस्माकं च ।

दामोदरः—अद्यप्रभृति न भविष्यति ।

सुरं = जन्मान्तरीयदानवं कंसहतकं = नीचकंसं युधि = संग्रामे पातयित्वा = निपात्य (यावत्) अहं = दामोदरः न परिकर्षयामि = नहि तस्य आकर्षणं करोमि ॥ ६ ॥

बलदेवः अद्य रङ्गे कर्तव्यकर्म विद्योतयति—प्रविश्येति ।

अद्य = अस्मिन् दिवसे रुष्टं = क्रुद्धं कृतलोहमुष्टिं—कृता = विहिता लोहवत् अयस्सारवत् कठिना मुष्टिर्येन तम् = प्रसिद्धं मुष्टिकम् = एतन्नामकं मल्लं रङ्गमञ्चं प्रविश्य = तत्र गत्वा अन्तरिक्षे = वियति अनिलप्रचण्डः = प्रखरवायुः प्रलम्बं = लम्बमानम्—अम्भोदं = मेघम् इव = यथा हत्वा = विनाश्य चरिष्यामि = विचरणं करिष्यामि ॥ ७ ॥

अपने कर्मों से तब तक धैर्य नहीं जब तक जन्मजन्मान्तर के राक्षस पापी कंस को युद्ध में गिराकर मारता नहीं ॥ ६ ॥

संकर्षण—आज क्रुद्ध लोहे के समान कठिन मुष्टि वाले मुष्टिक को मल्लशाला में जाकर आकाश में जैसे झुके हुए बादलों को झंझावात छिन्न-भिन्न करता है वैसे मैं उसका विनाश कर डालूँगा ॥ ७ ॥

भट—यह महाराज हैं, तुम दोनों आओ ।

दोनों—अरे, किसका महाराज ?

भट—सबका, सारे संसार का और हम लोगों का ।

दामोदर—आज से नहीं रह जाएगा ।

भटः—जयतु महाराजः । एतौ तौ ।

राजा—(विलोक्य) अयं स दामोदरः । अहो,

श्रीमान् मदान्धगजधीरविलासगामी
श्यामः स्थिरांसभुजपीनविकृष्टवक्षाः ।
पूर्वं श्रुतानि चरितानि न चित्रमस्य
लोकत्रयं हि परिवर्तयितुं समर्थः ॥ ८ ॥

अयं नु ललितगम्भीराकृतिः पूर्वजोऽस्य राम इति श्रूयते ।

राजा श्रीकृष्णमवलोक्य कृतपूर्वकार्यं तदप्यधिकं कर्तुं समर्थोऽयमिति विवृणोति–श्रीमानिति ।

मदान्धगजधीरविलासगामी—मदान्धः—मदेन अन्धः स चासौ गजश्च तद्वत् धीरं विलासशीलं गमनमस्ति अस्य = मत्तगजेन्द्रगम्भीरलीलागमनकारी स्थिरांसभुजपीनविकृष्टवक्षाः—स्थिरौ = दृढौ अंसौ = स्कन्धौ भुजौ = करौ पीनं = मांसलं विकृष्टं = विस्तृतं वक्षः = वक्षःस्थलं यस्य सः श्रीमान् = श्रीरस्ति अस्य = शोभायुक्तः श्यामः = श्यामवर्णः अस्य = दामोदरस्य पूर्वं = पुरा श्रुतानि = कर्णगोचरीकृतानि चरितानि = कार्याणि न चित्रं = नाश्चर्यजनकं मुधेति यावत् । किन्तु हि = यतः अयं = दामोदरः लोकत्रयम् = त्रिभुवनं परिवर्तयितुम् = अन्यथा कर्तुं समर्थः = शक्तः ॥ ८ ॥

पूर्वजः = अग्रजः रामः = बलरामः—

भट—महाराज की जय हो । ये दोनों यहाँ हैं ।

राजा—(देखकर) यह वही दामोदर है ! अरे,

मदमत्त गजराज की भाँति गम्भीर एवं सविलास गति वाले दृढ़ स्कन्ध, भुजा और मांसल तथा विस्तृत वक्षःस्थल वाले, शोभा से युक्त, कृष्ण वर्ण के इस दामोदर के पहले सुने हुए चरित्र आश्चर्यजनक (झूठे) नहीं हैं किन्तु यह तीनों लोक को परिवर्तित करने में समर्थ है ॥ ८ ॥

यह सुन्दर गम्भीर आकृति वाले इनके अग्रज राम हैं, ऐसा सुना जाता है ।

अभिनवकमलामलायताक्षः शशिनिभमूर्तिरुदारनीलवासाः ।
रजतपरिघवृत्तदीर्घबाहुश्चलदसितोत्पलपत्रचित्रमालः ॥ ९ ॥

दामोदरः—आर्य ! एतावेवावाभ्यां युद्धसन्नद्धाविति मन्ये ।

सङ्कर्षणः—भवितव्यम् ।

राजा—ध्रुवसेन ! प्रवर्ततां युद्धम् ।

भटः—यदाज्ञापयति महाराजः (मालां क्षिपति ।)

मल्लौ—अङ्घो ! वादेथ वादेथ सङ्खपटहाणि । [अङ्घो ! वादयत वादयत सङ्ग्रपटहान ।]

दामोदराग्रजं बलरामं दृष्ट्वा कंसः तं वर्णयति—अभिनवेत्यादिना । अयं बलरामः अभिनवकमलामलायताक्षः—अभिनवञ्च = नूतनञ्च तत् कमलं = पद्मं तद्वत् अमले = स्वच्छे आयते = दीर्घे अक्षिणी = नेत्रे यस्य सः । 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः ।' अमरः । शशिनिभमूर्तिः—शशिनिभा = चन्द्रतुल्या मूर्तिः = विग्रहः यस्य सः उदारनीलवासाः = उदारं = रुचिरं नीलं = नीलवर्णं वासः = वस्त्रं यस्य सः रजतस्य = रूप्यस्य 'दुर्वर्णं रजतं रूप्यं खर्जूरं श्वेतमित्यपि ।' अमरः । 'परिघः = परिघातनः ।' अमरः । तद्वत् वृत्तौ = वर्तुलौ दीर्घौ = आयतौ बाहू = करौ यस्य सः चदलसितो॰—चलत् = परिचलत् यत् असितोत्पलपत्रं = नीलकमलदलं तस्य चित्रा माला = विचित्रा स्रक् यस्य सः एवंभूतो बलरामो वर्तते इति शेषः ॥ ९ ॥

नूतन और निर्मल कमल की भाँति दीर्घ नेत्रों वाला, चन्द्र की भाँति विग्रह वाला, रुचिर नीले वस्त्रों को धारण किए हुए रुपहले परिघ की भाँति वर्तुल एवं विशाल भुजाओं वाला (यह बलराम) नील कमल की विचित्र माला को धारण किए हुए हैं ॥ ९ ॥

दामोदर—आर्य, मालूम होता है हमारे साथ युद्ध के लिए यही लोग तैयार हैं ।

सङ्कर्षण—होना चाहिए ।

राजा—ध्रुवसेन, युद्ध प्रारम्भ करो ।

भट—महाराज की जैसी आज्ञा ।

(माला फेंकता है)

दोनो मल्ल—अरे, बजाओ, युद्ध-दुन्दुभियों को बजाओ ।

चाणूरः—एहि दामोदाल ! अज्ज मे भुजजुअल्लेहि सिद्धि गच्छ ।
[एहि दामोदर ! अद्य मे भुजयुगलेन विद्धिं गच्छ ।]

दामोदरः—

प्राप्तोऽस्मि तिष्ठ मम वेगमिमं सहस्व

मुष्टिकः—ए ए लाम ! अज्ज मे मुट्ठिपिट्ठिगत्तगलिअलुहिलपडलमज्जो जीविअं उज्झसि । [ए ए राम ! अद्य मे मुष्टिपिष्टगात्रगलितरुधिर-पटलमज्जो जीवितमुज्झसि]

सङ्कर्षणः—

त्वामद्य मुष्टिक ! यमाय निवेदयामि ।

(सर्वे नियुद्धं कुर्वन्ति ।)

दामोदरः—(चाणूरं निहत्य)

भग्नास्थिरेष निहतो

सङ्कर्षणः—

निहतो मयापि

दामोदरः कथयति—हे चाणूर ! अहं तव भुजयुगलमध्ये—

प्राप्तः = आगतः अस्मि = भवामि तिष्ठ = स्थिरो भव, मम=दामोदरस्य इमं= दीयमानं वेगं = प्रहारवेगं सहस्व=अनुभव । मुष्टिकं प्रति संकर्षणः वक्ति—हे मुष्टिक = मल्ल अद्य=अधुना त्वां=भवन्तं यमाय=अन्तकाय निवेदयामि = यमपुरं प्रेषयामीति यावत् । दामोदरः चाणूरं निहत्य कथयति—एषः=चाणूरः भग्नास्थिः=चूर्णितशरीरः, निहतः=विनाशितः संकर्षणः मयाऽपि मुष्टिको निहतः

चाणूर—आओ दामोदर, आज मेरी दोनों भुजाओं से सफलता को प्राप्त करो ।

दामोदर—मैं आया ठहरो, मेरे इस प्रहार को सहो ।

मुष्टिक—हे, हे राम, आज मेरे मुक्के से पिसे हुए अंगों वाला रुधिर से भीगा हुआ तू प्राण छोड़ेगा ।

संकर्षण—(अरे) मुष्टिक, आज तुझे मैं यमराज के हवाले करूँगा ।

(सब मल्लयुद्ध करते हैं ।)

दामोदर—(चार को मारकर)

यह टूटी हुई हड्डियों वाला मरा पड़ा है !

संकर्षण—मैंने भी इसका वध कर दिया ।

दामोदरः—

कंसासुरं च यमलोकमहं नयामि ॥ १० ॥

(प्रासादमारुह्य कंसं शिरसि निगृह्य पातयित्वा) एष एष दुरात्मा कंसः,

विस्तीर्णलोहितमुखः परिवृत्तनेत्रो
भग्नांसकण्ठकटिजानुकरोरुजङ्घः ।
विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रो
वज्रप्रभग्नशिखरः पतितो यथाद्रिः ॥ ११ ॥

=व्यापादितः । दामोदरः कथयति—अहं दामोदरः कंसासुरं=कंसाभिधं दानवं यमलोकं=यमपुरं नयामि = प्रेषयामि ॥ १० ॥

दामोदरः निधनगतं कंसस्वरूपं विवृणोति—विस्तीर्णेति ।

(एषः कंसः) विस्तीर्णलोहितमुखः—विस्तीर्णं = निःसृतं लोहितं = रक्तं यस्मात्तद् मुखम् =आननं यस्य सः 'आननं लपनं मुखम्' अमरः । परिवृत्तनेत्रः—परिवृत्ते = पर्यावर्तिते नेत्रे = नयने यस्य भग्नांसकण्ठकटिजानुकरोरुजङ्घः-भग्नं= त्रुटितम् अंसः=स्कन्धः कण्ठः = गलः कटिः = श्रोणिः जानुः = ऊरुपर्व करः = बाहुः ऊरुः=सक्थि जंघा=प्रसृता एषां समाहारः तद् यस्य सः विच्छिन्नहारः- विच्छिन्नः=त्रुटितः हारः=मणिमाला पतितः=निपतितः अङ्गदः=केयूरः लम्बं =लम्बमानं सूत्रं=यज्ञोपवीतं यस्य सः, वज्रप्रभग्नशिखरः—वज्रेण = कुलिशेन प्रभग्नं = खण्डितं शिखरं=कूटं यस्य सः अद्रिः=गिरिः 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावा० ।' अमरः । यथा=येन प्रकारेण (पतति तथा अयं कंसः) पतितः=निपतितः प्रतिभातीति शेषः ॥ ११ ॥

दामोदर—मैं असुर कंस को यमलोक पहुँचा रहा हूँ ॥ १० ॥

(भवन पर चढ़कर कंस को सिर पकड़ कर गिरा कर)

यह, यह दुरात्मा कंस है ।

इसके मुख से खून बह रहा है, नेत्र पर्यावर्तित हैं, स्कन्ध, कण्ठ, कमर, जानु, हाथ, ऊरु और जंघा फूट गए हैं । मणिमाला टूट गई है, केयूर गिर गए हैं, यज्ञोपवीत भी गिर गया है और वज्र के द्वारा यह कंस चूर किए गए शिखर वाले पर्वत की भाँति गिरा हुआ मालूम होता है ॥ ११ ॥

(नेपथ्ये)

हा हा महाराजः ।

(पुनर्नेपथ्ये)

भो भो वृष्णियोधाः ! अनाधृष्टिशिवकहृदिकपृथुकसोमदत्ताक्रूर-प्रमुखाः ! अयं खलु भर्तृपिण्डनिष्क्रयस्य कालः। शीघ्रमागच्छन्तु भवन्तः ।

दामोदरः—आर्य ! संवार्यतां सैन्यम् ।

सङ्कर्षणः—अयमहं वारयामि ।

द्रुततुरगरथेभभ्रान्तयोधोग्रनादं
विलसदमलखड्गप्रासशक्त्यष्टिकुन्तम् ।

संकर्षणः दोर्भ्यां सैन्यं क्षोभयति—द्रुततरेत्यादि ।

द्रुततुरगरथेभभ्रान्तयोधोग्रनादं—द्रुताः=शीघ्रगामिनः तुरगाः=अश्वाः रथाः= स्यन्दनानि इभाः = गजाः भ्रान्तयोधाः = सम्भ्रान्तसैनिकाः तैः उग्रः=क्रूर-नादः=शब्दो यस्मिन् तत् विलसदमलखड्गप्रा०—विलसद्=शोभमानम् अमलं= निर्मलं खड्गः=असिः 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः ।' अमरः । प्रासः= कुन्तः 'प्रासस्तु कुन्तः ।' अमरः । शक्तिः, ऋष्टिः=आयुधविशेषः कुन्तः एषां

(नेपथ्य में)

हा, हा महाराज ।

(पुनः नेपथ्य में)

अरे, हे यादव कुल के योद्धाओं, अनावृष्टि, शिवक, हृदिक, पृथुक, सोम-दत्त और अक्रूर आदि ! यह स्वामी के ऋण चुकाने का समय है। आप सब जल्दी आइए ।

दामोदर—आर्य ! सेना को दूर कीजिए ।

संकर्षण—यह हटा रहा हूँ ।

शीघ्रगामी घोड़े, रथ गज और विक्षिप्त सैनिकों के कोलाहल से युक्त, निर्मल तलवार, भाले, शक्ति, ऋष्टि, कुन्त आदि से शोभित सेना को मैं अपनी भुजाओं से

पवनबलविकीर्णं फेनजालोर्मिमालं
जलनिधिमिव दोर्भ्यां क्षोभयाम्येष सैन्यम् ॥ १२ ॥

(ततः प्रविशति वसुदेवः ।)

वसुदेवः—भो भो मधुरावासिनः ! अलमलं साहसेन ।

ज्येष्ठोऽयं मम तनयस्तु रौहिणेयो
देवक्यास्तनयमिमं च किं न वित्थ ।
सन्नाहं त्यजत किमायुधैश्च कार्यं
कंसार्थं स्वयमिह विष्णुराजगाम ॥ १३ ॥

समाहारः यस्मिन् तत् । पवनबलविकीर्णं—पवनस्य = वायोः बलेन = सामर्थ्येन विकीर्णः = प्रक्षिप्तः तम् फेनजालोर्मिमालं—फेनाजां = जलविकृतीनां जालः = समूहः ऊर्मिमाला—विद्यते यस्मिन तम् एवंभूतं जलनिधिं = समुद्रम् इव=यथा एषः=अहम् सैन्यं = सेनां दोर्भ्यां = बाहुभ्यां क्षोभयामि = क्षुभितं करोमि ॥ १२ ॥

वसुदेवः सेनां विनिवार्य बलदेवस्य परिचयं ददाति—ज्येष्ठोऽयमिति ।

अयं=योद्धा रौहिणेयः—रोहिण्याः = मम भार्याया अपत्यं = रोहिणीपुत्रः मम=वसुदेवस्य ज्येष्ठः = प्रथमः तनयः = सूनुः अस्तीति शेषः । इमं = श्रीकृष्णं देवक्याः=मम भार्यायाः तनयं=पुत्रं किन्न वित्थ = किं न जानीथ ? सन्नाहं=युद्धोद्योगं त्यजत = वारयत आयुधैः=हेतिभिः किं कार्यं = किं प्रयोजनम् । इह=अस्मिन् संसारे कंसार्थं=कंसवधार्थं स्वयं = निजस्वरूपेण विष्णुः = परमात्मा आजगाम = अवतीर्णः ॥ १३ ॥

से ऐसा क्षुभित करूँगा जैसे तूफान समुद्र के फेनजाल और तरंगावलियों को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ २ ॥

(वसुदेव का प्रवेश)

वसुदेव—अरे, हे, मथुरावासियो ! अधिक साहस न करो ।

यह (मेरी पत्नी) रोहिणी का पुत्र मेरा पहला कुमार है । इस (मेरी पत्नी) देवकी के पुत्र को क्या नहीं जानते ? युद्धोद्योग को छोड़ दो और शस्त्रों का क्या काम । इस लोक में कंस (के वध) के लिए स्वयं भगवान विष्णु अवतीर्ण हुए हैं ॥ १३ ॥

सङ्कर्षणः—(विलोक्य) अये तातः । तात ! सङ्कर्षणोऽहमभिवादये ।

दामोदरः—तात ! दामोदरोऽहमभिवादये ।

वसुदेवः—अक्षयविजयिनौ भवेतां भवन्तौ । सत्पुत्रजन्मफलमद्य प्राप्तवानस्मि ।

उभौ—अनुगृहीतौ स्वः ।

वसुदेवः—कोऽत्र ।

(प्रविश्य)

भटः—जयत्वार्यपुत्रः ।

वसुदेवः—अपविध्यन्तां कलेवराणि ।

भटः—यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः ।

गोपालकाः सर्वे—ही ही गोवालआणं रज्जं संवुत्तं । [ही ही गोपालकानां राज्यं संवृत्तम् ।]

वसुदेवः—कोऽत्र ।

भटः—जयत्वार्यपुत्रः ।

संकर्षण—(देखकर) अरे, पिता जी ! पिता जी, मैं संकर्षण (आपका) अभिवादन करता हूँ ।

दामोदर—पिताजी, मैं दामोदर (आपका) अभिवादन करता हूँ ।

वसुदेव—तुम दोनों सर्वदा विजयी रहो । आज मुझे सुपुत्रों के पैदा करने का फल प्राप्त हुआ ।

दोनों—हम लोग अनुगृहीत हुए ।

वसुदेव—यहाँ कौन है ?

(प्रवेश करके)

भट—आर्यपुत्र की जय हो ।

वसुदेव—इन शवों को फेंक दो ।

भट—आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा ।

सब ग्वाले—ही, ही, ग्वालों का राज्य हो गया ।

वसुदेव—यहाँ कौन है ।

भट—आर्यपुत्र की जय हो ।

वसुदेवः—गच्छ, शीघ्रं दामोदरस्यादेशादनाधृष्टिमाज्ञापय-महाराजमुग्रसेनमपनीय निगलान्निर्वृत्ताभिषेकं कृत्वा प्रवेशयेति ।

भटः—यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः । (निष्क्रान्तः ।)

वसुदेवः—अये,

नदन्ति सुरतूर्याणि वृष्टिः पतति कौसुमी ।
कंसान्तकस्य पूजार्थं प्रायो देवाः समागताः ॥ १४ ॥

(नेपथ्ये)

श्रीमानिमां कनकचित्रितहर्म्यमालां
विस्तीर्णराजभवनापणगोपुराट्टाम् ।

वसुदेवः अन्तरिक्षपतितां सुमनोवृष्टिं दामोदरपूजार्थमेवेति प्रस्तौति—नदन्तीति ।

सुरतूर्याणि—सुराणां = देवतानां तूर्याणि = वाद्यप्रभेदाः नदन्ति = नादं कुर्वन्ति । कौसुमी—कुसुमस्य=पुष्पस्य—इयं कौसुमी=पुष्पमयी वृष्टिः = वर्षणं पतति=निपतति आकाशादिति शेषः । प्रायः = बाहुल्येन देवाः = अमराः कंसान्तकस्य—कंसस्य अन्तकः=कंसस्य मृत्युः तस्य = कंसारेः दामोदरस्येत्यर्थः । पूजार्थम् = अर्चनार्थं समागताः = संप्राप्ताः ॥ १४ ॥

नेपथ्यात् मथुराया रक्षार्थं प्रार्थयति—श्रीमानिति ।

कनकचित्रितहर्म्यमालां—कनकैः = सुवर्णैः चित्रिता = रचिता हर्म्याणां = धनिकगृहाणां माला = श्रेणिः यस्यां तां, विस्तीर्णराजभवनापणगोपुराट्टां—वि-

---

वसुदेव—जाओ, दामोदर की आज्ञा से अनाधृष्टि को सूचित करो कि शीघ्र ही महाराज उग्रसेन को कारावास से निकाल कर उनका अभिषेक करके यहाँ भेज दे ।

भट—आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा । (प्रस्थान)

वसुदेव—अरे,

देव-दुन्दुभियाँ बज रही हैं, पुष्प की वृष्टि हो रही है, कंस के निधनकर्ता (कृष्ण) की पूजा के लिए देवता लोग आ पहुँचे हैं ॥ १४ ॥

(नेपथ्य में)

शोभा से पूर्ण कनक-विनिर्मित भवनों, विशाल राजभवन, बाजार, बहिर्द्वार एवं

पायात् सदैव मधुरां कमलायताक्ष-
स्त्रैलोक्यजित् सुरवरस्त्रिदशेन्द्रनाथः ॥ १५ ॥

वसुदेवः—भो भो मधुरावासिनः! शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः। अस्य खलु दैत्येन्द्रपुरार्गलोत्पाटनपटोः सर्वक्षत्रपराङ्मुखावलोकिनो वसुदेवसम्भवस्य वासुदेवस्य प्रसादात् पुनरधिगतराज्यस्योग्रसेनस्य शासनमिदानीमवघुष्यते।

सर्वे—प्रतिष्ठितमिदानीं वृष्णिराज्यम्।

वसुदेवः—प्रवेश्यतां महाराजः।

भटः—यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः। (निष्क्रान्तः।)

स्तीर्णं = विस्तृतं राजभवनं = नृपसदनम्, आपणः = निषद्या 'आपणस्तु निषद्यायाम्।' अमरः। गोपुरं = पुरद्वारं 'बहिर्द्वारं पुरद्वारं तु गोपुरम्।' अमरः। अट्टः = क्षौमम् 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्।' अमरः। एषां समाहारः यस्यां ताम् इमां = पुरोवर्तिनीं मधुराम् = एतन्नाम्नीं पुरीम् कमलायताक्षः—कमले = पद्मे इव आयते = विस्तृते अक्षिणी=नेत्रे यस्य सः त्रैलोक्यजित्—त्रैलोक्यं जयतीति = भुवनत्रयजेता सुरवरः—सुरेषु = देवेषु वरः = श्रेष्ठः त्रिदशेन्द्रनाथः—त्रिदशेन्द्राणां अमरेन्द्राणां नाथः = स्वामी श्रीमान् = परमेश्वरः सदैव = सर्वदैव पायात् = रक्षेत् ॥ १५ ॥

अटारी से युक्त मथुरा का, कमल की भाँति विशाल नेत्रों वाले, तीनों भुवनों को जीतने वाले, देवताओं में श्रेष्ठ और इन्द्र के नाथ आप, कल्याण करें ॥ १५ ॥

वसुदेव—हे, हे मथुरावासियो! आप सुनें, सुनें, दैत्यराज के नगर के बहिर्द्वार को तोड़ने में दक्ष, सब क्षत्रियों को परास्त करने वाले, वसुदेव से उत्पन्न इस वासुदेव की कृपा से पुनः राज्य को प्राप्त करने वाले उग्रसेन का शासन इस समय घोषित होता है।

सब—यादव कुल के राज्य की प्रतिष्ठा हो गई!

वसुदेव—महाराज का प्रवेश हो।

भट—आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा।

(प्रस्थान)

(ततः प्रविशत्युग्रसेनः ।)

उग्रसेनः—

चिरोपरोधसम्प्राप्तः क्लेशो मे केशिसूदनात् ।

अपनीतः स्ववीर्येण यथा विष्णोः शतक (तु ? तो)ः ॥१६॥

भगवत्प्रसादाद् व्यसनार्णवादुत्तारितोऽस्मि ।

(ततः प्रविशति नारदः ।)

नारदः—

कंसे प्रमथिते विष्णोः पूजार्थं देवशासनात् ।

उग्रसेनः वसुदेवप्रसादात् स्वक्लेशापनयनं सूचयति—चिरोपरोधेति ।

यथा = येन प्रकारेण विष्णोः = त्रिविक्रमस्य (वामनावतारे) स्ववीर्येण—स्वस्य = स्वकीयस्य वीर्यं = पराक्रमः तेन—स्ववीर्येण शतक्रतोः—शतम् = शत-संख्याकाः क्रतवः = यज्ञाः यस्य तस्य = इन्द्रस्य क्लेशः = दुःखम् अपनीतः = दूरीकृतः तथा केशिसूदनात्—केशिनं = दैत्यं सूदयतीति तस्मात् = केशिहन्तुः पराक्रमेण मे = मम = उग्रसेनस्य क्लेशः = सन्तापः चिरोपरोधसम्प्राप्तः—चिरोपरोधः = बहुकालावरोधस्तस्मात् सम्प्राप्तः = अधिगतः ॥ १६ ॥

नारदः इन्द्रलोकात् स्वागमनकारणं दर्शयति—कंसेति ।

कंसे = दुष्टनृपे प्रमथिते=विनाशिते देवशासनात्—देवस्य=इन्द्रस्य शासनम्=

(उग्रसेन का प्रवेश)

उग्रसेन—चिरकाल में प्राप्त होने वाला मेरा दुःख श्रीकृष्ण के द्वारा वैसे ही दूर कर दिया गया जैसे भगवान विष्णु ने अपने पराक्रम से इन्द्र का क्लेश दूर किया था ॥ १६ ॥

भगवान की कृपा से मैं कठिनाइयों के समुद्र से उबार लिया गया हूँ ।

(नारद का प्रवेश)

नारद—कंस के विनाश पर भगवान विष्णु की पूजा के लिए देवताओं के

सगन्धर्वाप्सरोभिश्च देवलोकादिहागतः ॥ १७ ॥

दामोदरः—अये देवर्षिर्नारदः। देवर्षे! स्वागतम्। इदमर्घ्यं पाद्यं च।

नारदः—सर्वं गृह्णामि। गन्धर्वाप्सरसो गायन्ति।

नारायण! नमस्तेऽस्तु प्रणमन्ति च देवताः।
अनेनासुरनाशेन मही च परिरक्षिता ॥ १८ ॥

दामोदरः—देवर्षे! परितुष्टोऽस्मि किं ते भूयः प्रियमुपहरामि।

आदेशः तस्मात् सगन्धर्वाप्सरोभिः—गन्धर्वैः—देवयोनिविशेषैः अप्सरोभिः = सुराङ्गनाभिः सहितः विष्णोः = व्यापकस्य दामोदरस्य पूजार्थम् = अर्चनार्थं देवलोकात् = अमरपुरात् इह = मथुरायां राजधान्याम् अहं = नारदः आगतः = समागतः ॥ १७ ॥

नारदो दामोदरं स्तुवन्नाह—नारायणेति।

नारायण = हे दामोदर! ते = तुभ्यम् नमः = प्रणामः अस्तु = भवतु, देवताः = सुराः, च त्वाम्, प्रणमन्ति = प्रणामं कुर्वन्ति अनेन = एतेन असुर-नाशेन असुराणां = दैत्यानां नाशेन = हननेन मही = पृथ्वी परिरक्षिता = अविता च ॥ १८ ॥

आदेश से मैं गन्धर्व और अप्सराओं के सहित देवलोक से यहाँ (मृत्यु लोक में) आया हूँ ॥ १७ ॥

दामोदर—अरे, देवर्षि नारद! हे देवर्षि! स्वागत है। यह अर्घ्य और पाद्य (स्वीकार हो)।

नारद—सब ग्रहण करता हूँ। गन्धर्व और अप्सरायें गाती हैं।

नारायण! आपको नमस्कार है। देवतागण आपको नमन करते हैं। इस दैत्य के वध से पृथ्वी पूर्ण रक्षित हो गई ॥ १८ ॥

दामोदर—हे देवर्षि! मैं सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हारा और क्या उपकार करूँ।

नारदः—

प्रहृष्टो यदि मे विष्णुः सफलो मे परिश्रमः ।
गमिष्ये विबुधावासं सह सर्वैः सुरोत्तमैः ॥ १९ ॥

दामोदरः—गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।

नारदः—यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः । (निष्क्रान्तः ।)

(भरतवाक्यम्)

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।

नारदः स्वाभीष्टं प्रकटयन्नाह—प्रहृष्ट इति ।

यदि = चेत मे = मह्यम् विष्णुः = दामोदरः प्रहृष्टः = प्रसन्नः, तर्हि मे = मम परिश्रमः = मर्त्यलोकागमनायासः, सफलः = सार्थकः जात इति शेषः । अतोऽधुना सर्वैः = सकलैः, सुरोत्तमैः = श्रेष्ठैः, सह = सार्कं, विबुधावासं—विबुधानां= सुराणाम् आवासं = वासस्थानं स्वर्गमित्यर्थः । गमिष्ये = यास्यामि, अपाणिनीयोऽयं गमिधातोरात्मनेपदप्रयोगः ॥ १९ ॥

भरतवाक्यं कविः कथयति—इमामिति ।

नः = अस्माकम् राजसिंहः = नृपश्रेष्ठः, हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्—हिमवांश्च विन्ध्यश्च हिमवद्विन्ध्यौ तौ एव कुण्डले यस्याः सा हिमवद्विन्ध्यकुण्डला तां तथोक्ताम् = हिमवद्विन्ध्यकर्णवेष्टनाम्, सागरपर्यन्ताम्—सागरः = समुद्रः पर्यन्तः =

नारद—यदि भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरा परिश्रम (मर्त्यलोक आने में श्रम करना) सफल हो गया, अतः अब देवश्रेष्ठ-इन्द्रादियों के साथ स्वर्ग लोक को जाऊँगा ॥ १९ ॥

दामोदर—आप जायें, दर्शन आपका फिर भी हो ।

नारद—भगवान नारायण जो आज्ञा दे रहे हैं वही होगा, (रङ्गमञ्च से निकल गये)

(भरत का वाक्य)

हम लोगों के श्रेष्ठ राजा हिमालय तथा विन्ध्य पर्वत जिसके कुण्डल स्वरूप हैं

महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥ २० ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

पञ्चमोऽङ्कः ।

अवसितं बालचरितम् ।

सीमाभागः यस्याः सा तां तथोक्ताम् । एकातपत्राङ्काम्--एकं = मुख्यम् आतपात् त्रायत इत्यातपत्रं = छत्रम् एव अङ्कः = चिह्नं यस्याः सा तां तथोक्ताम्, इमाम्— एताम् महीं = पृथ्वीं प्रशास्तु = पालयतु ॥ २० ॥

इति पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः

ऐसी एकच्छत्र चिह्न वाली, समुद्रपर्यन्त इस पृथ्वी का पालन करें ॥ २० ॥

(सब लोग रङ्गमञ्च से निकल गये)

पञ्चम अङ्क

समाप्त